हम स्वयं भी "त्वमेव माता च पिता च त्वमेव" इत्यादि कहते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक सम्बन्ध समस्त जगतके साथ है और यह सम्बन्ध यावत् संसार अनुवर्तमान रहेगा। क्योंकि दूसरा जन्म मिलेगा तब भी "पिताहमस्य जगतः" इत्यादि उक्ति लागू रहेगी। मनसा कृत सम्बन्ध है— "अहमेतेषां ममैते"। अहंकार तथा ममकार। यह प्रायः प्रातिभासिक ही होता है। पारमार्थिक सम्बन्ध तो एक परमात्माके साथ ही है जिसको अभेद कहते हैं। तादात्म्य भी कह सकते हैं। परमात्मा ही हमारा आत्मा है। अतः हममें तादात्म्य है और यह पारमार्थिक सम्बन्ध है। हम अपने मनसे जितने सम्बन्ध बनाते हैं ये सभी शोकके खूंटे हैं।

एक दम्पति जा रहा था। अपने बेटेके लिये कार एरोप्लेन (खिलौने) मिठाई आदि लेकर हंसते-खेलते दोनों जा रहे थे। एक जगह उन्होंने देखा बहुतसे लोग इकट्ठे हुए हैं। पूछा तो बताया कि कोई कुएँमें गिरा और मरा। कुछ देर खड़े होकर देखा। चलो, कोई अभागा गिर गया और मर गया होगा। कितने मरते रहते हैं ऐसी बात करते-करते घर पहुंचे। पप्पू! जोर से पुकारा। आज तेरे लिये अच्छे खिलौने लाये हैं, एरोप्लेन लाये हैं। आयाने कहा—पप्पू बाहर खेलने गया। कहां गया? पूछा। इतनेमें किसीने आकर कहा—कोई लड़का कुएँमें गिरकर मर गया। पप्पू जैसा लग रहा है। वहींसे ये दोनों आये थे। यहांतक आनेमें उनको आधा घंटा लगा। वापिस वहां दौड़-दौड़कर पहुंचनेमें दो मिनट लगा। फिर क्या था? हाय! हाय! फूट-फूटकर मां बाप रो रहे हैं। अन्तहीन दुःख। आधा घंटा पहले मर गया था तब भी तो वह बेटा था। भले! किन्तु मानस सम्बन्ध अब हुआ। उस समय मानस सम्बन्ध घरमें जीवितरूपसे कल्पित बेटेके साथ था। चित्रकेतुके दृष्टान्तसे यही तो भागवतमें समझाया।

एकादशद्वार पुर (गृह)में खिड़कियोंपर बैठकर बाहर तमाशा देखो। यह सब तमाशा है। नाटक है। उसे देखकर आनंद लो। स्वयं तमाशा मत बनो।

तमाशा देखनेवालो! तमाशा न बन जाना है।

तमाशामें—नाटकमें बहुत कुछ होता है। उसमें सिर्फ रसानुभूति करना है। रसानुसार हंसो और रोओ। पर वह असली हंसना रोना नहीं है। वह तो

रसात्मक हंसी एवं रुदन है। किन्तु दृश्य बन जाओगे तो असली हंसना रोना होगा। वह रसात्मक नहीं होगा।

रामचरितमानसमें उतना नहीं है। वाल्मीकि रामायणमें देखो। सुनो। करुणरसका वह बेजोड़ ग्रन्थ है। रामवनगमन, सीतापरित्याग आदि प्रसंगमें तो वाल्मीकिने कमाल कर दिया है। सुननेवाले रोये बिना नहीं रह सकते, फिर भी सुनते हैं। क्या दुःखके लिये सुनते हैं। दुःखके लिये टी. वी. आदि देखते हैं? कथाको थोड़ा बदल दिया। रोना कम आया तो दर्शक नाराज हो गये। रामराजसिंहासनारोहणमें बड़ी प्रसन्नता हुई। हंसे। वस्तुतः प्रसंगानुसार हंसना-रोना होता है। वह नाटक है। उसके पीछे आनन्दरस है। वैसे ही संसार एक नाटक है। यहां प्रसंगानुसार हंसना-रोना सभी होगा। परंतु इस हंसीरुलाईके पीछे एक ब्रह्मरूपी रस बैठा है। उसका अनुभव हुआ तो सर्वा सुखमयो दिशः।

"शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥"

प्रतिदिन हजारों रोनेके मौके आते हैं। सैकड़ोंबार डरनेका अवसर आता है। किसको? मूढको। पंडितको नहीं। किसीकी मृत्यु हुई। महीनोंतक, सालोंतक रोते रहे। क्या लगातार? नहीं। बीचमें हंसी-खेल भी होता है। उस समय मृत्युके लिये क्यों नहीं रोते? क्या उस समय मृत्युका अभाव हो गया? जब स्मरण आया तब रोया। अर्थात् मानसकल्पित मृत्यु रोनेका कारण है। वास्तविक मृत्यु नहीं। वास्तविक मृत्यु न होने पर भी मानसिक कल्पित मृत्युसे रोते हैं। एक आदमी (रामू नाम था)की एक्सिडेंटमें मृत्यु हो गयी। एक्सिडेंटमें हाथ-पांव चेहरा सब पिचक गया था। पोस्टमार्टम आदिके बाद श्मशान ले गये। सभी रिश्तेदार इकट्ठे हो गये थे। उसको जलाया। बेचारे रोते रहे। उनके जीवनका आधार था। बादमें घरमें आये तो रामू बैठकर चाय पी रहा था। लोग डर गये। भागे वहांसे, दौड़ते समय कोई गिरा, पड़ा। रामूको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बाहर निकला तो लोग घोड़े जैसे भाग रहे थे। एक रिश्तेदार पासमें नहीं। घर सूना। थोड़ी देर बाद एक हिम्मतवाला आदमी आया। उसने कहा—आप मर गये थें, कैसे खड़े हैं? रामू बोला, मैं कहाँ मरा हूँ? मैं तो जिंदा हूं। थोड़ी देर वह

खड़ा-खड़ा देखता रहा। बादमें वही प्रेतका संस्कार जगा। तो रामूकी डाढ़ें दीखने लगीं तो भागा वह भी। पता लगानेके लिये वह पूरा गांव घूमा, जो जो देखे वही भागे। पत्थर फेंके। अस्पतालमें गया तो मालूम पड़ा कोई आदमी एक्सिडेंटमें मरा था। पता करते-करते मालूम पड़ा कि गांवका एक दूसरा वह आदमी था जिसको गायब होनेसे लोग ढूंढ रहे थे। फिर जब घोषणा हुई तो रिश्तेदार वापिस आये और हंसने लगे लिपटने लगे। पहले मृत्युका शोकस्थान। फिर प्रेतका भयस्थान। फिर रामूका हर्षस्थान। कौनसा सच्चा? कौनसा झूठा? लोग कहेंगे अन्तिम सच्चा। तो क्या वह पहले नहीं था? मानसकल्पित रामूके ही ये सब हाल हैं। ऐसे सच्चे झूठे शोक भयादि स्थान मूढ़ोंको घेरते रहते हैं। परंतु जो तमाशा देखनेवाला बनकर बैठता है उसको शोकादि कुछ नहीं होता। संसारको देखो पर तमाशेके रूपमें। असलमें इन सबके पीछे स्थित जो ब्रह्म उसके पीछे पड़ो। संसारके पीछे ब्रह्म पड़ा। ब्रह्मके पीछे तुम पड़ो। अनुष्ठाय न शोचति।

गौडपादाचार्य महाराज कुछ और ढंगसे समझाते हैं। अनुष्ठानके लिये पीछे देखनेके लिये पीछे मुंह करनेकी जरूरत नहीं। सामने ही देखो।

"दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥"

संसार पांच वस्तुओंसे बना है। अस्ति, भाति, प्रिय और नामरूप। इस नामरूपमें सच्चिदानन्दकी भ्रान्ति होती है और सच्चिदानन्दमें नामरूपक भ्रान्ति होती है। नामरूपमें सच्चिदानन्दकी भ्रान्ति होती है तो भोगेच्छा होती है। किन्तु वह स्वतः दुःखरूप है।

"निष्पिष्टनिम्बगुटिकासदृशः स्वभावात् ।
सर्वोऽपि दुःखकटुको विषयप्रपञ्चः ॥"

नामरूपको दुःखरूपसे ही देखो। तब काम भोगाभिलाषा समाप्त होगी। उसका बाध करो और सच्चिदानन्दका दर्शन करो। तब जातका दर्शन नहीं होगा। अजातवाद होगा। क्योंकि सच्चिदानन्द जनमता नहीं है। जनमनेवाले नामरूप बाधित हो गये। नामरूपको सुखमय देखनेपर संसारके पीछे पड़ते हैं। दुःखमय देखनेपर वहांसे हट जाते हैं। सच्चिदा-

नन्दका असलीरूप देखते हैं तो प्रपञ्चमें ही स्थित उस ब्रह्मके पीछे पड़ जाते हैं। तब केवल अजका ही दर्शन होता है। दोनोंही बात एक ही स्थानमें। यही संसार जन्मवान् नाशवान् है। यही अजन्मा अविनाशी भी है। इसके लिये संतलोग सुवर्णकुण्डलादि दृष्टान्त देते हैं। सुवर्ण और कुण्डल दोनों एक ही हैं या दो? दोनों एक हैं पर गलानेपर कुण्डल नष्ट होता है तो सोनाभी नष्ट होगा? नहीं। कुण्डल नामरूपसे नष्ट होता है। सुवर्णरूपसे अज अविनाशी है। वैसे संसार भी नामरूप दृष्टिसे दुःखरूप, जन्मविनाशवाला है। सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपसे आनन्दरूप एवं अज, अविनाशी है। उस सच्चिदानन्दरूपसे जगत्को देखना ही ब्रह्मानुष्ठान है।

विमुक्तश्च विमुच्यते। प्रथम शरीरको पुररूपमें देखो। पुरस्वामीके रूपमें अपनेको पृथक् समझो। फिर एकादशद्वारको आने-जानेका द्वारमात्र देखो। अपनेको आनेजानेवाले उससे पृथक् समझो। उसको स्वयंको अजन्मा अनादिनिधनरूप समझो जो पुरादिसे अतिविलक्षणताकारी धर्म है। फिर अवक्रचेतसं अर्थात् एकरूप, एकरस, निर्विकार समझो। फिर उसका अनुष्ठान करो। "तच्चिन्तनं, तत्कथनं" इत्यादि रीति उसीका अभ्यास करो। यह पुर है। यह पुरस्वामी इससे पृथक् है। यह सुख-दुःख हो रहा है। मैं द्रष्टा उसे प्रकाशित कर रहा हूं इसप्रकार पुर एवं पुरस्वामी दोनोंका अभ्यास करो। उससे शोकनिवृत्ति होगी। उस शोकनिवृत्तिका फल है विमुक्त हो जाना। संसारमुक्त होना।

"विमुक्तः" यह भूतप्रयोग है। "विमुच्यते" वर्तमानसमीप भविष्यका प्रयोग है। बड़ी विलक्षण बात है। जो भूत है वह भविष्य कैसे? जो मरा सो मरेगा, जो गिरा सो गिरेगा इत्यादि प्रयोग नहीं होता। अतः यह एक विलक्षण प्रयोग है। जो मुक्त हुआ सो मुक्त होगा। इस रहस्यको समझनेके लिये मुक्तिका स्वरूप भी जानना होगा।

वैष्णव श्रीकृष्ण भक्त कहते हैं गोलोकप्राप्ति मोक्ष है। रामभक्त फरमाते हैं साकेतलोकप्राप्ति मोक्ष है। इष्टलोकमें पहुंचना यह प्रथम मुक्तिका स्वरूप है। इसमें सलोकप्राप्ति सालोक्य है। समानलोकः सलोकः। क्या यह जीवितावस्थामें होगा? नहीं। मरणोत्तर होगा। मरनेके बाद उसे ले जानेके लिये विमान आता है। ध्रुवको ले जाने विमान आया था।

गोकर्ण और श्रोताओंको ले जाने विमान आया था। ऐसे हजारों भक्त थे जिनको लेने विमान आया। परंतु प्रायः मरनेके बाद ही विमान आया। कहावत प्रसिद्ध है—अपने मरे बिना स्वर्ग नहीं दीखेगा। कर्ममीमांसतक तो स्वर्गको ही मोक्ष मानते हैं। सालोक्यके बाद किसीको प्रथम सामीप्य मिलता है तो किसीको सारूप्य मिलता है। पार्षदोंको सालोक्य प्राप्त है। सामीप्य तो उद्धव गोपगोपिकादिको प्राप्त है। वे हमेशा भगवानके समीप ही रहते हैं। यह दुर्लभ है। सारूप्यका अर्थ है समानरूपता। विष्णुलोकगत भक्तपुरुष विष्णुसमानरूपवाला और स्त्री लक्ष्मीसमानरूपवाली होती है। वैसे कैलासगत भक्त-भक्तानियां शंकर-पार्वती रूप होते हैं। गोलोकमें सारूप्य नहीं है। यहां सभी गोपी ही बन जाते हैं। उनके मनमें कृष्ण ही एक पुरुष है। वृन्दावनमें मीराकी कथा भी प्रसिद्ध है। मीराजीने सनातन-गोस्वामीसे मिलनेकी अभिलाषा व्यक्त की तो उन्होंने उत्तर दिया कि मैं किसी स्त्रीसे नहीं मिलता। मीराने प्रतिजवाब दिया कि अभीतक मैं समझ रही थी श्रीकृष्ण ही एक पुरुष है लेकिन अब मालूम पड़ा आप द्वितीय पुरुष हैं। यह पत्र पाते ही गोस्वामी मिलने स्वयं गये। सायुज्य मिल जानेको कहते हैं। वैसे तो एकीभाव वैष्णव नहीं मानते। अतः सायुज्य का समानसंयोग अर्थ समझना चाहिये। राधा, लक्ष्मी आदिको एवं गरुड़, वृषभ आदिको सायुज्य प्राप्त हुआ है। सार्ष्टि, एकत्वादि भी मोक्ष बताये हैं। परंतु ये सब मरनेके अनन्तर विमानमें जाकर पाये जाते हैं।

किन्तु जो जाता है वह आयेगा भी। संयोग हुआ तो विप्रयोग भी होगा। गोलोकादि संयोग हुआ तो गोलोकादि विप्रयोग भी होगा। अगर सुख मिला तो दुःख भी होगा।

"संयोगो विप्रयोगान्तो दुःखान्तं सुखमेव च ।
जीवितं मरणान्तं च किंचिन्नैकान्तिकं भवेत् ॥"

यदि इतने वचनसे संतोष नहीं तो अब भगवानका वचन देखो—

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन"

प्रश्न करेंगे कि ब्रह्मलोकसे पुनरावृत्ति हो, पर गोलोक वैकुण्ठ लोक आदिसे पुनरावृत्ति नहीं होगी। किन्तु ऐसी बात नहीं है। प्रथम विचार करो

कि भगवान् एक है कि बहुत सारे। सभी मानते हैं कि परमेश्वर एक है। श्रुति भी कहती है–

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'।

'एको हि नारायणः।' 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः॥' इत्यादि

यदि एक ही परमात्मा है तो शिव, विष्णु आदि नाना देव किस प्रकार? उत्तर है नामरूपभेदसे। नामरूपभेद किसप्रकार? परमेश्वरकी स्वेच्छासे या भक्तभावनासे? वस्तुतः भक्तभावनानुसार परमेश्वर स्वेच्छया नानारूप धारण करता है। भक्तोंकी जैसी भावना वैसा ही रूप भगवान् धारण करता है। भक्तकी भावना तो व्यक्तिभेदेन भिन्न है। श्रीकृष्ण श्रीरामादिका फोटो किसीने नहीं लिया केमरेसे। कलाकार अपनी कल्पनासे नानारूप बनाते हैं। अतएव कहीं कृष्ण पतले हैं। कहीं मोटे हैं। कहीं लंबी नाक, कहीं छोटी नाक। मूर्तियोंमें भी वैसी ही बात है। द्वारकाकी मूर्ति अलग ढंगकी, पुरीकी मूर्ति अलग ढंगकी। इनमें भक्तोंको जो पसंद हो उसे वे अपनाते हैं। और वैसा ही साक्षात्कार उनको होता है।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'

जो भी हो परमेश्वर एक है। तब उनका धाम भी तो एक ही होगा। व्यक्ति एक और धाम नाना यह कल्पना व्यर्थ है। अयुक्त भी है। तब वैकुण्ठ कैलासादि भेद किस प्रकार? भक्तकी भावना एवं भगवानकी इच्छासे यही उत्तर है। तात्पर्य यही हुआ परमेश्वर एक है। भावनानुसार नाना नामरूप है। वैसे भगवद्धाम भी एक है। भावनानुसार नामरूप भिन्न है। औपनिषद उसी धामको ब्रह्मलोक कहते हैं। वहांसे पुनरावृत्ति होती है। इस कथनका तात्पर्य यह है–वैकुण्ठ कैलासादि सबसे पुनरावृत्ति होती है। अतएव यह लोकगमन मात्र मोक्ष नहीं है।

जयविजयका कमसे कम सालोक्य मानेंगे ही। सनकादि शापसे वे भूमिमें गिरे। तिसपर राक्षस बने। कल्पान्तरमें श्रृंगी-भृंगी नारद शापसे नीचे पड़े और रावण कुंभकर्ण बने। गोलोकवासी तो श्रीकृष्णके साथ वृन्दावनादिमें आते ही हैं। यहां आकर-'दुःसहप्रेष्टविरह' से मृततक हो जाते हैं। भगवान् के पास जाने को नहीं मिला कई गोपियां विरह में मर गयी इसप्रकार सब जगहसे पुनरावृत्ति शास्त्रोक्त ही है। अन्यथा हम सब

भी भगवल्लीलार्थ आये हैं। अन्तमें वहीं वापिस जायेंगे तो मुक्त क्यों नहीं? लीलार्थ सृष्टि तो है ही। वे लीला करें और हम बन्धनमें पड़ें यह कौनसा न्याय है? अतः ये सब वास्तविक मुक्त नहीं है। स्वर्गगमनके बराबर ही है। जिसके लिये "ते तं भुक्त्वा" इत्यादि भगवानने कहा और ये सब मरणोत्तर भावी लोकान्तरगमनमात्र है। मुक्तिके बारेमें यहां यह कहा जा रहा हैं कि "विमुक्तश्च विमुच्यते"। जो यहां विमुक्त हो जाता है वही वस्तुतः मुक्त होता है।

यहां यदि मुक्ति नहीं हुई तो मरणके बाद मुक्तिकी आशा रखना दुराशामात्र होगा क्योंकि मरणोत्तर मोचनकी कोई प्रक्रिया नहीं होती। बन्धननिवृत्ति ही मुक्ति है। उस बन्धनको यहांपर काट सकते हैं। क्योंकि यहां तदर्थ सामग्री उपलब्ध है। मरणोत्तर कृतकर्म का भोगमात्र होगा। वहां कोई नई सामग्री उपलब्ध नहीं होगी। बन्धन अविद्याप्रयुक्त है। अविद्यानिवृत्ति विद्यासे होगी। विद्या श्रवणमनननिदिध्यासनसे होगी। श्रवणादि गुरूपसदनसे होगा। गुरूपसदनार्थ वैराग्यादि चतुष्टय चाहिये। वैराग्यादि चतुष्टय स्ववर्णाश्रमधर्माचरणपूर्वक हरितोषणसे होगा।

"स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥"

मरणोत्तर वैराग्यादिकी कोई संभावना नहीं है। पूर्ववैराग्यका आश्रय लेने पर भी गुरुप्राप्ति ब्रह्मलोकमें नहीं हो सकती। क्यों कि तत्त्वज्ञानी गुरु मुक्त हो जाएगा। वह गुरु क्यों बनेगा? फिर वहां श्रवणमननादि असंभव है। तब आत्मदर्शनरूपी विद्या कैसे प्राप्त होगी और अविद्यानिवृत्ति कैसे हो और मुक्ति किसप्रकार हो! यद्यपि ब्रह्मलोकगत कुछ लोगोंकी मुक्त बतायी है।

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम् ॥"

महाप्रलयमें ब्रह्मलोकगत सभी मुक्त होते हैं। परंतु कौन सब? विशेषण है– कृतात्मानः। कृतकृत्य होना चाहिये। तब मुक्ति होगी। कृतकृत्यताका अर्थ है–कृतश्रवणादिकर्तव्यता। यह बात श्रुतिमें स्पष्ट बतायी है–

"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ते सर्वे॥"

पूरी सामग्री यहीं तैयार कर ली है। वेदान्तके श्रवणादिसे जनित विज्ञानसे, सुदृढ़ ज्ञानसे परमार्थनिश्चय जो कर चुके हैं, संन्यासग्रहणसे शुद्धान्तःकरण यति हो गये हैं वें सब मुक्त होते हैं। अर्थात् पूरी तैयारी हो चुकी थी। किसी एक प्रतिबन्धसे बत्ती नहीं जल पायी थी वह प्रतिबन्ध ब्रह्मलोक-गमनसे कट गया तो वे मुक्त होते हैं। फलतः उत्पन्नसाक्षात्कार तथा एक प्रतिबन्धध्वंसमात्रप्रतीक्षब्रह्मसाक्षात्कार अर्थात् जिसको यहीं ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ वह विमुक्त है। दूसरा मात्र एक प्रतिबन्ध जिसका रह गया वह मुक्त है दोनों यहां प्रथम विमुक्तिका अर्थ है। इसीको लेकर श्रुति कहती है—

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥"

जैसे वैसे भी अन्तपर्यन्त समयमें ही सही परमार्थज्ञानप्राप्त हो ही जाना चाहिये। तो ही सत्यवस्तुप्राप्ति है। त्रिकालास्तित्वरूपी सद्रूपताकी प्राप्ति है। और यहां नहीं जाना तो महान् विनाश-अदर्शनप्रयुक्तशून्यात्मक विनाश है। वेदन भी केवल 'अस्ति ब्रह्म'-ब्रह्म है-मात्र नहीं। भूतेषु भूतेषु विचित्य। सकलमिदमहं च वासुदेवः यह सब और मैं भी वासुदेव हैं—इसरूपसे होना चाहिये। तब प्रयाणोत्तर अमृत होगा।

जीवनमें प्रतिक्षण यह सजगता होनी चाहिये कि हमको वह तत्त्व जानना है। वही केन्द्रबिन्दु होना चाहिये। तदर्थ ही सभी यत्न होना चाहिये। यही तो अनुष्ठाय है।

"शैशवेऽभ्यस्तविधानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

ऐसा महाकविने रघुकुलजातों-रघुकुलमें जन्म लेने वालों का वर्णन किया है। बचपन में ही बालक को लक्ष्यका ज्ञान कराना चाहिये और करना चाहिये उसके लिये विद्याका अभ्यास होना चाहिये। कौनसी विद्या ? शिल्पविद्या, कलाविद्या, गणितविद्या आदि या अन्य? सभी। जीवनोपयोगी एवं उत्तरजीवनोपयोगी दोनों विद्यायें। शिल्पविद्या आदि तो

जीवनोपयोगी हैं। उत्तरजीवनोपयोगी वेदवेदान्तविद्या है। फरक इतना है कि जीवन सौ वर्षका है। उत्तरजीवन लाखों करोड़ों वर्षों का है। तब किसको प्रधानता देना? एकदृष्टिसे उत्तरजीवन दीर्घतम होने से उसकी प्रधानता देनी चाहिये। किन्तु दूसरी दृष्टिसे प्रथमोपस्थित वर्तमान होने से उसको प्रधानता देनी चाहिये। वर्तमान बिगड़ा तो भविष्य क्या बनेगा? वस्तुतः दोनों की मुख्यता है। व्यवहारविद्या तथा परमार्थविद्या दोनों का अभ्यास शैशव में होना चाहिये। किन्तु वह समझते हुए कि पूर्वजीवन उत्तरजीवन का साधन है। साध्य नहीं।

इसके बाद "यौवने विषयैषिणाम्"। इसके दो प्रयोजन हैं। संसारचक्रप्रवर्तन तथा वैराग्य। संसारचक्रके सम्यक् प्रवर्तन के लिये द्वितीयाश्रम है।

"एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥"

यह बात कहीं बन जाय। चक्रानुवर्तन नहीं किया और अघायु और इन्द्रियाराम हो गये तो क्या होगा? मोघ जीवन व्यर्थ जीवन।

जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् भवति ।

वेदाध्ययनके द्वारा ऋषिऋण चुकाओ। पुत्रोत्पादनसे पितृऋण चुकाओ। यज्ञादि के द्वारा देवऋण चुकाओ। विषयानुभव से ही संसार का असली स्वरूप सामने आयेगा। "भूरे का लड्डू जो खाय सो पछताय, जो न खाय सो पछताय" लकड़ी चीरते समय जो चूर गिरता है वही भूर। उसका लड्डू बनाया। खानेवाला पछताता है क्या यह मुँह में डाला। न खानेवाला पछताता है हाय! कैसा बढ़िया लड्डू रहा होगा। जो मुझे नहीं मिला। प्रथम पछताव तो थोड़ी देरका है। थूंक देगा। द्वितीय पछताव बड़ा लम्बा चलता है। संसार सुख देखने में सुख है। किन्तु उसके पेट में दुःख छिपा हुआ है। "परिणामतापसंस्कारदुःखैः"। वर्तमान में सुख हो रहा है। परिणाम दुःख है। खुजली के समय सुखसा प्रतीत हुआ। किन्तु बाद में जलन होती है। करोड़पति बनकर महलों में रहते समय सुख मालूम पड़ा। किन्तु चंचल लक्ष्मी के जाने पर तो घोर दुःख होता है। उस सुख में दुःख छिपा है। अन्तकालतक तो कहना ही क्या ?

"व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति नित्यम् ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥"

जरा तो बाधिन के समान आ रही है। रोग शत्रु के समान घेर रहे हैं। टूटे घड़े में से पानीके समान आयु निकलता जा रहा है। फिर भी लोग अहित करने से बाज नहीं आते। यह तो वैयक्तिक बात हुई। गृह-कलह, ग्राम-कलहादि अलग। शत्रु आक्रमण अलग। जीवन तो एक धाँधली मात्र है। श्वश्रूवधून्याय प्रसिद्ध है। अधिकारमें न्यूनता आने पर सासू दुःखी। अधिकार पूरा न मिल पाने से बहू दुःखी। यह सब विषयों में आने पर ही मालूम पड़ता है।

"नाधिगच्छेत स्त्रियं (श्रियं) प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः ।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यगजो यथा ॥"

सभी छिनाझपटीमें पड़े हैं। मनुष्य में कुछ विवेक होने से कानून के अन्दर रहकर छीनाझपटी करते हैं। अन्य सब प्रत्यक्ष ही करते हैं।

"अभुक्त्वा विषयानेतान् वैराग्यं नोपजायते" ।

इन विषयोंका भोग किये विना वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। इसलिये यौवने विषयैषिणां बताया।

इस प्रकार अर्ध आयु बिताने के बाद शेषार्ध में "मुनिवृत्तीनाम्"। पचास वर्ष के बाद फिर अपने लक्ष्य की ओर सीधे बढ़ो। ध्यान, चिन्तन, भजनमें मन लगाओ। मुनिवृत्ति में मुनिशब्द की व्याख्या है—"मन्तारो वेदार्थमवगन्तारो मुनयः।" उनकी वृत्ति है—वेदार्थ मनन। सत्संग अधिकाधिक श्रवण करो। वेदार्थमनन करो। धीरे-धीरे संसारवासनाको समाप्त करो। वेद-वेदान्त के अध्ययन के विना हम लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकते। आगे हजारों जन्मों की बात है। इसलिये संसार में रहने के बाद जब ऋणत्रय विमोचन हो जाता है तभी लक्ष्यदृष्टि को उजागर करना चाहिये फिर यही देखना है—

"कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम् ।
अये गौरीनाथ त्रिपुर हर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥"

कब मुझे गंगातटवास मिलेगा, विरक्त होकर भ्रमण करने को मिलेगा ? हे पार्वतीपते ! आपने त्रिगुणरूपी त्रिपुरका वध किया, मैं भी कब गुणातीत होऊँ। आप त्रिवेदी दिव्यचक्षु हैं, मैं कब त्रिवेदीधारक होऊँगा ! हे शंकर ! मुझ पर प्रसन्न हो इत्यादि भावकी प्रतीक्षा करो। और मौका मिलते ही सर्वसङ्गत्याग करो।

योगेनान्ते तनु त्यजाम्। अन्त में योगपूर्व तनुत्याग हो। योग क्या है ? यही अनुष्ठान जो बताया। चित्तवृत्तिनिरोध से संसारवियोग ही योग है।

"तत्र तं बुद्धिसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्"

बुद्धिसंयोग है बुद्धितादात्म्य एवं तत्प्रयुक्त बुद्धिगतसुखदुःखादि धर्मसम्बन्ध। जिसको तादात्म्याध्यास एवं धर्माध्यास कहते हैं। इन दोनों का वियोग ही योग है। परमात्मा एवं जीवात्माका संयोग ही योग है ऐसी भी व्याख्या है। परन्तु बात यह है कि परमात्मा से असंयोग कब रहा ? वह तो नित्यसंयुक्त है। बल्कि एक ही है। उसका एकत्व है, संयोग नहीं है। अत एव संयोगं योगसंज्ञितं नहीं बताया। किन्तु कल्पित बुद्धिसंयोगका वियोग अर्थात् बाध ही योग है। तत्त्वज्ञान के द्वारा वासनाक्षय एवं मनोनाश होता है तब योग की प्राप्ति होती है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" का भी यही रहस्य है। क्योंकि वासनाप्रयुक्त वृत्तियों के होने पर आत्मा में वृत्तिसारूप्य होगा। वृत्त्याकाराकारिता, वृत्तिसमानरूपता अर्थात् सुखादिवृत्ति जैसे सुखादिविशिष्ट है वैसे आत्मा भी सुखादिविशिष्ट है ऐसा अध्यास । वृत्तिनिरोध होने पर अध्यासनिरोध भी अवश्यंभावी है वही विमुक्त है। ऐसा विमुक्त देहपातोत्तर देहान्तरसम्बन्धको प्राप्त नहीं होगा अर्थात् विदेहमुक्त होगा।

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्
होता वेदिषदतिथिर्दुरोणसद् ।
नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद्
अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥

अज्ञान का विनाशक आत्मा पवित्र स्थान में स्थित रहने वाला तथा मुक्त होने पर अन्तरिक्ष लोग में विचरण करने वाला है। मनुष्य योनि को प्राप्त कर श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषों को सत्संग करने वाला, यज्ञ की वेदी पर स्थित होकर यज्ञादि कर्मों का करने वाला, एक ही शरीर में स्थित न रहने वला, अनेक आश्रयों में विचरण करने वाला, सत्य में निवास करने वाला है। जल में भी जन्म लेने वाला, पृथिवी पर जन्म लेने वाला अपने कर्मों के आधार पर विभिन्न योनियों में जन्म लेने वाला, पर्वतों पर भी जन्म लेने वाला है, यह एक महान् सत्य है॥२॥

'पुरमेकादशं द्वारं" इस मन्त्र में त्वं पदार्थका निरूपण है। पुरशब्द का गुरु अर्थ हो चाहे नगर, इस देहको लेकर ही कहा गया है। उस पुरसे युक्त चैतन्यको ही 'अज' एवं 'अवक्रचेतस्' शब्द से बताया। अतः वह त्वंपदार्थ ही है। प्रथम त्वं पदार्थ का ही निरूपण आवश्यक है। पहले आपको पहचानो कि मैं कौन हूँ। अपने आपका पता नहीं और दूसरे का पता लगाने निकले तो यह कैसी विडम्बना होगी ? यह तो दिया तले अंधेरा वाली कहावत को ही चरितार्थ करेगा। खैर, अन्यत्र तो काम चलेगा। किन्तु परमात्मज्ञानके लिये स्वात्मज्ञान परम आवश्यक है। क्योंकि अपना ही स्वरूप आत्मा-परमात्मा है। अपने अंदर जो मिलावट आयी है उसे हटाने पर ही अपना असली स्वरूप सामने आयेगा और परमात्म-स्वरूप प्रकट होगा। अन्य कोई साधन परमात्मज्ञानके लिये नहीं है। असल सोना सोने में से ही कचड़ा हटाने पर निकलेगा। अतः प्रथम मन्त्रमें मिलावटकी सामग्री तथा असलीरूपका वर्णन किया। परंतु इतनेसे पूरा ज्ञान नहीं होगा। शरीरसे मैं पृथक् हूं इतना द्वैतवादी भी मानते हैं किन्तु वे परिच्छिन्न परमाणुस्वरूप स्वीकार करते हैं। अतः एक व्यापकरूपका भी पता लगाना जरूरी है। फिर दोनोंमें समान लक्षण आदि देखकर एकत्वनिश्चय किया जाता है तो स्वका वास्तविक स्वरूप सामने आता है। अतः त्वंपदार्थके बाद तत्पदार्थका अब निरूपण करने जा रहे हैं।

हंसः शुचिषत्। यह मन्त्र भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न अर्थोंमें आया है। ऋग्वेदमें यह सूर्यपरक आया है। फिर भी सबका सामञ्जस्य है। हन्ति गच्छतीति हंसः। हन्तेर्गतिकर्मणः ऐसा निरुक्त है। हंस पक्षीको कहते हैं।

बतखके समान हंस होता है। जब यह चलता है तो उसकी पूछ अर्धवक्राकार या तलवारके आकारमें चलती रहती है। वह हननाकार तलवार के आकारमें गति हन धातुका अर्थ है। सूर्य भी उत्तरायण दक्षिणायनमें उसी आकारमें चलता है। अतः सूर्यका नाम भी हंस पड़ा। एक हंस योगी भी है। परमगतिस्वरूप होनेसे परमात्मा भी हंस है।

"पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" ॥

ऐसा ईशावास्यमें सूर्यको लेकर मन्त्र आया है। पोषणात् पूषा। स्थूल-शरीरादिका पोषण सूर्यरूपी हंस करता है। सूक्ष्मशरीरपोषण योगीरूपी हंस करता है। दोनों एकर्षि हैं। "एकाकी विचरेन्नित्यं" योगी एकाकी ही घूमता है। सूर्य भी एकाकी है। चन्द्रमाके साथ तारे होते हैं। सूर्यके समय तारे लुप्त हो जाते हैं। सूर्य विश्वका यमन करता है। दिन, मास, वर्षादि निर्माणकर वही प्राणिसंयम करता है। यमराजको सूर्यपुत्र माना है। यमराजका दूसरा नाम काल है। कालनिर्माता सूर्य है ही। हंस योगी पिण्डयमन करता है। सूर्य ब्रह्माण्डयमन करता है। सुष्ठु ईरणात् सूर्यः। वह सोये लोगोंको जगाकर कार्योंमें प्रेरित करता है। रातमें सूर्याभाव होनेसे सभी सो जाते हैं। "धियो यो नः प्रचोदयात्"के अनुसार बुद्धिको भी वह प्रेरित करता है। हंसयोगी भी अपने आपका प्रेरयिता है। परप्रेरयिता भी है। "प्राजापत्य"। ब्रह्माने प्रथम सूर्यको बनाया। मृतरूप अण्डको सजीव करने मार्तण्ड रूपमें आये। प्रजापति-परमेश्वरपरायण होनेसे हंसयोगीभी प्राजापत्य है। अपने उग्र तेजको समेटकर कल्याणतम रूप करनेके लिये प्रार्थना की जा रही है। अन्तमें कहा—योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। आदित्यमण्डलमें जो पुरुष है वही मैं हूं। यह सोऽहं मन्त्र है। यह अजपा गायत्री है। इसीको बार-बार कहनेपर हंस होता है। सन्धिमें हंसो होता है। "य आदित्य मण्डले पुरुषः सोऽहम्।" दोनों जगह पुरुषान्वय है। एक जगह "पूर्णत्वात् पुरुषः" है। दूसरी जगह "पुरिशयनात् पुरुषः" है। अथवा दोनों जगह पूर्ण भी है। पुरिशायि भी है। आदित्यमण्डलादि केवल उपाधि है। उपाधिको लेकर पुरिशयन होगा। और स्वरूपतः पूर्ण।

हंसयोगी इस अजपाका जप करते हैं। वैसे तो सभी जीव हंसमन्त्रजापी हैं।

"हंकारेण बहिर्याति सः कारेण विशेत् पुनः ।
हंसेति परमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥"

निःश्वास-प्रश्वासके द्वारा यह जीव नित्य सोऽहं मन्त्र जप करता ही है। किन्तु उसका अनुसन्धान न करनेसे वह निरर्थक हो जाता है। योगी अनुसन्धानसे उसका लाभ प्राप्त करता है। जैसे खेचारी योगी। सहस्रारस्थ चन्द्रमण्डलसे नित्य अमृतझरण होता है। वह नाभिमें आकर समानाग्निमें जल जाता है तो व्यर्थ जाता है। योगी लोग खेचरी मुद्रासे उसीका पानकर अमर बनते हैं। वैसे हम सबका निःश्वासप्रश्वासके द्वारा नित्य होनेवाला जप व्यर्थ जाता है। योगी उसका अनुसन्धानकर कृतार्थ होता है।

हंस परमात्माको भी कहते हैं। "हंसो विहङ्गभेदे स्यात्............ परमात्मन्यमत्सरे" हन्तीति हंसः। पहले भी आ चुका है—यस्य च ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः" समस्त जगत्का वह संहार करता है। इसलिये हंस नाम पड़ा। प्रलयकालमें वह परमात्मा सबका संहार करता है। नित्य प्रलय सुषुप्ति है। उसमें बताया—

"स्वयं निहत्य स्वयं निर्माय प्रस्वपिति ।
अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ॥"

जगत्की समस्त वस्तुओंका निहनन स्वप्नमें होता है। स्वप्नके राज्यका निहनन सुषुप्तिमें होता है। वह निहनन करनेवाला आत्मारूपमें स्थित ब्रह्म ही है। "स्वयं निहत्य" ऐसा विशेषण है। नैमित्तिक प्रलयमें समस्त जगतका निहनन करनेवाला ब्रह्मरूपी परमात्मा है।

"अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाःप्रभवन्त्यहरागमे ।
"रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥"

ऐसा गीतामें कहा है। प्राकृतप्रलयरूपी महाप्रलयमें ईश्वररूपेण स्थित परमात्मा निहनन करता है। क्योंकि उस समय ब्रह्माकी भी ऊमर पूरी हो जाती है। तो मायावच्छिन्न चैतन्यरूपी ईश्वर ही सर्वहनन करनेवाला है। आत्यन्तिक प्रलय तो अखण्डाकारवृत्त्यभिव्यक्त साक्षात् ब्रह्म करता है। वह समस्त जगत्को ज्ञानसे बाधित करता है। इसप्रकार हननकर्ता होनेसे

परमात्मा हंस हुआ। चार रूपसे स्थित होकर चार प्रकारका वह निहनन करता है।

हंसतीति हंसः। ऐसी भी व्युत्पत्ति है। अनुस्वारागम हुआ।

"भवेद्वर्णागमाद्धंसः सिंहो वर्णविपर्ययात्।

गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात् पृषोदरः॥"

ऐसी वैयाकरणकारिका है। परमात्मा हंसता है। उसीसे चराचर सृष्टि होती है।

"निःश्वासितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।

स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥"

इसप्रकार आचार्य वाचस्पतिका कहना है। उस परमात्माने प्रथम जो निःश्वास किया उसीसे वेद प्रगट हो गये। "अस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदोयजुर्वेदः समावेदोऽथर्वाङ्गिरसः" इत्यादि श्रुति है। प्रथम निःश्वाससे शब्दसृष्टि होती है। उसके बाद परमात्माका वीक्षण होता है तो उससे पञ्चभूतसृष्टि होती है।

"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत

तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्यामः प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त॥"

इसप्रकार ईक्षणसे क्रमशः तेज, जल एवं पृथिवीकी उत्पत्ति हुई। इसप्रकार श्रुतिमें पञ्चभूतसृष्टिके बाद चराचर सृष्टि है। वह स्मितसे हुआ। स्मितका अर्थ है मुसकराना, हंसना। "ष्मिङ् ईषद्धासे" ऐसा धातुपाठ है। भगवानकी अल्प हंसीसे चराचर पैदा हुआ। "स्वयं निहत्य स्वयं निर्माय", "अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति" इत्यादि पूर्वोक्त वचनसे ही चराचर जगन्निर्माण-हेतु हास सिद्ध होता है। "हसिष्यति पङ्कजश्रीः" इत्यादिमें हंसीका खिलना अर्थ है। लोकमें अच्छी बात सुनकर खिल उठा बोलते हैं। तथा अव्यक्तवत् स्थित दन्तकड्मल हंसीसे ही तो प्रगट होते हैं। इसप्रकार हंस कहनेसे अव्यक्तरूपसे स्थित जगत्को व्यक्त करनेवाला यह अर्थ निकलता है। परमात्मा एतन्निमित्त होनेसे वह हंस है।

यद्यपि अहं सः सोऽहम् इस मन्त्रको प्राणवत् जीवात्मा जपता नहीं है। तथापि प्रकाशित करता है। क्योंकि जीवात्मा परमात्माका ऐक्य है ही और

स्वयंप्रकाशत्वात् प्रकाशमान भी है। किन्तु मायाजवनिकासे प्रकाशमान भी आच्छन्न हो गया। जैसे सूर्य स्वयंप्रकाश न होनेपर बादलसे आच्छन्न हुआ। अतः परमात्मा जीवात्माकी नित्य सोऽहंता या हंसता है ही। फिर जीवात्माकी हंसता आच्छन्न भले ही हो परमात्मा नित्यसर्वज्ञ होनेसे वह नित्यप्रकाशमान है।

हन्ति गच्छतीति हंसः यह व्युत्पत्ति भी परमात्मामें घटती है। किन्तु इवकार जोड़ना पड़ेगा। हन्तीव हन्ति। मानससरोवरसे पंद्रह बीस माईल दूरी पर नीचेकी ओर राक्षसताल है। कहते हैं कि रावण बड़ा शिवभक्त था। रोज पूजा करने लंकासे कैलास जाता था। एक बार धनागमोत्तर रावण के मनमें बड़ा अभिमान हुआ। उसने सोचा कि उस कैलासको ही उखाड़कर लंकामें क्यों न रखा जाय? आनेजानेकी खटपट नहीं रहेगी। उखाड़कर ऊपर उठाया जरूर। किन्तु "अमुष्य त्वत्सेवा" के अनुसार रावणको ही दबा दिया। अन्तमें शंकरजीने छोड़ भी दिया। किन्तु उखाड़नेके कारण एक भारी गड्ढा तो हो ही गया। वही राक्षसताल है। गङ्गायमुना आदि वहींसे निकलती हैं। हंस बहावके मध्यमें बैठा रहता है तो लगेगा तेजीसे ऊपरकी ओर जा रहा है। वस्तुतः जल नीचेकी ओर बह रहा है। जैसे बादलके चलनेसे चन्द्रमा चलता हुआ नजर आता है। जैसे गाड़ीमें बैठनेपर वृक्षादि दौड़ते हुए नजर आते हैं। वैसे आत्मा भी चलता हुआ-सा प्रतीत होगा।—"तदेजति तन्नेजति"। वस्तुतः चलता नहीं हंसवत्। किन्तु चलता हुआ सा प्रतीत होता है।

हंस स्वयं स्वच्छ होता है। उसका एक-एक पंख स्वच्छ होगा। हंसतूल प्रसिद्ध है।

"येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति" ॥

इत्यादि प्रसिद्ध है। वैसे यह परमात्मा भी स्वच्छ है। "शुद्धमपापविद्धं" इस प्रकार मन्त्रमें शुद्ध बताया। नित्य शुद्ध-बुद्ध इत्यादि विशेषण प्रसिद्ध हैं।

शुचिषत्। हंस स्वयं शुचि है और शुचिषत् भी है। शुचौ स्थाने सीदतीति। बतखमें और हंसमें यही फरक हैं। बतख स्वयं मलिन होता है और कीचड़में कीड़ोंको ढूंढकर खाना है। हंस तो केवल कमलनालका ही

भक्षण करता है। मानस सरोवरमें रहता है तो नित्यस्वच्छ है। क्योंकि बारिष वहां होता नहीं तो मटमैला पानी आवे कहांसे? हम कैलासमानसरोवरकी यात्रामें थे। एकदिन मानस सरोवरका जल मटमैला दीख पड़ा तो मैंने पूछा यह क्यों मटमैला हो गया? शेरपाने कहा ऊपर आसमानमें देखिये। समझमें आया। वास्तवमें आकाशमें बादल था। उसके प्रतिबिम्बसे मटमैलासा दीख रहा था। मानस सरोवरमें स्वच्छ जलमें हंस रहता है।

द्वितीय हंस सूर्य भी शुचिषत् है। आकाश हमेशा स्वच्छ होता है। धूल उड़नेसे धुंए आदिसे आकाश कभी मैला दीखेगा। किन्तु आकाशमें किसी मालिन्यका स्पर्श नहीं होता।

"तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत्कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥"

ऐसे स्वच्छ आकाशमें सूर्य रहता है। शुचि ग्रीष्मको भी कहते हैं जब बादल नहीं रहता।

तृतीय सूर्य आत्मा भी स्वच्छ स्थानमें रहता है। मानस सरोवर ठंढी कोहरेसे आच्छादित होता है तो हंस गायब हो जाते हैं। आकाश मेघादिसे आच्छन्न हो तो सूर्य गायब सा होता है। वैसे हृदयाकाशमें भी काम-क्रोधादिके मलके आनेपर आत्मा अदृश्य हो जाता है। वहां रहते हुए भी नहीं रहनेके बराबर होता है। कामक्रोधादि बादलसे आत्मसूर्य गायब हो जाता है।

इस विशेषणके द्वारा कुछ अर्थविशेषका विधान भी विवक्षित है। वह क्या? आत्मसाक्षात्कारेच्छुको अपना अन्तःकरण स्वच्छ रखना चाहिये। केवल परोपदेशार्थ ज्ञान होनेमात्रसे कृतकृत्यता नहीं है। उपदेश तो हिरण्यकशिपु भी करता था। जब माता अदिति पुत्रशोकसे रो रही थी। हिरण्याक्षका वध सुनकर विलाप कर रही थी तब हिरण्यकशिपुने बटुकका दृष्टान्त जोड़कर उशीनर राजाकी कथा सुनायी।

"पथिच्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं"

इत्यादि महत्त्वपूर्ण उपदेश उसने दिया। किन्तु उसका हृदय अशुद्ध था। इसलिये उसका भगवानसे ही वैर हो गया था। ऐसा मनुष्य भगवद्दर्शन

नहीं कर पाता। हृदयको "कामादिदोषरहितं कुरु मानसं मे" इसप्रकार प्रथम ही प्रार्थना आदिके द्वारा शुद्ध बनाना चाहिये। तभी वह वेदान्तश्रवणका भी अधिकारी होता है। अन्यथा "सर्वं कुञ्जरशोचवत्" (हाथी को नहलाने से क्या होगा? फिर वह धूल सूंड से उठाकर माथे-पीठ पर डालेगा) का उदाहरण होगा।

परमात्मा शुद्धस्थानमें ही रहता है, प्रगट होता है। अतएव चक्षु आदिको छोडकर प्राणब्रह्मोपासनाके लिये उपनिषदोंमें जोर दिया। क्योंकि चक्षु आदि पापविद्ध हैं। बृहदारण्यक एवं छान्दोग्यमें ऐसी कथा आती है। चक्षु परमात्माका उद्गान करने लगा। किन्तु असुरोंने आक्रमण कर पापसे वेधन किया इसलिये चक्षु शोभन अशोभन दोनोंको देखती है। इसप्रकार श्रोत्र पर भी असुरोंने घात किया। जिससे अच्छी बुरी दोनों बात वह सुनता है। वैसे ही रसना पर असुरोंने वार किया। इसलिये सरस तथा दूरस दोनोंको पाती है। नासिका सुगन्धि-दुर्गन्धि दोनोंका अनुभव करती है। एक मुख्यप्राण ही अन्तमें ऐसा निकला जिसपर असुरोंका आक्रमण विफल हो गया।

इसप्रकार उपासनाके लिये प्राण उत्तम है। परंतु दर्शनके लिये वह अपर्याप्त है। क्योंकि प्राण केवल क्रियाप्रधान है। वह दर्शनसाधन नहीं है। भक्त लोगोंके शब्दोंमें बोलना हो तो भगवानके चरणकमल अतिकोमल हैं।

"चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥"

बुद्धिरूपी गोपिका कह रही है कि इन्द्रियादि गायोंको चराते हुए जब संसार अरण्यमें आप विचरते हैं तो कामक्रोधादि शिलतृणादिसे आपके पांवमें वेदना होगी इसके लिये हम बेचैन हैं। हृदयको कामादिकण्टकरहित एवं पङ्ककलङ्क रहित बनाना चाहिये। मनमें कुसङ्कल्प उठता है यह पापवेध है। स्वभावतः सुसंकल्प ही होना चाहिये। तदर्थ निरन्तर प्रयत्न आवश्यक है।

शुचिता दो प्रकारसे होती है। एक तो अशुचिके निवारणसे। जैसे बरतन आदि धोनेसे शुचि होते हैं। शरीर आदि आधेय शौच है। "अपवित्रः पवित्रो वा" इत्यादि मन्त्रोच्चारण पुण्याह प्रोक्षण आदिसे शुचिता होती है।

कामादि दोषोंका अपोहन तथा सत्संग वेदाध्ययन आदि से शौचाधान दोनोंसे हृदय पवित्र होता है। बाह्य मन्दिर आदिमें भी यही बात है। मंदिर धोनेमात्रसे भगवानके बैठनेयोग्य नहीं होता। मन्त्रादिसे भी पवित्र करना आवश्यक है। मन्त्रके बिना मूर्ति रखेंगे तो उसमेंसे भगवान् उड़ जायेगा। अर्थात् अनभिव्यक्त होगा।

तत्त्वमसि महावाक्यार्थमें अपनी सुविधा एवं भक्तिके अनुसार वाच्यार्थ लेना चाहिये। सूर्यमण्डलस्थ पुरुष तत्पदवाच्यार्थ एवं केवल पुरुष तत्पदलक्ष्यार्थ होगा सूर्योपासकोंके लिये। अक्षि पुरुष त्वंपदवाच्यार्थ तथा शुद्ध पुरुष त्वंपदलक्ष्यार्थ होगा। आंख शुचि है। सूर्यमण्डल भी शुचि है। अतः दोनों शुचिषत् है और हंस हैं। भागवतमें आया है—हंसावहं च त्वं चार्य संखायौ मानसायनौ" हम तुम दोनों हंस हैं। दोनों समानाख्यानयुक्त सखा हैं। मानस हृदाकाशमें स्थित हैं।

वसुरन्तरिक्षसत्। प्रथम तत्पदार्थ निरूपण करते हुए सूर्यरूपमें परमात्माका वर्णन किया हंसः शुचिषत्। हंसरूपमें वही परमात्मा दीख रहा है। जो शुचि स्थानमें रहता है। इसके दोनों प्रकारसे अर्थ बताये—एक तो सूर्यरूपमें आकाशमें स्थित ब्रह्मको सोऽहमस्मि इस भावनासे अभेदरूपसे देखो। दूसरा यह कि स्वच्छ हृदयमें सूर्यवत् प्रकाशमान् वह परमात्मा है। निदिध्यासन करो तो गन्तव्यस्थान पर शीघ्र ही पहुंचोगे। अब इसके बाद वायुरूपेण परमात्मदर्शनके लिये श्रुति कह रही है। बाहर भी भीतर भी वायुरूपेण परमात्माको देखो।

वसुका अर्थ भाष्यमें लिखा है—"वासयति सर्वान्"। इसके बारेमें व्याकरणमें कहा जाता है—"अन्तर्भावितण्यर्थः"। बसानेवाला वसु है। संसारको बसानेवाला वायु है। सूर्यप्रकाशकी जितनी आवश्यकता है उतनी ही वायुकी भी है। हवाके बिना कोई जी नहीं सकता। प्राणवायु ही शरीरमें जीवको बसाता है। केवल बाह्य वायु नहीं किन्तु उसमें स्थित ब्रह्म बसाता है। इसीलिये श्रुतिमें वायुके लिये कहा—

"नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि
सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु"

इत्यादि। ऋषि कहते हैं परब्रह्म परमात्मा तो अज्ञानकालमें परोक्ष है। किन्तु प्रत्यक्ष ब्रह्म वायु विद्यमान है। ऋषि कहते हैं—हे वायु! मैं तुम्हें ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा। क्या झूठ ही बोल जाओगे? नहीं। मैं झूठ नहीं बोलता। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। शास्त्रीयरीतिसे तथा लौकिक-तरीकेसे यथार्थ ही कहूँगा। क्या यह बोलकर उसे सत्य कहनेका द्वितीय झूठ नहीं है? झूठका सुफल नहीं होता। वायुको ब्रह्म समझने और बोलनेका सुफल है। वह है—तन्मामवतु। मेरी रक्षा करना। विघ्न निवारण करना। यह केवल आपकी आशामात्र तो नहीं है? इसके उत्तरमें ऋषिने अन्तमें कहा—

"ऋतमवादिषं सत्यमवादिषं तन्मामावीत् तद्वक्तारमावीत्"

मैंने ऋत-सत्य कहा। परिणामतः वायुरूप ब्रह्मने मेरी और वक्ताकी रक्षा की। बीचमें विघ्न होने नहीं दिया। प्रतिभास्फूर्ति प्रदानके द्वारा ज्ञान प्राप्त कराया।

लोग समुद्रकिनारे बगीचोंमें हवा खाने जाते हैं। हवा खाकर प्रसन्न भी होते हैं। परंतु ब्रह्मरूपसे वायुका स्मरण नहीं करते। उसके भौतिकरूपसे ही समाप्ति करते हैं। क्या उसमें शक्ति है कि हम उसे प्राणवायुके रूपमें अंदर लेते हैं जिसके परिणाम स्वरूप हम जीवित रहते हैं? बैठकर हवा खाओ और साथ-साथमें उसमें ब्रह्मचिन्तन भी करो तो क्या ही अच्छा हो। इसमें भी सोऽहं भावना होती है। मधु ब्राह्मणमें बताया है—

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मधु अस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु

"यश्चायमस्मिन् वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः

यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः

अयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदँ-सर्वम् ॥"

यह वायु सब प्राणियोंको मधुवत् आनन्दमयी है। तथा सभी भूत वायुके द्वारा मधुरूपसे निष्पादित हैं। इस वायुमें और अध्यात्म प्राणमें जो पुरुष है वह एक ही है। यही अमृत है। यही ब्रह्म है। यही सब कुछ है।

वासयति सुगन्धयतीति वसुः। जब तक शरीरमें प्राणवायु है तब तक इस शरीरकी सुगन्ध है। किन्तु जहां प्राणवायु हटा वहां देखो इसकी क्या सुगन्ध है? छान्दोग्यमें एक कहानीके समान लिखा है कि चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा आदिका आपसमें विवाद हुआ। कौन बड़ा, कौन छोटा? उस समय

नहीं आज भी यह विवादग्रस्त ही है। आंखके डाक्टरके पास जाओ तो वह बोलेगा—आंख ही सब कुछ है। मुझसे आंखका डाक्टर कहने लगा—आंखका अस्पताल खोलना चाहिए। आंख ही सब कुछ है। पेटके डाक्टरके पास जाओ तो कहते हैं पेट ही मूल है। वहीं अन्न जाता है। उसीसे शरीर बनता है। गलेके डाक्टरके पास जाओ तो कहते हैं गला नहीं तो—गला कट गया तो? और मरीजोंका भी अपना अनुभव अलग है। वे कहते हैं कानका दर्द ही असह्य है। सिरदर्द ही असह्य है इत्यादि। "अहँ-श्रेयसि व्यूदिरे अहँ श्रेयानस्मि"। ये सब प्रजापतिके पास गये। कौन? आंख, कान, मन आदि। ये कैसे जायेंगे प्रजापतिके पास? इनके अधिष्ठाता देवता गये ऐसा समझ लो। प्रजापतिने क्या निर्णय दिया?

"यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठः"

जिसके उत्क्रमणसे शरीर बेकार हो। पापिष्ठ हो, वह श्रेष्ठ है। उसके बाद एक-एक करके वाग् आदिका निर्गमन बताया—"सा ह वागुच्चक्राम" इत्यादि। अनुभव भी है—वाणीके बिना गूंगा रहता है। आंखके बिना अंधा जीता है। श्रोत्रके बिना बहरा जीता है। मनके विनाभी मूर्च्छादिमें लोग रहते हैं। फिरसे मन आ जाय ऐसी प्रतीक्षा करते हैं। एक प्राण ही ऐसा है कि वह गया तो गया सबकुछ। उसकी वापसीकी कोई प्रतीक्षा नहीं करता। क्योंकि शरीर पापिष्ठ हो जाता है। उत्तरोत्तर पापिष्ठतर होता जाता है। शरीरमें दुर्गन्धि चारों ओर फैलने लगती है। यह प्राण जाता है तो सबको साथमें ले जाता है।

"स यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून् संखिदेत् ।
एवमितरान् प्राणान् समखिदत् ॥"

और मरणकालमें या मोक्षकालमें ये सभी इन्द्रियां प्राणमें एकीभूत हो जाती हैं।

"स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति ।
प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः ॥"

इसलिये इसको संवर्ग बताया—वायुर्वाव संवर्गः प्राणो वाव संवर्गः। संग्रहणात् संग्रसनाद्वा संवर्गः। अपनेमें अन्य चक्षु आदिका संग्रहण या संग्रसन करता है। इसलिये वायु और प्राण संवर्ग है। प्रलयकालमें वायुमें

सर्वसंग्रसन होता है। अतः वायुको ब्रह्मरूपमें समझना चाहिये। क्योंकि ब्रह्ममें सर्वसंग्रासन अन्तमें होता ही है।

अन्तरिक्षसत्। वायु अन्तरिक्षमें तो रहता ही है। पृथिवी और आकाश (द्यौ) के बीचका स्थान अन्तरिक्ष है। अन्तर्मध्ये ईक्ष्यते इत्यन्तरिक्षम्। ईको ह्रस्व हो जाता है। अन्तरिक्षसे ऊपर जानेपर प्राणवायु नहीं मिलेगा। इस शरीरमें प्राणभी अन्तरिक्षसत्। मूलाधार एवं सहस्रारके मध्यमें प्राण रहता है। अर्थात् हृदयस्थानमें मूलाधारमें पृथिवीतत्त्व है। स्वाधिष्ठानमें जलतत्त्व है। मणिपुरमें अग्नितत्त्व है। हृदयमें वायुतत्त्व है। और कण्ठमें आकाश-तत्त्व है। आज्ञामें मनस्तत्त्व है। इनमें हृदय मध्यमें आता है। अंदर ईक्ष्यमाण हृदयमें स्थित है। इसलिये अन्तरिक्षसत् है। पृथिवी और आकाश (द्यौ) के मध्यमें ईक्ष्यमाण अन्तरिक्षमें स्थित वायु ब्रह्मरूप है। मूलाधार पृथिवी आज्ञा मन या विशुद्धि आकाशमें मध्यमें ईक्ष्यमाण हृदयमें स्थित प्राण ब्रह्मरूप है। यद्यपि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" वह सीधा है। परंतु वहांतक पहुंचना सहसा संभव नहीं। अतः जहां संभव है वहां उपासनारूपसे अनुसन्धान करना चाहिये। रास्तेमें मैला पड़ा है। अब उसको ब्रह्म देखने जाय और फूलके समान बच्चेके समान प्यार करने लग जाय यह संभव नहीं। सूर्य वायु आदि निर्दोष हैं और शास्त्रविहित होनेसे इस उपासनाका पुण्य भी ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिमें सहयोगी बन जाता है।

वसुका प्रथम वायु अर्थ (बाह्य अर्थको लेकर) फिर वाच्यार्थ पिण्ड, फिर लक्ष्यार्थ ब्रह्मको लेकर यह बताया कि वह ब्रह्मरूप है। अब वस्तुका सीधा अर्थ ब्रह्म भी है। जैसे हंसका बताया। वसु ही वासु भी है।

"वासनाद् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम् ।
सर्वभूतनिवासोऽपि वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥"

वासनात् वासुदेवः। बसाया जगत्को। अतः वासु है और देव है। ऐतरेयमें आया है–

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किंचन मिषत्
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमांल्लोकानसृजत

अम्भो मरीचिर्मरमापोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा–
अन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥
स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति ।
सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्याऽमूर्च्छयत् ॥"

पहले अकेला परमात्मा था। उसने सोचा लोकोंकी सृष्टि करूं। फिर अम्भ मरीचि आदि लोकोंको बनाया। फिर सोचा लोकपालोंको बनाऊं। उसने प्रथम पुरुषको मूर्त बनाया। उसके मुखादि द्वार प्रगट हो गये। वहीं अग्नि आदिको बसाया। एवं सबको बसाया। इसीसे भुवनत्रय वासित हुआ। भगवानके बसानेसे तीनों भुवन आबाद हुए, वासित हुए।

दूसरा–वासुदेवस्य वासनात्–वासुदेवकी सुगन्धसे-सुगन्धिपरमाणुसे तीनों जगत् सुगन्धित हैं। परमेश्वरका ही अंश जीव है। वही उसके सुगन्धिकण हैं। उसीसे जगत् सुगन्धित हुआ। अन्यथा तीनों जगत् केवल श्मशानद्रव्यमात्र होगा।

तीसरी बात यही है–सर्व भूतनिवासोऽसि। इसलिये वासु है। वसत्यस्मिञ्जगत्। समस्त जगत् वासुदेवमें ही निवास करता है।

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।"

सर्वत्र परमात्मा जीवात्मरूप सुगन्धिकणके रूपमें विद्यमान है। और सर्व जगत् परमात्मामें समुद्रमें तरङ्गके समान विराजमान है। उसी वासुको यहां वसु शब्दसे कहा गया है।

वह अन्तरिक्ष सत् है। अन्तरीक्षणमन्तरिक्षं तत्र विषयतया सीदतीति अन्तरिक्षसत्। परमात्मा अन्तर्ज्ञानमें विराजता है। बहिर्ज्ञानमें नहीं। इसलिये अन्तरिक्षसत् कहा। अन्तर्दर्शनविषय परमात्मा है। अन्तर्दर्शनका हृदयान्तर्दर्शन तथा जगदन्तर्दर्शन दोनों ही अर्थ हैं। तदनन्तर ही बहिर्दर्शन होता है। अन्तर्दर्शनका दूसरा प्रकार है–समस्त वस्तुओंके अंदर अन्तरात्मारूपसे देखना। सर्वत्र पांच स्वरूप हैं। तीन अंदर हैं दो बाहर हैं। अस्ति, भाति, प्रिय ये अंदरके रूप हैं। नामरूप ये दो बाहरके रूप हैं। जैसे घट यह नाम और कम्बुग्रीवादिमत्त्व रूप ब्रह्म हैं। नाम रूपदृष्टि छोड़कर अर्न्तदृष्टि करनेपर सच्चिदानन्द दृष्टि होती है। वही अन्तरीक्षण। उदाहरणार्थ मृत्तिका अन्तर्वस्तु है। घट बहिर्वस्तु है, मृत्तिकामें कल्पित है।

मृत्तिका भी बहिर्वस्तु है अणुदृष्टिसे। अणु अन्तर्वस्तु है। अन्तमें रहनेवाली अन्तर्वस्तु है सच्चिदानन्द तत्त्व। उस अन्तदर्शनमें विषयतया स्थित अन्तरिक्ष सत् वसु ब्रह्म हैं।

एक रामायणमें बताया कि पुत्रकामेष्टियागके बाद तीन पत्नियोंको पायस प्रसाद दिया और तीनों गर्भवती हो गयीं। दशम मासमें राजा दशरथने ब्राह्म मुहूर्तके आरम्भमें स्वप्न देखा कि बड़ा ही सुन्दर ज्योतिर्मय मन्दिर है। उसके अंदर गर्भागारमें साक्षात् भगवान् नारायण विराजमान हैं। स्वप्नमें मूर्तिरूपमें भगवान् दिखाई नहीं पड़ते। वहां तो साक्षात् दर्शन होता है। अभी बोलेंगे ऐसी मुद्रामें भगवानको देखा। राजाने षोडशोपचार पूजन किया। परमज्योतिरूपसे ध्यान किया। बड़ा आनन्द आ रहा था। इतनेमें नींद खुली। देखा तो उठनेकी घंटी बज रही है। बंदीगण गीत गा रहे हैं। प्रातः राजा वसिष्ठजीके पास गये। प्रश्न यहां यह उठता है कि दशरथजीने जो देखा वह सत्य था या मिथ्या? स्वप्न सत्य होता है तो सपनेमें लाख रूपयेका मनिपर्स मिला तो उससे गरीबी दूर होगी? नहीं। तब मिथ्या है? हमारे बचपनकी बात है। एक परिचित विद्यार्थीने परीक्षासे पूर्व सपनेमें गणितके चार सवाल देखे। उसने दोको दूसरेको बताया। परीक्षामें चारोंके चार आये। वह सपना सत्य या मिथ्या? कभी सत्य होता है, कभी मिथ्या होता है। क्यों मिथ्या और क्यों सत्य? मिथ्या इसलिये कि सपना हम अंदर देखते हैं और अंदर हाथी, घोड़े, पर्वत, सूर्यादि नहीं आ सकते। अतः वस्तु वहां नहीं है।

'स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः ।'

ऐसा माण्डूक्यमन्त्रमें बताया है। और माण्डूक्य कारिकामें कहा है—

'दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः ।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥'

सत्य इसलिये होता है कि कभी-कभी सपनेमें सूचना मिलती है।

'सूचकश्च हि श्रुतेरा चक्षते च तद्विदः ।'

कृष्णदन्तादि मनुष्य दीखे सपनेमें तो सूचना है—मरण निकट है। हाथी सपनेमें दीखे तो धनप्राप्तिकी सूचना है। सर्वाङ्गपूर्ण स्त्री दीखे तो कर्मकी पूर्णताकी वह सूचक है।

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धिं तत्र विजानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥"

ऐसा छान्दोग्य मन्त्र भी है। अब परमात्मा का सपना हम देखते हैं तो वह सत्य है या मिथ्या यह सोचें। हाथी, घोड़ा अंदर नहीं है अतः उनका दर्शन मिथ्या है और बहुत सारी बातें झूठी ही देख लेते हैं। किन्तु परमात्मा अंदर है या नहीं? यह प्रश्न है। उत्तर परमात्मा अंदर है। तब उसका दर्शन मिथ्या क्यों होगा? "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः" यह कहेंगे कि परमात्मा अंदर है किन्तु रामकृष्ण, नारायण, शंकर आदि आकार वहां नहीं है। क्यों नहीं है? तदाकारचित्तवृत्ति न हो तो तद्दर्शन हो ही नहीं सकता। चित्तका आकार है। किन्तु वस्तुका आकार नहीं है ऐसा भी नहीं है। जैसे भक्तकी भावना है वैसे भगवान् आकार धारण करते हैं।

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।"

भावानुरूप भगवान् रूप धारण करते हैं। अतः भगवत्स्वप्न इतर स्वप्नसे विलक्षण है। भावानुरूप रूप धारण होनेही से नारदजीने बताया—

"ध्यायतश्चरणाम्भोजं ध्याननिर्जितचेतसा ।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥"

ध्यानसे वशीकृत चित्तसे भगवच्चरणोंका मैं ध्यान कर रहा था, दर्शनोत्कण्ठासे आंखोंमें आंसू छलक रहे थे। उसी समय मेरे हृदयमें धीरे-धीरे आ विराजमान हो गये। हरि ही आये न कि हरिका आकार आने लगा। चित्तमें ही दर्शन प्रथम होता है।

"प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः शुचिश्रवाः ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥"

यह भी नारदोक्ति है। इस कल्पमें नारदजी देवर्षि हो चुके हैं, सिद्ध हो चुके हैं। सब कुछ हैं। ध्यान करते ही बुलाये जैसे भगवान् उपस्थित भी होते हैं। किन्तु कहां? चेत्तसि। चित्तमें। अंदर। अन्तदर्शन ही होता है।

"तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् ।"

वसिष्ठजीने दशरथजीका स्वप्नवृत्तान्त सुनकर उसे मिथ्या नहीं बताया। क्या कहा? हे राजन्! आपकी पुत्रेच्छा आशातीत रूपसे सफल होगी।

"पुत्रस्ते भविता राजन्नारायणसमो भुवि ।"

नारायणके समान कौन? यदि दूसरा कोई हो तो मिथ्यादर्शन माना जायेगा। या सूचक मात्र होगा। फिर यथार्थतः नारायण ही पुत्ररूपमें आनेवाले थे तब वसिष्ठवाक्य मिथ्या नहीं होता? तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्व ही तो समत्व है। यहां अनन्वयालङ्कारसे वसिष्ठजी कह रहे हैं।

"गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः"

क्योंकि नारायणसमं कोई दूसरा है ही नहीं। "न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः"। इसको परोक्षकथन कहते हैं। "परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।"

वसु का वाच्यार्थ है वासुदेव विष्णु। विष्णु पालक है। रक्षक है। वासुदेव विष्णु के वासन से जगत् वासित है। रक्षक न होगा तो सभी मृतक हो जाएंगे और दुर्गन्धित होंगे। भगवान् विष्णुके जो भक्त हैं वे तत्पदार्थ वासुदेव विष्णु को समझें। वह हिरण्यगर्भि भी है। क्योंकि वासयतीति वसुः इस विग्रह में वायु अर्थ बताया। वायु को ही प्राण कहते हैं। वही वायु वही प्राण सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ भी कहलाता है। हिरण्यगर्भोपासक हो तो हिरण्यगर्भरूपमें उपासना करें। आ प्रणखात् सुवर्णः। सुवर्ण वर्णरूप में हिरण्यगर्भका वर्णन आया है। वैदिक विद्वान् हिरण्यगर्भ की उपासना विशेषरूप से करते थे। उस हिरण्यगर्भ का भी दर्शन अन्दर होता है। अतः अन्तरिक्षसत् कहलाया। विष्णु वासुदेव अर्थ में भी वह अन्तरिक्षसत् है। आकाश को विष्णुपद भी कहते हैं।

"नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्म खम् ।
वियद् विष्णुपदं वा तु पुंस्याकाशविहायसी ॥"

भगवान् विष्णु का स्थान अन्तरिक्ष है। आकाश का अधिष्ठाता विष्णु माना गया है और विष्णु का दर्शन अन्तर्हृदय में भी होता है। इसलिये भी अन्तरीक्षण विषय है। ध्रुव के प्रसङ्ग में बताया कि ध्रुव ध्यानमग्न होकर तप कर रहे थे तो भगवान् विष्णु भृत्यदिदृक्षासे—भक्त को देखने की इच्छा से मधुवन में पहुँचे परन्तु निमीलिताक्ष ध्रुव बाहर देख ही नहीं रहे थे।

"स वै धिया योगविपाकतीव्रया हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम् ।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श ॥"

हृदयकमलकोशमें ही भगवान् स्फुरित हो रहे थे। कैसे स्फुरित हुए– योगविपाक तीव्रया धिया स्फुरितम्-योगाभ्यासके परिपाक से तीव्र बनी बुद्धि से स्फुरित हुए। भगवान् ने तब अन्तर्जवनिका डाला तो तिरोहित हुए। तब हड़बड़ाकर आँख खोलकर देखा तो वहीं रूप गगन में दीखा। यहाँ "तडित्प्रभ" इस विशेषण से हिरण्मयता भी सूचित होती है।

होता वेदिषत् । 'पुरमेकादशद्वारम्' इस त्वंपदार्थनिरूपणके बाद 'हंसः शुचिसद्' तत्पदार्थ निरूपण प्रारम्भ हुआ। उसमें सूर्योपासक के लिये 'हंसः शुचिसद्' बताया। हंसका वाच्यार्थ सूर्य एवं लक्ष्यार्थ परमात्मा दोनों स्पष्ट गम्य हैं। क्योंकि हंस पद परमात्मार्थक भी है। यही तत्त्वमसि की अपेक्षा यहां विशेषता है। तत्त्वमसि में तत्पदार्थ ईश्वर से ही भागत्याग करना है। द्वितीयार्थ परमात्मा नहीं है। यहाँ द्वितीय अर्थ परमात्मा है। भले उसमें भी अन्ततोगत्वा लक्षणा ही हो। सूर्य शुचि आकाश में स्थित है और परमात्मा शुचि हृदयाकाश में स्थित है। वसुका वायु वाच्यार्थ है। वसुका ही अर्थान्तर वासुदेव है। वायु से हिरण्यगर्भ या विष्णु विवक्षित है। हिरण्यगर्भोपासक और विष्णूपासकों के लिये यह वाच्यार्थ है। लक्ष्यार्थ वासुदेव वासनाद्वासुदेवस्य के अनुसार परमात्मा है। अब इसके-सूर्य और वायु के-बाद अब अग्नि उपासकों के लिये तत्पदार्थ रूप में अग्नि का वर्णन है। यह रुद्रोपासकों के लिये है यह बात आगे स्पष्ट होगी।

होता वैसे हवनकर्ताको कहते हैं। किन्तु यहाँ अग्नि ही विवक्षित है। ऋग्वेद में

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम्

इस प्रकार अग्नि को होता बताया है। अग्रणीत्वादग्निः इस प्रकार अग्नि का निर्वचन किया है। वह अग्रणी माने श्रेष्ठ और आगे ले जानेवाला। पण्डिताग्रणी का अर्थ है पण्डितों में श्रेष्ठ । सब काम में यह अग्रणी है इस वाक्य में अग्रणी का आगे चलनेवाला अर्थ है। और व्याकरणानुसार

आगे ले जानेवाला अर्थ है। पहले के समय में यज्ञादि विशेषरूप से होते थे। हर घर में यज्ञ होता था।

"तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ध्यानमेव च ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुः कलौ केशवकीर्तनात् ॥

इस प्रकार द्वापर में यज्ञ की विशेषता बतायी है। श्रीमद्भागवत में थोड़ा फरक किया है।

"कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥"

त्रेता में यज्ञ की विशेषता यहाँ बतायी है। दोनों को जोड़ने पर त्रेता और द्वापर दोनों में यज्ञ की प्रधानता रही यह अर्थ निकलता है। आज भी अग्नि का महत्त्व तो है ही। भगवत्सेवा में सँबसे मुख्य क्या है ? मन्दिर के लिये पूजास्थान के लिये सर्वप्रथम है दिया जलाना। दीपक नहीं जलाया तो वहाँ भूत-प्रेत का आवास हो जाता है ऐसी मान्यता है। दीपक भी तो अग्नि ही है। दीपक बिजली का नहीं होता। '"ज्वालामालिन्यै नमः" कहकर पूजाकर तब आरती की जाती है। पूजा में सर्वप्रथम दीपक ही है। इसलिये अग्रणी आज भी अग्नि ही है। दक्षिण के मन्दिरों में आज तक भी बिजली नहीं जलायी जाती। अग्नि की श्रेष्ठता भी प्रसिद्ध है।

"अग्निगुरुर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥"

यहाँ अग्नि को गुरु अर्थात् गौरवयुक्त पूज्य बताया है। इसी श्लोक में "पतिरेव गुरुः स्त्रीणां" बताया। पारले में एक भक्त था। सन्तों को वह मानता था किन्तु अपनी पत्नी को कहता था कि तुम्हारा गुरु मैं हूँ। "पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्" बताया है। मुझसे उपदेश लो। कोई संत से नहीं। लेकिन उसकी पत्नी कहती थी मैं आपसे मन्त्र नहीं लूँगी। मन्त्र लूँगी तो किसी संत से नहीं तो किसी से नहीं लूँगी। यह विवाद एक बार मेरे सामने रखा। मैंने कहा "पतिरेव गुरुः स्त्रीणां" इस वाक्य का मूल श्लोक "अग्निगुरुर्द्विजातीनां.........' है। यहाँ गुरु का अर्थ है गौरवयुक्त। क्या ब्राह्मणों को स्वयं अग्नि मन्त्रोपदेश करेगा ? क्या अभ्यागत सबका गुरु है तो सबको मन्त्रोपदेश करेगा? यहाँ गुरुका पूज्य अर्थ है। दूसरी बात यह है

कि उपदेश देनेवाला गुरु पिता होता है। प्रश्नोपनिषद् में उपदेष्टा पिप्पलायन को छहों शिष्यों ने कहा—"त्वं हि नः पिता"। वंशो द्विधा। विद्यया जन्मना च। वंश दो प्रकार से होता है—विद्यासे और जन्म से इस प्रकार शास्त्रों में कहा है। एक जाति वंश है। दूसरा विद्यावंश है। गुरु पिता इसलिये है कि वह दैक्षशरीर विधाता है। नाममन्त्रोपदेश से दैक्षशरीर जन्म माना गया है। अतः पति ही गुरु है इसको उल्टा बोलना होगा कि पति गुरु ही नहीं होता। विराट्नगर में अर्जुन ने बृहन्नला होकर उत्तराको संगीतविद्या सिखायी। बाद में जब मालूम पड़ा कि यह बृहन्नला नहीं, अर्जुन है तो विराटराजाने उत्तराका विवाह अर्जुन के साथ करना चाहा। किन्तु अर्जुन ने निषेध किया यह मेरी शिष्या, पुत्रिका हो गयी है। पुत्रीसमान है इसलिये अन्तमें अभिमन्युके साथ उसका विवाह हुआ। पंजाब में एक उलटा रिवाज है। पति-पत्नी दोनों एक ही गुरु से मन्त्र नहीं लेते। उनका कहना है कि फिर वे आपस में भाई-बहन हो जायेंगे। किन्तु यह भी गलत है। गुरुशिष्य सम्बन्ध वहीं तक सीमित है। नहीं तो फिर शादी होना ही मुश्किल होगा। इसीलिये अभिमन्यु के साथ उत्तरा का विवाह हुआ। अन्यथा अभिमन्यु पुत्र, उत्तरा पुत्री तो भाई-बहन क्यों नहीं हुए ? अतः गुरु-शिष्य सम्बन्ध का अन्यत्र विस्तार नहीं माना जाता। अस्तु। यह तो प्रसंगागत बात है। प्रकृत में इतना ही कहना है कि अग्नि अग्रणी है, पूज्य है, श्रेष्ठ है। "अग्निर्गुरुर्द्विजातीनां" बताया है।

अग्नि के लिये आगे विशेषण दिया—"पुरोहितं यज्ञस्य"। यह यज्ञ का पुरोहित है। पुरोहित तो पण्डित ब्राह्मण होते हैं। अग्नि किस प्रकार पुरोहित? पुरः अग्रे हितं निहितं स्थितम् । सबसे आगे रहता है इसलिये। सर्वप्रथम अरणिमन्थन कर अग्नि प्रकट की जाती है। वह देव है—प्रकाशरूप है। ऋत्विजं-ऋत्विक् आहुति देनेवाले को कहते हैं। पुरोहित मुख्य है। दूसरों को वह बुलाता है। वे सब ऋत्विक् हैं। यहाँ तो अग्निको ही ऋत्विक् बताया। ऋतुषु इज्यमानत्वाद् ऋत्विक्। "होतारं"—यहां अग्निको होता बताया है। जिस होता को 'होता वेदिषत्' में कहा। 'हु दानादानयोः' ऐसा धातुपाठ है। दान करनेवाला और भक्षण करने वाला होता है। होता पण्डित सोमादि हवन भी करता है। सोमभक्षण भी करता है। अग्नि भी

फलप्रदान करता है और हुतभुक्-आहुतिका भक्षण करनेवाला भी है। रत्न धातमं—रत्न धनको भी कहते हैं। रति-आनन्द को भी कहते हैं। दोनों का आधान करने में वह अग्रगण्य है अतः रत्नधातमम् बताया।

वेदिषत्—वेदि में वह स्थित होता है। अग्नि के लिये या होता के लिये वेदि बनायी जाती है। "वेदं कृत्वा वेदिं करोति" परिष्कृत भूमि वेदि है। होता स्वयं अपने आपको अग्निदेवस्वरूप समझकर हवन करे तभी हवन सफल होता है। "देवो भूत्वा देवं यजेत्" ऐसा शास्त्रों में बताया है। अतएव होता के लिये अग्नि विशेषण या अग्नि के लिये होता विशेषण उपपन्न है। और दोनों की एकता होने ही से वेदिषत् यह विशेषण भी सार्थक है। अग्नि उपासक के लिये यह तत्पदार्थ निरूपण है।

अब कुछ आगे बढ़े। हंसका पक्षी से आगे बढ़कर सूर्य अर्थ किया। वसु का वायु अर्थ से आगे बढ़कर वासुदेव-विष्णु अर्थ किया। वैसे यहां होता का अग्नि अर्थ से आगे बढ़ना है। रुद्र यहाँ पर अग्निपदार्थ या होता पदका अर्थ होगा।

"रुद्रो वा एष यदग्निः"

इस प्रकार शतपथमें बताया है। रुद्र भगवान् भी अग्रणी है। महाभारतमें कथा आती है कि कौरवोंके साथ दुर्योधन भीष्मपितामहके पास गये। बोले कि पितामह आप मन लगाकर युद्ध नहीं करते। हमारे बहुत सारे वीर मारे गये किन्तु पाण्डवोंमें कोई अभी तक मारा नहीं गया। आपमें वह ताकत है कि यदि आप चाहें तो एक घंटेमें सारे विश्वको समाप्त कर सकते हैं। पितामहने कहा कि सुनो, बात सही है। यदि साधारण मनुष्य सामने हो तो एक घड़ी में समाप्त किया जा सकता है। किन्तु अर्जुन साधारण नहीं है। वह कपिध्वज तो है ही। ध्वजापर केवल कपिका ही चिह्न ही नहीं साक्षात् हनुमानजी बैठे हैं जो रुद्र भगवानके अवतार हैं। दूसरी बात अर्जुनने तपश्चर्यासे शंकरको प्रसन्न किया था। भगवान् शंकरका वरदान है कि युद्धमें मैं तुम्हारे आगे रहूंगा। मैं बाण चलाने लगता हूं तो आगे-आगे गणोंके साथ शंकर मुझे दिखाई देते हैं। मैं बाण मारता हूं तो रुद्र उसका उपसंहार कर डालते हैं। पाण्डव कैसे मारे जा सकते हैं?

कई बातोंमें रुद्र भगवान् अग्रणी हैं। शतपथ ब्राह्मणमें मन्त्र आया है—

"सोऽरोदीद् यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् ।"

नीललोहित रुद्र भगवान् प्रथम अवतीर्ण हुए तो रुदन किया। उससे पहले केवल मानसी सृष्टि थी। रुद्रने प्रथम रोदन किया। वे अग्रणी हैं। और आज भी बालक पैदा होते ही रोता है। क्यों रोता है? न रोनेसे क्या माना जाय? बालक न रोये तो अपशकुन है। भारी अनिष्टका वह सूचक होता है। संसारमें रोनेके लिये ही तो आये हैं। उस रोनेमें ही मंगल है। इस संसारसे छुटकारा पाने रोओ। भगवत्प्राप्तिके लिये रोओ। भगवानके निमित्त आंसू नहीं बहाया तो वह जीवन वृथा है। रुद्रके अश्रुबिन्दुओंसे ही रजत बना। रजत चांदी। रोनेमें ही चांदी है। अन्य धातु भी रुद्रसे ही पैदा हुए थे यह भागवतादिकथामें बताया है। वैसे हम भी रो लें तो चांदी नहीं बनेगी। हाँ, रोनेसे हृदय धुल जाता है। और चांदीके सदृश हृदय बन जायेगा। चांदी स्वच्छ शुभ्र होता है। यहां निर्मल सत्त्व होनेसे रजतवत् हृदय होगा।

भगवान् शंकर समस्त विद्याओंमें भी अग्रणी हैं। "ज्ञानमिच्छेत्तु शंकरात्" ऐसा वचन आता है। यह बात प्रसिद्ध है कि—

"काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रमुखं स्मृतम् "

महर्षि पाणिनिके बारेमें यह प्रसिद्धि है कि प्रथम वे अति स्थूल बुद्धिके थे। सहपाठी बात बातमें उनको रोकते थे। अन्तमें वे तपस्या करने हिमालय गये जहां सनकादि ऋषि भी तप कर रहे थे। भगवान् शंकर प्रसन्न होकर प्रकट हो गये और अपना डमरू लेकर उसका वादन किया।

"नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥"

महर्षि पाणिनीके लिये डमरू से अ इ उ ण् ऋ लृ क् इत्यादि चौदह सूत्र प्रकट हुए जिससे व्याकरणशास्त्र बना। जो संसारमें अद्वितीय है। करोड़ों शब्दोंको थोड़ेसे सूत्रोंमें गूंथ दिये। सनकादियोंने उसीसे अपनी संहितायें लिखीं। महर्षि कणादने भगवान् शंकरसे ही प्रसाद पाकर वैशेषिक शास्त्र लिखा था। प्रशस्तपाद भाष्यमें—

'योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम् ।
चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः ॥'

ऐसा श्लोक अन्तमें आया है। महेश्वर शंकरको ध्यान योगादिके आचरणसे कणादऋषिने प्रसन्न किया। विभूतिका वैभव अर्थ है। योगाचार-वैभवसे शंकरको प्रसन्न किया। उससे ऋषिको आर्ष ज्ञान हुआ और वैशेषिकशास्त्र लिखा।

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
चक्रे व्याकरणं शास्त्रं तस्मै पाणिनये नमः ॥'

इस प्रकार व्याकरणमें नन्दिकेश्वरजीने कहा है। अक्षर समाम्नाय पाकर पाणिनिने व्याकरणशास्त्र बनाया। इस प्रकार सर्वशास्त्रमुखरूप काणाद अर्थात् वैशेषिकशास्त्र तथा पाणिनीयव्याकरणशास्त्रके मूलस्रोत होनेसे शंकर भगवान् सर्वशास्त्रग्रहणी हुए। शंकरने ही पार्वती को चतुःषष्टि (चौंसठ) तन्त्रोंका उपदेश किया था, अमरकथा सुनायी थी। उमामहेश्वर-संवादरूपमें रामायण प्रसिद्ध है। भगवान् शंकर ताण्डवनृत्य करते थे। इसलिये नृत्यकलाके अग्रणी आदि गुरु भगवान् शंकर ही थे। एक बार हम सायनमें स्वामीनारायणसंप्रदायके आश्रममें गये। वहां वल्लभदासजी (?) बहुत बड़े गवैये हुए। उन्होंने हॉलमें पञ्चमुखी शंकरका भव्य चित्र रखा था। हमने कहा आप स्वामीनारायण होकर शंकरकी पूजा कैसे कर रहे हैं? वे बोले संगीतमें पांच राग भैरव, मोहनादि प्रसिद्ध हैं। उन पांच रागोंको शंकर भगवानने अपने पांच मुखों से गाया था। एक छठा भी मुख्य है। वह पार्वतीके मुखसे प्रगट हुआ था। इस दृष्टिसे संगीतकारके नाते हम शंकरकी वन्दना करते हैं। तब हमें मालूम पड़ा कि शंकर भगवान् संगीतविद्याके भी अग्रणी आदि गुरु थे। इन्हीं रागों के पीछे अनेक रागिणियां भी प्रकट हुई थीं। इस विषयमें एक कथा भी प्रसिद्ध है कि नारदजी जा रहे थे तो रास्तेमें अंगभंग हुए कई पुरुष एवं बालिकायें दीख पड़ी थीं। जो यथार्थतः रागरागिणियां थीं। शंकर भगवानके गीत-गायनसे वे सभी स्वस्थ हो गयीं इत्यादि। अतः समस्त विद्याओंमें अग्रणी होनेसे शंकरको अग्नि कहा। और भी आगे बढ़कर कुमारिल भट्टने कहा—

"विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे ।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥"

भगवान् शंकर स्वयं ज्ञानशरीर हैं। तीन वेद ही उनके तीन नेत्र हैं इत्यादि।

वैदिक विद्वान् विष्णुके स्थानमें हिरण्यगर्भका पूजन-ध्यान करते थे और रुद्रभगवानके स्थानमें विराटपुरुषका। अतएव शंकर अष्टमूर्ति भी हैं।

अब आत्मपक्षमें होतारूपी अग्निका विचार करें। वह पुरोहित है, अग्रणी है। जगत् के आगे-आगे वह परमात्मा ही रहता है। छान्दोग्यका मन्त्र प्रसिद्ध हैं—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'

अग्र सदेवासीत्। अतः अग्रणीः। अतएव पुरोहित है। सृष्टितः पुरा हितं निहितम्। सृष्टिके पहले वही स्थित है। अथवा ऐसा अर्थ करो-अग्रे सत् नयति जगत् इति अग्रणीः। पुरः पुरस्तात् हितं हितकरं च आनन्दरूपत्वात्। आनन्द ही तो हित है। संमुखमें आनन्दरूपसे स्थित है। देवं प्रकाशं चिद्रूपम्। इस प्रकार अग्नि सच्चिदानन्द रूप हुआ। वह परमात्मा यज्ञस्य ऋत्विजम्। होतारम्। सब यज्ञोंका ऋत्विक् एवं होता है। 'सर्वं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' के अनुसार यज्ञरुपी कर्ममें जगत् प्रतिष्ठित है। उस यज्ञके होता ऋत्विक् होनेसे सर्वक्रियाप्रयोजक सर्वशक्तिमान् है। यज्ञफल रत्नधाता है।

अग्नि अग्रणी होनेमें अन्य हेतु श्रुति में बताया है—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्'

सर्वप्रथम परमात्मा भासित होता है तब जगत् प्रकाशित होगा। अतः अग्रणी है। अन्धकारमें वस्तु पड़ी है। प्रकाश लानेपर वस्तु दीखने लगती है। वस्तु प्रथम प्रकाशित हो तब दीपक आता है कि दीपक आवे तब वस्तु प्रकाशित होती है। प्रथम दीपक प्रकाशित होता है। वैसे प्रथम चित्तमें आत्मप्रकाश आता है। तब वस्तुप्रकाश होता है। लोग समझते हैं वस्तु सामने दीखी तो वस्तुका ज्ञान होता है। वह ठीक उसी प्रकार है जैसे घट प्रकाशित हुआ। तब प्रकाश आया। वस्तुतः प्रकाश प्रथम उपस्थित रहता है। उसमें जो भी वस्तु आवे वह प्रकाशित होती है। ज्ञानप्रकाश शाश्वत

नित्य है। उसके सामने जो भी आ जाये वह प्रकाशित होता है। नैयायिक मानते हैं—विषय हो तो विषयका ज्ञान उत्पन्न होगा अतः ज्ञानका कारण विषय है। यह क्षणिक ज्ञानवादी बौद्धों की भूलके समान ही उत्पत्ति-वादियोंकी भूल है।

(महावाक्यार्थमें) सूर्य स्थूल है, मण्डलवर्ती है और अध्यात्ममें चक्षुवर्ती है। दोनोंकी एकता है। वायु हिरण्यगर्भ सूक्ष्मसमष्ट्युपाधिक है। त्वं पदार्थमें तैजस है, कण्ठवर्ती है या मनोवर्ती है। दोनों की एकता है। होता अग्नि विराट् स्थूल है। सर्वस्थूलोपाधिक है। त्वंपदार्थमें वैश्वानर उदरवर्ती है।

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥"

इन दोनोंकी एकता है। वह तत्पदार्थ-वेदिषत् है। वेदनमेव वेदिः। अखण्डाकार वृत्ति वेदि है। यज्ञशालाके रूपमें यह मानवशरीर है। क्योंकि यज्ञार्थ ही यह शरीर है। "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा"। उस यज्ञशालामें अनेक कुण्ड बने हैं। "श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति"। श्रोत्रादि इन्द्रियों का संयम रूपी अग्नि में और शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में हवन करते हैं। इसी मन्त्र का भावार्थ ब्रह्मार्पण 'ब्रह्महवि ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं' इत्यादिरूपसे भी संग्रहीत हुआ है। भगवान् कहते हैं—

"नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम"।

अयज्ञके लिये यह लोक ही नहीं तो परलोक क्या होगा? उसमें श्रोत्रादि कुण्ड हैं। शब्दादि विषय आहुति है। होता अग्निको बैठनेके लिये हृदयरूपी सिंहासन है। उसपर वेदि बनायी। वह है अखण्डाकार वृत्ति। तत्त्वमसि आदि महावाक्यमें भागत्यागसे अखण्डाकार वृत्ति होती है। वह वेदन ही वेदि है। उस वेदिमें अग्निरूपी या होतारूपी परमात्मा विराजमान होता है। इसलिये उसे वेदिषत् बताया।

अधिदेवमें होताके रूपमें अग्निके रूपमें रुद्रवर्णनका और महत्त्व है। भगवान् रुद्र अग्निरूप होकर, स्वरूपवेदिस्थ होकर स्वरूपकल्पित समस्त-द्वैतप्रपञ्चको भस्म करते हैं। कालाग्निरुद्र भी शंकरका नाम है। काल-

महाकालरूपी अग्नि वही रुद्र है। अग्नि जल जाती है तो उसके चारों ओर भस्म हो जाता है और अग्नि भस्मसे ढक जाती है। वैसे समस्त जगत्‌को जलाकर रुद्राग्नि जगद्भस्मको अपने शरीरपर धारण करते हैं। यही शंकर भगवानका भस्मधारण है। प्रलयकालमें कालाग्निरुद्रसे जगत् भस्म हो जाता है। आध्यात्मिक प्रलयमें बाधात्मक दाह होता है। निषेधावधि ही भस्म है। गीतामें बताया—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।

जलनेके बाद जो बचे वही तो भस्म है। अवशिष्ट जो रहे वही भस्म है।

"न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायु न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः ।
अनैकान्तिकत्वात्सुषुप्त्येकसिद्धस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥"

अवशिष्ट रहनेवाला शिव है। सुवर्ण जल जानेपर सुवर्णभस्म रह जाता है। वही सार है।

"नागेन्द्रहाराय त्रिलोचनाय भस्माङ्गरागाय महेश्वराय ।
नित्याय शुद्धाय दिगम्बराय तस्मै नकाराय नमः शिवाय ॥"

यहां भस्माङ्गरागकी बात बतायी है।

अध्यात्ममें उदरस्थित जठराग्निरूप है। वैश्वानर है। उदरवेदिस्थित है। अधिदैवमें जगतीवेदीस्थित है। विष्णु और शंकरकी उपासना विशेषरूपसे करते हैं। अतः हृदयस्थान और उदरस्थान बताया। श्रीमद्भागवतमें भी बताया।

"उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः ।
परिसरपद्धतिं हृदय आरुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥"

ऋषियोंका संप्रदाय मार्ग उपासना मार्ग है। उसमें जो कुशाग्रबुद्धि हैं, पैनी दृष्टिवाले होते हैं, वे उदरोपासना करते हैं और आरुणि दहरोपासना करते हैं। ऋषि मन्त्रदृष्टाको कहते हैं। यहां केवल उपासनात्मक द्रष्टा समझना चाहिये। उदरमें वैश्वानररूपसे स्थित रुद्रकी उपासना वे करते हैं। अशार्कराक्ष पद्धति यह है। और आरुणिऋषिसंप्रदायमें नाड़ीपद्धति है। नाड़ियोंके उद्गमस्थान हृदयमें स्थित दहराकाशमें वायुरूपसे स्थित

विष्णुकी उपासना करते हैं। उपासना कर वे वहीं नहीं रह जाते। किन्तु "तत् उदगात्" वहां से ऊपर उठते हैं। भागत्यागद्वारा शुद्धब्रह्मकी ओर बढ़ते हैं। वह धाम है मस्तक-सहस्रार कमल। तत्पदार्थ नानारूप भले हो, नानास्थान भले हो किन्तु सभी ऊपर उठकर परमस्थानमें पहुंचही जाते हैं। वहां पहुंचनेके बाद फिर वे यमराजके मुखमें नहीं पड़ते। जन्ममरण-संसारचक्रमें नहीं पड़ते। नाभिकमल दशदल होता है। हृदयकमल द्वादशदल होता है। उसके मध्यमें एक अष्टदलकमल माना गया है। वह रुद्रका स्थान है। उसके बारेमें आचार्योंका कहना है—

"अष्टदलोपरि वेष्टितलिङ्गं सर्वसमुद्भवकारणलिङ्गम् ।

अष्टदरिद्रविनाशनलिङ्गं तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम् ॥"

यद्यपि नाभिमें अग्नि माना गया है। तथापि उसकी ज्वाला हृदयपर्यन्त जाती है। अतएव अष्टदलकी रुद्रस्थानता उचित है।

इस होतारूपी अग्निका भी सूर्यसम्बन्ध है। क्योंकि सूर्यमंडलमें ध्येय हिरण्यगर्भ ही स्थूल होने पर विराट् के रूप में स्थित होता है। "विराज" जनयन्ति हि" इसप्रकार मनुमहाराज ने भी बताया है। मन्त्रों में कहा गया है—

"उदुत्यं जातवेदसं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ।

केतवः अर्थात् किरणे उ-निश्चय ही त्यं जातवेदसं उस रुद्ररूपी अग्निको सूर्यम् उद्वहन्ति सूर्यमण्डल में पहुंचाते हैं। अथवा सूर्यमण्डल स्वयमपि जातवेदा अर्थात् अग्नि स्वरूप है। उसका उद्वहन केतु करते हैं किस लिये—दृशे विश्वाय। समस्तविश्वको दृष्टि देनेके लिये या विश्वको देखनेके लिये। वहन्ति यह द्विकर्मा धातु है। जातवदेसं सूर्यं वहन्ति सूर्यं जातवेदसं वहन्ति। सायं सन्ध्या में केतु सूर्य को अग्नि में समाते हैं और प्रातः सन्ध्यामें अग्नि को सूर्य में, इस प्रकार दोनों का अन्योन्य मिथुनीभाव है। जैसे शिवस्य हृदयं विष्णुविष्णोश्च हृदयं शिवः । जाग्रत में हिरण्यगर्भ विश्वात्मा विराडात्मा होता है। स्वप्नादि में विराट् सूत्रात्मा होता है।

अतिथिर्दुरोणसत्। इष्ट देवतानुरूप तत्पदार्थ वर्णन हो रहा है। और उसीमेंसे निष्कृष्टार्थरूपमें लक्ष्यका इशारा भी किया जा रहा है। हंस सूर्य है। वह अक्षिमें और मण्डलमें है। वसु, वायु, हिरण्यगर्भ या विष्णु है। वह

गगनमें है। और मनमें है। या हृदयकाशमें है। होतां विराट्रूप रुद्ररूप अग्नि है। वह जगती वेदिपर है और वैश्वानररूपसे उदरमें है। "उदर-मुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः परिसरपद्धति हृदय आरुणयो दहरम्" इसप्रकार इन दोनोंका वर्णन हम पहले कर आये। अब उससे नीचे मणिपुरमें परमात्माका अधिदेवादिरूपसे वर्णन "अतिथिर्दुरोणसत्" से किया। दुरोण यह द्रोणका रूपान्तर है। द्रोणकलश यज्ञमें प्रसिद्ध है।

"द्रोणकलशश्च मे ग्रावांणश्च मे"

इत्यादि मन्त्रपाठ है। उस कलशमें रहनेवाला सोमरस है। सोमलताको कूटनेका ही ग्रावाण होता है। अतः यहां अतिथिपदसे सोम विवक्षित है। सोम-एक चन्द्रमारूपी सोम है। दूसरा सोमलतारूपी सोम है। तीसरा सोमरसरूपी सोम है। इनमें प्रथम दो की व्यावृत्ति अतिथिपदके योगार्थसे होती है। अतिथिका अर्थ है—न विद्यते तिथिर्यस्य सोऽतिथिः । जिसकी तिथि न हो। चन्द्रमासे तिथि सम्बन्धित है। प्रतिपदा तिथिमें चन्द्रमाकी एक कला रहती है। द्वितीयाको दो कला, तृतीयाको तीन कला, इस क्रमसे पूर्णिमाको पंद्रह कलायें पूर्ण होती हैं। फिर कृष्णपक्षमें प्रतिपदाको एक कला, द्वितीयाको दो कला ऐसा नही। किन्तु पन्द्रहमें एक-एक कम होती जाएगी। प्रतिपदाको चौदह कला, द्वितीयाको तेरह कला इत्यादि। इसप्रकार चन्द्रमा सतिथि है, अतिथि नहीं। सोमलता भी सतिथि है। आजकल सोमयागमें प्रयुक्त होनेवाली सोमलता उपलब्ध नहीं है। कुछ लोग गिलोय (गलो) को सोम कहते हैं। कई औषधियोंको सोम बताते हैं। हो सकता है अनेक औषधियोंका सोम नाम हो। एक ही नाम अनेक जातिकी वस्तुओंका होता है। जैसे देसाई ब्राह्मण भी होता है, पटेल भी होता है। पारिजात देवलोकके पारिजातको भी कहते हैं। भूलोकमें एक वृक्ष पारिजात है उसको भी कहते हैं। सोमयागीय सोमलता तो अलग ही है। उसका लक्षण बताया है कि शुक्ला प्रतिपदाको उसकी नयी डालियां पैदा होती हैं। और एक-एक दिन प्रतिपदा-द्वितीयाके क्रमसे एक-एक पत्ती बनती बढ़ती जाती है। पूर्णिमाको प्रत्येक डालीपर पंद्रह-पन्द्रह पत्तियां हो जाती हैं। फिर कृष्णपक्षमें एक-एक पत्ती गिरती जाती है। अमावास्याको सारी डालियां सूख ज़ाती हैं। फिर प्रतिपदासे पहलेका क्रम चालू होता है।

अतएव सोमलता भी अतिथि नहीं है। अतिथि कौन? सोमरस। वही दुरोणसत् है। सोमरस घटता-बढ़ता नहीं है। तिथिके अनुसार समुद्र जैसे बढ़ने लगे और घटने लगे ऐसी बात नहीं है। सोमलता स्थित सोमरस जिसप्रकार अतिथि है वैसे चन्द्रमामें भी एक अतिथि है। उसको षोडशी कला कहते हैं। चन्द्रमाकी सोलह कलायें मानी हैं। अतएव चंद्रवंशी श्रीकृष्णकी सोलह कला पूर्ण कहते हैं। सूर्यकी बारह राशियां हैं अतः सूर्यवंशी राममें बारह कलायें हैं। उस षोडशीकलामें बड़ी भारी शक्ति है। उसीसे औषधियोंमें पोषणशक्ति आयी है।

"गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥"

भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी ओजसे पृथिवीमें प्रविष्ट होकर समस्त भूतोंको धारण करता हूँ और रसात्मक सोम होकर (चन्द्रात्मक या वल्ल्यात्मक नहीं) समस्त औषधियोंका पोषण करता हूं। "ओषधयः फलपाकान्ताः" के अनुसार ओषधि दवाको नहीं, अनाजको कहते हैं। फल पकनेपर जो नष्ट हो वह फलपाकान्त है। इस साल चावल गेहूं बोया। फसल काटी। बाकी पौधा अगले सालके फसलके लिये रखा ऐसा नहीं होता। इन औषधियोंमें जो पोषणशक्ति है वह अफलपाकान्तमें नहीं है। आम कटहल आदि एक ही पेड़पर वर्षोंतक फल होते रहते हैं। वे फलपाकान्त नहीं हैं और इन सब फलोंको खा खाकर जीना भी सबके लिये संभव नहीं। इनमें वह पोषणशक्ति नहीं है। जो अन्नमें है। अन्नमें वह कहांसे आयी? सोमसे। बल्कि सूर्यमें भी वह सोम है अतएव वह पूषा है।

"विभ्राड् बृहत् पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम् ।
वातजूतो योऽभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा विराजति
उदुत्यं जातवेदसं वहन्ति केतवो दृशे विश्वाय सूर्यम् ।"

नानारूपसे-शुक्लनीलपीतादि समस्त संसाररूपसे भ्राजमान अर्थात् प्रकाशमान यह सूर्य सोमीय विशाल मधुको पिये और सोमदाता यजमान और महायज्ञस्वरूप परमात्माके (सोम्य मधुदाताके रूपमें) होते हुए अविह्रुत-अकुटिल दीर्घ आयु धारण करे। सोमाहुति यजमान भी देता है। परमात्मा भी देता है। सूर्यमें परमात्माके द्वारा प्रक्षिप्त सोमाहुति ही तो निरन्तर जल

रही है। जलनेपर जो भाप निकलती है वह पुनः सोम बनकर आहुति-रूपसे उसी सूर्यमें गिरती है। जैसे मोमबत्ती जलावे तो उसका कोई अंश खतम नहीं होता। दिल्ली के लाल किलामें सैकड़ों वर्षसे एक मोमबत्ती जल रही थी। मोम भाप होकर वापिस फिर मोमबत्तीमें जुड़ जाता था। अंग्रेजोंने पता लगानेकी कोशिश की। उसे उठाया तो हमेशाके लिये बुझ गयी। वैसे ही परमात्माने सूर्यमें सोमतत्त्वके लिये इंतजाम करके रखा है। सूर्यमें ही ऐसा आकर्षण लगा रखा है कि वह वापिस वहीं आ जाय। अग्निको जलनेके लिये वात चाहिये। हवा न हो तो आग बुझ जाती है। कोलसे बरतनसे ढ़ँक दो तो बुझ जाता है। इसलिये सूर्यमें वातको भी मानना होगा। उस वातसे प्रेरित होकर (वातजूत) अपने आपकी रक्षा अपने आप ही करता है। ओटोमेटिक चलता है। इस प्रकार सोमके जलनेका परिणाम है-प्रजाः पुपोष। साधारण अग्निमें, सूर्य अग्निमें फरक है। साधारण अग्निकी ज्वाला पड़नेपर पौधे सूख जाते हैं। सूर्यकी रोशनी पानेपर पौधे हरे-भरे होते हैं। इस प्रकार प्रजापोषण कर अनेकरूपसे वह सूर्य विराजमान है।

रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः ।
तेजो मध्ये स्थितं सत्त्वं सत्त्वमध्ये स्थितोऽच्युतः ॥
मैत्रायणोपनिषद् (६.३८)

हाँ, इतनी बात अवश्य है कि कुछ कसर हर जगह रहता है। ब्रह्माकी सृष्टिमें सर्वत्र यही बात है। सूर्यमें पुनराहुतियां जो होती हैं उनमें कुछ अंश खतम हो जाता है जिसके कारण अरबों वर्ष बाद सूर्य ठंढा पड़ जाता है। सृष्टि खतम होती है। ब्रह्मा की सृष्टिमें क्या-क्या कमी है? कौटिल्य-चाणक्य कहते हैं-

'गन्धं सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे नाकारि पुष्पं खलु चन्दनस्य ।
विद्वान् धनी भूपतिदीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत् ॥'

सोना अच्छा बनाया। किन्तु उसमें सुगन्ध नहीं बनाया। लोगोंकी कहावत मात्र रह गयी-अरे यह तो सोनेमें सुगन्ध है। दूसरा कसर देखो-इक्षु (गन्ना-शेरडी) का फल नहीं बनाया। जब उसके डंठल पौधे में इतनी मिठास है तो फल होता तो कितना मीठा होता। तीसरा कसर है,

चन्दनका फूल नहीं बनाया। पौधेमें सुगन्ध न होनेपर भी गुलाब आदिके फूलमें सुगन्धि है। पौधे में ही सुगन्ध होती तो क्या कहना था! चन्दनके पौधेमें सुगन्ध है। आशा तो बंधी। पर चन्दनके फूल ही बनाना भूल गये। विद्वानके पास धन होता तो विद्याका प्रकाश सर्वत्र होता। मुद्रणादि खूब करते और धनसे प्रचार करते तो अच्छी विद्या चारों और फैलती। किन्तु धाता ने विद्वानोंको निर्धन बनाया। मूर्खोंकी ऊट-पटांग बातें भी समाचारपत्रोंमें छप जायेगी यदि वह पैसेवाला हो। इसी प्रकार राजाके पास भोग्य वस्तु अपार है। पर आयु ही कम कर दी। जिनके पास बराबर खानेके लिये नहीं है वे रो-रोकर अस्सी नव्वे वर्ष जी रहे हैं। चाणक्यजी कहते हैं कि सृष्टिके समय ब्रह्माको सलाह देनेवाला कोई नहीं था। मेरेसे पूछते तो मैं कह देता सोनेमें सुगंध भी रखो ईखका फल बनाओ। इसीलिये सूर्यका भी अन्तमें क्षय होता है। मनुष्यमें तेज है। उससे बालकका जन्म हुआ वह पुष्ट होकर जवान होता है। किन्तु वही तेज अपने आपमें है उससे पुष्ट होकर स्वयं जवान नहीं होते। बूढ़ा होकर मर ही जाता है।

त्यं उस सूर्यके पास केतु-किरण जातवेदस्‌को-अग्निको उद्वहन्ति। जिससे समस्त विश्वको दृष्टि प्राप्त हो। और उस सूर्य को केतु अग्नि के पास भी पहुंचाते हैं।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा यहां भी इन सोमरस की चर्चा है। सोमलतामें यह सोमरस विद्यमान है। अतः उसका नाम सोमवल्ली पड़ा। वही सोमरस सभी ओषधियोंमें भगवानने डाल रखा है जिससे सबमें पोषक तत्त्व है। उसीसे सूर्य पूषा हुआ। चन्द्रमामें भी वही रस है। जिससे चन्द्रमाको भी सोम कहा। अतएव सूर्यकिरण ही चन्द्रमामें है। फिर भी चन्द्रकिरणमें अमृत माना गया है। विशेष ओषधिपोषण चन्द्रमासे होता है। इसलिये शरत् पूर्णिमा के बाद ही वैद्यलोग ओषधि इकट्ठी करते हैं। चन्द्रमामें सोमरस विशेषरूपसे है और सोमवल्लीमें भी है। इसलिये सोमयाग करनेसे संसारका विशेष पोषण होता है। कैसे? मनुस्मृतिमें कहा है—

"अग्नौ प्रास्ताहुतिस्सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिस्ततो ह्यन्नं ततः प्रजाः॥"

अग्निमें प्रक्षिप्त सोमाहुतिसे सोमतत्त्व निकलकर सूर्यमें पुहंच जाता है। जिससे एक तो सूर्यकी आयु बढ़ती है। दूसरा-उस सूर्यसे बादलोंमें सोमकणोंके आनेसे वृष्टि एवं सम्यक् अन्न होता है। तदनुरूप प्रजा भी होती है। इसिलये "यज्ञपतौ सति" इस सतिसप्तम्यन्त मन्त्रस्थ यज्ञपतिपदसे यजमान तथा "यज्ञो वै विष्णुः" श्रुतिके अनुसार विष्णु दोनों ही अर्थ निकलते हैं।

दुरोणसत् अतिथि सोम बताया गया। यह अधियज्ञ हुआ। अधिदेवमें वह कौन है? चन्द्र देवता। परंतु वह सतिथि है। बात सही है। षोडशी कलाका देवता सतिथि नहीं है। जैसे सोमवल्लीगत सोमरस अतिथि है वैसे सोम चन्द्रमागत षोडशीकला भी अतिथि है। जैसे हंसका अधिदेव अर्थ सूर्य है वैसे अतिथिका अधिदेव अर्थ सोम चन्द्रमा है।

वस्तुतः इतनी ही बात नहीं है। इसका अधिदेव अर्थ रहस्यपूर्ण है। एक चन्द्रकला विद्या है। उसको श्रीविद्या भी कहते हैं। सूर्य, विष्णु एवं शिवके साथमें श्रीदेवी भी उपादान परम आवश्यक है। परशुराम कल्प-सूत्रादि में श्रीविद्योपासना का विशद वर्णन है। राजराजेश्वरी ललिताम्बा महाभट्टरिका त्रिपुरसुन्दरी आदि अनेक नाम श्रीविद्या के ही हैं। श्रीचक्रमें श्रीविद्याकी पूजा होती है। श्रीचक्र के बारेमें विदेशी वैज्ञानिक भी आश्चर्यचकित होते हैं कि रेखागणितके ये महर्षि कितने रहस्यवेत्ता थे।

'बिन्दु-त्रिकोण-वसुकोण-दशारयुग्म
मन्वश्र-नागदलसंयुत-षोडशारम्।
वृत्तत्रयं च धरणी भुवनत्रयं च
श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः॥"

मध्यमें बिन्दु होता है जो परिमाणरहति होता है। उससे प्रथम त्रिकोण प्रकट होता है। त्रिगुण, त्रिशक्ति आदि त्रिकोण का अभिप्राय है। उससे फिर अष्टकोण उसके चारों ओर होता है। "भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहंकार इतीयं मे" ये आठ प्रकृतियां त्रिगुणजन्य हैं। उसके बाहर दश इन्द्रिय एवं दश प्राण-ज्ञानशक्ति प्रादुर्भावक एवं क्रियाशक्ति

प्रादुर्भावक दशारद्वय है। उसके बाद चतुर्दशभुवनात्मक चतुर्दशार-चौदह कोण हैं। यह सृष्टिक्रम है। वापिस आते समय संहारक्रम होता है। इसके बाद अष्टदल आदिका भी रहस्यार्थ है। समस्त भुवन उसमें आता है। अतः वह शक्ति भुवनेश्वरी भी है। समस्त प्रपञ्च श्रीचक्ररूप हैं। वही हमारे शरीरमें भी मूलाधारादि चक्ररूपमें स्थूलरूपमें स्थित है। और सहस्रार कमलके अंदर सूक्ष्मरूपसे स्थित है। इस श्रीचक्रके बिन्दुमें ललिताम्बाका निवास है।

"श्रीचक्राङ्कितबिन्दुमध्यनिलयां पीताम्बरालंकृतां"

इत्यादिरूपसे भगवान् आद्यशंकराचार्यने इसका वर्णन किया है। पञ्चदश-तिथिरूप नित्या कलायें श्रीदेवीके चारों ओर स्थित हैं। मध्यमें षोडशी कला है। वह तिथिरूपा नहीं है। उसी षोडशी कलासे सहस्रार होकर अमृतबिन्दु नीचके की ओर बहती रहती है। जिसका आस्वादन योगी लोग करते हैं। दूसरोंकी वह अग्निमें पड़कर भस्म होती है।

वैसे तो मूलाधारसे सहस्रार पर्यन्त कुण्डलिनीशक्ति के रूपमें वह विराजमान है। महाकवि कालिदास इसी श्रीविद्याके उपासक थे। उसीसे वे महाकवि हुए। कालिदासके इस विषयमें अनेक ग्रन्थ हैं। उसमें एक लघुस्तव भी है। वहां बाला त्रिपुरसुन्दरीका वर्णन करते हुए बताया है—

"या मात्रा त्रपुसीलतातनुलसत्तन्तुस्थितिस्पर्धिनी
वाग्बीजे प्रथमे स्थिता हृदि सदा तां मन्महे ते वयम् ।
शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननी व्यापारबद्धोद्यमा
ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं सुराः ॥"

कमलनालतन्तु आदिके समान सूक्ष्मरूपसे मूलाधारसे सहस्रारपर्यन्त रहने-वाली वह शक्ति है। प्रथम वाग्बीज ऐंकारमें वह स्थित है। इसे शक्ति कुण्डलिनी आदि कहते हैं। मूलाधारमें वह बाला कुमारी आदि रूपमें रहती है।

"कुमारीयं मन्द्रं ध्वनति च ततो योषिदपरा
कुलं त्यक्त्वा रौति स्फुटति च महानीलभुजगी"

इस प्रकार गौडपादाचार्यने मूलाधारमें कुमारीरूपमें वर्णन किया और भगवतीका प्रथम प्राकट्य मणिपूरमें बताया। मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान

अन्धकारमय़ लोक होनेसे वहां ध्यान नहीं होता। मणिपूरमें ध्यान प्रत्यक्ष बताया।

"तडिल्लेखामध्ये स्फुरति मणिपूरे भगवती
चतुर्धैक्यं तेषां भवति च चतुर्बाहुरुदिता ।
धनुर्बाणानिक्षुद्भवकुसुमजानङ्कुशवरं
तथा पाशं बिभ्रत्युदितरविबिम्बाकृतिरुचिः ॥"

बिजलियोंके बीचमें मणिपूर स्थानमें भगवतीका प्रत्यक्ष होता है। गन्नेका धनुष और पुष्पका बाण तथा पाश एवं अंकुशसे युक्त सूर्यबिम्बसदृश शोभायुक्त भगवतीका वहां उदय होता है। इस प्रकार प्रथम प्रत्यक्ष मणिपूरमें बताया। दुरोण द्रोण शब्दमें उकारागमसे छान्दस प्रयोग है। द्रवत्यस्मादिति द्रोणः। जिसमेंसे सोमादि द्रुत हो, प्रसुत हो उसको द्रोण कहते हैं। तन्त्रमें मणिपूरका यही अर्थ—

"वदन्त्येके वृद्धा मणिरिति जलं तेन निबिडं"

मुख्य ज्ञानवृद्ध मणिको जलवाचक कहते हैं। उससे निबिड मणिपूरको कहते हैं। मणिना जलेन पूर्यमाणं मणिपूरम्। दूसरे लोग जलपात्रको ही मणि कहते हैं।

"मणिस्त्वजागलस्तने मेढ्राग्रेऽलिञ्जरे रत्ने"

ऐसा कोशवचन है। अलिञ्जर=जलपात्र। मत्स्यपुराणमें

"स तमादाय मणिके प्राक्षिपज्जलचारिणम्"

ऐसा प्रयोग किया। तन्त्रशास्त्रमें मणिपूरमें जलत्त्वकी स्थिति मानी है। और वह सोमरसात्मक ही यहां समझना चाहिये।

यद्यपि श्रीविद्यादेवीका सर्वत्र निवास है और मुख्यरूपसे सहस्रार कमलमें वह स्थित है। तथापि प्राथमिक प्राकट्यानुसार मणिपूरको बताया। और यहां श्रुतिमें आंख, मन, हृदय आदि क्रमसे नाभितक पहुंचना ही ऐसा भी कोई नियम नहीं है। सहस्रारको बल्कि द्रोणकलश कहना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि वहींसे सोमामृत रस नीचके की ओर द्रुत होता है। अतः दुरोणसत्=सहस्रारस्थ सोमामृताश्रय द्रोणरूपी श्रीचक्रस्थ अतिथि चन्द्रकलात्मक श्रीविद्या इस प्रकार व्याख्या भी सुसंगत है। नाना संप्रदायानुसार व्याख्यायें उचित ही हैं।

अधिदेव पक्षमें यह अर्थ हो गया। अब अध्यात्मपक्षमें इसका अर्थ देखें। 'अत सातत्यागमने' इस धातु से भी अतिथि शब्द होता है। संतोंको नित्य अतिथि कहते हैं क्योंकि वे ऐसा संतत गमन करते हैं कि व्यापक जैसे हो जाते हैं। हमारे आश्रममें एक संत थे। एक कहेगा कि वे चर्चगेटपर हैं तो दूसरा कहेगा कि उन्हें मलबार हिल्सपर देखा था। इधर देखो तो बोरीवली कांदीवलीमें है। इसीको लेकर भाष्यादिमें "वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिः" इस अतिथिको यहां बताया। वस्तुतः आत्मा अतिथि है। आत्मशब्द भी अत धातुका ही रूप है।

"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यश्चास्य सन्ततो भावस्तदात्मेति गीयते ॥"

समस्त जगतको वह प्राप्त करता है। या सब जगतमें पहुंच जाता है इसलिये आत्मा है। सबको अपनेमें लेता है इसलिये आत्मा है। समस्त विषयोंको खा जाता है, विलीन करता है अपनेमें इसलिये आत्मा है। आत्मा संतत है, जहां देखो वहीं मिलगो। वह देशकालपरिच्छिन्न नहीं है। अमुक देशमें है, अमुक देशमें नहीं है ऐसा देशपरिच्छेद उसमें नहीं है। अमुककालमें नहीं है ऐसा कालपच्छिेद नहीं है। अतः सन्ततगत है निरन्तर व्यापक है। इस लिये वह अतिथि है। दूसरी बात है-दो तिथियां होती हैं। एक जन्मतिथि और दूसरी मरणतिथि। आत्माकी कोई जन्मतिथि नहीं और कोई मरणतिथि नहीं। कृष्णजन्मतिथि अष्टमी। रामजन्मतिथि नवमी। वामन जन्मतिथि द्वादशी। नृसिंह जन्मतिथि चतुर्दशी। और हम सबकी भी कोई न कोई तिथि होगी। जन्मतिथि सबकी विशेषरूपसे मनायी जाती है। उस रोज उत्सव होता है। जन्मतिथिको बधाई देते हैं। क्योंकि आदमी बढ़ता जा रहा है। चालीस वाला इकतालीसका हो गया। इकतालीसवाला बयालीसका हो गया। खुशी मनाते हैं। लेकिन खुशी क्या है। इधर बढ़ता जा रहा है। किन्तु जीवनके साल घटते जा रहे हैं। एक दिन वह आयेगा जब आगे जन्मतिथि तो होगी। फिर तो मरणतिथि चलेगी। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" सबकी जन्मतिथि है। किन्तु ब्रह्मकी? ब्रह्मकी कोई अष्टमी नवमी नहीं है। यह तिथि आपको परिच्छिन्न कर रही है-छिन्न कर रही है। ब्रह्मकी जन्मतिथि नहीं है तो मरणतिथि भी

नहीं है। काल उसे नहीं काट सकता। वह कालका भी काल है। अन्तकान्तक है। शिवको भी ब्रह्मदृष्टिसे अन्तकान्तक कहते हैं।

नृषत्। तत्पदार्थका निरूपण 'हंसः शुचिषत्' इत्यादिसे चल रहा था। वहां सविशेषण सदन बताया या सदनविशेषणविशिष्ट हंसादिको बताया। आध्यात्मिक, आधिदैविक, अधिभूत, अधियज्ञरूपसे यथायोग्य विवेचन था। शुचि आकाशस्थित-ग्रीष्म आकाशस्थित आदित्य पुरुष और शुद्ध-निर्मलगत अक्षिपुरुष दोनोंकी एकता समष्टि वायु हिरण्यगर्भ या विष्णु वासुदेवरूप परमात्मा तथा व्यष्टि प्राणात्मा प्रज्ञात्मा-बुद्धिवृत्यभि व्यक्त आत्मा दोनों ही अन्तरीक्षणविषय हैं दोनोंकी एकता, होता-अग्नि-रुद्ररूप परमात्मा और उदरस्थ वैश्वानर दोनों ही वेदनात्मक वेदिषत् हैं। इन दोनोंकी एकता, अतिथि षोडशी चन्द्रकलारूपसे जगद्व्यापक चितिशक्ति तथा सहस्रार कमल या मणिपूरमें स्थित चितिकलाकी एकता इस प्रकार चतुर्धैक्य बताया। इसके बाद अब सामान्यरूपसे अभिव्यक्ति स्थानविशेषमें अभिव्यज्यमान चार स्वरूपोंको बताने जा रहे हैं।

नृषु सीदतीति नृषत्। क्या परमात्मा केवल मनुष्योंमें ही रहता है? परमात्मा सर्व प्राणियोंमें रहता है। 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'। सबके हृदयमें ही क्यों, सर्वत्र स्थित है, केवल हृदयमें ही नहीं-'यो मां पश्यति सर्वत्र।' केवल सर्वत्र स्थित ही नहीं, सर्वरूपसे स्थित है-'वासुदेवः सर्वमिति'। तब 'नृषत्' इतना कहनेका क्या अभिप्राय? ऐसा ही एक प्रश्न गीता आदिमें भी उठता है। 'आदित्यानामहं विष्णुः, ज्योतिषां रविः, मरीचिर्मरुतां, नक्षत्राणां शशी, अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां' इत्यादि बहुत सारा कहा और अन्तमें कहा-'अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ' कह दिया। वदोंमें भी कहा—

'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पुरुषः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥'

'यद् भूतं यच्च भव्यं यदन्नेनातिरोहति' इस प्रकार भूतभावी वर्तमान जितने हैं ये सब 'एतावानस्य महिमा' परमात्माकी महिमा है। महिमामात्र है। विस्तारमात्र है। 'अतो ज्यायांश्च पुरुषः।' पुरुष तो इससे भी ज्यादा है। क्यों? 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'। समस्त स्थावरजंगमाद्यात्मक जगत्

परमात्माके एक पादमें ही आ जाता है। शेष तीन चरण तो दिव्य हैं। अमृत हैं। विकाररहित एवं अनाच्छादित हैं। इस प्रकार जो बताया उसीको यहां "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नं" से कहा। स्वयं कहा-"अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन। तब इतना लंबा चौड़ा चालीस पचास श्लोकोंका अध्याय बोलनेकी क्या जरूरत थी? क्या पुस्तक बढ़ाना ही प्रयोजन था? भागवतमें भी उद्धवगीतामें विभूतिवर्णन है। वहां यहांसे दुगुना है। क्या जरूरत थी? उत्तर यह है कि यद्यपि "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नं" से गतार्थ होता है। तथापि ये सभी विशिष्ट परमेश्वरकी अभिव्यक्ति के लिये विशेष स्थान हैं। जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब पत्थर, मिट्टी, दीवार, जल, दर्पण आदि सब जगह पड़ता है। किन्तु मिट्टीमें बिलकुल नहीं दीखता। पत्थर पर कभी थोड़ा। पानीमें अधिक, दर्पणमें स्पष्ट। स्थान भेदसे अभिव्यक्तिकी विशेषता होती है। वैसे अश्वत्थ, गूलर, पाकड़ सभी पेड़ हैं। सबकी पूजा नहीं करते। केवल अश्वत्थकी पूजा करते हैं। वहां अभिव्यक्ति विशेषरूपसे होती है। मंदिरमें मूर्ति पत्थरकी है। रास्ते में भी पत्थर पड़े हैं। शालग्रामशिलामें आकार भी नहीं है। फिर भी फरक है। किसीने मूर्तिपूजाविरोधीने यह भी कहा है कि पत्थर पूजनेसे भगवान् मिलें तो मैं पहाड़ पूजूं। किन्तु बात यह है कि न पत्थर पूजनेसे भगवान् मिलता है न पहाड़ पूजनेसे। भगवानकी पूजा करो तो भगवान् मिलेंगे। मंदिरके पत्थरमें भगवद्भावना है। पहाड़ आदिमें नहीं। और मंदिरस्थ मूर्ति शालिग्राम शिला आदि विशेष अभिव्यक्ति के स्थान हैं। इस प्रकार सभी विभूतियां विशेषाभिव्यक्ति स्थान हैं। जो वहां उत्तर है वही नृषत् में भी उत्तर है।

मनुष्यमें परमात्माकी विशेष अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि इसमें कुछ विशेषता है। क्या विशेषता यह देखें।

शैलादौ मुख्यमन्नं स्यात् प्राणश्चैव द्रुमादिषु
कीटादिषु मनश्चैव नृषु विज्ञानमेव च ।
आनन्दोऽपि च देवेषु कोशाः पञ्चाभ्युदीरिताः ।
आजानजेषु नैवान्नप्राणावित्यपरे जगुः ॥"

पर्वतादिमें आत्मा है। वह अपर शरीर है। पर्वत भी बढ़ते हैं। हिमालय पहले छोटा था। अब उत्तरोत्तर ऊंचा होता जा रहा है। विन्ध्याचलके

बारेमें कथा प्रसिद्ध है कि वह बढ़ता जा रहा था। परिणामतः वह सूर्यका आच्छादन करने लगा। हिमालयमें तलहटीमें रहनेवालोंकी यही दशा है। दश ग्यारह बजे सूर्य दिखायी पड़ता है, चार पांच बजे ही गूम। सूर्योदयसे पहले सन्ध्यावन्दनादि करना है तो उस समय घड़ियां नहीं थी। इधर सूर्योदय दिखायी नहीं पड़ता था। तो ऋषिमुनि चिन्तित होने लगे। सब मिलकर अगस्त्य ऋषिके पास गये। अगस्त्यजीने कहा अच्छा मैं उपाय करूँगा। वे दक्षिणकी ओर चले। विन्ध्यने देखा महर्षि आ रहे हैं तो उनके चरणोंमें दण्डवत् किया। भारी शरीर होनेसे उठना कठिन पड़ रहा था। तब अगस्त्यजीने कहा मैं दक्षिण जा रहा हूं वापिस आनेतक ऐसे पड़े रहो। विन्ध्यने माना। अगस्त्यजी दक्षिण गये किन्तु अब तक लौटे नहीं और विन्ध्य आज तक पड़ा ही है। आजके वैज्ञानिक मानते हैं कि हिमालय बढ़ रहा है। आत्माके बिना कोई बढ़ नहीं सकता। आत्म-तादात्म्याध्यास इसके लिये आवश्यक है। अतएव शैलादि शरीर भी है। इसीलिये महाकवि कालिदासजीने-

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ वारिनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥"

यहां हिमालयको देवतात्मा पर्वत बताया। सर्वथापि पर्वतादिका शरीर है। और वह अन्नमयकोश है। केवल एक ही कोश मुख्यरूपसे पर्वतादिमें है। इन्द्रने पर्वतोंका पंख काटा। नहीं तो ये उड़ते भी थे। और जहां बैठ जाते थे गांव का गांव दब जाता था। परंतु इनमें प्राणमयादि कोश नहीं है। कदाचित् प्राणमय माना भी जाय तो भी वह प्रत्यक्ष नहीं है। श्वासोच्छ्वास करते नहीं, चलते फिरते नहीं, अतः प्राणमयकोश नहीं है। हां, पहलेके जमानेमें उड़ते थे तो प्राणमयकोश रहा क्या? यह सन्देह हो सकता है। होनेपर भी वर्तमानमें अनभिव्यक्त है।

वृक्षादिमें आत्मा है। अन्नमय तो प्रत्यक्ष है। प्राणमय भी माना गया है। वृक्ष भी श्वासोच्छ्वास करते हैं। फरक इतना ही है कि हम शुद्ध प्राण लेकर गंदा बाहर निकालते हैं। वृक्षादि गंदेको लेकर शुद्धको बाहर निकालते हैं। जंगलमें गैस आदि भले हो पर थोड़ी देरमें वृक्ष उसे साफ कर देंगे। वैसे फिर गंदे खादको लेकर अच्छे फल छोड़ते हैं। हम मनुष्य

विपरीत करते हैं यह बात भी सही है। वृक्षोंमें प्राण होनेका प्रमाण न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकारने यही दिया है-"भग्नक्षतसंरोहादिना प्राणानुमानात्"। इस प्रकार फिर पर्वत बढ़ते हैं अतः उनमें भी प्राण है ऐसा क्यों न माना जाय? उत्तर है वृक्ष प्रत्यक्षतः बढ़ते हैं इसीसे प्राणानुमान करते, भग्नक्षत संरोह पर्यन्त क्यों गये? यह अन्नमय की विशेषता है कि वह घटता बढ़ता है। वृक्षादिमें कर्मेन्द्रियां भी हैं। सामने घर आदि हो तो पेड़ झुककर दूसरी ओर बढ़ेगा। लतायें पेड़ोंको लिपट जाती हैं। कई लताओंमें हाथके समान डोरा जैसा भी दीखता है। उससे लतायें सामनेवाले को लपेटकर पकड़ती हैं। जरा भी पकड़नेको मिला तो वे लपेट ही लेती हैं। इसीको लेकर कुछ लोग मनोमय भी मानते हैं। वृक्षादि भी तलवारों को देखकर कांपते हैं इत्यादि बातें कही जाती हैं। किन्तु रागद्वेषादि एवं संकल्पादि प्रत्यक्षतः या कार्यतः उपलब्ध नहीं है। अतः मनोमय नहीं हैं। होनेपर भी अनभिव्यक्त है।

कीड़े, मकोड़े आदिमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय ये तीन कोश अभिव्यक्त हैं। चींटियोंको, मधुमक्खी आदि को छेड़ो तो वे काटने दौड़ते हैं। कर्मेन्द्रियां तो स्पष्ट हैं। यद्यपि उनको भी अपना हिताहित ज्ञान है। तेज इन्द्रियां हैं। तथापि मनोमयतक ही कोश है। नवीन स्फुरणा उनमें नहीं होती। वही अनादिसिद्ध चाल ही आजतक है। इस दृष्टिसे पशुपक्षी आदि सबमें मनोमय तक ही कोश है। विज्ञानमय कोश हो भी फिर भी वह अनभिव्यक्त है।

मनुष्यमें चार कोश हैं। अन्नमय यह प्रत्यक्ष है। प्राण भी प्रत्यक्ष है तथा कर्मेन्द्रियां भी हैं। मनोमय भी स्पष्ट है। विज्ञानमय विशेष है। मनुष्य नया नया आविष्कार करता है। नयी नयी कलायें प्रकट करता है। शास्त्रादि चिन्तन करता है। इस प्रकारका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त होता है। मनुष्य ही तो ऋषि बनकर सर्वज्ञ होते हैं। मनुष्यमें आनन्दमयकोश यद्यपि हैं परंतु स्पष्ट अभिव्यक्त नहीं है।

देवताओंमें पांच कोश होते हैं। वैसे तो आजानज देवोंमें अन्नमय तथा प्राणमय नहीं होते। क्योंकि उनका शरीर सांकल्पिक होता है। "संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति"। यज्ञ एक साथमें पचासों होते हैं तो

देवता सांकल्पिक शरीरोंमें वहां जाते हैं। अन्नमय शरीर होता तो एक ही जगह वे जा पाते। किन्तु कर्मदेवोंका अन्नमय कोश होता है। भूतपरिवेष्ठित होकर वे स्वर्ग जाते हैं।

"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्"

इस प्रकार व्यासजीने सूत्र लिखा है। यज्ञोमें घृत-सोम आदि जलमय पदार्थ डालते हैं तो उसके भूतसूक्ष्मसे जीवात्मा परिवेष्टित होता है। अर्थात् स्वर्गमें अन्नमयशरीरजनक सामग्री नहीं है। यहीं से साथमें ले जाते हैं। यद्यपि प्रश्न उठेगा कि स्वर्गमें भोग्य स्थूल अन्नपानादि पदार्थ कहां है? यदि हैं तो उससे शरीर भी तो बन सकता है। यहां से शरीरोत्पादक भूतसूक्ष्म ले जानेकी क्या जरूरत है? और यही सुननेमें आता है कि मनुष्य जो भोग नैवेद्य आदि देते हैं, तर्पण करते हैं वही देवोंको मिलता है। स्थूल रोटी दाल भात यहांसे जाता नहीं है। सूक्ष्म जाता भी हो किन्तु तदर्थ स्थूल अन्नमयकी आवश्यकता नहीं है। तथापि आवश्यकता हो या न हो श्रुति अनुसार वहां भूतपरिवेष्टित होकर जाता है। वह भी त्रिवृत्कृत ही। "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" ऐसा सूत्र है। इतना कह सकते हैं जैसे अनभिव्यक्ति होनेसे वृक्षलतादिमें मनोमय नहीं माना वैसे अनभिव्यक्त होनेसे देवताओंमें अन्नमय प्राणमय क्यों माने?

यद्यपि देवताओंका उत्कर्ष मनुष्यकी अपेक्षा अधिक माना जाता है। किन्तु वह समर्थ्यको लेकर बताया है। विज्ञानकी दृष्टिसे नहीं। देवताशरीर-प्रदायकयज्ञादिकर्तृत्व तथा ब्रह्मज्ञान यह सब मनुष्योंमें ही होता है। वैसा विज्ञानमयकोश देवोंमें नहीं है। यज्ञादिकर्तृत्व विज्ञानमयमें ही है। श्रुतियोंमें कहा है-

"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च ।
विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ॥"

तत्त्वज्ञानको यद्यपि देवताओंमें भी संभव माना है। व्यासजी सूत्र लिखते हैं--

"तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्"

ऊपर देवताओंमें भी ज्ञान मान सकते हैं। क्योंकि संभव है। इसमें हेतु केवल यही दिया कि संभव है। होता है ऐसा नहीं कहा। इन्द्र और

विरोचनको ज्ञान हुआ इत्यादि कथा आती है। वस्तुतः संभावनामात्र है। होता नहीं है। क्योंकि ज्ञानका अधिकारी वही है जिसमें वैराग्य हो। देवताओंमें वैराग्यके लिये गुंजाईश बहुत कम है। वैराग्यका मुख्य कारण दुःख है। यह दुःख देवताओंमें नहीं होता।

"यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥"

जो चाहें, मिल जाता है। दुःख बिलकुल नहीं तो क्यों वैराग्य करेंगे? घरोंमें जब क्लेश होने लगता है तब आश्रम याद आता है। सोचने लगते हैं कि संन्यासी बनना अच्छा है। इस दृष्टिसे दुःख भी अच्छी चीज है। सांख्यकारिकामें भी कहा है—

"दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ"

जब गिरस्थीकी मार पड़ती है तब ब्रह्म याद आता है, ब्रह्मजिज्ञासा होने लगती है।

"तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याऽऽविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥"

और दुःख हो या न हो बुढ़ापेका दुःख तो असह्य ही है। मरणदुःखका तो कहना ही क्या? जब तक लिङ्गशरीर है तबतक जन्ममरणपरम्परा अनिवार्य है। उससे वैराग्य अवश्यमेव होता है। भले उस वैराग्यको मनुष्य उठते ही दबा दें।

इस मानवलोकमें ही सद्गुरुकी प्राप्ति भी होती है। देवताओंमें गुरुशिष्यपरम्परा नहीं है। वहां ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। वहां विधिनिषेधादि नहीं है। वहां अन्तःकरणशुद्ध्यर्थ यज्ञदान तप आदि नहीं हैं।

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"

ये यज्ञ दान तपः प्रभृति विविदिषामें या विद्यामें प्रयोजक हैं।

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"

यह गुरूपसदनविधि देवताओंके लिये संभव नहीं है। समिधा लेकर जायेंगे लेकिन गुरु भी तो देवता होंगे। समिधासे गुरु क्या करेंगे? वहां यज्ञ किया नहीं जाता। समिधाका उपहार अर्थ भी कर लें फिर भी संकल्पसे सबकुछ

गुरुरूपी देवताको प्राप्त होते हैं तो उस उपहारसे गुरुका क्या कार्य सिद्ध होगा? इसीलिये देवता भी मनुष्यलोककी प्रशंसा करते हैं, विशेषतया भारतवर्षकी–

"अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषांस्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥
कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥
न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखास्तदाश्रयाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥""

इन्होंने क्या ऐसा पुण्य किया? लगता है इनपर भगवान् प्रसन्न हैं। जिन्होंने मनुष्योंमें, वहां भी भारतवर्षमें जन्म पाया। वहां भगवत्सेवन श्रवण-कीर्तनमननादिसे होता है। स्वर्गलोकको जीतकर कल्पपर्यन्त भले वहां रहे पर उससे अच्छा तो वह है जो भारतभूमि पाकर क्षणमात्रके लिये भी रहता है। जहां वैकुण्ठविशोक परमात्माकी कथा चर्चारूपी अमृतवाहिनी नदी नहीं बहती क्या वह भी कोई रहने योग्य स्थान है? जहांपर भगवद्दर्शन प्राप्त साधुसंत नहीं हैं। वह भी कोई देश हैं? जहां पवित्रताकारक यज्ञयागादि सत्कर्म नहीं है वह भी कोई लोक है? कहनेके लिये भले वह इन्द्रलोक क्यों न हो पर सेवन करने योग्य नहीं है। इन श्लोकोंमें नृलोककी विशेषतायें प्रायः बता दी हैं। भगवत्सेवन श्रवण-मननादिरूप हैं। वह यहीं संभव हैं। संन्यास सर्वसङ्गपरित्याग यहीं संभव है। भगवच्चर्चात्मक प्रवचन यहीं होता है। संत साधु गुरु यहीं पर मिल सकते हैं। यज्ञ, दान आदि सत्कर्म यहीं हो सकते हैं। सर्वपरिणाम परमेश्वर प्राप्ति यहीं हो सकती है। इसीलिये बताया–

"सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान्सरीसृपमुखान् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥"

ब्रह्माजीने बहुत सारे पुर बनाये। नवद्वार पुर या एकादश द्वार पुर। किससे बनाये? अजया आत्मशक्त्या। स्वशक्तिरूपी प्रकृतिसे। कैसे-कैसे पुर? कुछ

वृक्षादिरूप, कुछ सरिसृप-सर्पादिरूप, कुछ पक्ष मच्छर आदि और कुछ मछली आदि। वृक्षादि अचर विभागमें है। चरविभागमें तीन हैं—स्थलचर, नभचर, जलचर। सरीसृप, पशु आदि स्थलचर हैं। पक्षी आदि नभचर हैं। दंश भी नभचर है। मछली जलचर है। किन्तु इन सबसे ब्रह्माजीको संतोष न हुआ। तब अन्तमें पुरुष-मनुष्यको बनाया। मनुष्यको बनानेपर ब्रह्माको बड़ी प्रसन्नता हुई-अब मेरा कार्य पूर्ण हो गया। मैं कृतकृत्य हुआ। क्यों? यह प्रश्न सामने आया। क्या इसलिये कि दूसरे सब घासफूस खाते हैं, मनुष्य रोटी पकाकर खाता है? इसलिये कि दूसरे यूंही जंगलमें जमीनमें पड़े रहते हैं। मनुष्य मकान बनाता है, पलंग गद्दा आदि बनाता है? इसलिये कि और प्राणी नंगे रहते हैं, मनुष्य वस्त्र पहनते हैं? इसलिये कि और कोई पैसा कमाता नहीं, मनुष्य पैसा कमाता है? बात यह है कि एक दिन यमराज आकर इन सबको फिंकवा देगा। यमराज यह नहीं पूछेगा कि तुमने फ्लेट खरीदा कि नहीं? बैंक बेलेन्स बनाया कि नहीं? यमराजका प्रश्न यही होगा कि तुमने कितना सत्संग किया, कितना दान किया, कितने यज्ञादि सत्कर्म किये? धन, जनादि सब किनारे रहेंगे। संपदा तो यही है जो सत्संगादि किया। ब्रह्माजी प्रसन्न हुए तो इन क्षणसंगी पदार्थोंकी संग्रहयोग्यताको लेकर नहीं। अतः विशेषण है—"ब्रह्मावलोकधिषणम्"। यही एकमात्र विशिष्ट विशेषता मानवशरीरमें है। आहार, निद्रादि सर्व समान है। यदि मानव तन पाकर ब्रह्मज्ञान नहीं पाया तो यह तन पाना बेकार हो जायेगा।

इतना यदि न हुआ, ब्रह्मावलोकन न किया तो ब्रह्माजीका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा किन्तु यह अपनी आत्महत्या है। यही अन्य श्लोकमें बताया—

"नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥"

जिस निमित्तके लिये यह शरीर बनाया वही नहीं हुआ तो यह उसका हनन ही तो है, बल्कि आत्महत्या है।

द्वैतवादी कहते हैं आत्मज्ञानके लिये नहीं, प्रेमलक्षणा भक्तिके लिये मानव शरीर है। उनके प्रति कहना इतना ही है कि भक्तिका भी फल ज्ञान है।

"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ॥"

भक्तिसे मेरी पूरी पहचान होती है। प्रेमलक्षणा भक्ति तो मनोमयकोशका कार्य है। मन प्रेमप्रधान है। बुद्धि ज्ञान प्रधान है। विज्ञानमयकोश विज्ञानार्थ है। "ब्रह्मावलोकधिषणं" यहां धिषणासे विज्ञानमयकोश कहा है। पशु-पक्षियोंमें भी पर्याप्त प्रेम होता है। बल्कि मनुष्यसे भी अधिक प्रेम पशुओंमें होता है। विशेषता यही है कि पशु परमात्मा जीवात्माको नहीं पहचानते। तब पहचानना ही मनुष्य शरीरकी विशेषता सिद्ध होती है। इस नर शरीरमें ही परमात्माकी अभिव्यक्ति होती है। अतः नृषु विज्ञान-विषयतया सीदतीति नृषत् यह विशेषण परमात्माके लिये उपयुक्त हुआ।

वरसद्। सविशेषण चार सदोंको बतलाकर निर्विशेषण सदोंको बतलाना प्रारंभ किया था। उनमें नृषत् बताया। दूसरा वरसद् है। वरमें रहनेवाला वरसद् है। वरका अर्थ क्या है? एक वरवधूवाला वर शब्द है। उसका यहां उपयोग नहीं है। क्योंकि यहां सकलजनसाधारण शब्दोंका प्रयोग है। वधूके लिये वरं होता है। सबके लिये नहीं। दूसरोंके लिये विवाहकालमात्रमें वरराज शब्दप्रयोगमात्र है। वर शब्दका वरदानमें प्रसिद्ध वर भी अर्थ है। वह भी यहां उपयुक्त नहीं है। वरदान कभी मिले तब उसमें ब्रह्मसदन देखनेका किसी किसीको अवसर हो। व्रियमाणत्वाद् उपास्यमानत्वात् पूज्यमानत्वाद् वरः यही यहां विवक्षितार्थ है। "वरेषु देवेषु सीदति" ऐसी व्युत्पत्ति भाष्यमें दिखायी है। वे देव कौन-कौन हैं यह विचारणीय है। उसमें स्थित वरसत् है। वरसत् कहनेसे यह निश्चित होता है कि वर-देव स्वयं ब्रह्म नहीं किन्तु जो वरोंमें बैठा है वह ब्रह्म है।

देव साधारणतया शरीरधारी नारायणादि एवं इन्द्रादिको कहते हैं। लक्ष्मीनारायणदेवकी जय इत्यादि जय-जयकार होता है। उनमें विष्णु, राम, कृष्ण, शंकर, देवी, गणेश आदि सभी आते हैं। उनको लेकर ही भगवानने कहा—

"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥"

प्रथम ही परमात्माका ज्ञान नहीं होता। राम, कृष्ण, शंकर आदि किसी शरीरको लेकर साधारण जन सेवा, उपासना प्रारंभ करता है। उसमें वह श्रद्धा करता है। प्रथमतः रामकृष्णादि कोई भी हो कोई विशेष बात नहीं है। हमारे पास भी मन्त्र लेने कोई आता है तो मैं पूछता हूं किसका मन्त्र चाहिये? कौन इष्ट हैं? तो बहुतसे कह देते हैं आप जो दें वही। अर्थात् प्रथमतः कोई भेद नहीं रहता। किन्तु एकका भजन शुरु करता है तो भगवान कहते हैं कि उसीमें श्रद्धा स्थिर करता हूं। क्योंकि एक श्रद्धाके बिना चित्तैकाग्रता नहीं होती। इसीलिये कहा—"एकभक्तिर्विशिष्यते"। उसमें फिर पक्षपात होने लगता है। उसमें ममता प्रारंभ होती है। इस बीचमें कुछ गुरुघटाल अपना स्वार्थ भी सिद्ध करते हैं। क्योंकि प्रकृतिमें गुणके साथ दोष भी रहता है। शैव, वैष्णवादि गुरुलोग उनको कट्टर बनाकर दूसरेसे विद्वेष करते हैं जो एक बड़ा भारी पाप है। उसी पापका परिणाम है कि भारतवर्ष छिन्न-भिन्न हुआ। अस्तु। यहांतक तो अध्यात्ममार्गमें ठीक चला। इसके बाद उसी देवमें श्रद्धा रखकर आराधना करते हुए उसीसे अनेक कामनायें पूर्ण करनेका प्रयत्न करने लगे और वहींतक सीमित रह गये। उन्होंने यह नहीं सोचा कि यह श्रद्धा स्थिर करनेवाला अहंपदार्थ कौन है? कामना पूर्ण हुई तो पूर्ण करनेवाला वही देवता है या कोई अन्य-"मया विहितान्" कहनेवाला? प्रसङ्गसे स्पष्ट होता है कि ये देवता केवल उपास्य तनु है। स्वयं परमेश्वर नहीं है। वह पृथक् ही अहं पदार्थरूप है। वह कहां है? कौन है? वह ये देव नहीं। किन्तु इन देवोंमें रहनेवाला "वरसद्" है। कृष्णभक्त व्याख्या करने लगे कि श्रीकृष्ण

चिन्मयविग्रह है। वह विग्रह ही साक्षात् परमात्मा है। यही कृष्णकी विशेषता है। वे प्रगट हो गये। तब शैव क्यों पीछे रहते? वे तो चिन्मय आनन्दमय बताने लगे। भगवानने कहा मैं इन्द्रियागोचर हूं। अव्यक्त हूं। मुझे लोग "व्यक्तिमापन्न"—इन्द्रियविषय मानने लगे। कौन? "अबुद्धयः"। अज्ञानी मूर्ख। कारण? "परं भावमजानन्तः"। परभावको वे नहीं जान सके। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है—"अन्तवत्तु फलं तेषां"। इनको प्राप्त होनेवाला फल अन्तवाला होता है। कौन ये? "अल्पमेधसाम्"। मूढ। इसका अन्तिम परिणाम भी यही है कि—"देवान् देवयजो यान्ति"। वैकुण्ठ, कैलास, स्वर्गादि उन-उन लोकोंको वे प्राप्त होते हैं।

इस प्रसङ्गसे यह स्पष्ट हुआ कि "यो यो यां यां"—इस तनूपासनामें लगे लोग चाहे वह शिवतनु हो, चाहे कृष्णतनु, परमात्मा भजन नहीं, देवभजन ही करते हैं। "यो यो यां यां" इस वीप्साप्रयोगसे कोई भी तनु छूटने नहीं दी है। परमात्माकी वस्तुतः तनु नहीं है। वह व्यक्त भी नहीं है।

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥"

अहं पदार्थ परमात्मा सर्वस्य न प्रकाशः। किसीके प्रकाशमें नहीं हूं। क्यों नहीं? श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष हैं। अर्जुन आंखोंसे देख रहे हैं। नहीं।

"न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥"

दिव्यचक्षुसे तुम देखोगे। क्या देखा?

"पश्यामि देवास्तव देवं देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥

भगवानके स्वरूपमें यह समस्त जगत् दीख रहा था। कल्पित रूप ब्रह्मादिको देखा। भगवानका स्वरूप क्या था? सर्वकल्पनाधिष्ठान स्वात्मरूप ही है। "अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रम्"। एक विराट् मनुष्याकार नहीं क्या? नहीं। "नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि।" अन्त न देखते, आदि न देखते अति दूर होनेसे। कमसे कम मध्य तो दीखता—पेट तो दीखता? वह पेट सबका पेट है। परमेश्वरका मध्यस्थान नहीं है। योगमायापसारक ज्ञानविशेषात्मक दिव्य चक्षु भगवानने दिया था। उसमें मायापसरण हुआ

तो स्वप्रकाशरूपसे भगवानको देखा। लेशाविद्याके कारण भूतविशेष-संघादिको भी देखा। उस ज्ञानविशेषदृष्टिको भगवानने वापस खींचा तो पूर्ववत् "दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं" श्रीकृष्णरूप दीखने लगा। इस अज-अव्यय स्वरूप को मूढ़ लोग नहीं जानते। उस दिव्य स्वप्रकाशस्वरूपको देखनेका माध्यम श्रीकृष्ण शरीर था। अतएव यहां पर वरसद् बताया। अर्जुन को भगवानने दिव्यचक्षु दी। उससे अर्जुनने विश्वरूपदर्शन किया। 'पश्यामि देवास्तव देव देहे' इत्यादि बताया। वहां तक तो ठीक रहा आगे कहते हैं—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥

इत्यादि। क्या यह सब सत्य था या कल्पनामात्र? सत्य था यदि, तो भीष्मादि तो प्रथम दिन पूर्णरूपसे थे। "मया हतांस्त्वं" यह भी कैसा? जब कि सब जिंदा थे। यदि कहें कि भविष्य की यह सूचना थी तब तो कल्पना ही हुई। जैसे स्वप्न में हाथी देखा तो धनप्राप्ति की सूचना हुई। कृष्णदन्तदर्शन हुआ मरणसूचन हुआ इत्यादि। हाथी कृष्णदन्तादिका दीखना मिथ्या ही था। यदि मिथ्या मानते हैं तो उसके लिये दिव्यचक्षुकी क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर है कि पदार्थ दो प्रकार का है। एक स्थूल है दूसरा सूक्ष्म है। बीज में अंकुर है। वह सूक्ष्म है अतीन्द्रिय है। उसे साधारण चक्षुसे नहीं देख सकते। यन्त्रसे भी नहीं देख सकते। दिव्य चक्षु से देख सकते हैं। वही अतीन्द्रिय अङ्कुर जलादिसंपर्क से स्थूल होता है। इसीप्रकार यह विश्व प्रथम सूक्ष्मरूप है। वह है ईक्षण। तदैक्षत बहुस्याम्। परमात्माने आकाशवायु आदिका ईक्षण किया। आकाशाद्याकार वृत्ति हुई। वह वृत्ति सच्ची या झूठी। एक इंजनीयर प्रथम नक्शा तैयार करता है। उसके दिमागमें नक्शा रहता है। वैसा यह ईक्षण है। उससे स्थूल जगत् होता है। अर्जुन ने भगवान् के ईक्षणात्मक उपाधिस्थ सूक्ष्म जगत् को देखा। वह ईक्षण यथार्थ था। उसे देखने दिव्य चक्षुकी आवश्यकता थी। हम भी प्रथम ईक्षण कर आगे वस्तु बनाते हैं। किन्तु अन्य सामग्री सहकारी होने से "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरं" हो जाता है।

मंदिर जाने का संकल्प किया। रास्ते में मित्र मिला तो सेनेमा में गये। भगवान् के लिये अन्य सामग्री अपेक्षित नहीं। अतः यथासंकल्प कार्य होता है। ऋषि-मुनि उसीको देखकर सर्वज्ञ होते हैं। परमात्मा स्वयं उसे प्रकाशित करते हुए सर्वज्ञ हैं यही फरक है।

वरसद् कहनेका अभिप्राय यह है कि प्रथम वर देवोंकी अर्चना करो। भक्ति करो। प्राथमिक ममत्व उचित है। वही ममत्व अतिशयित होता है तो भाव कहलाता है। वही भाव सान्द्र होता है तो प्रेम होता है। वही पराकाष्ठा प्राप्त होनेपर परमप्रेमरूपी भक्ति हो जाती है।

"सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥"

ऐसा रूपगोस्वामीका कहना है। और नारदजीने आगे बताया–

"सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।"

परंतु प्रेमतक पहुंचना संभव है। परमप्रेमतक पहुंचना कठिन है। क्योंकि 'तनु' तक रहनेपर परम प्रेम हो ही नहीं सकता। तनु भिन्न-भिन्न है। "अन्योऽसावन्योऽहं" यह भाव निश्चित रहेगा। द्वैतवादी वहीं तक पहुंचते भी हैं। "दासोऽहं" तक ही उनके दिमागमें रहता है। "सोऽहं" नहीं। सोऽहं के लिये देवसे आगे बढ़ना होगा। घट और गृह एक नहीं हो सकते। घटस्थ आकाश और गृहस्थ आकाशकी एकता होती है। तनु आकारसे उठकर तनुमें स्थित ज्योतिरात्मा तक पहुंचना होगा। इन समस्त तनुओंको और आकारोंको देखनेवाला साक्षी वह आत्मतत्त्व है। वह वर-देवोंमें रहनेवाला है। जैसे गृहमें रहनेवाला गृहसे भिन्न है वैसे वरोंमें रहनेवाला वरोंसे भिन्न है। वरको यदि देवशरीरप्रतिबिम्बितचैतन्य माना जाय तो भी उस प्रतिबिम्बमें बिम्बसत्ता ही है, स्वतन्त्र सत्ता नहीं। उस स्वतन्त्र बिम्बसत्ताको पहचानना चाहिये।

"प्रतिबिम्बे स्फुरन्नीशः"

ऐसा वार्तिककारका मत है।

वरका एक अर्थ श्रीकृष्ण, राम आदि देव बताया। शतपथमें बताया है–"विद्वांसो वै देवाः" विद्वान् देव हैं। विद्वान् कौन हैं? बहुत सारे ग्रन्थोंको जिसने पढ़ा, वेदोंको पढ़ा वही? वही नहीं। इतनेसे वह विद्वान् नहीं होता।

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" में जिस विद्याको बताया उस विद्यासे जो युक्त हो वह विद्वान् है। मृत्युका अत्ययन-पार करना जिस विद्यासे हो वह विद्या है—आत्मसाक्षात्काररूपी विद्या। यहां भी पूर्वोक्त क्रम ही है। प्रथम शरीरात्मना विद्वानकी पूजा करो, सेवा करो। वही वरणीय देव है। इसका फल बताया है—

"यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥"

जिस-जिस लोकका विद्वान् संकल्प करता है—इस भक्तको यह प्राप्त हो—ऐसा चाहता है, जिन विषयोंको वह चाहेगा, अपने लिये तो क्या, भक्तोंके लिये वह लोक एवं वह काम वह प्राप्त करता है। अन्योंको कराता है। क्यों और कैसे? इसका जवाब भाष्यकार देते हैं—सत्यकामत्वात् सत्यसंकल्पत्वात्। क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे वह ब्रह्मरूप हो गया है। "यो ह वै तत्परमं ब्रह्मं वेद ब्रह्मैव भवति" ऐसा श्रुतिमें वचन है। और ब्रह्मके बारेमें बताया है—

"य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको
विजिघत्सोऽपिपासः सत्याकमः सत्यसंकल्पः
सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोका—
नाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमनुविद्य विजानाति ॥"

आत्मा स्वतः पापरहित है। जरामरणरहित है। शोकमोहरहित है। बुभुक्षु-पिपासारहित है। वह सत्काम एवं सत्यसंकल्प है। उसकी खोज एवं दिदृक्षा करना चाहिये। उस आत्माको जो देख लेता है वह सर्वलोक एवं सर्वकामोंको प्राप्त होता है। प्रकृतमें ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप हो जानेसे पूर्वोक्त सकलविशेषणविशिष्ट होता है। सत्यकाम सत्यसंकल्प होनेसे वह स्वयंको तथा अन्यको भी सर्वलोक एवं सर्वकाम प्राप्त करा सकता है। उसका सब कुछ है। अतः आत्मज्ञकी अर्चना करो। सेवा करो। ब्रह्म समझकर सेवा शुश्रूषा आदि करो। यहां भाष्यकारने लिखा है—

"पादप्रक्षालनशुश्रुषानमस्कारादिभिः पूजयेत् ।"

यहां प्रश्न है कि पादप्रक्षालन आदि शरीरका होगा कि आत्माका? आत्माका पाद ही क्या होगा—"अपाणिपादो जवनो गृहीता"। बताया है।

उसका पादप्रक्षालन ही संभव नहीं है। यदि अर्थ करें कि शरीरका पादप्रक्षालन आदि करो। किन्तु उससे आत्माका क्या सम्बन्ध है? सत्यकाम, संत्यसंकल्प यह आत्माके लिये बताया है। बात यह है कि जैसे मंदिर में देवमूर्ति पूज्य है। फल देवस्थित परमेश्वर देता है–'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्' वैसे यहां भी पूजा तो शरीरमें होगी। फल तो साक्षात्कृत। आत्मासे प्राप्त होगा।

सामान्यरूपसे समस्त ब्रह्मवेत्ताके लिये यह बात हो गयी। और वही गुरु हो तो कहना हीं क्या? गुरुको भी देव ही कहते हैं–'गुरुदेव' कहा जाता है। जय गुरुदेव जय गुरुदेव कहकर आरति करते हैं। गुरुके लिये प्रसिद्ध है–

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥'

गुरु क्यों ब्रह्मा विष्णु महेश्वरादि स्वरूप हैं? इसका समाधान गुरुचालीसामें बताया है।

'गुरुचतुरानन पदमज धाता
निज सिष दैक्षशरीरविधाता ॥।
गुरु हरि आसुर भाव निहन्ता
दैवी रच्छक लछमीकन्ता ॥
गुरु शिवशंकर बोध सरूपा
तमहर दुःखहर मंगलरूपा ॥'

ब्रह्मा चतुरानन है। चार मुखवाला है। गुरु भी चतुर आननवाला है। चतुरताके साथ उपदेश देता है और अपने शिष्यको दैक्ष शरीर प्रदानं करता है। इस दैक्ष शरीरसृष्टिकर्ता ब्रह्मा है। हरि असुरनिहन्ता एवं देवरक्षक है। गुरु आसुरीभावनिहन्ता एवं दैवीसंपदरक्षक है। सर्वलक्षण-सम्पन्न होनेसे लक्ष्मीकान्त है अतः विष्णु है। शंकर विशुद्धज्ञानदेह है। गुरु भी तमहर है, दुःख हर है। शंकर शिवकल्याणरूप है, गुरु भी मंगलमयरूप है। इसप्रकार सर्वदिवस्वरूप होनेसे देव है। उस गुरुरूपी देवमें ज्ञान-विषयतया स्थित होनेसे वरसद् हुआ।

मीमांसकोंके मतसे वर-वरणीय देव मन्त्र हैं। "मन्त्रात्मानो देवताः" ऐसा उनका सिद्धान्त है। वेदमन्त्र स्वयं देवरूप हैं। वे वरणीय हैं, स्वीकरणीय हैं। प्राप्तव्य हैं। मन्त्र देवतारूप हैं। इसीलिये मन्त्रजपसे अभीष्टसिद्धि होती है। मीमांसकसिद्धान्तके करीबका अन्य सिद्धान्त माना जाय तो भी कोई हानि नहीं है। मूर्तिसिद्धान्तमें भगवानके दो शरीर हैं। एक रूपात्मक शरीर है। जिसके लिये वर्णन आया—

"फुल्लाम्भोरुहकान्तिकान्तनयनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरं
गोपीनां नयनोत्पलाञ्चिततनुं गो-गोपवृन्दान्वितं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे ॥"

कमलके समान नयन हैं। मोरमुकुटधारी हैं। वक्षस्थलपर श्रीवत्सचिह्न और कौस्तुभमणि शोभायमान हैं। पीताम्बर पहने हुए हैं। चारों ओर गोपिकायें खड़ी होकर ऐसी देख रही हैं कि उनके नयनकमलोंसे कमलका हार पहने हुए हो। चारों ओर गायें और गोपबालक खड़े हैं। मधुर वंशीवादन करते हुए दिव्य आभूषणोंसे भूषित उस गोविन्दभगवानका हम भजन करते हैं। यह श्रीकृष्णका रूपात्मक शरीर है।

"शान्तं पद्मासनस्थं शशिधरमुकुटं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रं
शूलं वज्रं च खड्गं परशुमभयदं दक्षिणाङ्गे वहन्तम् ।
नागं पाशं च घण्टां डमरुकसहितं साङ्कुशं वामभागे
नानालङ्कारदीप्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीशं नमामि ॥"

भगवान् शंकरके पांच मुख एवं प्रत्येक मुखपर तीन-तीन नेत्र हैं। शान्त हैं। पद्मासनपर बैठे हैं। चन्द्रमा मस्तकपर विराजमान है। दस उनके हाथ हैं। उनमें दाहिने हाथोंमें क्रमशः शूल, वज्र, खड्ग, परशु एवं अभयमुद्रा है। बायें हाथोंमें नाग, पाश घंटा, डमरु एवं अंकुश हैं। नाना अलंकारोंसे शोभायमान हैं। स्फटिकमणिके समान गौरवर्ण हैं। ऐसे पार्वतीपति शंकरको मैं प्रणाम करता हूं। यह शंकरका रूपात्मक शरीर है। इसीप्रकार अन्य राम, गणेश, देवी आदिका भी रूपात्मक शरीर है।

दूसरा नामात्मक शरीर है। राम, कृष्ण इत्यादि केवल लब्ज नहीं है। प्रत्येक अक्षरोंमें विलक्षण शक्तियां हैं। उन शक्तियोंके अनुरूप अक्षर-

योजना की गयी है। ऐसे तो ये सभी नाम अनादि हैं। किन्तु इस योजनाको ऋषियोंने प्रातिभज्ञानसे देखकर हमें उपदेश दिया। अक्षर-योजनासे नाम पद बने और पदयोजनासे वाक्यात्मक मन्त्र बने। वेद मन्त्रात्मक है। तन्त्रोंमें मन्त्रोंका वर्णन है। उन मन्त्रोंके प्रतिपाद्य देवताका वही शरीर है। मन्त्र ही शरीर है। इसे नामात्मक शरीर कहते हैं। जैसे रूपात्मक शरीरके दर्शनसे महान् पुण्य होता है वैसे नामात्मक शरीरके श्रवण एवं कीर्तनसे महान् पुण्य होता है।

नामकी महिमा हर जगह गायी है। श्रीमद्भागवतके अन्तिम श्लोकमें कहा है—

"नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखहरणं तं नमामि हरिं परम् ॥"

भगवानका नामसंकीर्तन सर्वपापापहारी है। प्रणाम तो सर्वदुःखहारी है। नामीकी भी अपेक्षा नामकी महिमा अधिक है। ऐसा भक्तोंका कहना है। नामीके बारेमें लोग संशय उठाते हैं। उसमें आस्तिक नास्तिकोंका विवाद है। किन्तु नाम प्रत्यक्षसिद्ध है। नामके अस्तित्व नास्तित्वमें कोई विवाद नहीं है। उसमें शक्ति है कि नहीं इतने अंशमें विवाद हो सकता है। किन्तु नाम यदि समझकर लेते हैं तो उत्तम है ही। बिना समझे लेते हैं तो भी व्यर्थ नहीं जाता।

"हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥"

अग्निको जानकर छुओ चाहे बिना जाने, अग्नि तो अपना काम करेगी ही, वह जलायेगी। वैसे हरिनाम किसी भी प्रकारसे लो वह अपना काम करेगा। अजामिलने मरणसमयमें अपने पुत्रका नाम नारायण लिया तो वह भी उपकारी सिद्ध हुआ।

"दृष्ट्वा संभ्रमकारि वस्तु सहसा ऐ ऐ इति व्याहृतं
येनाकूतवशादपीह वरदे बिन्दुं विनाप्यक्षरम् ।
तस्यापि ध्रुवमेव देवि तरसाकान्ते तवानुग्रहे
वाचः सूक्तिसुधारसद्रवमुचो निर्यान्ति वक्त्राम्बुजात् ॥

सत्यतपाने बाणसे विद्ध सूकरको देखकर ऐ ऐ कहा था। किन्तु वह सारस्वत मन्त्रका एक अंश हुआ। उससेभी उसकी वाणी खुल गयी। प्रत्येक वर्णमें विलक्षण शक्तियां हैं। पूरे वर्णमालासे सरस्वतीका शरीर बताया भी है।

'पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्ततनु दोः पन्मध्यवक्षस्थलां
भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम्।
मुद्रामष्टगुणं सुधाढ्यकलशं विद्यां च हस्ताम्बुजै-
र्बिभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये ॥'

पचास वर्णोंमें ही सरस्वती देवीका शरीर स्थित है। हाथ, पांव, मध्य, मस्तक आदि तत्तद् वर्ण ही हैं। उसी वर्णमयी सरस्वतीके वर्णात्मक मस्तकमें चन्द्रकला है। मुद्रायें हैं, अमृतकलश है। विद्या है। तात्पर्य यही है कि नामात्मक शरीर भी शास्त्रसम्मत है। रूप तो दुर्लभ है। नाम तो जब चाहो ले सकते हैं। इसप्रकार वर अर्थात् वरणीय मन्त्ररूपी शरीरोंमें शरीरीके रूपमें वह रहता है। अतः वरसद् कहा गया।

ऋतसद्। त्वपदार्थनिरूपण तो सरल है। क्योंकि अपने आपको तो गलत या सही ढंगसे सभी जानते हैं। कोई इसे शरीरादिविशिष्ट समझता है। कभी वही मेरा शरीर, मेरा मन इत्यादि बोलते हुए कुछ अंशोंमें सही भी देखता है। किन्तु तत्पदार्थनिरूपण कठिन है। अतः अनेक प्रकारसे उसे समझानेका प्रयास श्रुति कर रही है। हंसः कहते तो सूर्य ही को तत्पदार्थ समझकर बैठते। वसु ही कहते तो वायुदेवताको ही तत्पदार्थ समझते। इसीप्रकार होताआदिमें भी है। अतः नाना प्रकारसे प्रस्तुत कर सर्वानुगत-रूपसे तत्पदार्थको समझा रही है श्रुति। सामानाधिकरण्य होनेसे अभेदान्वय होता ही है।

ऋतसत् का अर्थ है—ऋते सत्ये सीदतीति। जो सत्यमें बैठा है। इसे ठीक तरह जाननेके लिये प्रथम ऋतको समझना होगा। वैसे तो सामान्यरूपसे ऋतशब्द सत्यवाचक है। किन्तु कहीं-कहीं ऋत् और सत्यको अलग करके भी लिखा है। जैसे "ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि" इत्यादि। कोई व्याख्याकार कहते हैं "ऋतं वदिष्यामि" का स्पष्टीकरण है "सत्यं वदिष्यामि"। किन्तु ऐसी बात नहीं है। भागवतमें लिखा है—भगवानके

दो नेत्र हैं ऋत और सत्य। ऋतसत्यनेत्रम्। वहां स्पष्टतया दोनों भिन्न हैं। जैसे दो आंखें भिन्न हैं। वस्तुतः ऋत शब्द तथा सत्यशब्द दोनों ही सामान्यवाचक भी हैं। विशेषवाचक भी हैं। जैसे बाहरसे-यू. पी. से गुजरातसे कोई बोले कि बंबई जा रहा हूं तो पूछेगा बंबईमें कहां? कांदीवली, बोरीवली, चर्चगेट, मलबार हिल्स कुछ भी यथायोग्य कह सकते हैं। किन्तु कांदीवलीमें रहकर कोई बोले कि मैं बंबई जा रहा हूं तो बोरीवली जा रहा हूं यह अर्थ नहीं होगा। उससमय बंबईका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष हो जायेगा। क्योंकि कांदीवली विशेष समीपमें है। वैसे सत्यपद समीपमें हो तो ऋतपदका विशेष अर्थ होगा। पहले समयमें मद्रास जाता हूं कहते तो दक्षिणके सभी विरूपुर पलनी सभी गृहीत होते थे। क्योंकि मद्रास प्रेसिडन्सी थी। किन्तु तिरूपूर उटकमंडमें रहकर बोलते तो मद्रास शहर अर्थ निकलता। प्रकृतमें सत्यपद संनिधान न होनेसे सामान्य अर्थका ग्रहण होगा।

ऋत चार प्रकारका होता है। ऋत माने सत्य। एक लौकिक सत्य है। दूसरा शास्त्रीयसत्य है। तीसरा भूतहितरूपी सत्य है। चौथा पारमार्थिक सत्य है। लौकिक सत्यका अर्थ है यथादृष्ट, यथाज्ञात कहना। जैसा देखा जैसा समझा वैसा कहना। अयथादृष्ट अयथाज्ञात कहना अनृत है। असत्य है। उस सच्चाईमें परमात्माका निवास है। इसलिये कहा—"सत्यमेव जयति नानृतम्"। कैसे? पूरा मन्त्र देखो—

"सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रामन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥"

समुद्रमें जाना हो तो किस मार्गसे जाओ? पानी जिस ओर बहकर जाता है उस ओर। नदी जिस ओर जाय उसी मार्गसे-नदी मार्गसे, जल मार्गसे। न कि अग्नि मार्गसे ऊपर। क्योंकि समुद्र जलभंडार है। नदी भी जल है। जलभंडार पहुंचना हो तो जलमार्ग ही संभव है। देवयानमार्ग सत्यसे पूरित है और सत्यका परमनिधान ब्रह्म है। यहां सत्यसे सत्यवादी अर्थ ही भाष्यमें भी लिया है। सत्यमार्गसे ही परम सत्यकी प्राप्ति होगी। क्योंकि सत्यवचनमें परमात्मा निवास करता है।

ठंढीका समय था। रात हो गयी थी। कड़ाकेकी ठंढी पर पड़ रही थी। इतनेमें वारिष शुरु हो गयी। कपड़े भींग गये। जोरसे हवा चल रही थी। शरीर ठिठुरने लगा। अंगुलियां अकुड़ने लगीं। जंगलका मामला। एक राहगीर वहांसे जा रहा था। चारों ओर शरण देख रहा था। किन्तु जंगलमें पेड़ोंके सिवाय और क्या? टिमटिमाती बत्ती दिखाई पड़ी। उसी ओर वह बढ़ा। वह एक मंदिर था। रातको बारह बजनेवाला था। पासमें जाकर दरवाजा खटखटाया। अंदरसे पूजारीने पूछा—कौन? उत्तर आया मैं एक राहगीर हूं। ठंढी भारी हो रही है। कपड़े भीग गये हैं। रातमें मुझे यहां किसी कोनेमें रहने दिया जाय। तुम कौन हो? हिन्दू, ईसाई, जैन, मुसलमान? साब, मैं हिन्दू मुसलमानको नहीं मानता। फिर भी हिन्दू परिवारमें पैदा होनेसे हिन्दू कहलाता हूं। भाषा ठेढ़ी थी। पुजारीको लगा यह कोई ऊटपटांग आदमी है। तुम ईश्वरको, रामकृष्णको मानते हो? प्रश्न हुआ। उत्तर दिया—मैं राम, कृष्ण, शिव आदि ईश्वरको नहीं मानता हूं। किन्तु यह मंदिर हैं, यहां नास्तिक नहीं रह सकता। साब, मैं ठंढीमें मर जाऊंगा। पुजारीको कुछ दयासी आ रही थी। बोला ईश्वरको मानो तो अंदर आ सकते हो। उसने कहा जी नहीं। मैं अपने मनके विपरीत नहीं मान सकता। कमसे कम बोल दो ईश्वरको मानता हूं। जी नहीं। मनकी विपरीत गवाही मैं नहीं बोल सकता।—तो चले जाओ। पूजारी कठोर हुआ। —साब, मैं मर जाऊंगा। मुझे आश्रय दो।—ईश्वरको न माननेवालोंके लिये मंदिरमें स्थान नहीं। पूजारीने दरवाजा बंद किया। पुजारी बड़ा साधक था। कभी ध्यानमें कभी सपनेमें भगवानका दर्शन करता था। "शान्तं पद्मासनस्थं" का दर्शन करता था। आज भी नींदमें सपनेमें भगवान् आये। किन्तु कालाग्नि रुद्ररूपमें सिंहगर्जना करते हुए देखा। सपनेमें ही वह कहने लगा—प्रभो, आज आप इतने क्यों रुष्ट हैं?—तुमने ठिठुरते हुए राहगीरको अतिथिको जगह क्यों नहीं दी?—वह नास्तिक था। मैंने कहा भगवान् है इतना कहो तो भी हम तुम्हें जगह देंगे।—किन्तु यथा ज्ञातके विपरीत वह झूठ बोलता। वस्तुतः उसने सत्य कहा। उसी सत्यमें मेरा निवास है। मैं ऋतसत हूं। उसकी समझमें गलती है तो धीरे-धीरे गलती सुधारो। वह पेड़के नीचे मरनेवाला है। पूजारीकी नींद खुली और आंख

भी खुली। अतिथि स्वयं देव है। छाता लेकर पेड़के नीचे पहुंचा। राहगीर! चलो मंदिरमें।—मैं ईश्वरको नहीं मानता।—कोई बात नहीं। जैसे तैसे उठाकर उसे मंदिर लाया। फिर नींदमें वही शान्त भगवान् । प्रातः आग सेंककर वह ठीक हो गया। राहगीरने पूछा—मैं नास्तिक था। आपने मुझे स्थान कैसे दिया?—सपनेमें शंकरजीने आदेश दिया। क्या आप सच बोलते है?—हाँ। वह स्वयं परमभक्त हुआ। "सत्येन पन्था विततो देवयानः"। यह लौकिक सत्य है।

दूसरा शास्त्रीय सत्य है। शास्त्रीय सत्य यज्ञादि सत्कर्मोंको कहते हैं। क्यों यह सत्य है? अवश्य ही कृत कर्मोंका फल होगा। अतः सत्य है। शास्त्रीय सत्य इसलिये इसको कहते हैं कि इन कर्मोंका फल शास्त्रमें लिखा है। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" इत्यादि सत्यवचनविषय होनेसे यज्ञादि सत्य हुए।

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।"

कल्पकोटिशत इसलिये कहा कि एक ही समयमें कईयोंको मारा और कई जन्म लेनेके पाप हुए तो मुख्य कर्मको आगे किया जाता है अन्यको संचितमें जमा किया जाता है तो वह दीर्घकालतक रह जाता है। वैसे पुण्य भी है। इसलिये ही अनादि संचित कर्म अनन्त माना जाता है। इन्हीं कर्मोंके आधारपर आगे सृष्टि होती है। ये कर्म नष्ट नहीं होते। प्रलयकालमें भी सूक्ष्मरूपसे रह जाते हैं।

प्रलयमें सभी वस्तु अव्याकृतरूप हो जाती हैं। तो कर्म भी अव्याकृत-रूपसे रह जाते हैं। श्रुतिमें बताया है—

"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत ।"

सूक्ष्ममें और अव्याकृतमें फरक है। इससमय पुण्यपापादि सभी सूक्ष्मरूपसे रहते हैं। क्योंकि पुण्यपापादि स्थूल कभी होते नहीं। संस्कार सूक्ष्मरूपसे रहते हैं। प्रलयमें अव्याकृतरूपसे सभी रहते हैं। प्रलय तक जानेकी जरूरत नहीं। बीजमें अंकुर अव्याकृतरूपसे रहता है। आमका बीज है। उसमें डाली, पत्ते, फूल, फल सभी विद्यमान हैं। यदि विद्यमान न होता, आकस्मिक पैदा होते तो आमके बीजसे कभी पीपलके पत्ते पैदा होने लगते और नीबूके फल पैदा होने लगते। अतः ये सब आमकी गुठलीमें

पहलसे विद्यमान मानने होंगे। किन्तु किस रूपसे? सूक्ष्मरूपसे? यदि सूक्ष्मरूपसे हो तो माईक्रोस्कोपसे दिखाई पड़ते। जैसे हमारे खूनमें लाल, पीले अणु (सेल्स) है, सूक्ष्म हैं। माईक्रोस्कोप कांचसे स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसीप्रकार गुठलीमें पेड़ माईक्रोस्कोपसे दीखेंगे? लाखों पावरके माईक्रोस्कोपसे भी नहीं दीखेंगे। आकाशगंगाके तारोंको देख लेंगे। किन्तु बीजमें अङ्कुर नहीं दिखाई पड़ेगा। तो क्या उसमें अङ्कुर नहीं है? सभी मानते हैं कि निश्चितरूपसे है। किस रूपसे? यही पूर्वोक्त अव्याकृतरूपसे। इसीको अव्याकृत रूप कहते है। प्रलयकालमें समस्त पदार्थ अव्याकृतरूपसे रहते हैं। कहां? अविद्यामें, कारणशरीरमें। हमारा कारणशरीर अविद्या है। परमात्माका कारण शरीर माया, प्रकृति है। सहस्रयुगपर्यन्त प्रकृतिमें रहते हैं। हम तो यावत् सुषुप्ति अविद्यामें रहते हैं।

सृष्टि जब प्रारंभ करनी होती है तो परमात्मा प्रथम ईक्षण करता है। "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" "स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति"। क्या ईक्षणसे ही जगत् पैदा होता है? यदि ऐसा हो तो सृष्टिक्रम न होता। क्रम बताया।

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः । समुद्रा-
दर्णवादधि संवत्सरोऽजायत। अहोरात्राणि
विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ
धाता यथापूर्वमकल्पयद्। दिवं पृथिवी चान्तरिक्षमथो स्वः

परमात्माने प्रथम अभीद्ध तपसे ऋत एवं सत्यको प्रकट किया। "यस्य ज्ञानमयं तपः" के अनुसार प्रबुद्ध संकल्पवृत्ति तप है। "तदैक्षत" में यही ईक्षण शब्दसे कहा। ऋत और सत्य है कर्म तथा वासना। अव्याकृतरूपसे प्रकृतिमें स्थित कर्म और वासनाको उद्बुद्ध किया। अनन्त प्राणि कर्म एवं प्राणिवासना संकल्प क्रमसे जाग्रत होने लगते हैं। उसके बाद तमकी सृष्टि होती है। उस समय सूर्यादि नहीं रहते। अतः अन्धकारात्मक रात्रि बनती है। उसके बाद "आप एव ससर्जादौ" के अनुसार समुद्रोत्पत्ति होती है। उसके बाद संवत्सरात्मक प्रजापतियोंका जन्म होता है। उन्मेष निमेषवाले विश्वके निमित्त अहोरात्र बनाते हुए। निमित्तार्थमें शतृ प्रत्यय। विधाताने सूर्य एवं चन्द्रमाको बनाया जो प्रकाशरूप है, जिनसे अहोरात्र बनते हैं

तथा आकाश पृथिवी आदिको भी बनाया। इस मन्त्रमें ऋत एवं सत्य शब्दसे अभिहित कर्म एवं वासनाको ब्रह्माजीने प्रकट किया ऐसा कहा। तो कहांसे प्रकट किया? कहां थे ये? किस रूपसे थे? अतएव पूर्वकल्पीय कर्म अभीतक रहे। प्रलयमें भी नष्ट नहीं हुए। यह कहना होगा। अतएव यह ऋत है, सत्य है, आवश्यकफलदायी है। इस ऋतको ऋतरूपसे प्रवर्तित करनेवाला कौन?

"फलमत उपपत्तेः"

परमेश्वर ही ऋतसत्-ऋतमें बैठकर उसे प्रवर्तित करता है और पुष्पदंताचार्य कहते हैं-

"क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्धा दृढ़परिकरः कर्मसु जनः ॥"

कर्म तो दो चार दिनमें ही समाप्त हो जाता है, वह कालान्तरमें क्या फल देगा? क्रतु रहेगा अर्थात् पुण्यपापादि सूक्ष्म रहेंगे। परंतु वे भी प्रलयादिमें तथा सुषुप्तिमें सुप्त हो जाते हैं। उसे जागृत करनेवाला स्वयं जागृत परमेश्वर ही फलदाता हैं।

एक प्रश्न होगा। यज्ञादि कर्म ही ऋत क्यों? हिंसादि भी ऋत है। उसका भी फल अवश्यंभावी है। उसमें भी परमेश्वर बैठा है क्या? उत्तर है एक तो वह ऋत नहीं, दूसरा, कथंचित् ऋतोपम मानें तो भी उसमें परमात्माका वास नहीं है। क्या परमात्मा उसमें अधिष्ठित होकर फल नहीं देता? देता है, किन्तु कैसे? घरमें मिठाई है। गरीबोंको खिलाया बड़े प्रेमसे। पैसे जेबमें-हृदयमें चिपकाकर जो रखा है। उसे भी देते हैं सभी प्रेमसे। किन्तु घरमें एक बड़ा चूहा मर गया। घरमें ही पड़ा रहेगा तो दुर्गन्धि फैलेगी। बाहर डाले तो वहां भी गन्दगी होगी। उसे कौए चील को खानेके लिये योग्य स्थानमें डालो। उसके लिये नाक मुंह सब कपड़ेसे बांधा। डाक्टरोंके समान। फिर लंबा नोकवाला डंडा लिया। उसपर उठाकर मैदानमें लेजाकर फेंका। खानेके लिये दिया यह दोनों जगह बराबर। किन्तु देने देनेमें फर्क स्पष्ट है। वैसे ही परमेश्वर यज्ञादिका फल हृदयमें लगाकर

देते हैं। पापका फल देनेसे पहले नाकमुंह बांधकर डंडेपर कोसकर पापियों को फेंक देते हैं। फिर उसी डंडेसे दो चार ठोक भी देते हैं। उस मृत चूहेको हृदयसे क्या लगायेंगे? रूपकका मतलब यह है कि 'ऋते सीदति' का केवल अधिष्ठातृत्वमात्र अर्थ नहीं है। किन्तु नृसत्का जिसप्रकार 'नृषु अभिव्यज्यते' तक अर्थ है वैसे कर्ममें परमात्माकी अभिव्यक्ति होती है। निरन्तर सत्कर्म होनेपर परमेश्वराभिव्यक्ति होगी। पापमें परमेश्वराभिव्यक्ति नहीं होती।

दूसरी बात यह है कि पाप ऋत है भी नहीं। ऋतका अर्थ है नियत फलदायी। पाप नियतफलदायी नहीं है क्या? नहीं। प्रायश्चित्त करनेपर बिना फल दिये ही पाप खतम होगा। वैसे पुण्य भी नष्ट होता है कि नहीं? नहीं। पुण्यके लिये प्रायश्चित्त नहीं होता। 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजेत" "पञ्चसूना गृहस्थस्य पञ्चयज्ञात् प्रणश्यति" इत्यादि प्रायश्चित विधान पापके लिये हैं।

"अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ॥'

यतियोंके लिये प्राणायाम ही प्रायश्चित्त है। "नाम संकीर्तनं यस्य सर्वपाप-प्रणाशनं" लिखा है। सर्वपुण्यप्रणाशन ऐसा नहीं लिखा। इसी आधारपर मीमांसकमतप्रतिक्षेप भाष्यादिमें किया है। मीमांसकोंका कहना था कि नित्यनैमित्तिक कर्मोंसे दुरितक्षय होगा। वर्तमान जन्ममें नया पाप मत करो। इस प्रकार सर्वपापनिवृत्ति होनेपर मोक्ष अपने आप होगा। उसके लिये ज्ञानकी क्या आवश्यकता है? वेदान्तीने कहा—अनादिसंचित पापोंको जो अनन्त हैं, परिच्छिन्न अल्प नित्यनैमित्तिककर्मसे समापन असंभव है। मान भी लिया जाय, फिर भी पुण्यक्षयका क्या उपाय? उसके लिये प्रायश्चित्त नहीं है। पुण्यको कौन समाप्त करना चाहेगा? उससे स्वर्गादि होगा। किन्तु

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः"

के अनुसार उस पुण्यमें भी दोष घुसा होता है। 'ततः शेषेण" के अनुसार जन्मान्तर भी अवश्यंभावी है। अच्छे से अच्छे कर्म करो तो उसमें भी दोष मिलेगा। दान बड़ा अच्छा है। किन्तु घरवालोंको पसंद नहीं। वे दुःखी

होते हैं। दुःखजनक होनेसे उसमें दोष आ गया। सत्संग प्रायः निर्दोष है। किन्तु मां-बाप आदिको बेटा-बेटी सत्संगमें जाय यह पसंद नहीं है। यही अन्य कर्मोंकी भी स्थिति हैं। पुण्यकर्ममें से पापांशको दूर करनेका कोई रास्ता नहीं है। प्रायश्चित्त तो पुण्यके साथ साथ होनेवाला पापके लिये हो सकता है। फिर-

"कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते ।
अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥"

प्रायश्चित्त भी कर्म ही है। उसमें दोष रहेगा। उसके लिये और प्रायश्चित्त करो तो अनवस्थामात्र होगी। असल प्रायश्चित्त तो विमर्शन है। विमर्शनका ज्ञान अर्थ श्रीधरस्वामीने बताया है। भगवानने भी यही बताया है–

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।"

ज्ञानसे ही सही, आखिर बिना फल दिये कर्म नष्ट हो गये कि नहीं? तब ऋत कहां रहा? उत्तर है कि सत्कर्मका फल ही ज्ञान है। ज्ञानरूपी फल उत्पन्न करनेपर सत्कर्मकी समाप्ति है। यही बात भगवानने कही–

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।"

ज्ञाने परिसमाप्यतेका अर्थ 'ज्ञाने पर्यवस्यति'। इस प्रकार विद्यारण्यजीने किया है। सभी कर्म ज्ञानमें ही पूरे हो जाते हैं। सत्कर्म ज्ञानमें समाप्त हो गये-"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा" इस प्रकार पूर्वकृत सत्कर्मोंका संयोगपृथक्त्वन्यायसे ज्ञानमें पर्यवसान हो गया है। तो बचा क्या? उन्हींको ज्ञानाग्नि जला डालेगी। तब अनृत पाप ही निकला। वस्तुतः ज्ञानसे बाध होता है। बाध होनेपर उसका अस्तित्व ही न रहा तो ऋत अनृतका विचार ही नहीं उठता। विना फल दिये कर्म नष्ट हो जाय तब अनृत होगा। ज्ञानोत्तर नाश नहीं बाध होता है।

सत्यका पारिभाषिक अर्थ भागवतमें आया है-सत्यं भूतहितं तु यत्। सत्य वही है जो भूतहित हो। एक महात्मा प्रवचनकार थे। काशी में आकर भंडारा करते थे। विद्यार्थियोंको खूब सहायता देते थे। पुस्तक देते थे, वृत्ति देते थे। जब वे गुजरात जाते थे तो सिल्कके कपड़े पहनकर बन ठनकर जाते थे। मारवाड़ जानेपर तो इतना छुआछूत कि कमण्डल नीचे रखो तो पानी डालकर रखो। एकादशी निराहार। पंजाब जाते तो टेबलपर

खाते थे और जो बना सब खाते थे। मैंने कहा यह पाखण्ड क्यों करते हो? उन्होंने कहा, ज्ञानीको पंजाब, कर्मीको मारवाड़, ढोंगी को गुजरात। जैसा देश वैसा बरताव। इसमें मैं पाखण्ड या धर्म कुछ नहीं मानता हूं। संतविद्यार्थियोंकी सेवा करता हूं यही मेरा धर्म है। एक लंबी कथा आती है। उसका सारांश है-कसाई गायका वध करने जा रहा था। वह गाय कहीं रस्सी तोड़कर भाग गयी। उसको पता चला तो वह पीछे दौड़ा। एक ब्राह्मण सन्ध्या कर रहा था। उससे पूछा मेरी गाय कहां गयी? उनको मालूम था यह कसाई है। सत्यभीरु होकर उसने हाथसे इशारा किया इधरसे गयी। जंगलमें उसने गायको पकड़ा। फिर जो हुआ सो हुआ। उसका परिणाम द्वितीय जन्म सामने आया। यहां भूतहितपर उस ब्राह्मणने विचार नहीं किया। फलतः सत्य भी असत्य बराबर हो गया। इसीसे जन्मान्तरमें उसे कई क्लेश उठाने पड़े।

सत्यका चौथा अर्थ है-परमार्थ सत्य। परमार्थ सत्यसे क्या लेना? परमार्थ सत्याभिव्यञ्जक यथार्थ वचन और तत्प्रयुक्त वृत्ति॥ परमार्थाभिव्यञ्जक वचन है–

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "तत्त्वमसि" आदि ।

यही वास्तविक सत्य है, बाकी सब एक दृष्टिसे अनृत ही है। ब्रह्मभिन्न समस्तप्रपञ्च अनृत है अतः तद्वाचक शब्द एवं उससे होनेवाली ज्ञानवृत्ति ये सभी अनृत ही हैं। 'सत्यं ज्ञानं' इत्यादि यथार्थ वाणी है। तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे होनेवाली अखण्डाकार वृत्ति यथार्थज्ञान है। उस यथार्थवाणीमें और उस यथार्थज्ञानमें विषयतया जो स्थित है वही ऋतसत् है। यथार्थ अर्थको बतलानेवाली वाणी यथार्थ ऋत है। यथार्थ की प्रकाशक ज्ञानवृत्ति यथार्थ है। इन दोनोंमें विषयतया ब्रह्म रहता है। अतएव इसका आवर्तन करना चाहिये। श्रवणावर्तन करो और ज्ञानावर्तन करो। ज्ञानावर्तन ही निदिध्यासन कहलाता है

ऋतं च सूनृता वाणी विद्वद्भिः परिकीर्तिता" इस भागवतव्याख्यानुसार भी तत्त्वमस्यादि वाणी एवं तत्प्रयुक्त अखण्डाकारवृत्ति ऋतपदार्थ होगी।

व्योमसत्। परमात्माको समझानेके लिये श्रुति अनेक प्रकारके विशेषण जोड़ रही है। कोई कहता है-वैकुण्ठवासी ही नारायण-परमात्मा है। तप

करनेपर पासमें आते हैं, जैसे ध्रुवके पासमें आये। दूसरा कहता है कैलासवासी शंकर ही परमात्मा हैं। रुद्राभिषेक करो, जपतप करो तो प्रकट होते हैं। इस प्रकार की भावनाओंसे और परम्पराओंसे तत्पदका लक्ष्यार्थ तो क्या, वाच्यार्थ भी जनसामान्यमें विपरीतग्रहविषय हो गया है। अतः समानाधिकरण पदोंसे एकता दिखाती हुई श्रुति अनेक विशेषणोंसे समझा रही है। चार सविशेषण परमात्मसदन बताये। ये चार निर्विशेषण सदन बता रहे थे। उनमें चौथा है-'व्योमसत्'। व्योम्नि सीदतीति व्योमसद्।

व्योमके तीन अर्थ हैं, भूताकाश, दहराकाश और चिदाकाश। इनमें भूताकाशमें स्थिति दो प्रकारकी है। व्याप्यरूपसे तथा व्यापकरूपसे। केनोपनिषत् में देवताओमें जब अभिमान आया कि हम महिमान्वित हैं तो उस प्रसंगको लेकर बताया है-"तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव" देवताओंमें आसुरभावात्मक अभिमानका उदय न हो एतदर्थ ब्रह्म यक्षरूपमें प्रकट हुआ। इसका वर्णन पञ्चाक्षरस्तोत्रमें है-

"यक्षस्वरूपाय जटाधराय पिनाकहस्ताय सनातनाय।
दिव्याय देवाय दिगम्बराय तस्मै वकाराय नमः शिवाय॥"

शिवको ब्रह्मरूपमें वर्णन किया है। वही यक्ष बनकर आये। क्योंकि आगे "उमां हैमवती" इत्यादि प्रसङ्ग शिवार्थ में संगत होता है। उस समय यक्षरूपसे ब्रह्म प्रकट हुए तो कहां प्रकट हुए जमीनमें या स्वर्गमें या ब्रह्मलोकादि अन्यत्र कहीं? उत्तर है आकाशमें। यह कैसे मालूम पड़ा? आगे प्रसङ्ग है—

"स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना-
मुमाँ हैमवतीं ताँ-होवाच किमेतद्यक्षमिति॥"

तद्यक्षं यस्मिन्नाकाशे तिरोभूतं तस्मिन्नेवाकाशे। ब्रह्म जिस आकाश प्रदेशमें अपनेको दिखाकर तिरोभूत हुए वहीं उमाको देखा। वह यक्ष कैसा था? जटाधराय जटाधारी था। पिनाकहस्त था, सनातन था। दिव्य था। उसका प्रकाश चारों ओर दूर-दूर तक फैला हुआ था। वह देव दिगम्बररूप था। इन विशेषणोंके साथ ब्रह्मोपासना करो, तत्पदार्थ को पहचानो इस आशयसे अन्तमें कहा-नमः शिवाय। इन्द्रने वैसा ही ध्यान किया, तप किया तो ब्रह्मविद्यारूपी उमा प्रकट हुई। उसके उपदेशसे-'ततो हैव

विदांचकार ब्रह्मेति" ब्रह्मबोध हुआ। उसी प्रकार यहां पर भी ब्रह्म बोधनार्थ श्रुति व्योमसत्के रूपमें वर्णन कर रही है। तत्पदार्थको यक्षरूपसे आकाशस्थित समझकर उमोपदेशसे भागत्यागसे परमार्थस्वरूप समझें।

यह व्यांप्यरूपेण व्योमसदनवर्णन है। दूसरा व्यापकरूपेण व्योमसदन समझना है। राजा जनककी बड़ी सभा लगी थी। बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान् उपस्थित थे। इनमें कौन सर्वाधिक ब्रह्मदेवता यह जाननेकी इच्छा जनकको हुई। सीधी परीक्षा करना तो अनुचित था ही। स्वयं कुछ निर्णय देना भी अनुचित था तो उन्होंने रास्ता निकाला। राजा जनकने कहा— हमने हजार गायोंको जो सुवर्ण जटित श्रृंग वाली हैं और रजतजटित खुरवाली है उनके दानार्थ निश्चिय किया है। सो आप लोगोंमें जो ब्रह्मवित्तम हो वो इन्हें ले जा सकते हैं। महर्षि लोग एक दूसरेका चेहरा देखने लगे। कौन यह दावा करे कि मैं ब्रह्मवित्तम हूं। तब याज्ञवल्क्यने अपने शिष्योंको कहा—ले चलो इन गायोंको। ज्योंहि शिष्य लोग गायोंको हांकने लगे ऋषियोंने कहा ठहरो, क्या तुम ब्रह्मवित्तम हो? तो सिद्ध करो। याज्ञवल्क्यजीने कहा कि मैं तो ब्रह्मवित्तमोंको क्या, ब्रह्मवेत्ताओंको भी प्रणाम करता हूं। हमारे यहां विद्यार्थी रहते हैं। गायोंकी जरूरत है। आप लोग ले नहीं जा रहे थे तो मैंने कहा सदुपयोग करना चाहिये और शिष्योंको आदेश दिया। ऋषि—लेकिन शर्तके अनुसार अपनेको ब्रह्मवित् सिद्ध करना होगा। या-कीजिये परीक्षा। प्रसंगमें अनेक ऋषियोंने याज्ञ-वल्क्यसे प्रश्न पूछा। सबका उत्तर याज्ञवल्क्यने दिया जिनमें एक वाचक्न-वी गार्गी भी थी। इस बीचमें एक प्रश्न उठता है कि याज्ञवल्क्यको कैसे मालूम पड़ा मैं ब्रह्मवित्तम हूं। दूसरे नहीं हैं। कारण यह है कि ब्रह्मवित्तम होते तो संशय न होता, एक दूसरे का चेहरा न देखता। याज्ञवल्क्यने ताड़ लिया कि ये सभी किंचित्संशयग्रस्त हैं। ब्रह्मवित्तमता क्या है? ब्रह्म तो एक ही है। अधिक स्थलमें अल्पज्ञता और वित्तमता हो सकती है। एक विषयस्थलमें असन्दिग्धाविपर्यस्त विज्ञता ही विज्ञतमता है। अस्तु, गार्गीने ऋषियोंको कहा मैं दो प्रश्न इससे (याज्ञवल्क्यसे) करती हूं। यदि इनका जवाब ये देते हैं तो आप लोग आगे बढ़नेकी कोशिश न करो। इतना कहकर एक प्रश्न यह किया—

"यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो, यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी ।
इमे यद्भूतं च भवच्चं भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥"

स्वर्गसे ऊपर, पृथिवीसे नीचे, स्वर्ग तथा पृथिवीसे मध्यमें जो है। भूत, वर्तमान, भविष्य जो हैं वे सब कहां ओतप्रोत हैं? त्रिदेश तथा त्रिकालमें स्थित सर्ववस्तु कहां ओतप्रोत है? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्यने **"आकाशे तदोतं च प्रोतं च"** कहा "यदूर्ध्वं गार्गि दिव" इत्यादि पूरा अनुवाद कर यह कहा। इस पर गार्गीने पूछा–

"कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति"

वह आकाश कहां ओतप्रोत है? इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने एक लंबा उत्तर दिया।

"स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि.........अस्थूले ।

इत्यादि श्रुति है। अन्तमें कहा–

"एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।"

इस पर व्यासजीने सूत्र लिखा–"अक्षरमम्बरान्तधृतेः"। यहां अक्षरपदका वर्णमाला अक्षर अर्थ नहीं "अक्षरात् परतः पर" वाला। अव्यक्तरूप अक्षर अर्थ नहीं· किन्तु अम्बरपर्यन्त धारण करनेवाला होनेसे ब्रह्म अर्थ है। कैसे ब्रह्म अर्थ निकलता है? "अशूङ् व्याप्तौ" इस धातुपाठको लेकर अश्नुते व्याप्नोति सर्वं इस, विग्रहमें अक्षरशब्दार्थ ब्रह्म होगा। न क्षरम् अक्षरं यह तो अव्यक्तादिमें भी संभव है। किन्तु निरतिशय व्याप्ति ब्रह्ममें संभव है। आकाशमें प्रकृतिमें सर्वत्र व्याप्ति हो तभी तो निरतिशय व्याप्ति मानी जा सकती है। अन्यथा एकदेश व्याप्ति होगी। कैसी वह व्याप्ति है? व्याप्ति किसको कहते हैं? व्यापक कौन होता है? जैसे पानीमें निमक पड़ा तो पूरे पानीमें वह व्याप्त हो गया। नहीं। माईक्रोस्कोप लगाकर देखेंगे तो पायेंगे पानीकण अलग है। नमककण अलग है। पानी कणको नमक कण घेरे हुए नहीं है। व्यापनेका अर्थ है पूरी तरहसे घेरना। एक उदाहरण मिलेगा। वह क्या? कुण्डलमें सुवर्ण व्याप्त है। सुवर्ण व्यापक है। कुण्डलमें कोई भी भाग ऐसा नहीं मिलेगा जिसको सुवर्णने न घेरा हो। दूसरा उदाहरण है- मरुतोयमें मरीचिका व्याप्त है। जितनी दूर तक तोय दीखेगा सर्वत्र सौर-रश्मि पायेंगे। रश्मिमें तोय ओत एवं प्रोत है। कुण्डल सोनेमें ओत है प्रोत

है। इसी प्रकार आकाशमें व्यापकरूपसे अक्षर स्थित है। इस प्रकार व्योमनि व्यापकतया सीदतीति 'व्योमसद्' यह अर्थ आयेगा। नृषत् से पराग् भावका प्रतिक्षेप है। वरसद् से असमर्थताका प्रतिक्षेप है। ऋतसत् से असत्यताका प्रतिक्षेप है। व्योमसत् से परिच्छिन्नताका प्रतिक्षेप है। आकाश ही हमारी दृष्टिसे अपरिच्छिन्न है तो उसका भी व्यापक परिच्छिन्न क्यों होने लगा? फलतः वैकुण्ठादिदेशपरिच्छिन्नत्वकी नितरां व्यावृत्ति है।

आकाशका दूसरा अर्थ है-दहराकाश। छान्दोग्यमें बताया है--

"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्त-राकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।"

एक ब्रह्मपुर है। जैसे सीतापुर, लक्ष्मणपुर, जयपुर वैसे एक ब्रह्मपुर है। जयसिंहने जिसे बसाया, जहां स्वयं रहा वह जयपुर है। लक्ष्मण ने बसाया और रहा वह लक्ष्मणपुर इत्यादि, श्रेष्ठने जिसे बसाया और जहां स्वयं रहा वह ब्रह्मपुर हैं। वह नगरी कहाँ है? कौन है? भरतपुर, जयपुर आदिके लिये गाड़ी जाती है। यह ब्रह्मपुर कहां है? वहां जानेका टिकट कितना लगता है? जयपुर के आसपासमें है क्या? नहीं। ब्रह्मपुर पहले कह चुके हैं-पुरमेकादशद्वारम्"। यह मानवशरीर ही ब्रह्मपुर है। "अस्मिन् ब्रह्मपुरे" यह प्रत्यक्ष निर्देश है। नगरमें कोई रहता है तो सड़क पर नहीं। मकान होगा। मकानमें रेहगा। ब्रह्म किस मकानमें रहता है? "दहरं पुण्डरीकं वेश्म" हृदय-कमल ही घर है। डाकोरमें एक मंदिर कमलाकार बनाया है। अंधेरी में सांईबाबाका मंदिर भी वैसा है। वैसे अंदर हृदयकमल नामका घर है। उसको दहरपुण्डरीक भी कहते हैं। उसके अंदर खुली जगह है क्या? यह तो हृदय ही सिकुड़ा हुआ है। कैसे उसमें रहेंगे? सुनो। सिकुड़ा नहीं है। "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः"। उस कमलके अंदर दहराकाश है। उसके अंदर जो है उसका पता लगाओ। उसको देखनेकी चेष्ट करो। वही व्योमसत् है।

इतनी गहराईतक खोदनेकी क्या जरूरत है? ब्रह्म बाहर नहीं है क्या? पृथिवी जलादि, घटपटादिमें ब्रह्म नहीं है क्या? नदी सामने बह रही है, इधर कुंआ खोद रहे हो। सही बात है। किन्तु अन्यत्र ब्रह्म आवृत है। दहराकाशमें अनावृत है। किससे आवृत है? पृथिवीमें नामरूपसे आवृत है।

जलमें जलनामरूपसे आवृत है। तेज आदिमें तेज आदि नामरूपसे आवृत है। पृथिवीको देखते ही यह पृथिवी है। सपाट है ये नामरूप सामने आते हैं। ब्रह्म है ऐसा कोई नहीं देखता। घट सामने आया तो घट नाम और कम्बुग्रीवादिरूप देखने लगता है। ये नामरूप ब्रह्मके आच्छादक हैं। जैसे रज्जुको सर्प समझा तो वह सर्प ही रज्जुका आच्छादक है। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं तत्त्वं पूषन्नापावृणु:' सूर्यमण्डलमें जो नामरूप है जो हिरण्मय है उससे सत्यका मुख ढका हुआ है। 'व्यूह रश्मीन् समूह तेजः' नामरूपात्मक रश्मि एवं तेजको समेटो तो मैं देखूं।

बोले कि पृथिवी जलादिमें आच्छादक नामरूप है। आकाश तो खुला है। वहां ब्रह्मका आच्छादक कौन है? सिर्फ नामसे आच्छादन संभव नहीं दीखता। है वहां पर भी आच्छादक। यद्यपि आकाशमें वास्तविक रूप नहीं है किन्तु कल्पित रूप है। जहांतक दृष्टि जाती है वहां तक सौरतेजका रूप है जो आसमानमें कल्पित होता है। आसमान सफ़ेद है, लाल है, इत्यादि बोलते हुए लोग दिखाई पड़ते हैं। उससे ऊपर नीलरंग कल्पित है। तंबू सामियानाका आकार भी रूप है। वह भी वहां कल्पित है। उस कल्पित नामरूपसे आकाशमें भी ब्रह्म आच्छादित है।

प्रश्न हुआ इस प्रकार बाह्य पृथिवी आदिमें ब्रह्म आच्छादित हो किन्तु फिर भी इस हृदय की गहराई तक जानेकी क्या जरूरत है? शरीरके अंदर ही ब्रह्मका दर्शन कर लें। कहां गुफामें पहुंचनेकी बात कर रहे हैं-'निहितं गुहायाम्'। उत्तर है-श्रोत्रके अंदर शब्दसंवेदना होती है है वह शब्द ही नामरूप है। आंखमें रूपसंवेदना, रसनामें रससंवेदना, नाकमें गन्धसंवेदना। ये शब्दादि सभी नामरूप हैं। स्पर्शसंवेदना पूरे शरीरमें है। भीतर भी दर्द होता है। डाक्टरलोग पेट, पीठ आदि सब दबा दबाकर पूछते हैं यहां दर्द है क्या-यहां दर्द है क्या? भगवानने दर्द न बनाया होता तो भीतर सड़नेपर भी पता न लगता और आदमी मर जाता। इस प्रकार पूरा शरीर नामरूपसंवेदनायुक्त होनेसे सर्वत्र ब्रह्म आच्छादित है। एक ही स्थल नामरूपाच्छादित नहीं है। वह कौन स्थान? हार्दाकाश। वहीं जीवात्मा परमात्मा दोनों विराजमान हैं। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'। हार्दाकाश-विशिष्ट होनेपर जीवात्मा है और विशेषणरहित परमात्मा है। निर्व्यवधान

है। उसके चारों ओर नामरूप जरूर है। किन्तु पड़दे के अंदर रहनेवालोंको अपने लिये पड़दा अनावरण होता है। बाहर देखते समय चार आवरण आ जाते हैं। अपने ऊपरके दो नामरूप आवरण एवं वस्त्वन्तरके नामरूप आवरण। पुस्तक है। मैं हूं ऐसा बोलते हैं। तो अपने ऊपरके अहंकारादि नामरूपावरण दो हैं। उनको पार कर बाहर आते हैं तो पुस्तकके नामरूपात्मक दो आवरण पार करने होंगे। तब पुस्तकगत अस्तित्वादिका अपरिच्छिन्न रूप दर्शन हो सकता है। अतः निर्व्यधान होकर हार्दाकाशमें दर्शन करो एतदर्थ व्योमसत् कहा।

बाहर मंदिर में दर्शन करने के बाद उस को भी अंदर लायें तो ही दर्शन वास्तविक होगा। मंदिरमें स्थित भगवानको हम अंदर लाते हैं। कैसे? आंखबन्द करके। केवल आंख बन्द करनेसे नहीं। समस्त इन्द्रियों को बंद करनेसे। अंदर हृदय में पहुंचने पर वह निर्व्यवधान होगा। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया इस रीति दोनों उस हृदयकाशमें स्थित होते हैं। तब भेद आभास मात्र हो जायेगा। कि चित उपाधिको लेकर द्रष्टा-दृश्य, पूज्य-पूजकभावादि होते हैं। जैसे गोवर्धनोद्धारणमें "भक्तानामिवभावकन्द-कलन हैयङ्वीनोच्चयं भुञ्जानोऽपि भोजयन्नपि निजं द्रष्टापि दृश्योऽपिच" इत्यादि बताया।

हृदयाकाशमें जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों विद्यमान हैं। क्या वे दो हैं? नहीं एक ही हैं। अनादिकालसे ही अविद्या लगी है। उस अविद्याने अनिर्वचनीय स्ववैशिष्ट्य हृदयावच्छिन्न आकाशमें लगा दिया। अत एव हृदभागविशिष्ट चैतन्य जीव कहलाने लगा। वही चैतन्य अविशिष्ट होकर भी वहां पर है। केवल अनिर्वचमीय भेद दोनोंमें है। जैसे घटाकाश और महाकाश है। महाकाश घड़ेमें नहीं है क्या? है। घटाकाश सर्वत्र है क्या? नहीं है। तब कुछ भेद-सा लग रहा है। किन्तु वस्तुतः भेद है क्या? नहीं है। वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा है। जीवात्मा अपने वास्तविक व्यापक स्वरूपको महावाक्य द्वारा समझ लेता है तो अविद्यासम्बन्धको छोड़कर स्वयमेव व्यापकभावमें आ जाता है। तदर्थ व्योमसद् के रूपमें आत्माके श्रवणादि आवश्यक है।

तीसरा आकाश चिदाकाश है। चित्-चैतन्यको कहते हैं। चैतन्यरूप आकाश ही चिदाकांश है। एक श्रुति आती है–

अस्य लोकस्य का गतिरिति। आकाश इति होवाच
सर्वाणि ह वा भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते ।
आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति। आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् ।
आकाशः परायणम् ।

इस लोककी क्या गति है? क्या परायण है? जैसे "भूमौ निपतितानां भूमिरेव परायणम्" भूमिमें आदमी चलता है, गिरता है तो भी भूमिमें ही गिरेगा। वैसे समस्त लोकोंका परायण आकाश है। सभी भूत आकाशमें उत्पन्न हुए। आकाशमें ही लीन होंगे। आकाश ही सबसे बड़ा है। आकाश ही परायण है। किन्तु आकाशका क्या अर्थ है? कुछ लोगोंने कहा-यह जो आकाश है वही। क्योंकि "आकाशाद्वायु:" इत्यादि क्रमसे आकाशसे वायु आदि उत्पन्न होते हैं। आकाशमें लीन होते हैं। तब व्यासजी बोले-नहीं। आकाशका ब्रह्म अर्थ है–

"आकाशस्तल्लिङ्गात्"

क्योंकि "सर्वाणि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते" ऐसा बताया। तो आकाश भी पांच भूतों में एक है। वह अपने आप से पैदा हुआ नहीं। फिर इतनी बात को लेकर कि आकाशसे-भूताकाशसे ये सब प्रकट हुए इतना न जानने मात्रसे सिर क्यों गिरने लगता? तात्पर्य यह है कि ब्रह्मको भी आकाश कहते हैं। आ समन्तात् काशते प्रकाशते। अतएव शंकरको "चिम्बरनटं हृदि भजे" बताया। चिदम्बरका अर्थ है चिदाकाश। उस चिदाकाशमें रहनेवालेको भी "व्योमसद्" कहते हैं। वह ब्रह्म कहां रहता है? जगतमें। और जगत् कहां? ब्रह्ममें। यह अन्योन्याश्रय हो जायेगा। लोटेमें दूध और दूध में लोटा ये दोनों बात किस प्रकार? घोड़ेपर आदमी और आदमीपर घोड़ा यह कैसी बात है? यह तो घृताधारं पात्रं पात्राधारं घृतं वाली बात होगी। नहीं। कुंए में बाल्टी डाली तो पानीमें बाल्टी है तो बाल्टीमें पानी भी तो है। गीतामें–

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।"

बताया ही है। आकाशमें घट है। घटाकाश तो घटमें है। परंतु यह सब एक कहने की शैली है। वस्तुतः पानी लोटेमें बाल्टी में हो, किन्तु कुंएमें पानीका आधार बाल्टी नहीं है। आकाश का आधार घट नहीं है। कुंए में जलका आधार कुँआ है। जगत् का आधार ब्रह्म है। ब्रह्मका आधार क्या? ब्रह्मका आधार कोई नहीं है। छान्दोग्यमें भूमाके प्रकरणमें बताया है।

"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा.

अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं

यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्

स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥"

भूमा वह है जहां द्वितीय कोई नहीं, द्वितीय न दीखता, न सुनायी देता और न जाना जाता। जहां द्वितीय हो-दिखाई पड़ता हो वह अल्प है, परिच्छिन्न है। भूमा अमृत है। वह भूमा कहां प्रतिष्ठित है? स्थित है? अपनी महिमामें, अपने आपमें। क्योंकि द्वितीय नहीं है। या ऐसा कहो कि वह अपनी महिमामें भी नहीं है। आधाराधेयभाव नहीं है। स्वतः-सिद्धसत्ताक है। स्वे महिम्नि इस अंशको लेकर व्योमसत् कहा। क्योंकि साधनवस्थामें उसी प्रकार समझनेमें सरलता है।

'नृषत्' से सामान्यतः मनुष्य जन्मसाफल्यार्थ मनुष्यमें अभिव्यक्त होता है यह बात बतायी। 'वरसत्' से श्रेष्ठ जीव, गुरु आदिमें या देवोंमें अभिव्यक्त होनेवाला बताया। ऋतसत् से श्रेष्ठोंमें श्रेष्ठता जिस बातको लेकर है उस वराणां वर ऋत में अभिव्यक्ति होनेवाला बताया और 'व्योमसत्' से सर्वश्रेष्ठ व्यापक तत्त्वमें रहनेवाला बताया।

अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा। तत्पदार्थ निरूपण बड़ी सावधानीके साथ करना आवश्यक है। सूर्यमण्डलस्थ पुरुष एवं अक्षि पुरुषको लेकर कहा-सोऽहमस्मि। परंतु किस प्रकार सोऽहम्? सूर्य करोड़ों माईल दूर और हम यहां। भागत्यागसे भी एकता किस प्रकार होगी? लोग तर्क से यहां तक पहुंच जा सकते हैं कि सूर्यकी कुछ शक्ति आंखमें आ गयी। वैकुण्ठ-केलासादिस्थ परमेश्वर के साथ एकता किस प्रकार? अभी तो वहां से कुछ शक्ति के आनेका भी अंदाजा नहीं है। अगर शक्ति आ गयी तो उसे लोग अवतार ही मान लेते हैं। अवतारका अर्थ है जहां शक्ति उतर आयी

है। इन भ्रान्तियोंको निकालनेके लिये यहां तत्पदार्थका विस्तृत निरूपण नाना प्रकारसे किया जा रहा है। तदर्थ प्रथम सूर्य, वायु, अग्नि आदिमें स्थितरूपसे वर्णन किया। फिर मनुष्य,देव आदिमें स्थितरूपसे वर्णन किया। और अब प्राणीमात्र में स्थितरूपसे निरूपण किया जा रहा है।

अब्जा-पानीमें उत्पन्न होनेवाले मत्स्य कच्छप आदि। अप्सु जायन्त इति। गोजा-पृथिवीमें उत्पन्न होने वाले वृक्षलता आदि। गो पृथिवी को भी कहते हैं। ऋतजा यज्ञादि ऋतकर्मसे उत्पन्न होनेवाले सप्तान्नरूपसे जायमान मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि। अद्रिजाः-पर्वतोंसे नदी आदिरूपमें पैदा होने-वाले या "अद्रयो द्रुम शैलार्काः" के अनुसार झाड़-झंकार आदिसे पैदा होनेवाले दंशमशकादि। ये सभी परमात्माके ही स्वरूप हैं। जीवात्मरूपसे जो भी दिखाई पड़ते हैं ये सभी परमेश्वर ही हैं। यजुर्वेदीय मन्त्र है—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥"

माता जब गर्भवती होती है तो उसी समय प्रजापति अन्तर्गर्भे चरति। गर्भके अन्दर आता है। प्रजाका अर्थ जनता इतना ही नहीं, उत्पन्न होनेवाले सभी यह भी अर्थ नहीं। किन्तु प्रकर्षेण जायन्त इति प्रजाः। उत्कर्षपूर्ण जन्मवाले। घटपटादि उत्कर्षपूर्ण नहीं है। प्रकृष्ट जन्म शरीर-धारियोंका ही होता है। घटपटादि तो सामान्य लोग भी बना सकते हैं। शरीर नहीं बना सकते। वैज्ञानिक चन्द्रलोक, मंगललोक आदि पहुंच गये। भारी आश्चर्यकी बात है। किन्तु अभीतक एक कीड़ेको भी नहीं बना सके। करोडों डोलर खर्च कर चुके, किन्तु एक कीड़ा नहीं बनाया जा सका। एकबार अखबारमें बाँचा था कि जर्मनीमें (?) किसी वैज्ञानिकने एक कीड़ा बनाया था। दस कदम वह चला फिर मरा। परंतु यह विश्वसनीय नहीं है। ऐसा होता तो आजतक पता नहीं कितनी प्रगति उसमें हुई होती। कीड़े बनानेकी बात तो दूर, उसमें तो जान होती है, मनुष्य के शरीरमें खून कम हो जाय तो खून चढ़ाना पड़ता है। क्या आजतक वैज्ञानिक खून पैदा कर सके? हाथ-पाँव बना सके? हृदय का वाल्व प्लास्टीकका बनाने लगे। किन्तु मौलिक (ऑरिजिनल) बना सके? क्या अंधेकी आँख बना सके? भले मरे हुए आदमीकी आंख लगा लेते हैं। तरक्की जरूर हुई किन्तु

परमात्माकी सृष्टि के आश्चर्यके साथ कुछ हुआ? वारिशमें करोड़ों कीड़े मकोड़े पैदा होते हैं, सबकी आंखें बनती हैं। मानो कि कलम हाथमें लेकर कोई टच (स्पर्श) करता गया। और करोड़ों आंखें बनीं। आंखें भी बड़ी बात है। साधारण नाखून केशादि भी नहीं बना सके हैं। आदमी के केशोंको खरीदकर लगाना पड़ता है अगर लंबे केश चाहते हैं तो। तात्पर्य यही कि घटपटादि क्या विमान, राकेट आदि सभी स्थूल निर्माण मात्र है। संवेदनापर्यन्त निर्माण प्रकर्ष सृष्टि है। उसीको अन्नमय कोश कहते हैं। फिर उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम निर्माण है जो प्राणमय, मनोमय आदि है। इन कोशों एवं शरीरोंसे युक्त सृष्टि ही प्रजा है। उस प्रजाका पति– निर्माणकर्ता रक्षणकर्ता प्रजापति है। जीवनिर्माण स्वरूपतः नहीं होता। अतः जीव निर्माणार्थ प्रजापतिको स्वयमेव गर्भके अंदर आना पड़ा। वह ज्ञानस्वरूप है। चितिस्वरूप है। चिति उत्पाद्य नहीं है। उसकी उत्पत्ति या तो आभासरूपसे या प्रतिबिम्बरूपसे ही संभव है। वह बिम्बसांनिध्यमें ही उपाधिवशात् संभव है। यही बात आगे बतायी-"अजायमानो बहुध विजायते"। वह प्रजापति या चिति स्वयं अजायमान है। जनमनेवाला नहीं है। फिर भी "उपाधिवशात् बहुधा" बहु प्रकारसे विविधं जायते। कीट, पशु, पक्षी, मानव, दानव, देवादि रूपसे जनमता है। कैसे जनमता है? इसका क्रम छान्दोग्यमें बताया है। वहांपर "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय तत्तेजोऽ- सृजत" इत्यादि भूतत्रयसृष्टि बताकर बताया–

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रिण्येव बीजानि
भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ।

भूतत्रयसृष्टि के बाद भूतत्रयसे बीजसृष्टिकी। तीन बीज हुए। अण्डज, जीवज एवं उद्भिज्ज। कार्योक्तिसे कारण को समझना चाहिये। अण्डज पक्षी, पन्नग आदि हैं। जीवज जरायुज को कहते हैं मनुष्य, पक्षी आदि। उद्भिज्ज वृक्ष, लता आदि को कहते हैं। ये कार्य हैं। कार्यजनक बीजको स्वयं समझ लेना चाहिये। वह बीज क्या है? प्रथम योनिको समझो फिर बीजको। "तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः" धीर पुरुष प्रथम इनकी योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थानको देखते हैं। धीरका धैर्ययुक्त पुरुष इतना ही अर्थ नहीं है। धियं बुद्धिं रान्ति ददतीति धीराः। जो बुद्धि प्रदान करनेवाले

विद्वान् हैं वे धीर हैं। बुद्धिप्रदानार्थ बुद्धि कैसे आयी? धियमीरयन्तीति धीराः। बुद्धिको ईरित-प्रेरित करनेवाला धीर है। "धियो प्रचोदयात्" इत्यादि प्रार्थना के द्वारा एवं श्रवणादिके द्वारा बुद्धिको प्रेरित किया जाता है। वे धीर मूल कारणाश्रय देखते हैं। क्या है वह? और उसमें बीज क्या है?

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

मनुष्ययोनि, पशुयोनि प्रसिद्ध हैं। किन्तु मूलयोनि महद् ब्रह्म है। महद्-ब्रह्मका अर्थ कुछ लोग महत्तत्त्व-बुद्धितत्त्व मानते हैं। भाष्य में प्रकृति अर्थ बताया है। वस्ततुः दोनों ही अर्थ है। प्रकृतिरूपी योनिमें बीज है-हिरण्यगर्भ-जन्मदाता आभास। और बुद्धिरूपी योनिमें बीज है जीवजन्मदाता आभास। बुद्धिकी जगह उसका मूल अविद्याको कुछ विद्वान् मानते हैं। यही "सर्वयोनिषु कौन्तेय" इत्यादिका अर्थ है। और भी आगे अण्डादिजनन-प्रयोजकशक्तिविशेष। नानारूपसे अविद्यासे या प्रकृतिसे विभक्त हो गयी। उन बीजशक्तियोंमें परमात्माका आभास बीजरूपसे आ गया। या बीजप्रजननसंपादकतया आ गया इतने को लेकर बीजप्रदत्व है। लोकमें भी मातृ उदर में तत्तन्मनुष्यादिजन्मप्रयोजकशक्तिविशेषरूप योनि है। जब पितृबीजसंयोग होता है तब प्राणिजन्म होता है। प्रथम इस प्रकार योनिबीज होनेके बाद प्राणिजन्म हुआ तो फिर उन प्राणियोंसे ही आगे योनिबीजपरम्परा चली। हाँ, बीजरूपसे परमात्माका आभास तो सर्वत्र समान है। अतः "प्रजापतिश्चरति गर्भे" यह विशेषरूपसे कहा। साधारण पितृबीजमें ज्ञानक्रियाशक्त्याधान सामर्थ्यमात्र है। ज्ञानक्रियाशक्ति तो परमात्माकी ही होती है। परममूलयोनि प्रकृतिमें समस्त भुवन रहते हैं। "तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा"।

इसी रहस्य को अन्य मन्त्रों ने भी बताया है। यजुर्वेद का यह मन्त्र गणपतिपूजन में विनियुक्त करते हैं—

"गणानां त्वा गणपतिँ-हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिँ हवामहे
निधीनां त्वा निधिपतिँ हवामहे वसो मम
आहमजानि गर्भध मा त्वमजासि गर्भधम् ॥"

गणका संख्याता अर्थ है। संख्यामें सांख्यशब्द है। उसमें गणपति पूर्ण ज्ञानवानको कहते हैं। प्रियसे अस्ति भाति प्रियंमें प्रसिद्ध आनन्द ग्राह्य है। प्रियपतिका अर्थ होगा पूर्ण आनन्दस्वरूप। निधि आश्रय अधिष्ठानादिको कहते हैं जैसे जलनिधि आदि। निरुपपद होनेसे सर्वनिधि सर्वाधिष्ठान अर्थ होगा। और वही सत् है। इस प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्मको तीन पादोंमें कहा। उस परमात्माका आह्वान यहां उक्त है। मम वसो–मम वासस्थान भूत। मेरे वासस्थानरूप है परमात्मन् ऐसा यहां अर्थ है। अहं गर्भधं आ अजानि आगच्छानि। मैं गर्भाधानकर्ता शक्तिविशिष्ट-योनिविशिष्ट परमात्माके पास जाता हूं-उपासना करता हूं। त्वम् आ अजासि गर्भधम्- उस गर्भधम् रूपी आभासमें तुम स्वयं आ चुके हो 'अजानि' यह लोट लकार है। अजासि यह वर्तमान समीप भूतमें वर्तमानप्रयोग है। परमात्मा सच्चिदानन्द का आह्वानके लिये 'गर्भध' की उपासना करनी चाहिये। वहां परमात्मा भी आता है। जीवात्माको परमात्मासे मिलनेका वह प्राईवेट स्थान है। मन्त्रमें कथित यही उपास्य प्रजापति अन्तगर्भमें चरण करता है-विचरण करता है। "प्रजापतिश्चरति गर्भे" इस प्रकार समस्तप्राणियोंमें गर्भसे ही लेकर प्रजापति विराजमान है। अतः समस्त प्राणियोंमें चैतन्यरूप से परमात्मा का दर्शन करने के लिये-अब्जा गोजा इत्यादि चार विशेषण यहां दिये जा रहे हैं।

"योन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयन्त्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥"

ध्रुवने नारायणका दर्शन किया। कुछ स्तुति बोलनेकी इच्छा हुई। किन्तु वेदाध्ययन न होनेसे नहीं बोल पा रहे थे। तब अपने शंखको ध्रुवके कपोलपर छुआ कर भगवानने वाणी को जागृत किया। केवल वाणीको नहीं पूरे इन्द्रियादि समूहको। बुद्धिको प्रेरित किया। तब ध्रुवको अनुभव हुआ-प्रेरकरूपमें पहलेसे ही मेरे अंदर ये भगवान् प्रविष्ट थे। मेरी तपस्यासे केवल प्रेरणामें प्रवृत्त हुए। यः अन्तःप्रविश्य पूर्वमेव। संप्रति प्रार्थनया तपस्यया मम वाचमिमां प्रसुप्तां संजीवयति। पहले ही अन्तः

प्रविष्ट हैं। इस समय तपस्यासे प्रसन्न होकर सुप्त वाणी संजीवित कर रहे हैं। कैसे? अखिलशक्तिधरः-वागादि समस्त शक्तियोंको उन्हींने धारण कर रखा है। इसी प्रकार अन्य हाथ, पांव, श्रोत्र आदिको भी वे प्रवृत्त करा रहे हैं। प्राणको भी प्रवृत्त करा रहे हैं। ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्तिको प्रादुर्भूत कर रहे हैं।

संत महापुरुष जगत् को देखते हैं तो उनको हर जगह समाधि लगती है। रामकृष्ण परम्महंजी बचपनमें जब खेत गये तो ऊपर बादल देखा तो वहीं उनको समाधि लगी। कहा—समुद्र! यह पानी कैसे बन गया! मीठा पानी हो गया। किसने समुद्रको गरम किया। किसने उसे बादल बनाया। कौन ऊपर आने पर बरफ डालकर ठंढा करता है और पानी बनाता है? समाधि लग गयी, खेतमें ही पड़े रहे। लोग-मातापिता आदि ढूंढने गये तो खेतमें पड़े हैं रामकृष्ण। संतलोग वृक्षलता आदिको देखते हैं। आश्चर्य होने लगता है उनको। नीचे जमीनमें रूप रस आदि कुछ नहीं। किन्तु पत्र, फल, फूल सब आ जाते हैं। कौन पत्तेको हरे बनाता है? कौन फूलोंको खुशबूदार बनाता है। कौन फलोंमें खट्टा-मीठा रस भरता है? कैसे ये सब काम होते हैं? आंखोंसे नीला, पीला, हरा रंग देखते हैं। रंगीन पत्ते आदि देखते हैं तो प्रथम सोचते हैं कौन वह रंगरेज है जिसने इन सबमें रंग भरा? फिर सोचते हैं कि मेरे मुंहपर इसे देखने के लिये आँखे कैसे यन्त्र हैं? कौनसा इसमें मसाला है? कानसे नहीं देखते आंखसे नहीं सुनते। दोनों जगह अलग-अलग तत्त्व है, मटीरियल है। किसने उसे क्रमशः रखा? किन्तु सो जानेपर आँख खुली भी रहती है। तो भी नहीं देखते। कान, त्वचा आदि तो हमेशा ही खुले हैं। फिर भी सपनेमें सफल नहीं होंते अपने काममें। वह कौन अंदर बैठकर इन्हें प्रेरित करता है? मैं कुछ करूँ, न करूँ, काम होते रहते हैं। फिर वह संत शब्द सुनने लगता है इसी प्रक्रियासे विचार करने लगता है। ये खाली तार हैं। इसमें यह वाणी, आवाज कैसे निकल रही है? कानसे कैसे सुन रहे हैं। कौन अंदर से प्रेरित करता है? नाकसे पुष्पादि सूंघते हैं तो आश्चर्य होता है-यह सेंट कहां यहां आया? नाके अग्रभागमें क्या चीज है जो इसे संघूती है? कौन अदंरसे

शक्ति आधान कर रहा है? इस प्रकार सोचते-सोचते इन्हें समाधि लगने लगती है।

इसी प्रकार बोलते समय सोचते हैं मुंह से वाणी निकल रही है। हाथ से नहीं, पांव से नहीं। पांवमें चलने की ताकत है। इन सबको निर्माण कर कौन इन्हें यथास्थान भेजता है? श्रुति भी कहता है-विषयकी अपेक्षा विषयप्रकाशककी ओर ध्यान दो। उसीका पता लगाओ।

न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात् ।
न गन्धं विजिज्ञासीत घ्रातारं विद्यात् ।
न रूपं विजिज्ञासीत रूपविद्यं विद्यात् ।
न शब्दं विजिज्ञासीत श्रोतारं विद्यात् ।
न कर्म विजिज्ञासीत कर्तारं विद्यात् ।
नेत्यां विजिज्ञासीत एतारं विद्यात् ।
न मनो विजिज्ञासीत मन्तारं विद्यात्। इत्यादि

बाहर विषयोंको देखकर उसमें क्या फंस रहे हैं। उसके निर्माता और अनुभविता को देखने की कोशिश करो। बगीचा देखो ठीक है। किन्तु मालीको देखो। वह कैसा कलाकार है ? कुछ कला हमको भी वह सिखा दे।

अब्जा। जलजन्तुओंमें परमेश्वरकी कला देखो। हम जलमें डूबेंगे तो बिना श्वास मरेंगे। किन्तु मछलिय्रां जलमेंसे प्राणवायु ले रही हैं और जी रही हैं। उनके मुंहसे एक यन्त्र है वह पानीको अलगकर प्राणवायुको अंदर डालता है। आजतक ऐसा कोई यन्त्र बना है क्या? आक्सिजनका डब्बा लेकर जलमें जाना पड़ता है। मछलियोंमें उस यन्त्र को रखकर स्वयं वह परमात्मा उसे चला रहा है। कछुए यद्यपि प्राणवायु अंदरसे नहीं लेते किन्तु बाहर आकर एकबार ले लें तो घंटोंतक जलके अंदर रह सकते हैं। उसको यह प्राणायाम सिखानेवाला कौन है? कौन अंदर बैठकर प्राणनियन्त्रण करता है? 'बहुधा विजायते'। अनन्त प्रकारके प्राणी हो गये हैं। सबका स्वभाव अलग-अलग है। प्रकृति अलग-अलग है। सभी स्वभाव नियत हैं।

गोजाः-पृथिवीमें उत्पन्न वृक्ष-लता आदि हैं। सबका अपना-अपना स्वभाव अलग-अलग है। बरसातका पानी एकबराबर है। जमीन एक बराबर है। खाद एक बराबर है। किन्तु नींबू खट्टा होता है। वही पानी गन्नेमें पाया गया तो मीठा हो गया। नीममें गया तो कड़ुआ है। हरड़में गया तो फीका है। कहीं सांकर्य नहीं होता। एकदम समीप-समीप वृक्ष हैं किन्तु नीम कड़ुआ ही रहेगा। गन्ना मीठा ही रहेगा। पत्ते, फल, फूल सभी असंकीर्ण दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार गोजाके रूपमें परमात्मा नानारूपमें हो गया।

ऋतजा। ऋत यज्ञादिको कहते हैं जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। सभी सत्कर्म ऋत ही हैं। उससे उत्पन्न हैं—सप्तान्न।

"यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता
एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत
त्रीण्यात्मनेऽकुरुत। पशुभ्य एकं प्रायच्छत्।

कर्म और उपासनारूपी सप्तान्नसे एक साधारण अन्न हुआ जो हम खाते हैं। भोग्यरूपमें उपस्थित अन्न है। साधारणरूपसे उत्पन्नको गोजाके अंदर समझ लेना चाहिये। हुत और प्रहुत ये दो देवताओंके अन्न हैं। दर्श-पूर्णमासमें हवनीय। वह भी पूर्ववत् सामान्यतः गोजा है। विशेषतः ऋतजा है। मन, वाणी और प्राण ये तीन भी अन्नरूप हैं, आत्मार्थ हैं। वैसे तो मन सृष्टिकालप्रवृत्त है। फिर भी वह बढ़ता है। घटता है। "अन्नमयं हि सोम्य मनः" बताया है। वह ऋतज है। वाणी भी घृतादि सेवनसे तेज एवं तदभावमें मन्द होती है। प्राणशक्ति भी पौष्टिक अन्न आदिसे बढ़ती है। पश्वन्न दूग्ध है। वस्तुतः इन अन्नोंको खानेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि देवपर्यन्त सभी यहां पर ऋतजासे विवक्षित हैं।

"यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन"

इस प्रकार अन्नदका अन्तमें वर्णन आता है। अन्न खानेवाले सभी जंगम प्राणी हैं। यह कहें कि स्थावर वृक्षादि भी तो अन्न ग्रहण करते हैं। अन्नग्रहण करते हैं पर खाते नहीं। सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन। यहां "प्रतीकं मुखं" ऐसी व्याख्या ब्राह्मणने की है। मुखसे अचर-स्थावर प्राणी भोजन नहीं खाते। जंगम प्राणी ही मुखसे खाते हैं। यही ऋतज है। क्या स्थावर प्राणी

ऋतज नहीं है? किसी पेड़को पानी अच्छा मिलता है। कोई पेड़ पानी बिना सूख जाता है तो वहां भी सुखदुःख है ही। आनन्दमय कोश उनमें विस्पष्ट नहीं। फिर भी अनभिव्यक्तिरूपसे सही, अस्तित्व तो मानना ही होगा। आधुनिक वैज्ञानिक लोग यह सिद्ध भी कर चुके हैं कि वृक्षकी डाली काटने आदमी पहुंचता है तो वृक्ष में भी भय कम्पन होता है। इसका उत्तर यह है कि भले पुण्यफल माना जाय किन्तु साधारण परोपकार आदि पुण्यसे भी वह संभव है। उसके लिये यज्ञक्रतुपुण्य माननेकी आवश्यकता नहीं है। मनुष्यादि जन्म तो पूर्व पूर्वतरादिकृत यज्ञादिका फल है। "मेधया तपसाऽजनयत्" "पशुभ्य एकं प्रायच्छत्" यहां पश्वन्नरूपसे दुग्धवर्णन है। अतः दूधवाले प्राणियोंका जन्म होनेमें मेधा एवं तप कारण है ही। साहचर्य होनेसे अन्नाद सकल प्राणी ग्राह्य हैं। नारक कीटादि अब्जके अदंर आ जायेंगे। ये सभी ऋतज परमात्मरूप हैं। उनमें भी परमात्मा प्रविष्ट है। ऋतजसे देवता नितरां ग्राह्य है यह स्मर्तव्य है।

अद्रिजाः। अद्रि पर्वतको कहते हैं। जो पर्वतोंसे पैदा हुए वे अद्रिज हैं। नदी आदि पर्वतोंसे पैदा होते हैं। गङ्गा, यमुना, सिन्धु, सतलज आदि हिमालय पर्वतसे पैदा हुए। नर्मदा अमरकण्टक पर्वतसे पैदा हुई। गोदावरी त्र्यम्बकमें जो पर्वत है वहांसे पैदा होती है। कावेरी सह्याद्रिसे पैदा होती है। इस प्रकार प्रायः सभी नदियां पर्वतोंसे ही पैदा हुई हैं। नदियोंमें भी आत्मा विद्यमान है। गङ्गा, यमुना आदि नदियां देवीरूप हैं।

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालवेगेन जर्जरौ ।
गङ्गाद्याः सरितश्चेमा मत्सेवार्थं समागताः

इस प्रकरणमें गङ्गादिका सशरीर वर्णन किया। हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा इस प्रकार गङ्गाको हिमवान् से उत्पन्न भी बताया है। इनमें भी परमात्मा विराजमान है।

"अद्रयो द्रुमशैलार्काः" अद्रि के तीन अर्थ हैं। वृक्ष, पर्वत और सूर्य। ये तीनों ऊर्ध्ववर्त्ती हैं। इन तीनोंसे चील, कौआ, चिड़िया, चिरौटा आदि ग्राह्य हैं। अब्जा से जलचर। गोजा से थलचर। अद्रिजा से नभचर और ऋतजा से परलोकचर विवक्षित हैं। पक्षियों में कैसी खूबी है। बच्चे पक्षियों को

देखकर अपने भी पंख होते ऐसी इच्छा करते हैं। पंख फैलनेवाले बनाये। फैलाते ही शरीर हलका हो जाता है। पक्षियोंको देखकर वायुयान की कल्पना हुई। केवल बच्चों की ही कल्पना नहीं, बड़ों के मन में भी आसमान में उड़ने की इच्छा हुई तो वायुयान का आविष्कार हुआ। पक्षी उड़ते समय अपने पाँवों को पेट-पूंछ के साथ पीछे की ओर चिपकाते हैं। वायुयान में पहिये भी वैसे ही हैं।

अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा। उपास्य तत्पदार्थ परमात्माको नाना-रूपसे समझाया। "हंसः शुचिषत्" इत्यादि चार परोक्ष-अपरोक्ष उभयरूपसे हैं। सूर्य-वायु-अग्नि-जलरूपसे अपरोक्षतया देखो और मण्डल, पुरुष आदिरूपसे परोक्षरूपसे भी जानो। फिर चार परोक्षमात्र बताया। नृषत् वरसत् इत्यादि। मनुष्यादि में स्थित चैतन्यरूपसे परमात्माको जानो, पहचानो। उसके बाद अपरोक्षमात्रात्मक चारका वर्णन अब्जा, गोजा इत्यादि है। सर्वसाधारण ज्ञानगोचररूपसे अब्ज आदिका अर्थ देखा। अवताररूपसे अब्जादिको देखेंगे। अवतारमें प्रत्यक्षदृष्ट साजात्य रहेगा। अब्जों से जलमें प्रादुर्भूत अवतारोंका ग्रहण है। जलमें दो मुख्य अवतार और एक देवी प्रादुर्भूत हुई। अतएव सागरकन्यका उनका नाम है। मत्स्यावतार कथा प्रसिद्ध है। सत्यव्रत नामके राजाकी सन्ध्याञ्जलिमें छोटी मछली आयी थी वह बढ़ती गयी। उसने अन्तमें प्रलय की सूचना दी। और प्रलयजलमें सत्यव्रतकी रक्षा की तथा तत्त्वज्ञानका उपदेश किया यह संक्षिप्त कथा है। भागवतादि पुराणमें वह कथा प्रसिद्ध है। मत्स्यमें मद् शब्दका मद अहंकारादि अर्थ है। अहं शब्दका भी मद् रूप है। मंद स्यति, मां स्यति ये दोनों विग्रह संभव हैं। मां का अर्थ होगा अहंकारविशिष्टम् अहंकारास्पदताविशिष्टम्। सत्यव्रत राजा अपने आपको सकल प्राणी-रक्षक समझता था। राजाओंमें ऐसा भाव तो होता ही है। अहं प्रजापालक। इसीलिये मछलीने कहा मेरी रक्षा करो तो रक्षणार्थ उसे अपने कमण्डलमें डाला। हर छोटी मछलीको यह भय हो सकता है कि बड़ी मछली निगल जायेगी। तो क्या सत्यव्रतराजा सबको अपने कमण्डलमें या अपनी बावड़ीमें रक्षा करते? फिर वे मछलियां भी तो बड़ी होंगी तो दूसरी आनेवाली छोटी मछलियोंको नहीं निगलेंगी? प्रतिदिन बढ़ती हुई मछलीको

देखकर भी राजा की आंख नहीं खुली। प्रकृति के स्वभावसे जो जैसे जीते हैं उनको वैसे जीने दो। अपने संभव कुछ सेवा करो इतना भाव ही पर्याप्त है। सत्यव्रतके समान अन्य मनुष्य भी हैं। सत्यव्रतमें विशाल अहंभाव था। दूसरोंमें अल्प। सत्यव्रत समझते थे मैं भूमण्डलका रक्षक हूं। गृहस्थित समझते हैं मैं अपने बालबच्चोंका पालक हूं। बालकोंको जन्म देनेवाला हूं, पालन करनेवाला हूं। किन्तु यह सब मिथ्याभिमानमात्र है।

"अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।

जीवत्यनाथोऽपि वने विसृष्टः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥"

कण्वाश्रमके पास विश्वमित्रकी पुत्री शिशु मातापिता दोनोंसे परित्यक्त हो गयी पर उसकी भी रक्षा करनेवालेने रक्षा की। हजारों राजा सेठ सुरक्षित होनेपर भी मर जाते हैं। यक्षकथामें हम पहले भी कह चुके हैं-

"त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ।

देवता सोच रहे थे हंमने असुरोंको मारकर विजय प्राप्त किया। जम्भ, नमुचि आदिका हमने वध किया। हमारी यह महिमा है। उस अभिमान मदको यक्षने दूर किया। अर्जुनके मनमें अभिमान आ रहा था-मैं सबको मारूंगा। पर मैं मारना नहीं चाहता। इनको बचाऊंगा। भगवान् कहते हैं-

"यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे

मिथ्यैष व्यवसायस्ते"

अहंकार यही कि मैं मारनेवाला हूं पर युद्ध न कर इनको बचाऊंगा। भगवान् कहते हैं तुम क्या मारोगे और क्या बचाओगे? न तुम मार सकते हो और न ही बचा सकते हो। मारनेवाला दूसरा है। उसने मार दिया अब क्या बचाओगे?

"द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।

मया हतांस्त्वं जहि या व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥"

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण एवं अन्य समस्त युद्धवीरों मैं मार चुका हूं। अब तो ये कठपुतलोंके समान सिर्फ नाच रहे हैं। कब मारा था भगवानने इन सबको और कैसे मारा था इसकी चर्चा कहीं महाभारतमें नहीं है? सही बात है। किन्तु इस प्रश्नका उत्तर भागवतमें आया है-(भीष्मपितामह के शब्दों में)

"सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थ सखे रतिर्ममास्तु ॥"

अपने सखा अर्जुन का वचन सुनते तुरंत ही अपनी और शत्रुपक्ष की सेनाओंके मध्यमें खड़ाकर स्थित जिस भगवानने शत्रुसैनिकों की आयु को ईक्षणमात्र से हरण किया उस अर्जुन सखा श्रीकृष्ण में मेरी रति हो। अर्जुन ने कहा–

"सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ॥"

दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरा रथ खड़ा करो। जब तक इन युद्धेच्छुकोंको ठीक तरहसे मैं न देख लूं। तुरंत ही दोनों सेनाओं के मध्यमें ले जाकर रथको खड़ा किया। फिर-

"उवाच, पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति"

भगवानने सबके समक्ष–भीष्म द्रोण प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्" उनकी ओर अंगुलीनिर्देश कर कहा–हे पार्थ इन्हें देखो। इतना करनेकी आवश्यकता क्या थी? रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा किया। अब अर्जुन स्वयमेव देख लेता। इस पर भागवतने रहस्य खोला–भगवान् संकल्पात्मक ईक्षणसे सृष्टि करते हैं और संहार भी करते हैं। प्रशस्तपादाचार्यने वैशेषिक सूत्रभाष्यमें लिखा है–

सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य संजिहीर्षासमकालं
महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगजकर्मभ्यः शरीरेन्द्रियकार-
णाणुविभागेभ्यः तेषामापरमाण्वन्तो विनाशः

ईक्षण, कामना, संकल्प ये सब प्रायः पर्यायरूपसे प्रयुक्त होते हैं। क्योंकि परमेश्वरमें जीवोंके समान रागात्मक इच्छा नहीं होती। इधर भगवानने सैनिकोंको दिखानेके बहाने ईक्षण किया। वह ईक्षण संजिहीर्षात्मक था। बस, संजिहीर्षा विषय हुआ तो हत ही समझ लो। जहर अंदर गया तो गया अब हत ही है। बल्कि जहरका कदाचित् प्रतीकार हो भी जाय ईश्वरसंजिहीर्षाका प्रतीकार नहीं है। इसलिये कहा–मया हतास्त्वम्। यह संजिहीर्षा न हुई हों तो लाखों कोशिश की जानेपर भी प्रह्लाद मारा नहीं जा सका। राजा सत्यव्रतको अभिमान था मैंने दुष्टोंका संहार किया,

शिष्टोंका रक्षण किया। उसी मदमें मछली की रक्षा का ठेका ले रहे थे। मत्स्य भगवानने कहा-तुम संसारकी क्या रक्षा करोगे? अपनी ही रक्षा अभी स्वयं नहीं कर पाओगे। आजसे सातवें दिन प्रलय होनेवाला है। अपनी रक्षाके लिये नाव बनाओ। बीजों को उसमें रखो। सप्तर्षियोंको खबर दो, बुला लो फिर भी तुम्हारे यत्नसे रक्षा नहीं होगी। मैं इसी रूपमें आऊंगा। मेरे सींगपर नावको बांधो तो मैं रक्षा करूंगा। वैसे सब किया गया। नाव तैयार हुई। बीज एकत्रित हुए। सप्तर्षि बुला लिये गये। समुद्र ऊपर की ओर उमड़ने लगा। नावमें सब बैठे। नाव डाँवाडोल होने लगी। तरंगोंके चपेटों से ऐसा लगने लगा कि अब डूबेगी, अब डूबेगी। राजाका अपना पूरा अभिमान चूर-चूर हो गया। प्रार्थना करने लगा प्रभो रक्षा करो। आपने वचन दिया, रक्षा करो। मत्स्य भगवानने थोंड़ी उद्विग्न प्रतिक्षा करायी। क्यों? अभिमान चूर करना था। मां स्यति मदं स्यतीति। मत्स्यः। तब प्रकट हुए और अपने सींग पर नाव बंधवायी। उस प्रलयमें ही निरस्ताभिमान राजा सत्यव्रतको तत्त्वोपदेश किया। उस रूपका यहां ध्यानार्थ वर्णन है—अब्जा। दूसरा अब्जा कूर्म है। कंमठ भगवानने मन्दराचलको अपनी पीठपर उठाया था। कूर्मकी स्तुतिमें भागवतमें कहा है—

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिला पान्तु वः
यत्संस्कारकलानुवर्त्तनवशाद्वेलानिभेनाम्भसां
यातायातम तन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति ॥।

कूर्म भगवानने मन्दराचल पीठपर उठा रखा था। अमृतमन्थन चल रहा था। मन्दराचल पीठपर घूम रहा था। परंतु इतने धैर्यकि साथ कूर्म भगवान् थे कि उनको मंदराचल का पीठपर घूमना पीठ थपथपाने के समान लगा। जैसे माता बच्चे की पीठपर हाथ घुमा रही है, खुजला रही है। कूर्म भगवानको उससे गहरी नींद आयी। खर्राटे मारने लगे। दीर्घ श्वास होने लगे। जिससे समुद्रमें तरंगे उठने लगी। उस समय समुद्रमें जो तरंगें संस्कार आ गया वह आज भी विद्यमान है। कूर्म भगवान् स्वयं भार-वाहक और दूसरोंको भी कर्ममें प्रेरित करनेवाले। अमृत प्राप्तिपर्यन्त भारवहन कूर्मने किया। योगशास्त्रमें सूत्र आया है—

"कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्"

स्थिरता लानेके लिये कूर्मनाडीमें संयम करो। कूर्म स्थिरता लानेवाला है। कुत्सित ऊर्मिर्यस्य स कूर्मः। ऐसी व्युत्पत्ति। दिखायी है। ऊर्मिके अर्थ हैं–

"ऊर्मिः स्त्रीपुंसयोर्वीच्यां प्रकाशे वेगभङ्गयोः ।"

कुत्सितो भङ्गो यस्य। कुत्सित अत्यल्पतामें, अभावमें और खराब अर्थमें प्रयुक्त होता है। जिसका भङ्ग होता नहीं वह (अच्प्रत्यान्त)।कोई भी कार्य हाथमें लिया तो उसे पूरा करो। स्थिरता से करो, खुशीसे करो। के सुखे मठति-मठ मदनिवासयोः जो आनन्दमें रहता है वही कमठ है। मत्स्य भगवानने अहंकारको मिटाया। कूर्म भगवानने स्थिरता दी। कूर्म भगवानकी उपासनासे निरुद्वेगता भारसहिष्णुता आदि गुण प्राप्त होते हैं।

अब्जावतारोंमें देवी का भी एक अवतार आता है। लक्ष्मी सागरसे ही पैदा हुई। रक्षणशक्ति के रूपमें लक्ष्मी प्रसिद्ध है।

गोजा से पृथिवी में जिन का अवतार हुआ पृथिवी के निमित्त जिनका अवतार हुआ उनका ग्रहण है। गीताभाष्य में प्रथम लिखा है- "स भगवान् सृष्ट्वेदं जात तस्य च स्थितिं चिकीर्षुर्मरीच्यादीनग्रे सृष्ट्वा प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदाक्तम्। ततः सनकसनन्दनादीनुत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास। द्विविधो हि वेदोक्तोधर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः" इत्यादि। अर्थात् भगवान् ने जगत् की रक्षा के लिये प्रवृत्ति धर्म तथा निवृत्तिधर्म ऋषियों को समझाया। उन्हीं से जगत् की स्थिति है। यही गीता में भी कहा–

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

श्रीकृष्ण, पृथिवी में जन्मे, सो भी भारतवर्ष में। किसके लिये? जगत् की रक्षा के लिये। भारत से जगत् की रक्षा है। प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों धर्म भारत में ही होते हैं। यज्ञादि कर्म से सूर्य में सोमाहुति होती है। उससे जगत् की रक्षा होती है। 'यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता' ऐसा बृहदारण्यक में कहा है। हमारे कर्म एवं उपासना से सप्तान्नसर्ग होता है यह हम पहले बता चुके हैं। एक साधारण अन्न है-गेहूं, चावल आदि।

इतना ही नहीं श्रोत्र का अन्न शब्द है। त्वक् का स्पर्श है। इत्यादि रीति शब्द स्पर्शादि समस्त विषय कर्म एवं उपासना से हुए हैं। किसी को संगीत सुनने को मिलता है। किसी को नहीं। किसी को एयर कंडीशन मिलता है। किसी को चलचित्रादि देखने को मिलता है किसी को नहीं इत्यादि वैषम्य कर्मभेद से हैं। दो अन्न हुत और प्रहुत देवताओंके हैं। वे भी यज्ञादि कर्मफल हैं। जब ये अन्न देवताओं को मिलते हैं तब वे नीचे की ओर झांक कर देखते हैं। तब उन को आश्चर्य होता है कि भारत भूमि अति उत्कृष्ट है। हुत प्रहुत हमें मिल ही रहे हैं उससे बढ़कर-"मुकुन्द सैवौपयिकं स्पृहा हि नः"। भारत भूमि की अतिमहती धन्यता पूर्वव्याख्यात है। तीन अन्न मन वाक्, प्राण है। ये तीन भी कर्म एवं उपासनाका फल है। मन से सभी ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण से सभी कर्मोन्द्रियाँ और वाक् वेदवाणीशक्ति पृथक् निर्दिष्ट है। इस प्रकार समस्त सृष्टि भारतवर्षस्थ कर्म एवं उपासना का फल है। इस की रक्षा के लिये भगवान् अवतार पृथिवी में लेते हैं। अतः गोजा हैं। वरुण लोक यमलोक आदि में भगवंदर्शनार्थ-चरण स्पर्शार्थ वे तरसते हैं। तिगड़म लगा कर भगवान् को ले जाना पड़ता है। जैसे नन्दराय का वरुण ने अपहरण किया। गुरुपुत्र को यम ने अपहरण किया। बल्कि वैकुण्ठ में भी कृष्णदर्शन नहीं होता। तभी तो नारायण ने ब्राह्मण के दस बालकों को लिवाया। भगवान् ने गीता में निष्काम कर्मयोग अर्जुन को बताया। दोनों ने उसका आदर्श भी रखा। महाभारत युद्धमें अर्जुन सर्वे सर्वा होने पर राजगद्दीपर युधिष्ठिर ही बैठे। श्रीकृष्ण ने कंस वध किया द्वारिका बसाया किन्तु राजा उग्रसेन ही रहे। प्रश्न होगा—तब राम क्यों राजा बने? उत्तर है वह कर्मप्राप्त नहीं, परम्पराधिकार था। हाँ, लंका को जीता तो लंकाधिपति कहां बने?

वामन भगवान् भी गोजा है। असुरों का साम्राज्य पृथिवी पर हुआ तो वामनावतार हुआ। भगवान ने अपना चरण बढ़ाया तो यह सत्यलोक तक गया। तब ब्रह्मा जी कृतकृत्य हुए। क्योंकि वहां भी भगवान् नहीं जाते। वामनावतार मे भगवच्चरण सत्यलोक पहुंचा तो—

धातुःकमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजन

इस प्रकार ब्रह्मा ने पूजा की। इस आकाश में अनन्तकोटिब्रह्माण्ड हैं। वैकुण्ठादि लोक जाने पर यही प्रश्न होता था कि तुम किस ब्रह्माण्ड से आये हो। उत्तर होता था जहां वामन अवतीर्ण हुए। यह बात गर्गसंहिता में आयी है।

गोजा अवतार सूकर भगवानका है। ब्रह्माजीने मनुको सृष्टिका आदेश दिया। यह जनलोक की बात है। मनुने कहा—कहां रहकर सृष्टि करूं? पृथिवी कहीं दिखाई नहीं. पड़ती। तब ब्रह्माजी विचारमें पड़े। उनको छींक आयी। तब ब्रह्माजीकी नासिकासे वराहपोत प्रकट हुआ। घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है। अतएव घ्राणेन्द्रियसे उत्पन्न होनेसे वराह गोज हो गया। गौ पृथिवीका नाम है यह हम पहले बता चुके। पृथिवी गायका रूप धारण करती थी इसलिये पृथिवीको गौः कहा।

"गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना क्रन्दन्ती करुणं विभोः ।
उपस्थितान्तिके तस्य व्यसनं स्वमवोचत ॥"

गोरूप धारण कर खिन्न पृथिवी आंसू बहाकर रुदन करती हुई दयनीय स्थितिमें ब्रह्माजी के समीप जाकर अपने दुःख कहने लगी-इत्यादि प्रसङ्ग आता है। वराहने भी पृथिवीका ही कार्य किया।

"घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन्"

सूकर भगवानकी भी घ्राणेन्द्रिय ही बहुत तेज थी। उससे सूंघ सूंघकर पानीमें पृथिवीका पता लगाया। पृथिवीका ही उद्धार सूकर भगवानने किया। गन्धवती पृथिवी को सूंघकर पता लगाने के लिये तीव्र घ्राणेन्द्रिय वाला सूकर बना।

पृथिवीमें जो उत्पन्न हुए वे कर्मप्रधान होते हैं। "कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।" वराह पदका अर्थ भी सत्कर्म है। "वराणि अहानि येन" जिससे दिन उत्तम हो वही वराह है। किससे दिन वर होते हैं? यज्ञसे। इसलिये वराह यज्ञवाराह भी कहते हैं। यज्ञसे दिन उत्तम होता है। यज्ञका केवल हवन अर्थ ही न समझना। महर्षि पाणिनिने. यज धातुके तीन अर्थ बताये हैं।

"यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु"

देवपूजन करना यज्ञ है। हम कालटि गये तो वहां के मंदिरोंके आकारकी व्याख्या एक पण्डित कर रहे थे। यज्ञमण्डपसमान वहां मंदिर होता है इत्यादि।

"येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।
संतोषं जनयेद्राम तदेवेश्वरपूजनम् ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ।"

इत्यादि रीति देवपूजनकी व्याख्या जगह जगह की है। प्राणीमात्रमें स्थित भगवान् में दानमानादि से संतोष उत्पन्न करना पूजन है। यज्ञ का दूसरा अर्थ है-संगतिकरण। संतसंग यज्ञ है। इसे ज्ञानयज्ञ कहते हैं। तीसरा अर्थ दान है। उसको द्रव्ययज्ञ कहते हैं। इन यज्ञोंसे ही दिन श्रेष्ठ होता है। वराह भगवानने स्वयं ही पृथिवीका उद्धार कर महान् जगदुपकार किया अतः वराहभगवानके प्रत्येक शरीरावयव यज्ञाङ्ग माना गया-"स्वयमध्वराङ्गः" (क्रोडापदेशः) वराहका दूसरा नाम सूकर है। सु सुष्ठु कत्सेतीति सुकरः सुकर एव सूकरः। यज्ञरूपसे वराह भगवानका ध्यान करना चाहिये।

गोजा एक देवी अवतार भी है। सीता भूमिसे उत्पन्न हुई थी। यज्ञार्थ राजा जनकने हल चलाया तो सन्दूक मिली। उसमेंसे सीता प्रकट हुई।

ऋतजा। ऋत सत्यको कहते हैं ऋतं च सूनृता वाणी विद्वद्भिः परिकीर्तिता। यज्ञादि भी ऋत है। ऋतसे नरसिंह भगवानका अवतार हुआ। हिरण्यकशिपुने पूछा तुम्हारा भगवान् किधर है? हरि है। प्रश्नका तात्पर्य यही था कि एक बार मैं वैकुण्ठ गया तो वहां से वह भाग गया पातालमें। मैं पृथिवीमें आ गया तो पता नहीं वहां से कहां भाग गया। इस दीन दुनियामें वह नहीं रहा। तो बताओ वह कहां है? असलमें बात तो ऐसी ही हुई थी। वामनने राजा बलिको उनके पूर्वजोंका वर्णन कर बताया था तो ऐसा ही कहा था। फरक इतना ही रहा कि हिरण्यकशिपुने सोचा नारायण खतम हो गया। नारायणने क्या किया था? यह मेरे पीछे लगा है देखकर हिरण्यकशिपुके हृदयमें जाकर बैठ गया। असुर उसीका नाम है जो बहिर्दृष्टि हो। "असुषु शरीरेन्द्रियप्राणेषु रमन्त इत्यासुराः" अन्तर्दृष्टि न होनेसे भीतर नहीं देख सका। कहां तुम्हारा भगवान् है हिरण्यकशिपुने

पूछा। प्रह्लादने कहा ऐसा मत पूछिये-भगवान् कहां है। यह पूछिये कि भगवान् कहां नहीं है। तो बोलनेमें आसान होगा। हिरण्यकशिपु कहने लगे क्या मतलब? भगवान् सर्वत्र है? हां,यही मतलब है। तो इस खंभेमें क्यों नहीं है? इस खंभेमें भी है। प्रह्लादकी इस सत्यवाणी से ही नृसिंहका अवतार हुआ।

"सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहम् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥"

नृसिंह भगवान् स्तम्भसे प्रादुर्भूत या जात नहीं हुए। ऐसा होता तो स्तम्भज,स्तभनन्दन आदि नाम होता। जैसे यदुनन्दन, यदुवंशज, गिरिजा, गिरिनन्दन आदि। प्रह्लादका वचन सत्य था। उसे सत्यरूप दिखाना था। उस सत्यसे नृसिंह प्रादुर्भूत हुए। इसलिये ऋतजा हुए। क्या कहा था-भगवान् सर्वत्र व्यापक है। इसे सिद्ध करने खंभेंमें दिखाई पड़े। इस पर चित्सुखाचार्य कहते हैं-

"स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो
यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मतः।
प्रह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलद्दृष्टप्रमाणं हरिः
सोऽव्याद्वः शरदिन्दुसुन्दरतनुः सिंहाद्रिचूड़ामणिः ॥"

स्तम्भ दृष्टान्त था। उससे सर्वव्यापकता बतायी। नर-मृगरूप दृष्टान्त था। उससे सर्वरूपता दिखाई। प्रह्लादके सत्यवचनसे प्रत्यक्ष स्वरूप दिखाना था। शब्दसे प्रत्यक्ष होता है। अतः प्रत्यक्ष प्रगट हुए। लौकिक सत्य सत्यवाणीसे नृसिंह भगवान् प्रगट हुए अतः ऋतजा हुए।

सिंह पद श्लेषार्थमें भी प्रयुक्त है। अर्जुनसिंह, रामसिंह, गोविंदसिंह आदि प्रसिद्ध हैं। उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति इत्यादि कहते हैं। कहीं ऋषभका भी प्रयोग करते हैं। पुरुषर्षभ, भरतर्षभ इत्यादि। नृसिंहोपासनासे नरश्रेष्ठ बनेगा। नरश्रेष्ठ वही है जिसने आत्मदर्शन किया।

ऋतका शास्त्रीय सत्य अर्थ यज्ञक्रतु बताया। उससे रामावतार हुआ। पुत्रकामेष्टि यागसे पायस खीर, प्रगट हुआ। उसीसे रामजन्म हुआ। मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं। मर्यैरादीयमानत्वान्मर्यादा। मर्य मर्त्यको कहते हैं जो मरणधर्मा है। मनुष्यके जीवनमें कुछ सीमायें बंधी हैं। वही मर्यादा है।

बल्कि मरणधर्मा पशुपक्षी आदि भी हैं। उनकी भी मर्यादा बनी हुई है। रमयतीति रामः। रामस्तु लोकरमणम्। रामोपासना करनेपर वह सर्वलोक-हितकारी, सर्वसुखकारी मर्यादास्थित होगा।

ऋत का शास्त्रीय सत्य अर्थपक्ष में यज्ञादि अंर्थ है। तब रामावतार ऋतज में आ जायेगा। वसिष्ठजी ने राजा दशरथ से पुत्रकामेष्टि याग कराया। यज्ञ विधिवत् करे तो फल अवश्यंभावी है। अतएव उसका नाम ऋत है। आज कल विधि आदि नहीं रहे तो फल दीखता नहीं।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।

लोहे के कुण्ड़ाकार बरतन में कुछ लोग हवन करते हैं। किन्तु यह विधिहीन है। "या इष्टका यावती वाँ यथा वा" यह बात इसी उपनिषद् में आयी है जैसी ईंट जितनी ईंट और जैसा उनका विन्यास आदि सभी बातों को यमराज ने नचिकेता को बताया था। यज्ञ में अन्नसर्जन होना चाहिये संत अतिथि ब्राह्मणादि को भोजन कराना चाहिये। मन्त्रों का यथावत् उच्चारण हो यह भी आवश्यक है। मन्त्रशक्ति से ही देवता तक आहुति सार पहुंचता है, सूर्य को हम अर्घ्य देते हैं। तो क्या सूर्य तक वह पहुंचता है? पितरों का हम तर्पण श्राद्ध करते हैं। तो क्या पितर तक वह पहुंचता है क्या? अवश्य। मन्त्र द्वारा पहुंचता है। मन्त्र से जहर आदि आज भी उतारते हैं। पीलिया उतारते हैं। मन्त्र से सांप को बुलाते हैं गरुड़ को बलाते हैं। शब्दशक्ति अचिन्त्य है। मन्त्र से हवन करो तो देवताओं को प्राप्त होगा। यज्ञ में दक्षिणा भी अवश्य देना चाहिये। एक माता कहने लगी आजकल पण्डितजी बहुत महंगे हो गये। मैंने कहा पहले एक मजदूर को एकरूपया देनेसे चलता था। आज पचास देना पड़ता है। श्रद्धा से यज्ञ करो "श्रद्धा वै आपः"। वही मनुष्य पर सूक्ष्म कर्म सहित परिष्वक्त होता है। ऐसा यज्ञ वस्तुतः क्या है? "यज्ञो वै विष्णुः" यज्ञ साक्षात् विष्णुस्वरूप है। यज्ञ का सार क्या है? प्रसाद। इसलिये सत्यनारायण की कथा में प्रसाद ही की महिमा बतायी है। अमुक ने प्रसाद लिया तो कार्य सिद्ध हुआ। अमुक ने प्रसाद तिरस्कार किया तो सारा काम बिगड़ गया।

यज्ञसार प्रसाद है। यज्ञ विष्णु है तो प्रसाद भी यज्ञसार होने से विष्णु है, वही तो अग्नि देव ने सुवर्ण कलश में पायसरूप से वसिष्ठजी के हाथ में दिया था। जहाँ ऋष्यशृंग जैसे ब्रह्मा, वसिष्ठ जैसे आचार्य वहां क्या कहना है। उस विष्णुरूप यज्ञ प्रसाद पायससे उत्पन्न होनेसे राम ऋतज है। राम ने सत्य का पालन किया। पिताके सत्य की रक्षा की। मर्यादा ही सत्य है। उसकी रक्षा की।

ऋत सत्यवाणीसे एक देवी भी अवतीर्ण हुई है। वह है सरस्वती। सरस्वती वाणी को कहते हैं। देवी वाणी तो सत्यवचनमें प्रकट होती है। योगसूत्रमें आया है—

"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्"

सत्यवाणी सिद्ध होनेपर साक्षात् सरस्वती तदर्थानुरूप सृष्टि करती है। ब्रह्माकी सृष्टिशक्ति ही तो सरस्वती है। ऋषिमहर्षि सत्यसिद्ध थे। उनकी शापानुग्रहादिरूप वाणी अपने अर्थको उपस्थित करती थी। अगस्त्यने कहा नहुषको—तुम सर्प बनो तो बन गया। विंश्वामित्रने त्रिशंकुको कहा तुम स्वर्गमें देव बनो तो बन गया। किस प्रकार? उनकी वाणी में सरस्वती देवी स्थित हो गयी और तदनुरूप अर्थसृष्टि की। "ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति"

अद्रिजा। अद्रिका पर्वत वृक्ष आदि अर्थ है। "अदयो द्रुमशैलार्काः"। पर्वतों में दिखाई देवाले वृक्षसमूह अर्थात् वन अद्रिपंद का अर्थ है। गोकुल, वृन्दावन आदि अद्रि हैं तथा पहांड़ी स्थान होनेसे भी अद्रि हैं। भगवान् कृष्णने नन्दरायको कहा क्या इन्द्र-फुन्द्रका यज्ञ करते हो? जो पानी, चारा आदि देनेवाला है, गोवर्धन, उसकी पूजा करो। नन्दराय—बेटा ऐसा मत कहो, इन्द्र नाराज होगा। फिर गोवर्धन तो पर्वत है, देव कहां है? कृष्णने कहा—इन्द्र एक मामूली देव है। गोवर्धन महान् देवता है। मैं रोज दर्शन करता हूं। नन्दबाबाको मनाया। गोवर्धन पूजा हुई, परिक्रमा हुई। नन्दराय—बेटा! गोवर्धन भगवानका दर्शन कैसे, कब हो? "देखो ऊपर"। ऊपर पर्वतपर विशाल तेजोमय मुख प्रगट हो चुका था। वहांसे अंजलि सबके सामने आयी। श्रीकृष्णने कहा-लाओ, लाओ, माखनभोग आदि।

"भक्तानामिव भावकन्दकलनं हैयङ्गवीनोच्चयं
भुञ्जानोऽपि च भोजयन्नपि तथा द्रष्टापि दृश्योपि यः।
क्षोदीयानपि नन्दराजसविधं शैले महीमान् भवन्
यः पूज्योऽपि च पूजकोऽपि च बभौ गोवर्धनोव्यात् स नः।

गोपगोपिकाओं का माखन तो क्या, उनके भावका ही वह गोला था। उसको खिलाने वाला कौन? स्वयं। खानेवाला पर्वतपर विशालकाय कौन? स्वयं। दृष्टा भी स्वयं दृश्य भी स्वयं। नन्दराजके पास छोटे भी वही और पर्वतपर बड़े भी वही। वही पूज्य वही पूजक। यही गोवर्धनभगवान् अद्रिजा हैं।

अद्रिजा एक देवी भी है। पार्वती। इस प्रकार चार देवियां भी प्रस्तुत हुई हैं। दस अवतार दशधर्मलक्षण हैं—

धृतिः कूर्मे क्षमा बुद्धे नृसिंहे दम एव च।
अस्तेयं वामने चैव वराहे शौचमेव च।
हृषीकनिग्रहो रामे (परशु) ह्रीर्मत्स्ये वेदनं हरौ
सत्यं रामे तथा कल्कावक्रोधो धर्म ईरितः॥

ऋतं बृहत्। तत्पदार्थ को ठीक तरहसे समझानेके लिये ऋग्वेदका मन्त्र यहां उपस्थित किया। "हंसः" से सूर्य, वसुसे वायु, होता से अग्नि और दुरोणसत् अतिथि से जल इस प्रकार प्रत्यक्ष देवताओं को प्रथम परमेश्वररूपसे बताया। नृषत् से श्रेष्ठ जन्म नरवृत्ति आत्मा, वरसत् से देवतावृत्ति आत्मा, ऋतंसत् से यज्ञादि कर्म फलप्रयोजक ईश्वरीय आत्मा और व्योमसत् से हृदयाकाशगत आत्मा इस प्रकार परोक्षत्वेन प्रसिद्धको लेकर ईश्वरवर्णन किया। अब्जा गोजा इत्यादि से प्रात्यक्षिक वर्णन किया। अन्त में अब स्वरूपतः निर्देश करने जा रहे हैं। इस मन्त्रमें ऋत पद तीन बार आ गया है। ऋतसत्। ऋतजा और ऋतम्। ऋते सीदति, ऋताज्जायते इन दोनों में साक्षात् ऋतका उपादान नहीं। ऋतं यह केवल ऋतका ही उपस्थापन है।

ऋत शब्दके चार अर्थ बताये। ऋतं च सुनृतावाणी-सत्यवाणी-यह एक अर्थ है। यथार्थ फलदाता होनेसे यज्ञादिकर्म द्वितीय अर्थ है। सत्यं भूतहितं तु यत्-भूतहितकारी वाणी यह तीसरा अर्थ है। पारमार्थिक ऋतपरमार्थ-

वस्तुव्यञ्जक अखण्डाकारवृत्तिरूप ऋत यह चतुर्थ है। इन चारों में जो रहे वह ऋतसत्। सत्य वाणी में सत्य परमात्मा विराजमान है। यज्ञादि में फलदातृत्वरूपसे विराजमान है। हितवाणीमें रक्षकरूपसे विराजमान है। और अखण्डवृत्तिमें विषयरूपसे विराजमान है। ऋत सत्यसे प्रादुर्भूत ऋत यज्ञसे प्रादुर्भूत दो अवतार नृसिंह एवं रामको बताया। अब साक्षात् परमात्माको कहना अवशिष्ट है अतः अन्त में सीधे ऋतशब्द से बता दिया।

ऋत ही सत्य है। वही सत्य है। सत् की व्याख्या है-"कालत्रयोऽपि तिष्ठतीति सत्"। तीनों कालोंमें जो स्वरूपसे रहे वह सत्य है। वही सत्य है। जो निरन्तर परिवर्तनशील है वह सत्य नहीं हो सकता। एक आदमी अपने मित्रके पास गया, कहा-"दूंगा।" "मैं, अन्यत्र प्रयास तो न करूं? ना, ना हो जायगा। वह चला गया यह सोचने लगा जमाना खराब है। दूसरे दिन वह आया। हजार रुपये देनेके लिये आपने कल कहा था। उसने कहा, मैंने यही कहा था कि मैं सोचूंगा और देखूंगा मेरे पास है या नहीं। सो मेरे पास नहीं है। मैं लाचार हूं। उस मित्रको आप क्या कहेंगे? झूठा मित्र। क्योंकि उसने बात बदली। तो जो बदलनेवाला है वह सच्चा नहीं होता। यह शरीर तीस-चालीस-पचास वर्ष पहले बालक था, शिशु था। वह बदल गया, कुमार हुआ। फिर बदला, किशोर हुआ। फिर बदला, युवा हो गया। फिर बदला, अधेड़ हो गया। फिर बदला, वृद्ध हो गया। एक बार बदलनेसे उस मित्र को झूठा माना तो बार-बार बदलनेवाला शरीरादि सत्य कैसे हुआ? शरीर क्या? पूरा संसार बदल रहा है। वृक्ष पहले बीजरूप में था। बदल गया। अंकुर हो गया। फिर पौधा हो गया, फिर पेड़ हो गया। कालान्तरमें सूख गया। मकान बना। पचास वर्ष बाद जर्जर होने लगा। एक दिन ढह गया "प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावा ऋते चितिशक्तेः"। मकान सौ सालमें ढह गया तो क्या निन्यानव्वे वर्ष तक कुछ नहीं हुआ था? प्रतिवर्ष थोड़ा-थोड़ा जर्जर हुआ। वर्षमें दिसम्बर मासमें ३१ तारीखको ही जर्जर होता रहा क्या? नहीं। प्रतिदिन। दिनमें रात बारह बजे घड़ीकी तारीख सूई के समान क्या जर्जर हुआ? नहीं, प्रति घंटा। फिर प्रति मिनिट, फिर प्रति सेकेंड इस क्रमसे प्रतिक्षणपरिणामी

सभी हैं। यह कहें कि वृक्ष, मकान आदिमें प्रतिक्षण परिणाम भले हो पत्थर, मिट्टी आदिमें नहीं होता। वे तो लाखों वर्षों से ज्योंके त्यों हैं। नहीं। आज विज्ञानवाले यहां तक पहुंच गये हैं कि पत्थरों को भी बनें कितने वर्ष हो गये इसका आकलन करते हैं। चन्द्रलोकसे लाया गया पत्थर ढाई अरब वर्ष पुराना है। अमूक मूर्ति तीस हजार वर्ष पुरानी है। इत्यादिका पता किस प्रकार चलता है? उसके अमुक प्रकारके परिणामसे पता लगाया जाता है। इतने दिनोंमें इस ढंग का प्रात्यक्षिक परिणाम होता है इस आधारपर अंदाजा लगाया जाता है। पृथिवी, चन्द्र, सूर्यादि की भी यही स्थिति है।

जो परिणामी होता है वह कभी नष्ट भी होगा। वह उत्पन्न भी रहा। यह शरीर सौ वर्ष पहले नहीं था। कबसे नहीं था? अनादि कालसे। सौ वर्ष के बादमें नहीं रहेगा। कब तक? अनन्तकालतक। तब अभाव हो गया अत्यधिक। और अस्तित्व हो गया अत्यल्प। फिर शून्य से जो आया और शून्य में जो जायेगा। वह मध्यमें क्या होगा? जो सोने से बना वह सोना होगा। जो मिट्टीसे बना वह मिट्टी होगा। इत्यादि जोरशोरसे बोलते हैं। किन्तु यह भी बताओ जो शून्यसे आया वह क्या होगा? शून्य ही तो होगा। कुण्डल सोनेसे बना तो सोना ही तो होगा, शून्य क्यों होगा? उत्तर है कुण्डलकालमें सोनेके अस्तित्वको कौन चुनौति दे रहा है? हम पूछते हैं कुण्डल पहले था क्या? नहीं। तो कुण्डल शून्यसे ही तो आया। वह शून्यरूप क्यों नहीं होगा? गौडपादाचार्यजी कहते हैं-

"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥"

जो आदिमें शून्य है, जो अन्तमें शून्य है, वह वर्तमानमें भी शून्य ही होगा। लेकिन सोना तो सत् है। जी हां, हम कार्य कुण्डलको मिथ्या कहते हैं, सोनेको नहीं। इस प्रकार परम कारण ब्रह्मको सत्य मान ही रहे हैं, जगतको मिथ्या कहते हैं। ब्रह्मरूपसे जगत् सत्य है ही। जगत् रूपसे जगत् मिथ्या है। इस भयंकर पाश से बचनेके लिये सांख्योंने कहा कार्य कारणमें पहले से रहता है। यदि पहले से है तो बनानेके लिये परिश्रम क्यों करते हैं? अभिव्यक्तिके लिये। पत्थरमें मूर्ति पहलेसे थी। अनावश्यक

अंशों के आवरण से अनभिव्यक्त थी। अनावश्यक अंश खोदकर फेंका तो मूर्ति प्रकट हो गयी। उनसे पूछा जाय कि कार्य अभिव्यक्तिसे पूर्वमें कहां रहता है? कारणमें। एक घर बनता है तो वह घर सिमेंट में है या ईंटमें है या लोहेमें है? हजारों ईंटोंमें भी प्रत्येक ईंट में है या सभी ईंटोंमें। यदि सब कणों में है तो कण दूर दूर में है तो मकान सबमें बटा हुआ है या एक एक कणमें पूरा पूरा है? सभी अनुपपन्न है। यदि एक एक ईंटमें पूरा पूरा मकान है तो जितनी ईंटें हैं उतने मकान बनने चाहिये। बटा हुआ है तो बटा हुआ ईट ही हैं, मकान नहीं है। फिर वह अभिव्यक्ति प्रथम शून्य थी बादमें भी शून्य होगी तो मध्यमें भी शून्य ही होगी। पहलेसे अभिव्यक्ति थी तो प्रयत्न विफल होगा। अतः अनिर्वचनीय मिथ्या ही कार्यप्रपञ्च है।

"अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः"

बीचका दर्शन तो भ्रान्ति मात्र है।

क्या सभी भाव प्रतिक्षण परिणामी हैं? नहीं। ऋते चितिशक्तेः। चितिशक्ति को छोड़कर। चितिशक्तिमें परिवर्तन नहीं होता है। जो मैं बचपनमें था वही मैं अभी भी हूं यह प्रत्यभिज्ञा होती है। यह शरीरको लेकर नहीं। किन्तु आत्माको लेकर है। शरीर मेरा बदल गया। लेकिन मैं तो वहीं हूं। जाग्रतमें तथा सपनेमें शरीर भिन्न है। पर मैं तो एक ही हूं।

एक पुरानी बात है। ऋषिकेशसे आगे वसिष्ठ गुफा आदि कई गुफाएं हैं। एक गुफामें एक संत तप कर रहे थे। बीस वर्ष के जब थे तबसे साधु बनकर उसने निश्चय किया था मैं तप करूंगा। प्रथम कुछ दिनोंमें गांववालोंकी पहचान हो गई। तीस सालतक उसी गुफामें रहे। सिर्फ अंधेरेमें मैदान जाकर स्नान कर आते थे। गावंवाले रोटी लाकर एक छेद से अंदर देते थे। तीस साल तक कोई जनसंपर्क नहीं हुआ। उसके बाद भ्रमण करने निकले। ऋषिकेश में आये। वहां नवीन ढंगका बना हुआ मकान था। एक बड़ा सीसा कमरेमें लगा था। कमरेमें घुसते ही बेचारे डर गये। यह कौन सामने से आया? समझा कोई बड़ा महात्मा होगा तो प्रणाम किया। तो उस सामनेवाले ने भी प्रणाम किया। कमरे से पीछे आकर कोठारीसे बोले उसमें एक महात्मा है। कोठारीने कहा—कोई नहीं

है। खाली है। कोठारी साथमें आये-कहां है? सीसेमें दिखाये। लेकिन उसमें कोठारीकी परछाई थी? अरे! यह तो प्रतिबिम्ब है। वह बूढ़ा महात्मा कहां है जिसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है? कोठारी हंसने लगे। वे तो रहस्य समझ गये थे। दूसरोंको इशारा किया। वे भी हंस रहे थे। महात्मा कहते हैं यह जिस का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह है कहां? छिपा है? अन्तमें कहा-महाराज, यह आपका ही प्रतिबिम्ब है। हैं........। मैं बूढ़ा हो गया? माथा पकड़कर बैठ गये। उनको तब ब्रह्मसूत्र भामती की पंक्ति याद आयी। ओहो! मैं अपने आपको तो वही समझ रहा हूं। लेकिन शरीरमें कितना परिवर्तन हुआ। शरीर बदल गया। मैं नहीं बदला। दूसरा कोई होता तो रोने लगता अपनी दुर्दशा देखकर। किन्तु महात्माने तत्त्वग्रहण किया। आत्मा अपरिवर्ती है। शरीर परिवर्तनशील है। जन्म जन्मान्तरपर्यन्त भी अपनेको अपरिवर्तित चेतनरूपसे पायेंगे। मैं बालक, मैं बूढ़ा इत्यादि शरीराध्याससे परिवर्तनसा लगता है। मैं मूर्ख, मैं पण्डित यह अन्तःकरणाध्याससे है। मैं अज्ञानी इत्यादि अविद्याध्याससे है। वे महात्मा अच्छे बुद्धिमान कवि थे। बचपनसे ही कुछ संस्कृत सीखे थे। दो श्लोक बनाकर उन्होंने बादमें सुनाया। मैं ने कालसे कुछ प्रश्न किया और कालने उत्तर दिया। क्या?

"हा हा काल प्रखरनखरैर्निष्ठुरं प्राहृथास्त्वं
कस्मादस्मिन् विदधति तपो मय्यनागस्यकस्मात् ।
फुल्लाम्भोजावलिपरिलसत्पल्वलाभं मदास्यं
माध्याह्नार्के सितसिकतिलक्ष्मातलाभं यदाधाः" ॥

हे काल! तुमने अपने कठोर नाखूनसे मुझ निरपराध तपस्वी पर अकस्मात् क्यों प्रहार किया? खिले कमलवाले सरोवर के सदृश मेरे मुख को (श्यामल बाल, कमलोपम नेत्रादियुक्त मुखको) तुमने तो ऐसा बनाया मानो सफेद मरुभूमि मध्याह्नके सूर्यकी किरणोंसे चमक रही है।

कालने उत्तर क्या दिया?

"तपस्विनः सन्तु यशस्विनो वा तमस्विनो नाथ मनस्विनो वा।
न मेऽस्ति भेदो न च रोषतोषौ समस्तमेतज्जरयामि विश्वम् ॥"

तपस्वी, यशस्वी, तमोगुणी, मनस्वी आदि भेद मुझमें नहीं है, न राग न रोष। बस दुनियाको मैं जीर्ण करता रहता हूं यही मेरा काम है।

आत्माका स्वरूप ऋत है। अपरिवर्तनशील है। आत्मानुसन्धान निरन्तर करते रहने से प्रथम उसीके सद्रूपताका अनुभव होगा। जैसे हमें अनुभव होता है जो मैं बचपनमें था वही अभी हूं। अर्थात् शरीराध्यासको छोड़कर यह अनुसंधान करेंगे तो अपरिवर्ती रूप का अनुभव होगा। स्वप्नशरीरमें भी वही अहमर्थ, जाग्रत शरीरमें भी वही अहमर्थ। सुषुप्तिमें भी वही। इस प्रकार अपरिवर्तित रूपसे सत् का साक्षात्कार होने लगता है।

शरीरादि तथा आत्माके जहां पृथक्त्वका अनुभव हुआ, कि यह शरीर परिवर्तनशील है, मैं अपरिवर्ती हूं वहां यह भी मालूम होने लगेगा कि मैं द्रष्टा हूं। शरीर और उसके परिवर्तनोंको देख रहा हूं। यह दृश्य है। जैसे बाहर शरीरको मैं देख रहा हूं वैसे भीतर सुखदुःखादिको भी मैं प्रकाशित कर रहा हूं। इस सुखदुखादिसे भी मैं पृथक् हूं। सुखदुःखादि दृश्य है। मैं द्रष्टा हूं। क्या तात्पर्य? द्रष्टा चैतन्य होता है। दृश्य जड़ होता है। पूरा जगत् जड़रूप है। उससे विलक्षण सबका प्रकाशक मैं चिद्रूप हूं। इस प्रकार आत्मा के चैतन्यरूपका अनुभव होने लगता है। शरीरादितादात्म्य होनेसे ज्ञानको आत्माका गुण मानने लगे नैयायिकादि। जैसे रंग और कपड़ेका तादात्म्य होनेपर कपड़ा रंगीन कहते हैं। रंग कपड़ेका गुण हो गया। वस्तुतः रंग स्वतन्त्र द्रव्य था। वह गुणरूपसे भासने लगा। वैसे ज्ञान स्वतन्त्र था। किन्तु बुद्धि तादात्म्यसे गुण दीखने लगा। आत्मा को शरीरादि से अत्यन्त पृथक् देखने लगे तब स्वतन्त्र ज्ञानरूप आत्मा भासेगा। जैसे माईक्रोस्कोपसे देखें तब मालूम पड़ेगा धागा अलग है, रंग परमाणु उसके संनिकृष्ट उससे पृथक् है। यहां ध्यानाभ्यास ही साधन है।

इसके बाद फिर अनुभव होगा वह आनन्दरूप है। सुषुप्ति उदाहरण है। सुषुप्तिमें सर्वत्याग किया। रेडियो बंद किया। टी.वी. बंद किया। बेटे से कह दिया, जाओ सो जाओ। स्पर्श अब नहीं चाहिये। जोरदार नींद आ रही है। खाना पीना तो पहले ही समाप्त हो गया। गलेमें से, बालमें से हार, वेणी अलग किया। सुषुप्तिकालमें कोई भी विषय नहीं रहा। बल्कि शरीरका भी ख्याल छोड़ा। संकल्प-विकल्प भी छोड़ा। इसीको सर्वसंन्यास

कहते हैं। उस संन्यासमें कितना आनन्द कितनी शान्ति। बेचैनीकी तो दवा सुषुप्ति है। वहां जो आनन्द हो रहा था क्या वह वैषयिक है? नहीं। शब्दस्पर्शादि को पूर्व ही हटा लिया था। मानसिक काल्पनिक है? नहीं। मनको भी समाप्त कर दिया था। तब वहां आत्मसुख ही निश्चित होता है। वहां संन्यास सुख प्रतीत होता है। हां, वहां भी कसर है। अज्ञान घनीभूत होकर वहां रहता है। अतएव स्फुट आनन्दानुभव नहीं होता। अतएव वही परमपुरुषार्थ नहीं है। समाधिमें घनीभूत अज्ञान नहीं रहता है। यही सुषुप्ति और समाधिमें फरक है। इसीलिये श्रीहर्ष ने कहा-

"यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।"

समाधि में आनन्दका समुद्र लहराने लगता है। महिम्नः स्तोत्रमें भी यही कहा—

मनः प्रत्यक् चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये ।

प्रथम दो पादोंमें समाधिविधि इसमें वर्णित है। उसका फल है— यदालोक्याह्लादम्। द्रष्टा पृथक् दीखने लगते हैं तो धीरे-धीरे दृश्यविलय होगा। वही समाधि है। मनको बाह्यवृत्तियोंसे विरक्त कर अन्तरात्माकी ओर मोड़ते हुए चित्त अर्थात् हृदयचैतन्यमें सप्रकार-यम-नियमादि प्रकार-सहित, प्राणायाम करनेवालोंने लगाया। तब अन्तरानन्ददर्शन होने लगा। जिससे शरीरमें रोमांच होने लगा। आंखोंमें आनन्दाश्रु भरने लगे। वे जिस आनन्दतत्त्वको देखकर अमृतमय सरोवर में मानो गोता लगाते हुए आह्लादका अनुभव करते हैं वे आनन्दतत्त्व भगवान् शिव ही हैं ऐसा श्लोकका पूरा अर्थ है।

इस प्रकार सत् चित् आनन्दका अनुभव आत्मानुसन्धान करने-वालोंको जो होता है वही ऋत अर्थात् परमार्थ है।

'बृहत्' यह विशेष्यबोधक पद हो तो इसका ब्रह्म अर्थ है। ऋतं का विशेषण भी यह हो सकता है। लौकिक ऋतादिकी व्यावृत्तिके लिये विशेषण है। बृहत् बड़ा या अपरिच्छिन्न अर्थ है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥ ३ ॥

प्राणको ऊपरकी ओर ले जाता है। अपानको नीचेकी ओर फेंकता है। स्वयं मध्यमें आसीन है। उस वामन की समस्त देवता उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

पूर्वमन्त्रमें तत्पदार्थ का निरूपण किया। अब्जा, गोत्रा, ऋतजा, अद्रिजा इन चार विशेषणोंसे सामान्य अर्थ-जलमें उत्पन्न मीनादि, स्थलमें उत्पन्न पशु आदि अर्थ एक बताया। दूसरा अर्थ अवतारोंको लेकर कहा। अब्जा अर्थात् जलमें प्रकट मत्स्य और कूर्म। गोजा से श्रीकृष्ण परशुराम आदि, ऋतजासे प्रह्लाद के सत्यवचनसे प्रकट नृसिंह और क्रतुसे आये राम। अद्रिजासे वन पवर्तमें प्रकट वराहरादि बताये है। रह गये थे वामन। उस वामनको लेकर प्रकृत मन्त्र है और परमात्मनिरूपणपरक है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति। अपानं प्रत्यगस्यति। यह वामन प्राणको ऊर्ध्वकी ओर प्रेरित करता है और अपान नीचेकी ओर। हृदय से नासिका पर्यन्त प्राणकी गति है। हृदयसे नीचेकी ओर अपानकी गति है। इन दोनों गतियोंके प्रति प्रेरक आत्मा है। जिसको 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः' इत्यादिसे बताया है।

मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते। वह प्रेरयिता कहां बैठा है? मध्यमें, हृदयमध्यमें जिसकी उपासना समस्त देवता करते हैं।

यह कौन है? मध्यमें बैठा हुआ वामन है? 'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यं' इस श्रुतिमें जिसको इंगित किया है वह दहर पुण्डरीक तथा दहराकाश दभ्र होने ही के कारण उसके अंदर स्थित अन्वेषणीय तत्त्व वामन कहलाया। वामन का नाटा, छोटा, खर्व आदि अर्थ है। छोटे कदके आदमीको वामन कहते हैं। परंतु यह सर्वथा छोटा भी नहीं है। श्रुतिमें आया है—

'यावानयमाकाशस्तावानयमन्तर्हृदय आकाशः'

यह बाहर आकाश जितना बड़ा है उतना ही बड़ा अन्तर्हृदय आकाश भी है। प्रश्न होगा कि बाहर आकाशमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विमान, राकेट

आदि घूमते हैं। अंदर एक मच्छर भी जाय तो खांस-खांसकर मरने लगेंगे। कैसे दोनोंकी बराबरी है? उत्तर है-बाहर सूर्य, चन्द्र, राकेट, विमानादि देखकर अंदर देखो तो अंदर वे सब दिखाई पड़ेगें कि नहीं? पड़ेंगे। तब बाहरकी अपेक्षा यह छोटा क्यों? अंदर केवल दीखता है। वस्तुतः है नहीं ऐसा कहो तो बाहर भी केवल दीखता है परमार्थतः नहीं है यह बात समान है। कहें कि केवल स्मरण अंदर करते हैं। स्मरण करते समय जो विषय उपस्थित होता है वह भी तो भीतर ही होता है। फिर उपाधिनिरपेक्ष दृष्टिसे दोनों एक होनेसे भी समानता है। वस्तुतः विचार करनेपर दोनों एक हैं, न्यूनाधिक नहीं हैं। लोगोंकी साधारण दृष्टिसे वामन है।

यह वामन कौन है? "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा" ऐसा इसके बारेमें कहा है। प्राण भी है, प्रज्ञात्मा भी है। प्राणसे प्राणनशक्तियुक्त-क्रियाशक्तियुक्त तथा प्रज्ञात्मा से प्रज्ञाशक्तियुक्त ज्ञानशक्तियुक्त। दो ही शक्ति प्रसिद्ध हैं। एक ज्ञानशक्ति, दूसरी क्रियाशक्ति। वही शक्ति प्राण तथा प्रज्ञामें प्रस्फुटित होती है और बाहर ज्ञानरूपसे तथा क्रियारूपसे प्रकट होती है। प्राण और प्रज्ञात्मामें अत्यन्त भेद नहीं है। ज्ञानशक्तिके बिना क्रियाशक्ति कार्योन्मुख नहीं हो सकती और क्रियाशक्ति नहीं होगी तो ज्ञानशक्ति कुण्ठित पड़ी रहेगी। अतः दोनोंको मिलाकर दशप्रज्ञामात्राः इस प्रकार बताया। "प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा" ऐसा सामानाधिकरण्यनिर्देश भी किया। इन दसके विषय दस हैं, उन्हें भूतमात्रा कहा गया। जैसे बिजली में प्रकाशकत्व है शकटादि-चालकत्व भी है। अलग-अलग स्थान शक्तियोंके लिये नहीं है। एक ही बिजली है। वैसे यहां भी है।

छान्दोग्य उपनिषदमें एक कथा आयी है। एकबार चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, मन आदिका आपसमें विवाद हो गया था। चक्षु आदिका समझ लो या चक्षु आदिके अधिष्ठाता देवोंका।

अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरे

अहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति ।

चक्षुने कहा हे देवों! इन्द्रियों! तुम्हें मालूम है? मेरे बराबर कोई अन्य नहीं है। मैं इस शरीरका सार हूं। मेरे बिना यह शरीर व्यर्थ है।

"सर्वोन्द्रियाणां नयनं प्रधानम्"

समस्त इन्द्रियोंमें नयन प्रधान है। नयन न हो तो वह अंधा होता है। पूरे एक आदमीका काम अकेला नयन करता है। किसीने सूरदासजीको आमन्त्रण दिया, आप हमारे घर भोजनार्थ पधारिये। मैं ज्यादा पैसेवाला नहीं हूं। फिर भी यथाशक्ति सेवा करना चाहता हूं। सूरदासजीने कहा मेरे साथमें एक और रहेगा। भक्तने कहा—मुझमें इतनी ताकत नहीं है। सूरदासजीने कहा तेरेको मालूम है-अन्धेको निमन्त्रण दो तो दोको देना पड़ता है। अतः आंख सर्वोत्तम इन्द्रिय है। यह सुनकर श्रोत्रने कहा—अरे नयनादि देवो! मैं सर्वश्रेष्ठ हूं। नयनवाले दुनियामें बहुते हैं किन्तु श्रोत्रका स्थान सर्वोपरि है। वह आंखका भी काम करेगा।

"सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः"

वेद शास्त्रादि सबका लोचन है। आंख तो स्थूल वस्तुको देख सकती है। अतीन्द्रिय अर्थ को नहीं। उसके लिये एकमात्र शास्त्र ही लोचन है। पूर्वार्ध है—

"अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शनम् ।"

कई संतोंका अनुभव है कि संशय होनेपर गीता पढ़ लेते हैं। श्रुतिशास्त्र तो श्रवणगम्य है। श्रोत्रेन्द्रियोंके बिना श्रुतिश्रवण नहीं हो सकता। इसका नाम ही श्रुति इसलिये पड़ गया। यह सुनकर रसनाने कहा—क्या तुम लोग बोलते हो? सबका मूल तो मैं हूं। श्वेतकेतुने पंद्रह दिन भोजन नहीं किया तो वेदोंको नहीं समझ रहा था।

किं ब्रवीमि भो इति-ऋचः सोम्य यजूंषि सामानीति ।
स हो वाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥

मैं क्या बोलूं' श्वेतकेतुने पितासे पूछा उद्दालकने कहा—ऋचा, यजु, साम बोलो। श्वेतकेतुने कहा-मुझे कुछ नहीं सूझ रहा है। वैरागीबाबाने नया चेला बनाया। गठरी लेकर पैदल पैदल गांव पहुंचे दोनों। पर वहां भिक्षा नहीं मिली। चेलेने कहा-अब क्या? दूसरे गांव चलो। दूसरे गांव पहुंचे तो वहां भी नहीं मिली। बाबाने कहा-बैठकर भजन करो। चेलेने कहा—

"भूखा भजन हुए न गुपाला ले लो अपनी कंठीमाला"

तात्पर्य, शास्त्र तो क्या हरिभजन भी, जिसको अति सरल बताया है, रसनाके विना संभव नहीं। अतः मैं (रसनेन्द्रिय) सर्वश्रेष्ठ हूं। इतनेमें पावंने आकर कहा-अरे। रहने दे, रहने दे। गुरूपसदनके विना न केवल शास्त्रश्रवण होता है और दौड़धूप किये बिना न अन्न मिल सकता है। मैं सर्वश्रेष्ठ हूं। वाणीने कहा-क्या तुम लोग कहते हो, वाणी के बिना बोलेगा गुरु कैसे? प्रश्न करना पड़ता है प्रथम शिष्यको। नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्। रोये बिना मां भी दूध नहीं पिलाती। वाणी न हो तो पूरा काम ही ठप हो जायेगा। पशु बन जायेंगे। बल्कि पशुपक्षी भी अपनी बोलीसे ही इशारा करते हैं। थका थकाया व्यक्ति अपना संगीत तान छेड़ देता है तो ताजा हो जाता है।

इस रीति ये प्राण परस्पर लड़ने लगे। कोई निर्णय नहीं हो रहा था सब मिलकर प्रजापतिके पास गये और पूछने लगे कि आप निर्णय दें कौन हममे श्रेष्ठ है।

"ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन् को नः श्रेष्ठ इति"

प्रजापतिने सोचा जिसका भी नाम लूंगा। उससे दूसरे ईर्ष्या करेंगे। फिर झगड़ा होगा। फिर मेरे पास आयेंगे निर्णयार्थ। साँप भी मरे, लाठी भी न टूटे ऐसा काम करना होगा।

"तान् होवाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं
पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ।"

प्रजापतिने कहा तुम सब अपने स्थानमें प्रथम रहो। फिर एक-एक शरीरको छोड़कर जाओ। जिसके चले जानेपर शरीर अति पापिष्ठ गंदा हो जाय वह श्रेष्ठ होगा। इसके बाद एक एक कर शरीर छोड़कर एक एक वर्ष बाहर रहते हैं। वापिस आकर देखते हैं कि मेरे बिना शरीर अतिपापिष्ठ हुआ कि नहीं? "चक्षुर्होच्चक्राम, मनो होच्चक्राम, वागुच्चक्राम-संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकेतर्त्ते मज्जीवितुमिति"। चक्षु कहने लगी मेरे बिना अंधा जीवित है। वाक्ने कहा मेरे बिना गूंगे जीवित हैं। इसके बाद मुख्यप्राण निकलनेके लिये तैयार हुआ।

"अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषत्
स यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून्"

प्राण निकलने ही लगा कि सब इन्द्रियां उखड़ने लगीं। सबने कहा-हे प्राण! मत जाओ, मत जाओ, तुम सर्वश्रेष्ठ हो।

यह प्राण कौन? जो प्रज्ञात्मा-प्राणकी उपाधि है। प्राणोत्क्रमण होनेपर कैसा भी सुन्दर हो, धनीमानी हो, फिर उसके लिये स्थान वही है जहां कोई विना प्रयोजन नहीं जाता—श्मशान। सभी अन्य देव प्राण की ही पूजा तबसे करने लगे। 'प्राणो वाव संवर्गः" में बताया प्राण ही यहां भी है। ऐसा भाष्यमें बताया है। उसकी ब्रह्मरूपमें उपासना की जाती है। इस उपाधिके कारण ही "प्राणः प्रज्ञात्मा" इस प्रकार प्राण शब्द से ब्रह्म अभिहित हुआ और ब्रह्मोपाधि होनेसे यह श्रेष्ठ हुआ। उपाधिके जानेपर उपहित भी चला जाता है। वह उपाधिरूप प्राण ही तरंगरूप प्राणवायुको ऊपर और अपानको नीचेकी ओर फेंकता है। चक्षु आदिकी एवं वागादिकी शक्तिका स्रोत यही प्राणरूपी अन्तःकरण है। वही हृदय है।

पुरोणोंमें वामनकी कथा आती है। राजा बलि भरुचमें नर्मदा किनारे यज्ञ कर रहे थे। वे तीनों लोकोंको जीतकर त्रिलोकीपति हो गये थे। वहां बटुकरूपसे वामन पहुंचे। सूर्यसमान तेजस्वी बटुकको देखकर राजा बलि प्रसन्न हुए। अपने यज्ञ से उठे। यज्ञमें कोई अतिथि आता है तो उठनेमें कोई हर्जा नहीं है। क्योंकि दक्षिणाक्रीत पुरोहित कार्य चलानेवाले होते हैं। वामनका पूजनादि किया और बोले कि मैं त्रिलोकपति हूं। बोलो आप क्या इच्छा रखकर मेरे पास आये हो? जो चाहो, मांग लो। लखपतिका भी अभिमान होता है, करोड़पति का तो कहना क्या? कुछ लखपति करोड़पति भगवान् को भी कुछ नहीं समझते। जो समझते भी हैं वे भगवानके निमित्त चंदा देते समय यही समझते हैं कि मैं बड़ी कृपा कर रहा हूं। राजा बलिने प्रथम भगवानको समझा नहीं, शुक्राचार्यके कहनेसे समझने पर भी वामनका उपकार करना सोच लिया। बाहरसे भगवान् समझने पर भी भीतरसे मूर्तिको साक्षात् भगवान् कैसे समझेंगे? आंखोमें जबतक अंजन नहीं लगता तबतक लौकिक प्रत्यक्ष बलवान होता है। वामन भगवानने तीन पग जमीन मांगी। राजा बलिका कहना था कि तुम अपना स्वार्थ भी नहीं समझते हो। त्रिलोकीपतिके पास आकर एक वर्ष

क्या एक द्वीप ही-जम्बूद्वीपादिमें कोई एक मांगते। दानमें तीन पग़ जमीन दिया। किन्तु नापते समय देखा यह वामन नहीं, यह तो विराट् है।

"तद्वामनं रूपमवर्धताद्भुतं हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम् ।
भूः खं दिशो द्यौर्विवशः पयोधयस्तिर्यङ् नृदेवा ऋषयो यदासत ॥"

श्रुतियोंमें भी विष्णु वामन बने ऐसा न लिखकर वामन विष्णु बने ऐसा बताया। विष्णुका अर्थ है व्यापक। व्यापकने जगतको नापा, परिमित किया—

"वामनो ह विष्णुरास"

पूरे जगतको तीन पगोंमें नाप डाला।

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्"

अन्तःस्थित वामनने तीन पदसे जगत् को नापा। तीन जगत् कौन? जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति। इनको व्याप्त करनेवाले पद हैं—

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोन-
विंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ।
स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोन-
विंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ।
सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवा-
नन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ।

वामन प्रथम पाद वैश्वानर या विश्व है। द्वितीय पाद हिरण्यगर्भ या तैजस है। तृतीय पाद ईश्वर या प्राज्ञ है। इन पादोंसे तीनों जागरित आदिको परिच्छिन्न किया। इन दो पादोंसे सकल प्रपञ्चको नापा। जाग्रत् प्रपञ्च प्रत्यक्ष है। स्पप्नप्रपञ्च भी मानस प्रत्यक्ष है। सुषुप्तिमें सर्वाभाव है। एक अणु भी वहां नहीं है।

"न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि" ।

तृतीय पाद मस्तकपर रखा। मस्तक पूरे शरीरका ऊर्ध्वमूल है। सुषुप्तिमें कारणशरीर अज्ञान रहता है। वहीं तृतीय पद जमाया।

विश्वे देवा उपासते। सभी देव इस वामनकी उपासना करने लगे। बलि प्रसङ्गमें भगवानका चरण ब्रह्मलोकमें पहुंचा तो ब्रह्माजी एवं अन्य सभी देव भगवानकी चरणपूजामें लग गये। क्योंकि पृथिवीमें भगवानके चरण पड़ते हैं, अवतारकालमें, ब्रह्मलोकादिमें नहीं—

"ब्रह्मादयो लोकनाथाः स्वनाथाय समादृताः ।
सानुगा बलिमाजह्रुः संक्षिप्तात्मविभूतये ॥"

ऐसा भागवतमें आया है। ब्रह्म, इन्द्र, कुबेरादि लोकपाल समादरके साथ स्वनाथ भगवान् वामनको बलि पूजाकी भेंट देने लगे तथा उनके अनुयायी अन्य देव भी। ब्रह्माजीके अनुयायी ब्रह्मलोकवासी। इन्द्रके अनुयायी देवता इत्यादि। भगवान् वामन कैसे थे? अपनी संपूर्ण आत्मविभूतियोंको उपसंहृत किये हुए थे। ब्रह्माजीने चरणपूजन किया–

"धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥

ब्रह्माने अपने कमण्डलमें जो ब्रह्मवारि रखा था उससे वामन भगवानका चरण धोया। वही बादमें गंगा कहलायी और तीन भागोंमें विभक्त हो गयी। स्वर्ग गङ्गा, भागीरथी गङ्गा पाताल गङ्गा। आचार्य गङ्गास्तुतिमें कहते हैं-

"आदावादिपितामहस्य नियमव्यापारपात्रे जलं
पश्चात्पन्नगशायिनो भगवतः पादोदकं पावनम् ।
भूयः शंभुजटाविभूषणमणिर्जह्नोर्महर्षेरियं
कन्या कल्मषनाशिनी भगवती भागीरथी राजते ॥"

प्रथम वह ब्रह्माजीके नियमव्यापारपात्र कमण्डलका जल था। पश्चात् भगवान् वामन का वह चरणोदक बना। तदनन्तर भागीरथ प्रार्थनासे शंकरने अपनी जटामें उसे धारण किया। वही जाह्नवी हुई वह भागीरथी शोभायमान हो रही है। इस प्रकार सब देवोंने वामनकी उपासना की।

यह अदितिनन्दन वामनकी बात हुई। अब प्राणरूपी प्रज्ञात्मा वामनके विषयमें भी विचार करें। इस वामनकी भी पूजा सभी देव करते हैं। चक्षु आदि सभी देव हैं। इनके अधिष्ठाता तो देवता हैं ही। ये सभी वामनकी पूजा करते हैं। देवताओंको भगवत्पूजा बड़ी दुर्लभ होती है। दहरपुण्डरीक देवताओंका नहीं हो सकता। क्योंकि "मांसपिण्डो लम्बते" इस प्रकार उसे मांस पिण्ड या फुप्फुस बताया है। वह देवताओंका नहीं हो सकता। सामान्य ब्रह्म तो सर्वत्र हो सकता है। किन्तु उसमें उपासना संभव नहीं है। अतएव वामनपूजनार्थ सभी देवता मनुष्यादिशरीरमें आकर चक्षुरादि

अधिष्ठानोंमें रहते हैं। आश्चर्य है कि देवता इस मानवशरीरसे लाभ उठाते हैं। किन्तु इस देहका असली मालिक इससे पूरा लाभ उठा नहीं पाते। यह तो ऐसा ही है कि मुनीम नौकर आदि खा जाते हैं। सेठ कोरा रह जाता है। वैसे तो ये देवता केवल स्वार्थी नहीं है। चक्षु आदिपर अनुग्रहकर रूपादिदर्शनयोग्य बनाते हैं। किन्तु उनकी यह कोई निःस्वार्थ सेवा नहीं है। तुम्हारी निःस्वार्थ सेवा देवता क्यों करने लगे? तुमसे उनको क्या मिलना है? और तुम इतने बड़े हो कि तुम्हारी सेवासे तुम्हें वे प्रसन्न करे?

चक्षु बाहर जाती है। अच्छा बुरा जो भी रूप मिला उसको लेकर आती है। और मनको दे देती है। मन उसपर संकल्पविकल्प कर बुद्धिको देता है। बुद्धि प्राणको समर्पित करती है। वही मुख्य पुजारी है। वह वामन भगवानको देता है। वामन भगवान् उसे जो देखता हैं वही उसका बलिग्रहण कहो, भोग लगाना कहो। इसी प्रकार श्रोत्र बाहरसे शब्द लेकर मनको देता है। मन बुद्धिको, बुद्धि प्राणको, प्राण आत्माको। इसीप्रकार घ्राणादि भी स्वस्व विषय मनको देते हैं। मन इतने अंशमें बिचोली होगा। किन्तु उसका अपना संकल्पविकल्प भी होता है। संकल्पनीय विषय भी होते हैं। स्मरणमें और संकल्पनीयमें फरक है। नैयायिक स्मरणको प्रत्यक्षसे भिन्न मानते हैं। संकल्पनीयको मानसप्रत्यक्षविषय मानते हैं। सुखादि विषय तो स्पष्टतया मनका ही है। मन केवल बुद्धिको समर्पित करेगा। बुद्धि प्राणको। बुद्धिका अपना स्वतन्त्र विषय है। वह है निश्चयनीय अर्थ। उसे वह प्राणको देगी। प्राण वामनको। इसी प्रकार सभी इन्द्रिया स्वदेवतानुगृहीत होकर स्वविषयोंको परम्परया आत्मा वामनतक पहुंचाकर वामनकी पूजा करते हैं।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

यह देही आत्मा शरीरमें स्थित है। किन्तु धीरे-धीरे शरीरतादात्म्यको छोड़कर इसमें से खसकता जा रहा है। अन्ततः देहसे विमुक्त होता है। तब क्या परिशिष्ट रहेगा? शरीर भी खतम होगा। जिससे शरीर अस्तित्वमें रहा वही वह तत्त्व है।

वामन भगवानकी बात चल रही थी। वह मध्य में विराजमान है। प्राणको ऊपर और अपानको नीचेकी ओर फेंकता रहता है और धीरे धीरे यहां से खसकनेकी तैयारी करता है। सभी देवता उपासना करते हैं। कहते हैं—मोत्क्रमीः मोत्क्रमीः। क्योंकि अभी सब आसन जामाये बैठे हैं। और वामन पूजन कर कृतार्थ हो रहे हैं। वामनके जाने पर उनके पीछे पीछे चलना पड़ेगा। फिर नया पड़ाव जमाना पड़ेगा। पहले जमानेमें मण्डलेश्वर लोग कथा प्रवचन करते थे तीन महीना चार महीना। तो शिष्यलोग अपना आसन जमाकर बैठते थे। कथा समाप्त होनेपर दूसरी जगह जाते तो पीछे-पीछे उनको भी जाना पड़ता था। फिर नयी जगह जमानेमें तकलीफ होती थी। तो यही चाहते थे कि अधिकाधिक समय एक ही जगह रहा करें। पर मण्डलेश्वरोंकी आदत थी कि कथा पूरी हुई कि दूसरे दिन चल पड़ते थे। बहुत विनती करनेपर कभी ठहर भी जाते थे। यही वामनकी भी बात है। उस बातको लेकर यहां तत्त्वविचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

अस्य विस्रंसमानस्य। यह आत्मा नित्य विस्रंसमान है। क्योंकि इसकी उपाधिभूत प्राण विस्रंसमान है। प्राणशक्ति प्रतिदिन घटती जाती है। माता के उदर तक प्राणशक्ति का संचयन होता है। माता के उदर से बाहर आते ही अपचय शुरु होता है। दो प्रकारके जीव माताके उदरमें आते हैं। एक अनुशयी हैं। दूसरे जायस्व म्रियस्ववाले। यज्ञादि अनेक सत्कर्म जीवनभरमें करते रहे। ज्ञानार्थ परिश्रम नहीं किया तो ऐसे लोग मरणोत्तर पितृलोक नामके स्वर्गमें पहुंचते हैं। उसको सोमलोक भी कहते हैं। वहां कर्मफल भोग कर प्रथम आकाशमें पड़ते हैं। फिर वायुमें। वहांसे अभ्र-मण्डलमें, वहांसे मेघमें। फिर वृष्टि होकर यव गोधूमादिमें आते हैं। उसका भक्षण मनुष्य करता है। बीचमें धानका कूटना, पीसना, गूंदना, सेकना आदि सब होता है। इससे बड़ा कष्ट भी होता होगा। नहीं। उस समय जीवात्मा मूर्छित रहता है। अस्पतालोंमें मूर्छित कर पेट छातीका आपरेशन करते हैं तो क्या दर्द होता है? नहीं। वैसे यहां भी क्लेश नहीं होता। वह पिता के शरीरसे प्राणशक्तिका संचय करने लगता है। फिर माताके उदरमें आता है। वहां पुनः प्राणशक्तिसंचय करता है फिर जन्म लेता है। दूसरा

प्रकार है-यज्ञादि न करनेसे उत्तरायण, दक्षिणायन किसी मार्गसे नहीं जाता। माता के उदरमेंपितृसिक्त तेज दो महीनेका होनेपर उसमें प्रवेश करता है। वह भी बादमें जन्म लेता है। दोनोंमें फरक यह है कि प्रथममें प्राणशक्ति अधिक रहती है, द्वितीयमें कम रहती है क्योंकि पितृशरीरमें प्राणशक्तिसंचायक नहीं रहता। यद्यपि पितृशरीरमें चालीस दिन तक ही तेज रहता है फिर भी उतनेमें थोड़ा संचय होता ही है। माताके उदरमें दस मास रहता है वहां से अधिकाधिक प्राणशक्तिसंचयन होता है। किन्तु जहां माताके उदरसे बाहर आ गया, नाभि कट गयी फिर प्राणशक्ति संचय नहीं होता। फिर अपचय ही अपचय होता है। ह्रास होता है।

कोई शंका कर सकता है कि माता के उदरसे बाहर आते समय कहां उसमें प्राणशक्ति विशेषरूपसे रहती है? जरा सा दबा दिया तो खतम ही हो जायेगा। पहले समयमें लापरवाहीसे बालमरण बहुत होते थे। पचीस वर्षतक प्राणशक्ति पूर्ण होती है। नहीं। ऐसी बात नहीं है। जन्म लेते समय बालक सौ वर्षकी आयु लेकर आता है। उतने दिन तक जीनेकी उसमें प्राणशक्ति रहती है। किन्तु बीस पचीस वर्षतक प्राणशक्ति बढ़ाकर वह दो सौ, चारसौ वर्ष तक जीयेगा। नहीं। पचीस वर्षके होनेपर उसमें पचहत्तर वर्षतक जीनेकी प्राणशक्ति रह जाती है। क्या यह प्राणशक्तिका बढ़ना हुआ या घटना? अतः जन्मके बाद प्राणशक्तिका ह्रास ही होता है। अतएव आत्माको बताया-**विस्रंसमानस्य**। आत्मसत्तामें ही प्राणोन्नयन तथा अपन प्रत्यगसन चलता है और प्राणशक्तिक्षय भी होता है। योगशास्त्रमें बताया है कि प्राणायाम विधिके अनुसार प्राणापानगतिनिरोध करते हैं तो प्राणशक्तिक्षय उस समय नहीं होता। इधर आयु बढ़ जाती है। दो महीनेका अनाज भरा। दस दिन उपवास रखेंगे तो दो महीने दसदिनतक अन्न चलेगा ही। किंतु इतना ही नहीं। प्राणायामसे प्राणशक्ति कुछ बढ़ भी जाती है। ऐसा योगियोंका मत है। इसीके बलपर योगी लोग हजार-हजार वर्ष तक जीवित रहते थे। इक्ष्वाकुसे लेकर कितनी पीढ़ियोंतक वसिष्ठजी कुलगुरु रहे। अतः दोनों प्रकारसे आयुवृद्धि योगियोंकी होती रही। इस रहस्यको न जाननेवाले आधुनिक कहते हैं-वसिष्ठगद्दी रही जिसमें वसिष्ठ

भी बदलते रहे। खैर, इस चर्चामें अपनेको उतरना नहीं है। प्राणशक्ति निरन्तर घटती ही है यह तो सार्वलौकिक है।

हमारे अंदर जन्मसमय कितनी प्राणशक्ति रही इसका कोई माप है क्या? है। सतहत्तर करोड़ छिहत्तर लाख प्राणशक्ति रही। यह भला क्या हिसाब? कुछ, किलो, मन आदि कहो। नहीं। यही हिसाब है। कैसे? एक सालमें तीनसौसाठ दिन होते हैं। सौ वर्ष ऊमरका मतलब-छत्तीस हजार दिन। कोई बड़ी संख्या नहीं है। बस यही आपके पास पूंजी है। किसीके पास छत्तीस हजार रुपये हैं। तो वह कोई बड़ी पूंजी नहीं मानी जाती। एक एक रुपया खर्च करने पर भी परेशानी का अनुभव होगा। हां, तो जीवनके इतने दिन हो गये। एक दिनमें इक्कीस हजार छः सौ श्वास लेते छोड़ते हैं। छत्तीस हजारसे उसको गुणित करो तो वही हिसाब आयेगा। कुछ लोग शून्याधिक संख्याको सरल मानकर बीस हजार ही श्वास मान लेते हैं। छत्तीस दो गुना बहत्तर है। बाकी सब शून्य अर्थात् बहत्तर करोड़ प्राणशक्ति है। बहत्तर करोड़ बार श्वासोच्छ्वास करने की शक्ति जन्म समयमें रहती है। बालक एक वर्षका हो गया तो उसका सौवां भाग बहत्तर लाख शक्ति उसने खो दी। दो सालमें लगभग डेढ़ करोड़। क्या धड़ा धड़ शक्ति पतन हो रहा है। इसीको लेकर कहा-अस्य विस्रंसमानस्य। "स्रंसु अधः पतने"

मनुष्य अपने इस घोर शक्ति पतनपर ध्यान नहीं देता। संत पुरुष कहते हैं कि–

"आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥"

सामान्य अर्थ है कि सूर्यके गमनागमनसे दिन बीतता है और आयु घटती जा रही है किन्तु किसीको पता नहीं लग रहा है। विशेष अर्थ यह है कि आदित्य पदसे सूर्यचन्द्रनाड़ी समझना चाहिये। जिसको इडा-पिंगला भी कहते हैं। उसका गतागत श्वासोच्छ्वास है। उससे जीवित-अर्थात् जीवन-शक्ति प्राणशक्ति क्षीण होती जा रही है। ऐसे व्यापार धंधेमें लगे हैं जो

इतने भारी हैं कि कालका पता नहीं चलता। "कालः कलयतामहं" वह शक्तिको खींच ले जाता है। प्राणशक्तिक्षय प्रत्यक्ष उदाहरणरूपमें जन्मसे ही जरा शुरु होती है। वह धीरे प्रकट होती है और अन्ततः भारी विपत्तिरूप मरणमें पर्यवसान होता है। मनुष्य मोहमय प्रमाद मदिराको पिये हुए है। उन्मत्त हो गया है। प्रमाद आलस्य आदिका परिणाम है कि वह प्राणायाम आदिसे प्राणशक्तिको बढ़ाता नहीं। ध्यान, समाधिसे आत्म-कल्याणार्थ प्रयत्न करता नहीं। इसी प्रमादका फल है आकस्मिक मृत्यु।

"प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि"

प्रमाद मृत्युको बुला लाता है।

"दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥ भज गोविन्दं ॥"

लोग कहते हैं दिन फिर आया, रात फिर आयी। ठंढी फिर आयी। गरमी फिर आयी। लेकिन फिरसे कोई नहीं आता। गतवर्ष जो ठंढी थी वह गयी तो गयी। वह वापस नहीं आती। आयु जा रही है। गयी हुई वापिस नहीं आती। जीवनशक्ति जो गयी सो गयी ही।

शरीरस्थस्य देहिनः। यह आत्मा विस्रंसमान क्यों है? प्राणशक्तिक्षयसे पतन अनुभव तो नहीं आता। और वह एक इस रूपसे अनुभवमें आता है। जो मैं बालक था वही मैं अभी वृद्धत्वका अनुभवकर रहा हूं। यहां एकरस आत्मा प्रतीत हो रहा है। इसके समाधानमें कहा जा रहा है- शरीरस्थस्य। स्वतः विस्रंसन नहीं होता किन्तु शरीरस्थके रूपमें विस्रंसन होता है। प्राणशक्तिक्षयका परिणामं सीधा शरीर पर आता है। शीर्यत इति शरीरम्। जो जीर्ण शीर्ण होता रहता है उसको शरीर कहते हैं। "दिह उपचये" अन्नादिसे उपचय जरूर होता है और वही भ्रान्तिका कारण भी है कि मैं बड़ा हो रहा हूं, बढ़ता जा रहा हूं। किन्तु बाहरसे बढ़नेपर भी भीतरसे खोखला होता जा रहा है। जैसे स्थूलकाय देखनेमें तगड़े होते हैं किन्तु भीतरसे वे निःस्तत्त्व होते हैं। शीर्ण होनेका परिणाम है कि एक दिन समाप्त होगा।

"यदा मेरुः श्रीमान् निपतति युगान्ताग्निदलितः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रखरमकरग्राहनिलयाः।
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥"

मेरु पर्वत शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। वह बड़ा श्रीमान है। वहां सोनेकी बड़ी-बड़ी खानें हैं। इसलिये उसको सुवर्णपर्वत भी कहते हैं। सोनेका ही पूरा पर्वत है ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं। परंतु यह बात कुछ कम जँचती है। उस पर्वत पर रहनेवाले आखिर क्या खायेंगे? पियेंगे? सोनेपर कोई पेड़, पौधे नहीं हो सकते। श्रीमद्भागवतमें लिखा है–

"स कुमारो वनं मेरोरधस्तात् प्रविवेश ह।
यत्रास्ते भगवान् शर्वो रममाणः सहोमया ॥"

मनुपुत्र सुद्युम्न शिकार खेलने निकला और मेरुके निचले भागमें उस जंगलमें पहुंचा जहां पार्वती के साथ शंकर विराजमान थे। सोनेके ऊपर जंगल किस प्रकार होगा? वहीं कहीं बुधको भी आश्रम था। कई वनोंका भी वर्णन आया है। यदि कहें कि अंदर सुवर्ण था। बाहरसे मिट्टी और उसपर जंगल उगा था तो वही बात हो गयी वहां बड़ी-बड़ी सोनेकी खानें थीं। अस्तु, जो भी हो, वह श्रीमान है ही। परंतु युगान्ताग्निसे दलित होकर वह भी अन्तमें गिर ही पड़ता है। उसके पासकी श्री भी तब काम नहीं आती। "समुद्राः शुष्यन्ति" मरीन ड्राईव पर या सोमनाथमें या कन्या-कुमारीमें खड़े होकर दक्षिणकी ओर देखो। अनन्त अपार समुद्र दिखाई देगा। कबसे ऐसा समुद्र था-किसीको पता नहीं। बड़े-बड़े मगरमच्छ, तिमिंगल आदि उसमें लाखों करोड़ों वर्षोंसे होते आ रहे हैं। किन्तु एक समय आयेगा जब समुद्र सूखकर मरुभूमि होगा। वर्तमान मारवाड़में कहते हैं पहले जमानेमें समुद्र था, लाखों वर्ष पहले। परंतु प्रकृति परिवर्तनसे वहां मरुभूमि हो गयी। कुछ लोग कहते हैं कि रामजीके बाणसे समुद्र भी सुखा, आसपासकी जमीन भी शुष्क हो गयी। वैज्ञानिक कहते हैं कि हिमालय ऊंचा होता जा रहा है तो आजूबाजूकी भूमि भी उठती जाती है और समुद्रमें से ऊपरकी ओर आ रही है। इधर जमीन उठने लगी तो दूसरी ओर दबने लगी। और आफ्रीका तक फैली द्वारिका समुद्रमें आ

गयी। जैसे भी हो युगान्तमें तो थोड़ा भाग क्या, पूरा समुद्र ही सूख जायेगा। धरा गच्छत्यन्तम्। इससे भी बढ़कर इन सबके आधाररूपी धरा भी एक दिन चूर-चूर होकर बिखर जायेगी। प्रलय की बात सुनकर बहुतसे लोग घबराते हैं। घबराइये मत। आपके समयमें प्रलय नहीं होगा। युगान्तरमें होगा। उस समय किसी अन्य लोकमें होंगे। रातको खड़े होकर आसमानकी ओर देखो। तारे टूटते नजर आयेंगे। एक एक तेजोमय ग्रह टूटकर टुकड़े ऊपर नीचे जाते हैं। उनमें किसी टुकड़े को हम भी देखते हैं तो कुतूहलता होती है। पृथिवीके टूटते समय आप किसी अन्य लोक पर होंगे। देखते समय सिर्फ कुतूहलता होगी। लेकिन आजकलके बहुतसे लोग क्या डरते हैं? इसलिये कि पृथिवी टूटेगी तो हम गड्ढ़ेमें गिरेंगे, जलेंगे, मरेंगे। लेकिन यह काम तो पृथिवीके टूटे बिना भी होनेवाला है। क्या आप करोड़ों वर्षतक रहेंगे कि आपके सामने पृथिवी टूटेगी? बात इतनी ही है कि इतने बड़े-बड़े मेरु, समुद्र तथा पृथिवी नष्ट हो सकते हैं तो-शरीरे का वार्ता? यह शरीर तो फेनबुद्बुदोपम है, इसको टूटनेमें क्या देरी है?

देहाद्विमुच्यमानस्य। प्राणशक्तिका जबर्दस्त डोरा है। जिसमें बहत्तर-करोड़ धागे हैं। प्रतिवर्ष बहत्तर लाख डोरे टूट रहे हैं। उस प्राणशक्तिरूपी डोरेसे यह जीव शरीरमें टिका है। जीवन और मरणका अर्थ क्या है? व्याकरणानुसार इसका अर्थ देखो। जन्मका उत्पत्ति और मरणका नाश अर्थ नहीं है। क्योंकि आत्माके लिये कहा है—"न जायते म्रियते वा" तब जन्म मरण क्या है-"मृद् प्राणत्यागे।" प्राणका त्यागना ही मरण है। प्राणत्याग भी निरन्तर होता है। किन्तु चरम प्राणत्याग मरण है। चरम धागेतक शरीरमें रहेगा। उसके टूटते ही यह वामन यहां से रवाना होगा। इसे पक्षी बताया है।

"पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् ॥"

उस परमात्माने प्रथम दो पांववाले मनुष्य, पक्षी आदि पुरों को बनाया। चार पांववाले पशु आदि पुरोंको बनाया। उसके बाद पक्षी बनकर पुरुषरूपसे उसने पुरोंमें प्रवेश किया। तो पुरणशक्तिने इसे धारण किया।

जहां प्राणशक्ति समाप्त हो गयी वहीं यह शरीर से उड़ गया। वह पक्षी कौन है? परमात्मा ही। जीव और पर दोनोंकी एकता है।

"स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः।"

अयं पुरुषः-यह जीवात्मा रूपी पुरुष। सर्व पुरियोंमें रहनेवाला पुरिशय परमात्मा है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वाजे"।

इस श्रुतिमें भी पक्षीरूपसे इसका वर्णन किया है। 'उड़ गया पंखी' इत्यादि कहते हैं। वस्तुतः प्राणरूपी डोरेने पक्षीको क्या बांधा। पक्षीने प्राण डोरेको बनाये रखा। किसी अकस्मात्में पक्षी उड़ जाता है तो प्राण डोरा क्या करेगा? "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति"। प्राणादिको ऊपर-नीचे ले जानेवाला ही वह है। हां, प्राणशक्ति समाप्त होनेपर वह उड़ जाता है।

"अरे भज हरेर्नाम क्षेमधाम क्षणे क्षणे।
बहिः सरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्तते॥"

बाहर निश्वास जा रहा है। स्वतन्त्र यह पक्षी कभी उसके साथ चल पड़ा तो फिर अपना प्रत्यगसन ही नहीं होगा। अतः मरणमें आश्चर्य नहीं है। जीवनमें आश्चर्य है कि यह स्वतन्त्र पक्षी कैसे स्वेच्छासे बन्धनमें बैठा है।

किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत्। देहसे यह देही निकल जाता है तो यहां क्या परिशिष्ट रहता है? क्या यह शरीर चलता फिरता रहेगा? शरीर तो पड़ा है। यदि शरीर ही आत्मा होता तो आत्मा परिशिष्ट है कार्य होना चाहिये। नहीं होता। अर्थात् कुछ परिशिष्ट नहीं रहता। प्राणादि तो क्या शरीरादि भी पंचभूतमें विलीन होगा। आक्षेपमें किं शब्द है। क्या परिशिष्ट रह जायेगा? कुछ नहीं। कार्य प्रयोजक कुछ भी परिशिष्ट नहीं रहेगा। विस्रंसमान इस देहीके होते हुए सब है। उसके अभावमें कुछ नहीं रहता। वही विस्रंसमान तत्त्व परमार्थ तत्त्व है।

एतद्वै तत् यस्यास्य विस्रंसमानस्य न किंचित्परिशिष्यते। एतन्मन्त्रप्रतिपाद्यं तत्त्वमेव तत् यत्पृष्टं त्वया—

ऐसी भी व्याख्या है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ ५॥

मरणशील मर्त्य जी रहा है तो न प्राणसे वह जी रहा है और न अपानसे ही। किसी औरसे ही यह जी रहा है जिसमें ये प्राण-अपना दोनों आश्रित हैं।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। मर्त्य कहते हैं मरण स्वभाववालेको। मृङ् प्राणत्यागे धातुसे औणादि तन् प्रत्यय और ऊपरसे यत् प्रत्यय होता हैं। प्राणत्याग तो प्रतिक्षण ही हो रहा है। जैसे हमने पहले बताया। श्वासोच्छ्वास तो प्राणशक्तिक्षपण है। तो वह एक साथ क्यों नष्ट नहीं होती? कोई अंदरसे धारण करता है। क्या प्राण ही प्राणधारण करता हैं? नहीं। यदि ऐसा होता तो कभी आदमी न मरता और यह मरण- स्वभाववाला न बनता।

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिजीर्वनमुच्यते बुधैः ।

शरीरधारियोंकी मरण ही प्रकृति है। जीवन तो विकृति है। जीवन-प्रयत्नसाध्य है। मरण अनायास है। जीनेके लिये सौ पचास वर्ष खाते रहना पड़ता है। दो महीना अनशन करो तो मरण हो जाता है। तब यह जीवन किससे होता है, किस निमित्तसे होता है यह प्रश्न उपस्थित होगा। इसका जो यथार्थ उत्तर है वही आत्मा है। इस बातको यह मन्त्र कहता है।

पांच प्राण मनुष्य शरीरमें प्रसिद्ध हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। भिन्न-भिन्न स्थानोंमें रहकर नानाकार्य करनेसे ये अलग-अलग नाम पड़ गये हैं। हृदयसे नासिकापर्यन्त जो प्राणशक्ति है उसको प्राण कहते हैं। इसीसे श्वासोच्छ्वास होता है। अपान नाभिसे नीचेकी ओर है जिससे हम बैठते हैं, खड़े होते हैं। शरीर विधारण करते हैं। यह भी प्राणशक्ति है। अपानका मलिनवायु मात्र अर्थ नहीं है। वैसे तो श्वासवायु भी मलिन होता है। कलकत्तेमें एक बार शिवरात्रि थी। वहां बड़ी भीड़ इकट्ठी हुई थी। नीचे वाले होलके ऊपर कमरे थे। बीचमेंसे पोला था। लोगोंके रातभरके श्वाससे ऊपरतक ऐसा गेस हो गया था कि ऊपर बैठना भी अशक्य हो गया था। निश्वास वायु गंदा होता है। प्राणका नीचेकी ओर दबाव और अपानका ऊपरकी ओर। यह कुम्भक प्राणायाम है। इसमें मूलबन्धसे अपानशक्तिको

ऊपर लेते हैं और उड्डियान बन्धसे प्राणको नीचेकी ओर ले जाते हैं। इसप्रकार मध्यमें दोनोंकी समस्थिति होती है। इसीको गीतामें कहा–

"प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।"

ये दोनों समानवायुके उपकारक भी होते हैं। अन्नपाचनमें सहायक होते हैं।

"प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।"

नाभिदेशस्थित समानसे अग्नि (जठराग्नि) प्रज्वलित होती है। उसको प्राण और अपान ऊपर और नीचेसे फूंककर तेज करते हैं। इसप्रकार प्राण और अपान शरीरधारण करते हैं। प्राण और अपना अन्न पचाते हैं जिससे रस, रक्त, मांस आदि क्रमसे शरीर बनता है।

"रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते ।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसंभवः ॥"

ये सात धातु हैं। शरीर साप्तधातुकः है। इसमें मूल प्राण हुए। इतने ही नहीं उस पचे हुए अन्नसे ही मन, प्राण एवं वाक् उत्पन्न होते हैं।

"अन्नमयँ–हि सोम्य मनःआपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक् ।"

प्राण और अपानसे सहकृत वैश्वानरसे खाया हुआ अन्न पचता है तो सूक्ष्मांशसे मन भी बनता है और दुग्ध आदि जलमयसे प्राणशक्ति कायम रहती है। घृतादि तेजसे वागिन्द्रिय बनती है। इसप्रकार सेन्द्रिय शरीर मूलतः प्राणसे ही धारित होता है ऐसा लगेगा।

प्राण और अपान उपलक्षण है। पंच प्राण या दश प्राण समझना चाहिये। प्राण और अपानकी व्याख्या हो गई। व्यान, समान, उदान ये तीन मुख्य हैं। "व्यानः सर्वशरीरगः"। पूरा शरीर हिलता डुलता है। तो किससे? व्यानसे। जहां प्राणशक्ति न हो वहीं शरीर शून्य हो जायेगा। अर्धशक्ति होनेपर लकवा होता है। "समानो नाभिसंस्थितः"। नाभिमें समान स्थित है। उसीसे जठराग्नि होती है।

"समानजयात्प्रज्वलनम्" ।

इसी आधार पर प्रज्वलन माना है। "अशितपीतादिसमीकरणात् समानः।" खाये पीयेका समीकरण करता है इसलिये समान है। "उदानः कण्ठदेशस्थः" कण्ठदेशमें उदान रहता है। प्राणोत्क्रमण करनेवाला वही है। इन पांचोंसे अतिरिक्त पांच नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जय भी प्राणभेद हैं। उलटी

करानेवाला नाग है। पेटसे लेकर छाती पारकर गलेतक लम्बायमान-नागोपम वह शक्ति है जिससे ऐसा लगेगा कि सभी आँतें बाहर आ रही हों। "नाग उद्गिरणकरः"। इसके बाद कूर्मका नाम आता है। "कूर्म उन्मीलन-करः" आंखोंको खोलते हैं तो आंखोंमें एक विलक्षण प्राणशक्ति रहती हैं। जैसे कछुआ अंगोंको बाहर भीतर करता है वैसे आंखको यह बाहर भीतर करता रहता है। "कृकलः क्षुत्करः"। छींक लानेवाला। नासिकामें वह रहता है। "देवदत्तो जृम्भणकरः"। जमुहाई भी विलक्षण वायु है। निद्राके बादसे कण्ठगत आलस्यनिवारण होता है। "धनञ्जयो पोषणकरः हिक्कारो वा" हिचकी लानेवाला भी विलक्षण वायु है। अथवा शरीरको फुलानेवाला या पोषण करनेवाला वह है। ये दस वायुविशेष हैं। इन सबको प्राण-अपानसे उपलक्षित करना चाहिये। इनसे ही जीवन होता है। शरीरधारण होता है इस प्रकार कुछ लोग मानते हैं।

प्राणसंचालनसे जीवन है या जीवनसे प्राणसंचालन है। इस विषयमें काफी विचार चल रहा है। एक अमैरिकन वैज्ञानिक ठाकुर बंबईमें आया था। उसका लेकचर अखबारोंमें छपा था। वह पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके रूपमें बोला कि लोग मानते हैं कि प्राण चलनेसे जीवन होता है। प्राण चलना बंद होता है तो जीवात्मा समाप्त हो जाता है। परंतु परीक्षणोंसे यह बात विपरीत सिद्ध हो गयी है। पहले जीव निकलता है तो चलाने-वाला कोई नहीं रहता है तो प्राणसंचलन बंद होता है। जीव प्रथम आवरणसे पूर्णतया आवृत होता है तो प्राण चलाना भूला जाता है या चला नहीं पाता है। तब प्राणसंचलन बंद होता है। इसलिये इन्जेकशनसे और अन्य उपायोंसे आवरण निरस्त करते हैं या जीवमें स्फूर्ति लाते हैं तो फिर प्राण चलने लगता है। वह स्फूर्ति थोड़ी देरके लिये होती है। उस समय उससे पूछो तो सभी बात वह बतायेगा। किन्तु वह बुझते दीपकके समान थोड़ी देरके लिये ही रहता है। बड़े-बड़े सेठोंको पुनर्जीवित कर उनकी अन्तिम इच्छाओंको और उत्तरांधिकारियोंको पूछकर निर्णय करते हैं। सुषुप्तिकालमें भी सूक्ष्म ज्ञानतन्तु काम करते हैं जिससे श्वासोच्छ्वास चलता है तथा मूर्च्छित अवस्थामें भी सूक्ष्मज्ञानतन्तु काम करते हैं। उसीसे श्वासक्रिया होती है। अदृष्ट (जीवनादृष्ट) से प्राणक्रिया

है यह भी मान्यता है। किन्तु सुषुप्तिमें भी किंचित ज्ञान योगशास्त्रोंमें कहा है। अतएव 'सुखमहमस्वाप्सं, दुःखमहमस्वाप्सं, गाढं मूढोऽहमस्वाप्स' ये तीनों प्रतीतियां होती हैं। ये तीनों सत्त्व, रज एवं तमको लेकर हैं। वह ज्ञान अतिसूक्ष्म होनेसे स्थूलविषयोंको विषय नहीं बना पाता। इसी कारण 'न किंचिदवेदिषं' यह भी होता है। या यह भी अज्ञानको विषय करने-वाली वृत्ति ही हैं ऐसा वेदान्तमें भी कई आचार्योंने माना है। 'सुषुप्तावज्ञानाकारा वृत्तिर्भवति'। वह वृत्ति भले ही अज्ञानवृत्ति हो, किन्तु है। तभी तो संस्कार एवं स्मरण उपपन्न हैं। उसके साथ प्राणवृत्ति भी मानें तो कोई हर्जा नहीं जिससे प्राणसंचालन होता है। उतने मात्रसे प्राणसंचालन क्रिया कैसे हो? तदर्थ अदृष्टविशेष भी माना गया। अतः यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन' प्राणापानसंचलनक्रियासे मर्त्यका जीवन नहीं है। तब प्रश्न होगा—फिर किससे जीवन है? उसका जवाब आगे श्रुति देगी।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ। थोड़ा आगे बढ़ते हैं तो मालूम होगा कि प्राणधारण ही जीवन नहीं है। प्राणंधारण हो तो आत्माश्रय होगा। अतः जीवन प्राणधारक अलग है। वह क्या है यह सोचना है। एक अलग तत्त्व है जिससे प्राणधारणसे जीवन होता है। वह इतर कौन है? वह किसीसे धारित है क्या? वह भी धारित हो, उसका धारक भी धारित है कि नहीं यह प्रश्न सामने आयेगा और अनवस्था होगी। अतः वह स्वयं धृत है। जैसे आकाशने सबको धारण किया, आकाशको कौन उठाता है? वह स्वयं धृत है।

यहां भाष्यकारने 'मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते' इस पूर्वमन्त्रके साथ मिलाकर दूसरे प्रकारसे व्याख्या की है। यह मरणधर्मा मर्त्य किसके निमित्त जीवित है? अस्तित्वमें आया है? क्या प्राणके या अपानके निमित्त? नहीं। क्योंकि वह भी अस्तित्वमें आया तो किसके निमित्त? यह प्रश्न रहेगा। सांख्यशास्त्रमें यह प्रसिद्ध है कि—

'संघातपरार्थत्वात्'

संघात हमेशा परार्थ होता है। संघातका अर्थ है अनेक पदार्थ समुदाय। संहनन संघातप्रयोजक सम्बन्धको करते हैं। एक मकान है। वह ईंट, चूना,

सीमेंट, सलिया, लकड़ी, दरवाजा आदिका संघात है। वह संघात अपने आपके लिये नहीं होता। वह परार्थ होता है। घर बताया तो किसलिये? आदमीको रहनेके लिये। बिना प्रयोजन कोई संघात नहीं करता। इसीप्रकार वस्त्र तन्तुसंघात है। परार्थ है। मनुष्यादिके आवरणार्थ है। घड़ा मृत्तिका संघात है। मानवके जलादिपानर्थ है। इसी प्रकार वृक्षलता आदि भी संघात है। परार्थ है। किसी न किसीके उपयोगमें आता है। कहेंगे कि चन्द्रमा पर कोई आदमी नहीं रहता, पशु नहीं रहता। वहां भी पत्थर आदि संघात है। वह परार्थ कैसे होगा? वहां आदमी भले न हो। यहां हम बैठे हैं। पूरे चन्द्रमारूपी संघातसे हमें प्रकाश मिलता है। औषधियोंमें अमृतसेचन होनेसे हमें फायदा होता है। समष्टि व्यष्टि किसीरूपसे वह परार्थ है ही। वैसे सूर्य भी है। नक्षत्रादि भी है। अस्तु। यह शरीर भी संघातरूप है। इन्द्रियां भी संघातरूप है। विषय भी संघातरूप है। न्यायशास्त्रकारने पृथिवी आदिके तीन-तीन विभाग किये हैं। सा त्रिधा-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। जलं त्रिविधं। शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। तर्क-संग्रहकारने पृथिवी आदिके नित्य अनित्य दो विभाग मानकर पुनः तीन शरीरेन्द्रियविषय बताया है। मुक्तावलीकार आदि ने अनित्य पृथिवी आदिके ही शरीरेन्द्रियविषय तीन भेद माने हैं। क्योंकि परमाणु संघात न होनेसे परार्थ नहीं होगा। सांख्यमतानुसार तन्मात्राजन्य माननेपर परार्थ हो सकता है। यह शरीर भी परार्थ है। घट, गृह आदि विषय भी परार्थ है। घ्राण आदि इन्द्रिय भी परार्थ है। किस परके लिये? प्राणरूपी परके लिये? नहीं। न प्राणेन नापानेन, मर्त्योजीवति कश्चन। प्राण या अपानके लिये यह मरणस्वभाव-नाशस्वभाव जीवित नहीं रहते। अस्तित्वमें नहीं आये। मर्त्यसे केवल मानवशरीरग्रहण करके 'जीवति' का प्रयोग है। उसे उपलक्षणार्थ समझना चाहिये। क्यों प्राणादिके लिये नहीं? क्योंकि वे भी संघातरूप है। निमित्ततृतीया मन्त्रमें है।

ये शरीर, इन्द्रिय एवं विषय देव हैं। ये सब उस इतरकी उपासना करते हैं। तदर्थ बनकर, तदर्थ अपनेको समर्पित कर या समर्पित कराकर उपासना करते हैं। इन्द्रियां देवरूपसे प्रसिद्ध है। इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देव प्रसिद्ध हैं। विषय पृथिवी आदिके भी देवता प्रसिद्ध हैं। जलका वरुण देव।

तेजका सूर्यदेव, अग्निदेव आदि। शरीर भी इनसे निर्मित होनेसे ये सब उसके देव हैं। अतः शरीर, इन्द्रिय एवं विषयोंके देवरूपसे उल्लेख समंजस है। अथवा इन्द्रियरूपी देव पृथिवी आदि विषयोंसे उस इतरकी उपासना करते हैं इतनेसे ही विषय एवं शरीरकी परार्थता सिद्ध हो जाती है। ये देव स्वभावतः उस आराध्यकी उपासना करते हैं। किन्तु हम उसे समझ नहीं पाते। देवाताओंका तो काम ही है परोपासना। वे अपना कर्तव्य निभाते हैं हमारे शरीरमें रहकर। इसीलिये तो हमारे शरीरमें आकर बैठे हैं। स्वतः देवताके पास विषय न होनेसे वे पूजा नहीं कर पाते। तो हमारे इन्द्रियोंपर आ बैठे और अपना काम बना रहे हैं। हमपर भी कुछ उपकार करते हैं। सो भी अपने कार्यकी सिद्धि के लिये। जैसे सेठ नौकरको खिलाता है तो अपनी सेवा करानेके लिये।

चक्षुदेवता रूप लाकर आत्माको समर्पित करता है। श्रोत्र शब्द लाकर समर्पित करता है। घ्राण सुगन्ध लाकर समर्पित करता है। रसना रस लाकर समर्पित करता है। त्वक् स्पर्श लाकर समर्पित करती है। वे स्वयं परार्थ हो गये तथा रूपादि संघात भी परार्थ हो गये।

यह तो देवताओंने अपना काम बनाया। हमें स्वयं क्या करना है? भगवानकी पूजा सिर्फ समझना है। भगवानकी पंचोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार कोई भी पूजा करो। वाक्का विषय शब्द है। शब्दके द्वारा आवाहन करो। जैसे घरमें कोई आ जाय तो कहते हैं—आईये-आईये। आ ही रहे थे तो आईये क्यों कहना? कहना चाहिये यह आवाहन है। अंदर आये तो एक दूसरेका मुंह ताकते रह जाय ऐसी बात नहीं। बैठनेको कुर्सी दो, आसन दो। पाणि इन्द्रियके द्वारा आसनसमर्पण करो। यह पाणीन्द्रिय आसन समर्पण कर रही है ऐसी भावना करो। उसीसे पाद्य अर्घ्य भी दो। आये हुएका हाथपांव धुलानेका पहले रिवाज था। यही पाद्य अर्घ्य है। फिर आचमनीय है। रसनेन्द्रियमें आया जल उस इतरको आचमनार्थ समर्पित करता हूं ऐसी भावना करो। स्वतः शरीरसे हम स्नान करें तो शरीर द्वारा स्नान समर्पित कर रहे हैं यह भावना करो। इसी प्रकार वस्त्रोपवस्त्र भी है। जब हम घ्राणेन्द्रियसे सुगन्ध आदि सूँघते हैं तो भावना करो कि गन्ध पुष्प धूपका समर्पण कर रहे हैं। फिर चक्षुसे रूप देखते हैं तो प्रकाशका ही

रूप होता है। अतः दीपं दर्शयामि कीं भावना करो। भोजनके समय प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा हम बोलते ही हैं तो प्राण आदिके द्वारा इतरको नैवेद्यनिवेदनकी भावना करनी चाहिये। पाणिसे दक्षिणा, नेत्रसे आरार्तिक्य, पादसे प्रदक्षिणा इस रीति हम समस्त देवताओंका एक साथमें उपयोग कर उस इतरकी उपासना कर सकते हैं। यही तो–

"आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरा
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम् ॥

इसका तात्पर्यार्थ है। इतरार्थ इन सबका जीवन है।

यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ। क्यों ये सब उपासना करते हैं? इनका अपना क्या स्वार्थ है? ये अपना क्या काम सिद्ध करते हैं? इसका उत्तर है कि ये देवता समष्टिरूपसे तथा व्यष्टिरूपसे दोनों प्रकारोंसे इसीपर आश्रित हैं। चक्षु आदिमें व्यष्टिरूपसे सूर्यादि देवता स्थित हैं। समष्टिरूपसे वे तो प्रसिद्ध ही हैं। वे सभी आत्मापर आश्रित हैं। उस आत्मासे ही इन समस्त देवताओंकी सत्ता है, चैतन्य है। उस आत्मासे ही इन सबको आनन्द प्राप्त है। उस आत्माके शासनमें ये सभी स्थित हैं।

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रामसौ विधृतौ तिष्ठतः"

इसी अक्षरके शासनमें सूर्य चन्द्र आदि सभी अपने-अपने स्थानमें स्थिर हैं।

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥"

अग्नि सूर्य आदि इसी अक्षरके भयसे-शासनसे स्व स्व कार्यमें लगे हैं।

"यस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति"

उस परमात्माके अस्तित्व में ही हिरण्यगर्भ भी जगत् को विभक्त कर देते हैं। ये सब विशेषज्ञ होने के कारण मूल रहस्य जानते हैं। एक मनुष्य ऐसा है कि बुद्धि के होते हुए भी इस रहस्य को जानता नहीं, जानने की कोशिश नहीं करता, अपने औद्धत्यसे परमात्माके अस्तित्वमें सन्देह और कभी विपर्यास करता है।

मर्त्य होने पर भी यह मनुष्य जी रहा है। मृङ्प्राणत्यागे; जीव-प्राणधारणे। इसका मरण स्वभाव है जीवन तो विकार है जो मरण-स्वभाववाला है उसको कौन जिला रहा है? न प्राणेन नापानेन। प्राण से जी रहा है तो आत्माश्रय है। प्राणधारण से प्राणधारण हो रहा है यह अर्थ होगा। यदि कहें कि अन्न से जी रहा है। अन्नमयं सोम्य मन आपो भयः प्राणः तेजोमयी वाक् । गेहूँ आदि पार्थिव, दुग्धादि आपोमय और घृतादि तेज तीनों अन्न ही हैं अधमान होने से। इनसे प्राणधारण हो। नहीं। प्राणधारण से अन्न पचता है। अन्न पचेगा तब प्राणधारणं यह अन्योन्याश्रय है। "प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं" यह भगवतवचन है। प्राणापान सहित वैश्वानर अन्न पचाता है यदि कहें कि मन से प्राण-धारण है। नहीं। प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः । प्राण ही मनको बाँध रखता है। योगशास्त्रकार कहते हैं—"यत्र मारुतस्तत्र वै मनः यत्रवै मनस्तत्रमारुतः" जहाँ प्राण है वहाँ मन है। जहाँ मन है वहाँ प्राण है अतः मन को जीतना हो तो प्राण को जीतो प्राणायाम करो। वस्तुतः मन तथा समस्त इन्द्रिय प्राण ही कहलाते हैं। "न वै वाचो, न चक्षूँषि, न श्रोत्राणि, न मनां सीत्याचक्षते। प्राणाइत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति" ऐसा बताया है। "जीव प्राणधारणे" यहाँ इन सब प्राणों का धारण ही प्राणधारण है। अतएव मन आदि से प्राणधारण कहने में भी आत्माश्रय दोष ही है। इसके उत्तर में कहा जा रहा है—इतरेण तु जीवन्ति। यहां भाष्यानुसार उत्तर यह है—कि ये शरीरेन्द्रियादि सभी संधानरूप है। इनसे इतर असंधात रूप आत्मा है। उस आत्मा के कारण ही ये सब जी रहे हैं। गृह भोजन वस्त्रादि सभी परार्थ हैं। क्योंकि वे संघातरूप है। संघट पर के लिये—असंहन के लिये ही है। हाँ अज्ञानी के लिये एक संहत अपने लिये है। कौन? धन। करोड़पति अरबपति बनना चाहता है। अरे जीवन में एक करोड़ नहीं खा सकते। तब निन्यानवे करोड़ किसलिये? बस धन धनं के लिये ही है। अस्तु विषयरूपी संघात श्रोत्रादिरूपी संघात में आते हैं। विषयसहित श्रोत्र मनरूपी संघात में आता है। वह इन दोनों के साथ बुद्धि-रूपी संघात में आते हैं। बुद्धि इन सबके साथ स्वयं को आत्मार्थ समर्पित करती है। तो क्या आत्मा इन सबको भोगता है? अनश्नन्नन्यः फिरखाता

कौन है? मंदिर में लगा भोग पुजारी खाता है। वैसे बुद्धि पुजारिन खाती है और आत्मा में अध्यास कर लेते हैं। जिस रोज अध्यास निवृत्त होगा— तिलताडुलवत् आत्मा और प्रकृति पृथक दीखेंगे, मालूम पड़ जायेगा पुरुष खाता नहीं प्रकृति खाती है तो सब भोग बंद हो जायेंगे। "दृष्टा मयेत्मुपेक्षक एको दृष्टा मयेत्युपरमत्यन्या। सति संयोगेऽपितयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य"। चोरी देख लिया। अब प्रकृति से पुरुष हटने लगा यह चोर है। प्रकृति ने देखा अब मेरी दाल नहीं लगेगी तो वह उपरत हो गयी अब दोनों भले रहे किन्तु संसार सर्ग तो नहीं होगा। इनके पृथक्करणार्थ ही यहाँ "इतरेण तु जीवन्ति" यह इतरत्व कथन है।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

अहो! इस गुह्य सनातन ब्रह्मको तुम्हें बताता हूं। मरणोत्तर यह आत्मा जैसा बनेगा वह भी मैं तुम्हें बताता हूं।

यह देह प्रत्यक्ष दीख रहा है। यही सब कुछ है या इससे अतिरिक्त कोई? यही सब कुछ नहीं है। जो प्राण एवं अपानको ऊपर तथा नीचे ले जाता है देहमध्यमें स्थित है। वह देहमध्यमें स्थित है कि देहमध्य ही है? पूर्वपक्षी कहते हैं देहमध्य ही वह है जिसे हृदय कहते हैं। हार्द कहते हैं। हार्टसे निःश्वास, प्रश्वास आदि चलता है। परंतु यह सही नहीं। देहसे अतिरिक्त देही-देहस्वामी है। वह देहका मध्यांशमात्र नहीं, मध्यमें स्थित है। वह देहसे विस्रंसमान होता है। फिर विमुच्यमान भी होता है। जब वह विमुक्त होता है तब देह भी रहता है। देहमध्यभाग हृदय भी रहता है। फिर भी प्राणका उन्नयन एवं अपानका प्रत्यगसन चलता नहीं है। जीवनमें मुख्य प्राणोन्नयनादिमें कुछ भी परिशिष्ट नहीं रहता। यदि कहें कि प्राण ही वह देही है, वही विस्रंसमान तथा विमुच्यमान है। उसीसे यह जीवित है। तो उत्तर है प्राण एवं अपानसे मर्त्य जीवित नहीं है। किन्तु प्राण और अपान भी किसी ओरमें स्थित हैं। उसके जानेपर प्राण अपान बंद होते हैं। क्योंकि उसमें चेतना है। प्राणादि जड़ है। ये स्वयं प्रवृत्त नहीं होते और न दूसरोंको प्रवृत्त कराते हैं। अतः चेतन देही पृथक् ही है। जिसके लिये यह

संघातात्मक प्राणशरीरादि हैं। वह आखिर कौन है? इसका समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है "हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि" इत्यादिसे।

हन्त। हन्तेत्यनुकम्पायामाश्चर्ये च। हन्तका अनुकम्पासूचनार्थ भी प्रयोग होता है। आश्चर्यसूचनार्थ भी। जैसे भाषामें 'अहा' बोलते हैं। अहा! बेचारा कितना दुःख पा रहा है। यहां अनुकम्पा अर्थ है। मातापिता आदिमें पुत्रके प्रति अनुकम्पा होती है। वात्सल्यरसका स्थायीभाव अनुकम्पा है। यमराजको दया आ रही है बालक नचिकेताको देखकर। अतिरहस्य होनेपर भी दयापरवश होकर यमराज बोल रहे हैं। पिताने मृत्युदण्ड दिया था। घोर कष्टके साथ यमसदन पहुंचा तो वह आकाशवाणीकी कृपासे धैर्य प्राप्त कर यमसदन आकर तीन दिन भूखा रहा। फिर भी यह बच्चा अपना आग्रह नहीं छोड़ रहा। प्रलोभन देनेपर भी नहीं छोड़ रहा है। उस मासूम बच्चेको देखकर यमराजको दया आ रही है और कह रहे हैं– हन्त। मनुष्य ब्रह्मविद्याके लिये महान् कष्ट उठाता है तो गुरुओंको बड़ी दया आती है। तब वे रहस्य बोलने लगते हैं। इसलिये गुरुओंके लिये विशेषण देते हैं–

"स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो कारुण्यसिन्धो पतितं भवान्धै।
मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या ऋज्व्यातिकारुण्यदयाभिवृष्ट्या॥"

गुरुलोग वैसे तो स्वयमेव कारुण्यसिन्धु होते हैं, दयासागर होते हैं। किन्तु दयाकी अभिव्यक्ति करना आवश्यक है। अनभिव्यक्त ब्रह्म भी अविद्यमान सा होता है, तो दयाकी बात ही क्या? वह भी अभिव्यक्त न होनेपर कुछ काम करेगी नहीं। अतएव 'कारुण्यदयाभिवृष्ट्या' यह विशेषण है। हर प्रकारकी सेवा करने तत्पर रहता है, कष्ट उठाता है, जिज्ञासु बना रहता है तो ऐसे शिष्यके प्रति गुरुओंकी दया उमड़ पड़ती है तो वे गुह्यातिगुह्य रहस्य भी बोल देते हैं।

हन्तका दूसरा अर्थ है–आश्चर्य। पहले भी कहा जा चुका है–

"आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा।
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥"

गीतामें भी कहा–

"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥"

कोई उस ब्रह्मको देखता है तो आश्चर्यसे देखता है।

'अग्रे पश्यामि तेजो निबिडतरमिदं'

अतिविलक्षण चैतन्यमय तेज यह दीख रहा है। अहो कैसा यह तेज है अति आश्चर्य। जाग्रतकी बात क्या? सपनेमें भी जब भगवद्दर्शन होता है तो अतिविलक्षण होता है। अति सौम्य, अति निबिड़, अति गहन दीखने लगता है। जाग्रतमें सूर्यका भी वैसा तेज नहीं होता। उस तेजमें ऐसा लगेगा मानो किसी लोकान्तर, तेजो लोकमें हम पहुंच गये हैं। देखनेवाला भी आश्चर्य है, देखा जा रहा भी आश्चर्य है। वैसे आश्चर्यवद् वदति। प्रकृतमें कथनको लेकर आश्चर्य प्रगट किया जा रहा है। क्या आश्चर्य? यही कि वाणी वहां तक नहीं पहुंच सकती। बीचमेंसे ही वापिस आती है। फिर भी पहुंचती है। कैसे? हम सूर्यको अर्घ्य देते हैं। अंजलिमें जल लेकर या कमंडलसे ऊपर डालते हैं तो स्पष्ट है कि ऊपर डालते ही वापिस नीचे आ गिरता है। ऊपर उड़कर सूर्यलोकतक नहीं जाता। यदि सूर्यतक नहीं जाता तो सूर्यको अर्घ्य देनेका क्या मतलब? अर्घ्य हाथमें दिया जाता है। लोकमें अर्घ्यके स्थानपर हाथ धुलाया जाता है। हाथतक पानी ही न पहुंचा तो क्या अर्घ्य? तब सूर्यको अर्घ्य देना फिजूल ही है क्या? ऐसा तो माना नहीं जाता। यदि सार्थक है तो मानना पड़ेगा कि अर्घ्य वहांतक जाता है। तब यूं कहो कि वह जाता नहीं है फिर भी जाता है। यह आश्चर्य नहीं है क्या? अब यह प्रश्न है कि अर्घ्य जाता नहीं है तो क्यों? जाता है तो कैसे? जाता नहीं है इसलिये कि यह स्थूल जल हमारे फेंकनेसे सूर्यतक पहुंच नहीं सकता। जाता है तो ऐसे कि मन्त्रोच्चारणसे जलका सूक्ष्म तन्मात्रातत्त्व सूर्यतक पहुंचता है। जैसे यज्ञ समन्त्रक करते हैं तो उसका सूक्ष्ममांश यजमानके साथ जाता है—"तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः"। मन्त्रशक्ति अपार है। वैसे समन्त्रक अर्घ्य देने पर वह सूर्यतक भी पहुंचेगा ही। उसी प्रकार ब्रह्म वाणीका विषय नहीं है।

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

जैसे ऊपर फेंका पानी वापिस आता है वैसें वाणी भी बीच रास्तेमें से ही वापिस आ जाती है। तथापि वाणीसे ब्रह्म प्रकाशित होता है। क्या वाणीका भी सूक्ष्मांश ब्रह्मतक पहुंचता है? नहीं। औपनिषद वाणी होनेके कारण

वह बीच पड़देको हटा देती है। अतएव "तं त्वौपनिषदं पुरुष पृच्छामि" ऐसा बताया। इसप्रकार वाणीका अविषय होनेपर भी वाणीका विषय बनाया। अतः "आश्चर्यवद् वदति"।

ते। तेका अर्थ है तुभ्यम्। तुमको। यमराजने शायद आजतक अन्य किसी को 'तुम' नहीं कहा होगा। यह ब्रह्मविद्या अधिकारीको ही दी जाती है। कैसा अधिकारी? जो अपने को मृत्युदण्ड देनेवाले पिताके प्रति भी-"शान्त संकल्पः सुमना यथा स्यात्" इत्यादि भावना रखते हैं। जिसमें सर्वमंगल भावना रहती है। "सर्वे भद्राणि पश्यन्तु" यह उदात्त भावना रहती है। मृत्युके संमुख भी जो नहीं घबराता अतएव जो शीतोष्णादि द्वन्द्वसहिष्णु है ऐसे अधिकारीको ब्रह्मविद्या देना चाहिये तब वह सफल होती है। अन्यथा विद्या स्वयं वन्ध्या हो जाती है। इस वन्ध्या विद्यावालोंके कारण ही लोग ब्रह्मविद्याका कदर नहीं करते।

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष मां
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवित्तमा

इदम्। यह प्रत्यक्षनिर्देश है। श्रुति कहती है–

"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म"

वह ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है। और सब परम्परया अपरोक्ष है। यमराजको वह ब्रह्मतत्त्व करतलामलकवत् अपरोक्ष था। क्योंकि नित्यापरोक्षरूपसे उनको ब्रह्मदर्शन होता था। यमराज ब्रह्मका नित्य अपरोक्षदर्शन करते थे। तभी तो उनको कोई पाप नहीं लगता है। इन्द्रने वृत्रका वध किया तो ब्रह्महत्या पाप लगा। क्योंकि वृत्र ब्राह्मण पुत्र था। एक वृत्रकी तो क्या बात है। यमराज तो करोड़ों अरबों प्राणियोंको मारते हैं जिनमें करोड़ों ब्राह्मण भी होते हैं। अतएव यमराज सर्वोर्ध्व ब्रह्मवेत्ता थे। इन्द्रने कहा-"बहून् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छं न लोमापि मे मीयते"। यमराज तो यति ब्राह्मण सबको ले जाते हैं। रोम क्या एक परमाणु भी उखड़ता नहीं। अतएव कठोपनिषदका सर्वाधिक महत्त्व है। क्योंकि प्रत्यक्ष अनन्त पापका संश्लेष यमराजमें नहीं होता। फलके साथ ब्रह्मविद्या उनमें विद्यमान है।

प्रवक्ष्यामि। प्र पूर्वक वच धातुका प्रवचन अर्थ होता है। एक स्वाध्याय होता है, दूसरा प्रवचन होता है। स्वाध्यायमें भी गुरु बोलते हैं और शिष्य ग्रहण करता है। प्रवचनमें गुरु बोलते हैं शिष्य श्रवण करता है। दोनोंका विधान है।

"स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं"

स्वाध्यायसे प्रमाद न करो, प्रवचनसे प्रमाद न करो ऐसा निषेध भी है। दोनोंमें क्या फरक है? फरक इतना ही है कि स्वाध्यायमें ग्रन्थमात्राध्ययन होता है। प्रवचनमें ऊपरसे अनेक उदाहरण दिये जाते हैं। यहां यमराजका प्रवचन ही स्वाध्याय बन गया है और हम सुनते हैं। प्रवचनसे सुनना चाहिये। बहुतसे लोग समझते हैं कि पुस्तक वांचनेसे ज्ञान हो जायेगा। यदि ऐसा होता तो पुस्तकें इतनी बनी हैं उन्हींसे ज्ञान होता ये कालेज, विश्वविद्यालयादि सब बंद हो जाते। बड़े-बड़े बुद्धिमान् भारतीय लंडन अमेरिका आदि जाते हैं पढ़ने के लिये। क्या ज़रूरत थी? जब सामान्य विज्ञानके लिये प्रवचन-अध्ययनकी आवश्यकता है तो यह ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है। उसे केवल ग्रन्थसे हम कैसे जान सकेंगे? "न हि सुविज्ञेयोऽणुरेष धर्मः"। ऐसा पहले भी बताया है।

गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। किसके बारेमें यमराज प्रवचन करने जा रहे हैं इसके लिये विषयनिर्देश है ब्रह्म। ब्राह्मणजातिको भी ब्रह्म कहते हैं। अतः विशेषण है-"सनातंनम्"। वेदको भी ब्रह्म कहते हैं और बहुतसे लोग वेदको नित्य मानते हैं अतः उसकी व्यावृत्तिके लिये विशेषण हैं-'गुह्यम्'।

गुह्यं का एक अर्थ है रहस्यमय। यह आत्मा बड़ा रहस्यमय है। रातको डटकर भोजन किया—भात, दाल, रसगुल्ला, चटनी, पनीर। बस खूब रसानुभूति की। इतना अपना काम हो गया। फिर डटकर सो गये। बेखबर सो गये। हमको कुछ पता नहीं। ज्यादा खाया तो ज्यादा नींद आयी। लेकिन आप सो जाओ। कोई दूसरा जाग रहा है। आगे मन्त्रमें बतायेंगे-"य एष सुप्तेषु जागर्ति।" रोटी दाल पेटमें गयी। उसको पीसा गया। उसमें से रस निकाला। उससे फिर एसेन्स निकाला। खून बन गया। फिर उसमें से सार निकाला, तरलांशको कम किया और मांस बनाया। उसका पोषण कर मेदा प्रगट किया। उसका तरल भाग पृथक् कर फिर अस्थि बनाया।

उस अस्थिके अंदर अस्थितत्त्वसे ही मज्जा बनाया। उसके बाद सर्व-सारात्मक शुक्र बनाया। यह काम किसने किया? पता चला ? कैसे यह सब किया-मालूम पड़ा? वैज्ञानिक खोज करते रह गये किन्तु उनको मालूम नहीं पड़ा। बेड़े-बड़े वैज्ञानिक जुट पड़े हैं। किन्तु अन्न, घास आदिसे रक्त कैसे बनाया जा सकता है इसका पता अभीतक चला नहीं है। एक वैज्ञानिकने शरीरके तत्त्वोंका विश्लेषण कर लिया था कि इतना कारबन, इतना सॉल्ट आदि इस शरीरमें हैं। कुल मिलाकर सत्ताईस रुपयेकी चीज इस शरीरमें है। यह लिखा था लगभग सन साठ-सत्तरमें। अब मँहगाई दसगुना बढ़ गई तो ढाईसौ, तीनसौ रुपयेकी चीज मान लो। लेकिन ढाईसौ तीनसौ तो क्या ढाई अरब-खरब खर्च करनेपर इन मटिरियलों (पदार्थों) को मिलाकर रसरक्त आजतक नहीं बना सके। जब प्रक्रिया ही रहस्यमय है तो प्रकर्त्ता कैसा होगा? यह है रहस्यमय वार्ता। यह ब्रह्मरूपी आत्मा अतिरहस्यमय है। यह एक शरीरका उदाहरणमात्र है। पूरी सृष्टि इसप्रकार रहस्यमय है।

गुह्यं का दूसरा अर्थ है-गूढ़, आवृत। छिपा हुआ। श्रुतिमें बताया है–

"आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यन्ति कश्चन"

आराम बगीचे को कहते हैं। आरामवाटिका ऐसा प्रयोग है। या क्रीड़ास्थान अर्थ है। परमात्माका बगीचा क्या है? यह जो संसारकानन दीखता है यही बगीचा है। पूरा जंगल बगीचा है। जैसे बोरीवलीमें नेशलन पार्क है। पूरे जंगलको ही पार्क बनाया है। परमात्माको संसारकाननात्मक बगीचा या क्रीड़ास्थान बनाया। फिर मालीसाहब छिप गये। कहां छिपे यह पता नहीं। लोग ढूंढते रह गये, मालीका पता न लगा। अन्यश्रुतिमें भी कहा है–

"तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा
उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः
सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्म-
लोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥"

जैसे जमीनमें निधि गाड़कर रखी है पूर्वजोंने। ऊपर से चल रहे हैं पर पता नहीं कि यहां निधि है। अतएव पैसेके अभावमें गरीब बने हैं। इस प्रकार ये प्रजा भी प्रतिदिन उस ब्रह्मलोकके ऊपर-ऊपरसे चलते हैं। पर

ब्रह्म प्राप्त नहीं होता। जैसे हिरण्यनिधि मिट्टीसे ढकी है वैसे ब्रह्म भी अनृतसे ढका है। यह नामरूपात्मक प्रपञ्च अनृत है। इससे वह अधिष्ठान ब्रह्म ढक गया है। जैसे किसी सोनेको पीतल समझा, रज्जुको सर्प समझा उसको पूछो यहां सोना है? यहां रज्जु है? उत्तर यही देगा कि यहां नहीं है। क्योंकि अनृतसे वह आवृत है। वहां अन्य कोई आवरण नहीं है। अज्ञानकल्पित पीतल, सर्प आदि नामरूप ही वहां पर आवरण है। वैसे ब्रह्मका भी आवरण अज्ञानकल्पित नामरूप प्रपञ्च ही है। स्वप्नकालमें स्वप्नप्रपञ्च आवरण है। सुषुप्तिकालमें गाढ़ अज्ञान आवरण है।

गुह्यका तीसरा अर्थ है-गुहानिहितम्। वह ब्रह्म गुहामें स्थित है। उसे ढूंढ निकालना बड़ा कठिन है। किस गुफामें वह बैठा है। इस विषयमें तैत्तिरीय श्रुतिमें बताया है–

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्।
परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।

वह ब्रह्म सत्य है, ज्ञानरूप है, अनन्त है। वह गुहामें निहित है। परम व्योमात्मक वह गुहा है। या गुहामें जो परम व्योम है उसमें स्थित है। गुहा क्या है? इसको आगे श्रुतिने सप्रपञ्च निरूपण किया। एक गुहा नहीं है। पांच गुहायें हैं–

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशद्वायुः।
वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।
ओषधिभ्यो अन्नम्। अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥"

प्रथम उस आत्मासे आकाश हुआ। आकाशसे वायु हुआ। वायुसे अग्नि हुई। अग्निसे जल हुआ। जलसे पृथिवी हुई। पृथिवीसे ओषधि वनस्पति हुए। उससे अन्न हुआ। अन्नसे पुरुष हुआ। पितृभुक्त अन्नसे उत्पत्ति, स्वभुक्त से रक्षण और अन्तमें अन्नान्तता।

"अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जांयन्ते
अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥"

यहां से गुहा शुरू हुई। प्रथम गुहा अन्नरसमय है। बीचमें से रसको हटा लो तो अन्नमय कोश प्रथम गुहा है। इसके बाद दूसरी गुहा प्राणमय है।

"अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः"

इस अन्नमय शरीरके अंदर अन्तरात्मा दूसरा है। वह कौन? प्राणमय। वह कितना बड़ा है? तस्य पुरुषविध एवान्वयं। शरीर पुरुषाकार है। वैसे आकारका प्राणमय है। बोतल जिस प्रकारकी, जिस आकारकी वैसे उसके अन्तर्गत पानी तदाकार होगा, तत्प्रकार होगा। उसके बाद तीसरी मनोमय कोश नामकी गुहा है।

"अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः"

वह भी पूर्ववत् पुरुषाकार है। इतना तो शायद होगा कि ऊपर का बर्तन बड़ा होगा उसके अंदर कुछ छोटा, उसके अंदर और छोटा, अन्तिम बिल्कुल छोटा। नहीं। एक बराबर सब हैं। गृहमें प्रकाश है, वायु है, सुगन्ध है, आकाश है। तो क्या उत्तरोत्तर छोटा होगा? सब बराबर ही होंगे। फिर अंदर बाहरका क्या सवाल? वायुके अंदर प्रकाश कि प्रकाशके अंदर वायु? उत्तर है उत्तरोत्तर वृक्ष सूक्ष्मतर होनेसे अंदर बताया। पूर्व पूर्वका जीवन उत्तरोत्तरसे है अतः भी अंदर है। घड़ेमें मिट्टी। क्यों? मिट्टी कारण है। घड़ा कार्य है।

"अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः"

"अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः"

मनोमय गुहाके अंदर विज्ञानमय है। उसके अंदर आनन्दमय है।

"देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परंपरा ॥"

इस प्रकार गुहा परम्पराको पञ्चदशीमें भी वर्णन किया है। आनन्दमयरूपी गुहाके अंदर ब्रह्म प्रतिष्ठित है। "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।" उसमें सभी कोश प्रतिष्ठित हैं। वह स्वयं प्रतिष्ठास्वरूप है।

ब्रह्मको बताना है तो कैसे बतायेंगे? यहां केवल बोलने मात्रसे तात्पर्य नहीं है। यहां तो कहनेका मतलब है दर्शन कराना। नारदजीको सनत्कुमार कहते हैं—

"यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति।"

जितना जानते हैं उतना बोलो उसके बाद मैं बताऊंगा। नारदजीने "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि" इत्यादि कहा। इन सबको "नामैवैतत्" कहकर ऊर्ध्वोपदेश किया। अन्तमें उपदेशका फल ज्ञान कैसा हुआ इसे श्रुतिने कहा—

"तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति
भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कन्द इत्याचक्षते ।"

तमसे परे ब्रह्मको दिखाया। यहां पर भी ऐसा ही बात अन्तमें कहेंगे।

"ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः"

इत्यादि। यहां पर पंचकोशगुहानिहितका अर्थ है पञ्चकोश गुहातादात्म्यापन्न। उसमें क्रमशः तादात्म्यपरित्याग करवाना है।

"एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य ।
एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य ।
एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमांल्लोकान् कामान्नी कामान्यनुसंचरन्
एतत्साम गायन्नास्ते-हाऊ हाऊ-हाऊ।"

प्रथम अन्नमयाध्यास अत्यधिक है। उससे हीन प्राणमयादि। अन्नमयसे उप=हीन प्राणमें संक्रमण। फिर उससे हीन मनोमयमें संक्रमण। फिर उससे हीन विज्ञानमयमें संक्रमणा फिर उससे हीन आनन्दमयमें संक्रमण। फिर सर्वाध्यासहीन ब्रह्ममें संक्रमण।

"उपोऽधिके च"

इस सूत्रमें 'अधिक विपरीत' 'हीन' अर्थमें भी कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है। हीनका रहित अर्थ होता है। अतिक्रम्य अर्थ करने पर सुतरां अर्थलाभ है। दोनों ही अर्थोंमें क्रमशः अध्यासपरित्याग करना आवश्यक है। गुहावृत ब्रह्मको आवरणनिवारणपूर्वक प्रकाशमें लाता हूं। यहीं "गुह्यं प्रवक्ष्यामि" का अर्थ है। अतएव तदर्थ शरीरादिवर्णन भी उपयुक्त होनेसे मरणवर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं-यथा च इत्यादि।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम। वर्तमान वर्णनसे स्पष्टतया बोध नहीं होगा। अन्नमय तादात्म्याध्यास होनेसे सर्वाधिक उस अध्यास-निराकरणदशा दिखाकर निरूपण करनेपर सरलतासे बोध संभव है। मरण होनेपर कमसे कम दो अध्याय टूटते हैं। अन्नमय चले जानेसे उसका अध्यास टूट गया। 'मृङ् प्राणत्यागे' के अनुसार प्राणको त्यागने से प्राणमयका अध्यास भी काफीं टूट जाता है। फिर अन्नके अभावमें मन भी काफी कमजोर हो जाता है। 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' यह बताया जा

चुका है। फलतः विज्ञानमयका कर्तृभाव तथा आनन्दमयका भोक्तृभाव ये दो प्रबल रहते हैं। फिर भी समझानेमें आसानी होगी।

'च' का समुच्चय अर्थ है। गुह्य ब्रह्मको तो कहूँगा ही। और मरणोत्तर आत्मभवन को भी कहूंगा। मरणको पाकर आत्मा यथा भवति-जैसा बनता है वह भी कहूंगा। क्योंकि उसके कथनसे ही अनध्यस्त आत्म-स्वरूपका बोध हो सकता है। बताया भी है-

"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।"

प्रथम अध्यारोप करके फिर अपवाद करनेपर निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूपका बोध होता है। परमेश्वरने स्वयमेव अध्यारोप एवं अपवादका सिलसिला जारी रखा है। जन्म, शरीरादि प्रपञ्चाध्यारोप है। मरण अपवाद है। उसके बाद पुनः अध्यारोप प्रारंभ होता है। जब गुरुमुखसे इस बातको सुनते हैं तब आत्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मश्रवणके अभावमें कुछ लोग मनुष्यादि योनिको प्राप्त होते है। दूसरे स्थावरादि भावको प्राप्त होते हैं। जैसा कर्म और जैसी वासना वैसा जन्म होता है ॥ ७ ॥

"हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म" "यथा मरणं प्राप्य" इस प्रकार ब्रह्मके बारेमें और मरणोत्तर आत्मभावके बारेमें बतानेके लिये पूर्वमन्त्रमें प्रतिज्ञा हुई। तदनुसार उन दोनोंका निरूपण करना है। यद्यपि प्रतिज्ञाक्रमसे प्रथम ब्रहमनिरूपण, पश्चात् मरणोत्तर-भावनिरूपण करना चाहिये था परंतु यहां प्रथम मरणोत्तर भावनिरूपण कर बादमें ब्रह्म निरूपण किया जा रहा है। ऐसा क्यों किया? इसलिये कि ब्रह्मनिरूपणका विस्तार बहुत है। मरणोत्तरभावका निरूपण अल्प है। एक सूचीकटाह न्याय प्रसिद्ध है। बाहरसे बरतन मंगाया। बड़ी-बड़ी पतेली, कढ़ाई आदि हैं। कुछ कटोरियां भी हैं। तो पहले क्या सम्हाला जायगा? कटोरियां-वाटकियां-वे कहीं गायब हो सकती हैं। क्योंकि बड़े बरतनोंको सम्हालते समय दूसरी जगहसे ख्याल उतर सकता है। सूची कटाहन्यायका अर्थ है कि सूई और कड़ाही एक साथमें आये तो पहले सूई को सम्हालना पड़ेगा। नहीं तो दो.तीन आदमी

मिलकर कड़ाही उठाते रहेंगे उसी बीचमें सूई कहीं धूलमें दब जायेगी तो पता भी नहीं लगेगा। वैसे ब्रंह्मका वर्णन करते संसारका वर्णन छूट ही जायेगा। अतः अल्पवर्णनात्मक मरणोत्तरभाववर्णन प्रथम करते हैं।

दूसरी बात यह है कि ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप समझनेके लिये प्रथम मरणोत्तर भावको समझना होगा। 'अयमात्मा ब्रह्म' यह प्रसिद्ध है। तो ब्रह्मस्वरूप क्यों नहीं मालूम पड़ता? यदि कहें कि किसी प्रतिबन्धसे नहीं दीखता तो वह प्रतिबन्ध क्या है? आवरण क्या है? कुछ दीखता तो है नहीं। शरीरको आवरण कहें तो वह क्यों आवरण होगा? वह तो साधक है, बाधक नहीं है। इसलिये मरणोत्तर भाव ही प्रथम कहना आवश्यक हो गया। मरणोत्तर भाव कहनेसे उपत्तिविनाशवाला शरीर आत्मासे पृथग् भासेगा। तब अपना ब्रह्मस्वरूप भी स्पष्ट भासेगा। आनन्दवनआश्रममें पहले झाड़झंकार बहुत था तो छोटी जगह दीखती थी। जब झाड़फाड़ साफ किया तो लोगोंको आश्चर्य होने लगा-अरे! इतनी जगह यहां है? वैसे शरीर इन्द्रियादि व्यवधानसे आत्मा छोटा दीखता है। जब यह कपड़ा पृथक् कर देखते हैं तब मालूम पड़ता है कि यह आत्मा व्यापक है। अतः ब्रह्मस्वरूपावगमनार्थ शरीराद्यपसरण आवश्यक है। शरीरादिका अपसरण विवेकसे ही संभव है। अतः प्रथम शरीरादिनिरूपण आवश्यक है। अतः यहां प्रथम मरणोत्तरभावका निरूपण है। तब एक प्रश्न और उठता है कि प्रतिज्ञावाक्यमें भी मरणोत्तरभावको प्रथम रखना था। यथा हि मरणं प्राप्य आत्मा भवति तद् ब्रुवे। हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्-ऐसा कहना चाहयि था। नहीं। शरीर-भावनिरूपण मुख्य नहीं है। अतः प्रतिज्ञा-वाक्यमें प्रथम मुख्यरूपसे ब्रह्मनिरूपण प्रतिज्ञा तथा उसके अन्वाचयके रूपमें मरणोत्तरभावनिरूपणप्रतिज्ञा बादमें उचित है। अतः सुगमबोधनार्थ मरणोत्तर भावनिरूपण प्रथम करते हैं।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति। दो प्रकारके प्राणी प्रसिद्ध हैं। एक स्थावर है, दूसरा जंगम है। इसीको चराचर भी कहते हैं। स्थावर माने स्थिर। वृक्षलता गुल्मादि स्थावर हैं। जंगम माने गमन करनेवाले। पशु पक्षी मनुष्य आदि जंगम कहलाते हैं। वृक्षादि चलते फिरते नहीं हैं। जन्मसे मरणपर्यन्त एक ही जगह खड़े रहते हैं। जंगम

चलते दौड़ते फिरते रहते हैं। इन दो का यहां निर्देश है। योनिका अर्थ है सजातीय उत्पत्तिस्थान। मनुष्य (माता) सजातीय है। उसके पेटमें रहकर मनुष्य पैदा होते हैं। वैसे मृग, पक्षी आदि भी हैं। किन्तु वृक्षका पौधा वृक्षके पेटमें नहीं रहता। भूमिके अंदर वह रहता है। कुछ जीवात्मा शरीर धारणार्थ योनिको प्राप्त होते हैं। अन्य कुछ जीवात्मा शरीर धारणार्थ स्थाणुको अर्थात् वृक्षादि भाव को प्राप्त होते हैं।

एक प्रश्न यह होता है कि स्थावर वृक्षलतादि यद्यपि भूमि का उद्भेदन कर पैदा होता है फिर भी स्थावर योनि प्रसिद्ध है। वृक्षादि का बीज जमीनमें पड़ता है तो वहां से उनका जन्म होता है। वह बीज उसका कारण है। मनुष्यादि का बीज माताके उदर में बढ़ता है। वृक्षादि का जमीनमें परन्तु इससे आगे बढ़कर वृक्षादिमें भी नर-मादा भेद है। भ्रमर वायु आदि पुंपराग लेकर स्त्री-पुष्प में आते हैं तो बीज तैयार होता है। जैसे पक्षियों में प्रथम नर मादासे अण्डा तैयार होता है वह जमीन में फिर गरम होकर बच्चे पैदा करता है वैसे वृक्षनरमादासे बीज तैयार हुआ और वह जमीनमें जल एवं गरमी पाकर फूटकर बच्चे के स्थानापन्न अंकुर होता है। तब पक्षी आदि के समान वह भी योनिज ही हुआ। तब ये दो विभाग श्रुति कैसे करती हैं?

दूसरा प्रश्न यह है कि जैसे मनुष्यादि शरीर में एक-एक शरीरमें एक-एक ही जीवात्मा होता है, वैसे वृक्षादि शरीर में भी एक-एक वृक्षमें एक-एकही जीव रहता है या अनेकानेक? यदि कहते है कि एक-एकही जीव रहता है तो वट वृक्ष की टहनियों से नीचे की ओर जड़ (बारे) उतरती है और जमीन में लग जाती है जमीन में जमने के बाद फिर उस टहनी को मूलवृक्ष से काटकर अलग करो तो वह भी जीवित रहता है। वहां दूसरा जीवात्मा कैसे आया? क्या काटने से पहले वह आया या काटने के बाद। कई वृक्ष ऐसे हैं जिन की टहनी काटकर लगाओ तो वृक्ष तैयार होगा। उसमें जीवात्मा नया आया या पहले के जीवात्मा का एक टुकड़ा उसमें आया? एक पौधा ऐसा है जिसके पत्ते तोड़कर जमीन पर डालो तो उसमें से बीसों पौधे तैयार होते हैं। सूरन का कंद एक होता है। उसे पांच सात टुकड़े कर बोते हैं। तो एक ही जीवात्मा के टुकड़े हुए या

काटते ही दूसरे जीवात्मा आ गये? क्या हमारे हाथ-पांव काटने से नया जीवात्मा उसमें आता है?

इन सब प्रश्नों का उत्तर यहां यमराज ने दिया **स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति।** जीवात्मा असंख्य है। प्रत्येक जीवात्मा के कार्य भी असंख्य है। मरणोत्तर सबको तुरत भोग्य शरीर नहीं मिलता। कुछ को मिलता है जिनके कर्म फलोन्मुख हो गये। दूसरो का तो यातनादि शरीर ही रहता है। वे असंख्य जीवात्मा इन वृक्षलतादि स्थाणुओं में आकर रहते हैं। परंतु अभिभूत रहते हैं। जब टहनी आदि स्वतन्त्र हो जाती हैं तब वह प्रकट हो जाते हैं। और योन्यापन्न होते हैं। जैसे भूतावेश होने पर मूल जीव अभिभूत रहता है। भूतके हटने पर मूलभूत जीव होश में आ जाता है। हम दक्षिण पैदल यात्रामें एक स्वामी के साथ में रहे। वहां की ऐसी घटना हुई थी। इसीकारण यहां यमराज ने स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति कहा। 'योनिमन्ये' से स्थावर योनि भी लो। किन्तु योन्यापन्न से अतिरिक्त भी वहां अनुसंयान करते हैं। अनु-पश्चात् संयन्ति-संगच्छन्ते। मूल जीवात्माके प्रवेश के पीछे-पीछे दूसरे जीवात्मा भी वहां चिपट जाते हैं। मौका मिलने पर वहां उद्भूत होते हैं। अन्यथा अभिभूत रहते हैं और वृक्ष सूख गया तो वहां से हटकर अन्य वृक्षादि में अनुसंगमन करते हैं।

यथाकर्म यथाश्रुतम्। पहले बताया—"यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम"। क्यों मरणोत्तर जानेकी आवश्यकता थी? इस जन्मको लेकर भी शरीरात्मविवेक किया जा सकता था। बात सही है। किन्तु कार्य तथा कारण दोनोंको सामने रखकर विचार करना अधिक अच्छा होता है। इस जन्मसे पहले क्या किया, क्या नहीं किया इसका पता है नहीं। वर्तमानमें जो कार्य हम कर रहे हैं वह प्रत्यक्ष है। कृतनाश नहीं होता। अतः इसका कार्य वर्तमान जैसा शरीरान्तर है इस प्रकार आसानीसे जान सकते हैं। वस्तुतः यह शरीर भी मरण पाकर ही प्राप्त हुआ है। अतः यह सामान्य विचार ही है।

यह बात प्रसिद्ध है कि कर्मानुसार प्राणीको जन्म एवं सुखादि प्राप्त होते हैं। कौनसा कर्म? पूर्वकृत कर्म इतना उत्तर है तो एक बालक जनमा तो पूर्वकृत कर्मका वह परिणाम हुआ। तुरन्त मर गया। दो महीनेमें या

एक सालमें मर गया तो उसने कोई पुण्यपाप किया नहीं। तो क्या वह मुक्त होगा? यदि कहें कि अनेक जन्मसंचित कर्म अनेक हैं। तो प्रश्न होगा अनेक कितने? दस बीस या चौरासी लाख? प्रायः उत्तर आता है–चौरासी लाख। किन्तु वह उत्तर गलत है। चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्यको छोड़कर कर्माधिकार है ही नहीं। "कर्मानुबन्धिनी मनुष्यलोके" ऐसा बताया है। चौरासी लाखसे पूर्वमें जो मनुष्यशरीर मिला रहा होगा उसमें किया हुआ कर्म कहें तो एक मनुष्य जन्ममें किये थोड़ेसे कर्म तो चौरासी लाखमें खतम नहीं हुए होगे? चौरासीलाख जन्ममात्र नहीं, उसमें जितने सुख-दुःख है। स्वजन परजन सम्बन्धादि, सेवायुद्धादि ये सभी घटनायें कर्मफल हैं तो क्या एक जन्ममें-मनुष्यजन्ममें चौरासीलाख जन्म, जीवन क्लेश संबंधादि सर्व प्रयोजक कर्म बन पायेंगे? यही संशयास्पद स्थिति है तो पुनः मनुष्यजन्म, उसमें गृह धनादि का भी वह प्रयोजक बन जाय इतनी संभावना है क्या? दिमाग जवाब देगा कि यह कल्पनातीत बात है। बात यह है कि एक मनुष्य जन्मके बाद फिर चौरासी लाखमें घूमना ही चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। दो योनियोंमें घूमकर भी पुनः मनुष्य बन सकता है। सीधे ही दूसरा जन्म भी मनुष्यका हो सकता है। और यह क्रम भी कोई आजका नहीं है। हम कबसे आरहे हैं? सृष्टिके आदिसे। सृष्टिकी शुरुआत कबसे हुई? करोड़ों अरबों वर्षोंका हिसाब कहेंगे तो तुरत प्रश्न होगा उससे पहले क्या था? शून्य था तो कितने बरस तक? अरबों खरबों बोलेगे तो उससे पूर्व? वास्तविकता यह है कि इस सृष्टिसे पूर्व प्रलय था। उस प्रलयसे पूर्वमें सृष्टि थी। उससे पूर्व प्रलय था यह अनादि परम्परा है। इसका आदि ढूंढेंगे तो मिलेगा ही नहीं। इसीलिये भगवानने कहा–

"न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः"

ऐसा कोई समय ही नहीं ता जब मैं नहीं था, तुम नहीं थे, ये राजालोग नहीं थे। तो एक कल्पमें भी एक कर्म बच जाय तो अनन्त कल्पोंमें अनन्त कर्म बचे हुए होंगे। इसे संचित कर्म कहते हैं। वह संचित होकर पड़ा ही है। वर्तमान जन्ममें जो कर्म करते हैं उसके प्रबलनिर्बलके

अनुसार प्रबलसे जन्म होगा, निर्बल पड़ा रहेगा। फिर जरूरत पड़नेपर संचितमेंसे भी लेकर अगला जन्म तैयार किया जायेगा।

यथाश्रुतम्। केवल कर्म ही कारण नहीं। श्रुतियोंमें बताया है-

"तं ज्ञानकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च"

ज्ञानका उपासना अर्थ है। वह मानस कर्म ही है। अतः काफी जगह कर्मपदसे यज्ञादि कर्म एवं उपासना दोनोंका संग्रह कर लेते हैं। जैसे प्रकृतमें ही यथाकर्मसे कर्म उपासना दोनों संग्राह्य हैं। यथाश्रुतका अर्थ भाष्यमें यथाप्रज्ञं हि संभवाः से समझाया है। पूर्वप्रज्ञाका प्रज्ञाजन्य वासना अर्थ है। कर्म एवं वासनासे जन्मादि होते हैं। वस्तुतः जन्मका कारण वासना ही है। वासनाके अनुसार नाना योनियोंमें जन्म होता है। अन्तमें जो वासना जागृत हो तदनुसार जन्म होता है.

"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥"

जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए अन्तमें शरीर त्याग करते हैं उसी-उसी भावको वह प्राप्त होता है। उदाहरणके लिये भरतोपाख्यानको संमुख रखते हैं। अन्तमें हरिणका स्मरण किया तो हरिणयोनि प्राप्त हो गयी। हरिणयोनि तो पशुयोनि-पापोनि है तो भरतने कौनसा पाप किया था? जब तक राज्यशासन करते रहे तब तक नीतिसे धर्मसे प्रजाका पालन किया। उत्तम प्रजापालन यही है जो नीति और धर्मको संमुख रखकर प्रजारञ्जन करें। इससे भरत अद्वितीय था। अतएव उनके नामसे भारतवर्ष पड़ा। पहले भारतवर्ष का नाम अजनाभ था। इतनेसे जाना जा सकता है कि भरतमें राज्यशासन के कालमें कोई पाप नहीं हुआ। भरत राज्य पुत्रको सौंपकर तप करनेके लिये गण्डकीके किनारे पहुंचे। तप करते समय पापकी तो कोई संभावना ही नहीं है। बल्कि तप तो अन्य पापोंको भी नष्ट करता है।

"तपोभिः क्षीणपापानां" "तपसा कल्मषं हन्ति"

इत्यादि वचनोंमें स्पष्ट बताया है कि तपसे पाप नष्ट होते हैं। तब भरतको हिरण जन्म लेना पड़ा तो किससे? क्या अपराध हुआ? बहता हुआ एक हिरण जा रहा था उसको बचाया, उसको जीवन दिया, उसको

घास खिलाया यह अपराध है क्या? यह कोई अपराध नहीं, पाप नहीं। यह कहें कि उस हिरणशिशुमें आसक्ति हो गयी थी। ठीक है। किन्तु आसक्ति नामका कोई पाप शास्त्रमें वर्णित नहीं है। किसीको मारना पाप है, क्योंकि शास्त्रोंमें उसका प्रतिषेध किया है। किसीको क्लेश देना पाप है। कलञ्जभक्षण करना पाप है। वैसे आसक्ति करना कोई पाप है क्या? आसक्ति तो क्रिया नहीं है। वह मनका एक भावमात्र है। पुण्यपाप तो कर्म होते हैं। तब अन्ततः यही कहना पड़ेगा कि मरते समय जो भावना हुई वही जन्मका कारण है। पुण्यपाप नहीं।

एक नया प्रश्न इस पर सामने आता है कि यदि अन्तिम भावनासे ही जन्म होता है तो जीवनमें जो भी कुछ किया सब व्यर्थ है क्या? जीवनभर पूजापाठ किया, यज्ञयाग किया, परोपकार किया और अन्तमें कहीं कुत्ते बिल्लीका स्मरण हुआ तो क्या किया कराया सब चौपट? नहीं। जन्मके बादमें जो सुखदुःख की प्राप्ति है जो धनागम धननाशादि है, लाभ हानि जयपराजय आदि हैं वे सब कर्मके फल हैं। "आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च" ये सब कर्मफल हैं। यशअपयश कर्मफल है। पशुओंमें एक कुत्ता दर दर भटक रहा है। दूसरा सेठोंकी कारमें घूमता है। ये पूर्वकर्मफल हैं। बलवान् प्राणी कमजोर पर वार करता है। उसकी खुशी और दूसरे की पराजय आदि कर्मफल हैं। यह तो अगले जन्मकी बात हुई। इस जन्ममें भी अन्तमें भावनाको जागृत करनेमें कर्म अपनी भूमिका निभाता है। भावनोद्बोधनकारी कर्म है।

अन्तिम भावनाके उद्बोधनमें दो कारण है। जीवनभरका कर्म तथा तद्विषयक अभ्यास। निरन्तर एकका चिन्तन करते रहें तो यह भावना अभ्यास है। उससे अन्तमें वही स्मृति होगी। या फिर कर्म अधिकाधिक जैसा किया तदनुसार भावनोद्बोध होगा। भरत का पापकर्म तो नहीं था। किन्तु हिरणभावनाका अभ्यास था। इसलिये अन्तमें उसका स्मरण हुआ। अतएव भगवानने "सदा तद्भावभावितः" यह विशेषण दिया। इसीलिये आगे जाकर यह भी भगवानने कहा-

"तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च"

हमेशा मेरा स्मरण करो और अपना स्वकर्म युद्ध भी करो। "सर्वेषु कालेषु" कहा। न कि "अन्ते मामनुस्मर"। जीवनभर सत्कर्म किया हो तो भी भावनाका उद्बोधन तदनुरूप होगा। दुष्कर्म हो तो उसके अनुरूप।

इन सभी पक्षोंपर एक प्रश्नचिह्न यह लगेगा कि अन्तमें यदि मूर्च्छा हो गयी और उस मूर्च्छामें ही मर जाय तब क्या होगा? कोई एक्सिडंटमें मूर्च्छित होता है। फिर होशमें आये बिना ही मर जाता है, दूसरा रोग की पीड़ामें मूर्च्छित होकर मर गया, उन सबकी कैसी क्या गति? इसका उत्तर यहा है कि मूर्च्छामें कारणशरीरगत दुःखाद्यध्यास है। आंघाताध्याससे मूर्च्छा हुई। किन्तु मरणक्षणमें शरीराध्यास कट गया तो मूर्च्छा समाप्त होगी और जीवनभर जो भी किया सब याद आ जायेगा. रोग आघात आदि सभी शरीरधर्म है। उस सबसे सम्बन्धविच्छेद मरणक्षणमें होता है। इसलिये पापकर्म अधिक हो तो यमदूत दीखेंगे। पुण्यकर्म अधिक हो तो विष्णुपार्षद दीखेंगे। तत्त्ववेत्ता को ब्रह्मदर्शन होगा। यमसदन जानेपर कर्मानुसार फिर जन्म मिलेगा। वहां मुख्य फिर कर्म ही हो जायेगा। कर्मसे भी भावना ही होती है।

अन्तिम भावनानुसार प्रथम सूक्ष्म एक शरीर तैयार होगा। वह अपने सजातीयको ढूंढेगा। तदनुरूप योनिमें प्रवेश करेगा। भावनानुसार मरणोत्तर ही नहीं जीवनसमयमें भी शरीर बनता है। तभी तो रामायण भागवत आदि सुनते समय रोना हंसना आदि होता है। कथा सुनते समय तन्मयता आ जाती है। तब भावनासे स्वयं गोपी स्वयं रामलक्षणादि बन जाते हैं और उनके सुखदुःखको अपनेमें ढालकर हंसने रोने लगते हैं। फरक इतना ही है कि जीवनकालमें वर्तमानशरीरसे प्रारब्ध तन्तुओंसे वह आबद्ध है इसलिये तद्भावात्मक शरीर होनेपर पुनः स्वशरीरमें आ जाता है। जैसे सपनेमें देवता पक्षी आदि शरीरमें जानेपर भी जागरण होते ही इस शरीरमें आते हैं। मरणमें प्रारब्धतन्तु समाप्त हो जाता है तो भावनासे जो शरीर बना वह वहांसे उड़ेगा और स्वसजातीय योनिको ढूंढेगा और वैसा शरीर पायेगा। एक प्रश्न होता है कि यदि मरते समय बूढ़ेका स्मरण हुआ तो क्या बूढ़ा होकर पैदा होगा? जवानका स्मरण किया तो जवान होकर पैदा होगा? नहीं। इसलिये भगवानने भाव शब्द जोड़ा। जिस जाति

आदिका स्मरण करेगा। तज्जातीय होकर पैदा होगा "यं यं वापि स्मरन् भावं" बताया। इसलिये मरते तक वह हरिण जवान हो गया ही होगा। किन्तु भरत जवान हरिण होकर पैदा नहीं हुए। सर्वथापि भावनासे उत्पन्न यह शरीर है। अतएव दृष्टिसृष्टि है।

अग्रिम जन्ममें वर्तमानजन्मीयभावनाभावित शरीर होगा। इस जन्ममें पूर्वजन्मीयभावनाभावित शरीर प्राप्त हुआ है। इस निष्कर्ष पर पहुंचनेपर एक बात सामने आती है। वह यह है कि सपनेमें भावनाभावित देवतिर्यगादि शरीर मुझसे भिन्न था मैं नहीं था वैसे जाग्रतमें भी यह शरीर मुझसे भिन्न है, मैं नहीं। क्योंकि यह शरीर भी पूर्वजन्मीय भावना भावित है।

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"

जैसा भावना होती है वैसी सिद्धि होती है। कीड़ा भ्रमर भावना करता है तो भ्रमर बन जाता है। कैसे? भावनानुसार भ्रमराणु जुड़ जाते हैं या भ्रमरशक्ति प्रादुर्भूत होती है। "अणवः सर्वशक्ताःस्युः"। इसी प्रकार मरणोत्तर भावनाशरीर एक बन गया। वह तद्भावीय अणुओंका आकर्षण करेगा या तद्भावीय तत्त्वसे आकृष्ट होगा और तज्जातीयमें पहुंच जायेगा। इस प्रकार आत्माके स्वरूपको जाननके लिये इसका अनुसन्धान बड़ा उत्तम है ही। साथमें भावना सुधारते रहनेकी शिक्षा भी इससे प्राप्त होती है। निरन्तर उत्तम भावनासे मनुष्य प्रगतिमार्गपर पहुंचता है। जैसे हरिणादि भावनासे हरिणभावमें पहुंचता है वैसे ब्रह्म भावनासे ब्रह्मभावपर पहुंच जायेगा।

यथाकर्म यथाश्रुतम्। कर्मके अनुसार तथा श्रुतके अनुसार कोई मनुष्य, पशु आदि योनिको प्राप्त होते हैं और दूसरे स्थावरभावको प्राप्त होते हैं। इसमें मूल कर्म एवं श्रुत है। श्रुतका अर्थ वासना बताया। जैसे कर्म एवं वासना वैसा जन्म होता है। यथा में 'था' का प्रकार अर्थ है। जिस प्रकारका कर्मादि हो वैसा जन्म होगा।

कर्म कितने प्रकारके हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें प्रथम कहा जाएगा दो प्रकारके कर्म हैं। एक बाह्य कर्म है, दूसरा मानसिक कर्म है। मुख्यरूपसे बाह्यकर्म ही कर्मपदसे अभिहित होता है और मानसिक कर्मको उपासना

कहते हैं। पुनः इन दोनोंके तीन-तीन विभाग हैं। विहित, प्रतिषिद्ध और सामान्य। शास्त्रने जिसको बताया यह करो, वह विहित कर्म है। शास्त्रने बताया अहरहः सन्ध्यामुपासीत। मातृदेवो भव। श्रद्धया देयम्। सत्यं वद इत्यादि। ये सब धर्म हैं। अग्निहोत्रं जुहोति। सोमेन यजेत। ये सब धर्म हैं। ये सब विहित हैं। विहित कर्मको करनेसे पुण्य होगा। कुछ नित्यनैमित्तिक कर्म होते हैं और कुछ काम्य होते हैं। सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म हैं। उनसे कुछ कामना मत रखो। यह करना है करके करो। प्रत्यवाय परिहारके लिये नित्यकर्म किये जाते हैं। न करनेसे कर्तव्यसे च्युत हो गये। उसका परिणाम प्रत्यवाय है। उससे जीवनमें अनेक कष्ट आ सकते हैं। उसके परिहारके लिये नित्यकर्म करना चाहिये। जैसे मेले आदिमें जाते समय कॉलरा का टीका लेते हैं तो रोगनिवृत्तिके लिये नहीं, आगे रोगका आक्रमण न हो इसके लिये है। बचपनमें ही पहले के जमानेमें शीतलाका टीका लगाते थे। आगे महान् कष्ट उपस्थित न हो इसके लिये नित्यनैमित्तिक कर्म करना चाहिये। गणेशपूजन क्यों करते हैं? आगे विघ्न न हो इसके लिये। इन सबको विहितकर्म कहते हैं। काम्य कर्मसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है।

प्रतिषिद्ध कर्म उसको कहते हैं जिसका शास्त्रने निषेध किया है। यह कार्य न करो। "मां हिंस्यात् सर्वाभूतानि" यह भूतहिंसाका निषेध किया है। क्या होगा भूतहिंसासे? अनिष्ट होगा। भाविमें उस अनिष्ट हिंसासे जो होगा उसको कार्यान्वित करनेवाला बीचमें पाप आता है। पुण्य प्रयोजक कर्म सत्कर्म कहलाता है। पापप्रयोजक कर्म दुष्कर्म कहलाता है। "नानृतं वदेत्", "न कलञ्जं भक्षयेत्" इत्यादि नकारघटित वाक्य प्रतिषेधक वाक्य है। उससे प्रतिषिद्ध कर्म करने से अनिष्ट होता है।

तीसरा सामान्य कर्म है। चलते हैं, फिरते हैं, देखते हैं, सुनते हैं, बोलते हैं ये सब सामान्य कर्म हैं। स्वाभाविक कर्म हैं। यद्यपि ये सब कहनेके लिये ही सामान्य कर्म हैं। वस्तुतः इनके पीछे भी पुण्यपाप लगे हुए हैं। भगवानका कहना है—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः"

कोई भी ऐसा कर्म नहीं है जिसमें दोष न लगा हो। चलते फिरते हैं तो पांवके नीचे दबकर कितने प्राणी मरते हैं। खाते पीते हैं तो उसमें भी वही

बात है और इसमें विशेषता यह है कि वह दूसरेका हिस्सा भी कभी हड़प कर जाते हैं। भले वह अनजानमें हो। बोलने चालनेमें भी किसीको भी क्लेश पहुंचानेवाली बात होती है। सत्य अनृत होता है।

दूसरा मानसिक त्रिविध कर्म है। इनमें विहित कर्म हैं देवोपासनादि। "आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत"। आदित्यका ध्यान ब्रह्मरूपमें करो। शालग्राममें तथा शिवलिङ्गमें विष्णु तथा शिवका अवलोकन करते हुए ध्यान करना विहित कर्म है। ध्यायेन्नित्यं महेशम्। स्मरेदम्बिकाम्। इत्यादि विधि प्रसिद्ध है। ज्ञान और ध्यानमें फरक है। ज्ञान वस्तुतन्त्र है। ध्यान पुरुषतन्त्र हैं। सामने वस्तु जैसी आयी वैसे देख लिया यह ज्ञान है। शब्द सुन लिया यह ज्ञान है। किन्तु उस शिलादिको भगवान समझना यह ध्यान है प्रयत्न-साध्य है। "ओमिति ब्रह्म", "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" यह ध्यान है। ओंकारका उच्चारण करते जाओ और उसमें ब्रह्मका ध्यान करो।

"तज्जपस्तदर्थभावनम्"

ॐकार जप और उसके अर्थ का चिन्तन। उसके अर्थ परमात्माका उसी ॐकारमें चिन्तन करना यह अतिविशिष्ट है। प्रतिषिद्ध उपासना भूत प्रेतादि की है। गीतामें भूतप्रेतादिके उपासकको तामस बताकर निन्दा की। वह प्रतिषेधका उन्नायक है।

"प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः"

बहुत से लोग कहेंगे कि हम भूतप्रेतकी उपासना नहीं करते। किन्तु बात असली यह है कि आजकल उसका फल प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आता। लोगोंने उपेक्षा की है। यदि वाक्सिद्धि निधिदर्शनादि सिद्धि प्राप्त होने लग जाय तब देखना कि कितने छोड़नेवाले हैं। जहां लोभ ऊपर आ जाता है तब विधि-निषेध सब एक किनारे रह जाते हैं। गावोंमें ऐसी-ऐसी डाईन होती हैं जो गड़े मुर्दे को उखाड़कर उसपर बैठकर ध्यान करती हैं। क्रिया करती हैं। प्रतिषिद्ध विचार भी इसके अन्तर्गत है।

"अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा।
स्वजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धिमिदं हि दुरात्मनाम् ॥"

अकरुणत्व माने क्रूरता। हर हमेश दूसरे का द्रोह करने को सोचना निर्दयता आदि जो स्वयं पाप है। अकारणविग्रह। विनाकारण ही झगड़ा

करने के लिये सोचना, षडयन्त्र करना और उसे कार्यरूपमें परिणत करना यह भी पाप है। परधन और परदारको छीननेके लिये सोचना भी पाप है। स्पृहा का अर्थ यहां सोचनामात्र है। स्वजन बन्धुजन आदिके प्रति ईर्ष्या करना, उनकी अवनति किस प्रकार हो इस विषयमें सोचना भी पाप है। इन्हें भी प्रतिषिद्ध उपासना कह सकते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कलियगुमें मानस पुण्य होता है किन्तु पाप नहीं होता ऐसा रामचरितमानसमें गोस्वामीजीने लिखा है। परंतु गोस्वामीजीने तो कलियुगियोंकी मानसिकता को देखकर पाप करने और पापोत्तर पापसे भयभीत होनेकी दुर्दशा न हो इसके लिये यह लिखा। आस्तिक सन्मार्गगामी भी इसके शिकार हो सकते हैं अतः यह सान्त्वनामात्र है। क्योंकि श्रुतिमें-वेदोंमें स्वयं मानसपापाका वर्णन–

"मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यद्रात्र्या पापमकार्षं ।
मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना ॥"

इत्यादि रूपसे किया है। जिसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं।

तीसरा मानस कर्म सामान्य है। बैठकर शेखचिल्लीके समान मनोराज्य करते रहते हैं। पुत्रहीन पुत्रकी कल्पना करता रहता है। पत्नीरहित पत्नीचिन्तन करता रहता है। धनहीन महलोंका सपना देखता रहता है। क्या इसमें भी पुण्यपापकी बात आती है? यद्यपि किसीका अहित- चिन्तन तो नहीं किया फिर भी परमेश्वरके प्रति यह अपराध है ही। परमेश्वरने मानव शरीर क्या ऐसे मनोराज्य कर समय बरबाद करनेके लिये दिया था? परमेश्वरने कृपा करके यह मानवशरीर दिया ब्रह्मावलोकनार्थ- "ब्रह्मावलोकधिषणम्"। उसका दुरुपयोग करो तो क्या परमेश्वर नाराज नहीं होगा? एक भिखारी आपके पास आया। अपनेको भूखा बताने लगा। दया करके आपने अंदर रखे लाडू लाकर दिया। मिठाई दिया। भिखारी को आपने दिया तो आप उससे उस वापिस तो नहीं लेंगे। दे दिया तो अब वह उसका हो गया। वह सड़क के किनारे बैठकर खाने लगा तो आप प्रसन्न हुए। हाथ पत्तल चाटने लगा तो आप पानी भी ले जाकर दे देंगे। एक दूसरा भिखारी आया। उसको आपने लाडू दिया। वह हाथमें लाडू लेकर सड़क किनारे आया और उसे गटरमें फेंका तो क्या आप प्रसन्न होंगे कि

नाराज होंगे? आप उसे ऊपरसे पानी पिलायेंगे कि दूध? आकर मांगे तो भी उसे डंडा दिखाकर भगायेंगे। क्यों? उसने वस्तुका दुरुपयोग किया। यही स्थिति परमेश्वरकी भी है। परमेश्वरने यह मानव तन ब्रह्मदर्शनार्थ दिया और उसको व्यर्थ चिन्तनमें लगाया इसका मतलब गटरमें डालना ही तो हुआ। ऐसी व्यक्तिको दूसरी बार फिर मानवशरीर परमेश्वर देगा? गटरका कीड़ा बनायेंगे। लता वृक्ष बनायेंगे। पियो गटरका पानी। अतः व्यर्थ समय बिताना भी नहीं चाहिये। समयका सदुपयोग करना चाहिये। इसी कर्मके अनुसार मनुष्यका भविष्य है। यथाकर्म।

"यथाश्रुत" इस पर अब विचार करो। श्रुत का अर्थ है पूर्वप्रज्ञा। पूर्वप्रज्ञाजनित वासना इसका अर्थ है।

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ।"

इस मन्त्रमें विद्याकर्मसे पूर्वोक्त मानस कर्म और ब्रह्म कर्म बताया। पूर्वप्रज्ञासे वासना बतायी। वासना तीन प्रकारकी होती है। एक प्राकृत है, दूसरी विकृती है। तीसरी संस्कृत है। वासनाको न्यायशास्त्रवाले संस्कार कहते हैं। किन्तु वह पारिभाषिक है। पहले हम संस्कारोंपर विचार करें शास्त्रोंमें षोडश संस्कारोंका विधान आया है। माताके उदर में जबसे बालक आता है। तबसे ही संस्कार प्रारंभ किया जाता है। गर्भाधान संस्कार, पुंसवन संस्कार आदि गर्भावस्थामें ही होते हैं। इससे गर्भस्थ शिशुकी वासना संस्कृत हो जाती है। गर्भस्थ शिशुको सर्वथा ज्ञानशून्य 'मोम' मात्र नहीं स्वीकारा है। गर्भोपनिषद्में बताया है कि सप्तम मासमें गर्भस्थ बालकको पूर्वजन्मका भी स्मरण हो आता है। वह घोर कष्टमें पड़े हुए हिल डुलनेमें असमर्थ अपने को पाकर भगवानसे कहने लगता है अहा! मैं फिरसे कैसे इस घोर नरकमें आ गिरा! हे प्रभो! बचाओ! अवश्य ही मैंने बड़ी-बड़ी गलतियां की। लेकिन अब ऐसा नहीं करूंगा।

"यदि योन्यां प्रमुञ्चामि देवं नारायणं भजे ।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ॥"

हे प्रभो! मुझे इस योनिसे निकालो। यदि मैं यहां से मुक्त हो जाऊंगा तो भगवान् नारायणका भजन करूंगा। जो समस्त नरसमुदायके अयन आश्रय हैं (पूर्वपदात् सञ्ज्ञायामगः) वे मेरे पूर्व अशुभोंका क्षय करें। इस

योनिसे मुक्ति दें। बालक वहां घुट रहा है। वहांसे निकलनेका कोई रास्ता उसे प्राप्त नहीं हो रहा है। एक-एक क्षण कल्प के समान बिता रहा है। वहां से जीवितरूप योनिमुक्त करानेवाला एकमात्र परमात्मा है। वह पुनः प्रतिज्ञा करता है-आगे मैं भूल नहीं करूंगा। पुनः मुझे वापिस न आना पड़े। एतदर्थ-

"यदि योन्यां प्रमुञ्चामि सांख्यं योगं समाश्रये ।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ॥"

योग का कर्मयोग अर्थ प्रसिद्ध है। और सांख्यका ज्ञानयोग। तथा योग-शास्त्रीय योग तथा सांख्यशास्त्रीय ज्ञान अर्थ भी प्रसिद्ध है। वह जीव कह रहा है—मैं प्रथम कर्मयोग करूंगा-निष्काम कर्म करूंगा। उसके बाद राजायोग करूंगा। अष्टांग योग करूंगा। जिस योगका फल सत्त्वशुद्धि है. और बादमें विवेकख्याति है।

"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।"

विवेक ख्याति प्रकृतिपुरुषविवेक है। नित्यानित्यवस्तुविवेक है। उसको प्राप्त होनेपर अधिकारी होकर वेदान्तश्रवण करूंगा और परमसांख्य ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानका अवलम्बन करूंगा। वह समस्त अशुभात्मक संसारक्षयकारक है। तथा परमफल विदेहमुक्तिप्रदायक है। इस मन्त्रमें अशुभ और फलमुक्तिपद विशिष्ट अर्थवाला है। पहले मन्त्रमें योनिक्लेशहेतु अशुभ क्षय कर योनिसे मुक्त करना अर्थ है। इस मन्त्रमें संसार क्लेश हेतु अशुभ क्षय कर परमार्थ मोक्ष देना अर्थ है। इस गर्भोपनिषतके प्रसङ्गसे पता लगता है कि गर्भमें भी शिशुको होश रहता है। अतएव गर्भकालीन संस्कार भी उपयोगी है। आवश्यक है।

प्रह्लादजीके प्रसंगमें यह बात और स्पष्ट होती है। प्रह्लादजी अन्य असुरबालकोंको उपदेश देते थे जब गुरु लोग भोजनादिके निमित्त चले जाते थे।

"कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥"

हे असुर बालको! तुम बुद्धिमान हो। भागवत् धर्मोंका अनुष्ठान करो। "हम कर लेंगे, कुछ ऊमरके हो जाय तब।" नहीं। अभी करो। कुमारावस्थामें ही

करो। इस समयका संस्कार सुदृढ़ होगा। अन्तकालपर्यन्त रहेगा। शुद्ध वस्त्रपर रंग चढ़ता है। रंग जिसपर चढ़ गया एक बार फिर उसपर दूसरा रंग नहीं चढ़ेगा। संसारका रंग चढ़नेसे पूर्व भगवान का रंग चढ़ाओ। प्रथम जो रंग चढ़ेगा तदर्थ दूसरा गौण होगा। प्रथम भगवानका रंग चढ़ा तो बादमें संसार आनेपर भी वह भगवदर्थ होगा। किन्तु प्रथम यदि संसार का रंग चढ़ जाता है तो बादमें आनेवाला भगवानका रंग संसारार्थ होगा। यही मानवशरीर का परम प्रयोजन है। बोले कि हम संसारमें शीघ्र प्रवेश नहीं करेंगे। पहले अध्ययन करने दिया जाय उसके बाद फिर क्रमशः भगवद्भजन कर गृहस्थमें प्रवेश करेंगे। उत्तर देते हैं-यह काल काल करते रह जायेंगे। और काल ही आ जायेगा। यह अध्रुव है। पता नहीं कब गिरेगा। बोले कि दूसरे शरीरसे करेंगे। नहीं। दूसरा अर्थद नहीं है। और यह मानवशरीर तो बड़ा दुर्लभ है। एक बार हाथमें से निकल गया तो पता नहीं कितने लाखों जन्मोंके बाद फिर पारी आयेगी।

प्रह्लादजीका यह प्रश्न काफी लंबा था। बड़े ध्यानसे असुर बालक सुनते जा रहे थे। भाषण सरस था। आश्चर्यकारी था। मार्मिक था। बालकोंने पूछा आपको यह ज्ञान कहांसे प्राप्त हुआ? प्रह्लादजीने कहा मुझे यह ज्ञान देवर्षि नारदजीने दिया। बालक कहने लगे कि इस तरफ देवर्षि नारदको आये बहुत समय हो गया। हमलोगोंके जन्मसे पहले इस तरफ आये थे ऐसा सुनते हैं तो आपको कैसे कब मिले? प्रह्लादजी बोले जब मेरे पिताजी तप करने मंदराचल गये थे। मैं माताके उदरमें ही था। उस समय देवताओंने असुरोंपर आक्रमण किया और असुरोंको मार भगाया। और मेरी मांको बलात पकड़कर खींचते हुए इन्द्र ले जा रहा था। रास्तेमें देवर्षि आये और बोले-अरे इन्द्र! यह दैत्योंका काम देवता होकर तुम कैसे करने लगे? इन्द्रने कहा इसके गर्भमें एक असुर बालक है अति तेजस्वी है। हिरण्यकशिपुके बादमें यह हमें त्रास देगा। हमें खतम करेगा। देवर्षिने कहा-यह मारेगा नहीं, तुम्हारी रक्षा करेगा। यह महान् भगवद्भक्त होगा। तब इन्द्रने मेरी मां कयाधूको छोड़ा। किन्तु वह घबरायी हुई थी। बीच मार्गसे कहां जाना यह उनको मालूम नहीं था। देवर्षिने सान्त्वना दी और मेरे पिताके आनेतक अपने आश्रममें निवास करनेको कहा। मेरी

माता उसके साथ गंदमादनपर्वतपर गयी। वहां देवर्षि नारदजीने विविध ज्ञान कथायें उनको सुनायी। माताको क्या सुनना था, गर्भस्थ मुझे लक्ष्य-कर उन्होंने कथा सुनायी। और मैंने माताके गर्भमें ही यह तत्त्वज्ञान पाया।

इस प्रसंगसे स्पष्ट होता है कि गर्भस्थ शिशुमें ही संस्कार पड़ने लगता है। अतएव गर्भावस्थामें ही संस्कार डालना बताया गया है। गर्भावस्थामें माताओंको सत्संग अवश्य करना चाहिये, शास्त्रोंका श्रवण करना चाहिये। सद्ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये। भजन करना चाहिये। ध्यान करना चाहिये। सद्भावना करनी चाहिये। तप करना चाहिये।

दितिके पुत्र दैत्य हुए। क्यों हुए? एक तो वह विलासिनी थी। कामाकुल थी। निषिद्ध समयमें उसने कश्यपसे संतान प्राप्त किया। वह स्वयं उग्रस्वभावकी थी। हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु जैसे उसके पुत्र हुए। किन्तु उसी दितिने बादमें पुंसंवन व्रत रखा। भगवानकी अर्चना की। एक वर्ष तक तप करती रही। गुस्सा उसने कभी किया नहीं। यहां तक कि इन्द्रने बटुकरूप धारणकर गर्भकर्तन किया तब भी गुस्सा नहीं किया। उसका परिणाम हुआ कि दितिसे मरुद्गण उत्पन्न हो गये जो देवता हो गये।

वहां का प्रसंग बड़ा रोचक और गहन है। दितिने पुत्रार्थ प्रार्थना की तो कश्यने द्वादश मासका पुंसंवन व्रत बताया। सो भी अति कठोर। अदितिने भी बादमें पुत्रार्थ प्रार्थना की तो। उनको प्रयोव्रत बताया जो सिर्फ बारह दिन करना था। बारह संख्या तो बराबर रही। किन्तु एकको मास, दूसरीको दिवस। वहांका प्रसंग बांचनेसे ऐसा लगेगा कि इन्द्रहन्ता पुत्रकी दुराशाके कारण ऐसा व्रत बताया जो न निभ सके और अदितिको सरल बताया। तब कश्यपजी क्या पक्षपाती थे? यदि पक्षपाती थे तो ऐसे एक ऋषिको नहीं करना चाहिये। पंरतु रहस्य कुछ और था। माना कि कठिन व्रत इसलिये बताया कि बीचमें विघ्न आनेसे व्रत पूर्ण न हो। यह तो कश्यपका गलत सोचना होगा। वञ्चन करना होगा। किन्तु ऐसा वंचन करनेपर भी दीतिके व्रतमें विघ्न नहीं आया। बारह महीना उसने निभाया। अन्तमें दैववशात् छोटासा विघ्न आया किंतु उससे हुआ कुछ नहीं। मरुत् देवता पूर्ण बन चुके थे। इन्द्रके मारनेपर भी वे नहीं मरे। फिर वहां लिखा

है-'सुष्वाप विधिमोहिता'। यह विधिमोहन तो बारह दिनका होता तो भी हो सकता था। वास्तविकता यह है कि कश्यपने सोचा दो दैत्योंको मैंने जन्म दिया। उसमें हेतु दितिका कुसंस्कार था। अब तृतीय दैत्यको जन्म नहीं देना है। इस दितिको ही सुधारना है। सुधार तभी संभव है कि अगर यह घोर तप करे। इसी कारण कश्यपने बारह महीनेका कठोर व्रत बताया। उस व्रत का परिणाम यह हुआ कि दिति का हृदय पलट गया। फलतः उदरस्थ बाल भी देव हो गया। पलट गया इसमें प्रमाण यह है कि इन्द्रने सात-सात करके टुकड़े किये। दितिकी नींद खुलनेपर उनचास बच्चोंको देखा और इन्द्रको भी देखा तो दितिने पूछा-क्या मामला है? इन्द्रने यथार्थ कहा, माफी मांगी। उस समय दिति यदि चाहती तो पुत्रकी आवश्यकता नहीं थी, श्रापसे ही इन्द्रको भस्म कर डालती। पर वह शान्त रही। बोली बेटा! जो हुआ सो हुआ, अब इन मरुद्गणको भी देवता बनाकर ले जाओ। इन्द्रने कहा-मां, ऐसा ही होगा। ये भी यज्ञ भागके भागी बनेंगे। इसका तात्पर्य यही है कि स्वयं क्रूर हो, अपनेको दुष्ट समझती हो-क्योंकि अपने स्वरूपका ज्ञान प्रायः सबको होता है,-उस दोषसे बालक दूषित न हो ऐसी इच्छा किसी मातामें हो तो दितिके समान उसको गर्भावस्थामें घोर तप करना चाहिये।

प्राकृत वासना तथा विकृत वासना महान् हानिप्रद है। प्राकृत वासनासे अगला जन्म खराब होता है। पशु, पक्षी आदि बनते हैं और विकृत वासनासे नारक योनिको प्राप्त होते हैं।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

जो यह पुरुष और सबके प्रसुप्त होनेपर भी जागृत रहता है। वह ही शुद्ध, महान् से महान्, मृत्यु से रहित कहा जाता है। उसी ब्रह्म में सब लोक स्थित है। उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता है। यही वह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

ब्रह्मविषयक प्रवचन करनेके लिये और मरणोत्तरकालीन आत्म-भावके बारेमें बतानेके लिये यमराजने प्रथम प्रतिज्ञा की। जिसमें मरणोत्तर

कालीन आत्मभावको प्रथम बताया। द्वितीय प्रतिज्ञाको प्रथम कहनेका अभिप्राय यह था कि वह वैराग्योद्भावक है। कर्म एवं वासनाके अनुसार अनेकविध स्थावर एवं जंगम योनियोंमें प्राणीको भटकना पड़ता है। अनेकविध कष्ट उठाना पड़ता है अतः कर्म एवं वासनासे ऊपर उठकर ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये। यह तात्पर्यार्थ है। दूसरी बात यह है कि शरीरादिसे पृथक् करके आत्माको समझनेके लिये मरणोत्तर आत्मभाव बताना आवश्यक है। शरीरादि कर्मोपासना जन्य है अतएव अनित्य हैं। जड़ हैं। दुःखरूप हैं। आत्मा उससे विपरीत नित्य है, और दुःखाभाव होनेसे सुखरूप भी है। यह विवेक शरीरादिस्वरूपज्ञानके बाद ही संभव है। इस प्रकार मरणोत्तर आत्मभावको बतलाकर प्रथम-प्रतिज्ञात ब्रह्म प्रवचन अब करने जा. रहे हैं। प्रश्न एक यह होगा कि "हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि" से ब्रह्मप्रवचन करूंगा ऐसा भविष्यनिर्देश हो रहा है। यह पांचवीं वल्ली चल रही है। तो अब तक क्या प्रवचन किया? ब्रह्मके बारेमें नहीं कहा क्या? "तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म न जायते म्रियते वा" इत्यादिसे ब्रह्मका ही तो वर्णन किया। इस अध्यायमें भी "पराञ्चि खानि" इत्यादिसे ब्रह्मका ही तो वर्णन किया। इसका समाधान यह है कि यद्यपि ब्रह्मवर्णन ही अभीतक किया। किन्तु "इदमित्थ" इस प्रकार करामलकवत् अभीतक नहीं बताया। अतएव "हन्त त इदं" यहां इदं शब्दका प्रयोग है। अपरोक्षतया प्रवक्ष्यामि यह उसका अर्थ है।

"य एष सुप्तेषु जागर्ति" नास्तिक लोग आत्माको या ब्रह्मको नहीं मानते। खैर, उस अभिनिवेशसे युक्त मनुष्यको समझाना भी कठिन है। दिल्लीमें प्रवचनकालमें कई आर्यसमाजी भी आते थे। वे प्रवचनके बाद बैठकर मुझसे चर्चा करते थे। जटिल युक्तियोंसे समाधान होनेपर उस रोज ठीक महाराज कहकर चले जाते। दूसरे दिन कुछ शौर सोचकर पूर्वपक्ष लाते। तीसरे रोज कुछ और। क्योंकि उनका अभिनिवेश द्वैतमें था। वैसे नास्तिकोंका नास्तिकतामें अभिनिवेश होता है। तथापि किसी अभिनिवेशमें जो नहीं पड़ा है, केवल जिज्ञासु है ऐसोंको समझानेके लिये यह प्रथम प्रयास है। अत एवं "हन्त ते" इस प्रकार "ते" का प्रयोग किया। ते-तुभ्यं

जिज्ञासवे नचिकेतसे ऐसा उसका अर्थ है। उस नास्तिकतासे ऊपर उठानेके लिये प्रथम कहते है-"य एष सुप्तेषु जागर्ति।" सबके सोनेपर जो जगा रहता है। क्या मतलब? सबके सोनेपर जागता है, सबके जगनेपर वह सोता है ऐसा? काशी में संत थे। उनको नींद जल्दी आती तो रातको साढ़े आठ नौ को सो जाते और दो ढाई बजे उठ जाते थे। दूसरे संत थे। उनको नींद नहीं जल्दी आती तो रातको ढाई बजे तक पढ़ते रहते थे और उठते आठ नौ बजे। ये दोनों एक जगह होते तो पहरेदारकी जरूरत नहीं पड़ती थी। क्योंकि एकका सोनेका समय दूसरेका उठनेका होता था। ऐसा यह ब्रह्म भी है क्या? और सोयें तो यह जगे और अन्य जगे तो यह सोंये? नहीं। यहां "अपि" कार जोड़कर व्याख्या करना है। अन्येषु सुप्तेष्वपि जार्गति। असुप्तेष्वपि जागर्त्येव।

यद्यपि श्रुतिके समयमें चार्वाकमत नहीं था। नास्तिकवाद नहीं था। छः आस्तिक और छः नास्तिक हैं। न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग-दो मीमांसा ये आस्तिक षड्दर्शन हैं। चार्वाक-जैन चार बौद्ध ये नास्तिक छः है। जैन तो वैसे श्रद्धालु आस्तिक जैसे हैं। परंतु वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वरको नहीं मानते। वे महावीरको पूजते हैं। वैसे चारों बौद्ध भी हैं। वे बुद्धको पूजते हैं। क्या महावीर या बुद्ध अभी हैं? नहीं हैं। फिर क्यों उनको पूजते हैं? क्या वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् थे? नहीं। फिर उनके अस्तित्वकालमें उनकी पूजा करनेका क्या वस्तुतः सनातनियोंको संस्कार उनमें भरा है? ईश्वरकी ही वे पूजा करते हैं नामरूप बदलकर। असली जैन बोद्ध तो इन पूजाओंको कैसे स्वीकारेगा? अस्तु, जैन बौद्ध जैसे भी हों, प्रकृतमें चार्वाक मतका निराकरण है। यद्यपि श्रुतिकालमें चार्वाक नहीं थे फिर भी संभावित आशंका का निवारण किया तो बादमें आनेवाले नास्तिकका वही जवाब हो गया।

चार्वाकके आदि प्रवर्तक वृहस्पति हुए। सुनते समय आश्चर्य होगा कि देवगुरु बृहस्पतिने कैसे चार्वाकदर्शन लिखा? अवसरकी बात है। ब्रह्मसूत्रके समान बृहस्पतिने चार्वाकसूत्र लिखे। असल बात यह हुई कि प्रथम असुरोंने देवताओंको परास्त किया तो देवताओंने संधिकर अमृतमन्थनका प्रस्ताव रखा। अमृत प्रकट हुआ तो उसमें छीनाझपटी, राजनीति सब कुछ

प्रयुक्त हुए। अन्तमें देवताओंने अमृत हथिया ही लिया। फिर क्या था-देवता अमर हो गये। असुर मारे जाने लगे। जहां वृद्धि नहीं और नाश ही नाश है वहां एक दिन उस जातिका अन्त ही हो जायेगा। असुर शुक्राचार्यकी शरणमें पहुंचे। शुक्रचार्यने कहा चिन्ता न करो। मैं उपाय करूंगा। शुक्राचार्य वहांसे काशी आये और संजीवनी विद्याकी प्राप्तिके लिये तप करने लगे। केवल धुँआ पीकर वे तप करने लगे। धूम्रपान का अर्थ यह न समझना कि वे बीड़ी पीते थे। यज्ञीय धूमपान करते थे। बीड़ीका धुंआ तामस है। यज्ञीय धूम सात्त्विक है। बीड़ीका धुंआ केन्सर आदि भयानक रोगोंका कारण है। यज्ञीयधूम सर्वरोगनिवारक है। यज्ञीय धूमसे घर पवित्र हो जाता है। शुक्राचार्य की तपश्चर्या एवं उसके उद्देश्य का पता देवताओंका लगा तो वे वृहस्पतिके पास गये और कहने लगे क्या उपाय हो। बृहस्पतिने कहा शुक्राचार्य की तपस्यामें कोई विघ्न नहीं डाल सकता। वे तो अपना लक्ष्य प्राप्त करेंगे ही। हाँ, मैं एक दूसरा उपाय कर सकता हूँ। इतना कहकर वे वहांसे चले।

बृहस्पतिने बड़े भारी पण्डितका स्वरूप बनाया। सर्वविद्याविशारद। भूतभविष्य बतानेवाले। असुरोंने अपना भविष्य पूछा तो कुछ ऐसी बातें बतायीं कि असुरोंको श्रद्धा हुई। क्योंकि भविष्य जाननेकी इच्छा सबको होती है। हाथ देखना शुरु करो तो सैकड़ों तुरंत एकत्रित होंगे। उसी समय बृहस्पतिने यह चार्वाकशास्त्र बनाया। चारु वाक् ही तो चार्वाक है। बड़ा अच्छा लगा। बृहस्पति वहांसे गये। फिर दुबारा शुक्राचार्यका रूप धारण कर आये। दैत्योंने शुक्राचार्यरूपधारी बृहस्पतिको कहा कि एक महापण्डितने हमें यह विद्या बतायी है। शुक्र बृहंस्पति बोले-यह बड़ी अच्छी विद्या है। इसे तुमलोग धारण करो। मेरा रूप लेकर कोई बहुरूपिया आ जाय तो उसपर विश्वास न करो। बृहस्पति चले गये। इधर शुक्राचार्य शंकरभगवानसे संजीवनी विद्या प्राप्त कर वापिस आये और धर्मोपदेश करने लगे तो बुहरूपिया कहकर असुरोंने उनका तिरस्कार किया। शुक्राचार्यने उनको श्राप दिया कि तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो जाय। जब बुद्धि भ्रंश होने लगा तब दैत्योंने समझा कि यह तो महाशक्तिशाली है। संभव है ये ही हमारे गुरु हों, पहलेवाला बहुरूपिया हो। फिर

शुक्राचार्यके चरणोंमें पड़कर सारा वृत्तान्त सुनाया तो शुक्राचार्य समझ गये कि यह सब बृहस्पतिकी ही करतूत है। संजीवनी विद्याका उपयोग तो दैत्योंके लिये शुक्राचार्य करते रहे। किन्तु उनकी मति जो भ्रष्ट हुई वह सुधरी नहीं। इसलिये विरोचन भी शरीरात्मवाद को ही प्रजापतिसे भी ग्रहण कर सका।

इस प्रकार यह चार्वाकशास्त्र बृहस्पतिके द्वारा प्रवर्तित हुआ और उसका ग्रहण बहुतोंने किया। आज तो वही शास्त्र काम आ रहा है। पूरे विश्वकी नीति वही बन गयी है। चार्वाकोंका कहना है-"अर्थकामौ पुरुषार्थौ"। अर्थनीतिसे लोगोंको अर्थ प्राप्त होता है। कामका अर्थ है वस्तूपभोग। 'कन्स्यूमर' उपभोक्ता। धर्म और मोक्ष आज नहीं हैं। सेक्युलर गवर्न्मेण्ट है। बस और सब ठीक है। इतनी ही बात है कि यह असुरोंका राज है।

चार्वाकोंका दार्शनिक सिद्धान्त है कि चार भूत ही तत्त्व हैं। इन चार पृथिवी, जलादि भूतोंसे नाना यन्त्र बनते हैं। यन्त्रोंसे क्रिया होती हैं। जैसे ट्रेनका इंजन है। लोहभाग पृथिवी है। उसमें जल भरते हैं। कोलसा, तेल आदिसे अग्नि पैदा करते हैं। भाप वायु है। इन चारसे इंजनमें क्रियाशक्ति आ गयी। यह शरीर भी एक यन्त्र है। चार तत्त्वसे बना है। अतिसूक्ष्म है। यहां के पूर्जे अतिसूक्ष्म हैं। फलतः क्रियाशक्तिके बाद ज्ञानशक्ति भी यहां प्रकट होती है। चार्वाक सूत्र है—

"किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्तदुत्पत्तिः।"

मांड, चुना और गुड़ अलग-अलग हो तो मादकता नहीं होती। मिलनेपर मदशक्ति होती है। वैसे पृथिवी आदि भूतचतुष्टयके विलक्षणसंयोगसे चैतन्य भी उत्पन्न होता है। जैसे पुर्जे खराब होनेपर इंजन चलता नहीं वैसे शरीर खराब होनेपर आदमी मर जाता है। बोले कि पुर्जे बदलने पर फिर क्रियाशक्ति आती है। ठीक है। यहां पर भी हार्ट बदलते हैं आजकल। वाल्व बदलते हैं तो आदमी जीवित रह जाता है। पूरे मरनेपर इसके बहुत सारे पुर्जे खराब हो जाते हैं, उन सबको सुधारना मुश्किल है। अतः पुनः जिलाया नहीं जा सकता। जिस रोज ये पुर्जे बनानेका आविष्कार

होगा वहां मरे को भी जिलायेंगे और नयेको भी बनायेंगे। चार्वाकोंके इस मतका सूत्ररूपमें खण्डन श्रुति कर रही है-य एष सुप्तेषु जागर्ति।

यदि परमेश्वर एक जाग्रदवस्थामात्र बनाते तो शास्त्रार्थमें ये चार्वाक जीत जाते। किन्तु परमात्माने तीन अवस्थायें बनायीं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। यदि शरीर चेतन होता तो स्वप्न और सुषुप्तिमें शरीर अपने आपको क्यों नहीं प्रकाशित करता? सूर्य प्रकाशरूप है। हमेशा ही अपने आपको प्रकाशित करता है। वैसे शरीर भी प्रकाशरूप होता तो अपने आपको प्रकाशित करता। किन्तु स्वप्न और सुषुप्तिमें शरीरका कोई अता पता नहीं रहता। यदि कहें कि पुर्जा खराब हो गया तो वह मर ही जाता। स्वप्नमें यह स्थूलशरीर काम नहीं करता। स्थूल शरीरसे कोई प्रकाश नहीं मिलता। जो स्वयंको प्रकाशित न करे वह दूसरेको क्या प्रकाशित करेगा? नींदमें कोई छूता है तो पता नहीं चलता। आंख खुली हो तो भी कुछ दीखता नहीं। कोई बोलता हो तो सुनाई नहीं पड़ता। अतः स्थूल शरीर प्रकाशक नहीं, वह चैतन्यवाला नहीं। यह तो कह नहीं सकते कि उस समय चैतन्य था ही नहीं। क्योंकि सपनेमें नये शरीरकी सृष्टि होती है। यात्री बनकर दिल्ली, कलकत्ता, लंडन, अमेरिका घूमते हैं। स्वर्ग का सपना देखते हैं। पातालवासी नागोंको देखते हैं। उस स्वसृष्ट शरीरको कोई छूता है तो पता लगता है। रूपरसादिका अनुभव होता है। विचार करनेपर ऐसा लगेगा कि इस स्थूल शरीरको छोड़कर किसी नये सूक्ष्मशरीरमें हम प्रवेश कर गये। उसीको अपना स्वरूप समझने लगे। नींद खुलते ही उसे छोड़कर इस स्थूल शरीरमें पहुंच गये। फिर सुषुप्तिमें पहुंच जाते हैं तो स्थूलको भी छोड़ देते हैं। सूक्ष्मको भी छोड़ देते हैं और किसी शून्यमें पहुंच जाते हैं।

उस समय स्थूल शरीर सुप्त हो गया। क्योंकि उसमें चेतना नहीं है। आंख कान आदि भी सुप्त हो गया। वे देखते सुनते नहीं। सुषुप्तिमें बीचवाला सूक्ष्म शरीर भी सुप्त हो गया। वह सूक्ष्मशरीर असलमें क्या है? वह मन ही है। मन ही संकल्पानुसार शरीरादि आकारमें बन जाता है। मन होनेसे ही उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। अन्यथा वह केवल रज्जुसर्पोपम कल्पनामात्र होता। शरीर क्यों होता। अतः रज्जुसर्पवत् वह

प्रातिभासिक नहीं। मन व्यावहारिक सत्तावाला है। संस्कार उसके अंदर है। अतः तत्तत् शरीरादि आकार भी सूक्ष्मरूपेण विद्यमान है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि हम उसे स्थूलरूपमें जो देखते हैं बहिष्ट्वेन देखते हैं वह रज्जुसर्पवत् कल्पित है। अतएव मिथ्यात्वके लिये दृष्टान्त भी बनता है। मन व्यावहारिक सत् होनेसे सूक्ष्मशरीरके रूपमें व्यवहृत किया जाता है। सुषुप्तिकालमें वह भी सुप्त हो गया।

स्थूल सूक्ष्म सभीं सुप्त हो गये तो यह आत्मा भी सुप्त होता है कि नहीं? वह जगा रहता है। अहमर्थ आत्मा है। वह सदा सर्वदा जागृत है। जागृतकालमें मैं देख रहा हूं, सुन रहा हूं इस प्रकार मैंका भान होता है। स्वप्नकालमें भी मैं देखता हूं सुनता हूं इत्यादि रीतिमें जागृत ही रहता है। सुषुप्ति कालमें भी कहते हैं मैं बेखबर सो गया। उस समय सोनेवाले शरीरादि हैं। तादात्म्याध्याससे मैं सो गया बोलते हैं, वैसे सुषुप्तिमें स्थूल सूक्ष्म दोनों सोते हैं। तादात्म्याध्यासेके कारण उठनेके बाद बोलते हैं मैं सो गया। उस सुप्तिको मैं देख रहा था। यदि न देखता तो स्मरण क्यों होता? एक लड़केको कहा उस कमरेमें जाकर आओ। बताओ वहां कौन है। वह जाकर आया। बोला कोई नहीं। पूछा अंदर गया था कि बाहरसे देखकर आया? अंदर गया था। अंदर गया तो तू ही एक था, कोई नहीं क्यों बोलता है? मतलब मुझसे अतिरिक्त कोई नहीं था। वैसे सुषुप्तिमें मैंने कुछ नहीं जानाका अर्थ है मुझसे अतिरिक्त किसीको नहीं जाना। हां, उस न जाननेको भी जाना। वैसे घट है यह भी ज्ञान है, घट नहीं है यह भी ज्ञान है। वैसे जाना यह भी ज्ञानका ज्ञान है और नहीं जाना यह ज्ञानाभावका ज्ञान है। मैं, ज्ञानाभाव या अज्ञान इन दोनोंको प्रकाशन सुषुप्तिमें हो रहा है। अतः सुषुप्तिमें भी वह जागृत है।

शरीर सोता है। आत्मा नहीं। चक्षु, श्रोत्र आदि सो जाते हैं। आत्मा नहीं। मन सो जाता है। आत्मा नहीं। तब सोनेवाला और न सोनेवाला दोनों पृथक् होना चाहिये। वही सोता है वही नहीं सोता है ये दोनों बातें विरुद्ध होंगी। अतएव भूतचतुष्टय या भूतपञ्चकनिर्मित यह स्थूल शरीर भी आत्मा नहीं और सूक्ष्म शरीर चक्षुः श्रोत्रादि, मन ये सब भी आत्मा नहीं। सुषुप्ति का अज्ञान भी आत्मा नहीं। इन सबसे पृथक् इन सबका

दृष्टा ही आत्मा है। चार्वाकोंने स्थूल शरीरको आत्मा बताया सो युक्तिसे कट गया। दूसरे चार्वाक ने इन्द्रियोंको आत्मा बताया। वह भी इसी युक्तिसे कट गया। क्योंकि सुप्तिमें इन्द्रियां सो जाती है। साधारण स्वप्नमें भी इन्द्रियां सो जाती है। आंख भले खुली हो, सोया हुआ आदमी देखता नहीं। कान खुले ही हैं, त्वक् खुली ही है। फिर भी सुनते नहीं, स्पर्शानुभव नहीं होता। सपनेमें दीखने वाले रूप, रसादि चक्षु आदिसे नहीं देखते। मनसे ही देखते हैं। अतः इन्द्रियां सभी सपनेमें ही सो गयीं। आत्मा सोया नहीं। सुषुप्तिमें मन भी सो गया। किन्तु आत्मा सोया नहीं। अतएव इस एक सूत्रमें शरीरात्मवादी, इन्द्रियात्मवादी, अन्तःकरणात्मवादी तीनों चार्वाक निरस्त हो जाते हैं। क्या सूत्र-य एष सुप्तेषु जागर्ति। भगवान् शकंराचार्यने इस रहस्यको इस प्रकार स्पष्ट किया—

"नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गं नाहंकारः प्राणवर्गो न बुद्धिः।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ॥"

देहादि नहीं। क्योंकि ये सब सो जानेपर जड़ स्पष्ट होते हैं। आत्मा साक्षी है, चेतन है, द्रष्टा है। दारापत्यादिको आत्मा मानना तो दूर निरस्त है देहादि भी आत्मा नहीं है। वह अहंप्रत्ययास्पद आत्मा प्रत्यक् रूप है। शिव है।

कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। मरणोत्तर आत्मभावके बारेमें बताऊंगा इतना ही पूर्वमें बताया था। और "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते" इत्यादि पूर्वमन्त्रमें बता भी दिया था। सूचीकटाहन्यायका अनुसरण करनेपर भी अब ब्रह्म-निरूपणकी ही बारी थी। किन्तु यह आत्मनिरूपण अभी चल रहा है। ऐसा क्यों? अप्रतिज्ञात वर्णन क्यों? इसका कारण यह है कि आत्माको जाने बिना परमात्माको जानना संभव नहीं है। आत्मामें ही परमविशेषण जोड़नेपर परमात्मा कहा जाता है। कमल ही को जिसने नहीं समझा वह नीलकमल, रक्तकमल को क्या समझेगा? दूधको ही जिसने ठीक समझा नहीं वह असली दूध, मिलावटी दूधको क्या पहचानेगा? वह अनात्माको ही परमात्मा समझेगा। अश्वत्थामा जब बालक थे तब एक बार दूसरे आश्रममें गये तो वहां दूसरे बालक दूध पी रहे थे। अश्वत्थामाने पूछा

क्या पीते हो? 'दूध' उत्तर मिला। कैसा होता है दूध? सफेद बड़ा स्वादिष्ट. वहांसे अपने घर आश्रममें आये। मां (कृपी) से कहा मुझे दूध पीना है। माँ ने कहा-"यहां बेटा कहां दूध है"? "मां! मेरे साथियोंको दूध कहांसे मिला?" बड़े बड़े ऋषियोंके वे पुत्र हैं, उनके भक्त उनको देते हैं।" "यहां भक्तोंको बुलाओ" "भक्त बुलानेपर नहीं आते।" "लेकिन मुझे दूध चाहिये"। अश्वत्थामा जमीनपर लोट-पोट होने लगे। बालहठ बड़ा विलक्षण था। आखिर कृपीने अंदरसे आटा घोलकर कटोरीमें डालकर कहा ले दूध। अश्वत्थामाने एक नजरसे ऋषिकुमारोंका दूध देखा था। सफेद देखा तो समझ लिया दूध है। पीने लगे तो स्वाद नहीं आ रहा था। आटा है। उसमें मीठास कहांसे आती! अश्वत्थामाने कहा-मां, इसमें स्वाद नहीं है। मीठास नहीं है। माँने कहा-यह असली दूध है। असली दूधमें स्वाद नहीं होता, ताकत ज्यादा होती है। पीले, पहलवान बनेगा। अश्वत्थामाने सच समझा। एक एक घूंट मुंहमें ले लेकर चाटना शुरु किया और नाचने लगे। मैं पहलवान बनूंगा। उसी समय बाहरसे द्रोणाचार्य आये। अश्वत्थामा दौड़ दौड़कर पिताके पास गये। बोलने लगे मैं असली दूध पी रहा हूं। पहलवान बनूंगा। द्रोणाचार्यको अपनी इस अवस्थापर बड़ी ग्लानि हुई। इत्यादि कथा आगे प्रसिद्ध है। अपने तो इतना ही अंश लेना है। जो दूध ही नहीं पहचानता वह असली दूध क्या पहचाने? आटेके पानीको ही दूध समझ बैठे। वही स्थिति यहां भी है। जो आत्माको ही नहीं जानता वह परमात्माको भला क्या जाने? द्वैतवादीने आटेके पानीको ही दूध समझ लिया-अनात्माको ही परमात्मा समझ लिया। विष्णु, राम, कृष्ण आदि सभी उनके मतमें आत्मासे भिन्न है अनात्मा है। उन्हींको परमात्मा समझा। आत्मा अपने आपको कहते हैं। क्या विष्णु, राम, कृष्ण आदि हमारे आत्मा है। जब आत्मा नहीं तो परमात्मा किस प्रकार? अतः प्रथम आत्माको समझो। फिर उसमें मिलावट क्या हुई यह देखो उस मिलावटको-पानीको हंस बनकर अलग करो। तब असल परमात्माका दर्शन होगा। अतः यहां प्रथम आत्मनिरूपण कर रहे हैं।

वस्तुतः आत्मामें ही प्रथम परमात्मदर्शन करना है। बाहर परमात्म-दर्शन झूठा होगा। श्रुति भगवती स्वयं कहती है-

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद ।

यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यम त्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥"

जो आत्मामें रहता है, आत्माके अंदर है, जिसको आत्मा नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर है, जो अंदर रहकर आत्माका नियमन करता है यही तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत आत्मा है। पानी वाले दूधमें असल दूध रहता है। पर असली दूधको वह देख नहीं पाता। पानीवाला दूध शुद्ध दूधका शरीर है। वही उसका नियमन करता है। शुद्ध दूध उसमें न हो तो पानी को कौन खरीदेगा दस रुपया देकर? वैसे शरीरादि उपाधिविशिष्ट आत्मामें वह शुद्ध आत्मा रहता है। जीवात्मा प्रतिबिम्ब है इस मतमें भी प्रतिबिम्बमें बिम्बसत्ता ही होती है। सूर्य प्रतिबिम्बमें सूर्यका ही प्रकाश है। सूर्य की ही उष्णता है।

"प्रतिबिम्बे स्फुरन्नीशः"

ऐसा वार्तिककार भी कहते हैं। आत्मामें परमात्मदर्शन आसान है। क्योंकि अव्यवहितरूपमें स्थित है। अन्य वस्तुओंमें उपाधिव्यवहित होकर अन्यता दीखेगा।

कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। सुप्तेषु शरीरेन्द्रियादिषु कामं निर्मिमाणः। प्रश्न हुआ कि सोनेके बाद एक नयी सृष्टि सामने आती है क्योंकि जाग्रत के पदार्थ स्वप्नमें नहीं हैं। श्रुति कहती है, जाग्रतपदार्थ वहां नहीं है-नवीन सृष्टि होती है।

"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति
अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते।

अर्थात् जाग्रतकालीन रथ घोड़ा आदि सपनेमें नहीं है। वहां नवीन रथादिकी सृष्टि की जाती है। उसकी सृष्टि करनेवाला कौन है? हम स्वयं बनाते हैं या और कोई? यदि हम स्वयं सृजन करते हैं तो अपने अनुकूल सब बनाते। जैसे कोई अपने लिये बंगला बनाता है तो खड़े होकर इधर दरवाजा रखो, इधर बिजली रखो इत्यादि अपने अनुकूल सब कुछ बनाते बनवाते हैं। कमीज आदि बनवाना हो तो अपनी इच्छाके अनुसार सिलाई करवाते हैं। अपना ही बनाना है फिर क्या? इसी प्रकार यदि स्वाप्न पदार्थ को हम ही बनाते हैं तो प्रतिकूल सपना क्यों बनाते हैं? हमारे बसकी बात होती तो रोज इन्द्रसिंहासन बनाकर उसपर बैठते। वैकुण्ठ बनाकर उसमें विराजमान होते। सुन्दर-सुन्दर दारपुत्रादि बनाते। किन्तु होता

विपरीत है। कभी भूत दीखता है। कभी बाघ। कभी सांप। सपनेमें बहुतेसे लोग भयानक सपना देखकर चिल्ला उठते हैं। इसलिये कई आचार्योंने स्वप्ननिर्माता भगवानको ही माना। स्वाप्न पदार्थोंको भगवान् बनाते हैं। मामूली आचार्यलोग नहीं। रामानुजाचार्य जैसे प्रख्यात आचार्योंने यह माना।

बात ठीक है। यदि हम स्वप्नके निर्माता होते तो अपने अनुकूल सब बनाते। भगवानको निर्माता माननेपर यह दोष नहीं है। पर, एक दूसरा दोष आता है। जैसे जाग्रत पदार्थ भगवत्निर्मित होनेसे सत्य (व्यवहार सत्य) हैं वैसे स्वप्न पदार्थ भी भगवत्निर्मित हो तो जाग्रतपदार्थवत् सत्य हो तो। होने दो सत्य क्या हर्जा है? ऐसा तर्क नहीं हो सकता। आपने किसीसे दस हजार रुपया उधार लिया। सपनेमें देखा कि पैसा मैं वापिस कर रहा हूं। दूसरे दिन महाराज आये तो कह दो मैंने कल रातको आपका पैसा वापिस चुका दिया तो काम चलेगा कि नहीं? यदि नहीं चलेगा तो किस बातका वह सत्य है? दूसरोंको फंसानेका वह सत्य हुआ। अतः स्वप्न पदार्थ भगवतनिर्मित नहीं है। युक्तिसें तर्कसे दिनको रात सिद्ध करो सो अलग बात है। वस्तुतः स्वाप्न पदार्थ को सत्य नहीं मान सकता। स्वप्नमें लाख रुपया भिखारीने पाया तो वह सेठ नहीं बनेगा।

अब वापिस फिर आईये। परमेश्वरने नहीं बनाया तो जीवात्माने ही बनाया। किन्तु उसमें पहलेवाला प्रश्न फिर खड़ा होगा-जीवात्मा अगर बनाता तो अपने अनुकूल ही बनाता। नहीं। जीवात्मा बनाता है किन्तु कर्मसहकृत होकर। हम चित्र लिखनेमें स्वतन्त्र है। तो क्या अपने मनमुताबिक चित्र बना पायेंगे? रसोई बनाते हैं। वही व्यक्ति है। कभी रसोई बहुत बढ़िया बनती है और कभी घटिया। तो आखिर कहना पड़ेगा। खानेवालोंका अदृष्ट भी साथमें जुड़ा हुआ है। प्रयागराज कुंभमें समष्टि भंडारा होते थे। कभी रसोई बढ़िया होती थी और कभी सामान्य। एक महात्माकी समष्टिमें कोई भी चीज खाने योग्य नहीं बनी थी। स्वप्नमें चेतनके नाते हम स्रष्टा हैं। काम पूरा अदृष्टसे होता है। किन्तु कर्ताके रूपमें हम ही हैं।

कर्म एवं अदृष्टको लाये तो एक नया प्रश्न खड़ा हो जाता है। कौनसा कर्म स्वप्न का कारण है? 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'श्रियः पञ्चदशर्चं श्रीकामः सततं जपेत' इत्यादि वाक्य मिलते हैं। इसी प्रकार अमुक स्वप्नकाम अमुंक यजेत् ऐसा कोई वाक्य श्रुति स्मृति आदिमें मिलता है? लेकिन ऐसा कोई वाक्य मिलता नहीं है। फिर इन्द्रासन-स्वप्नार्थ कोई कर्म करेगा कि इन्द्रासनार्थ करेगा? क्या कोई शुक्तिरजतं मेऽस्तु ऐसी कामना करेगा कि रजतं मेऽस्तु यह कामना करेगा? कर्म ही करना है फलार्थ तो प्रातिभासिक फलार्थ कौन कर्म करेगा? स्वप्ने लक्षप्राप्त्यर्थं यागं करोमि ऐसी प्रार्थना करनेवाला भी कोई मूर्ख दुनियामें मिलेगा? एक बार कुम्भमेलामें कुछ संत गंगाकिनारे इकट्ठे हुए थे। प्रश्न यही छेड़ा कि हम स्वप्न देखते हैं तो उसमें कर्म कारण है कि नहीं? यदि है तो कौनसा कर्म कारण? कर्म कारण है इतना मानना उचित है। क्योंकि सपनेमें भी सुख-दुःखादि होते हैं और सुख-दुःख तो कर्मके ही फल हैं।

एक संतने कहा (नाम नहीं लेता हूं) कि जीवनमें जो हलकेफुलके कर्म होते हैं उसका हलका-फुलका फल भी होगा। वही सपना है। उदाहरणके लिये रसोईमें थोड़ी दाल बची थी। उसे बाहर फेंकने जा रहे थे। बर्त्तन साफ करना है। वहाँ एक भिखारी खड़ा था। हमको दे दो बोला तो उसको दिया। इससे पुण्य होगा कि नहीं होगा ? फेंकने जा रहे थे। इसलिये इरादापूर्वक यह दान नहीं है। फिर भी मामूली पुण्य है। केला खाकर छाल फेंकने जा रहे थे। गाय दिख पड़ी तो उसको खिला दिया। इस ढंगके पुण्य कर्म हलके फुलके हैं। आप किसी को हजार रूपया दान देने लगे। घरवाले नाराज हो गये। सत्संगमें जानेसे पिता नाराज हुआ। पतिको नापसंद है। दूसरों की नाराजगीका कारण होनेसे उससे पाप लगेगा कि नहीं? लगेगा। परंतु वही हलका फुलका। क्योंकि शास्त्रविहित कर्म कर रहे थे। उसका पुण्य लाख है। पाप एक या आधा। इस प्रकारके कर्मोंका फल जाग्रतमें नहीं सपनेमें होगा।

दूसरे संतने कहा-अनजानमें जो कर्म होते हैं। उसका फल सपनेमें मिलता है। रास्तोंमें चलते हैं तो नीचे चींटी-कीड़े आते ही हैं। उनकी हत्या अनजानमें हो जाती है। अनजानमें होने पर भी उसका पाप लगेगा

ही। क्योंकि दूसरेको क्लेश तो हुआ ही। फरक इतना ही है कि जान बूझकर कोई कर्म करे तो उसका नियत फल होता है। अनजानमें किये हुए कर्म का जोर कम हो जाता है। किन्तु उसमें भी फरक है। कीड़े मकोड़े हो तो उसका फल सपने तक सीमित होगा। आम गिरानेके लिये पत्थर फेंका। उससे किसी ब्राह्मणका सिर फूटा तो। मनुका पुत्र पृषध्र ने गायको बचानेके लिये रातको बाण मारा और बाघ तो मरा नहीं और गाय मर गयी। इसका फल उसको तुरंत मिला कि वह शूद्र हो गया। अतः भारी हिंसा आदि अनजानमें होनेपर भी उसका परिणाम जाग्रतमें ही होता है। हाँ, घोर नरक आदि नहीं होता इतनी विशेषता उसमें भी है। इसी प्रकार अनजानेमें पुण्य भी होते रहते हैं। पेड़ के नीचे क्यारी बनायी थी। उसमें पानी डाला। पेड़के निमित्त। प्यासी चिड़ियाने आकर पानी पिया। आपने पेड़ लगा दिया-केरीका पेड़। राहगीर कभी आकर उसकी छायामें विश्राम करने लगे। यह भी साधारण पुण्य है। इन सबका भी फल साधारण ही होगा। क्योंकि यह सब इरादापूर्वक नहीं है। वेदोंमें बताया है कि फलकामना रखकर विधिवत् कर्म करे तो उसका फल होता है। विधिवत् किया किन्तु कामना नहीं रखी तो अन्तःकरणशुद्धि होगी। कामना भी नहीं विधि भी नहीं तो सामान्य पुण्य होगा। वहीं यदि अनजानमें हुआ तो उसका सुस्वप्नमात्र फल होगा।

तीसरे सन्तने कहा-फल प्रायः समान कर्म से होता है। स्वप्न मानस होता है। वहां जाग्रतिक कोई पदार्थ नहीं होता। उसके प्रति मानस कर्म ही कारण है। मानसिक पुण्यपाप हम करते रहते हैं। उसके फलस्वरूप उसीके अनुरूप सपने आते हैं। मानसिक कर्म बाहर तक फैलता नहीं है। अतः उसका फल भी मन ही तक सीमित रहता है। सपनेमें देवदत्तको मारा पीटा या खिलाया पिलाया तो उसकी नाराजगी या संतुष्टि अपनेतक सीमित है। देवदत्ततक नहीं जायेगी। स्वप्न किसी कर्मका फल नहीं है। वह किये हुए कर्मका जो भावी फल है उसका सूचक मात्र है। जैसे बिजलीका मीटर लगाया तो वहां एक विना नंबरकी बत्ती जलती है। उससे मीटर चढ़ेगा नहीं। थोड़ा लाईट होगा। आगे बिजली जलेगी इसका वह सूचक है। ब्रह्मसूत्रमें बताया है—

"सूचकश्च श्रुतेराचक्षते च तद्विदः" ।

स्वप्न भावि परिणामका सूचक होता है। पूर्वकृत कर्मका क्या फल होगा इसका वह सूचक है। जैसे कोई विशिष्ट यज्ञादि कर्म किया। काम्य कर्म किया। स्वप्नमें स्त्री दीखी।

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥"

लक्ष्मीसदृश स्त्रीको देखा तो वह उस काम्यकर्मका परिणाम अवश्य है। परंतु फल होनेपर कर्म समाप्त होता है। स्वप्नमें लक्ष्मीसदृशस्त्रीदर्शन यदि फल है तो उससे कर्म समाप्त हो गया होता। किन्तु ऐसा नहीं होता। वह समृद्धफल आगे होने वाला है। इसका सूचक है। हाथीपर चढ़नेका सपना देखा तो महान् फल प्राप्त होनेकी सूचना है। गधेपर चढ़नेका सपना देखना अनिष्टसूचक है। कृष्णदन्त पुरुषको देखा तो वह शीघ्र मृत्युका सूचक है। ये कर्म का परिणाम होनेपर भी फल नहीं हैं।

इन तीनोंमें कौनसा मत सही है, कौनसा गलत है यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है। हो सकता है तीनों मत सही हों। विकल्पसे कभी हल्के फुल्के कर्मका फल हुआ, कभी अनजानमें किये कर्मका फल हुआ, कभी सूचकमात्र हुआ। तीनों बातें हो सकती हैं। तृतीय मतके लिये श्रुति और सूत्रका सहारा है यही विशेषता है।

सभी मतोंमें एक बात निर्विवादरूपसे सामने आती है वह यही कि कर्मसहकृत होकर यह जीवात्मा ही स्वप्नमें सृष्टि करनेवाला है। जीव सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। इस बातको हम जाग्रतमें भी देख सकते हैं। जाग्रतमें हम ध्यान करनेके लिये बैठे। भगवानका चित्र सामने लानेका प्रयास किया। सामने आया। तो उस चित्रका निर्माता कौन? जैसे बाह्य चित्रका निर्माता, मूर्तिका निर्माता कारीगर होता है वैसे अंदर चित्र, मूर्ति आदिका भी कोई निर्माता होगा ही। वह स्वयं ही है। तो क्या हम अपनी मर्जीसे चित्र-मूर्ति बना पाते हैं? हम चाहते हैं—सूर्यमण्डलमध्यर्ती तेजोराशिस्वरूप प्रसन्नवदन भगवानका स्वरूप आवे। पर आता नहीं। आने पर भी एकाध बार आनेके बाद मार्किटका चित्र होने लगता है। जो नहीं चाहते वह भी ध्यान करने बैठनेपर आ जाता है। अर्थात् स्वयं निर्माण

कर रहे हैं फिर भी उसमें स्वतन्त्रता नहीं है। रसोई बनानेवाला वही है, वस्तु वही है किन्तु कभी रसोई अच्छी बन जाती है। कभी बिगड़ जाती है। अन्ततोगत्वा कुछ अदृष्ट भी कारण मानना होगा।

ब्रह्मवर्णनकी प्रतिज्ञा कर स्वप्नकामनिर्माणकर्ता जीवात्माको प्रस्तुत किया। इसलिये कि इसप्रकार जीवात्मा भी अपनी उपाधिके अनुरूप सृष्टिकर्ता है। परमात्मा भी स्वीय उपाधिके अनुरूप सृष्टिकर्ता है। उपधेय चैतन्य एक है यह बतानेके लिये।

कुछ द्वैतवादी कहते हैं कि प्रलयमें सभी प्रसुप्त हो जाते हैं। तब केवल एक परमात्मा ही सृष्टिकर्ता रहता है। अतः यह परमात्माका ही वर्णन है। किन्तु उन लोगोंने यह नहीं बताया कि प्रलयमें किन किन कामोंको परमात्मा बनाता है। जब प्रलय ही हुआ तो सृष्टि कहांसे होगी? दूसरे द्वैतवादी कहते हैं—जीव सब जब सो जाते हैं तो संकल्प करके परमात्मा सृष्टि करता है। उनको यह बताना होगा कि जीव जग जाता है तो सृष्टि बंद कर देते हैं क्या? सभी जीव एक साथ सोते कहां हैं? वही प्रलय अर्थ करेंगे तो पहलेवाली ही बात आयेगी। प्रलयकी चरम अवस्थामें सब प्राणी सोये हुए रहते हैं तब कामं-कामं=कामना कर करके सृष्टि करने वाला अर्थ करते हैं तो भी वही बात है। जीवोंके जगनेके बाद भी परमात्माके संकल्पसे ही सभी सृष्टि होती है। फिर सुप्तेषु कहनेपर समानकालीनता प्राप्त होती है। मतलब सृष्टि कर परमात्मा सोने नहीं देता। जहां सोना शुरु किया वहीं सृष्टि कर बैठता है। अस्तु। यहांपर स्वप्ननिर्माणकी ही बात है। क्योंकि प्रलयमें परमात्मा जागता है या नहीं इससे कोई मतलब नहीं है। वर्तमान सुप्तिमें जागरण करनेवालेकी बात होनी चाहिये। नहीं तो अन्नपाचनादि भी नहीं होता। प्रत्यक्ष ब्रह्मनिर्देशकी प्रतिज्ञा होनेसे अप्रत्यक्ष प्रलयमें जागरण की बात अनुपयोगी है। प्रश्नोपनिषदमें चतुर्थ प्रश्नमें कौन सोते हैं कौन जागते हैं इत्यादिके उत्तर अनुसंधेय हैं।

एष.........कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। प्रथम आत्माका स्वरूप ठीक समझा जाय तब परमात्माका स्वरूप भी समझमें आ जायेगा। आत्माका स्वरूप समझमें नहीं आया तो परमात्माका स्वरूप समझना असंभव है।

बूंदही समझमें नहीं आयी तो सागर क्या समझमें आयेगा? तालाब शेवालसे आच्छादित है। दिखा दिया किसीने यह तालाब है तो घास फूसको ही तालाब समझेगा। गांवोंमें देखा है जहां लोग उतरते हैं, नहाते हैं वहां थोड़ी दूरतक शेवाल नहीं रहता है। और उस स्थानको दिखाकर कहें कि यह तालाब है तो वह समझेगा कि इस शेवालके अंदर ऐसाही पानी है। वही असल तालाब है। वैसे ही यदि जगतको दिखाकर कहें इसमें व्यापक परमेश्वर है, या मूर्तिको दिखाकर कहें यह परमेश्वर है तो वह उस उपाधिको ही परमेश्वर समझेगा। अतः प्रथम अल्पांशमें भी असली आत्मस्वरूप जानना आवश्यक है। वह हृदयमें ही संभव है और आत्मामें ही संभव है। प्रथम आत्माका अनुभव कर नमूना समझ लिया तो सारे विश्वमें भी उसका स्वरूप समझा जा सकता है। अतः प्रथंम आत्माको ही समझना है। जाग्रदवस्थामें आत्माको समझनेमें थोड़ी कठिनाई पड़ती है। शरीरादिसे उपहित आत्माको शरीरादिरूप ही समझने-की भूल सुगमतया हो जाती है। अतः सपनेमें पहुंचे—य एष सुप्तेषु जागर्ति। यद्यपि स्वप्नकालमें आत्माको नहीं पहचान सकते क्योंकि वह जाग्रत समान ही दीखता है। संपनेसे उठनेके बाद विचारके द्वारा समझा जा सकता है। सपनेमें यह स्थूल शरीर काम नहीं कर रहा था। अथ च सबकुछ वहां देखा जा रहा था। वहां रथ रथयोगादि नहीं थे। किन्तु दीख रहे थे। वस्तुके बिना दीखे तो असद्वाद होगा। विज्ञानवाद होगा। यह बौद्धोंके लिये ठीक है। अपने लिये नहीं। अतः वहां प्रातिभासिक रथ रथयोगादिका निर्माण मानना होगा। कौन निर्माण करता है वह कौन देखता है? सपनेमें जो शरीर था वही या और कोई? स्वप्न शरीर तो स्वप्नरथादिके बराबर ही था। वह भी निर्मित ही था। तब जाग्रत शरीर भी निर्माता नहीं। स्वप्नशरीर भी निर्माता नहीं। कौन निर्माता? वही अहंपदार्थ चेतन। वह स्वयं प्रकाश है। क्योंकि सपनेमें निश्चित है कि अन्य कोई प्रकाश नहीं था।

"अत्रायं स्वयंज्योतिर्भवति" ।

इसप्रकार स्वप्नप्रकरणमें आत्माको लेकर बताया है।

निर्माणकर्ता ईश्वर नहीं है यह हम पहले कह चुके। क्योंकि स्वप्न पदार्थ झूठे हैं। ईश्वर झूठे पदार्थोंको बनावे तो डालडा बनानेवाला व्यापारी हो जायेगा। भ्रान्त पुरुष रज्जुसर्प निर्माण करते हैं। वैसे ईश्वर भी भ्रान्त होने लगेगा। ईश्वरको क्या पड़ी झूठे वस्तु बनानेकी। स्वप्नार्थ सूचक भले है किन्तु सत्य तो नहीं ही। अतः यह जीव ही स्वप्नपदार्थोंका बनाता और देखता है। किन्तु कर्मसहकृत होकर कैसा और कब बनाता है? इसका कुछ क्रम है। तदर्थ प्रथम कर्मका विभाग जानना भी आवश्यक है।

तीन प्रकारका प्रारब्ध है। एक सृष्टि प्रारब्ध है जो प्रलयपर्यन्त चलता है। दूसरा जीवन प्रारब्ध है जो यावज्जीवन चलेगा और एक दैनिक प्रारब्ध है जो प्रतिदिन नष्ट होता है। "यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता" इस श्रुतिके अनुसार पूरा जगत् प्रारब्धजनित है। सूर्यचन्द्रादि सागरपर्वतादि सभी प्रारब्धजनित हैं। फरक इतना ही है कि ये सब समष्टि प्रारब्धसे उत्पन्न है। सूर्यादि सर्वसाधारण है। सुख एवं दुःखरूपी भोग उससे सबको प्राप्त होता है। ठंढीमें ठिठुरनेवालोंको सूर्योदय होनेपर आनन्द होता है। आलसियोंको जहां सूर्योदयतक उठनेका कानून है, सूर्योदय दुःखदायी होता है। एक ही बापकी दो लड़कियां एक कुम्हारके यहां व्याही, दूसरी किसानके यहां। किसानवाली प्रार्थना करती है वृष्टि जल्दी आ जावे। कुम्हारवाली प्रार्थना करे वृष्टि देरीसे आवे तो ईंट, घड़े आदि अच्छा पकेंगे। इसप्रकार ये सभी सबको सुखदुःख प्रदान करते हैं अतः समष्टि प्रारब्धोत्पन्न हैं। दूसरा जीवनप्रारब्ध है। यह प्रायः व्यष्टिप्रारब्ध होता है। हमारे अपने जीवनमें जो-जो होना है उसका पहले ही निर्माण हो जाता है।

"आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥"

आयु धन आदि प्रथम ही बन जाता है किसके आधारपर? प्रारब्धके आधारपर। इसीके आधारपर ज्योतिषी कुण्डली बनाते हैं। यह जीवन-प्रारब्ध हैं। दैनिक प्रारब्ध रोज-रोज आविर्भूत होगा। फल देकर नष्ट होगा।

जाग्रदवस्थाभोगके लिये कुछ प्रारब्धकर्म आविर्भूत हुए। काल, देशादि उसके उद्बोधक हैं। दिनभर कार्यरत होनेसे सुख-दुःखादि सभी

परिणाम भोगे। वह प्रारब्ध खतम हुआ तो निद्रा आने लगी। निद्रा आयी तो जाग्रत पदार्थ भी ओझल हो गये। उस समय वे ही हलके-फुलके कर्म जागृत हुए। या भावि फलदायी कर्मपर आरूढ़ होकर स्वप्ननिर्माण किया और देखा। जब वे हलके फुलके कर्म भी समाप्त हो गये या जिन भाविफलक कर्मोंपर आरूढ़ हुए वहांसे भी उतर गये, जाग्रत भोगजनक प्रारब्ध जगे नहीं तब सुषुप्ति होती है।

"यत्र न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्

(सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः ॥")

वह कोई हलका-फुलका कर्म नहीं, कोई आक्रमाक्रमण नहीं। कामकामना नहीं अतएव कामनिर्माण न होनेसे स्वप्नदर्शन नहीं वह सुषुप्त है। इसी बातको अनिर्मिमाणः इस पदच्छेद पक्षसे श्रुति कह रही है। उस समय अनुभव होता है—सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषं, यहां चारका भान हो रहा है। एक है सुख, दूसरा है अहं, तीसरा है सुप्ति, चौथा है अज्ञान। यहां कौनसा सुख भासता है? विषयसुख तो प्रारब्धकर्मका फल है। कर्म तो वहां है नहीं। और विषय भी नहीं। विषयोंको भोगनेकी इन्द्रिय भी नहीं, बुद्धिवृत्ति भी नहीं। तब कौनसा सुख वहां? कहना होगा वहां स्वरूपानन्द ही है। अतएव आनन्दमयः आनन्दभुक् दोनों कहा। आनन्दमय क्यों? आनन्द ही क्यों नहीं? वहां अज्ञान है इसलिये अज्ञानावृत आनन्द है। अतः आनन्दमय बताया। 'अहं' का भान हो रहा है। कौन है यह अहं? अहंकार नहीं। अहंकारका अनुभव सुषुप्तिमें नहीं होता। जो स्वयं था वही अहं है। जाग्रतमें उसे समझानेके लिये अहंकारको जोड़कर बोलते हैं। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है। अनुभविता है। वह इस आनन्दको कैसे समझता है?— चेतोमुखः। बोधरूपं चेत एव मुखद्वारं यस्य ऐसा भाष्यमें अर्थ दिखाया है। स्वीयचैतन्यात्मक चेत ही मुख है। क्योंकि वह 'अहं' प्रज्ञानघन है। इसीलिये प्रज्ञानघनः चेतोमुखः दोनों कहा। सुषुप्तिका भी अनुभव होता है। अस्वाप्सं कहते हैं। न कि अभावं प्राप्तः । इसीबातको 'सुषुप्तस्थानः' से बताया। देखने जाननेके समान न देखने और न जाननेका भी अनुभव होता है। यहां पुस्तक है इसको आंखसे देखते हैं। पुस्तक नहीं है—अर्थात् पुस्तकका अभाव है उसको किससे मालूम करते हैं? अभावको किससे अनुभव

करेंगे? आंख कान आदिसे या मनसे? कुछ लोग मनसे मानते हैं। नैयायिक लोग कहते हैं येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तस्याभावोऽपि तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते। पुस्तक है क्या—पूछा। उत्तर आया नहीं है। अरे देखकर बोलता है कि बिना देखेही बोलता है? देखकर। क्या देखा? पुस्तक देखा? नहीं तो क्या देखा? पुस्तक नहीं है देखा, आंखसे मैंने देखा पुस्तक नहीं है। इस संवादसे समझ लो कि अभाव भी भावके समान समानकरणसे देखते हैं। वैसे मैंने कुछ नहीं जाना यह भी देखकर ही कहा जाता है। ज्ञान साक्षिभास्य है और ज्ञानाभाव भी साक्षीभास्य है। परंतु नाहं किंचिद-वेदिषंमें ज्ञानाभाव नहीं अज्ञानको देखते हैं। कारण ज्ञानसामान्यका वहां अभाव नहीं है। यदि है तो ज्ञानाभावका ज्ञान कैसे हुआ? यही सुषुप्तिका स्वरूप है।

आत्माको जाग्रतमें जाग्रतशरीरसे पृथक् कर देखना मुश्किल है। स्वप्न को संमुख रखकर विवेक कर सकते हैं। सुषुप्तस्थानमें स्पष्टरूपसे आत्माको पहचान सकते हैं। क्योंकि वहां मुख्यरूपसे दो ही भासित होते हैं। एक आत्मा और दूसरा अज्ञान। सुख और चेत तो आत्मस्वरूप ही है। सुषुप्ति तो अज्ञानावस्था ही है। उस अज्ञानको प्रकाशित करनेमें 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' आत्मा जागृत होता है। स्वप्नमें कल्पित करण है। मन है। अतः प्रकाशक कौन यह स्पष्ट नहीं होता। सुषुप्तिमें दृश्य एक अज्ञान है। द्रष्टा भी सिर्फ आत्मा है, मन आदि नहीं। वहां आत्माका विविक्तदर्शन सबको होता है। किन्तु स्मरण रखें कि इतना ही आत्मदर्शन नहीं है। आनन्द वहां है। किन्तु इतना विस्पष्ट आनन्द नहीं है। ज्ञान वहां है किन्तु सर्वज्ञताके योग्य ज्ञान नहीं है। फिर भी आत्मज्ञानका यह श्रेष्ठ साधन है।

आत्माका विस्पष्ट साक्षात्कार तो जब अज्ञान भी नहीं रहेगा तभी संभव है। वह कब होता है? कभी होता है क्या? होता है क्या? कब? समाधिमें।

'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति'

इस श्रुतिमें सुषुप्तिमें तमस्का अभिभव बताया है। समाधिमें ज्ञानप्रसादन होता है। 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा'। 'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा-

विवेकख्यातेः' इत्यादि महर्षि पतञ्जलिने बताया है। अतएव उस समय आनन्दानुभव भी होता है।

"यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।"

आनन्दका सागर उस समय उमड़ पड़ता है।

परंतु समाधि सबको लगती नहीं। अतः सर्वसाधारणतया समाधिका निरूपण कर आत्माको समझाना बेकार है। जाग्रदादि क्रमसे प्रथम आत्माको समझाकर फिर परमात्माको समझाना ही उचित है। प्रश्न होगा कि परमात्मा व्यापक है तो आत्माको प्रथम समझानेकी क्या आवश्यकता है? भक्तलोग ज्ञानके बड़े विरोधी होते हैं। एक अच्छे प्रवक्ताके प्रवचनमें हमने देखा है कि उनका कहना है कि भक्तिके लिये इस ज्ञानसे दूर रहना चाहिये। ज्ञानचर्चा सुननी ही नहीं चाहिये। इसका सीधा अर्थ यही है कि ऐसे गुरुलोग चेलोंको हमेशाके लिये अज्ञानमें ही डाल रखना चाहते हैं। अतएव उनका परमात्मा भी कोई और ही है जो हमसे दूर-दूर करोड़ों अरबों कोस दूर वैकुण्ठ कैलासादिमें रहनेवाला कोई व्यक्ति है। कैलासामानसरोवरकी यात्रामें लोग जाते हैं। हम भी गये थे। यात्राके लिये वैष्णवलोग भी जाते हैं। परंतु वे मानस सरोवर तक जाते हैं। कैलास नहीं जाते। कई वैरागी साधु देखे। वे मानस सरोवरसे ही लौट गये थे। परंतु वे मानस सरोवरमें भी नहीं पहुंचते। वहांपर दो ताल हैं। एक मानस ताल है, दूसरा राक्षस ताल है। मानससरोवर जितना ही बड़ा राक्षसताल भी है। दोनोंकी परिक्रमा करीबन तीस माईल अर्थात् पचास-पचास किलोमीटर है। मानस सरोवरसे ही राक्षसतालमें पानी आता है। फिर वहांसे गंगा, यमुना, सतललज आदि निकलते हैं। तो कभी-कभी ये वैष्णव मानस-सरोवरके बादले राक्षस तालमें ही नहाकार चले आते हैं। कैलास तक पहुंचनेवालोंको यह भ्रान्ति नहीं होती। कैलासकी परिक्रमा करनेपर मानससरोवर और राक्षसताल दोनों अलग मालूम पड़ जाते हैं। दोनोंमें फरक ज्यादा नहीं है। हंस विशेषरूपसे मानससरोवरमें रहते हैं। राक्षस-तालमें इक्का-दुक्का कभी आ जाता है। राक्षस तालके समान सुषुप्ति है। मानस सरोवर के समान समाधि है। सुषुप्ति के समान ही जड़समाधि भी है। वह भी राक्षसताल है। इन दोनों का भेद स्पष्टरूपसे कैलास पर्वत पर

चढ़ो तो होगा। बहुत से वैरागी राक्षसताल में नहाकर समझ लेते हैं मानस सरोवर में नहा लिया वैसे बहुत से जड़ समाधि में जाने पर समझ लेते हैं कि हम कृत कृत्य हो गये। कैलास पर चढ़ो तो दोनों का फरक मालूम पड़ेगा। कैलास के पश्चिम किनारे से देखो तो राक्षसताल दिखाई देगा अतः मानस सरोवर के पूर्व किनारे से देखो तो मानस सरोवर दिखाई पड़ेगा। के आनन्दे लासो यस्माद् गुरूपदेशात् स केलासः। गुरूपदेश ही कैलास है। उस पर आरूढ़ हो कर देखो तब दोनों का फरक मालूम पड़ेगा। फिर अपने प्रयत्नसे मानस-सरोवर तक पहुंचो। जैसे मानससरोवरके नामसे राक्षसतालमें पहुंचते हैं वैसे ही ये द्वैतवादी परमात्माके नामसे द्वैतविषयोंमें पहुंचते हैं। वे परमात्माको कभी भी नहीं पहचान पाते हैं। सीमित-परिच्छिन्न तो मर्त्य होता है। 'यदल्पं तन्मर्त्यं" वह अमर परमात्मा कैसे होगा? अतः प्रथम आत्माके स्वरूपका अन्वय-व्यतिरेकसे साक्षात्कार करो। अपने अंदर ब्रह्मका साक्षात्कार आसान है। अन्यत्र साक्षात्कार कठिन है। अपने अंदर आत्मा निरावरण है और अन्यत्र चार-चार आवरणोंके बादमें है। दो अपने दो दूसरेके। अपनी उपाधि अविद्या या अन्तःकरण है। यह आन्तर उपाधि है। शरीर बाह्य उपाधि है। दूसरेकी भी उपाधि बाह्य नामरूप तथा आन्तर अन्तःकरण या मन्त्र, मूर्ति आदि है। जैसे हम मकानमें बैठे हैं। कांचकी खिड़की है। उसपर नायलोनका एक पारदर्शी परदा है। वैसे दूसरे मकानमें भी है। तो दूसरे मकानमें बैठे हुएको देखनेके लिये चार आवरण पार करने होंगे। प्रथम परदा। फिर कांचकी खिड़की। फिर दूसरे मकानकी कांचकी खिड़की। फिर अंदरका परदा। इतना पार करते-करते कुछका कुछ हो जायेगा। कहीं कांच ठेढ़ा पतला है, कहीं परदा नीला-पीला है। तो इनके गुणदोषोंको साथमें लेकर दूसरे मकानके अंदर आंख पहुंचेगी। तब असली स्वरूप दीखना संभव नहीं है। अपने मकानके अंदर जो बैठे हैं उनको देखना आसान है। स्पष्टरूपसे देख सकते हैं। इसलिये प्रथम आत्माको देखो। हां, यहांपर भी एक गड़बड़ी होती है। वह है अन्तःकरणोपाधि परिच्छिन्नता। उस उपाधिको धीरे-धीरे त्यागो। क्योंकि उपाधि जड़ है। आत्मा चेतन है। इसके बाद सामनेवाले की भी उपाधि हटाओ तो अद्वैतबोध भी होगा।

यही तो तत्त्वमसि महावाक्यमें भागत्याग काम करता है। उपाधियोंको न्यून ज्यों-ज्यों करते जाते हैं त्यों-त्यों आत्माका स्वरूप स्पष्ट स्पष्टतर होता जाता है। अतएव जाग्रतकी अपेक्षा स्वप्नमें शीघ्र समझमें आयेगा। जाग्रतमें शरीर इन्द्रियादि तथा अन्तःकरण अविद्या सभी उपाधि-है। सपनेमें शरीरादि छूट जाते हैं। अन्तःकरण और अविद्या रह जाते हैं। सुषुप्तिमें अन्तःकरण भी छूट जाता है तो केवल अविद्या रह जाती है। वहां परिच्छिन्नता भी नहीं रहती। अर्थात् अल्पता नहीं होती। अतः आत्मबोध सुगम है। इसलिये कहा कामं कामं अनिर्मिमाणः।

य एष...........तदेव शुक्रम्। कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः इसप्रकार आत्माके बारेमें बताया। सब सुप्त हो जाते हैं तो वह जागता है इसमें क्या प्रमाण? यही प्रमाण कि वह प्रत्येक कामका निर्माण करता है। निर्माण कर देखता है। निर्माण हो तभी देखना संभव है। देखना अन्यथानुपपन्न होकर सिद्ध करता है वह निर्माण करता है। शरीर इन्द्रियादि सुप्त हैं। वे काम हैं। उन कामोंको-शरीरेन्द्रियादिको वह बनाता है। वह निर्माण करनेवाला जाग्रत शरीर नहीं। क्योंकि वह सोया है। स्वप्न शरीर नहीं। वह निर्माता नहीं निर्मेय है। वह स्वयं स्वका निर्माण नहीं कर सकता। स्वयं स्वका कोई कारण नहीं होता। उसमें आत्माश्रय दोष होगा। अतः निर्माणकर्ता दोनोंसे पृथक् है। वही आत्मा है। उसे जाग्रत एवं स्वप्न शरीरादिसे पृथक् समझेंगे तो ब्रह्मज्ञान भी हो जायेगा। यह श्रुतिका अभिप्राय है। कामं-कामं पश्यन् इतनेसे गतार्थ होता। निर्मिमाणः तक क्यों पहुंचे? इसलिये कि वे काम स्वयं प्रकाश हो तो पृथगात्मसिद्धि नहीं होगी। पूर्वापरमें न होनेसे निर्माण सिद्ध होता है क्योंकि दीखता भी है। स्वयं-प्रकाशके समान स्वयं निर्माण नहीं होता। क्योंकि निर्माणमें उत्पत्तिसे पहले स्वयंको रखना पड़ेगा। वह संभव नहीं है। कार्यसे जो निश्चित पूर्व रहता है वह कारण है। और कारणसे जो उत्तर रहे वह कार्य है। कार्यनियत-पूर्ववर्तित्वं कारणत्वम्। कारणोत्तरवर्तित्वं कार्यत्वं इसप्रकार न्यायशास्त्र-वालोंने कार्य और कारणका लक्षण किया है। अतः स्वयं स्वका कारण नहीं होगा और कार्य भी नहीं होगा। अतः निर्माण पृथक् ही सिद्ध होगा।

यहांतक स्थिर होनेके बाद एक प्रश्न सामने आया। यदि यह जीवात्मा है तो उसको पुण्यपाप भी लगेगा कि नहीं? कामं कामं निर्मिमाणः यह एक उपलक्षण वचन है। द्विष्यमाणका भी निर्माण होता है। और वधादि भी होते हैं। सपनेमें कभी हवनकुण्ड हमने बनाया, बनवाया और हवन कर रहा हूं ऐसा सपना दीखता है। कभी तो दीखता है कि मैं भिखारीको पैसा दे रहा हूं। सदावर्त बांट रहा हूं। संतोंको कपड़ा बांट रहा हूं। कभी देखते हैं मंदिरमें जाकर तप करता हूं, ध्यान करता हूं इत्यादि। इसके विपरीत कभी देखते हैं कि मैं किसी जानवरको मार रहा हूं पीट रहा हूं। मैं झूठ बोल रहा हूं। अगम्यागमन कर रहा हूं। इत्यादि। तो इसप्रकारके सुकर्म एवं दुष्कर्मसे पुण्यपाप होता है या नहीं? काम-निर्माणकर्तृत्वके समान द्वेष्यहननकर्तृत्व भी होता ही है।

पूर्वमें हमने बताया कि गंगाकिनारे संतोंकी चर्चा चल रही थी। एकदिन चर्चा हुई स्वाप्नार्थको निर्माण करनेवाला जीव है या ईश्वर? उसमें निर्णय हुआ जीव ही निर्माण करता है कर्मसहकृत होकर। पहले समयमें कुंभमेला आदिके समयमें गंगाकिनारे बैठकर ऐसी चर्चायें करते थे। आजसे चालीस बैयालीस व्रर्ष पहले लाउडस्पीकरोंसे इतना प्रचार नहीं होता था। समष्टियोंमें महात्मा शास्त्रार्थ करते थे। अन्य समयमें परस्पर शास्त्रचर्चा करते थे। उसके अन्तर्गत एक यह प्रश्न एक महात्माने उठाया कि सपनेमें जीवात्मा भला बुरा कर्म करता है तो उससे पुण्यपाप एवं तदनुकूल फल होता है कि नहीं? "कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।" अथ स्थान् रथयोगान् पथः सृजते" इत्यादिसे सर्जन हननादि कर्मका होना निश्चित होता है।

एक महात्माने अपना मत व्यक्त किया कि कर्मसे फल होना चाहिये क्योंकि कर्मत्वेन फलत्वेन कार्यकारणभाव है। इसीलिये कर्मको ऋत् बताया है। ऋतका मतलब बै कि कर्म करनेपर उसका फल अवश्यभावी है। यह एक निश्चित सत्य है। उसमें यह नियमन नहीं है कि जाग्रतकर्मका ही फल हो, स्वप्नकर्मका न हो। अतः स्वप्नमें भी सत्कर्म हो जाये तो पुण्यके द्वारा कभी भी उसका फल सामने आयेगा। एवं दुष्कर्म हो जाय तो पापके द्वारा कभी भी दुःखफल सामने आयेगा। इसीलिये लोकव्यवहार है कि मैंने

सपनेमें भी गलत काम नहीं किया फिर भी मुझे यह कष्ट क्यों आया? अवश्य ही मैं पूर्वजन्मका पापी हूं इत्यादि। स्वप्नमें पापकी बात उठती ही क्यों हैं? अतः निश्चित है कि स्वप्नकर्मका भी फल होता है। संत पुरुष तो स्वप्नमें भी सत्कर्म ही करते हैं।

इसपर दूसरे संतने कहा कि मेरे ख्यालमें स्वप्नकर्मका फल तो होता है किन्तु दीर्घकालानन्तर नहीं, जाग्रतमें भी नहीं। स्वप्नकर्मका फल स्वप्न में ही मिलता है। विचारसागरमें एक कथा लिखी है कि एक राजाने शिकार खेलने सैनिकोंके संग जंगलमें जानेका सपना देखा। शिकारमें मस्त होकर घोड़ेसे बहुत दूर जा निकला, इधर सैनिक सब छूट गये। उधर घोड़ा तक गया। प्यास भी लगने लगी। एक सरोवरमें जाकर पानी पिया और प्यास बुझाया। एक वृक्षके नीचे जाकर लेटा। इतनेमें वहां एक पागल सियार आया और काट खाया। खून बहने लगा। सियार तो भाग गया इधर पांवमें दर्द हो रहा है। इतना खून निकला कि उस पांवसे चलना मुश्किल हो गया। लंगड़ा लंगड़ाकर चलने लगा तो कहीं ठोकर खाकर गिर पड़ा। ऊपरसे और चोट लगी। राजा रोने लगा यह सब क्या हो रहा है। क्या मेरा यह पूर्वपाप है या आज निरपराध हरिणको मारा तो उस पापका फल है। या वनवासी संतोंकी तपस्यामें विघ्न डालनेका फल है। फिर वह हर तपस्वीको नमस्कार करने लगा। वह एक लकड़ी लेकर टेक-टेककर गांव पहुंचा। वहां एक वैद्य था। उसने राजाका उपचार किया, मरहम पट्टी बांधी और आराम होने लगा। राजाने समझा मैंने रास्तेमें तपस्वियोंको प्रणाम किया उसीका यह सुफल है। मैं शीघ्र चंगा हो गया। इतनेमें वह राजा जग गया। देखा तो वह मखमलके पलंगपर लेटा था। रानियां सेवा कर रही थीं। न जंगल, न सियार, न संत, न चोट या वैद्य। स्वप्नमें संतको क्लेश दिया। उससे सपनेमें सियारने काटा। सपनेमें ही संतोंको नमन किया तो वैद्य मिला। सपनेकी चोट सपनेकी दवासे ठीक हो गयी। अर्थात् साक्षात् फल तथा पुण्यादिद्वारा फल दोनों ही स्वप्नकर्मके स्वाप्निक ही हुए। अतः स्वप्नकर्मका फल है। किन्तु स्वाप्निक ही।

तीसरे संतने कहा मुझे नहीं जँचता है कि स्वप्नकर्मका स्वप्नमें ही फल होता हो। मेरी समझमें यह बात आयी है कि स्वप्नमें यज्ञदानादि

किया तो निश्चित है कि उसकी भावना निर्मल थी। स्वप्नमें ब्रह्महत्या की तो निश्चित है कि उसकी भावना बुरी थी। उस भावनाका ही फल स्वप्न में भी हो सकता है। जाग्रतमें भी हो सकता है।

सब लोगोंने मेरी ओर देखकर कहा—आप भी कुछ बोलो। चुप क्यों बैठे हैं? मैंने कहा—अभी तक तीन मतोंके उलझनमें सब पड़ गये हैं। मैं बोलूगा तो एक चौथे मतकी नयी उलझन होगी। सबने कहा—होने दो। अपना विचार ही तो करते रहना है। भंडारे चलते हैं। रोटीकी चिंता नहीं यही चिन्तन करते रहेंगे। मैंने कहा मुझे प्रथम मत बराबर जँचा नहीं कि कर्म होनेसे फल भी होना ही चाहिये। किसीने एक विद्यालय चिकित्सालयके लिये लाख रूपये देनेके कहा था। उसने सपनेमें देखा कि मैंने रूपये दे दिये। तो क्या उस सपनेमें दिये लाख रूपयेसे विद्यालय, अस्पताल आदि बन जायेंगे? साक्षात् फल नहीं होता है तो पुण्यपाप द्वारा फलकल्पना भी व्यर्थ है। कर्मत्वेन, फलत्वेन कार्यकारणभाव हो, पर समानसत्ताक कर्म एवं फलका कार्यकारणभाव होगा। स्वप्न प्रातिभासिक है। उससे व्यावहारिक फल नहीं हो सकता। प्रातिभासिक शुक्तिरजतसे व्यावहारिक कटोरी गिलास आदि नहीं बना सकते।

द्वितीय मतमें स्वाप्निक कर्मसे स्वाप्निक फल समान सत्तावाला होता है। यह युक्तिसे सही प्रतीत होता है और सपनेमें राजाको सियार काटने आदिका दृष्टान्त भी जचता है। परंतु कर्मविषयमें वह भी खरा नहीं उतरेगा। सपनेमें यज्ञदान, किया या ब्रह्महत्या की या संतप्रणाम किया। किन्तु तुरंत जग गया तो? कृतविप्रणाश होगा कि नहीं? कोई जरूरीं नहीं कि दूसरे दिन वही सपना फिर देखें। उसका फल देखें। तब, कर्म किया और जग जानेसे फल नहीं हुआ। यह कृतविप्रणाश है। या फिर कर्म फल देता ही है इस नियमका भंग है।

तीसरा मत है कि सपनेमें भी भावना सच्ची है। पूजा करनेकी उत्तम भावना तथा हत्या करनेकी खराब भावना तो सच्ची है। उसका फल जाग्रतकालमें भी संभव है। परंतु यह मत भी समीचीन नहीं है। क्योंकि सपनेमें विवेक नहीं रहता। पराधीनता होती है। एक जिज्ञासु संत बननेके लिये ब्रह्मचारी बन गया था। वह एक दिन कहने लगा कि ब्रह्मचारी

होकर ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। जाग्रतमें मैं पूरा ख्याल रखता हूं। सपनेमें नहीं हो पाता। कोई सांप सामनेसे आया तो उसको मैं मार डालता हूं। जाग्रतमें मैं कभी हिंसा नहीं करता। ऐसा क्यों? हमने बताया– जाग्रतमें विवेक काम करता है। सपनेमें अभ्यास काम करता है। जो कार्य करते आये हो वही कार्य हो जाता है। सपनेमें मैं ब्रह्मचारी हूं, अहिंसक हूं, इत्यादि सारी बातें भूल जाते हैं। सपनेमें मनुष्य प्रायः एक प्राकृत व्यक्तिमात्र होता है। अतएव कह सकते हैं–पशुसदृश होता है। सपनेमें पुरुष लोग नानारंग नहीं देखते। अपनेको कषायवस्त्रधारी प्रायः नहीं देखते। लंबी शास्त्रपंङ्क्ति स्मरण नहीं रहती। पशुप्राय होता है। अतएव उसके कर्मोंका या भावनाका कोई फल नहीं होता। जाग्रतमें कभी यज्ञ किया होगा। वह स्मरणमें आ गया और सपना देखने लगा। वहां भावनाका क्या काम है? जाग्रतमें मारनेका संस्कार दिमागमें बैठा होगा। सपनेमें उसे साकार देखा। इसमें भी भावनाका कोई काम? अतः भावनाका होना न होना सब एक बराबर है। हो भी जाय तो वह आभ्यासिक भावना है। पुरुषार्थरूप भावना नहीं है।

वस्तुतः स्वाप्नकर्मका फल होता ही नहीं। क्योंकि जाग्रतमें वह बाधित हो जाता है। स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति (४-३-१६) इस बृहदरण्यकवाक्यमें तथा उसके भाष्यमें मनुष्यको स्वप्नकर्म आदिसे अलिप्त बताया गया है। भाष्यकार कहते हैं–स्वप्ने कुर्वन्निवोपलभ्यते न तु क्रियास्ति परमार्थतः। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानः इति श्लोक उक्तः। केवल स्वप्नमें ही नहीं, बल्कि जाग्रतमें भी तबतक कर्म-कर्म है जब तक उसका बाध नहीं होता। बाध होनेपर जाग्रतकर्म भी अकर्म हो जाता है। फरक इतना ही है कि स्वप्नकर्म तो जगनेपर निश्चितरूपसे बाधित होता है। जाग्रतकर्म कई जन्मोंके बाद कभी तत्त्वज्ञान हुआ तो ही बाधित होता है अन्यथा नहीं। अतः बाध होनेतक ही कर्म अपना फल देता है। आगे नहीं।

क्या तत्त्वज्ञानसे अग्नि बाधित हो जाती है तो वह जलायेगी नहीं? पानी भिगायेगा नहीं? एक महात्माने उससमय प्रश्न किया। इतनेमें एक दूसरे संत बीचमें बोल पड़े–नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

प्रश्नकर्ताने कहा कि अग्नि लकड़ीको नहीं जलायेगी ऐसा कहा क्या भगवानने कि आत्माको नहीं जलायेगा कहा? आत्माको जलाता नहीं यही बताया। एनं का अर्थ है इस आत्माको। तो आत्मज्ञान होनेसे पूर्वभी तो अग्नि आत्माको नहीं जलाती। उसके बाधका होना या न होना कोई मतलब नहीं रखता। हमने कहा—हम कहते हैं महाराजजी आप बीचमें ही क्यों टपक पड़े? देखिये बात यह है बाधित होनेपर भी कर्म दृष्टफल उत्पन्न करेगा। अदृष्ट फल नहीं। जैसे बीज भून लिया तो भी दृष्टफल खानेके काममें आयेगा। अंकुरोत्पत्ति नहीं करेगा। वैसे अग्नि भी बाधित होनेपर दृष्टफल उत्पन्न करेगी। यज्ञीय अग्निके दर्शनमात्रसे पुण्य होता है ऐसा जो अदृष्ट फल है वह बाधित होनेपर नहीं होगा।

कौषितकी उपनिषद्में कथा आती है। इन्द्रने प्रजापतिसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की। उसके बाद भी स्वर्गराज्य करता ही रहा। जैसे राजा जनकने किया। एक बार असुरोंने स्वर्गपर आक्रमण किया तो देवतालोग पलायन होने लगे। उससमय पृथिवीपर एक प्रतापी राजा राज्य करता था। जिसका नाम प्रतर्दन था। प्रतर्दनको इन्द्रने आह्वान किया। युद्धमें प्रतर्दनने असुरोंको परास्त किया। तब इन्द्रने कहा कुछ वर मुझसे मांग लो जो चाहते हो। प्रतर्दनने कहा मैं भिखारी नहीं हूं कि आपसे कुछ मांगू। इन्द्रने कहा—आप भिखारी नहीं हैं और न आपको मैं भिखारी बनाना चाहता हूं। किन्तु देवताओंका ऐसा नियम है कि जो उनसे मिलता है तो वे खाली हाथ वापिस नहीं भेजते। कुछ वरदान जरूर देते हैं। प्रतर्दनको वरदान लेनेकी इच्छा नहीं थी। फिर भी अंततोगत्वा वरदान मांगकर लेना ही पड़ा। तब प्रतर्दनने कहा जो मनुष्योंके लिये अत्यन्त हित है वह मुझे दीजिये। इन्द्रने सोचा धनादि नाशवान है वह अत्यन्त हित नहीं है। अविनाशी एक तत्त्वज्ञान ही है। तदर्थ ही मानवशरीर है—"ब्रह्मावलोकधिषणां" इन्द्रने प्रतर्दनको आत्मज्ञानका उपदेश दिया। बोले—

'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा'

मेरा स्वरूप प्राण है। प्राणके दो स्वरूप हैं। एक क्रियास्वरूप है जो श्वासोच्छ्वासरूप प्रतीत होता है। दूसरा है—प्रज्ञात्मा। ज्ञानैकरस। प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान ही जिसका आत्मा स्वरूप हो। इसपर व्यासजीने ब्रह्मसूत्रमें निर्णय भी दिया—

"प्राणस्तथानुगमात्"

यहां प्राणका अन्य अर्थ नहीं करना। आत्मा ब्रह्म ही समझना चाहिये। इसप्रकारके ज्ञानका फल भी इन्द्रने आगे कहा–

"त्रिशीर्षाणमहनम् । अरुन्तुदान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्"

न लोमापि न मे मीयते ।"

त्वष्टाका पुत्र विश्वरूप त्रिशिरा था। ज्ञानी था। मातृवंश उसका असुरोंका था। असुरोंको चुपकेसे वह यज्ञभाग देने लगा तो इन्द्रने उसका वध किया। किन्तु उससे इन्द्रका कुछ नहीं बिगड़ा। यद्यपि उस समय ब्रह्महत्या पीछे लगी थी। परंतु बादमें तत्त्वज्ञान हुआ तो वह भी निर्बीज हो गया। यति–संन्यासी तपस्वी महान् होते हैं। यतिका संयमनशील तपस्वी अर्थ उपयुक्त है यहां। उनका वध तो सर्वाधिक भयंकर पाप है। ब्रह्महत्या ही महापाप है। तिसपर यदि यतिहत्या हो तो कहना ही क्या। बात ऐसी हुई कि उस समय बहुत सारे यति तप करके, योगाभ्यास करके सिद्धियोंको प्राप्त हुए। सिद्धियां कभी खतरनाक भी होती हैं। सङ्ग एवं स्मय होने लगते हैं। सिद्धियोंकी आसक्ति एवं अभिमान आ जाता है। उसका परिणाम है वे अपने प्रतिकूलको शापादिसे तुरत गिरा देते हैं। वस्तुतः सिद्धियोंपर ध्यान नहीं देना चाहिये। आनेपर भी उपयोग नहीं करना चाहिये। उस समय बहुतसे यति अपनी सिद्धियोंका दुरुपयोग कर लोगोंके लिये अरुन्तुद बन गये थे। क्लेशदायी हो गये थे। उनको पकड़कर मैंने भेड़ियोंको भेंट किया। किन्तु मेरा बाल बांका नहीं हुआ। क्योंकि प्रज्ञात्माके ज्ञानसे जगत्को बाधित कर दिया था। बाधित किया तो क्या तलवार चलानेपर उसका दृष्टफल विश्वरूपका वध नहीं हुआ? हुआ। अतः दृष्टफल होता है। अदृष्टफल पाप नहीं हुआ। इस औपनिषद् दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि बाधित कर्मका दृष्टफल होगा। अदृष्टफल नहीं होगा।

एक महात्माने उससमय पूछा–सपनेके कर्मका भी फिर इसीप्रकार अदृष्ट फल न हो, दृष्टफल होनेमें क्या बाधा है? दूसरी बात स्वप्नकर्मका बाध जाग्रतमें होगा। स्वप्नकालमें नहीं होगा तो तबतक अदृष्टफल होनेमें भी क्या हर्जा है? हमने कहा-दृष्ट फल तो होता ही है। सपनेमें सिर काटा तो दो टुकड़े हो गये यह दृष्टफल हो ही रहा है। प्रश्न पुण्यपापका है।

स्वाप्नकर्मसे पुण्यपाप होता है या नहीं और उस पुण्यपापके द्वारा बादमें फल मिलता है या नहीं। इस पर हम कहते हैं कि बादमें का अर्थ जाग्रत है तो जाग्रततक स्वप्नका बांधित होना निश्चित है। तत्काल यदि कहें तो कर्मका फल तत्काल होता ही नहीं। अदृष्ट होगा। वह कालसापेक्ष होकर फल देगा। आज अभी हजार दान दिया तो अभी ही उसका फल लाख नहीं मिलता। और प्रातिभासिक फलके लिये कर्मापेक्षा है नहीं। वह पूर्वकृत हलके फुलके कर्म या आक्रम-अक्रमण आदिसे ही संभव है। प्रश्न तो मुख्यरूपसे पुण्यपापद्वारा आगे फल मिलता है या नहीं इस बातको लेकर ही है।

इसप्रकार कामं कामं निर्मिमाणः होनेपर भी बाध होनेसे कर्मके पुण्यपापसे लिपायमान नहीं होता। और जाग्रत् स्वप्नादि दृष्टान्त संमुख रखकर क्षणभंगुर जगत्से पृथक् आत्माका दर्शन होता है। तो जगत्का भी बाध होने लगता है। तब जाग्रत कर्मसे भी लिपायमान नहीं होता। श्रुतिभी कहती है–

'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्'
एतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमिति ।
अतः कल्याणमकरवमिति उभे हैवैष। तरति ॥
नैनं कृताकृते तपतः ।
एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणानो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात्पदं वित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥'

इत्यादि। इसी रहस्यको यहां एक ही शब्दमें यमराज कह रहे हैं तदेव शुक्रम्। अर्थात् सबके सुप्त होनेपर एक जागृत रहता है। वह सुप्तोंसे पृथक् चेतन है। वह समस्त विषयोंको निर्माण करता है। अतएव स्वप्नादिमें निर्मेय शरीरादिसे पृथक् है। अतएव वह असङ्ग है इसप्रकार औपदेशिक साक्षात्कार होता है। तो वही आत्मा शुक्र होता है। शुक्रका अर्थ भाष्यकार लिखते हैं–'शुक्रं शुभ्रं शुद्धम्'। पुण्यपापादि मलरहित है। शरीरादिसङ्गमलरहित है। अतएव शुद्ध है। 'जागर्ति' होनेसे प्रकाशरूप भी है। यो जागर्ति, यो निर्मिमाणः विवेकेन पृथग् जातः साक्षात्कारविषयोऽत एव बाधितप्रपञ्चकस्तदेव शुक्रं तदेव ब्रह्म ऐसा अन्वय है।

विवेक जो अभी दिखाया—शरीरादि सुप्त होते हैं वह नित्य जागृत है। इत्यादि। उसके अभ्याससे शरीरादिभिन्न आत्माका साक्षात्कार होता है तब यह क्षणभङ्गुर जगत्का बाध होनेपर वह आत्मा शुद्ध होता है। मलरहित होता है। उसमें कर्तृत्वभोक्तृत्वादि अध्यासरूपी मल नहीं होता। रागद्वेषादि मल नहीं होता। सब लोग कहेंगे हमको भी ऐसा ज्ञान हुआ है। वाचिक ज्ञान जरूर हुआ होगा किन्तु साक्षात्कार हुआ कि नहीं यह प्रश्न रहेगा। साक्षात्कार भी हुआ कह देंगे। कहनेमें कुछ नहीं लगता। किन्तु अपनेसे थोड़ा पूछना भी होगा। तुम्हें रागद्वेष होता है कि नहीं यह बताओ। पैसा, मकान, पुत्र परिवार वस्त्रादिमें राग है या नहीं। और काम बिगाड़नेवाले, निन्दा चुगली करनेवालोंसे द्वेष होता है कि नहीं? यदि होता है तो रागो लिङ्गमबोधस्य—यह रागद्वेषादि अज्ञानकी निशानी है। रञ्जनाद् रागः। दहनाद् द्वेषः। राग रंग चढ़ाता है। द्वेष जलाता है। रंग चाहे लाल पीला जो भी हो मल ही है। बढ़िया सीसा कवाड़ अलमारीपर लगा है। उसपर फर्स्टकलास लाल रंग पोत लो तो? कीमती रंग लगाओ। भले हजार रूपया कीमतवाला भी रंग हो। रंग सीसेके लिये मैल ही है। उससे शीशा शुभ्र नहीं नार्मल नहीं हो सकता। वस्तु जल गयी तो काली हो जाती है। वह शुभ्र नहीं हो सकती।

विजातीय वस्तुसम्बन्ध ही मालिन्य है। जाग्रत स्वप्न आदि सभी विजातीय हैं। आत्मा चेतन है। ये सब जड़ हैं। आत्मा सुखरूप है। ये सब दुःखरूप हैं। अतएव विजातीय हैं। अवस्था दृष्टिसे पांच अवस्था कह सकते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और तुरीय। स्वप्नमें जाग्रत शरीर छूटा। सुषुप्तिमें स्वप्नशरीर भी छूटा समाधिमें जाग्रत् स्वप्न शरीर एवं सौषुप्त अज्ञानात्मक कारणशरीर भी छूटा। फिर भी संस्कार रहता है। 'स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात्' तुरीयावस्थामें सर्वबाध होता है। तब यह आत्मा परमशुद्ध होता है।

वशी। प्रतिज्ञात ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये तत्त्वमसि महा वाक्यार्थ विचार ही उत्तमाधिकारियोंके लिये पर्याप्त है। उतनेसे यदि नहीं हुआ तो ऐसे लोगोंके लिये आत्मस्वरूपवर्णनके द्वारा निदिध्यासनीय कुछ विशेषणोंका वर्णन इस मन्त्रमें है। 'एकः' का अर्थ अद्वितीय बताया। द्वितीयाभिनिवेशसे भय होता है। उसके अभावमें भयनिवृत्ति एवं ब्रह्मसाक्षात्कार होता है।

य एष......तद् ब्रह्म। ब्रह्म प्रवक्ष्यामि यह प्रतिज्ञा केवल कथन-मात्रात्मक प्रवचन को लेकर नहीं है किन्तु 'इदं' इस विशेषणसे प्रत्यक्षदर्शन प्रयोजक प्रवचनको लेकर है। अतएव क्रमशः ऊपर उठाते हुए यमराज नचिकेताको समझा रहे हैं। 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' से शरीरेन्द्रियादि से पृथक् आत्माको बताया। । शरीरादि तो सो जाते हैं फिर भी अहमर्थ जागृत रहता है अतः शरीरादिसे पृथक् तो है ही। सुप्तावस्थामें जो जगनेवाला है वह अहमर्थ स्वाप्न अर्थ का दृष्टा जागद् अर्थ का दृष्टा भी होगा। क्योंकि वही 'अहं' जाग्रतमें भी है। फलतः जाग्रत प्रपञ्च तथा स्वप्न प्रपञ्च दोनों दृश्यसिद्ध हो गये और जागरिता दृष्टा सिद्ध हुआ। जाग्रतशरीरादि स्वप्न को नहीं देख सकते। क्योंकि सुप्त हो गये और स्वाप्नशरीर जाग्रतादि को नहीं देख सकते क्योंकि वे खतम ही हो गये। अहमर्थ दोनोंको देख रहा है। अतः अहमर्थ ही द्रष्टा है। जाग्रदादि शरीर नहीं। और जाग्रदादि शरीर दृश्य ही है। क्योंकि दृष्टा होता तो स्वप्न कालमें जाग्रत दीखता। इतना सिद्ध होनेपर यह भी मानना होगा कि दृक् और दृश्यका सम्बन्ध आध्यासिक है। वास्तविक नहीं। ज्ञान अंदर है, विषय बाह्य है। दोनोंका भला क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार आध्यात्मिकता की संभावना प्रथम पादमें लायी गयी। परंतु यदि दृश्य ईश्वरनिर्मित है तो ईश्वरने कोई सम्बन्ध भी बनाया होगा। जरूरी नहीं है कि आध्यासिक ही सम्बन्ध हो। तब कहा-नहीं, स्वाप्निक कामोंको बनानेवाला भी यह स्वप्नद्रष्टा ही है। तब हमने जो रथ, रथयोगादि बनाया वह विना प्रसिद्ध सामग्रीके ही बनाया। अतएव मिथ्या है। उसका सम्बन्ध तो निश्चित आध्यासिक ही होगा। आध्यासिक सम्बन्धसे स्वाप्नार्थज्ञान हो सकता है। तो जाग्रदर्थ ज्ञानके लिये अलग सम्बन्ध लानेकी जरूरत नहीं। क्योंकि अत्यन्त अप्रसिद्ध एक ईश्वरनिर्मित सम्बन्धकी कल्पना करना कुकल्पना ही है। शास्त्रकार इसमें गौरव दोष मानते हैं। संयोग समवाय आदि प्रसिद्ध सम्बन्ध विषय और ज्ञानका असंभव है। जब जाग्रत्पदार्थ और स्वप्नपदार्थका वास्तविक सम्बन्ध अहमर्थ आत्मामें नहीं हैं, सपनेमें मार पड़ी, शरीर फटा-कटा इन सबका कोई सम्बन्ध जगनेपर आत्मा, शरीर आदिमें नहीं दीखता। उन सबसे

आत्मा अहमर्थ असंग ही रहा, तो उसी प्रकार जागदर्थ सम्बन्ध भी आत्मामें नहीं है यह सिद्ध हुआ तब आत्मा शुक्र है यह भी सिद्ध हो ज़ाता है–विजातीय सम्बन्धरहित होनेसे निर्मल सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार देहादिसम्बन्धरहित-देहाध्यासरहित आत्मस्वरूप नचिकेताके सामने उपस्थित हुआ तब जिस देहाद्यध्यासके कारण अल्प प्रतीत हो रहा था उसके निकलनेसे यह स्वयमेव बृहत् हो जाता है। हां, उपदेशके बिना उसका साक्षात्कार नहीं होता अतः उसका उपदेश करते हुए प्रतिज्ञात ब्रह्मसाक्षात्कार करा रहे हैं–तद् ब्रह्मा। वह आत्मारूपी पुरुष ही ब्रह्म है।

ब्रह्मका अर्थ है बृहत्। बृहत् माने बड़ा। जैसे बृहत् मुम्बई कहनेसे बोध होता है पहले छोटा मुम्बई था। अब बृहत् हो गया। विशेष्य पद जहां है वह सजातीयमें बृहत् ही अर्थ निकलता है। बृहत् मुम्बई कहनेसे कलकत्तसे, लंडनसे बड़ा यह अर्थ नहीं होता। किन्तु पूर्वमें मुम्बई छोटा था अब वह बड़ा हुआ–यह बृहत् मकान है कहनेसे अन्य मकानोंसे बृहत् अर्थ होगा। हाथी, घोड़ासे बृहत् अर्थ नहीं निकलेगा। वैसे तो चाली भी हाथी घोड़ेसे बड़ी होती है। विशेष्यवाचक पदके होनेपर यह स्थिति है। विशेष्यवाञ्चक पद न हो, स्वयमेव विशेष्यार्थका भी उपस्थापक हो वहां सर्वापेक्षया बृहत् यह अर्थ निकलेगा। ब्रह्मके आगे कोई विशेष्य नहीं है। अतः अर्थ है सर्वाधिक बृहत्। कितना किसकी अपेक्षा बृहत्? इसका उत्तर यजुर्वेद मन्त्रने दिया–

"एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥"

यह जो संसार दिखाई दे रहा है यह इसी पुरुष परमात्माकी महिमामात्र है। यह पूरा प्रपञ्च उस पुरुषके एक चरणमें आ जाता है। पादका अर्थ है पांव एक बट्टा चार हिस्सा। पहले एक पांव चावल इत्यादि बोलते थे। परमात्माके एक चरणमें सारा विश्व आ गया। तीन पाद तो खाली पड़े हैं। चाररूमका स्टाकका एक मकान लिया। सामान बहुत था। पर सब सामान एक ही रूममें समा गया तो क्या तीन रूप व्यर्थ ही खाली पड़े रहेंगे? नहीं। वह तो सत्, चित्, आनन्दसे भरा है। अमृतं दिवि। अमृतका नित्य एवं स्वादयुक्त दोनों अर्थ है। न मरनेवाला अमृत है। अमृतोपम फल

कहनेपर अतिमधुर है। इस प्रकार सत् और आनन्द अमृतपदसे कहा। 'दिवि'से दिव्यज्योतियुक्त चिद्रूप बताया। एक चरण भी वैसा ही है किन्तु सोनेकी थालमें ककड़ीके टुकड़े भरनेके बराबर जगत् उसमें भरा है। जगत्में आकाश, काल आदि विभु भी आते हैं जिनका आदि अन्त नहीं है। वे भी परमात्मामें एकदेशमें रह गये तो वह परमात्मा कितना बड़ा यह देख लो।

वस्तुतः बृहत्-बड़ाका अर्थ परिमाणसे बड़ा नहीं है। परिमाणसे तो आकाश, काल आदि सभी बृहत् हैं। इन सबका परम महत् परिमाण माना गया है। जिन आकाशादिका आदि अन्त है नहीं उससे बड़ा कहनेका कोई अर्थ नहीं होगा। उससे बड़ेका अर्थ है उसका अन्त जहां है वहां भी वह है। पर आकाशादिका अन्त ही नहीं है तो उससे बड़ा क्या होगा? अतः वहां बड़ाका अर्थ है भूमा। बहुतको या बड़ेको भूमा भी कहा जाता है। "बहोर्लोपो भूच बहोः" ऐसा पाणिनीय सूत्र है। भूमाकी व्याख्या छान्दोग्यमें की गयी है।

"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ।
यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्
यो वै भूमा तदमृतम् । यदल्पं तन्मर्त्यम् ।"

जहां अन्य न दीखता है, अन्य सुनाई न पड़ता हो, अन्य जाना न जाता हो वह भूमा है। जहां अन्यका दर्शन, श्रवण या विज्ञान होता हो वह अल्प होता है। जो भूमा है वह अमृत है। जो अल्प है वह मर्त्य-अमृतविरोधी मृतिवाला है। वही भूमा ब्रह्मका पदका अर्थ है। "अन्यन्न पश्यति" इत्यादिका सारार्थ है—अद्वितीय। इससे देशकृत एवं वस्तुकृत दोनों परिच्छेदोंका वारण है। और "अमृतंसे" कालकृतपरिच्छेदका निराकरण है। तब तात्पर्य यह निकलेगा-त्रिविधपरिच्छेदरहित तत्त्व भूमा है। और त्रिविध परिच्छेदवाला अल्प है।

शरीरादि परिच्छिन्न है। परिच्छिन्नका अर्थ है जो हर तरफसे कटा हो। कोई कहेगा कि मेरा शरीर कटा-फटा नहीं है। चाकूसे काटना यह मतलब नहीं है। एक आदमी तीन फुटमें बैठता है। एक हजार फुटका होल है तो कहते हैं कि यहां सवा तीन सौ, साढ़ेतीनसौ आदमी बैठेंगे। अर्थात् तीन

फुट देशमें आप सबके शरीरकी सत्ता कटी हुई है। सीमित है। जहां जायेंगे वहीं कटाव रहेगा। घरमें बैठो तो भी तीन फुट जगह में, आश्रममें बैठो तो भी तीन फुट जगहमें यह देशकृत परिच्छेद है। सौ वर्ष पहले हम नहीं थे, सौं वर्ष बादमें नहीं रहेंगे। हमारे शरीरको उसप्रकार कालने काट दिया। हम जहां बैठे हैं वह आसन हम नहीं। हम आसन नहीं यह वस्तु परिच्छेद है। अतः यह शरीरादि अल्प है। मर्त्य है। किन्तु आत्मा अल्प या मर्त्य नहीं। वह भूमा है। अमृत है। क्योंकि उससे द्वितीय वस्तु नहीं।

"एकमेवाद्वितीयं"

यह श्रुतिवचन है।

द्वितीय क्या हो सकता है? आत्मासे द्वितीय कौन है? यदि कहा-कि आत्मासे पृथक् अन्य सभी हैं। नौ द्रव्य हैं। पृथ्वि, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् और मन ये आठ और आत्मा नवम। ये आठ आत्मासे भिन्न हैं। नहीं। यह तो वैशेषिकादिकी प्रक्रिया है। श्रुति कहती है–

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः
आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी" ॥

कारणसे पृथक् कार्य नहीं होता। एक मिट्टी है, दूसरा घट है। ये दोनों पृथक् है? नहीं। मिट्टीसे घट भिन्न नहीं है। हां, घटसे भिन्न मिट्टी हो सकती है। रास्तेमें मिट्टी पड़ी है। वह घट कहां है? मिट्टीसे हाथ धोते हैं। घड़ेसे हाथ नहीं धो सकते। इसप्रकार घड़ेसे मिट्टी अलग भी हो सकती है। किन्तु मिट्टीसे घट अलग नहीं होगा। मिट्टीको छोड़कर घट नहीं जा सकता। जहां जायेगा वहीं मिट्टी भी पहुंचेगी। इसीप्रकार जगत्से भिन्न ब्रह्म हो सकता है। ब्रह्मसे भिन्न जगत् नहीं हो सकता। जहां भी जगत्का कोई भी पदार्थ जायेगा वहां ब्रह्म जरूर रहेगा। साथमें रहेगा। मिट्टीके एक पादमें ही घड़ा है। बाकी मिट्टीमें घड़ा नहीं है। एक पादमें भी कहां? क्या पृथिवीके चौथे हिस्सेमें घड़ा ही घड़ा हैं? वैसे एक चरणमें अर्थ लेश अंशमें जगत् है। शेषमें नहीं। इसीलिये गीतामें–

"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।"

ऐसा बताया। जैसा भी हो ब्रह्मसे पृथक् जगत् नहीं है। अतएव द्वितीय वस्तु नहीं है। द्वितीय वस्तु नहीं तो वस्तुपरिच्छेद नहीं हो सकता। देश भी

प्रायः द्वितीय वस्तु ही अन्यत्र है। जैसे घटसे पृथक् भूतल। आदमीसे पृथक् मकान हॉल। वह परिच्छेद करता है तो देशपरिच्छेद होता है। काल ब्रह्मसे उत्पन्न है या नहीं यह विवादास्पद है। षडस्माकमनादयः माना तो काल भी स्वतः अनादि हो जाता है। अनादिशब्द ही कालवाचक है। उससे परिच्छिन्नताकी निवृत्तिके लिये 'अमृत' विशेषण पृथक् है।

भगवान् शंकरजीकी परिक्रमा करते हैं तो प्राचीन मंदिरोंमें पूरी परिक्रमा नहीं करते। जलाधारी तक आकर वापिस आते हैं। इसका अर्थ है शंकर देशपरिच्छिन्न नहीं है। बहुत से लोग समझते हैं कि जलाधारीको लांघना पापा है। पापकी बात नहीं है। यह धारणा बनानी है कि संकरको हम चारों ओरसे घेरकर देशपरिच्छिन्न नहीं कर सकते। यह जहां शिवलिंग है वहांकी बात है। शिवकी मूर्ति जहां है वहां परिक्रमा होती है। क्योंकि उपाधि तो परिच्छिन्न होती ही है। पाण्डवोंका दूत बनकर भगवान् श्रीकृष्ण कौरव सभामें गये तो पहले सुलहकी बात बहुत देरतक चली। अन्तमें दुर्योधन सारी बातोंको ठुकराता गया तो गरमागरम बात शुरु हो गयी। झड़प होने लगी। श्रीकृष्णने कहा तू जिंदा रहना चाहता है तो रास्तेपर आ जा। दुर्योधन भी गुस्सेमें बोला यह कौन मुझे मारनेवाला आया। उसको पकड़कर बांधो। इतनेमें दुःशासनादि रस्सी लेकर पहुंचे। वहां भगवानने अपना विश्वरूप प्रकट किया था। कौरवोंको लगा कि हम सब श्रीकृष्णकी मुट्ठीमें हैं। "दंष्ट्रा- करालानि च ते मुखानि" उसमें हम सबको डालकर अभी चबा डालेंगे। सब प्रार्थना करने लगे, क्षमा मांगने लगे। भगवानने विश्वरूपका संवरण किया। स्वस्थ होनेपर वही पहलेवाला रूप देखा। मायासंवरण फिरसे हो गया तो भगवद्भावको तो भूल गये किन्तु नम्रता उनमें आयी और श्रीकृष्णको भोजनार्थ आमन्त्रण दिया। नहीं स्वीकारा भगवानने यह आगेकी बात है। उस भगवानके विश्वरूपमें सबने पाया कि रस्सीसे भगवानको घेरना संभव नहीं है। हम सब भगवानकी मुट्ठीमें ही आ जाते हैं। "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन" इस बातको भगवानने साकार कर दिखाया। व्रजके प्रसङ्गमें भी एक बात आती है। मटकी फोड़ने और बंदरोंको माखन खिलानेके अपराधमें यशोदा माताने

श्रीकृष्णको ऊखलके साथ बांधना चाहा। रस्सी हाथमें लेकर लपेटने लगी तो—

तद्दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।
द्व्यङ्गुलोनमभूत्तेन संदधेऽन्यच्च गोपिका॥
यदासीत्तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद्यदादत्त बन्धनम्॥

वह रस्सी दो अङ्गुल कम पड़ गयी तो दूसरी रस्सी जोड़कर या दूसरी रस्सीसे बांधने लगी। वह भी दो अंगुल छोटी पड़ी गयी जो-जो हाथमें ले वही दो अंगुल कम पड़ती गयी। ये दो अंगुलका कैसा हिसाब था? वेदमें एक मन्त्र है। वहां भी अंगुल शब्द आया है। गिनती थोड़ा फरक है।

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिँ-सर्वतः स्पृत्वा-ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥"

सहस्रशीर्षा—संसारके समस्त प्राणियोंके सिर विराटके सिर हैं। अतः वह अनन्त सिरवाला है। अनन्त आंखवाला है अनन्त पांववाला है। वह विराटपुरुष भूमिको सब ओरसे सब प्रकारसे व्याप्त कर दस अंगुल अधिक रह गया। यहां भूमिका अर्थ है भवनवाला-उत्पत्तिवाला। अर्थात् कार्यवर्ग। पूरे कार्यवर्गमें वह व्याप्त है। अन्तर्बहिश्च यः सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः। जगत्को व्याप्त दस इंच किस तरफ बढ़ गया? नीचेकी ओर कि ऊपर ओर? किसीका पेट दस इंच बढ़ जाता है किसीकी पूंछ बढ़ जाती है। क्या यहां बढ़ गया? यहां दश संख्या दश दिशाओंको लेकर कही गयी है। दसों दिशाओंकी ओर जिसको भाषामें चारों ओर ऐसा कह सकते हैं। सब ओर एक-एक इंच बढ़ गया। एक ही इंच? हां इतना ही कहना बहुत है। यह जगत् कहांतक है? जहांतक है वहांसे एक इंच आगे तक। आकाशादिसहित जगत् अनन्त है। अनन्तसे भी एक इंच अधिक। अनन्तसे एक इंच तो क्या एक अणु भी आगे बढ़ना बुद्धिसे परेकी चीज है। यदि बढ़ गया तो यह अनन्त ही मिथ्या हो जायेगा। तब वही बात आयेगी कि उस शुद्ध परमार्थतत्त्वके एकदेशमें जगत् कल्पित है। उसका एकदेश बोलना भी संभव है। तब न्यूनता और अधिकता सत्ताको लेकर होगी। परमात्मसत्ता पारमार्थिक है। सर्वातिशायी है। जगत्की सत्ता अल्प

है, अपारमार्थिक है, व्यवहारमात्रार्थ है। घटमें मृत्तिका किस अंशमें है? एक-एक अणुके अंदर बाहर मृत्तिका है। वैसे ही पूरे जगतमें अंदर बाहर ब्रह्म है। कृष्णको बांधनेवाली रस्सी–"यद्यदादत्त बन्धनं" बन्धनात्मक लौकिक वस्तु दो अंगुल कम रही। यहां ओरछोरको लेकर कहा जा रहा है। रस्सी लम्बी होती है। तो उसके दो ही किनारे हैं। दोनों किनारोंसे एक-एक इंच कम। यह बोलनेकी शैलीमें भेदमात्र है। जगत्को ऊपर नीचे ऐसा विभाग रखकर देखो तो दो अंगुल आयेगा। बांया दांया करके देखो तो भी दो इंच कम। आगे पीछे करके देखो तब भी दो इंच कम। परमात्मा दो इंच अधिक। उस परमात्मसत्तामें बंधनसत्ता मिथ्या है। यही यहां भी तात्पर्य है।

परिणामि कार्यमें कारण व्याप्त होकर रहेगा और अतिरिक्त भी रहेगा। जैसे मिट्टीके कार्य घटमें। विवर्तकार्यमें भी कारण व्याप्त होगा और पूर्णरूपसे अतिरिक्त भी रहेगा। मरुमरीचिकामें जल दिखाई दिया तो क्या वह मरीचिकासे रहित स्थानमें है? नहीं। मरीचिकासे व्याप्त है। तो क्या शुद्ध मरीचिका नहीं है? सब जल व्याप्त है? सब जल व्याप्त होनेकी बात छोड़ो। पूरी ही मरीचिका जलसे अस्पृष्ट है। इस बातको गीतामें स्पष्ट किया–

> 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना
> मत्स्थानि सर्वभूतानि
> न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।'

'मत्स्थानि' भी कहा 'न च मत्स्थानि' भी कहा। प्रातिभासिक सर्प रस्सीको छोड़कर अन्यत्र नहीं हो सकता। अतः रज्जुस्थः सर्पः। किन्तु वस्तुतः रज्जुमें सर्पस्पर्श न होनेसे न च रज्जुस्थः सर्पः ये दोनों बातें हो गयीं। वैसे प्रकृतमें भी परमात्माको छोड़कर अन्यत्र जगत् नहीं अतः मत्स्थानि सर्व-भूतानि। और वस्तुतः परमात्मा जगत्से अस्पृष्ट है अतः 'न च मत्स्थानि' बताया। वही इस ब्रह्मका बृहत्त्व है। तद् ब्रह्म।

यमराज केवल कुछ प्रवचन नहीं कर रहे थे। स्वयं ब्रह्मदर्शन नचिकेताको करा रहे थे। जब प्रथम यह कहा कि 'य एष सुप्तेषु' जागर्ति उसी समय प्रपञ्चको दृश्यरूपसे तथा आत्माको चेतन दृष्टाके रूपमें

नचिकेताको अनुभवं होने लगा। जैसे मकानमें बैठा हुआ आदमी जड़ मकानसे अपनेको चेतनरूपसे पृथक् देखता है। उसके बाद कहा–"कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। इन समस्त विषयोंको विवर्तोपादानरूपसे वही बनाता है। उस समय मालूम पड़ा यह दृश्य प्रपञ्च गृह, गृहस्वामीके समान नहीं है। वहां समानसत्ता है। उपादानोपादेय भाव नहीं है। यहांपर उपादानोपादेय भाव है और विषमसत्ता है। हमने सपना बनाया तो सामग्रीसे नहीं, किन्तु कल्पनासे बनाया। अतएव इनका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं। इतनेमें 'तदेव शुक्रं" आया। मैं सर्वमलरहित निर्मल हूं। शुद्ध हूं। इसप्रकार बोध होनेपर परिच्छेदक शरीरादितादात्म्य शिथिल होने लगा। घटसम्बन्ध छूटनेसे अर्थात् घटापसरणसे जैसे घटाकाश महाकाश होता है वैसे उपाधि अपसरणसे आत्मा व्यापक होने लगा तब 'तद्ब्रह्म' यह उपदेश आया। अपने व्यापक स्वरूपका साक्षात्कार होने लगा।

घटाकाश महाकाश ही हो जाता है। जब फूटनेसे घट समाप्त हो जाता है। घट सम्बन्ध नहीं रहता। वैसे 'शुभ्रं' होनेके कारण उपाधि-सम्बन्धविगम हुआ तो आत्मा व्यापक परमात्मा हो जाता है। वहां घटके फूटनेकी अपेक्षा है परंतु यहां तो कल्पित सम्बन्ध होनेके कारण शरीरादि-नाशकी अपेक्षा नहीं है। यहां कल्पनापरित्यागमात्र आवश्यक है। कल्पना-त्यागका अर्थ है–निर्विकल्पावस्था। निर्विकल्प चिन्तन भी तदर्थ उपयुक्त है।

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम् ।
न चासंगतं नैव मुक्तिर्न बन्धश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

निर्विकल्प हूं। क्यों? निराकार हूं। क्योंकि व्यापक हूं। विष्णुस्मृतिमें भगवान् विष्णु धरा (स्वपत्नी) को कहते हैं–पद्मासनस्थित होकर पाणिमें पाणि रखकर खेचरी मुद्रासहित परस्पर दन्तस्पर्श बिना शान्त निर्भय हो तत्त्वातीत निराकार शब्दादिरहित पुरुषका ध्यान करे। एक सालमें योग-सिद्धि होगी। उसमें असमर्थ पृथिवी जलादिमें मन टिकाकर अन्तमें पुरुषमें मन स्थिर करे। उसमें भी असमर्थ हो तो हृदयमें दीपकलिकोपम पुरुषका ध्यान करें। उसमें भी असमर्थ शंखचक्रादियुक्त हरिका ध्यान करें। अर्थात् बाह्य सगुण परमात्माका ध्यान अति असमर्थके लिये है।

"ऊरुस्थोत्तानचरणः पाणिं पाणितले दधत्।
तालुस्थाचलजिह्वाग्रो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीस्तत्त्वातीतमतीन्द्रियम्।
निर्गुणं सकलस्थूलानुगतं सूक्ष्ममव्ययम्॥"
यो ध्यायेत् पुरुषं नित्यं परमात्मानमीश्वरम्।
योगः संवत्सरेणैव तस्याविर्भवति ध्रुवम्॥
तदशक्तो मही वारि तेजो वायुर्नभो मनः।
बुद्ध्यात्माव्यक्तपुरुषान् ध्यायेत् स्थैर्ययुतः क्रमात्॥
तत्राशक्तो दीपसमं हृत्पद्मे पुरुषं स्मरेत्।
तदशक्तो हरिं ध्यायेत् शंखचक्रादिधारिणम्॥"

निराकार निर्विकल्प शब्दादिसे अतीत तत्त्वातीत परब्रह्मका ध्यान करना सर्वोत्तम है। पद्मासनमें स्थित होकर उत्सङ्गमें वामकरतलमें दक्षिणकरतल रखकर खेचरी मुद्राके द्वारा तालुमें जिह्वा लगाते हुए दांतोंका दांतोंसे स्पर्श किये बिना ध्यान करना चाहिये। शान्तचित्त एवं निर्भय होकर सकल स्थूल पदार्थोंमें अनुगत परम सूक्ष्म पूर्वोक्त परब्रह्मका जो ध्यान करता है उसके सामने एक वर्षमें ही योगका आविर्भाव होगा। इसे करनेमें जो असमर्थ हो वह लयक्रमसे ब्रह्मका चिन्तन करे। प्रथम समस्त वस्तु पृथिवीमें लीन हो गयी। पृथिवीमात्र रह गयी ऐसा ध्यान करें। फिर पृथिवी लीन हो गयी जल जल रहा ऐसा, फिर जल भी लीन हो गया, तेज रह गया ऐसा, फिर तेज भी गायब हो गया वायुमात्र रहा ऐसा, फिर वायु गायब हो गया आकाश रह गया ऐसा, फिर आकाश गायब हुआ मन रह गया ऐसा अंदरकी ओर मुड़कर, फिर बुद्धिकी फिर महत्तत्त्वकी ओर मुड़कर फिर व्यापक अव्याकृतके बाद पुरुषका ध्यान करें। बुद्धि व्यष्टिरूप है। आत्मा महत्तत्त्व समष्टि हिरण्यगर्भ है। सर्वबीज अव्याकृत अव्यक्त है। इसप्रकार ध्यान करनेमें भी जो असमर्थ है वह हृदयकमलमें दीपज्वाला कलिका-सदृश पुरुषका ध्यान करें। यह भी करनेमें जो असमर्थ है उसके लिये बाह्य आकार है। जैसे शंखचक्रादियुक्तविष्णु है।

"सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्॥"

इस ध्यान श्लोकमें बताये हुए स्वरूपका विष्णु स्मृतिमें उल्लेख किया है।

इस विवरणका तात्पर्य यही है कि यमराजके द्वारा जिस क्रमसे निर्विकल्पक ब्रह्मका स्वरूप उपस्थित किया गया उसी क्रमसे ब्रह्मानुभव कर निर्विकल्पक भावमें स्थित होना यह सर्वश्रेष्ठ साधन है। उससे साक्षात् ब्रह्मका दर्शन होता है। अतएव "इदं प्रवक्ष्यामि ब्रह्म" ऐसे प्रत्यक्षप्रयोजक प्रवचनकी प्रतिज्ञा कर यहां उसी निर्विकल्प ब्रह्मके स्वरूपतक पहुंचाया।

य एष.....तदेवामृतमुच्यते। स्वप्नादि समयमें जागरिता (जगनेवाले) के रूपमें प्रथम अवलोकन किया। फिर स्वाप्नादि पदार्थोंके निर्माताके रूपमें देखा। सामग्र्यन्तर (अन्य सामग्री) न होनेसे विवर्तोपादानके रूपमें जाना। अतएव वस्तुसम्बन्ध न होनेसे शुक्र (निर्मल) रूपमें जाना। यह कहें कि स्वप्नवस्तुसम्बन्ध न होने पर भी जाग्रद्वस्तुसम्बन्ध हो सकता है। नहीं। ऐसा नहीं कह सकते। जाग्रतवस्तु सम्बन्ध होता तो उसका प्रकाशन होता। क्योंकि जागरिता ज्ञानस्वरूप है। उसके साथ सम्बन्ध होता तो जैसे सूर्यप्रकाशसम्बन्धसे वस्तु प्रकाशित होती है वैसे ज्ञानप्रकाशसम्बन्धसे प्रकाशित होती। अतः जाग्रदर्थसम्बन्ध भी न रहा। साथ ही दृग्दृश्यसम्बन्ध आध्यासिक होनेसे वह हो भी नहीं सकता। फलतः ज्ञान शुक्र शुभ्र अवगत हुआ। उपाधिसम्बन्ध ही परिच्छेदक है। उसके अभावमें वह व्यापकरूपमें प्रकाशित हुआ। अर्थात् ब्रह्म रूपमें—तद्ब्रह्म। इसके बाद किस रूपमें वह प्रकाशित होगा, या इस ब्रह्मावलोकनका फल क्या है इस बातको अगला विशेषण स्पष्ट करता है—तदेवामृतममुच्यते। वह अमृतरूपमें प्रकाशित होगा। और प्रकाशमान ब्रह्म ही अमृत यानी मोक्ष है। अविद्यास्तमयो मोक्षः स च सम्बन्ध उदाहृतः अविद्या ही बन्ध है। अविद्यानिवृत्ति मोक्ष है। वह निवृत्ति क्या है?

"निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः"

प्रकाशमान आत्मा ही अविद्यानिवृत्ति है। वही मोक्ष है। वही अमृत है।

तीन लोग प्रसिद्ध हैं और तीन अमृत भी प्रसिद्ध हैं। एक देवलोक है। जिसको स्वर्गलोक भी कहते हैं। वहां एक अमृत है। देव और दानव दोनोंने मिलकर समुद्रमन्थन किया तो समुद्रमेंसे चौदह रत्न प्रकट हुए और अन्तमें धन्वन्तरि अमृतकलश लेकर प्रगट हुए। अमृतकलशको लेकर

देवदानवका बड़ा संग्राम हुआ। सुनते हैं—उसी समय घड़में से कुछ बूंदे हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिकमें गिरि थीं जिसको लेकर कुम्भपर्व मनाते हैं। वह अमृत देवलोकमें है। प्रश्न होगा एक तो घड़ा था। पीनेवाले देवता करोड़ों थे। सब परोसकर पी भी गये हजम भी हो गया, अब अमृत कहां रहा? किन्तु प्रश्नपर प्रश्न होगा कि तो क्या अमृत खतम हो गया? यदि खतम हुआ तो अमृत किस प्रकार? जो मृत नहीं होता, नष्ट नहीं होता, खतम नहीं होता वही तो अमृत है। अतएव प्रयागादिमें आज भी अमृतबिन्दु माना जाता है।

दूसरा लोक अन्तरिक्षलोक है। वहां सोमलोक है। चन्द्रमामें अमृत माना गया है। इसलिये चन्द्रमाका सुधांशु नाम है। शरत्पूर्णिमाको अमृत-वर्षा किरणोंसे होती है तो औषधियां पुष्ट होती हैं। वैद्यलोग शरत्-पूर्णिमाके बाद ही औषधियां उखाड़नेकी सलाह देते हैं। केवल दवाई ही नहीं। अन्नादि भी—

"पुष्णामि चौषधीः सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मकः"

औषधि गेहूं चावल आदिको कहते हैं। उसमें अमृतका हल्का अंश प्रवेश करता है। इसलिये शतवर्ष जीवन है। कोई लोहासोना चबाकर जिंदा नहीं रह सकता। सोमलोकवासी सोमामृतपान करते हैं। यागादिमें आहुतिमें दिया हुआ सोमरस साथमें जाता है। उससे सोमलोकवासियोंका शरीर एवं शरीरस्थिति है।

तीसरा मनुष्यलोक है। यहां भी अमृत है किन्तु अलग प्रकारका है।

"अमृतं शिशिरे वह्निः अमृतं प्रियदर्शनम् ।
अमृतं राजसंमानः अमृतं क्षीरभोजनम् ॥"

ऐसा चाणक्यका कहना है। चाणक्यजी कहते हैं मरनेके बाद अमृत मिले या न मिले यहां तो अमृत पा लो। ठंढीमें आग सेंकनेको मिला तो अमृत है। चिरवियुक्त प्रियका दर्शन अमृत है। राजसंमानके दो अर्थ हैं। संमानानां राजा राजसंमानः। अर्थात् उत्तमोत्तम संमान अमृत है। अथवा राजा की या राष्ट्रकी ओरसे जो संमान होता है वह राजसंमान है। वह भी अमृत है। क्योंकि वह चिरस्मरणीय रहता है। फिर खीर खानेको मिले तो अमृत है ही।

इन तीनोंकी व्याख्या दूसरे प्रकारसे भी होती है। श्रुतिमें कहा है—

"पुत्रणैवायं जय्यो लोकः कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः।"

इहलोक, पितृलोक और देवलोक ऐसे तीन लोक हैं। पुत्रसे इहलोककी जीत होती है। पुत्रदर्शन ही अमृत है। यही अमृतं प्रियदर्शनंका भी अर्थ है। कैसे इहलोकका जय पुत्र से? और कैसे वह अमृत हैं? इसको श्रुतिने ही स्पष्ट किया है। एक तो स्वयं अपना जन्म हुआ जो प्रथम जन्म है। फिर पत्नीमें स्वयं पुत्ररूपमें जन्म लेते हैं यह द्वितीय जन्म है। ऐतरेय उपनिषदमें यह बात आयी है।

"आत्मा वै पुत्रनामासि"।

ऐसी भी श्रुति है। पुत्र तो पिताके प्रति अंगसे आये हुए तेजका ही मूर्तरूप है। पुत्रका पुत्र होनेपर पौत्र-प्रपौत्र इत्यादि यावत् सृष्टि स्वयं ही तो है। अतएव जबतक यह संतान रहेगा तबतक अमृत है। संतानका अर्थ है विस्तार करनेवाला। तनु विस्तारे धातुका यह रूप है। "पतिर्जायां प्रविशति" "एषां लोकानां संतत्यै" इत्यादि श्रौतवचन प्रसिद्ध हैं। इसप्रकार अनादि अनन्त संतान होनेपर ही लोकविजय मानी जाती है। यही "पुत्रेणैवायं जय्यो लोकः" का अर्थ है। दूसरा है "कर्मणा पितृलोकः" कर्मसे पितृलोककी प्राप्ति होती है। यज्ञयागादि सभी कर्म हैं। उससे पितृलोक मिलता है। इसीको वस्तुतः स्वर्गलोक भी कहते हैं। कर्मसे ही वहां अमृत होते हैं और उसप्रकार पितृलोकजय होती है।

"अपाम सोमममृता अभूम"

ऐसी श्रुति है। सोमयाग करनेके बाद सोमपान करते हैं। सोमपानका विधान है। जैसे पूजा करनेके बाद चरणामृतपान करते हैं, प्रसाद भक्षण करते हैं वैसे सोमयागके बाद सोमपान करते हैं। प्रसादका तिरस्कार नहीं किया जाता। यह तो सत्यनारायणकथामें अतिप्रसिद्ध है। फिर चरणामृतमें अमृत शब्दका ही प्रयोग है। उस सोमपानका फल है—अमृता अभूम। यावत्सृष्टि अमर बने रहेंगे। यही "कर्मणा पितृलोकः" का तात्पर्य है। तीसरा "विद्यया देवलोकः" है। विद्यासे उपासना ली जाती है। शाण्डिल्यविद्या आदि उपासनाविद्या है। उपासना करनेवाले देवलोकको प्राप्त होते हैं। देवलोकसे

यह ब्रह्मलोक अभिप्रेत है। देवन प्रकाशन वहीं होता है। वहां एक तो यावत्सृष्टि जीवन है ही। वहींसे मोक्ष भी संभव है।

किंतु इन तीनों लोकोंसे अतिरिक्त एक चतुर्थ लोक भी है। वह कौनसा लोक है? पाताललोक? नहीं। वहां तो सांप रहते हैं। वहां जहर है। अमृत कहां हैं? भूर्भुवः स्वः से जन मह आदि लोक? नहीं। पितृलोक एवं देवलोकमें सब अन्तर्भूत है। तब कौनसा लोक है? उसको आत्मलोक कहते हैं।

"किं प्रजया करिष्यामो, येषां नोऽयमात्मा अयं लोकः"

इहलोकादि तीनों आत्मालोकें ही अन्तर्गत हो जायेंगे। "यावनर्थ उदपाने" इत्यादि न्यायसे। और वस्तुतः पूर्वोक्त तीनों लोकोमें सच्चा अमृत नहीं है। "किं प्रजया करिष्यामः"। एक तो प्रजा संतान यावत्सृष्टि माना जाय तो भी हम मरकर दूसरी जगह जन्ममें लेंगे तो इस पूर्व संतान परम्पराका मतलब क्या रह जायेगा? दूसरे जन्ममें दूसरी परम्परा बनाओ। तीसरेमें तीसरी। परम्परा ही बनाते रहो। लाभ कुछ होना नहीं है।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"

फिर ये सारी परम्परा प्रलयमें समाप्त होगी तो अमृत क्या रहा? पितृलोकमें भी वही बात है। कुछ लोग पितृलोकसे लौट आते हैं। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति। दूसरे भी "आ भूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते।" सोमपानादिसे प्रलयपर्यन्त स्थिति ही स्वर्गलोकमें है। आपेक्षिक अमृतत्व ही वहां भी है। विद्याके द्वारा उपासनाके द्वारा जो देवलोक प्राप्त होता है वहां भी वास्तविक अमृत दुर्लभ है। वहां विशेषता यही है कि इतरोंकी अपेक्षा अधिक समय तक वास प्राप्त होता है। देवलोकका अर्थ है ब्रह्मलोक। उपासक सभी ब्रह्मलोक ही पंहुंचते हैं। ब्रह्मलोक ही भावना भेदसे विष्णुलोक, कैलासलोक, गोलोकादि है। क्योंकि भगवान् दस-बीस नहीं होंगे। और यदि अलग-अलग माननेका आग्रह भी हो तो भी ब्रह्मलोकसे ही सर्वसंग्रह है।

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।"

उपासनाप्राप्य सभी लोक पुनरावृत्तिवाले हैं। इतना है कि कर्म करनेवाले ब्रह्माजीकी रात आ जाती है तो प्रलयमें समाप्त होते हैं।

"रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके"।

चौदह मन्वन्तरपर्यन्त सोमलोकवास उनका रहता है। ब्रह्माजीका दिन सृष्टि है। रात प्रलय है। इसप्रकारके हिसाबसे मास संवत्सरादि। वैसे सौ वर्ष ब्रह्माकी आयु है। तबतक ब्रह्मलोकगत उपासक वहां रहते हैं। यह पूछ सकते हैं कि उसके बाद ब्रह्माकी मुक्ति होती है तो ब्रह्मलोकमें पहुंचे हुए लोग भी तो मुक्त होते हैं। शास्त्रोंमें कहा है–

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम्॥"

प्रतिसंचरका अर्थ है प्रतिप्रसव। महाप्रलय। उस समय सौ वर्ष पूरा होनेसे ब्रह्माजीका अधिकार समाप्त होता है और वे मुक्त होते हैं। उस समय उनके साथ ब्रह्मलोकवासी सभी मुक्त हो जाते हैं। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मलोकगामी दो प्रकारके लोग होते हैं। एक उपासक है। दूसरा ज्ञानी है। इनमें केवल उपासक तो वापिस आयेगा। ज्ञान साथमें हो तो वापिस नहीं आयेगा। इस बातको कैवल्योपनिषत्का मन्त्र भी बताता है–

"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताःपरिमुच्यन्ति सर्वे॥"

भगवत्-उपासना करते रहो और वेदान्तका श्रवण-मनन-निदिध्यासन भी अप्रमत्त होकर करते रहो। वेदान्ताध्ययनसे परमार्थतत्त्वका सुनिश्चय हो जायेगा। फिर उसको जीवनमें उतारो। यति संयमी बनो। शुद्ध सत्त्व शुद्धान्तःकरण बनो। संन्यासयोग साक्षात् संन्यास या सर्वकर्मफलत्याग करो। ऐसे महान् व्यक्ति ब्रह्मलोकमें जाकर अन्तमें मुक्त होंगे। जो तत्त्वज्ञानी हैं वे ब्रह्मलोकमें क्यों जायेंगे?

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते"।

इसप्रकार श्रुतिने तत्त्ववेत्ताका प्राणोत्क्रमण नहीं होता ऐसा बताया है। इस प्रश्नका उत्तर यह है कि तत्त्वज्ञान दो प्रकारका होता है। एक केवल दृढ़निश्चयात्मक होता है। दूसरा साक्षात्कारात्मक होता है। श्रवण मनन निदिध्यासन किया किन्तु किसी प्रतिबन्धके कारण साक्षात्कार नहीं हुआ तो सर्वकर्मनाश नहीं होगा। बल्कि वेदान्तश्रवणका अनन्त पुण्य ऊपरसे होगा। "स्नातं तेन समस्त तीर्थसलिले" इत्यादि शास्त्रवचन है। उसके

फलस्वरूप वह ब्रह्मलोक होगा और वहां समस्त प्रतिबन्धक समाप्त हो जायेंगे तो ब्रह्मसाक्षात्कार होगा। तब ब्रह्माके साथ वे मुक्त होंगे। यहीं पर जिनको ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है उनके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। वे यहीं मुक्त हो जाते हैं।

यही आत्मलोक है। यहांका अमृत ही वास्तविक अमृत है। वह कर्मादिसे प्राप्य नहीं है। चाहे यहीं से आत्मलोक पहुंचो चाहे ब्रह्मलोकसे। दोनोंमें ब्रह्मसाक्षात्कारकी हेतुता समान ही है।

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥"

यहां प्रथम कर्मपद मानसकर्मपरक है। अर्थात् उपासनारूपी मानस कर्मसे अमृतत्वकी प्राप्ति नहीं होती। केवल देवलोककी प्राप्ति होती है। देवलोक-विजयरूप अमृत ही मिलता है। प्रजया अर्थात् संतानपरम्परासे भी अमृत प्राप्त नहीं होता। संतानपरम्पराके द्वारा मनुष्यलोकविजयमात्र होगा। धनेन-धनसाध्य सोमयागादिरूप कर्मसे पितृलोक विजयरूपी गौण अमृत प्राप्त होता है। त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः—ईशावास्यतारूपी तेन त्यक्तेन जगद्बाधात्मक त्यागसे ऋषि मुख्य अमृतको प्राप्त हुए। वह अमृतत्व कैसा? परेण नाकं—स्वर्गलोक ब्रह्मलोकादिसे भी परे स्थित है। बुद्धि गुहामें स्थित है जिसे यति प्राप्त होते हैं।

अब इस अमृतत्वके बारेमें भी थोड़ा विचार करना चाहिये। एक तो पीनेका अमृत है। वह तीनों लोकोंमें है तो उसका स्वाद क्या है? मीठा है कि खट्टा या कड़ुआ तीता आदि? मीठा यदि है तो मधुमेह रोगवालोंके लिये तो वह मृतकारी होगा। खट्टा होगा तो अम्लपित्तवालोंके लिये वह मृतकारी है। कड़ुआ करेला आदि तो कफवालोंके लिये नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि अमृत सर्वरस होता है या दृष्टरस होता है। किसीके लिये मिर्ची अमृत है किसीके लिये तेल। किन्तु इतनेसे पूरा नहीं पड़ता। "अमृतं शिशिरे वह्निः" यहां खट्टा मीठा कोई रस नहीं है। 'अमृतं प्रियदर्शन' यहां कौनसा षडरस है। 'अमृतं राजसंमानः' यहां भी कोई रस नहीं है। हां अन्तिम क्षीरभोजनमें थोड़ा बहुत रस संभव है। वस्तुतः परमानन्ददायित्व ही अमृतरस है। ठंढीमें आग सुखदायी होनेसे अमृत कहलाया। प्रियदर्शन

सुखदायी है। राजसंमान सुखदायी है। जीवनदायीको भी अमृत कहते हैं। रोगियोंके लिये दवाई अमृत है।

"मृत्युर्वा असत् सदमृतं" ।

मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम्" ।

इन श्रुतियोंमें सतको और ज्योतिको अमृत बताया।

"य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति" ।

इस श्रुतिमें अमृतके विपरीत दुःख बताया। अर्थात् अमृत आनन्द है।

"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" ।

यहांपर भी अमृतको आनन्दरूप बताया।

घट उत्पन्न हुआ। रहा। अन्तमें फूट गया। मृत्तिका पहले भी रही। मध्यमें भी रही। घड़ेके फूटनेके बाद भी रही। घट असत् है। मृत्तिका सत् है। अमृत है घटकी अपेक्षा। किन्तु मृत्तिका भी पार्थिव परमाणुओंमें उत्पन्न हुई, रही, अन्तमें नष्ट हुई। अतः वह भी असत् है। परमाणु अमृत है। परमाणु भी तन्मात्राओंमें उत्पन्न हुए, रहे, नष्ट हुए। उसके मूलमें अहंतत्त्व अमृत है। वह भीं वैसा ही है। उसके मूलमें महत्तत्त्व है। उसके मूलमें अव्यक्त है। जो सर्वमूल है वह नित्य सत् है। परम अमृत है। दृश्य रथादि सपनेमेंसे उठते ही बाधित हो जाते हैं। द्रष्टा बाधित नहीं होता। दृश्य मृत है। द्रष्टा अमृत है। दृश्य जगत भी प्रलयमें मृत होते हैं। द्रष्टा हिरण्यगर्भ ही अमृत है। परंतु द्रष्टा भी जबतक दृश्य है तभीतक है। दृश्य नहीं हो तो किसके द्रष्टा? जाग्रदादि दृश्य क्रमशः नष्ट होते हैं। द्रष्टा यावज्जीवन रहेगा। द्रष्टा भी सर्वापाय होनेपर समाप्त हुआ। केवल ज्योति रह गयी वह अमृत है। जैसे मृतरूपी सतमें नामरूप मिला हुआ है। अतः वह मृत्यु है। वैसे आनन्द भी है। शतगुणोत्तर आनन्दका वर्णन किया है—

युवा स्यात्साधु आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं
पृथिवी वित्तस्य पूर्णा स्यात्स एको मानुष आनन्दः
ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

इसप्रकार देवगन्धर्व, पितर, आजानजदेव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति एवं ब्रह्माके आनन्दको शतगुणोत्तर बताया। पूर्व पूर्व मृत है। उत्तर-उत्तर

अमृत है। क्योंकि पूर्व-पूर्वमें दुःखक्लेश मिश्रण है। ऐसे ही ज्योतिमें भी तमोमिश्रण समझना चाहिये। मानुषीय ज्ञानसे गन्धर्वीय ज्ञान अधिक है। उससे अधिक पितरोंका ज्ञान है। उससे अधिक देवोंका ज्ञान है। उससे अधिक इन्द्रका ज्ञान है। उससे अधिक बृहस्पतिका ज्ञान है। उससे अधिक ब्रह्माका ज्ञान है। पूर्व-पूर्वमें दृश्य मिश्रण है। अज्ञानमिश्रण है। अतः मृत्यु मृत है। शुद्ध चैतन्यज्ञान अमृत है। शुद्ध आनन्द अमृत है। जिसके लिये—

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥"

इसप्रकार श्रुतिमें कहा है। पूर्ण सत् अमृत है। जिसमें नामरूपात्मक मृत्यु नहीं। पूर्ण चित्त अमृत है। जिसमें तम-अज्ञानरूपी मृत्यु नहीं। पूर्ण आनन्द अमृत है। जिसमें दुःख भयरूपी मृत्यु नहीं है।

"आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यस्मिन् वीचिवदम्बुधौ ।
स्थितं तन्नौमि परममानन्दममृतं महः ॥"

इसप्रकार वेदान्तमन्दारमालामें बताया है। समुद्र सत् है। तरङ्ग असत् है। ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी परमात्मामें तरङ्गवत् हैं। वह सत् सागर है। मह ज्योतिको कहते हैं। ज्योतिमें छायाके समान संपूर्ण संसार है। आनन्दसागरमें बूंदके समान है। अतएव वही अमृत है। इसी बात को सूचित करने के लिये 'तदेव' इस प्रकार एवकार जोड़ा।

उच्यते। "तदेवामृतं" इतनेसे ही अर्थ पूरा हो जाता है। उच्यते ऊपरसे क्यों कहा? इसलिये कि वचनके द्वारा ही यह तत्त्व समझा जा सकता है। कौनसा वचन? शास्त्रवचन और गुरुवचन। दो अलग-अलग नहीं। गुरु-वचन के द्वारा शास्त्रवचन जहां प्रस्तुत होता है वही ज्ञानके प्रति हेतु है। शास्त्र कौनसा और गुरु कौन? शास्त्र यहां वेद ही है। "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्"। परम प्रमाण वेद ही है। साधारण मनुष्यका वचन प्रमाण नहीं है। असाधारण मनुष्यका वचन तभी प्रमाजनक होगा जब वह वेद-व्याख्यारूप हो। गुरु कौन? अभी तो संसारमें गुरुओंका भरमार हो गया है। चेले भी गुरुओंसे कम नहीं है। पंजाब गुजरात घूमकर एक संत काशी आये और बोले कि मैंने पक्के सौ चेले बनाये। थोड़े दिनके बाद एक माई आयी। वह बोलने लगी मैंने तो महाराज सौ गुरु किये। वे सौ चेले उसके

और इसके गुरु दोनों बराबर ही हैं। गुरु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। शिष्य जिज्ञासु सत्पात्र होना चाहिये। ऐसे गुरु शास्त्रवचनोंको संमुख रखकर प्रवचन करे तो ही ऐसे शिष्य ग्रहणकर अपना उद्धार कर सकते हैं। बाकी तो कालयापन है। श्रवणं पापनाशनं—श्रवण व्यर्थ तो जायेगा नहीं।

य एष..........तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे। य एष सुप्तेषु जागर्ति इत्यादि पूर्वार्ध त्वंपदार्थप्रधान होकर प्रवृत्त हुआ। द्वैतवादी यहां "सुप्तेषु" का अर्थ प्रलयकाल लेते हैं और पूर्वार्धको भी ईश्वरवर्ण न में लगाते हैं। परंतु 'एष' यह प्रत्यक्षनिर्देश प्रलयकालीन ईश्वरके लिये नहीं हो सकता। 'इदं ब्रह्म प्रवक्ष्यामि' इस प्रत्यक्षदर्शनप्रतिज्ञाके अनुरूप यहां 'एष' यह शब्द है। 'पुरमेकादशद्वारं' इत्यादि शुरुआतसे ही जीवनिरूपण उपक्रान्त है। त्वंपदार्थ-प्रधानसे प्रारंभकर सुप्त शरीरादिसे पृथक् और कार्यरूप कामादिसे पृथक् कहकर सर्वसंसर्गमालिन्यरहित कहते हुए उसे शुक्र कहा और लक्ष्यार्थको स्पष्ट किया। परंतु जगन्नियन्ताके रूपमें प्रसिद्ध जो ईश्वर है उसकी स्थितिके बारेमें कुछ कहा नहीं। वह यदि पृथक् रहेगा तो तद्ब्रह्म यह अंश समझमें नहीं आयेगा। अतएव उसे समझनेके लिये तत्पदार्थका निरूपण भी आवश्यक है। अतः इसके बाद तत्पदार्थनिरूपण भी करते हैं—"तस्मिंल्लोका" इत्यादिसे। प्रत्यक्षनिदेर्शकी प्रतिज्ञाके अनुसार त्वं पदार्थका प्रथम निरूपण है और उससे अभिन्न करके 'तस्मिंल्लोका' इत्यादि कहा। इस वल्ली में मुख्य त्वंपदार्थ ही है। तत्पदार्थमुख्यता छठी वल्लीमें है।

दो प्रकारकी श्रुति मिलती है। एक श्रुतिमें लिखा है कि सुषुप्तिमे सभी लोक, देव आदि अविद्यामें लीन हो जाते हैं। और जाग्रतमें वहींसे सब प्रकट होते हैं। इससे यह अर्थ निकलता है कि सुषुप्तिमें अधिकृत जीवात्मामें ये सभी लोकादि आश्रित हैं। दूसरी श्रुति ऐसी मिलती है कि परमात्मा ईश्वरसे लोकदेवादि प्रकट होते हैं। अतः लोकदेव आदि परमात्मामें आश्रित हैं। छान्दोग्य श्रुति है—

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गा व्युच्चरन्ति। एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोका सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति॥"

यह 'पुरीतति शेते" इसप्रकार जीवसुषुप्तिके बादमें बताया। मैत्रायणी श्रुति है–

"वह्नेश्च यद्वत् खलु विस्फुल्लिङ्गाः सूर्यान्मयूखाश्च तथैव तस्य
प्राणादयो वै पुनरेव तस्मादभ्युच्चरन्तीह यथा क्रमेण॥
तस्माद्वा एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वे देवाः
सर्वाणि च भूतान्युच्चरन्ति। तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति।
अथ यथाऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहतस्य पृथग् धूमा निश्चरन्ति एवं वा एतस्य महतो
भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥"

यहां अन्य श्रुति प्रत्यभिज्ञा होनेसे ब्रह्मसे सबकी उत्पत्ति बतायी गयी है। इन दोनों श्रुतियोंकी उपपत्ति द्विविध सृष्टि अङ्गीकार करके की जाती है। ईश्वरीय सृष्टि तो कल्पादिमें होती है। फिर उसपर जीवसृष्टि पृथक् होती है। हम सो जाते हैं तो हमारे लिये प्रलय है। जग जाते हैं तो हमारे लिये सृष्टि होती है। वेदोंपर ये वेद हैं ऐसी ज्ञानात्मक सृष्टि होती है। लोकोंपर ये लोक हैं ऐसी ज्ञानात्मक सृष्टि होती है। समष्टिसृष्टिमेंसे व्यष्टिसृष्टिका विलय एवं उत्पत्ति होती है ऐसा भी सिद्धान्त है। प्रकृतमें तो ईश्वरीय सृष्टिसे उत्पन्न लोकोंका ही वर्णन है ऐसा ही भाष्यसे भी अर्थ निकलता है। जीवपरैक्य आवश्यक होनेसे भी वही बात सिद्ध होती है।

परमात्माके तीन रूप हैं तथा एक चतुर्थ भी। वैश्वानर, सूत्रात्मा तथा ईश्वर। उपाधिभेदसे त्रिविध है। स्थूलप्रपञ्चोपाधिक चैतन्य वैश्वानर है। सूक्ष्मप्रपञ्चोपहित चैतन्य सूत्रात्मा है। कारणप्रपञ्चोपहित चैतन्य ईश्वर है। वैश्वानरमें ही सभी लोक वेदादि आश्रित हैं। स्थूल प्रपञ्चोपहितमें स्थूल प्रपञ्च आश्रित रहे तो आत्माश्रय दोष नहीं होगा? नहीं। सत्कार्यवाद माना गया है। समस्त स्थूलप्रपञ्च सूक्ष्मरूपसे पूर्व ही विद्यमान है। उसमें स्थूल प्रपञ्च प्रकट होकर प्रकटरूपसे रहता है। सूक्ष्मरूपसे रहनेपर वह सूत्रात्मा नहीं हो जायेगा? नहीं। सूक्ष्मप्रपञ्च अलग है। स्थूलप्रपञ्चका सूक्ष्मरूप अलग है। तन्मात्रा, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि समष्टि सूक्ष्म

प्रपञ्च है। जैसे मृत्तिकामें घट सूक्ष्मरूपसे रहता है। वह परमाणुरूप नहीं है। किन्तु घटाकार ही अनभिव्यक्त रूपसे रहता है। यही सत्कार्यवादका अर्थ है। प्रलयमें स्थूल प्रपञ्च सूक्ष्मप्रपञ्च दोनोंही सूक्ष्मरूपसे रहते हैं और कारण प्रपञ्च भी रहता है। सभी अव्यक्त प्रकृतिमें स्थित हैं। उस सूक्ष्मरूपोपहित वैश्वानरमें स्थूलप्रपञ्च आविर्भूत होकर उसीमें रहता है। अतः "तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे" बताया। श्रीमद्भागवतमें परमेश्वरमें जगत् किसप्रकार है यह ब्रह्माजीकी स्तुतिमें बताया है। और सूक्ष्मरूपसे कैसे रहते हैं यह यशोदामाताको विश्वरूपदर्शनके समय बताया है। ब्रह्माजीकी स्तुति करते हुए कहते हैं–

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू–
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥"

इसमें पूर्वार्ध अपना अल्पत्व बतानेवाला है और उत्तरार्ध भगवानको सर्वाश्रय बतानेवाला है। हम रातको बाहर खड़े हो जांय और देखें कहांतक दृष्टि जाती है। यह अन्तिम अण्डाकार नीलिमा दीखती है वही ब्रह्माण्डकी परिधि है। वहां जाकर प्रकाश भी ठंढा हो जाता है। तो पृथिवीकी नीलिमा नजर आती है। अर्थात् इस ब्रह्माण्डमें भूः भुवः स्वः महः, जनः सत्य ऐसे सात ऊर्ध्वलोक हैं। अतल, वितल, रसातल, महातल, तलातल, पाताल ऐसे नीचे सप्तलोक हैं। यही चतुर्दशभुवन हैं। इनको तीन भागोंमें विभक्त करते हैं। भूको छोड़कर छः स्वर्ग हैं। भूः पृथिवीलोक है। नीचे सात पाताललोक हैं। अतः चौदह लोक यह विस्तारकथन है। तीन लोक यह संक्षिप्त कथन है। इनके बाहरसे पृथिवीतत्त्वका वेष्टन है। उसके बाहरसे जल तत्त्वका वेष्टन है। उसके बाहर अग्नितत्त्वका वेष्टन है। उसके बाहर वायुतत्त्वका वेष्टन है। उसके बाहरसे आकाशतत्त्वका वेष्टन है। उसके बाहरसे अव्यक्ततत्त्वका वेष्टन है। सभी उत्तरोत्तर दशगुणाधिक है। यह ब्रह्माजीका सात वितस्तिवाला शरीर है। भाषामें बिस्ता कहते हैं। अंगूठा और मध्यमाको खींचकर रखनेमें एक बिस्ता होता है। सबका शरीर अपने-अपने बिस्तेसे सात बिस्ता है। ब्रह्माजीका यह सात बिस्ता

शरीर है। जिसको ब्रह्माजी तुच्छ मानते हैं। किन्तु अपने यहां आदमी छः फुट लंबा हो गया तो समझेगा मैं दुनियामें अद्वितीय हूं। एक मेरा भक्त था। किसीको भी चिट्ठी लिखे आवेदनपत्र लिखे तो गौरवसे लिखता था मैं छः फुटका आदमी हूं। मैंने कहा विना प्रसंग क्यों लिखते हो? तब उसने लिखना बंद किया। उत्तरार्ध हमारे लिये महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्माजी कहते हैं— क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य। वाताध्व खिड़कीको कहते हैं। भगवानके रोमकूप खिड़कीके समान समझ लो। उसमें परमाणुके समान विचरण करते पाये जा सकते हैं। क्या? मेरे शरीररूपी ब्रह्माण्ड जैसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड। जालसूर्यमरीचिस्थ रजःकण प्रसिद्ध हैं। खिड़कीसे अंदर सूर्यकी रोशनी आती है तो उसमें लाखों छोटे-छोटे कण उड़ते नजर आयेंगे। वैसे भगवानके रोमकूपमें करोड़ों ब्रह्माण्ड उड़ते नजर आयेंगे। इसलिये कहा जाता है कि भगवानके रोम-रोममें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड लटके हुए हैं। ये सभी ब्रह्माण्ड भगवदाश्रित हैं। उसीको लेकर यहां बताया "तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे" ।

सूक्ष्मरूपसे किसप्रकार रहते हैं यह यशोदामाताको विश्वरूप दिखानेके दोनों प्रसङ्गोंमें देखा जा सकता हैं। वहां आया—

"पीतप्रायस्य जननी सा वीक्ष्य रुचिरस्मितम् ।
मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशे इदम् ॥"

यशोदामाता अपना दूध कन्हैयाको पिला रही थी। प्रायः पी चुके तभी पिलाना छुड़ा दिया। क्योंकि माताको भय होता था कि कहीं बदहजमी न हो जाय। द्वापर युगकी मातायें थीं। स्तनोंमें दूध तो भरे घड़ेके समान उछलता था। गायकाभी ज्यादा दूध बछड़ोंको पीने नहीं दिया जाता। दूध पीना छुड़ाकर लाड़ करना शुरु किया तो अल्पनिद्रासे जमुहाई लेने लगे कन्हैया। यशोदा माताने देखा, घबरा सी जा रही है। क्या है इसके मुंहमें सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र, सागरादि। माताने तो आंख ही मूंद ली। विश्वको अपने मुखमें दिखाया। किन्तु विश्व बाहर था। मुंहमें कैसे देखा? यदि ऐसा होता तो बालकरूप क्यों दीखता? अर्जुनके सामने चतुर्भुज रूप गायब हो गया था तभी तो "किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुं" ऐसी प्रार्थना करनी पड़ी। 'स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः' यह उत्तर भी इसीसे

संगत है। बात यह है कि भगवानने अपने अंदर विद्यमान सूक्ष्म रूप माताको दिखाया। फिल्ममें सूक्ष्मरूप रहता है पड़दे पर वह स्थूल हो जाता है। वैसे श्रीकृष्णमें जगत् सूक्ष्मरूपसे रहता है। बाहर स्थूलरूप हो जाता है।

भगवानने कौरवसभामें विश्वरूप दिखाया। क्योंकि दुर्योधन भगवानको बांधनेका हुकम दे रहा था। अर्जुनको दिखाया क्योंकि अर्जुन जिज्ञासु था।

"मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥"

ऐसी प्रार्थना भी की गयी थी। ये सब प्रसंग है। परंतु बिना प्रसंग ही यशोदामाताको कैसे दिखाया? इसपर धनपति हरिसूरि कहते हैं कि मां घबरा रही थी. दूध पीनेसे बदहजमी होगी। कन्हैया कहते हैं कि मां–

"विश्वं विभागि तव दुग्धकणंस्य मातः"

मेरे मुंहमें सारा विश्व है। सबलोग बांटकर दूधके कण पीयेंगे। कैसे बदहजमी होगी? दूसरी बात यह भी है कि भगवान समझकर भगवत्सेवा अधिक फलद है।

द्वितीयरूप भगवानका सूत्रात्मा है। उसमें भी सारा विश्व आश्रित है। बृहदारण्यक उद्दालक आरुणिने याज्ञवल्क्यसे सूत्रके बारेमें प्रश्न किया था। एवं अन्तर्यामीके बारेमें भी। प्रथम सूत्रके बारेमें कहा–

"स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्
वायुना वै गौतम सूत्रेणायं लोकः ।
परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति ॥"

समष्टिलिङ्गशरीर जो सर्वकर्मसमवायी है। वही वस्तु है। वायूपहित चैतन्य ही सूत्र है। उसीको हिरंण्यगर्भ कहते हैं। उसीमें समस्त जगत् आश्रित हैं संदृब्ध है। समस्त भूततन्मात्र हिरण्यगर्भोपाधि सूक्ष्मशरीरमें स्थित है। उसीसे सभी लोक बने हैं। घट जैसे अपने सूक्ष्मरूपमें स्थित है वैसे मृत्तिकामें भी स्थित है। वैसे विराडुपाधिके सूक्ष्मरूपमें भी विश्व स्थित है और उसके कारण सूक्ष्म तन्मात्राओंमें भी स्थित है। अतएव सूक्ष्मभूत-संदृब्ध होनेसे सूत्रसंदृब्ध ही माना जाता है। इसे भाष्यकारने कर्म-वासनासमवायी भी बताया है। तब तो नितरां सूत्र है। "स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः" ऐसा कहा जाता है। वासनासे स्मृतिजनक संस्कारमात्र ग्राह्य है।

न कि अव्याकृतावस्थारूपी वासना। क्योंकि वह सूक्ष्मशरीर न होकर कारणशरीर होगा।

भगवानका तृतीय रूप अन्तर्यामी है। जो सबके अंदर रहकर सबका नियमन करता है वही अन्तर्यामी है। वही ईश्वर है। "एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः अस्मादीश्वरादात्मनोऽन्यदार्तं" ऐसा भाष्य है। ईश्वर मायाविशिष्ट चेतनको कहते हैं। माया कहते हैं सर्ववासनामयी शक्तिको। जैसे बीजमें अंकुरोत्पादक शक्ति है उसमें अंकुरका सूक्ष्मरूपभी है। वैसे मायामें जगदुत्पादन शक्ति है और सूक्ष्मरूपसे जगत् भी है। इसीको अव्याकृत बोलते हैं। उससे विशिष्ट चैतन्य ईश्वर है। वही अन्तर्यामी है।

"यं पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद
यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥"

चैतन्य सर्वविवर्तकारण होनेसे पृथिवी आदिमें स्थित है। ऊपर ही ऊपर नहीं। पृथिवीके अंदर। उसे अल्पोपाधि-अवच्छिन्न पृथिवी देवता नहीं जानता। पृथिवी उसका बाह्य शरीर है। जो पृथिवीके अंदर रहकर नियमन करता है।

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥"

"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादि विशेषणविशिष्ट वह अन्तर्यामी है। यद्यपि द्वैतवादी इससे आगे किसीको नहीं मानते। किन्तु ऐसा होता तो अगले वाचक्नवीका प्रश्न न होता। और द्रष्टा तब होगा जब दृश्य हो। बीचमें दर्शन हो तब त्रिपुटीका होना आवश्यक हो गया। "अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्"। इस सूत्रमें उद्देश्य लक्ष्यार्थविवक्षासे अन्तर्यामीको ब्रह्म बताया।

उस अन्तर्यामी ईश्वरमें समस्त जगत् आश्रित है। अव्याकृतसे ही व्याकृत पैदा होता है। बीजमें बीजशक्ति न हो, बीजभर्जित हो तो अंकुर नहीं निकलता। अतः अव्याकृत शक्ति समस्त जगत्का आश्रय है।

लोक शब्दके तीन अर्थ हैं। लोकान्ते दृश्यन्त इति लोकाः। जो दृष्टिगोचर हों वे लोक हैं। तदभिन्न होनेसे जगत् भी लोक हैं। तीसरा अर्थ है लोक्यन्तेऽत्रेति लोकाः। ईश्वरमें ही सब दीखते हैं। उस ईश्वरसे अभिन्न

होनेसे लोक कहलाये। साक्षादाश्रित प्रथम विग्रह में है। द्वितीयमें सूक्ष्मशरीर द्वारा संबद्ध होनेसे लोक हुए। तीसरेमें दृष्टामें कल्पित होनेसे लोक हुए।

चतुर्थ तुरीयतत्त्व हैं। ईश्वरका वह निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप है। पूर्वोक्त तीन तत्पदका वाच्यार्थ है और यह तुरीय लक्ष्यार्थ है। लक्ष्यार्थका निरूपण अन्तिम पादमें होगा। मध्यमणिन्यायसे तद्ब्रह्म तदमृतं यो दोनों तत्पद त्वंपद दोनोंके लिये समान है या असिपदार्थ है। लोकाश्रयविशिष्ट कहनेपर कुछ मालिन्य मालूम पड़ेगा। आश्रयाश्रयि भावसे पृथक् करनेपर उसके कारण उपाधिसे पृथक् हो जायेगा। उसी स्वरूपका वर्णन अन्तिम पादमें होगा। और जीवाभेद होनेपर ब्रह्म होगा और अमृत होगा। और यह भी बात है कि वही ब्रह्म अपरिच्छिन्न क्यों जब कि नानालोक परिच्छेदक है? इसकाभी उत्तर कहना था।

उपाधिपरित्यागसे ही ऐक्य होता है। साधारण वेदान्तश्रोता यही कहते हैं कि जीव ही ईश्वर है। जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता। घटाकाश गृहाकाश नहीं बन सकता। फिर भी अभिन्न है। नहीं बन सकता फिर भी अभिन्न कैसे? जीव ईश्वर नहीं बन सकता फिर भी अभिन्न है। कैसे? जीव कहनेपर अविद्याविशिष्ट चैतन्य आता है। ईश्वर कहनेपर मायाविशिष्ट चैतन्य आता है। अविद्या और माया एक बने तो जीव ईश्वर बन सकता है। क्या घट गृह बन सकता है? कीड़े मच्छर आदिका भले वह घर बन जाय, पर आपका घर वह नहीं बन सकता। तब घटाकाश गृहाकाश भी नहीं बन सकता। अभिन्न किस बातको लेकर? घट उपाधि और गृह उपाधि छोड़नेपर आकाश एक है अभिन्न है।

जीव ईश्वर कभी नहीं बन सकता। और ईश्वर जीव भी नहीं बन सकता। यह भी मान्य है चींटी यदि हाथी नहीं बन सकती तो क्या हाथी चींटी बन जायेगा? भगवान् अवतार लेकर जीवका नाट्य मात्र करता है। जीव नहीं बनता। ईश्वरकी उपाधि अविद्या है, नहीं तो क्यों वह जीव बनेगा? इसलिये कहा—

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥"

देही जीव जैसा दीखता है। लीलामानुषविग्रहः कपटमानुषः इत्यादि प्रयोग भागवतादिमें कई बार आया है। यह भगवान् कपटसे अपनेको जीव दिखाते थे। इसीलिये कभी-कभी विशेष मायाका प्रयोग करना पड़ता था। मृद्भक्षणप्रसङ्गमें विश्वरूप देखनेपर यशोदामाताको मालूम पड़ गया कि यह भगवान् है। तब तुरत कृष्णने माया फैलाकर दबा दिया।

"इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः॥"

ऐसा भागवतमें कहा है। माया कैसी थी—पुत्रस्नेहमयी। मायासे पुत्र स्नेहको जगाया तो ईश्वरभावको वे भूल गयी। नामकरणप्रसङ्गमें भी कपट करना पड़ा। गर्गाचार्य नामकरण कर रहे थे। वासुदेव नामको तो जैसे-तैसे जोड़ दिया—

प्रागयं वासुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः संप्रचक्षते॥"

नरो वा कुञ्जरो वा के समान कह दिया। पहले ये कहीं वसुदेवके पुत्र हुए। अतः वासुदेव नाम है। पहले यह तो ठीक है। शतवर्ष पहले या तीन चार महीना पहले? दोनों अर्थ निकल सकता है। झूठ नहीं है। हाँ, नन्दरायने समझा पूर्व जन्ममें क्वचिज्जातः कह दिया। कहां जात? मथरामें नहीं बोल सकते। अतः क्वचित् कहा था। नारायण नाम बताना था। कहना था—

"तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायण इहागतः।"

भगवान् मूडी नीचे किये या नंदरायकी ओर दृष्टि किये हुए थे। नारायण इतना बोलते ही गंगाचार्यकी ओर तीखी नजरसे देखा—हाय, पोल अभी मत खोलो। इतनेमें ण अक्षर निकल गया तब बदलकर शेषपूरण समसे किया। बोले—

"तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः।"

इसप्रकार कई बार कपट करना पड़ा है। भगवान् जीवात्मा नहीं बन सकते। कपटमानुष बनना पड़ता है। वैसे जीवात्मा भगवान् नहीं बन सकता। बने तो कपटमानुषके समान.........(कपट भगवान् बनेगा) इसलिये गीतामें ईश्वरोऽहमहं भोगी इत्यादि आसुरभाव बताया गया।

जीव भी ब्रह्म हो सकता है। ईश्वर भी ब्रंह्म हो सकता है। क्योंकि ब्रह्म ही अविद्योपाधिसे जीव हुआ और वही मायोपाधिसे ईश्वर हुआ। उपाधि- त्याग होनेपर एकमात्र ब्रह्म अवशिष्ट होता है। जैसे घटाकाश गृहाकाश नहीं हो सकता। गृहाकाश घटाकाश नहीं हो सकता। हां, घटाकाश आकाश हो सकता है। गृहाकाश भी आकाश हो सकता है। क्योंकि आकाश ही उपाधिसे दो बने। महाकाश नहीं बोलना। क्योंकि महत्त्व अल्पत्वसापेक्ष होता है। वैसे यहां चैतन्यकी एकता है। अर्थात् लक्ष्यार्थकी एकता है, वाच्यार्थकी नहीं। लक्ष्यार्थमें भागत्याग होगा— उपाधित्याग होगा। कैसे?

"मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥"

प्रथम पादमें अन्तःकरण भागत्याग। द्वितीय पादमें इन्द्रियरूप भाग- त्याग। तृतीयमें पञ्चभूतजन्यशरीरात्मक भाग त्याग है। अन्तमें शिव अर्थात् तुरीयतत्त्व अवशिष्ट रहता है।

य एष............तदु नात्येति कश्चन। मध्यमणिन्यायसे "तद्ब्रह्म तदेवामृतं" इन दोनोंका स्वरूपतया और फलतया अन्वय हो जायेगा। तदेव शुक्रं यह त्वं पद लक्ष्यार्थ हो जायेगा। तत्पदलक्ष्यार्थका पृथक्निर्देशका संप्रदाय है। तब दोनोंकी एकता बतायी जाती है। अतः तत्पदका लक्ष्यार्थ अन्तिम पादमें कहते हैं। यद्यपि त्वं पदलक्ष्यार्थ तथा तत्पदलक्ष्यार्थ एक ही है। तथापि शक्यसम्बन्ध पृथक्-पृथक् होनेसे निर्देश पृथक् पृथक् होता है। अतः "तदुनात्येति कश्चन" से लक्ष्यार्थको व्यक्त किया। अत्येतिका अर्थ है— अतिक्रमण करना। लांघ जाना। पारकर आगे बढ़ना। यह परिच्छिन्न पदार्थोंमें ही संभव है। अपरिच्छिन्नमें नहीं। लक्ष्यार्थ अपरिच्छिन्न है। अतः उसका इस वाक्यसे निर्देश उचित ही है।

ब्रह्मका निरूपण करते हुए श्रुतिने कहा—स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्य- तिष्ठद्दशाङ्गुलम्। वह पूर्ण पुरुष समस्त भूमिको-भूतवस्तुको व्याप्त कर दस अंगुल आगे तक अतिक्रमण करके रहा। इसप्रकार उस पुरुषको भी अतिक्रमम करनेवाला कोई हो, शेरका सवासेर कोई हो, इसका उत्तर है— नहीं, कोई अतिक्रम नहीं करता। वह अनतिक्रम्य है। इस ब्रह्मकी तो क्या

बात, उसके प्रथम साकार स्वरूपका भी अतिक्रमण नहीं होता और न स्पर्श होता है।

भागवतमें कथा आती है कि प्रथम वह निष्कल परब्रह्म परमात्मा नारायणके रूपमें साकार हुआ। नारायणके नाभिकमलमें ब्रह्मा प्रकट हुए। ब्रह्माजीने आंख खोलकर देखा तो चारों ओर शून्य-शून्य नजर आया। स्वयंको एक कमलमें पाया। तब विचार उठा कि यह कमल कहांसे पैदा हुआ? यह कमल क्या चीज है? मुझे क्या करता है। क्योंकि ब्रह्मा आधिकारिक पुरुष है। अधिकारानुरूप प्रकट होकर यावदधिकार रहेंगे और कार्य करेंगे। ब्रह्मा, देवता, वसिष्ठादि ऋषि ये सब अधिकारिक पुरुष हैं। इनका अधिकार हमारे प्रारब्धके समान है। तदनुसार उनके कर्मादि एवं स्थिति है।

"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्।"

इसप्रकार व्यासजीका कथन है। अतएव अधिकारानुरूप प्रकट हुआ। ब्रह्माजीके मनमें विचार आया कि मेरा कर्तव्य क्या है। कहांसे मैं पैदा हुआ हूं यह पता लगानेके लिये उस कमल नालसे नीचेकी ओर उतरे। हजार दिव्यवर्ष पर्यन्त वे नीचे उतरते चले गये। पितरोंका दिवस हमारा मास है। शुक्ल पक्ष दिन है। कृष्णपक्ष रात है। देवताओंका दिवस हमारा वर्ष है। उत्तरायण दिन है। दक्षिणायन रात है। सीधा कहना हो तो देवोंका एक वर्ष हमारा तीन सौ साठ वर्ष है। एक हजार वर्षका मतलब है तीन लाख साठ हजार वर्ष। पांच हजार वर्ष उतरते गये ऐसा कहीं पर कहा है। तब फिर अठारहलाख वर्ष हो जायेंगे। किन्तु मूलका पता न लगा। ब्रह्माजी संशयमें पड़ें कि मूल है या नहीं। इतनेमें आवाज आयी तप तप। तब वहांसे वापिस आकर तप करने लगे। वापिस आनेमें भी अठारह लाख वर्ष लगे होंगे। बल्कि उतरनेमें कम समय लगता है, चढ़नेमें अधिक हो। तो तप करनेसे उसके फलस्वरूप नारायण प्रकट हुए। तब नारायणका चरण स्पर्श हुआ। तात्पर्य यह कि साकारका भी स्पर्शमात्र भी सामान्यतया दुष्कर है। तो अतिक्रमण तिसपर भी निराकारका अतिक्रमण तो कल्पनातीत बात है। तपश्चर्याकी विशेषता यह है कि उससे दुर्दर्श सुदर्श तथा दुःस्पर्श हो जाता है।

'तपो मे हृदयं साक्षादात्माऽहं तपसोऽनघ
सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः।'

भगवानका हृदय तप है। तपका हृदय भगवान् है। तपसे विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार परमेश्वर करता है। उससे अपरिच्छिन्न भी परिच्छिन्न-वत् होता है। यह वैष्णव महिमा है।

शैव इसी प्रकार महिमाको अपने ढंगसे उपस्थित करते हैं। ब्रह्मा और विष्णुके विवादमें भगवान् शंकर ज्योतिर्लिङ्गके रूपमें मध्यमें प्रकट हुए थे। विष्णुने ब्रह्माको कहा तुम इसके अन्तका पता लगाओ। मैं आदिका पता लगाता हूं जो जल्दी पता लगावे वह श्रेष्ठ होगा। दोनों सहमत हो गये। विष्णु वराहरूपसे नीचेकी ओर गये। ब्रह्मा हंसारूढ़ होकर ऊपरकी ओर गये। सहस्रपरिवत्सरतक नीचे और ऊपर जाने पर भी दोनोंको आदि अन्तका पता न लगा।

'तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः।
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्,
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥'

ऐश्वर्यका धनसंपादन अर्थ नहीं किन्तु ईश्वरभाव अर्थ है। उसका परिच्छेद करने-नापने ऊपर ब्रह्मा और नीचे विष्णु गये किन्तु ज्योतिर्लिङ्गरूपी आपके आदि और अन्तका पता लगानेमें वे अनलं=असफल हुए। जैसे तप करनेसे ब्रह्मा को नारायणदर्शन हुआ वैसे भक्ति और श्रद्धासे स्तुति करनेसे शंकर भी छोटारूप धारण कर दोनोंके संमुख उपस्थित हुए। वराहका अर्थ है यज्ञादि उत्तम कर्म। उससे आदिका पता लगाने गयें। किन्तु परम्परा अनादि है और ईशाधिष्ठित है। उसके आदिका पता कैसे लगता। हंसका विवेक अर्थ है। उससे अन्तका संसारके अन्तका पता लगाने निकले। लेकिन आदि नहीं तो अन्त कहां हो-'नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' बताया है। हंसरूपी विवेक तो संसारान्तःपाती है। परंहंसरूपी साक्षात्कार ही संसारका बाधात्माक अन्त ला सकता है। अतः उसके अभावमें ब्रह्मा भी विफल हो गये। भक्ति से परिच्छिन्न रूपका दर्शन हुआ।

ज्योतिर्लिङ्गका सूर्यादि ज्योति अर्थ नहीं, किन्तु "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः" ज्ञानज्योति विवक्षित है। इस प्रकार साकार परमात्माका अतिक्रमण ब्रह्मा-विष्णु आदिके लिये भी अशक्य है तो एक ही शब्द में यही कहना होगा-"तदुनात्येति कश्चन"।

"अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयोः"

परमेश्वरकी महिमा वाणी और मनके मार्ग से परे है। श्रीरामकृष्णपरमहंस एक दृष्टान्तसे समझाया करते थे। समुद्रकी गहराई का पता लगाते हुए पार होने के लिये एक पुतली निकली। कौनसी पुतली? नमक की पुतली। अब समझ लो कि वहां समुद्र की गहराई एवं पारका पता लगाकर कब लौटेगी? जो ब्रह्मका अतिलंघन करने ब्रह्मतक पहुंचा, वह फिर वापिस आया नहीं। "यद्गत्वा न निवर्तन्ते"।

प्रश्न यह है कि "तदु नात्येति कश्चन" यह कोई बड़ी विशिष्ट बात नहीं हो सकती। संसारका भी अतिलंघन कौन कर सकता है? इस आकाशका आदि कहांसे है और अन्त कहां है? क्या कोई मनुष्य, देवता, पितर गन्धर्वादि इसका पता लगा सकते हैं? मनुष्य तो नहीं लगा सकता। प्रकाशकी गति से भी कोई ऊपरकी ओर जाये तो क्या ब्रह्माण्डको पार कर पायेंगे? प्रकाशकी गति है एक सैंकडमें एक लाख छयासी हजार माईल। इस गतिसे आकाशगंगासे जो प्रकाश निकला है उनमें समीपतमको यहां पहुंचनेमें कई वर्ष लगते हैं। अन्तिम कई ऐसे जो तारे हैं उसके यहां पहुंचनेमें कई हजार वर्ष लगते हैं। अन्तिम तारे के प्रकाशको यहां पहुंचनेमें ढाई अरब वर्ष लगते हैं। एक तो हम एक सैकंड में पौने दो लाख माईल की गतिसे चल नहीं सकते। फिर चलें तो भी सौ वर्षमें मर जायेंगे। ढाई अरब वर्ष कहांसे जियेंगे? देवता गन्धर्वादिकी गति कुछ ज्यादा समझ लो फिर भी आकाशगंगा एक ही नहीं है। ऐसे करोड़ों आकाशगंगायें खुले आकाशमें है। परिच्छिन्न कोई भी इनका पार नहीं पा सकते। तो इसीको लेकर ईश्वरमें क्या विशेषता हुई? इसका एक प्रथम उत्तर यह है कि अत्येति का अतिशयेन एति गच्छति प्राप्नोति यह भी एक अर्थ है। अर्थात् उस परमात्माको कोई वस्तु प्राणी सम्यक् स्पर्श नहीं कर सकता। क्योंकि वह असंग है। संयोग रहित है। गति गच्छति का अर्थ

है-संयोगानुकूल व्यापर। कोई भी अनात्मपदार्थ उसको छू नहीं सकता। अर्थात् वह सर्वसङ्ग सर्वमलरहित अप्राप्य अपरिच्छिन्न है। इतने से ही तत्पदलक्ष्यार्थ लाभ होगा। तत्पदका लक्ष्यार्थ शुद्ध चैतन्य है।

दूसरा समाधान यह है कि आकाशादि अनत्ययनीय नहीं है। उनका भी अत्यय-अतिक्रमण हो सकता है। उदाहरण के लिये स्वप्नपर थोड़ा विचार करें। सपनेमें हमने हाथी, घोड़ा आदि देखा, नगर, नगरियां, वन, पर्वतादि देखे। पृथिवी, जल, तेज आदि देखा, आकाश भी देखा। जब आकाश देखा जा रहा था तो उस समय आप आश्चर्य से कहने लगे कि देखो यह कैसा आकाश है? कहांसे प्रारंभ होता है और कहां तक जाता है। कितने भी ऊपर जाओ उससे ऊपर भी आकाश है। आकाश अनादि अनन्त है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड इस आकाशमें हैं। तब किसी ने कहा कि इसका भी पार मिल सकता है। किन्तु अपने डटकर मुकाबिला किया। जहां तुम आकाश की समाप्ति मानते हो उससे आगे क्या ठोस पदार्थ है? यदि ठोस पदार्थ है तो कितने दूर तक? उसके बाद क्या? तर्क करते जग गये तो उस समय कुछ नहीं था। उस बातको बादमें भले भूल जाओ किन्तु विचारक उस पर विचार करता है। सपनेमें अनत्ययनीय-अनादि अनन्त आकाश दीखा। दीखा है तो उसका अस्तित्व भी मानना होगा। क्योंकि असद्वस्तुका भान नहीं होता। असद्वस्तु का भान बौद्धोंके सिद्धान्तमें है। वे तो जाग्रतमें भी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं मानते। वे शून्यवादी हैं। इसके विपरीत द्वैतवादी जाग्रतको भी सत्य मानते हैं और सपने को भी। वेदान्तशास्त्र न्यायवादी है। उचित सत्ता सबकी स्वीकार करता है। परमात्माकी परमार्थिक सत्ता है। जाग्रत्पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता है। स्वप्नपदार्थोंकी प्रतिभासिक सत्ता है। पूरे जगत् के प्रति वेदान्त ही न्याय करता है। काशीमें एक संत थे। वे कहते थे सभी पण्डित मूर्ख हैं। ग्रन्थका रहस्य किसी को नहीं आता काशीमें सभी जानते हैं, बड़े बड़े धुरंधर पण्डित रहते हैं। हो सकता है कि किसी किसीमें कुछ न्यूनता भी हो। लेकिन ये सबकी गलती निकाला करें सबको मूर्ख कहकर। विद्यार्थी मूर्ख, पण्डित मूर्ख सर्वं वै मूर्खमण्डलम्। क्या यह उचित है? विचार करो। दूसरी ओर विलेपारलेमें एक संत थे। वे बोलते ये महामण्डलेश्वर महेश्वरा-

नन्दजी महाराजकी अपार महिमा समग्र वेदशास्त्रके पण्डित, योगी हैं, भूत भविष्य सब जानते हैं। उसके बाद दूसरोंका भी ऐसा हि परिचयं देते थे। फिर एक अतिसाधारण विद्यार्थी था। उसको भी बोलते थे महा महिमा महातेजस्वी संपूर्ण वेदशास्त्र इनकी जिह्वापर। भूत भविष्य सब कुछ ये जानते हैं। यह सुनकर सब मूड़ी नीची कर हंसने लगते थे। क्योंकि सबको मालूम था यह महामूढ़ है। तेजस्वी क्या काला कलुटा मुख उसको देखकर ही लोग हंसने लगते थे। उसको ये कहते थे महातेजस्वी है। प्रश्न यहां पर भी यही उठता है कि ऐसा कहना उचित हैं? कुछ अतिउदार-वादी इसे ठीक कह सकते थे। किन्तु शास्त्रकार कहते हैं-

"समासमाभ्यां विषमसमे पूजायाम्"

समोंमें विषमता करना यदि अनुचित है तो विषमोंमें समता करना भी अनुचित है। वह प्रकारान्तरसे महानोंकी अवगणना है। योग्यता के अनुरूप ही सब कुछ होना चाहिये। एक महात्माको और मातापिताको हार पहनाकर प्रणाम किया। पासमें एक गधा खड़ा था उसको भी हार पहनाकर प्रणाम किया। क्या यह ठीक किया? इसमें महात्माके समान गधे को माना या गधे के समान महात्माको माना? क्या स्वीकार करना चाहिये? यदि कहें कि महात्माके समान गधेको (महात्मा) समझा तो ऐसा क्यों नहीं कि गधेके समान महात्माको और मातापितको समझा। यदि कहें के ऐसा हमने अपने मनमें भावना नहीं कि तो पूछेंगे करनेमें क्या हर्जा? यदि गधे के समान मातापिता नहीं तो इसका मतलब आपके अंदर विषमता है। क्योंकि गधेके समान माता-पिता, गुरु नहीं। तो गुरु मातापिताके समान गधा भी नहीं है। "पण्डिताः समदर्शिनः" यह ब्रह्म-साक्षात्कारियोंकी बात है। अतः न्याय यही है कि योग्यतानुसार करो। अनादि अनन्त वाचामगोचर परमात्माकी परमार्थसत्ता है। क्षणभंगुर जगत् की व्यवहार सत्ता है। स्वप्नजगत की प्रतिभाससत्ता है। न तो सर्वशून्यवाद उचित है और न सर्वसत्यतावाद ही उचित है। दोनों ही वस्तुओं के साथ अन्याय करना है।

हमने स्वप्नपदार्थोंकी प्रतिभाससत्ता स्वीकार की। न शून्यता और न सत्यता है। स्वप्नसमयमें हमने उसे अनत्यनीय अनादि अनन्त समझा।

किन्तु जगनेपर मालूम पड़ा। क्या? वह तो सिर्फ कण्ठमें ही था। जाग्रत आंखोंमें है। स्वप्न कण्ठमें है या मनमें है। सर्वथापि–

"बहिष्प्रज्ञो भवेद्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः"

यह बात निश्चित है। तब अंदर जो आकाश प्रातिभासिक पैदा हुआ वह अनादि अनन्त तो नहीं ही हो सकता। देशतः भी कालतः भी। सपनेमें देख रहे थे कि यह अनादि कालसे है। यदि उत्पन्न हुआ हो तो उत्पन्न होनेसे पहले यहां क्या था? ठोस? यह नहीं हो सकता। यही बात नाशोत्तर भी है। परंतु उठनेपर मालूम पड़ा कि वह आकाश स्वप्नकालसीमित है।

इस दृष्टान्तसे अब जाग्रत के आकाशको भी समझ सकते हैं। इस समय यह देश से भी अनादि अनन्त और कालसे भी अनादि अनन्त लगेगा। परंतु यह जाग्रत भी एक दीर्घ स्वप्न ही है। प्रतिदिन ह्रस्व स्वप्न हम देखते हैं। यह दीर्घस्वप्न चल रहा है। इसीलिये वसिष्ठजी ने कहा–

"दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ।
दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन ॥"

दीर्घस्वप्नका अर्थ है-दीर्घ होनेसे व्यावहारिक है, स्वप्न होनेसे अपारमार्थिक है। किसका यह दीर्घस्वप्न है, आपका या हमारा? सबका, समष्टिका। यह जागरण स्वप्नोपम ही है। इसलिये श्रुति कह रही है-

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"

यदि हम सपनेमें न होते तो जाग्रत क्यों कहते? "जागृ निद्राक्षये" ऐसा महर्षि पाणिनिका कहना है। यह समष्टि अज्ञान ही निद्रा है। उससे निर्मित पदार्थ परस्पर व्यावहारयोग्य होते हैं। क्योंकि समष्टि निर्मित हैं। प्रतिदिन रातमें जो पदार्थ दीखते हैं वे व्यष्टिनिर्मित हैं। अतएव एकका स्वाप्नपदार्थ दूसरे को नहीं दीखता। जाग्रत पदार्थ समष्टिनिर्मित है। अतः उनसे परस्पर व्यवहार चलते हैं। किन्तु जब प्रबोध होता है-ब्रह्मसाक्षात्कार होता है तो समस्त जगत् बाधित होता है। उस समय एकमात्र ब्रह्म अवशिष्ट रहता है। तब आकाश भी बाधित होगा। उस समय लगेगा कि आकाश कैसा था? आदि अनन्त रहित था क्या? अनत्ययनीय था क्या? उस समय अनुभव होगा-"पादोऽस्य विश्वाभूतानि"। ये आकाश आदि सभी परमार्थसत्तारहित हैं। जैसे स्वप्न आकाश मनमें स्थित था वैसे जाग्रत आकाशादि

समष्टि मनमें स्थित था। व्यष्टि मन और समष्टि मन कौन? व्यष्टि मन हमारे अंदर जो है वही। समष्टि मन माया ही है। समष्टि चैतन्य ईश्वरकी उपाधि माया मानी गयी है। परिच्छिन्न होनेपर भी उसमें अनादि अनन्त आकाशादि प्रतिभासित होते हैं। जैसे स्वाप्न आकाश अनत्ययनीय प्रतीत होने पर भी मनने ही उसको अपने अंदर दबोच रखा था वैसे जाग्रत आकाश अनत्ययनीय प्रतीति होने पर भी माया ने उसे दबोच रखा है। उस मायाका अतिक्रमण करनेवाला ब्रह्म है। "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्"। सर्वातिक्रमणकारी ब्रह्मका अतिक्रमण भला कौन कर सकेगा? अतः श्रुति कह रही हैं "तदु नात्येति कश्चन।" जो सबके सोनेपर जाग्रत रहता है और हरेक विषयका निर्माण करता है वही शुद्ध है। वही ब्रह्म है। वही अमृत कहलाता है। उसमें सभी लोक आश्रित हैं। उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। यह तत्पदका लक्ष्यार्थ है। "तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे" यह तत्पदका वाच्यार्थ बताया गया। त्वंपदका लक्ष्यार्थ-"तदेव शुक्रं" है। संभावित शरीरादिमालिन्यरहित है। तत्पदका लक्ष्यार्थ "तदु नात्येति कश्चन" किसीसे वह परिच्छिन्न नहीं है। दोनोंका अभेद "ब्रह्म" से कहा गया। उसका फल "तदेवामृतं" से कहा गया।

एतद्वैतत्। यही वह परमार्थ तत्त्व है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

एक ही अग्नि समस्त भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपका प्रतिरूप बनी। अर्थात् उपाधि समानाकार हुई। वैसे एक ही सर्व भूतोंका अन्तरात्मा प्रत्येक रूपका प्रतिरूप बना फिर भी सबसे न्यारा ही रहा॥

प्रत्यक्षतया ब्रह्मनिर्देश करते हुए यमराजने पूर्व मन्त्रमें जीवात्मा और परमात्माकी एकता बतायी। अर्थात् तत्त्वं पद का वाच्यार्थकथनपूर्वक लक्ष्यार्थकथन कर दोनों की एकता बतायी। एकता बतानेसे त्वंपदार्थकी अपरोक्षता तत्पदार्थमें और तत्पदार्थ की व्यापकता त्वंपदार्थमें अवगत हो गयी। फलतः व्यापक अपरिच्छिन्न चैतन्य अपरोक्षरूपसे भासित हो गया। इस बातको इस प्रकार समझिये कि परमात्माको परोक्ष समझ रहे थे और जीवात्माको परिच्छिन्न। जीवात्मा ही परमात्मा कहनेसे जीवात्मामें

अपरोक्षता सिद्ध होनेसें परमात्मामें अपरोक्षता सिद्ध होती है। परमात्मा घट-घट वासी है, अणु-अणुमें रहता है यह प्रसिद्ध है। परमात्मासे अभिन्न जीवात्मा कहनेपर जीवात्मामें अपरिच्छिन्नताका बोध होता है। अतएव 'तदेव त्वं त्वमेव तत्' इस प्रकार परस्पर विशेष्यविशेषण भाव विवक्षित है। वही तू है। तू ही वह है।

'प्रत्यग् बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः।
इत्थमन्योन्यतादात्म्य-प्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ॥
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि।
तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः श्रृणु
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते॥

इस प्रकार आचार्योने वाक्यवृत्तिमें भी बताया है। काशी की बात है। हमारे जो गुरुजी थे उन्होंने एक सेठसे दिल्ली में बड़ी प्रशंसा की। हमारे आश्रममें एक बहुत बड़े विद्वान् सर्वशास्त्रके पण्डित हैं। वह दर्शन करने काशी में आया। उसने आश्रममें आकर मेरे से ही पूछा स्वामी काशिकानन्द कहां है? उससे पहले दिन वहां पासमें पुलिस इन्स्पेक्टर आया था झगड़ा निपटाने। हम लोगोंसे भी पूछताछ करने लगा था। मैंने समझा उसके ऊपरका कोई अफसर आया होगा मैंने कह—इधर-उधर कहीं है। उसने डांटकर कहा—मूढ, बताता क्यों नहीं बराबर? मैंने कहा-देखता हूं। यह कहकर वहांसे खसक गया। आधे घंटेके बाद गुरुजीने बुलाया। मैं ऊपर गया तो वह सेठ बैठा था। उससे गुरुजीने कहा यही है स्वामी काशिकानन्द। वह बड़ शर्मिंदासा हुआ। चरणोंमें प्रणाम किया। बादमें बड़ी बड़ी माफी मांगी। पहले वह काशिकानन्दको परोक्ष समझ रहा था और जो प्रत्यक्ष था उसे काशिकानन्दसे भिन्न और मूढ़ समझता था। किन्तु जब गुरुजीने कहा यही काशिकानन्दजी है। तब 'यही' शब्दसे परोक्षता निवृत्त हो गयी। काशिकानन्दजी कहनेसे मूढ़ता निवृत्त हो गयी। क्योंकि वहां प्रत्यक्षता हो रही थी, विद्वत्ता ज्ञात थी। दोनों एक हो गये। इसी प्रकार परमात्मामें परोक्षता लग रही थी। किन्तु व्यापकता मालूम थी। त्वंपदार्थमें प्रत्यक्षता तो है ही, परिच्छिन्नता लग रही थी। तत्त्वमसि कहनेसे

परिच्छिन्नता और परोक्षता निकल गयी और व्यापक अपरोक्ष आनन्दानुभूति होने लगी। इस प्रकार यमराजने प्रत्यक्ष ब्रह्म दर्शन कराया।

यह प्रथमोपासनामात्र है। जीवात्मपरमात्मैक्यबोधसे व्यापक आत्मा-परोक्षबोध होनेपर पूर्णता नहीं आती। ब्रह्मका भूमा या पूर्ण अर्थ है। पूर्णता तभी संभव है जब सकल आत्मभेद की निवृत्ति हो। जगत् को कथंचित् अध्यास मान भी लो फिर भी जीवान्तर तो अध्यस्त नहीं है, मिथ्या नहीं है। जीवान्तरको तुम मिथ्या कहोगे तो वही जीवान्तर तुमको मिथ्या कहेगा। क्या विनिगमना है? अतः पूर्ण ब्रह्मबोधार्थ सकलात्मैक्य कहना भी आवश्यक है। तदर्थ यह, प्रस्तुत मन्त्र यमराज नचिकेताको कहते हैं। इस मन्त्रमें एकात्मवादका प्रतिपादन है।

एकात्मवाद तो केवल अद्वैतसिद्धान्तवाले ही मानते हैं। पूरे द्वैतवादी ही क्या आस्तिक नास्तिक सभी एकात्मवादके विरोधी हैं। सांख्यशास्त्रमें एक कारिका लिखी गयी जिसे रामानुजाचार्य आदि सबने शब्दशः और अर्थशः स्वीकारा। श्लोक इस प्रकार है-

"जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥"

खण्डनमण्डनवालोंको तर्क बड़ा प्रिय लगता है। तर्कप्रिय हो तो ठीक है। किन्तु लोग तर्काभासके सामने ही आत्मसमर्पण करने लगते हैं। इस श्लोककी व्याख्यासे पूर्व लोगोंकी मानसिकताका एक उदाहरण प्रस्तुत करूंगा। मरीनड्राईव की बात है। एक माताजी रोज सत्संगमें आती थी। किसी प्रसंगमें कहने लगी-महाराज! आजकलके बच्चे पहले जैसे नहीं रहे। बड़े बुद्धिमान् होते हैं। ऐसा ऐसा तर्क करते हैं कि बड़े बड़े भी उत्तर नहीं दे पाते। मैंने कहा कुछ उदाहरण कहो। वह कहने लगी मेरे दो बच्चे हैं। बड़ी लड़की है। छोटा लड़का है। स्कूलसे आकर ऐसा तर्क करते हैं कि मैं भी जवाब नहीं दे पाती हूं। मैंने कहा तर्क तो सुनाओ। वह कहने लगी बच्चे लोग पूछते हैं कि तुम कहती हो कि पुण्य करनेसे स्वर्गमें जाते हैं तो स्वर्गमें ज़ानेवाले किसीने कभी कोई चिट्ठी तुमको डाली कि हम राजीखुशी से स्वर्ग पुहंच गये? दिल्ली लंडन कोई जाता है तो राजी खुशीकी खबर भेजते हैं। मैंने कहा एक तर्क हो गया। दूसरा भी कोई तर्क

है? वह कहने लगी कि मैं पूजा करती हूं और बच्चे आकर पूछते हैं तुम्हारे ये सब भगवान् हैं तो शक्कर पर मक्खी आकर बैठती है फिर मूर्तिपर आकर बैठ जाती है तो क्यों ये भगवान् उसको नहीं मारते? इन चीटियोंको क्यों नहीं मारते? तिलचट्टे चूहों को क्यों नहीं मारते? ये अपनी रक्षा नहीं करते तो हमारी रक्षा क्या करेंगे? ऐसा ऐसा पूछते हैं-मैं भी निरुत्तर हो जाती हूं। मैंने समझ लिया ये सब क्रिश्च्यनों की इंग्लिश स्कूलों की करामात है। वे हिन्दूजातिसे अश्रद्धा कराकर अपनी जातिमें ले जाना चाहते हैं। मैंने कहा बच्चोंको बुलाओ मैं भी थोड़ा सुनूं। माता बोलने लगी आपको भी वे परेशानीमें डालेंगे। मैंने कहा उसकी चिन्ता मत करो। सुनीता सुनील दोनों को बुलाया। आठ वर्ष दस वर्ष के दोनों रहे होंगे। मैंने बड़े प्यारसे दोनों को सोफा कुर्सीपर बैठाया और कहा बोलो क्या तुम मम्मीसे पूछते हो पूजा के समय? दोनों बस वही बात दुहराने लगे। स्वर्ग जाकर किसीने चिट्ठी भेजा? मैंने कहा सुनो बात यह है कि वे चिट्ठी इसलिये नहीं भेजते कि वहां पोस्ट आफिस नहीं है। बच्चे पूछने लगे-वहां पोस्ट आफिस क्यों नहीं है? मैंने कहा कि वहां के लोग सबके हृदय की बात जानते हैं, उनको चिट्ठी की जरूरत नहीं है। बस, रटी हुई बात समाप्त हो गयी। ऐसा उत्तर आये तो क्या आगे बोलना यह सिस्टरोंने सिखाया नहीं था। मैंने कहा अब दूसरा क्या पूछना है, पूछो। ये भगवान् अपने पर आये कीड़े, मकोड़े, तिलचट्टे, चूहे आदिको क्यों नहीं मारते? क्यों नहीं उठाकर फेंकते? मैंने कहा तुम अपनी मम्मी को गोदमें बैठ जाओ तो मम्मी तुमको उठाकर बाहर फेंकती हैं? डंडेसे मारती है? क्या करती है? बच्चे बोले हमें क्यों फेंकेंगे? वह तो मम्मी है, हमसे प्यार करती है। मैंने कहा भगवान् कीड़े, मकोड़े, चूहे आदि सबके मम्मी-पप्पा हैं। सबको उन्होंने जनम दिया। वह भी अपने गोदमें आये अपने बच्चेको क्यों फेकेंगे, क्यों मारेंगे? बच्चे पूछते हैं वो भगवान् सबके मम्मी-पप्पा हैं? मैंने कहा-हां। बस, दूसरी रटी रटाई बात समाप्त। मैंने कहा-सिस्टरको कहना खाली इंगलीश पढ़ाया करो, झूठी बात मत बोला करो। अच्छी बात"। बच्चोको विदा किया। यह है तर्क की रुचिका गलत फायदा उठाना और लोगों की श्रद्धा नष्ट करना। एक बार श्रद्धा टूट

जाती है तो फिर लाना मुश्किल होता है। यह तो उन बच्चों की बात हुई। द्वैतवादी इसी ढंगका तर्क रखकर बड़े-बड़े लोगों को भी गुमराह कर देते हैं। बच्चोंमें फिरसे श्रद्धा उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु बड़ोंमें और वृद्धोंमें टूटी श्रद्धा को पुनः लाना संभव नहीं होता। अब द्वैतवादियोंके तर्काभास की व्याख्या सुनो। उनका कहना है कि आत्मा कभी एक नहीं हो सकता। आत्मा भिन्न-भिन्न है।

आत्मा भिन्न क्यों मानना चाहिये इस प्रश्न पर उनका प्रथम कथन है-जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्। यदि आत्मा सबमें एक हो तो एक का जन्म होनेपर सबका जन्म होने लगेगा। और एक मर गया तो? स्पष्ट है, सभी मर जायेंगे। क्या ऐसा संभव है? इसी प्रकार करणोंकी भी बात है। आत्मा एक है तो एक ने देखा सबने देखा। एकने सुना तो सबने सुना। एक को भूखलगी तो सबको लगेगी। एकने खाया तो सबकी भूख मिटेगी। फिर आत्मा एक है तो गुरु और शिष्य की आत्मा एक होनेसे गुरुने जान लिया तो शिष्य को भी ज्ञान हो जाना चाहिये। फिर पढ़ने पढ़ाने, सुनने सुनानेकी भी जरूरत नहीं रहेगी। उपनिषत् पढ़ना हो, सायन्स पढ़ना हो तो किसी नौकरको लगा दिया। उसने पढ़ लिया तो हमारा पढ़ना हो जायेगा। अयुगपत् प्रवृत्तेश्च। आत्मा यदि एक हो तो एक उठ गया तो सब उठ जायेंगे। एक दौड़ेगा तो सब दौड़ेगे। जैसे रेसकोर्समें सब घोड़े दौड़ पड़ते हैं। एक बोला तो सब बोलेंगे। त्रैगुण्यविपर्ययात्। सत्त्व, रज, तमका नानात्व भी नहीं बनेगा। सत्त्वका कार्य ज्ञान एवं सुख है। रजका कार्य दुःख एवं लोभ है, चञ्चलता आदि है। तमका कार्य निद्रा, तन्द्रा आलस्य आदि है। तो एक दुःखी हुआ तो सब दुःखी हो जाएंगे। रोने लगेंगे। एक सुखी हुआ तो सब सुखी हो जायेंगे। और एक सो गया तो दुनिया सो जायेगी। क्या यह सब हो सकता है? यदि नहीं हो सकता तो आत्माकी एकता भी नहीं हो सकती।

यह आत्माकी एकता को लेकर बताया। अब वेदान्त मतमें जीव और ईश्वरकी जो एकता है उस पर भी नजर डालो। ये दोनों यदि एक हैं तो जीवने पुण्यपाप किया तो ईश्वरको भी पुण्यपाप लगना चाहिये। जीवको दुःख हुआ तो ईश्वरको भी दुःख होना चाहिये बल्कि दुनिया भरके समस्त

जीवोंका पूरा दुःख ईश्वरको मिलना चाहयि तो ईश्वर सर्वाधिक दुःखी होगा। फिर जीव बन्धनमें है तो ईश्वर भी बन्धनमें होना चाहिये। या विपरीत-ईश्वर मुक्त है तो जीव भी मुक्त होना चाहिये। क्योंकि दोनों एक हैं। एक ही में बन्धन और मोक्ष दो विरुद्ध धर्म नहीं हो सकते। सपापता और निष्पापता एक साथ नहीं हो सकते। फिर ब्रह्म असंसारी है तो सभी असंसारी होने चाहिये। संसार ही समाप्त होना चाहिये। यह सब तो तर्क का एक नमूनामात्र है। इस प्रकारके हजारों तर्क द्वैतवादी उपस्थित करते हैं और उनकी मान्यता है कि इन प्रश्नों का उत्तर संभव ही नहीं है।

अब इन तर्कोंका प्रश्नोंका उत्तर जैसा उन बालकोंको दिया वैसा ही सुनो। प्रथम तर्क था जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्। प्रथम तर्क था एकात्मवादमें एकके जन्मसे सबका जन्म और एकके मरनेसे सबका मरण होगा। उनसे पूछेंगे कि क्या आत्माका जन्ममरण होता है? जन्ममरण किसका होता है? आत्माके लिये श्रुति और स्मृति कहती है-"न जायते म्रियते वा"। शरीर जनमता है मरता है तो शरीरको एक किसने बताया? हम आत्माकी एकता कहते हैं शरीरकी नहीं। फिर कहा एकके उठनेसे सब उठेंगे, बैठनेपर सब बैठेंगे, दौड़नेपर सब दौड़ेंगे। तो क्या आत्मा उठता, बैठता, दौड़ता है? कि शरीर उठता, बैठता है? फिर बोल रहे थे कि एकको प्यास लगी, भूख लगी तो सबको प्यास लगेगी, भूख लगेगी। तो पहले बताओ भूखप्यास किसका धर्म है? आत्माका या और किसीका? आत्माके लिये श्रुति कहती है—

"य आत्माऽपहतपाम्पा विजरो विमृत्युर्विशोकः ।
विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ॥"

इत्यादि। वास्तवमें भूख-प्यास आदि प्राणके धर्म हैं। प्याससे प्राण सूखने लगे ऐसा लोग व्यवहार भी करते हैं। और प्राणकी एकता हमने बतायी नहीं। आत्मा की एकता कही जा रही है। अन्य युक्तियां हैं एकके देखनेसे सब देखने लगेंगे। सुनने से सब सुनने लगेंगे। एकके सूघंने से सबका सूंघना हो जायेगा। इत्यादि। परंतु देखना सुनना आदि किसका धर्म है? देखना आंखका धर्म है। सूंघना नाकका धर्म है। सुनना कानका धर्म है। रस लेना जीभ का धर्म है। नाक कान आदि को तो हम एक नहीं बता रहे हैं।

अन्तमें त्रैगुण्यविपर्यकी बात रही। एक सुखी होनेपर सब सुखी, एक दुःखी होनेपर सब दुःखी और एकके सुप्त होनेपर सुप्त होंगे। परंतु ये धर्म भी आत्मा के नहीं हैं। सांख्यवाले स्वयं कहते हैं कि ये तीन गुण हैं। तो तीन गुण प्रकृतिमें होते हैं। आत्मामें नहीं। वेदान्तमतमें भी ये सब अन्तः-करणके धर्म हैं। आत्माके नहीं। इस प्रकार ये सारी युक्तियां बतासे जैसे उड़ गयीं।

इस पर न्यायवैशेषिक शास्त्रवाले द्वैतवादी कहते हैं इन पर तो हम पुनर्विचार करेंगे। एक तो मानना पड़ेगा कि यज्ञादिपुण्यकर्ता एवं ब्रह्महत्या आदि पापकर्मकर्ता कौन है? इस पर विचार करो। क्या शरीर यज्ञादि और हिंसादि करता है? या आत्मा करता है? यदि शरीर कर्ता है तो भोक्ता भी होगा। करे कोई और दूसरा फल भोगे ऐसा नहीं हो सकता। यज्ञादिका और हिंसादिका फल इस जन्ममें नहीं मिलता। इस शरीरने कर्म किया और दूसरे शरीरने फल भोगा यह भला कैसा? यदि कहें कि मनसे यज्ञ होता है। नहीं मनसे मारा तो कोई मरता नहीं। मनसे आहुति डाली तो आग जलती नहीं। मानसिक पुण्यपाप अलग है। शारीरिक पुण्यपाप अलग है। यदि सभी कर्म मनसे ही होता हो तो यह विभाग ही नहीं बनेगा। मनसे खानेसे पेट भरता नहीं। मनसे धन लेनेसे (प्रतिग्रह करनेसे) कोई पैसेवाला नहीं होता। मनका पुण्यपाप अल्प होता है। शारीरिक पुण्यपाप प्रबल होता है। अतः इन दोनोंको करनेवाला जन्मान्तरतक रहनेवाला आत्मा ही कर्ता है और वही भोक्ता भी है। अतएव सुखदुःखादि भी आत्मामें है। अतएव देखने सुननेवाला भी आत्मा ही है। शरीर, मन, इन्द्रियां ये सब केवल करण हैं। कर्ता, ज्ञाता, भोक्ता नहीं। किसीने तलवारसे किसीको मारा। तो क्यां मारनेवाला तलवार है कि आदमी? क्या तलवारको सजा मिलेगी कि आदमी को? इसी आधारपर द्वैतवादी व्यासजीका सूत्र भी प्रस्तुत करते हैं-"कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्"। आत्मा ही कर्ता है। क्योंकि शास्त्रोक्त पुण्यपाप एवं उसका फल सुख-दुःखादि आत्माको ही प्राप्त होता है। तब एकात्मवादीकी संगति कैसे बैठेगी?

इसका समाधान जाननेके लिये प्रथम कर्तापर ही थोड़ा विचार करना पड़ेगा। कर्ता कहते हैं-कृतिमानको। कृति जिसमें हो वह कर्ता है। कृति क्या है? नैयायिक व्याख्या करते हैं-कृतिः प्रयत्नः। कृति माने प्रयत्न। प्रयत्न क्या है? जिससे मनुष्य आगे कार्य करता है। आखिर वह है क्या चीज? वह है प्रथम अन्तःस्पन्दन। अन्तःस्पन्दन जब होता है तब बहिःस्पन्दन होकर कार्य होगा। आत्मामें यदि अन्तःस्पन्दन हुआ तो वह विकारी होगा। जैसे लकड़ी से मारा तो लकड़ीमें एक अन्तःस्पन्दन होता है वैसे उससे मारते रहेंगे तो एक दिन वह टूट जायेगी। पुरानी लकड़ीमें यह स्पष्ट देखा जा सकता है। और न्यायमतवालोंका अनुसरण करना खतरे से खाली नहीं है। वे तो असत् की उत्पत्ति मानते हैं। अन्तःस्पन्दनके बिना असत् प्रयत्न इच्छासे उत्पन्न हो जायेगा। यह फिर अर्धवैनाशिक सिद्धान्त हो जायेगा। बौद्ध भी तो असत् की उत्पत्ति मानते हैं। माना असत् उत्पन्न हुआ। फिर उसका सम्बन्ध आत्मामें उत्पन्न मानना ही होगा। तब सूक्ष्म परिणाम होना अनिवार्य है। सूक्ष्म पवनके अणु आदिसे संबंध होकर ही तो लकड़ी कपड़े आदि कालान्तरमें जर्जरित होते हैं। सांख्यवाले यह बात जानते थे। अतएव उन्होंने पुरुषमें कर्तृत्वादि स्वीकार नहीं किया।

वस्तुतः ज्ञातृत्व, कामयितृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व-ये चारों एक साथमें रहते हैं। जो जानेगा वही चाहेगा, वही तदर्थ यत्न करेगा और फल पायेगा। देवदत्त ने जाना यह आम है। तब (जाने विना ही) यज्ञदत्त को आम की इच्छा हुई। इन दोनोंके बिना विष्णुमित्र ने उठकर खाया और आनन्द आया जियालालजीको। क्या ऐसा कहीं होता है? कहेंगे-जाननेवाला आत्मा है। आत्मामें ज्ञान होता है। तब इच्छा आदि भी तो आत्मामें होगा। नहीं। आत्मा ज्ञानवाला-जाननेवाला नहीं। आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है-प्रकाशरूप है। जाननेवाला अन्तःकरण है। वस्त्वाकारक चित्त-वृत्ति मनमें होती है। उसमें ज्ञानप्रकाश प्रतिबिम्बत होगा। अन्तःकरण ज्ञान प्रतिबिम्बवाला है। वही अन्तःकरण अपनी वृत्ति के द्वारा वस्तुओंको प्रकाशित करता है। वैसे तो आत्मारूपी प्रकाश सर्ववस्तुओं में व्याप्त है। किन्तु अभिव्यञ्जक अन्तःकरणवृत्ति है। तब उसी अन्तःकरणमें इच्छा होगी। उसीमें प्रयत्न होगा। वह जन्मान्तरस्थायी है। अतः कालान्तरमें और जन्मान्तरमें वही फलभोक्ता भी होता है। इस बातको बृहदारण्यकमें स्पष्ट किया है-

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा ।
धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव ॥"

मेरे मनमें इच्छा हुई, मेरे मनमें संकल्प उठा, मेरे मनमें संशय हुआ, मेरे मनमें उनके प्रति श्रद्धा है या अश्रद्धा है। मेरे मनमें धैर्य है या कायरता है, मेरे मनमें लज्जा है, मेरे मनमें भास हुआ। स्मरण हुआ, मेरे मनमें भय हुआ वह सारा व्यवहार मनमें ही होता है। अतः इन सबका आश्रय मन ही है। मन विकारी है। घटता बढ़ता है। अन्तमें समाप्त भी होता है। किन्तु मोक्षपूर्वपर्यन्त रहेगा। हाँ समय-समय पर विलीन होकर फिर उठता है। मन नाना है। अतएव जनन-मरण आदि सांकर्य नहीं है। आत्मा केवल प्रकाशक है। सबमें एक है। सर्वोपाधिविमुक्त होनेपर स्वात्मरूपसे स्थिति ही मोक्ष है। ब्रह्मदर्शनार्थ उस आत्मैकत्वसिद्धान्त को श्रुतिके शब्दोंमें यमराज नचिकेताको सुनाते हैं-अग्निर्यथैकः इत्यादि।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। अग्निः सूक्ष्मरूपसे संपूर्ण जगतमें विद्यमान है। पञ्चीकरण प्रक्रिया से देखा जाय तो भी अग्नि की तन्मात्रा सर्वविश्वव्यापी है। सूक्ष्म वह्नि व्यापकतया प्रविष्ट है। तन्मात्रा स्वकार्यके द्वारा-जैसे हारमें मणियोंके द्वारा सुवर्ण प्रविष्ट है वैसे सर्वविश्वव्यापी है। पृथिवीमें देख लो दो अरणियोंके घर्षण होनेपर अग्नि प्रकट होती है। क्या कहींसे अग्नि आयी? नहीं। वहीं थी। सूक्ष्मरूपसे थी और घर्षण से अभिव्यक्त हुई। दो बाँसोंका परस्पर घर्षण होता है तो अग्नि प्रकट हो जाती है। गैस चूल्हा जलानेका लाईटर होता है। बीड़ी सुलगाने लाईटर रखते हैं। पत्थरके घर्षण से वहां अग्नि प्रगट होती है। ट्रेन जब चलती है तो लोहे के घर्षण से पटरियोंमें चिनगारियां निकलती है। इस प्रकार पृथिवी में कहीं भी घर्षण होता है तो अग्नि प्रगट होती है। जलमें भी अग्नि है। प्रथम सुनते समय आश्चर्य होगा। जल और अग्नि का परस्पर विरोध है। जलसे अग्नि बुझती है। अग्नि ज्यादा हो तो जल जलकर उड़ जाता है। किन्तु बात दूसरी है। बादलमें पानी होता है। वहीं बिजली चमकती है। बादलकी टक्करसे अग्नि पैदा होती है। बिजली भी अग्नि है, तेज है। वैशेषिक दर्शनवाले कहते हैं–

"अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि"

अर्थात् अप्-जल जिसका इन्धन है। वह बिजली आदि दिव्यतेज है। अग्नि है। बिजलीका चूल्हा होता है। गैसका चूल्हा होता है। मेघोत्पन्न बिजली भी अग्निरूप ही है। आज वैज्ञानिक लोग जलसे हाईड्राजन निकालकर इन्धन बना रहे हैं और पेट्रोलके स्थानमें रखकर गाड़ी मोटर चलाने लगे हैं। अतः जलमें भी सर्वत्र अग्नि है। समुद्रकी लहरोंसे भी इन्धन निकालनेका प्रयास हो रहा है। इसप्रकार पृथिवी और जलमें अग्नि सिद्ध हुई। अग्नि स्वयं अग्नि ही है। वायुमें तथा अन्तरिक्षमें भी अग्नि है। पृथिवीकक्ष पार करते समय शक्तिघर्षणसे अग्नि प्रगट होती है। राकेट जल गये कई। इसप्रकार अग्नि समस्त भुवनमें प्रविष्ट है। वह अग्नि एक है कि अनेक? लकड़ीकी अग्नि अलग है, कोलसे की अग्नि अलग है, गैसकी अग्नि अलग है, बिजलीकी अग्नि अलग है। वैशेषिक कहते हैं भौम, दिव्य, औदर्य और आकरज ऐसी चार अग्नियां हैं। वस्तुतः अग्नि एक ही है। उपाधि भिन्न-भिन्न है। श्रुति स्वयं कह रही है—अग्निर्यथैकः। अग्नि एक है। भुवनमें प्रविष्ट है। कहीं उष्णता कम रहती है। कहीं उपाधिके कारण रंग बदल जाता है। बिजलीकी अग्नि सफेद, कोयलेकी लाल, गैसकी अग्नि नीली। यह सब उपाधिभेद मात्र है। कहीं अभिव्यञ्जक न होनेसे अभिव्यक्त नहीं होती। लेकिन है सर्वत्र अग्नि। वह "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"। लकड़ी आदि नाना रूपोंकी उपाधिके कारण प्रतिरूप हो गयी। तदनुसारी रूपवाली हो गयी।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च। अग्निके समान ही आत्मा एक है व्यापक है। वह ब्रह्म है। समस्त शरीरोंमें वह स्थित है। उसका वह आकार होगा जो उपाधिका आकार है। आत्माकी अभिव्यक्ति होती है। घटः अस्ति भाति प्रियः। इसप्रकार सामान्य अभिव्यक्ति होती है। 'अस्ति' कितना लम्बा चौड़ा है? घटमें किस जगह यह अस्ति रहता है? जैसे घड़ेमें अंदर नीचे पानी रहता है वैसे यह अस्ति कितनी जगह कहां रहता है? उत्तर है पूरे घड़ेमें। घड़ेमें बाहर भी कुछ दूरतक वह अस्ति रहता है कि नहीं? अस्तित्व होगा। किन्तु घटका अस्तित्व घटतक सीमित है। अर्थात् घटके आकारमें अस्तित्व है। उतना ही लंबा चौड़ा है। घटो भाति घटः प्रियः में भी यही बात है। वह प्रकाशन तथा प्रियता पूरे घड़ेमें

स्थित है और उसीमें सीमित है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह अस्ति भाति प्रिय घटाकारसे आकारित है। वस्तुतः अस्ति भाति प्रिय निराकार है। जगद् व्यापक है। किन्तु "रूपं रूपं प्रतिरूपं" हो गया। यह सामान्यरूपतासे प्रतिरूपता हुई। विशेषरूपसे प्रतिरूपता क्या है? अभिव्यक्ति क्या है? इस शरीरमें विशेष अभिव्यक्ति एवं प्रतिरूपता है। अहं मनुष्यः अस्मि, अहम् इह अस्मि। मैं मनुष्य हूं, यहीं पर हूं यह सब विशेष अभिव्यक्ति है। घट स्वयं यह कहेगा नहीं और न जानेगा ही कि मैं घट हूं। किन्तु मनुष्य जानेगा और कहेगा भी। क्योंकि अन्तःकरण चैतन्यका विशेष अभिव्यञ्जक है। जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब सर्वत्र है किन्तु विशेष अभिव्यक्ति दर्पणादिमें होती है। सूर्यसे निरन्तर प्रकाशरूप प्रतिबिम्ब निकल रहा है। चारों ओर जा रहा है। किन्तु प्रतिबिम्ब जो दर्पणमें आया वही अभिव्यक्त होता है। वैसे ब्रह्मका स्वरूप सर्वत्र है। तथापि अन्तःकरणमें ही अभिव्यक्ति होती है। सूर्यके प्रतिबिम्ब प्रकाशसे ही घटपटादि सभी अभिव्यक्त होते हैं। अतः सामन्य अभिव्यक्ति घटपटादिमें भी है। पर विशेष अभिव्यक्ति अन्तःकरणमें ही होती है। बोले कि यदि अन्तःकरणमें ब्रह्मकी अभिव्यक्ति विशेषरूपसे हो गयी तो अब क्या बाकी बचा? जिसके लिये श्रवणमनन निदिध्यासनकी जरूरत पड़ी? सुनो। अन्तःकरणमें अभिव्यक्त तो हुआ किन्तु अन्तःकरणपरिच्छिन्न होकर सखण्डभावसे। अखण्डरूपसे ब्रह्मकी अभिव्यक्ति बाकी है। और उसके हुए बिना कृतार्थता नहीं हो सकती।

बहिश्च। कोई कहे कि अन्तःकरणमें ही आत्मा है, शरीरमें ही आत्मा है। इसपर श्रुति कहती है—नहीं आत्मा बहिश्च। वही रूप रूपसे बाहर भी स्थित है। रूपमें तो परिच्छिन्न होकर विकृतरूप भासित होता है। इन रूपोंसे बहिः अर्थात् पृथक् होकर अपने अविकृतरूपसे भी वह स्थित है। इसीको मन्त्रमें "पादोऽस्यविश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" बताया।

अग्निर्यथैको..........बहिश्च। "हन्तं त इदं प्रवक्ष्यामि" इन शब्दोंमें यमराज बोल रहे थे कि इदंत्वेन अर्थात् करतलामलकवत् प्रत्यक्षरूपमें मैं ब्रह्मका उपदेश तुझे करता हूं। इस प्रतिज्ञाके बाद प्रथम त्वंपदका वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ बताकर तथा तत्पदका वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ समझाकर "तद्ब्रह्म तदेवामृतं" इस ब्रह्मरूपकी एकता बतायी। किन्तु इतनेसे ही ब्रह्म-

साक्षात्कारकी पूर्णता नहीं होती। सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य स्वरूपबोध होनेपर ही उसकी पूर्णता होती है। उसमें प्रथम सजातीय भेद है। क्योंकि मैं आत्मा हूं तो ये सब देवदत्त यज्ञदत्त आदि भी तो आत्मा हैं। माना कि एक आत्मा माननेपर भी जनन-मरण करणादिका प्रतिनियम संभव है। संभवकी बात अलग है। प्रत्यक्षसिद्धकी बात अलग है। एक ही नक्षत्र माना जाय तो कोई नुकसान नहीं। किन्तु प्रत्यक्षसिद्ध हैं अनेक नक्षत्र। सभी अन्न एक ही माने जायें तो उदरपूर्तिमें कोई कसर नहीं किन्तु प्रत्यक्षसिद्ध है नाना अन्न। प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरम्। इस पूर्वपक्षके उत्तररूपमें प्रत्यक्षको अन्यथासिद्ध–अन्यथोपपन्न सिद्ध करते हुए भी इस मन्त्रका उपदेश यमराजने नचिकेताको किया।

यदि भेदप्रत्यक्ष अन्यथोपपन्न है तो अभेद प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? अभेद प्रत्यक्ष नहीं होता अतएव भेद प्रत्यक्ष अन्यथोपपन्न नहीं है ऐसा क्यों न कहा जाय–इस प्रश्नका उत्तर है कि भेदप्रत्यक्ष भी भेद-प्रत्यक्षाभिमानमात्र है। क्योंकि परमात्माको देखनेपर भेदप्रत्यक्ष यथार्थ माना जायेगा। अन्यथा अंदाजा मात्र है। दो चीज अलग-अलग दीखे तब भेद प्रत्यक्ष होगा। परमात्मा दीखता ही नहीं तो भेद कैसे प्रत्यक्ष होगा? यदि एक ही है तो अभेदप्रत्यक्ष होना चाहिये। नहीं ऐसा नियम नहीं है। आकाशमें चक्षुके दोषसे एक ही चन्द्रमा दो दीखने लगता है। वहां अभेदप्रत्यक्ष कहां है? यदि कहें कि वहां चक्षुका दोष है तो यहां भी प्रज्ञाका दोष है जिसके कारण अभेदप्रत्यक्ष नहीं होता। आचार्योंने कहा है–

'प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः॥'

ब्रह्मसाक्षात्कारमें भूतभावी प्रतिबन्ध जो है सो है ही। वर्तमान प्रतिबन्ध भी है। एक विषयासक्ति है, दूसरा प्रज्ञाकी मन्दता है। तीसरा कुतर्क है। चौथा विपर्ययका दुराग्रह है। कुतर्कको हम पहले दिखा चुके। जननमर-णकरणानां इत्यादि सभी कुतर्क है। सत्तर्कमें मूलशैथिल्य नहीं होता। कुतर्क सुननेमें पहली बार ठीक-ठीक ऐसा लगेगा। विचार करनेपर तर्क जर्जरित होगा। हम दिखा चुके कि जन्ममरणादि आत्मामें है नहीं। उनके प्रति-

नियमसे क्यों आत्माका नानात्व होगा? इसीप्रकार महिम्नःस्तोत्रमें भी कुतर्कका अनवसर बताया—

"किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥"

निराकार शुद्ध चैतन्य ब्रह्मका निराकरण नास्तिकोंका है, द्वैतवादियोंका भी है। नास्तिकोंकी कथाको यहां छोड़ो। द्वैतवादियोंको लेकर ही विचार करो। वे कहते हैं तुम्हारे निराकार व्यापक ब्रह्ममें क्या चेष्टा होगी? किमीहः सः। अतः विष्णु, राम आदि आनेजानेवाले रचनानुकूल प्रवृत्तिवाले प्रयत्नवाले ही मान्य हैं। किं कायः। निराकार ब्रह्मका कोई शरीर नहीं, वह कैसे जगतको रचेगा? कुलालादि दृष्टान्त सकाय है। अतः चतुर्भुजादियुक्त शरीरवाला ही परमात्मा है। किमुपायः। अद्वितीय ब्रह्मकेलिये साधनसामग्री है नहीं। कुविन्दादि (जुलाहा आदि) साधनोपायसे ही वस्त्रादि रचना करते हैं। परमात्मा लक्ष्मी, गरुडादि सहाय सहित हैं। किमाधारः। कहां बैठकर वह जगतरचना करता है? भोजन आदि मकानमें बैठकर बनाते है। अतः वैकुण्ठ आदि आधार मान्य हैं। किमुपादानः। मृत्तिका तन्तु आदि उपादान हो तब घट वस्त्रादि रचना होती है। अतः प्रकृति आदि उपादन भी स्वीकार्य है। परमात्मा तर्कका ही विषय नहीं कुतर्कका तो दूरतः। फिर भी लोग ऐसे-ऐसे कुतर्क करते हैं। क्यों कुतर्क है? इसलिये कि वह परमात्मा कुलाल कुविन्द आदिके समान नहीं है। वह ईश्वर है। सो भी अतर्क्य ईश्वरत्वसे युक्त है। वह परमात्मा ईहाके बिना, कायके बिना एवं उपादानके बिना सब कुछ कर सकता है। यही तो ईश्वरका ऐश्वर्य है। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च सामर्थ्यमैश्वर्यम्। श्रुति है—

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न तु तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥"

क्या यहांपर भी खण्डन नहीं हो सकता? वैकुण्ठवासी विष्णुका पाणि, पाद, चक्षु, श्रोत्र आदि सब हैं। भक्त उन्हें जानते हैं। फिर भी वह महापुरुष हैं।

"वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दं"। यह साकारका ही प्रमाणवचन है। अतः वैदिकोंके लिये इस प्रकारका कुतर्क शोभास्पद नहीं है।

कुतर्कके कारण उपदेशमात्रसे सांख्यादिको एवं द्वैतवादियोंको ब्रह्म-दर्शन नहीं हुआ। अन्यथा उपदेशसे साक्षात्करणीय ब्रह्मके लिये वे वि-प्रतिपत्ति न उठाते। उन्हें उपदेशसे ब्रह्मदर्शन नहीं हुआ। कारण कुतर्क था। किन्तु वे समझे कि वस्तुतः शब्दापरोक्ष ही नहीं होता। इसीप्रकार प्रज्ञादोषसे भी ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता। प्रज्ञाकी मन्दता पूर्वकर्मानुसार स्वतः भी होती है। विषयासक्तिसे भी होती है। अतः विषयासक्ति स्वतः भी प्रतिबन्धक है और प्रज्ञामान्द्यकारण होनेसे भी प्रतिबन्धक है।

विषयासक्ति होनेपर प्रज्ञा कभी भी तीक्ष्ण नहीं हो सकती। क्योंकि विषय हजारों हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तो मुख्य पांच विषय हैं। उसके अवान्तर भेद लाखों करोड़ों हैं। संगीत शब्द हैं। स्वीयस्तुति परनिन्दा आदि भी शब्द हैं। साहित्यसंगीतादि अनेक प्रकारके शब्द हैं। वैसे स्पर्श भी उष्ण स्पर्श, शीत स्पर्श, दार स्पर्श, पुत्रस्पर्शादि अनेकविध हैं। इन सब विषयोंमें प्रज्ञा भटकती रहेगी तो वह दूरगामी नहीं हो सकती। टार्च-लाईटके ऊपरका कांच निकालो तो प्रकाश फैल जाता है तो मन्द हो जाता है। ऊपर कांच लगानेपर एकाग्र करनेपर दो चार फर्लांग तक पहुंच जाता है। पानी लोटेमें भरकर फेंको तो थोड़ी दूर जाकर गिरेगा। पिचकारीसे फेंको तो बहुत दूर जा गिरेगा। पानी जमीनपर डालो तो फैल जायेगा थोड़ी दूर पहुंचते-पहुंचते सूखेगा। किन्तु नाला बनावे तो दूर-दूर तक ले जाया जा सकता है। वैसे बुद्धि विषयोंमें फैल जायेगी तो वहीं समाप्त होगी। यदि एकाग्र किया जाय तो सुदूरवर्ती ब्रह्मतक पहुंचेगी। अज्ञानियोंके लिये ब्रह्म बहुत दूर है।

'दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च' ।

ऐसा श्रुतिमें कहा है। द्वैतवादी कहते हैं विषयसवेन करो। एक वैष्णवने कहा नहीं। हमारे यहां भी वैराग्यका उपदेश है। मैंने कहा—छप्पनभोग मनोरथ क्या है? भगवानको भोग लगानेके बहाने खुद खाना। और क्या? भगवान् तो कहते हैं 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि"। दुर्योधनका मेवा त्यागो सागविदुरको खायो, मनोरथ

किसका है? खैर, कुछ वैध कार्योंके लिये टीका नहीं है। परंतु उनमें भोगप्रधानता प्रत्यक्ष है। नचिकेतामें न विषयासक्ति थी और न प्रज्ञामान्द्य ही। 'तवैव वाहास्तव नृत्यगीते' कहनेवाले ठहरे। और एकाग्रता तो 'स चापि तत्प्रत्यवदद् यथोक्तं' में स्पष्ट बताया। इन दोनोंके अभावमें कुतर्क और विपर्यय दुराग्रह भी नहीं रहते। अतएव यमराजने इदंत्वेन प्रत्यक्षनिर्देश करनेकी बेधड़क प्रतिज्ञा भी की थी।

यह पूरा ज़गत् अग्निमय है अर्थात् तेजोमय है। श्रुति कहती है—

'तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति
तदपोऽसृजत ता आप ऐक्षन्त बह्व्य स्याम प्रजायेमहीति
ता अन्नमसृजन्त। सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता
अनेन जीवेनात्मानानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति
तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति ।'

उस परमात्माने प्रथम ईक्षणसे तेज बनाया। तेजसे जल बनाया। जलसे अन्नादिरूप पृथिवी बनाया। फिर उनका त्रिवृतकरण कर ब्रह्माण्ड बनाया। और उसमें जीवत्मारूपसे अनुप्रवेश किया। वही प्रथम शरीर ब्रह्मा कहलाया।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः
आप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥'

ऐसा मनुवचन है। मध्यमणिन्यायसे 'आप' से तेज, आप, पृथिवी तीनों लिये जायेंगे। त्रिवृत्करणसे अण्ड बन गया। जैसे पक्षियोंमें प्रथम बीज होता है वही बढ़कर अण्डाकार हो जाता है। वह सुवर्णवर्णप्रकाशमय अण्ड बना। उसमें सकल जगतके पितामह प्रथम शरीरी ब्रह्मा हुए। वह अण्ड अग्निमय था। तेजोमय था। उस अण्डका निर्भेदन हुआ।

'तदण्डं निरभिद्यत'

विस्फोट हुआ। जैसे पक्षीका अण्डा फूटता है। उसीसे ऊर्ध्व सप्तलोक, अधः सप्तलोकसे युक्त अव्यक्तादि आवरण आवृत ब्रह्माण्ड हुआ। वही ब्रह्माका शरीर बना। उस विस्फोटमें करोड़ों कण चारों ओर बिखरे। जैसे अग्नि

विस्फोट होनेपर चिनगारियां चारों ओर फैलती है। अत्यन्त तीव्रगतिसे वे प्रथम दूर-दूर जो जा गिरे वे ही गृह, नक्षत्रादि हुए। उसका मध्यबिन्दु सत्यलोक हुआ। उस सत्यलोककी ही ये सब परिक्रमा करते रहते हैं। अतएव सूर्यनक्षत्रादिमें कोई भी स्थिर नहीं है। इसी कारण इसका नाम जगत् पड़ा। गच्छतीति जगत्। ये सृष्टिके बाद बहुत समयतक दूर-दूर होते गये। इनकी दूरगति समाप्त होनेपर समयगतिसे ये परिक्रमा कर रहे हैं। अन्तमें ये सब सत्यलोकद्वारा अपनी ओर आकृष्ट होंगे। जैसे पृथिवीसे फेंका पत्थर पहले ऊपर जायेगा। फिर स्थिरगति होगी। अन्तमें पृथिवीसे आकृष्ट होकर पृथिवीपर ही पड़ जायेगा। तब प्रलय प्रारंभ होता है। इस कथनका तात्पर्य इतना ही है कि समस्त भुवन अग्निमय है। क्योंकि प्रथम अग्नि हुई। उससे ही जल, पृथिवी आदि क्रमसे ब्रह्माण्ड हुआ तो सर्वत्र कारणका अनुप्रवेश रहता ही है।

इस बातकी सिद्धि होनेपर कि सर्वत्र कारण तेज अनुप्रविष्ट है। प्राकट्य हमेशा नहीं होता। घर्षण होनेपर ही प्राकट्य होता है। जैसे माचीसमें अग्नि होनेपर भी घर्षणसे ही प्रगट होता है। यह बात भी मान्य होगी कि अग्नि प्रत्येक कार्याकारमें अन्तःस्थित है। और प्रकट होनेपर कार्याकारमें ही रहेगी। बल्ब लंबा है तो बिजली लम्बी। लकड़ी गोल होगी तो अग्नि गोल। यह कहें कि लकड़ी लंबी है तो अग्नि लंबी तो होगी किन्तु उसकी ज्वाला ऊंची होगी। बात ठीक है, ज्वाला ऊंची इसलिये होती है कि अग्निसे लकड़ी फटती है तो लकड़ीके कण उड़ने लगते हैं। अतः कणसे सम्बद्ध अग्नि भी ऊपर होगी ही। इसीलिये जलनेके बाद राखमें लकड़ीकी अपेक्षा वजन कम होता है।

यह दृष्टान्त हुआ। दार्ष्टान्तिकमें आत्माकी भी ऐसी ही स्थिति है। जैसे अग्नि कारणरूपसे भुवनमें प्रविष्ट है तो तत्तत् कार्याकारसे कार्योंमें रहती है वैसे-वैसे आत्मा भी कारणरूपसे भुवनमें प्रविष्ट है। उसी रीति अग्नि प्रकट होती है तो कार्याकारसे प्रकट होती है, वैसे परमात्मा भी प्रकट होता है तो कार्याकारसे प्रकट होता है। कारणरूप क्या है? अस्ति, भाति, प्रिय। वह घटादिकार्याकारसे रहता है यह हम पहले देख चुके। कार्याकारसे प्रकट किसप्रकार होता है यह देखना है। घर्षणसे अग्नि प्रकट

होती है। आत्मा भी घर्षणसे प्रकट होता है। कैसा घर्षण यह श्रुतिके द्वारा समझना चाहिये–

"आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥"

आत्माको अधरारणि बनाओ और प्रणवको उत्तरारणि। अरणिमन्थन-स्थलमें अधरारणि और उत्तरारणि ऐसी दो अरणियां होती हैं। यहां अधरारणि आत्मा है। उत्तरारणि ओंकार। मन्थन क्या है? ध्यानाभ्यास। प्रत्ययावृत्ति। आत्मचिन्तन करो प्रणवोच्चारण करो और आत्माकार चित्तवृत्तिका आवर्तन करो। इसमें काफी परिश्रम पड़ेगा। अरणिमन्थनमें बड़ा जोर लगाना पड़ता है। व्यासजीका अरणिमन्थन प्रसिद्ध है। साधारण ताकातसे अग्नि प्रगट नहीं होती। इसलिये कहा–

"प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी"

प्रयत्नपूर्वक परिश्रम करो। प्रथम दो चार चिनगारी प्रकट होगी। उस समय प्रमाद न करना चाहिये। रूई रख दिया उसपर हलकी लकड़ी कंडा आदि रखा। आग क्रमशः पकड़ेगी। वैसे ही ध्याननिर्मथनाभ्याससे प्रथम चिन-गारीके रूपमें परमात्मा प्रकट होगा हृदयमें। वहांसे पूरे शरीरमें ब्रह्मदर्शन होगा। फिर पूरे विश्वमें। जैसे बांसोंके घर्षणसे चिनगारी निकली। बांसोंको पकड़ा, पूरे जंगलमें दावानल हो गया। पद्मपादाचार्य नृसिंह भगवानका ध्यान कर रहे थे। अंदर नृसिंह भगवान् प्रकट हुए तो पूरा शरीर नृसिंहाकार हो गया। तब क्रकचवध हुआ।

मूर्तिमें भगवच्चिन्तन करनेसे प्रथम मूर्तिमें दिव्यता प्रतीत होने लगेगी। इस अल्प प्रतीतिको चिनगारी समझो। अथवा लोहा गरम होने लगता है। प्रथम थोड़ा-थोड़ा लाल होने लगता है। वैसी स्थिति समझ लो। बादमें लोहा पूर्णतया लाल होगा। वैसे बादमें मूर्ति भगवन्मय होगी। तब मूर्तिमें से भगवान् प्रकट हो जाते हैं। जैसे स्तम्भमें भगवान् है कहा तो प्रथम स्तम्भमें से गर्जनकी आवाज आयी। बादमें साक्षात् प्रकट हुए। भागवतमें स्तम्भपर घात करनेपर क्या स्थिति हुई इसका वर्णन करते हुए कहा–

"तदैव तस्मिन् निनदोऽतिभीषणो बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत्" ।

बड़ा भयानक गर्जन सुनाई पड़ा। किन्तु वहांसे यह मालूम नहीं पड़ा। तात्पर्य यही कि प्रथम कहीं चिनगारी रूपसे प्रकट होगा कहीं लालिमा-रूपसे और कहीं गर्जनादिरूपसे। उसके बाद फिर अग्नि और अन्तरात्मा प्रकटरूपसे संमुख आता है। भगवत् प्राकट्यमें विशेषता यह भी है कि भावनानुरूप भी भगवान् प्रकट होते हैं।

मूर्तिमें चिनगारीरूपसे प्रकट होनेसे कृतार्थता मत समझो। तब तो कुरुतेऽर्चाविडम्बनं वाली बात होगी। दावानलके समान पूरे जगतमें अन्तरात्मानल पकड़ जाना चाहिये और संसारवन भस्म कर देना चाहिये।

"अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मूढः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥"

परमात्मा समस्त भूतोंमें स्थित है। लेकिन मूढ तो केवल मूर्तिमें ही परमात्मा को सीमित कर देता है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥

वायु एक ही है। फिर भी भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपके पीछे प्रतिरूप बना। इसीप्रकार समस्त भूतोंका अन्तरात्मा एक होनेपर प्रत्येक रूपके पीछे तत्सदृश प्रतिरूप नाना हो गया ॥ १० ॥

इस मन्त्रमें पूर्वमन्त्रकी अपेक्षा एक ही शब्दका फरक है। पूर्वमन्त्रमें अग्नि है। इस मन्त्रमें वायु है। आत्मतत्त्व बड़ा ही दुरूह है। समझना बड़ा कठिन है। इस समय लगेगा कि समझमें आ गया। किन्तु क्षणभरमें आवरण आ जाता है। किसी अन्य प्रकारसे दूसरा वर्णन करता है तो वही सत्य लगने लगता है। अद्वैत सुनते समय वह सच्चा लगता है। फिर द्वैतवादी आकर कुछ भक्तिका पुट देकर द्वैतवर्णन करता है तो वही सच्चा लगता है। इसका कारण है अनुभवका अभाव। दृढ़ बोधका अभाव। अनुभव हो गया कि चन्द्रमा एक है तो भले दो दीखे, किन्तु मानेंगे नहीं। उसे आंखका दोष ही स्वीकार करेंगे। वैसे अद्वैतका दृढ़ निश्चय होनेपर भले द्वैत सुने या दीखे किन्तु उसे स्वीकार नहीं करेंगे। अनुभव हो जाय कि मरुभूमिमें जल नहीं है फिर जलदीखने पर भी कोई फरक नहीं पड़ेगा। अद्वैत सुनते हैं, सुदृढ़ निश्चय या अनुभव नहीं होता है तो पुनः

आवरण आ जाता है। अतः अनुभव तक पहुंचानेके लिये यमराज नाना दृष्टान्तोंसे समझा रहे हैं। वैसे तो नचिकेता उत्तमाधिकारी होनेसे विषय-अनुभवारूढ़ हो चुका है। तथापि श्रुति तो सर्वहितैषिणी होनेसे पुनः पुनः समझा रही है।

दृढ़ निश्चय न होनेमें हेतु हम पूर्वमन्त्रव्याख्यामें कह चुके हैं। वर्तमान प्रतिबन्ध दृढ़निश्चयविघातक है। 'प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः' इत्यादि हम बता चुके। विषयासक्ति होनेपर उसे मिथ्या कहें तो गलेसे नीचे नहीं उतरता। प्रायः समग्र शास्त्रकारोंने विवेक वैराग्यकी आवश्यकता इसीलिये बतायी है। हमारे द्वादश दर्शन प्रसिद्ध हैं। चार बौद्ध दर्शन हैं। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। चारों ही में विवेक वैराग्यकी आवश्यकता मानी है। जैनदर्शनमें तो वैराग्य एवं तपकी महिमा विशेषरूपसे स्वीकृत ही है। फिर आस्तिक दर्शनोंमें कहना ही क्या? भक्तिशास्त्रमें भी इसकी आवश्यकता पर जोर दिया है। भले आजकलके कलियुगी भक्त उसे न मानें भागवतमें कहा है—

'सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः'

इत्यादि कहकर प्रबुद्ध नामक योगीश्वरने—

'इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया' ।

इसप्रकार भक्तिसाधनके रूपमें असङ्गता, तप, तितिक्षा, ब्रह्मचर्य, द्वन्द्वोंमें समता आदि जो बताया है क्या ये सब इन कलियुगी भक्तोंमें है? अणुमात्र भी हो तो भी हम मानते। मंदिर, हवेली आदिमें तो भोगमात्र की प्रधानता है। साधारण लोगोंको जो भोग प्राप्त होता है उससे शतगुण भोगमें वे फंसे हैं। इसीलिये वे अद्वितीय ब्रह्मके किनारे भी नहीं पहुंचते और ऐसे सैकड़ों जन्मोंमें भी नहीं पहुंच पायेंगे। विषयासक्ति भारी प्रतिबन्धक है। प्रज्ञाकी मन्दता भी प्रतिबन्धक है। बुद्धि विषयको नहीं पकड़ेगी तो क्या बात रहेगी। इन दोके लिये यह कह सकते हैं यह स्वभाव-प्रभव है। बहुतसे लोग विषयासक्ति छोड़ना चाहते हैं किन्तु नहीं छूटती।

इसका क्या इलाज? प्रज्ञामान्द्य तो जन्मसिद्ध है। उसके लिये भी क्या उपाय? परंतु इन दोनोंसे गंभीर है कुतर्क और विपर्यय दुराग्रह। क्योंकि ये दोनों कृत्रिम हैं। कुतर्ककी आदत पड़ जाती है। विपरीतार्थपर डटे रहते हैं। ये दोनों डाली हुई आदत है। सङ्गदोषजनित हैं। इसलिये "आदौ सङ्गं च साधुषु" कहा। सर्वतो मनसोऽसङ्गं इत्यादि जितने हैं उन सबसे आदिमें साधुसंग होना चाहिये। जो कुतर्क और विपर्ययसे दूर रहते हैं ऐसे साधुओंका संग होना चाहिये।

लुधियानामें एक माताने मुझे आमन्त्रण दिया। रोज कथामें आती थी। वह सोता या श्रोता नहीं सरोता थी जिसका पता मुझे नहीं था। घरमें गया तो उसने मुझसे कहा—महाराज! आप कथामें बोलते हैं कि आत्मा एक है तो बताईये मेरे मनमें क्या है? मैंने कहा जो यह बोल रही है यही तेरे मनमें है। इससे अतिरिक्त क्या है? उसने पूछा। मैंने कहा—कथामें मैंने आत्मा एक है कहा कि मन एक है कहा? बोली-आत्मा एक है। तब मन भिन्न-भिन्न है। तेरे मनमें जो बात है सो मेरा मन क्यों जानेगा? वह थोड़ी देर चुप हो गयी। फिर बोली यदि जीव और ईश्वर एक है तो यह जीव सृष्टि, स्थिति संहार क्यों नहीं करता? मैंने पूछा—इस मकानकी सृष्टि जीवने की कि ईश्वरने? इसकी रखवाली जीव करता है या ईश्वर? सामने एक मकान तोड़ा जा रहा था मैंने कहा उस मकानको ईश्वर तोड़ रहा है कि जीव? माताने कहा जगतकी सृष्टि, स्थिति, संहारकी बात पूछ रही हूं। मैंने कहा वह तो ईश्वर ही कह रहा है, उसमें मेरा क्या काम है? तुम रोटी बनाओ तो जरूरी है कि मैं भी रोटी बनाना शुरु करूं? माताने कहा मेरे पूछनेका मतलब है कि ईश्वर जीव एक है तो आपमें जगत् के सृष्टि, स्थिति, संहारकी शक्ति होनी चाहिये। सो आपमें है क्या यह पूछ रही हूं। मैंने कहा जीव और ईश्वरको एक कहा किसने? हमने तो नहीं कहा। मैंने जो जीव और ब्रह्मकी एकंता बतायी। और ब्रह्म तो कर्ता भोक्ता कारयिता है नहीं। ब्रह्म कहते हैं निरुपाधिक निर्मल चैतन्यको। जीव कहते हैं अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्यको। ईश्वर कहते हैं मायाविशिष्ट चैतन्यको। ये सब एक ही तो हैं। क्या विशेषण जोड़नेमात्रसे फरक आयेगा? आयेगा। घटाकाश, गृहाकाश और शुद्ध आकाश एक हैं। पानी हम रखते हैं तो

कहां रखते हैं? घटमें। घटमें मिट्टीके गोलाकारको कहते हैं। क्या उस मिट्टीके अंदर इंजेक्शन लगाकर पानी भरते हैं? अतः बोलो घड़ेसे घिरे हुए आकाशमें पानी भरते हैं। घरमें बैठे हैं, लेटे हैं तो कहां बैठे लेटे हैं? गृह निर्माण करते हैं तो ईंट-सिमेंटकी दीवार आदि बनाते हैं। उस दीवारके अंदर बैठते लेटते हैं क्या? नहीं। उन दीवारोंसे घिरे हुए आकाशमें बैठते लेटते हैं। घटाकाश, गृहाकाश एक है तो थोड़ा घटाकाशमें बैठकर लेटकर दिखाओ। और घटाकाशमें पानी भरते हैं तो जरा गृहाकाशमें पानी भरके दिखाओ। फिर विमानाकाश महाकाश एक है तो विमानसे कूदकर महाकाशमें आकर बैठकर दिखाओ। उपाधिका छोड़ोतो आत्मा एक होता है। उस शुद्ध आत्मामें कर्तृत्व कारयितृत्व आदि कुछ भी नहीं है। मायोपाधि आनेपर सृष्टिकर्तृत्वादि आता है। अविद्योपाधि होनेपर जन्म- मरणादि योग होता है। मेरे पास मायारूपी उपाधि नहीं है तो मैं सृष्टि, स्थिति, संहार कैसे करूंगा? क्या कुतर्क करती है? इतना सुननेपर मायी मौन हो गयी। किन्तु कुतर्ककी आदत निकलती नहीं। विपर्यय दुराग्रह निकलता नहीं। दूसरे दिन इलायचगिर मंदिरमें आकर कहने लगी, महाराज आप जो कल कह रहे थे कि उपाधिभेदसे आत्मा भिन्न है तो सीधा ही भिन्न क्यों नहीं मानते? वह आर्यसमाजके संस्कारकी थी। उसकी तर्ककी आदत निकलेगी नहीं। ऊट पटांग समय बिगाड़ेगी सोचकर मैंने कहा—आज मेरा भोजन दूसरी जगह है। मैंने कल इसलिये तेरेसे अधिक बात की, नहीं तो रोटी न खिलाती तो मैं भूखा रह जाता। आज इंतजाम है। नहीं बोलूंगा। कहने लगी—नहीं, महाराज, मैं आपको भूखे क्यों लौटाती? मैं जिज्ञांसासे पूछ रही हूं। मैंने कहा जिज्ञासासे नहीं, कुतर्ककी आदतसे पूछ रही हो। वेदान्त समझनेके लिये श्रद्धाकी भी जरूरत है। श्रुति कहती है—श्रद्धत्स्व सोम्य। अंध श्रद्धानहीं,, श्रद्धा तो चाहिये ही।

प्रज्ञामान्द्य और प्रारंभिक कुतर्कपरता ये दोनों मिटाये जा सकते हैं। अनेक उदाहरणोंके द्वारा बार-बार समझानेपर प्रज्ञा तेजस्विनी हो जायेगी। कुएँके ऊपर लगा हुआ पत्थर भी रस्सीके घर्षणसे मुलायम हो जाता है। वहां भी निशानी पड़ ही जाती है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने वहींसे तो

शिक्षा पायी थी और कठोर परिश्रमकर विद्या हासिल की थी। वैसे प्रारंभिक अवस्थाका कुतर्क भी उचित उत्तर बार-बार मिलनेपर शिथिल हो जाता है। अतएव श्रुति लोकोपकारार्थ अनेक उदाहरणोंसे आत्मैकत्व समझा रही है।

अग्नि उदाहरणके बाद वायुका उदाहरण दिया जा रहा है। वायु यद्यपि एक ही है तथापि उपाधिसंयोगसे उपाधिआकारवाला होकर नाना प्रतीत होता है। फुटबालमें वायु कन्दुकाकार होता है। टायरमें टायराकार होता है। गुफामें गुफाकार होता है। वास्तवमें वायुमें कोई आकार नहीं है। माथेरान शिमला आदिका वायु अच्छा होता है। मरीनड्राइवका वायु खारा खराब होता है। तो क्या वायु अच्छा खराब होता है? नहीं। उपाधिभेदसे भेद प्रतीत होता है। सेंट बिखेर दिया या फुलवाड़ीमें गये तो सुगन्धवायु मिलेगा। हवा खाने लोग हेगिंगगार्डन जाते हैं। माहिम झोपड़पट्टीमें गन्दी हवा होती है। गट्टरोंके किनारे तो कहना ही क्या? तो क्या वायु सुगन्धि दुर्गन्धि होती है?

"ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे"

क्या हवा कोमल या खरखर होती है? नहीं वह भी औपाधिक है। हवा अत्यन्त निर्दोष है। उपाधि अच्छी या खराब होती है। वैसे आत्मा भी शुद्ध है। उपाधिसे मलिन सदोष होता है। शरीर इन्द्रिय मन आदि उपाधि है। शरीर उपाधिसे शारीरिक गुणदोष आत्मामें प्रतीत होते हैं। इन्द्रियो-पाधिसे ऐन्द्रियक गुणदोष आत्मामें प्रतीत होते हैं। अन्तःकरणोपाधिसे अन्तःकरणीय सुख दुःखादि दोषगुण आत्मामें प्रतीत होते हैं। न्याय-वैशेषिकादिवाले कहते हैं आत्मामें सुख दुःख होता है। भय शोकादि होते हैं। किन्तु यह सही नहीं है। क्यों नहीं? उन्हींके तर्कसे विपरीत सिद्ध होता है। अन्वयव्यतिरेकसे निश्चय होता है। सुषुप्तिमें और मूर्च्छादिमें आत्मा है। शरीरको मूर्च्छामें चीर डालते हैं तो क्या दुःख प्रतीत होता है? उस समय एयरकंडीशन पंखा चलावे तो सुख प्रतीत होता है? उस समय मन लीन होता है। तब सुख-दुःख नहीं होता। मन जग जाता है तो आपरेशन की जगह टटोलने लगता है। वहां क्या दर्द हो रहा है। मन है तो दर्द है। मन नहीं तो दर्द नहीं। यही अन्वयव्यतिरेक है। इस मनमें ही सुख-दुःख सिद्ध

होता है। आत्मा तो उस समय भी जागृत रहता है। "य एष सुप्तेषु जागर्ति" यह पहले कहा जा चुका है। आत्मा जाग्रतको देखता है, स्वप्नको देखता है, सुषुप्तिको भी देखता है। तब सुखदुःखादिको क्यों नहीं देखता? आत्मा केवल प्रकाशक है। प्रकाश देनेवाला प्रकाशित करनेवाला तो आत्मा ही है। अतः वायुमें जैसे सुगन्ध दुर्गन्ध आदिका अध्यास मात्र है। वायु इन समस्त गुणदोषोंसे बाहर है वैसे आत्मा भी सुखदुःखादिसे बाहर है।

यहां दूसरे प्रकारसे भी मन्त्रकी व्याख्या हो सकती है। वायु शब्द "वां गतिगन्धनयोः" इस धातुसे निष्पन्न है। अर्थ है—सदागतिशील। कोशमें वायुके लिये यही नामान्तर भी है।

"श्वसनः स्पर्शनो वायुर्मातरिश्वा सदागतिः" ।

यहां सदागति यह वायुका नाम आया है। माया या प्रकृति ईश्वरकी उपाधि है। उसमें तीन भाग हैं। ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति। प्रकारान्तरसे तात्त्विक, राजस, तामस ऐसे तीन भाग हैं। सात्त्विक भागसे ज्ञान और राजसभागसे क्रिया होती है। इच्छाशक्ति और तामस भागका तालमेल बैठाया जाय तो एक प्रकारमें ही दोनों समाविष्ट हो सकते हैं। इनमें क्रियाशक्ति या राजसभाग बंद पड़ जाता है तो प्रलय होता है। उसके उद्रिक्त होनेपर सृष्टि चलती है। सात्त्विक भागमें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब या आभास आता है तो ज्ञानशक्ति प्रकट होती है। राजसअंशमें ब्रह्मके प्रतिबिम्ब या आभाससे क्रियाशक्ति प्रकट होती है। जैसे बिजली एक ही है। बल्बमें आनेपर प्रकाश होता है, पंखेमें आनेपर क्रिया होती है। प्राणियोंका अदृष्ट इन्हें ब्रह्माभिमुख करते हैं। अदृष्ट समाप्त होनेपर विमुख हो जाते हैं तो प्रलय होता है। सृष्टिकालमें राजस सात्त्विक भाग अभिमुख होते ही स्पन्दन शुरु होता है। और परिस्पन्द होता है। इसका फल है, परिणाम है क्रिया। श्री सुरेश्वराचार्यने वार्तिकमें लिखा है—

"क्रिया नाम परिस्पन्दपरिणामस्वरूपिणी ।
स्पन्दमाने बहिर्ज्ञाने तदङ्कुरवदुद्भवेत् ॥"

क्रिया परिस्पन्दका परिणाम है। परिस्पन्द किससे होगा? स्पन्दमाने बहिर्ज्ञाने। ज्ञान जब बाहरकी ओर स्पन्दित होता है तब स्पन्दन तथा

परिस्पन्दसे अङ्कुरके समान क्रिया प्रादुर्भूत होती है। प्रथम ज्ञानस्पन्द ही शिवतत्त्व है।

"यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥"

शैवागममें इसप्रकार बताया है। अनुत्तर मूर्तिका अर्थ है जिससे उत्तर अर्थात् उत्तम श्रेष्ठ दूसरा नहीं है। जिसे वेदान्तमें ब्रह्म बताया है। प्राणी-अदृष्टसे स्वीय स्वाभिन्नशक्तिमें इच्छाशक्ति उन्मुख हुई। तब ज्ञानशक्तिमें स्पन्द हुआ। चैतन्यविशिष्ट वह स्पन्द या स्पन्दविशिष्ट वह चैतन्य शिव कहलाया। स्पन्दात्मना परिणत शक्ति ही किंचित् भेदको प्राप्त होकर शक्ति अम्बा आदि कहलायी। उसी परिस्पन्दसे बादमें सर्वजगतकी उत्पत्ति हुई। परिस्पन्दको ही अंग्रेजीमें 'वायबरेशन' कहते हैं। अत्यधिक सूक्ष्म अव्यक्त तामसांशमें परिस्पन्दके कारण स्थूल जगत् हुआ। जैसे पंखा घूमता है तो छत्राकार हो जाता है। यही परिस्पन्द सदागतिरूप वायु है। इसीका नामान्तर मातरिश्वा है। उसकी व्युत्पत्ति दिखायी है—'मातरि श्वयति' स्थूल वायु पक्षमें मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गतिं लभत इति मातरिश्वा। अन्तरिक्षमें जिसकी गति हो। सूक्ष्म परिस्पन्द पक्षमें मातरि प्रमातरि चैतन्ये श्वयति गतिं लभते। परमात्मामें अध्यस्त माया ही गतिरूपा हो गयी। अतः मातरिश्वा वह गति ही है। यह परिस्पन्दात्मक वायु भुवनमें प्रविष्ट है। पहले हम दिखा चुके हैं कि ब्रह्मलोकका परिभ्रमण प्रदक्षिणा, सूर्यादियुक्त ब्रह्माण्ड करते हैं। सूर्यादिकी परिक्रमा पृथिवी आदि करते हैं। पृथिवीकी परिक्रमा चन्द्रमा आदि करते हैं। घनाणुकी परिक्रमा ऋणाणु करते हैं। ऋणाणु कर्षाणुकी परिक्रमा करते हैं। कर्षाणु सर्गाणुकी परिक्रमा करते हैं। कर्षाणु घूमने लगते हैं। उससे घनाणु इत्यादि क्रम है। पूरे विश्वमें यह परिस्पन्द ही स्थित है। अलग-अलग ढंगका परिस्पन्द ही विश्व है। एक प्रकारका परिस्पन्द श्रोत्र है। दूसरे प्रकारका परिस्पन्द शब्द है। तीसरे प्रकारका सत्त्वगुणपरिस्पन्द ही ज्ञान है। शब्दादि ज्ञान है। इसप्रकार सदागतिरूप वायु ही विषयाकार, इन्द्रियाकार एवं ज्ञानाकार-रूपसे परिणत होता है। जैसे पंखेकी गति ही छत्राकारमें परिणत होती है।

इसप्रकार गतिरूप या सूत्रात्मारूपी वायु भुवनमें प्रविष्ट हुआ है। वैसे ही परमात्मा भी भुवनमें प्रविष्ट है।

"वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम
सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि
च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति।"

इत्यादि मन्त्रोंमें वायुरूपी सूत्रसे पूरा जगत् गूंथा गया बताया है। इसप्रकार वायु सर्वप्रविष्ट होनेपर भी जगतगत गुणदोषसे स्पृष्ट नहीं है। आत्मा भी उसीप्रकार शरीरेन्द्रियादि गुणदोषोंसे संस्पृष्ट नहीं है।

इस व्याख्या के अनुसार पूर्वमन्त्र में अग्नि पद से प्रकाश विवक्षित है। अग्रणीत्वादग्निः। ज्ञान प्रकाश ही अग्रणी है। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' वह ज्ञानं प्रकाश भी भुवन प्रविष्ट है। यही हिरण्यगर्भ है। हिरण्यगर्भज्योतिर्मयं ऐसी व्याख्या है।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥ ११॥

समस्त लोकके चक्षु होनेपर भी जिस प्रकार सूर्य चाक्षुष दोषोंसे लिपायमान नहीं होता उसीप्रकार समस्त भूतोंके अन्तरात्मा भी वह अद्वितीय आत्मा लोकदुःखसे लिपायमान नहीं होता। क्योंकि वह सबसे न्यारा है॥ ११॥

ब्रह्मका प्रत्यक्षरूपसे दर्शनकरनेकी प्रतिज्ञा कर यमराजने प्रथम जीवात्मा और परमात्माकी एकता बतायी तथा बादमें दो मन्त्रोंमें सर्वात्मैक्य बताया। जीव परमात्मैक्य तथा सर्वात्मैक्य होनेपर ही वास्तविक ब्रह्मदर्शन माना जाता है। किसलिये यह ब्रह्मदर्शन करना है? इसलिये कि सर्वसंसारदुःखकी निवृत्ति हो, अमृतत्त्वकी प्राप्ति हो। सर्वाधिक दुःख मरण है। अतः उस एकका निराकरण होनेपर सर्वनिराकरण समझना चाहिये। इसलिये 'तद्ब्रह्मतदेवामृतमुच्यते' इस प्रकार अमृतत्त्वनिर्देश है। परंतु यह आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप अमृतत्त्वकथन सर्वात्मैक्य पक्षमें कैसे होगा? एक भूतान्तरात्मा होने मात्र से घोरसंसारदुःखमें हम पड़ गये हैं तो सर्वभूतान्तरात्मा होनेपर क्या दशा होगी? भूतका यहां प्राणी अर्थ है। भूतप्रेत नहीं। भूतप्रेतको भी भूत इसलिये कहते हैं कि वह पूर्वकाल-

भूतकालमें डूबा। भवन्तीति भूतानि यह भी व्युत्पत्ति है। जो उत्पन्न होनेवाले हैं वे सभी भूत हैं। पंचभूत तो प्रसिद्ध ही हैं। हम प्रत्येक एक-भूतान्तरात्मा हैं। और घोर दुःख अनुभव करते हैं। "दुःखत्रयाभिघातात्" आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक तीन दुःखोंसे आहत हैं। "शरीरं व्याधिमंदिरम्" शरीरमें कोई न कोई व्याधि और दुःख सबका बना रहता है। कोई विरला ही इससे छूटा हुआ मिलेगा। जो इससे छूटा भी हो किन्तु मानस दुःखके घेरेमें अवश्य आया होगा जिसे आधी कहते हैं। पूनामें पालीतानावाली रानी मुझे ले गयी थी। उसका उस समय वहां एक भव्य बंगला था और उसकी बहनका भी एक बंगला था वह भी रानी थी। वहां मुझे ले गयी वहां गये तो वह सोयी हुई थी। उसने बताया कि राजाने दूसरी शादी की इसका लड़का इसको मानता नहीं जिस क्लेशके कारण वह हमेशा नींद या मूर्च्छाकी गोली खाती रहती है। हमने सोचा था कि राजारानी बड़े सुखी रहे होंगे। किन्तु इस घटनासे मालूम पड़ा कि बल्कि जनताको इतना दुःख नहीं होता जितना कि इन राजरानियोंको होता है। कुछ साल बादमें सुना कि वह जहर खाकर मर गयी। परंतु दुःखनिवारणका यह उपाय सही नहीं है। कर्मका फल दुःख है। आत्म-हत्यासे कर्म नष्ट नहीं होगा। किन्तु एक पाप और बढ़ जायेगा। इस जन्ममें अधूरे भोगे दुःखको भोगनेके लिये फिरसे ऐसा ही दुःखी जन्म लेना होगा। आत्महत्याके पापके लिये विशेष। यह भगवानका दिया हुआ उपहार है—मानव शरीर। इसे नष्ट करनेपर भगवान् नाराज होते हैं। समझ लो उसका परिणाम क्या होगा। मूलको उखाड़े बिना शाखाको काटनेसे दो चार शाखा और उग आयेगी। दुःखका मूल पापकर्म है उसे समाप्त नहीं किया। और शरीररूपी शाखा काट दिया। तो पशुपक्षी आदि दो चार और शाखायें पैदा होंगी। दुःख दूर करना हो तो प्रायश्चित्तादिसे पाप नाश करो। सुख पाना चाहते हो तो पुण्य करो। होता विपरीत है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति नित्यशः॥"

यज्ञ, दान, तप आदि पुण्य कर्म है। जीवन सुखमय चाहते हो तो यज्ञ करो। "स्वर्गकामो यजेत" स्वर्गका परलोक देवलोकमात्र अर्थ नहीं समझना।

परम सुख ही स्वर्ग है। चाहे वह यहां हो, चाहे परलोकमें। यज्ञफल सुख सभी चाहते हैं। किन्तु अग्निहोत्रादि होमयज्ञ नहीं करना चाहते—यज्ञस्य फलमिच्छन्ति यज्ञं नेच्छन्ति। धनाढ्य बनना चाहते हो तो दान करो। शास्त्रोंका डिंडोरा है—नादत्तमुपतिष्ठते। जो नहीं दिया वह प्राप्त नहीं हो सकता।

"पिता रत्नाकरो यस्य लक्ष्मीर्यस्य सहोदरी ।
शंखो भिक्षाटनं कुर्यान्नादत्तमुपतिष्ठते ॥"

शंख भिक्षाटन करता है जब कि उसका पिता रत्नाकर है। बहन साक्षात् लक्ष्मी है। "दानस्य फलमिच्छन्ति दानं नेच्छन्ति" दानका फल धन चाहते हैं दान देना नहीं चाहते। इसीप्रकार सभी मान पूजा आदर सत्कार चाहते हैं। इसके लिये तप ही साधन है। इहलोक मानादि नहीं। तदर्थ करनेपर तप राजस हो जायेगा—"सत्कारमानपूजार्थं तपः" तपोजन्य पुण्यसे सत्कार आदि प्राप्त होते हैं। "तपसः फलमिच्छन्ति तपो नेच्छन्ति" पापफल अंधत्व, बधिरत्व, रोग, व्याधि आदि नहीं चाहते किन्तु पाप करना चाहते हैं। परदार परधन आदिका अपहरण करते हैं। न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति।

पुण्य और पापके फलस्वरूप शरीर मिला। पाप अधिक होनेसे शरीरादिमें दुःख हुआ। और एक शरीरके दुःखसे ही आत्मा दुःखी हुआ। तब सर्वशरीरकी अन्तरात्मा बननेपर क्या-क्या दुर्दशा होगी। किसीने प्रश्न किया कि दुःख तो मन में होता है। आत्मामें नहीं है। तो आत्मा दुःखी कैसे होगा? इसका उत्तर यह कि आत्मा दुःखी नहीं है तो आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिके लिये साधना क्यों करते हैं? दुःख आत्मामें न हो। पर आत्मा साक्षीरूपसे उसे भासित करेगा। यही तो दुःखीपना है। एक दूसरेने कहा एकभूतान्तरात्मा होनेपर दुःख होगा। सर्वभूतान्तरात्मा होनेपर नहीं होगा। यह भी निर्युक्तिक है। एक ज्वालासे हाथ जल सकता है तो दावानलज्वालावलीसे हाथ नहीं जलेगा कहनेपर कौन विश्वास करेगा? भागवतमें रन्तिदेवकी कथा आती है। प्राणियोंका दुःख देखकर वे दयापरवश होकर कहने लगते हैं—

"न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदुःखभाजमन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥"

इस श्लोकसे स्पष्ट झलकता है कि देहधारी सबके अन्तःस्थित अन्तरात्मा अखिल दुःखभागी होंगे। इस कठोर प्रश्नका उत्तर देते हुए यमराज एकात्मवादिका समर्थन "सूर्यो यथा" इत्यादि मन्त्रसे दे रहे हैं।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः। सूर्य भगवान् समस्त प्राणियोंके चक्षु हैं। चक्षु न हो तो मनुष्यकी आंख तो नाममात्रकी होंगी। बेकार हो जायेंगी। अन्धकार ही अन्धकार हो तो क्या भला दीखेगा? सब अन्धे ही हो जायेंगे। इसलिये अन्धकार नाम है। अन्धान् करोति जनान् इत्यन्धकारः। लोगोंको आंखोंके होनेपर भी जो अन्धे बना दे वह अन्धकार है। इसलिये कोशोंमें कहा—

"कर्मसाक्षी जगच्चक्षुर्लोकबन्धुस्त्रयीतनुः"

कर्मोंको देखनेवाला साक्षी है। जगत् का वह चक्षु है इत्यादि। वेद-मन्त्रमें भी

"तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्"

इत्यादि कहा। सूर्य तो देवहित चक्षु है इत्यादि। वह जगच्चक्षु कैसे बना? अपने प्रकाशसे वस्तुओंको वह प्रकाशित करता है। वस्तुरूपप्रकाशनकारी हो तो चक्षु कहलाता है।

न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। जगत् को वह प्रकाशित करता है। किन्तु चाक्षुष जगत् सम्बन्धी बाह्य दोषोंसे वह लिपायमान नहीं होता। चक्षुका विषय चाक्षुष है। उससे सम्बन्धित दोष भी चाक्षुष है। अर्थात् सूर्य मलमूत्रपुरीषादिका प्रकाशन करता है तो उससे न दुर्गन्धित होता है और न उसके स्पर्शसे अशुचि ही होता है। गट्टरका नाला पासमें बह रहा है। उसमें सूर्यकिरण पड़ी उसका प्रकाश आपके घरके अंदर रखे हुए बर्तनोंमें पूजासामग्री आदिमें पड़ गया तो क्या सब अपवित्र हो जायेंगे? नहीं। क्यों नहीं? जब कि वह अस्पृश्यस्पर्श करके आ रहा है? उत्तर यही कि अस्पृश्यस्पर्शोंसे किरणें अशुचि नहीं होती। यह कहें कि सूर्यप्रकाशका स्पर्श वस्तुओंसे नहीं होता। ऊपर ऊपरसे वह लौटकर गृहादिमें आता है तो

उत्तर यही है वह जड़ होनेसे इच्छापूर्वक निवृत्त नहीं होता। टकराकर ही निवृत्त होता है।

दूसरी बात है कि इन समस्त वस्तुओंमें जो रूप है वह सूर्यका ही रूप है। छान्दोग्यभाष्यमें बताया है कि "त्वाष्ट्राण्येव हि सर्वाणि रूपाणि" सभी रूप सूर्यके ही हैं। सूर्य सप्तवर्णयुक्त प्रसिद्ध है।

"सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः"

सातरंगोंकी सात परिधि सूर्य में है। सप्ताश्व यह सूर्य का नाम ही है। अश्व किरण को भी कहते हैं। हरा, पीला, नीला, लाल आदि सभी रंग सूर्य किरणोंसे ही वस्तुओंमें आते हैं। तो सभी रंग सबमें क्यों नहीं? उत्तर यही है कि जो रंग पकड़ रखनेकी योग्यता जिसमें है उसी रंगको वह पकड़ रखता है। पत्तोंमें हरे रंगको पकड़ेनेकी योग्यता है। पुष्पमें लाल, पीला इत्यादि। गाय घास जो खाती है उस घासमें ही दूध भी है, गोमूत्र भी है, गोबर भी है। खून भी है। थनोंमें दूध पकड़नेकी योग्यता है। मूत्राशयमें मूत्र पकड़नेकी योग्यता है। पुरीषाशयमें पुरीष पकड़नेकी। शरीरमें खून पकड़नेकी। एकमें सब है तो सर्वत्र सर्व क्यों नहीं? ऐसे प्रश्न का यही समाधान है। सूर्यास्त होते ही सूर्य अपने प्रकाशको समेटकर चला जाता है। तो क्या दुनियाभरके दोषोंको भी ले लेगा? नहीं। वह वस्तुओंके गुणदोषोंसे अछूता ही रहेगा।

तीसरी बात-आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी ऐसा बताया है। आकाशका गुण है शब्द। वायुका गुण है स्पर्श अपना।और कारणगुणाः कार्यमनुवर्तन्ते के अनुसार आकाशगुण शब्दगुण भी वायुमें है। तेज में अपना गुण रूप और कारणगुण शब्दस्पर्श दोनों इस प्रकार तीन गुण है। जलमें अपना गुण रस और कारण गुण शब्दस्पर्शरूप तीनों रहते हैं। पृथिवीमें अपना गुण गंध और कारण गुण शब्दस्पर्शरूपरस इस प्रकार पांच गुण रहते हैं। इस प्रक्रियासे भी निश्चित होता है तेज का ही रूप सर्वत्र रूपवानमें है। पृथिवी का लय जलमें और उसका लय तेजमें होता है तो क्या तेजोरूपी सूर्यमें पार्थिव एवं आप्य दोषगुण आयेंगे? नहीं। पृथिवी जलमें और जल तेजमें विलीन होते हैं तो तेजमें रूप वापिस आ जाता है। पार्थिव दोषगुण तेजमें नहीं आता।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। दृष्टान्तकथनके बाद दार्ष्टान्तिक स्पष्ट किया जा रहा है। सूर्य सर्वप्रकाश सर्वसम्बन्धी होनेपर भी जैसे सर्ववस्तुगुणदोषयुक्त नहीं होता वैसे ही यह आत्मा सर्वभूतान्तरात्मा होनेपर भी लोकदुःखसे लिपायमान नहीं होता। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों ही ठीक हैं। किन्तु प्रश्नका उत्तर पूरा नहीं हुआ। एकभूतान्तरात्मा होनेपर भी लोकदुःखसे लिपायमान नहीं है। आत्मा नित्यशुद्ध है। सूर्य चाहे एकको प्रकाशित करे चाहे सारी दुनियाको। इसमें क्या फरक पड़ता है? सांख्यवालोंने प्रक्रिया यह बतायी है कि आत्माका प्रतिबिम्ब अन्तःकरणें पड़ता है और अन्तःकरणका प्रतिबिम्ब आत्मामें पड़ता है। आत्माका प्रतिबिम्ब अन्तःकरणादिमें पड़ा तो ये सभी अचेतन चेतनवत् हो जाते हैं। और अन्तःकरणका प्रतिबिम्ब आत्मा में पड़ता है तो अन्तःकरणगत सुखदुःखादिमान आत्मा बन जाता है।

"तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥"

आत्मा और अन्तःकरण के परस्परसंयोगसे अर्थात् परस्पर प्रतिबिम्ब-पतनसे अचेतन अन्तःकरणादि चेतनवत् और अकर्ता आत्मा कर्तृवत् होतां है। चाहे एकभूतान्तरात्मा रहो चाहे सर्वभूतान्तरात्मा बनो यह परस्पर संयोग रहेगा ही। तब स्थितिमें कोई फरक नहीं आयेगा। यही फरक आयेगा कि और अन्तःकरणोंसे संयोग होनेसे उनके भी सुख-दुःख आत्मामें प्रतीत होंगे। तब "आर्तिं प्रपद्येऽखिलदुःखभाजामन्तःस्थितः" यही बात आयेगी।

इस प्रश्नका उत्तर यही है कि हमें सर्वभूतान्तरात्मा बनना नहीं है। जो बनता है वह बिगड़ता भी है। मकानोंका मालिक यदि बनावो तो दूसरे कब्जा करनेवाले आयेंगे और बनी बनायी मालिकी छूट भी जायेगी। लखपति, करोड़पति, अरबपति बने तो कई बादमें कंगाल भी हो गये। सर्वभूतान्तरात्मा बने तो कालान्तरमें एकभूतात्मा होकर लौटना भी पड़ सकता है। असलमें एकभूतान्तरात्मा होकर जो सिमिट गये हैं उसको अपनी स्थितिमें आना है। सार्वभौम राजा अपनेको भीलकुमार समझकर केवल जंगलका राजा मानने लगा है उसको वापिस सार्वभौम राजा होना

है। वह कैसे होगा? जब एकभूततादात्म्याध्यास छूट जायेगा। तादात्म्याध्याससे अन्तःकरणगत दुःखादि आत्मामें प्रतीत हो रहे हैं। तादात्म्याध्यासके मिटते ही स्वयमेव सर्वभूतान्तरात्मा भी होगा। स्वयमेव दुःखसंसर्ग भी समाप्त होगा। जब पानीमें पड़े प्रतिबिम्बको ही सूर्य समझते हैं एक लोकचक्षु होता है तो जलके गुणदोषोंसे सूर्य गुणीदोषी दीखेगा। किन्तु ऊपर दृष्टि कर सर्वलोकचक्षु को सूर्य समझने लगते हैं तो सर्वलोकदोषसे उसे असंपृक्त पायेंगे।

क्यों? और कैसे? क्योंकि वह "बाह्यः" बाहर है। पानी के अंदर जो पहले समझ रहे थे तो पानीके अंदर नहीं, बाह्य है। आत्माको जो हम शरीरके अंदर समझ रहे थे। अभी वह शरीरके अंदर नहीं बल्कि बाहर है। शरीरमें आत्मा नहीं, आत्मामें शरीर है। कुंएमें बाल्टी डाली तो बाल्टीमें पानी भर गया बोलते थे। कब तक? जब तक रस्सी हाथमें थी। रस्सी टूटी तो क्या बोलेंगे? कुएंमें बाल्टी गयी, पानीमें बाल्टी गयी। वैसे जब तक शरीरतादात्म्याध्यासरूपी डोरी (बंधन) है तब तक शरीरमें आत्मा है। जहां डोरी बंधन टूटा वहां आत्मामें शरीर हो जायेगा क्योंकि आत्मा व्यापक है। बाल्टीसे बाहर भी पानी है। वैसे शरीरसे बाहर भी पानी है। "बहिश्च" चंकार दे दिया है। बाहर भीतर सर्वत्र आत्मा है। अथवा शरीरादिसे बाहर अर्थात् पृथक् है।

तादात्म्याध्यास दुःखहेतु है। स्थूलशरीरसे तादात्म्य रहा जाग्रतमें तो स्थूलशरीरीय सुखदुःखकी प्रतीति हुई। स्वप्नमें स्थूल शरीरतादात्म्य न होनेसे स्थूलशरीरीय सुख दुःख आत्मामें नहीं रहा। तब प्रश्न हुआ कि फिर सर्वभूतान्तरात्मा हो, न हो क्या फरक? दुःख सपनेमें नहीं रहा। बात ठीक है। स्थूलशरीरीय सुखदुःख न हो। पर स्वाप्नशरीरका सुखदुःख तो सपनेमें होगा। वह कहां छूटनेवाला है। सुषुप्तिमें जाग्रतशरीर एवं स्वप्नशरीर दोनों का अध्यास छूटता है। फिर भी कारण शरीर है ही। कारणशरीर अज्ञानसे भी सुख दुःख हो सकते हैं। "सुखमहस्वाप्सं" के समान दुःखमहमस्वाप्सं, मूढ़ोऽहमस्वाप्सं ऐसा भी तो होता है। और वेदान्तप्रक्रियानुसार न भी माना जाये फिर भी स्वप्न और सुषुप्तिसे वापिस फिरसे जाग्रतमें आता ही है। अतः शरीरत्रयाध्यासके छोड़े विना कोई उपायान्तर नहीं है। और अध्यासत्रय छूट गया तो सर्वभूतान्तरात्मा होना अनिवार्य है।

शरीरत्रयाध्यास कैसे छूटेगा? समाधिसे, निदिध्यासनसे। वेदान्तके निरन्तर चिन्तन-विचारसे। निर्विकल्पक समाधिमें सर्वाध्यास परित्याग होता है।

"यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्"।

ऐसी स्थिति उस समय आती है। वहां भी यदि संस्कारशेष मानेंगे तो समाधिके द्वारा योग्यता सम्पन्न होकर दृढ़ विचारसे सर्वबाध करना ही उपाय रहता है। बाध होनेके बाद बाधितानुवृत्त्या दुःखाभास भले प्रतीत हो किन्तु प्रारब्धोत्तर अध्यासहेतु अज्ञान, तत्कार्य शरीरादि न होनेसे दुःखभास से भी वह मुक्त होगा। इसी अवस्थाको लेकर "तदेवामृतमुच्यते" ऐसा पहले बताया। तब आत्मा पूर्णतया "बहिः"-हो जाता है।

सूर्यो यथा। एक प्रकारसे मन्त्रकी व्याख्या हमने देखी। सूर्य सर्व जगत्-का चक्षु बनकर सर्व वस्तुओंका प्रकाशन करता है। किन्तु चाक्षुष वस्तुओंके गुणदोषोंसे लिपायमान नहीं होता। इसी प्रकार सर्व भूतान्तरात्मा होनेसे सर्वदुःखी आत्मा नहीं बनेगा। वह बाहर भी न्यारा ही रहेगा। अब इस मन्त्रकी प्रकारान्तरसे भी व्याख्या होती है। उसे भी हम देख लेंगे। जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाष्यकारोंने भी जिस ओर इंगित किया है।

जब हम चाक्षुष प्रत्यक्ष करते हैं तो बाहर तीन तत्त्व एवं अध्यात्ममें चार तत्त्व काम करते हैं। बाहर रूप चक्षुका विषय है। रूपके द्वारा द्रव्यादि भी चक्षुका विषय है। अतः ये दो चाक्षुषमें बाह्य दो हैं। सौरादि प्रकाश हो तभी रूप या रूपी का दर्शन होता है। अतः वह तीसरा है। अंदर एक चक्षुरिन्द्रिय है। दूसरा उसका देवता अनुग्राहक आदित्य है। तीसरा आभास जीवरूप है। चौथा साक्षी है। ऐसे चार अंदर हैं। इनमें चाक्षुषके प्रति सबका उपयोग है। रूप न हों तो प्रत्यक्ष नहीं होगा। जैसे वायु आदि है। द्रव्य न हो-रूपी न हो तो रूप रहेगा कहां? प्रत्यक्षकी बात ही क्या? प्रकाश न हो तो अन्धकारमें अन्य सब कुछ होनेपर भी प्रत्यक्ष नहीं होता। चक्षु न हो तो अंधा क्या देखेगा? भले रूपादि सामने हो, टी. वी. सामने हो। आदित्य देवताका अनुग्रह भी चाहिये। निद्रामें आंख खुली हो तो भी आदित्य देवका अनुग्रह न होनेसे दिखायी नहीं पड़ता। आदित्य देवताका अनुग्रह कम हो जाता है जब चालीस बयालीस वर्षका आदमी

होता है। बेताला उसको कहते हैं। और जीवरूपी आभास भी चाहिये। जीवके न रहनेपर आंख क्या देखेगी? यदि कहें कि उस समय आंख ही नहीं रहती। ऐसी बात नहीं। मृत व्यक्तिकी आंख निकालकर अंधेको लगाते हैं और वह देखने लगता है। अतः आभास भी प्रत्यक्षमें कारण है। और आभास बिम्ब साक्षीके विना संभव नहीं। अतः साक्षी भी चाहिये ही चाहिये। इन सबके होनेपर चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। इनमें देवतारूपी सूर्यको दृष्टान्त रख कर दार्ष्टान्तिक जीव एवं साक्षीका स्वरूप यहां समझाया जा रहा है। तदर्थ कुछ अन्य विचार भी आवश्यक है।

आंख खोलते ही आकाश, सूर्य, चन्द्र, सड़क, वन, पर्वतादि दिखाई पड़ते हैं। इनको देखनेमें पुण्यपाप लगता है या नहीं? सब लोग कहेंगे कि देखनेमें क्या पुण्य पाप? घटपट देखा तो क्या पुण्य होगा क्या पाप होगा? परंतु ऐसी बात नहीं है। देखनेका भी पुण्यपाप होता है। मंदिरमें जाकर क्या करते हैं? भगवानका दर्शन करते हैं तो क्या पुण्य नहीं होता? प्रयागराजमें देवरिया बाबाको देखनेके लिये बड़ी भीड़ लगी रहती थी। क्यों? आदमी तो उससे सुन्दर सुडौल हजारों थे। गंगोत्तरीमें कृष्णाश्रमजी महाराज रहते थे। और जगह कह सकते हैं कि संतोंके यहां श्रवण करने जाते हैं। किन्तु कृष्णाश्रमजी महाराज मौन रहते थे। उनके दर्शनमात्रके लिये लोग जाते थे।भागवतमें भी बताया है-

"साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।"

अतः दर्शनसे पुण्य होता है यह सुनिश्चित है। यदि पुण्य होता है तो दूसरी ओर पाप भी लगेगा। ब्रह्मचारियोंके लिये बताया है-

"नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन"

उदय होते हुए और अस्त होते हुए सूर्यको ब्रह्मचारी न देखें। निषेध किया तो निषेध्यसे पाप माना गया है। न मूत्रादिषु स्वप्रतिबिम्बं पश्येत्। पेशाब, गट्टर आदिमें अपना प्रतिबिम्ब मत देखो।

"न नग्नां स्त्रियं पश्येत् नाञ्जन्तीम्।"

नग्न स्त्रीको मत देखो, अंजन करती हुई स्त्री को मत देखो इस निषेधवाक्यसे निश्चित है यह प्रतिषिद्ध कर्म पापहेतु है। इसमें शिष्टाचार भी प्रमाण है। बाणासुरकी कथा आती है। उसमें उषाविवाहप्रसंगमें श्री

कृष्णके साथ बाणासुरका युद्ध हुआ था। पहले शंकरसे भिड़े थे। वहांसे जैसे तैसे छुट्टी पाकर बाणासुरके पास आये। युद्धमें बाणासुर लड़खड़ाने लगा तो बाणासुरकी माता कोटरा वहां आ पहुंची। विवस्त्र नग्न होकर बीचमें आयी तो मुंह नीचे कर भगवान् कृष्ण वहांसे हटे। लोकमें भी प्रथा प्रसिद्ध है। प्रातःकाल किसका मुँह देखें? कोई भला आदमी दीखे, गाय दीखे, संत दीखे तो मंगल होता है। दरिद्री, लड़ाकू, दुष्ट दिखाई पड़े तो कुछ न कुछ अनिष्ट होता है। बोलते हैं इसका मुंह देखनेमें पाप लगेगा। अतः दर्शनसे पुण्यपाप होता है। घटपटादिदर्शनकी बात अलग है। जैसे यज्ञादि कर्म से पुण्य होता है, हिंसादिसे पाप होता है तो थूंका, कुल्ला किया तो भी पुण्यपाप लगेगा? वह सामान्य कर्ममात्र है वैसे देवदर्शनसे पुण्य, दुष्टदर्शनसे पाप होता है। किन्तु घटपटादिदर्शन सामान्य है। पुण्यपाप नहीं होगा। यह नीति सर्वत्र है।

इस पर आगे प्रश्न यह है कि पुण्य या पाप किस किसको लगता है? केवल कर्ताको ही या और को भी। तो शास्त्रकारोंका कहना है कि तीनको पुण्यपाप लगते हैं। कर्ता, कारयिता और अनुमोदयिता इन तीनोंको पुण्यादि लगते हैं। बकरेका कोई बध करता है। उसको पाप लगता ही है। जो उसका मांस भक्षण करता है उसको पाप लगेगा कि नहीं? लगेगा। क्योंकि वह कारयिता है। अगर वह न खाता तो कसाई वध ही क्यों करता? यह तो बकरेकी बात है। हमारे यहां गोहत्या आंदोलन चला और चल रहा है। गोहत्या करनेवाले पापी तो है ही गोमांसभक्षक भी हत्यापापका भागी है। उसका समर्थक अनुमोदयिता सरकारी व्यक्ति भी पापी है। वह उससे आय कमाना चाहता है। यह तो पापकी बात हुई। पुण्यमें भी ऐसा ही है। वेदोंका श्रवण करना पुण्य है। श्रवण कराना भी पुण्य है। श्रवण कराना दो प्रकारसे है। प्रवक्ता भी श्रवण कराता है। और श्रोता दूसरे श्रोताको प्रेरित करता है वह भी श्रवण कराता है। कारयिता कोटिमें दोनों आते हैं। वक्ताका प्रवचनपुण्य अतिरिक्त है यह बात अलग है तथा कोई सत्संग सुनने जाते हैं तो उसका अनुमोदन करना भी पुण्य है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

'ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताऽहं कर्ता तदनुमोदिता ।
तच्छिक्षयन् लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः ॥'

धर्मके लिये भगवान् लोकसंग्रह करते हैं। उसमें कर्ता स्वयं हुए। वक्तासे कारयिता आ गया। कहनेसे तो लोग करते हैं। अनुमोदिता यह शब्दोक्त है। अतएव ये तीनों ही पुण्यभागी हैं। मनुष्य धर्मको स्वयम् करे। यज्ञादि करे। शास्त्रश्रवण करें तथा करावें। दोनों जहां संभव नहीं हुआ वहां कमसे कम अनुमोदन ही कर लें। जैसे कर्मकाण्डी ब्राह्मणोंने अन्तमें अपनी पत्नि-योंका अनुमोदन किया। हमने भगवत्सेवा नहीं की। फिर हमारी पत्नियोंने (यज्ञपत्नियोंने) तो किया।

यह प्रसङ्गानुसार वर्णन किया। अब उसको प्रकृतमें देखा जाय। साधुदर्शन किया तो आंखोंको, उसके द्वारा कर्ताको पुण्य मिला। नग्नदर्शन से आंखों को और उसके द्वारा कर्ताको पाप प्राप्त हुआ। तब आंखोंके अनुग्राहक अतएव कारयिता अनुमोदयिता सूर्यको भी पुण्यपाप मिला कि नहीं? उत्तर स्पष्ट है-सूर्यदेवताको पुण्य-पाप नहीं लगता। किन्तु क्यों नहीं लगता जब वह अनुग्रहीताके रूपमें कारयिता है। पापदर्शनके समय अपने अनुग्रहको खींच लेते। व्यक्ति अंधा जैसा हो जाता। घुमा-फिरा कर पूछो उत्तर नहींमें आयेगा। क्यों नहीं? सूर्यने कराया नहीं। साक्षात् कराना, अनुग्रहसे कराना दोनों एक ही बात है। मलबार हिल्सकी बात है। एक माताजी थी। उनके पास साधुके भेषमें तीन चार पहुंचे। उन्होंने कहा-माताजी हमलोगोंको रामेश्वर जाना है। टिकिटका पैसा नहीं है। माताजीने कहा—हमारे पास इतना पैसा नहीं है। माताजी! सिर्फ पांचसौ लगेगा। "मेरे पास नहीं है"। अच्छा दो सौ दे दो। कहते-कहते माताने कहा अच्छा पचास देती हूं। नहीं, माताजी एकका भी टिकिट पूरा नहीं होगा। तो जाओ। दरवाजा बंद करने लगी तो वे बोले अच्छा दे दो। माताजीने सोचा चलो पचासमें निपट गया। उन भिखारियोंने सोचा अच्छा पट गया। नहीं तो एकाध रूपया देकर भगा देती। दो दिन बाद उसके लड़के ने देखा वे ही चारों मुसलमान के होटलमें बैठकर खा रहे थे। व्याख्याकी जरूरत नहीं। इशारे से ही समझ लो। उसने आकर मांको कहा। अब वह पछताने लगी। यह कहां मैंने कुकर्मके लिये पैसे दे दिये? उस माताको उस दानसे पाप लगेगा कि नहीं? जटिल प्रश्न है। अनजानमें दिया अतः क्यों पाप लगना? किन्तु दानके लिये पात्रापात्र निर्णय किया है। उसे विचारे

विना क्यों दिया? अतः पाप लगेगा कि नहीं? उत्तर यही है अनजानमें दिया अतः घोर पाप नहीं लगेगा। पात्रापात्र विचार नहीं किया अतः थोड़ा पाप लगेगा। तो प्रकृतमें भी सूर्य ने स्वभाववश अनुग्रह किया। किन्तु कोटरादर्शनसमय पात्रापात्रविचार नहीं किया अतः थोड़ा पाप भी लगना चाहिये कि नहीं? संशयमें पड़ गये सभी। कुछ लोग कहेंगे नहीं लगेगा। दूसरे कहेंगे युक्ति से तो लगना चाहिये।

अब इस संशयको दूर करनेके लिये एक अलग दृष्टान्त देता हूं। पहले जमानेमें यात्री, तीर्थयात्री आदि पैदल चलते थे। गाड़ी, मोटर आदिका आविष्कार नहीं हुआ था। जब होने लगा था तब और अब भी बहुतसे यात्री पैदल जाते हैं क्योंकि पुण्यस्थानके लिये पैदल जानेका भी पुण्य होता है। पदे पदे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। पुराने समयमें सेठ लोग रास्तेमें धर्मशाला बनवाते थे और जगह-जगह कुँए बनवाते थे। धूपमें थके आदमी कूँआ देखकर प्रसन्न होते थे। पानी कुंएसे निकालकर पीते थे और विश्राम पाते थे। तो कुंआ खोदने ख़ुदानेवालोंको उससे पुण्य मिलता कि नहीं? अवश्य अवश्य। इसमें क्या सन्देह? ठींक। अच्छा उस कुंएमें कोई निराश व्यक्ति छलांग मारकर आत्महत्या करे या कोई गायभैंस गिरकर मरे तो कुंआ खोदनेवाले को पाप लगेगा कि नहीं? यह बड़ी समस्या सामने आयी। लेकिन हृदय कहता है—पाप नहीं लगेगा। क्यों नहीं लगेगा? अगर कुंआ न खोदते तो वे न मरते। कुछलोग कहेंगे कुंएके पुण्यसे वे पाप सब दबकर नष्ट होंगे। नहीं। गलत बात। पुण्य पापका विरोध नहीं है। यह हम अन्यत्र सविस्तर कह चुके हैं। तब? पाप लगता है यह बात जचती नहीं। उत्तर सुनिये। पाप नहीं लगता। क्योंकि कुंआ बनानेका लक्ष्य यह नहीं था कि इसमें कोई छलांग मारकर मरे। ईष्टापूर्त कर्म शास्त्रीय है। अतः मनमाना न होनेसे पाप संभावना नहीं की जा सकती। पर लक्ष्य हो या न हो परम्परया कारयिता तो हुए। नहीं। आंशिक अहंकारका उसमें अभाव है। 'अहं लोकोपकारार्थं कूपं खानयामि' होता है। किन्तु 'अहं परात्महत्यार्थं कूपं खानयामि नहीं होता। तब—

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥"

यह भगवद्वचन आंशिकरूपसे लग जायेगा। पुण्यांशमें उस शास्त्रीय कर्ममें अहंकार है। पापांशमें अहंकार नहीं है। अतः पुण्य लगेगा। पाप नहीं लगेगा।

अब प्रकृतमें आईये। सूर्यदेवता चक्षुका अनुग्रह करते समय स्वाधिकारानुरूप कर्ममात्र करते हैं। न पुण्यांशमें अहंकार सूर्यदेवका है और न पापांशमें। अतएव सूर्य भगवानको साधुदर्शनप्रयुक्त पुण्य तथा कोटरादर्शन प्रयुक्त पाप दीनों ही नहीं लगेंगे।

इतने अंशको सिद्धवत् मानकर श्रुति दृष्टान्त दे रही है-सूर्यो यथा। सूर्यदेवता समस्त लोकका चक्षु अर्थात् नेत्रानुग्राहक देवता है। किन्तु चक्षुःसम्बन्धी पुण्यपापमें वह लिपायमान नहीं होता। साधुदर्शनसे जो पुण्य चक्षुको होता है और कोटरादर्शनसे जो पाप चक्षुको लगता है दोनोंके कारयिताके रूपमें सूर्यको पुण्यपाप नहीं लगते।

अब दार्ष्टान्तिककी ओर बढ़ो। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा। प्रश्न यह था कि सर्वभूतान्तरात्मा होनेपर सर्वदुःखोंसे वह दुःखी होगा। तब वृश्चिकमुखात् पलायमानस्याशीविषमुखातिपातः वाली बात हो जायगी। एक भूतान्तरात्मा रहनेपर जो दुःखक्लेश हो रहा था उसे दूर करने सर्वभूतान्तरात्मा बने तो सर्वदुःखोंसे दुःखी होने लगा। नहीं। सर्वभूतान्तरात्मा हम कब बनते हैं? जब एक भूतान्तरात्माको छोड़ देते हैं। जैसे सन्त लोग एक कुटुम्बका, एक घरका सम्बन्ध छोड़ देते हैं तो जगत्कुटुम्ब वाले बन जाते हैं। यह उक्ति प्रसिद्ध है कि-

"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।"

संतके लिये सारा जगत् कुटुंब है। सभी माँ बाप, भाई बहन हैं। माताओं, भाईयों, बहनों इत्यादि संबोधन संतोंके हैं। उसका अनुसरण दूसरे लोग करते हैं। अमेरिकामें प्रथम बार 'ब्रदर्स एण्ड सिस्टर्स' सम्बोधन स्वामी विवेकानन्दने ही किया। नहीं तो 'जेण्टलमेन एण्ड लेडीस' सम्बोधन होता था। अस्तु एकभूतान्तरात्मता छोड़नेपर ही सर्वभूतान्तरात्मता हो सकती है। वह कैसे छोड़ जा सकती है? यह एकभूतान्तरात्मता क्या चीज है? एक भूतान्तरात्माता है इन शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदिमें अहंकार। जिसको चिदात्मग्रंथि कहते हैं। चित् आत्मा है। अचित् अविद्यासे लेकर

शरीरपर्यन्त सभी हैं। इनके साथ ग्रन्थि है तादात्म्य। सर्वप्रथम अहंकारके साथ यह ग्रन्थि पड़ती है इसलिये उसका नाम अहंकार पड़ा। अहं आत्मवाचक है। उसका प्राथमिक तत्त्वके साथ तादात्म्य हो गया तब उसको अन्य नाम न देकर अहंकार नाम दे दिया। वह अन्तःकरणांश है। फिर उसके द्वारा बुद्धि आदि एवं इन्द्रियां तथा शरीरके साथ भी तादात्म्य हुआ तो वे भी अहंकारास्पद हुए। इस तादात्म्यको-अहंकारको मिटाया तो एक भूतान्तरात्मता समाप्त होगी तो सर्वभूतान्तरात्मता स्वतः हो जाएगी। हम दृष्टान्तमें कह चुके कि कूपखननकरनेवाले ने आंशिक अहंकार नहीं रखा तो कुंएमें छलांग मारकर कोई मरे तो उसको लेकर उसे कोई पाप नहीं लगेगा। यहां तों सर्वथा अहंकार समाप्त हो गया तो शरीरादिकृत पुण्यपापोंसे आत्मा क्यों लिपायमान होगा? तब उसको उसका फल सुखदुःख क्यों भोगना पड़ेगा? क्योंकि वह शरीरादिसे बाह्य हो गया। अतः "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य"। यह अंश चरितार्थ हुआ।

जब एक भूत (शरीरादि)में अहंकार न होनेसे एक भूतान्तरात्मा न रहा तो अहंकार सर्वथा मिट जानेसे सर्वभूतान्तरात्मा किस प्रकार? सर्वप्रकाश होनसे। सर्वनिदान होनेसे। प्रश्न होगा कि सर्वप्रकाशकता तथा सर्वनिदानता सर्वसम्बन्ध के बिना नहीं होगा। स्वगत प्रकाशको वस्तुसम्बन्ध किये विना वस्तु प्रकाशित नहीं होगी। तब वस्तुसम्बन्ध स्वयं मे आगया तो वस्तुदोष से स्वयं दूषित क्यों नहीं होगा? दूधका सम्बन्ध पानीके साथ हुआ तो पानीका सम्बन्ध दूधसे नहीं होगा क्या? काशी की बात है। एक भैयेसे हम दूध लेते थे। सस्तेका जमाना था। छः आना आठ आना सेर दूध मिलता था। हमने कहा एक आना ज्यादा ले लो। दूधमें पानी नहीं डालना। उससे हां कहा, स्वीकार किया। लेकिन फिर भी दूध पतला होता था। मैंने पूछा अरे यह दूध पतला है। तुम दूधमें पानी मिलाते हो। भैयाने कहा-महाराज! ऐसा पाप हम नहीं करते। हम दूधमें पानी नहीं डालते। एक रोज हम भैयाके तबेले में गये। वहां देखा तो एक बाल्टीमें दूध गाढ़ा था। दूसरेमें पतला। मैंने पूछा इस बाल्टीसे (गाढ़ा दूधवाली) दूध दो। उसने कहा हमको परवड़ेगा नहीं। इसका दस आना भाव है। मैंने कहा इसका मतलब है-दूसरी बाल्टीमें तुमने दूधमें पानी डाला। नहीं महाराज।

हम ऐसा पाप नहीं करते। पासमें दूसरा खड़ा था। वह हंसने लगा। उसने कहा यह दूधमें पानी नहीं डालता यह सही है। किन्तु यह दुहनेके लिये जाता है तो बाल्टीमें पानी पहले ले जाता है और पानीमें दूध दुहकर डालता है। मैंने भैयेसे पूछा—ऐसा करते हो? वह हंसता हुआ बोला हमको परवड़ता नहीं तो मैं क्या करू? हां, दूधमें पानी नहीं डालता यह सही है। मैं भी आखिर वापिस आ गया। क्योंकि दस बारह आना दें तो भी वह अपनी आदत नहीं छोड़ सकता था। अब बातओ पानीमें दूध डाला तो क्या पानी का सम्बन्ध दूध से नहीं होगा? केवल दूधका सम्बन्ध पानीसे होगा? जिससे पानी दूध बना और दूध पानी नहीं बना? दृष्टान्तानुसार दार्ष्टान्तिकको देखो। आत्मा के संपर्कसे जड़ प्रकाशित होने लगा तो क्या उस समय जड़का संपर्क आत्मासे नहीं होगा? और जड़गुण सुखदुःखादि आत्मामें नहीं आयेंगे? यदि कहें कि प्रकाश- विषयता जड़में है, प्रकाशतादात्म्य नहीं। तादात्म्य ही तो चिदचिद् ग्रन्थि है। हां, सही है। पर विषयता तादात्म्यको ही कहते हैं। गौड़ ब्रह्मानन्दजी कहते हैं कि चित्तादात्म्यं हि चिद्विषयत्वम्।

बंबईका एक सत्संगी सेठ बोलता था कि मैं ब्लेकमार्केट करता हूं। किन्तु साक्षी भावसे रहतां हूं इसलिये मुझे पाप नहीं लगता। दिल्ली, काशी, हलद्वानी, कानपुर आदिमें व्यापार करनेवाला एक रंगवाला सेठ था। अभी भी है। वेदान्ती है। एक बार उसको पचासलाख का फटका पड़ा तो बहुत उदासीन हो गया। हार्ट अटेक आने लगा। उसका साक्षीभाव चला गया। पहले वह काफी साक्षीभावमें रहता था। फिर बादमें रंगमें मिट्टी मिलाकर बेचने लगा तो कुछ सालमें घाटा काफी सुधर गया। और अब सुनते हैं कि धीरे धीरे वह साक्षीभावमें आने लगा है। इन सब उदाहरणोंका क्या होगा?

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि तादात्म्य दो प्रकारका होता है। एक केवल तादात्म्य है और दूसरा वासनाप्रयुक्त वासनाविशिष्ट तादात्म्य है। वस्तुका साक्षात्कार होता है वहां केवल चितृतादात्म्य रहता है। शरीरादि-के साथ वासनाविशिष्ट आत्मतादात्म्य है। प्रकाशका जहां केवल तादात्म्य होता है वहां वस्तुतादात्म्य प्रकाशादिमें नहीं होता। फ्रीजमें साग दूध आदिको रखा। बरफ का सम्बन्ध होनेसे दूध साग आदि ज्योंके त्यों ठंढ़े

रहे। किन्तु सागदूध आदिके सम्बन्धसे बर्फ, मीठा, खट्टा आदि नहीं हुआ। अग्नि जलाकर उसपर बरतनमें दूध रखा। तो अग्निका गुण उष्णता बरतनमें और दूधमें आया। दूधका गुण मीठास सफेदी आदि अग्निमें नहीं आयी। मान लिया जाय वहां मिठास सफेदी आदि आयी तो क्या हर्जा? हर्जा यही है कि उसी दूधके ऊपर एक छोटे बरतनमें पानी रखा जाय तो दूधमें आयी अग्नि वहां भी पहुंचेगी और जल भी गरम होगा। उसके साथ अग्निमें मीठास और सफेदी की जो फरियाद करते हैं वह भी पानी में आ जाता। और पानी दूध हो जाता। किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः यह निश्चित है कि दूधका कारणगुण अग्निमें नहीं आता। पूर्व व्याख्या भी यहां उदाहरण हो सकता है। सूर्यप्रकाशका मालिन्यसे सम्बन्ध होनेसे मलिन वस्तु प्रकाशित हुई। किन्तु मलिन वस्तुसंपर्कसे सूर्य प्रकाश मलिन नहीं हुआ।

परंतु वासनाविशिष्टतादात्म्य होगा तो अन्योन्यसम्बन्ध चित् और अचित् में होगा। वह दूध और पानीके सम्बन्ध जैसा है। इसके लिये ही योगाभ्यासकी या निदिध्यासनकी आवश्यकता है। स्वप्नकालमें स्थूल शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं है तो स्थूल शरीरीय सुखदुःख स्वप्नमें नहीं रहता। हां, स्वाप्न शरीरका सुखदुःख होगा। सुषुप्तिमें जाग्रत और स्वप्न दोनों शरीरोंका सम्बन्ध नहीं रहता। केवल अज्ञानसम्बन्ध है। समाधिमें वह भी नहीं रहता। किन्तु स्वप्नादिमें वासना रहती है। अतः वापिस फिर स्थूल शरीर सम्बन्ध होता है। समाधिमें भी बल्कि सर्वथा वासनात्याग नहीं होता। अतएव व्युत्थान होता है। इसलिये वासनाक्षयरूपी सहज समाधिको ही सन्तलोग महत्त्व देते हैं।

'साधो सहज समाधि भली'

ऐसे संत कबीर दासजी भी कह गये। सहज समाधिमें देखते-सुनते सब हैं किन्तु वासना नहीं रहती।

चित एवं अचित् का सवासन परस्पर सम्बन्ध हो तो उसको संसारावस्था कहते हैं। दोनों सम्बन्ध नहीं, वासनालेश है तो उसको निर्विकल्पक समाधि कहते हैं। चित्सम्बन्ध अचित्में हैं। किन्तु वासना न होनेसे अचित् सम्बन्ध चित् में नहीं तो उसको सहज समाधि कहते हैं। वासना न होनेसे सहजं श्रेष्ठ होता है-सहज समाधि भली। हां, यदि

परस्पर सम्बन्ध भी नहीं वासना भी नहीं तो वह निर्बीज समाधि कहलाती है और वह सर्वोर्ध्व होगी। उसका निरूपण महर्षि पतञ्जलि ने किया है-

"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।"

'तस्य' का अर्थ है ऋतम्भरा प्रज्ञाका संस्कार। उसका निरोध माने सर्ववासनानिरोध। परंतु यहां तक पहुंचना और जीवित रहना बड़ा कठिन है। अतएव अन्तमें कबीरजीकी ही पुनरावृत्ति होगी-सहज समाधि भली।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

पूर्वमन्त्रोंमें ब्रह्मापरोक्षदर्शनका रास्ता बताया। जीवपरैक्य तथा आत्मैक्य बताया। एक तथा सर्वभूतान्तरात्मा होनेपर सर्वदुःखसंगी क्यों न हो यह भी बताया। उदाहरणके रूपमें सन्तको बताया। सन्तलोग एक कुटुम्बका सम्बन्ध छोड़ देते हैं तो उनका वसुधैव कुटुम्बकं हो जाता है। वैसे एक भूतान्तरात्मा त्यागने पर सर्वभूतान्तरात्मा बन जाता है। तो क्या वसुधाकुटुम्बक बन गया तो जितने लोग मरेंगे उतनेके लिये रोयेंगे और श्राद्ध करेंगे? नहीं। वासना नहीं, संग नहीं। वासना न होनेसे रोते नहीं हैं तो श्राद्ध क्या होगा? उस अवस्थाको सहज समाधिस्थिति बतायी। जाग्रत और स्वप्नके शरीरका सम्बन्ध सुषुप्ति में नहीं है। अतः जाग्रत और स्वप्न का दुःख सुषुप्तिमें नहीं होता। किन्तु इतनेसे कृतार्थता नहीं है। कारण वासना तो तब भी रहती है। वहां से वापिस फिर दुःख में आते हैं। अतएव समाधि भी अपर्याप्त है। योगीकी कथा प्रसिद्ध है कि खिचड़ी चूल्हेपर रखकर समाधिमें बैठ गये गंगा किनारे। गंगामें बाढ़ आ गयी और बह गये तो पता नहीं लगा। कहीं जाकर किनारे लग गये। समाधि खुली तो पहले देखने लगे मेरी खीचड़ी कहां गयी। मतलब समाधिमें भी वासना समाप्त नहीं होती। अतः सहज समाधि ही संपादनीय है। वह कैसे होगी? तदर्थ यमराज मध्यमाधिकारियोंके लिये साधनासूचनार्थ यह मन्त्र कह रहे हैं।

एकः। एकका अर्थ भाष्यकारने समाधिक द्वितीयाभाव बताया है। एकत्वसंख्या अर्थ नहीं होता। किसी के पास दस गायें हैं। उससे पूछा

कितनी गायें है। उसने कहा एक। यह सच है या झूठ है? झूठ है। क्यों? उसके पास दस गायें है। दस गायें हैं तो एक गाय भी है। तब झूठ क्यों है? इसलिये कि वहां द्वितीयाभाव अर्थ है। उसके पास द्वितीय तृतीय गाय है। तब द्वितीयाभाव कहना गलत होगा। झूठ हो जायेगा। बल्कि यहां समाधिक द्वितीयाभावतक संतलोग नहीं चाहेंगे।

उत्तरकाशीकी बात है। वहां एक बहुत बड़े विरक्त तत्त्ववेत्ता संत थे। उनके पास जाओ तो यदि कुछ प्रश्न करो तो उसका उत्तर देते थे। नहीं तो स्वयमेव अपनी अच्छानुसार कुछ समय तक प्रवचनके रूपमें उपनिषत्तत्त्व बोलते थे। हम गये तो मैंने कुछ पूछा नहीं, वे स्वयं बोलने लगे। एक डेढ़ घंटे तक उपनिषत् वाक्योंपर खूब सुनाया। फिर बोले अब विराम लेता हूं। उन्होंने कुशल प्रश्नादि कुछ नहीं पूछा। कहांसे आ रहे हो, कहां जा रहे हो यह भी नहीं पूछा। क्योंकि इन संसारवृत्तान्तोंसे उनका कई मतलब ही नहीं था। आत्मदर्शी थे। आत्मा नित्यकुशल है। शरीरादि नित्य अकुशल है, किसका कुशल पूछें? समुद्रमें पानी बरसा कि नहीं पूंछना व्यर्थ है। क्योंकि वह जलमय है। सहारा मरुभूमिमें प्रानी पर्याप्त बरसा कि नहीं पूछना व्यर्थ है। क्योंकि वहां वर्षा कभी होती ही नहीं है। अतः व्यवहारतीत संत कुशल प्रश्न नहीं करते।

पूर्व काशीसे एक भक्त उनके पास गये। काशीमें सभी देव विराजमान है। शंकर भगवानकी तो वह नगरी ही है। वहांपर महाप्रभुजीकी बैठक भी है। वहां राममंदिर भी है। गोस्वामी तुलसीदासजीने वहीं संकटमोचन में बैठकर रामायण लिखी थी। वहीं अन्नपूर्णा भगवती है। ढुंढिराज गणेश है। विश्वेशं भैरवं ढूंढिं इत्यादि प्रसिद्ध है। वह समझता था ये सभी भगवान् हैं। सैकड़ों भगवान् हैं। किन्तु किसी वैष्णवने उसको कहा श्री कृष्ण ही एक भगवान् हैं बाकी सब देवता हैं। उसके मनमें शंका बैठ गयी। फिर तो क्या-जिसके पास जाओ, पूछो, वे अपना ही अलापना शुरु करते हैं। गंगोत्तरी यात्रामें वह गया तो उत्तरकाशीमें उन संतोंके बारमें सुना। उसने सोचा अपनी शंकाका समाधान यहीं करूंगा। उसने विरक्त संतके पास पूछा महाराज क्या एक ही भगवान् है? संतजीने उत्तर दिया-नहीं। उसका समाधान होने लगा। काशीमें बहुत भगवान् हैं। उसने पूछा तो बहुत

भगवान् हैं? संतने कहा-नहीं। अब उसका दिमाग चकरा गया। एक भी भगवान नहीं, बहुत भी नहीं। तब क्या भगवान् शून्य है? नहीं, नहीं, शून्य नहीं संतने कहा। भक्तने कहा-भगवन्। समझमें नहीं आया। संतजीने कहा-एक भगवानका अर्थ है सजातीय द्वितीयका अभाव। किन्तु सजातीय द्वितीय दुनियामें अप्रसिद्ध है। उसका अभाव क्या होगा? तुम अपने मकानके ऊपर जाओ। वापिस आकर किसी को कहो कि मेरे मकानके ऊपर 'एक आकाश है' तो क्या सही होगा? अरे! दुनियामें दो चार दस आकाश हों तो उसकी व्यावृत्तिके लिये एक आकाश कहा जायेगा। जैसे एक गाय है। आकाश तो दितीय है नहीं। तो एक आकाश कहनेका कोई मतलब ही नहीं रहता। अतः 'एक है' का निषेध किया। एक नहीं तो द्वितीय कहांसे आया? एक एक मिलकर दो होते हैं। एक एक एक मीलकर तीन या ब्हुत होते हैं। वह संभव नहीं यदि एक ही न हो तो। शून्य से जगत् क्या पैदा हो? न वह उपादान हो सकता है और न निमित्त। शून्य उपादान हो तो कार्यमें उसीकी अनुवृत्ति होगी। सोनेसे बना कुण्डल सोना ही होता है। वैसे शून्यसे बना जगत् शून्य हो जायेगा। शून्यका अर्थ है-नहीं। तो जैसे कुण्डलसे सोना है बोलते हैं वैसे जगत् शून्य है-नहीं है ऐसा कहना पड़ेगा। निमित्तकारण वही होता है जिसमें कोई क्रिया आदि हो। शून्यमें क्या क्रिया आदि हो! अतएव अशून्य कहना भी बेकार है। आचार्य कहते हैं-

"न चैकं तदन्यद्द्वितीयं कुतः स्यान्न चाकेवलत्वं न वा केवलम् ।
न शून्यं न चाशून्ममद्वैतकत्वात्कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥"

एक नहीं है। तब द्वितीय कहां से हो? अकेला भी नहीं दुकेला भी नहीं। शून्य भी नहीं अशून्य भी नहीं। अद्वैतसिद्धान्त वेदान्तसिद्धान्त है। भला कैसे मैं उसे वाणीका विषय बनाऊं।

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।"

वाणी मन दोनों उस परमार्थतत्त्व तक नहीं पहुंचते।

एकत्वभावना अर्थात् अद्वैतभावना करनेके लिये 'एक' यह प्रथम विशेषण है। द्वैत भावना संसार दुःख का बीज है। यहां एकका अद्वितीय अर्थ है। पर सजातीय द्वितीयत्वरहित अर्थ नहीं है। क्योंकि सजातीय

द्वितीय अप्रसिद्ध है। किन्तु कल्पित अकल्पित साधारण द्वितीयका अभाव अर्थ है। द्वितीय भावनासे भय होता है, दुःख होता है।

"द्वितीयाद्वै भयं भवति ।"

ऐसा श्रुतिवचन है। द्वितीयसे भय होता है। कोई कहे कि अकेलेमें डर लगता है। क्यों लगता है? कोई चोर आ जाय। तब द्वितीयसे ही भय हुआ। ऐसे भी डर लगता है। क्यों? कोई भूतप्रेत आ जाय। तब भी द्वितीयसे ही भय हुआ। पहले तो सत् चोररूपी द्वितीयसे भय हुआ। द्वितीयमें असत् भूतप्रेतसे भय हुआ। अतएव एकका सत्-असत् साधारण द्वितीयाभाव अर्थ बताया। एक आदमी डंडा हाथमें लेकर आया तो उससे डरने लगते हैं और नंगी तलवार हाथमें लेकर आवे तो फिर कहना ही क्या। किन्तु यदि स्वयं हाथमें डंडा लें तो अपने से डरेंगे? तलवार लें तो अपनेसे डरेंगे? बंदूक लें तो डरेंगे? नहीं। कारण? स्वयं द्वितीय नहीं है। और भी देखो। भय तो उपलक्षणमात्र है। क्रोध दुःखादि सभी द्वितीयसे होता है। कोई आपको गाली दे-"मूरख!" तो आपको क्रोध होगा कि नहीं? होगा। कोई कहे कि तू पापी है, खल है, दुष्ट है तो दुःख होगा कि नहीं? और यदि स्वयं अपनेको कहे-"मैं मूरख खल कामी कृपा करो भर्ता।" तो? बड़ा आनन्द आयेगा।

"पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः"

क्या क्या पंडितलोग बुलवाते हैं। तो क्या क्रोध आयेगा? नहीं। बल्कि बड़ा अच्छा लगेगा।

"नीचा अतीव मत्प्राणा मूर्खा अपि गतत्रपाः ।"

इत्यादि वैष्णव लोग गाते हैं। उनको कोई दूसरा यह कहे कि तू नीच है मूर्ख है तब देखना। तात्पर्य यही है द्वितीय से ही भयादि होते हैं। भागवतमें कहा है-(प्रथम श्लोक पूर्वार्धमें तथा द्वितीय श्लोक उत्तरार्धमें)

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।"

"तत्कर्मसंकल्पविकल्पकं मनो बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ।

द्वितीयका जहां अभिनिवेश हो गया वहां भय अवश्यंभावी है। अभिनिवेशका मतलब यथार्थतया जानना। मिथ्या द्वैत है ऐसा जाननसे भय नहीं होता। अभिनिवेशसे भय होता है।

द्वितीयाभिनिवेशका परिणाम है-ईशादपेतस्य। वह ईश्वरसे हट जाता है। दूर हो जाता है। दूसरेका अभिनिवेश मैं भिन्न हूं। ईश्वरभिन्न हूं, इत्यादि द्वैतभाव ही द्वितीयाभिनिवेश है। उससे वह ईश्वरसे दूर हो जाता है। भिन्न जो होगा वह एकाध फुट दूर ही होगा। और मजेकी बात यह है कि करोड़ों कल्पतक चलेंगे तो भी वह फ़ासला समाप्त होनेवाला नहीं है। जहां भी जाय वहाँ यह फांसला रहेगा ही। चाहे वह डोरे भरका ही क्यों न हो। अतएव "तद्दूरे तद्वन्तिके" के भाष्यमें बताया "वर्षकोटिशतैरप्य-विदुषामप्राप्यत्वात्" करोड़ों वर्ष तक भागते रहें तो भी जो फासला अभी है वह बना ही रहेगा। अपनी छाया का माथा पकड़नेके लिये दौड़नेके बराबर हो जायेगा। इस प्रकार द्वितीय अभिनिवेश रखनेवाला ईश्वरसे हटा-हटा रहेगा।

दूसरी बात यह है कि भेदमें सत्ता सीमित होती है। मिट्टी और घड़ा ये दो कहे जाते हैं भले ही। फिर भी अभेद है। क्योंकि घड़ेमें मिट्टी की ही सत्ता है। जहां भी घड़ा जायेगा वहां पीछे-पीछे मिट्टी भी रहेगी। मिट्टी का पिंडा मैं छुड़ावूं ऐसा घड़ा सोच ही नहीं सकता। मिट्टी और कपड़ा यदि देखें तो? मिट्टीमें कपड़ा डाला तो मिट्टीका संयोग जरूर कपड़ेमें है। किन्तु कपड़ा जहां जहां ले जायं वहां मिट्टी पीछे पीछे नहीं आयेगी। क्योंकि मिट्टीका सत्ता कपड़े तक नहीं है। दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न है। अतः मिट्टीकी सत्ता मिट्टीमें सीमित है। कपड़े तक नहीं पहुंच सकती। इसी प्रकार ईश्वर एवं जीव भिन्न है तो ईश्वरकी सत्ता जीव तक पहुंचेगी नहीं। क्या ईश्वरकी सत्ता सीमित है? जैसे मिट्टीकी सत्ता कपड़ेमें नहीं क्योंकि कपड़ा मिट्टीसे भिन्न है। वैसे ईश्वरकी सत्ता जीवमें नहीं होगी यदि वह भिन्न है। परंतु ईश्वरकी सत्ताको कोई चेलेंज नहीं दे सकता। उसकी सत्ता को कोई सीमित नहीं कर सकता। यदि उसकी सत्ता सीमित है तो वह ईश्वर ही नहीं यही बात सिद्ध होगी। इसका निष्कर्ष यह सामने आ जाता है जिसको तुम ईश्वर बोलते हो, वह तुमसे यदि भिन्न है तो उसकी सत्ता निश्चित ही सीमित होगी। जिसकी सत्ता सीमित है वह ईश्वर नहीं होता। अतः जिसको द्वैतवादी ईश्वर कहते हैं वह ईश्वर ही नहीं है। उससे अतिरिक्त किसी ईश्वरको वे नहीं मानते। फलतः द्वैतवादी सभी अनीश्वर-

वादी हैं। बाहर से आस्तिकोंकी पोशाकमात्र है। वे वस्तुतः नास्तिक हैं। निरंकुश सत्ता वाला ही ईश्वर है। उसे नहीं मानेका अर्थ है कि वह नास्तिक है। कपट आस्तिक है। वह ईश्वरसे अनन्त दूर हटा हुआ है। क्योंकि उसके दिमागमें ही निरंकुशसत्तावाला ईश्वर है नहीं।

चूंकि द्वैतवादी ईशादपेत है, ईश्वरसे अतिदूर हटा हुआ नास्तिक है अतएव उसका विपर्यय भी निश्चित है। विपर्यय विपरीत ज्ञानको बोलते हैं। उसका सभी ज्ञान विपरीत होता है। ईश्वरसे विपरीत होनेके कारण स्वयं भ्रान्त है ही ईश्वरानुग्रहकी संभावना न होनेसे यथार्थज्ञानकी गुंजाईश भी उसके सामने नहीं रहती। तब स्वाभाविकरूपसे विपर्यय-वालोंको ऊपरसे और विपर्यय मिला। चौबा गया छब्बा बनने और दूबा होकर लौटा वाली बात होगी। विपर्यय निकालने गये और ऊपरसे और विपर्यय हो गया। "मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों दवा ली"। पहले तो थोड़ा थोड़ा विपर्यय था। उसे सीधे वेदान्तश्रवणसे निकाला जा सकता था किन्तु अब द्वैताभिनिवेश हो गया। अद्वैतनिराकरणंका ही आग्रह होने लगा। फलतः द्वैतवादियोंका विपर्यय अनन्तकालतक भी नहीं निकलेगा। साधारण जनतामें से अद्वैतनिष्ठ बने और द्वैतवादी भी बने। वैसे अद्वैतनिष्ठ साधारण जनतासे बनते रहेंगे किन्तु द्वैतवादीसे कोई अद्वैतनिष्ठ नहीं बनता। कारण द्वैताभिनिवेश हो गया।

इसका भी आगे नतीजा है-अस्मृति। द्वैतमें एकाग्रता नहीं होती। द्वैतोपेक्षा नहीं होती। तब चित्र नानार्थ विक्षिप्त होगा। नानार्थविक्षेप होनेपर एकार्थसंकल्पदार्ढ्य नहीं होगा। तो स्मरणशक्ति क्षीण होगी। स्मृति-भ्रंश होगा। अस्मृति होनेपर ईश्वरप्रत्यभिज्ञा नहीं होगी। यह महान् अनर्थका ही कारण होगा। "स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति" यह बात उस पर लागू होगी।

इसलिये क्या करना चाहिये? "तत्कर्म संकल्पविकल्पकं मनो बुधो निरुन्ध्यात्" द्वैतके कारण संकल्प एवं विकल्प होते हैं। सम्यक्त्वकल्पना संकल्प है दूसरा ठीक नही, यह ठीक है ऐसी अन्यतरमें सम्यक्त्व कल्पना द्वैतमें ही संभव है। अनेक जब हो तब कोई बुरा अच्छा ऐसा संकल्प हो सकता है। एकमें नहीं। यह आम (केरी) खट्टा है। यह आम मीठा है,

अच्छा है ऐसी एकमें सम्यक्त्वकल्पना क्यों हुई? द्वैत है इसलिये। यह दूसरी खट्टी है। खराब है, यह दूसरी इमली अच्छी है, खट्टी नहीं है, मीठी है ऐसा होता है क्या? नहीं। क्यों? इमलीमें द्वैत नहीं है कि कोई खट्टी और कोई मिठी हो। जहां संकल्प होता है वहां विकल्प भी होता है। विविध कल्पनायें भी होती है। अद्वैतमें विविध कल्पनायें नहीं होती। यह संकल्पविकल्प करनेवाला कौन है? मन। उसीसे विकल्प विक्षेप होता है। फिर संकल्प भी उसीसे होता है। परमार्थतत्त्वविस्मृति ही उसमें हेतु है। विपर्यय होनेसे परमार्थविस्मृति हुई। उसमें मूल ईशादपेतता है। अतः मूल मनका निरोध करो। उससे विकल्प-संकल्प निकल जायेंगे। विस्मृतिकी नौबत नहीं आयेगी। ईश्वरसे दूर नहीं हटेंगे। तब द्वैताभिनिवेश नहीं होगा तो-अभयं ततः स्यात्।

मनोनिरोध कौनसा हो? एक तो निर्विकल्पक समाधिमें मनोनिरोध होता है। दूसरा सहज समाधिसे मनोनिरोध होता है। निर्विकल्पक समाधिसे मनोनिरोध होनेपर भी उसका पुनरुत्थान होता है। यह पहले कहा जा चुका है। अतः श्रवण-मननोत्तर निदिध्यासनरूपी सहज समाधि प्राप्त करना चाहिये। वह सहज समाधि है सर्वत्र अधिष्ठानदर्शन। अस्ति भाति प्रियको मुख्यता देकर नामरूपका बाध करना ही निदिध्यासन है। उससे सहज समाधि होती है। उससे अभय शाश्वत होगा। अन्यथा समाधिकालमें तो अभय रहेगा। व्युत्थानकालमें पुनःसंस्कारजागरणसे भय शुरु होगा। अतएव संकल्पविकल्पकं मनो निरुन्ध्यात् बताया। मुख्यतया संकल्पविकल्पको ही हटाना है अधिष्ठान दर्शन होनेपर यह सम्यक् है। (अतएव अर्थात् अन्य असम्यक् है।) ऐसा संकल्प नहीं होगा। फलतः विकल्प भी नहीं होगा। थोड़ी देरमें अच्छा समझा, फिर थोड़ी देरमें बुरा समझा यह विरुद्धकल्पात्मक विकल्प है। विविध कल्पनायें भी विकल्प हैं। अधिष्ठान मुख्य होनेपर विकल्प होंगे ही नहीं। तब अद्वैत दर्शन होगा। इसी अद्वैत भावनाको साधनके रूपमें संपादन करनेके लिये मन्त्रमें 'एकः' यह परमात्माके लिये विशेषण दिया।

परंतु यह सर्वसाधारण नहीं है। स्वप्नकालमें द्वितीय नहीं रहता है। फिर भी बाघको, सांपको, चोरको आदिको देखकर सपनेमें लोग चिल्ला उठते हैं। कमरा चारों ओर से बंद है। वहां द्वितीयकी संभावना कहां हैं? तब "द्वितीयाद्वै भयं भवति" यह बात किस प्रकार? अतएव श्रीमद्भागवतमें उसकी व्याख्या की-"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्।" द्वितीयसे नहीं, द्वितीयाभिनिवेशसे भय होता है। सपनेमें यद्यपि द्वितीय नहीं है तथापि द्वितीयाभिनिवेश तो है। बाघ, सर्प आदि द्वितीय का अस्तित्त्व समझकर ही तों स्वप्नदृष्टा चिल्लाता है। अतः उस द्वितीयाभिनिवेशको मिटानेके लिये उपाय बताया जा रहा है-वशी।

दूसरी बात यह है कि द्वितीय होनेसे भी भय होता है। कैलास यात्रामें हम जा रहे थे। राक्षसताल पार कर चुके थे। सामनेसे कैलासपर्वत दीख रहा था। ऐसा लगता था दो चार माईल दूरी पर कुछ पौधे जैसे दीख रहे हैं और आगे कैलास है। परंतु दो चार माईल नहीं वहांसे लगभग तीस चालीस माईल दूर थे। हम थोड़ी दूर समझकर जल्दी चले। सिर्फ मैदान था। रास्ता दीखता नहीं था। रास्ता था ही नहीं तो क्या दीखे मरुभूमि जैसी तो थी ही। दस पंद्रह माईल निकल गये। पीछेकी ओर देखा तो कोई नहीं। मैं अकेला पड़ गया हूं। वैसे तो हमारे साथी दस बारह थे। चारपांच झब्बू गांय थे। सामान सम्हालनेवाले एवं गायड भी थे। लेकिन कोई नहीं दिखायी पड़ा। मैंने सोचा कि वे दूसरी दिशासे तो नहीं गये? एक घंटा खड़ा रहा। सायंकाल हो चुका था। अब आप सोचिये वहां हमारी क्या दशा हुई होगी? आगे जानेका तो सवाल ही नहीं। पीछे जांय तो कहीं वे दूसरी दिशासे निकल गये हों तो क्या होगा? वहां द्वितीयाभिनिवेशसे भय नहीं हो रहा था। वहां तो अकेलापनसे भयभीत हो गया था। किन्तु समाधान किया सामने कैलास है। जिंदा हो तो भी वहीं पहुंचना है। मरं गये तो कैलासवासी हो ही जाऊंगा। धैर्य आया। एक घंटे के बाद एक झब्बू दिखाई दिया तो जानमें जान आ गयी। उसके बाद पूरा झुंड दिखाई पड़ा। सूर्यास्त हो गया था तो आधा माईल मैं पीछे गया। और झुंड से मिला। वे पूछने लगे कहां आप आगे भाग गये थे? हम लोग कमजोर हैं हमारी ओर भी देखा करो। मैंने कहा-मेरे तो प्राण सूख रहे थे। एक पग

भी आगे पीछे रखनेकी हिम्मत नहीं रह गयी थी। वहां तो मुझे दूसरा ही वचन याद आया। क्या?

"योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः।"

यद्यपि भयकारण द्वितीय वहां नहीं था। परंतु उस अभयमें ही मुझे भय होने लगा था। किन्तु इसी वेदान्तने अभय दिलाया।

लोग ब्रह्मसे भी डरते हैं जहां अत्यंत अभय है। कैलास मार्गमें तो कुछ भयका कारण था। क्योंकि अकेले उस मरुभूमिमें रात बिताना संभव नहीं था। वहां थोड़ी गलती में मृत्यु संमुख थी परंतु ब्रह्म तो अनन्तसुख-स्वरूप है। वहां भयका क्या हेतु हो सकता है? फिर भी साधारण लोग ही क्या ? योगी लोग भी डरते हैं–

"अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।"

यह अस्पर्शयोग परमानन्दस्वरूप है। फिर भी उससे भय है। मरणोत्तर मोक्ष के बारे में साधारण लोगोंसे पूछा तो वे प्रथम हां कहेंगे। लेकिन मौका आनेपर ना कहेंगे। इतना हमने पुण्य किया। बहुत पूजन किया। बहुत सत्संग किया। जान बूझकर कोई भंयकर पाप नहीं किया। अच्छी ही गति होगी। फिर भी पूछा मरना चाहते हो? तो कहेंगे नहीं। कोई धूलिप्रक्षेपार्थ हां बोल भी ले किन्तु प्राणरक्षाणार्थ सबका प्रयत्न बना ही रहता है। मरना यदि टाला जा सके तो कोई भी वैकुण्ठादि लोकोंको नहीं चाहेंगे। मरना सुनिश्चित है किन्तु कोई मरना पसंद नहीं करता कोई वैकुण्ठादि परलोक नहीं चाहता। उसमें भी यह मोक्ष तो बड़ा विलक्षण ही है। मुक्त होनेपर द्वितीय तो रहेगा नहीं, अकेले अकेले क्या करेंगे? यहीं पर अकेले अकेले परेशान होते हैं। क्या मोक्ष में अकेलापन खटकेगा नहीं? फिर कितने समय तक अकेला रहना है यह तो बताओ। घरवाले गरमी की छुट्टीमें बाहर जांय तो दो चार दिन अकेला रहनेकी हिम्मत कर सकते हैं। फिर तो लड़के बच्चे कब आयेंगे कब आयेंगे इस प्रतीक्षामें रहेंगे। एक साल गरमी में मैं किंगसर्कलमें एक भक्त के घरमें रहा। आमका मौसम था। वह मुझे आम लाकर खिलाता था। स्वयं नहीं खाता था। पहले मैंने समझा पेटमें कोई शिकायत होगी इसलिये खाता नहीं होगा। वह भी पूछनेपर टालता जाता था। एक रोज मैंने आग्रहपूर्वक

थोड़ा खानेको कहा तो उसने कहा महाराज खानेमें कोई हर्जा नहीं है। लेकिन मुझे बच्चे याद आ जाते हैं खाते समय, तो सब फीका हो जाता है। थोड़े दिनमें बीबी-बच्चे आयेंगे तो खायेंगे। अब बताईये आप मोक्षमें अकेला रहनेके लिये जा रहे हैं। वहां तो बीबी बच्चोंकी प्रतीक्षा भी बेकार जायेगी। यही तो "अभये भयदर्शिनः" है। क्या अनन्तकालतक बेवकूफ बने रहेंगे? इसलिये भक्तोंने वैष्णवादिने नया तरीका निकाला। वैकुण्ठमें पहुंचो तो वहां पार्षदादि बहुत हैं। वहीं लक्ष्मी है। नारायण हैं। गरुड़ है। सोनेके महल हैं। घूमने के लिये कार? कार नहीं एरोप्लेन है। जो चाहो सो आ जायेगा। "संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति।" संकल्प कर लो। मां-बाप, बाल-बच्चे, बीबी सब उपस्थित होंगे। परंतु उनको वैकुण्ठ नहीं मिला तो कैसे वे मिलेंगे? चिन्ता मत करो। तुम्हारे जैसे भक्तके जो वैकुण्ठ जानेवाले हैं इक्कीस पीढ़ी पूर्वके और इक्कीस पीढ़ी बादके सब वहां आ जायेंगे। और यदि वहां रहते रहते ऊब जाओगे तो उससे ऊपर एक लोक है। वहां भी जा पाओगे। उसको गोलोक कहते हैं। वहां कृष्ण और गोपियोंका नित्य दिव्य नाच होता है, गाना होता है। वहां भी नाच देख देखकर परेशान हो जाओगे तो भगवानके साथ वृन्दावनमें द्वापरयुगमें आ जाना। परंतु ये सब कहानियां ऐसी लगती हैं जैसे "पुनर्मूषिका भव।" एक ऋषिकी अंजलिके तर्पणजलमें ऊपर चीलके पंजेसे छूटी एक चूही पड़ गयी थी। ऋषिने मन्त्रशक्तिसे उसको एक सुन्दर लड़की बना दिया। विवाह योग्य होनेपर उसे योग्यवरको सौंपने ऋषि निकले। सूर्य उसे पसंद नहीं आया क्योंकि तीक्ष्णकर था। उसको ढकनेवाला मेघ पसंद नहीं आया। वह तरल था। उसे उड़ानेवाला वायु पसंद नहीं आया क्योंकि वह चंचल था। उसे रोकनेवाला पर्वत पसंद नहीं आया क्योंकि वह कठोर था। पर्वत-को छेड़नेवाले चूहेको दिखाया तो उसने कहा—यह सर्वोत्तम है। यदि वृन्दावनमें भूलोकमें वापिस आना है तो वैकुण्ठ गोलोक आदि जाना ही क्यों? यही मृत्युलोक अन्तमें पसन्द आनेवाला हैं।

मोक्षमें अवश्य एकाकी है या अद्वितीय है। वस्तुतः मनुष्य द्वितीयको नहीं चाहता, द्वितीयका सुख चाहता है। स्वप्नमें द्वितीय नहीं फिर भी द्वितीयसुख मिला तो ऐसा स्वप्न ही बारबर चाहेंगे। जाग्रतमें द्वितीय रहा

किन्तु वह मारने दौड़ा तो क्या उसे चाहेंगे? मोक्ष ऐसा है कि वहां सर्वसुख विद्यमान है।

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥"

पूर्णसमुद्रमें नाना नदियां मिलती हैं। मिलें या न मिलें समुद्रको क्या फरक पड़ता है? वैस मोक्षकालमें सर्वसुखका वहां अन्तर्भाव है। परंतु सागरोपम उस अनन्तसुखमें अन्यसुखसमावेश अकिंचित्कर ही है। जब तक वह अनुभव में नहीं आता तब तक योगी भी उससे डरते रहेंगे।- "योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्"। अन्यकी तो बात ही क्या? योगीकी भी कल्पना उस दिव्यसुखतक नहीं पहुंच पाती। वह तो वहां जो पहुंच गया वही जान सकता है। पर वहां जो गया वह बतानेके लिये वापिस नहीं आता। केवल अपौरुषेय श्रुति ही इंगितमात्रसे ही कह सकती है। उसको समझनेवाले केवल अस्पर्शयोगी हैं। उस अस्पर्शयोगका साधन बता रहे हैं-वशी। जिसके वशमें सब हों उसको वशी कहते हैं। परमात्माके वशमें सभी हैं। गार्गीने याज्ञवल्क्यसे अक्षर के बारेमें जब पूछा तो उत्तरमें "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" इत्यादि स्वरूप-निरूपणके बादमें बताया कि–

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।
एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः॥
एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ताः विधृतास्तिष्ठन्ति।
एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्वन्दन्ते प्रतीच्योऽन्याः।"

इत्यादि। सूर्यचन्द्रादि वस्तु, आकाश पृथिवी आदि वस्तु परमेश्वरके अधीन हैं। निमेषमुहूर्त आदि काल परमेश्वरके अधीन हैं। प्राची आदि दिशा एवं दिशोपहित नदी आदि परमेश्वराधीन हैं।

हम वस्तु, काल एवं दिशा के अधीन हैं। हमारे शरीर की सत्ता इतर-सत्ताधीन है। भोजन हमसे पृथक् है। भिन्न है। उसे खाते हैं तो वह धीरे धीरे रस रक्तादिक्रमसे शरीर बनता है। फिर मलमूत्रस्वेदादिरूपसे निकल भी जाता है। यह कहें कि मलमूत्रादि त्याज्य अंश ही निकलता है, शरीरांश नहीं। यदि ऐसा हो तो पंद्रह दिन खाये पिये बिना बैठकर देखो।

शरीर ज्योंका त्यों बना रहेगा क्या? शरीर सूखेगा। पतला होगा। क्यों? मानना ही होगा कि शरीरमें प्रविष्ट अंश भी निकलता रहता है। जैसे गाड़ी चलती है तो पेट्रोल जलता रहता है वैसे चलना फिरना देखना सुनना आदि क्रियाओंसे और स्वयं भी शरीरतत्त्व नष्ट होता ही रहता है। यदि शरीर तत्त्व न निकलता तो पता नहीं हमारा वजन कितना हो गया होता। रोज यदि भोजन पानी दो किलो भी अंदर जाता हो तो पचास दिनमें एक क्विंटल वजन हो गया होता। फिर चालीस-पचास-साठ वर्षोंका हिसाब लगायें तो क्या हाल होगा? इसे वस्तुचक्र कहते हैं। इस वस्तु चक्रमें हम जकड़े हैं। इससे हमारा जीवन है। इसके हम अधीन हैं। शरीरमें मिलने पर वस्तुतादात्म्य होगा। बिछुड़नेपर तादात्म्यनाश होगा। वस्तुवश यह शरीर है। इन्द्रियादि भी है। "अन्नमयँ-सोम्य मनः" ऐसी श्रुति है। यह शरीरादि कालके भी वशमें है। कालचक्र चल रहा है-

"दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥"

हमारे जन्मसे पहले भी यह दिनमपि रजनी चक्कर चल रहा था। उस चक्कर में हम आप पहुंचे तो हमपर भी वह चक्कर चला। उसने हमारी आयुका हरण किया। अन्तमें मृत्यु हुई। उसके बाद भी यह "दिनमपि रजनी सायं प्रातः" चलता रहता है। इस कालके हम अधीन हैं। इस कालचक्रसे हम ऊपर नहीं उठ सकते। काल खेल रहा है। हमारी आयु समाप्त होती जा रही है। लाख कोशिश करनेपर भी इस कालचक्रको हम रोक नहीं सकते। हम क्या, बड़े-बड़े तपस्वीयोंने तप कर ब्रह्मा तकको प्रसन्न किया और अमरत्वका वर पाने की चेष्ट की। परन्तु ब्रह्माको भी यह कहकर टालना पड़ा कि मैं भी काल से जकड़ा हूं, मुझे भी एक दिन जाना पड़ेगा। ब्रह्मा भी ब्राह्म दिनके हिसाबसे ब्राह्मशतवर्षजीवी हैं। नचिकेताने भी "वृणीष्वं वित्तं चिरजीविकां च" कहनेपर नम्रताके साथ निवेदन यही तो किया-"जीविष्यामो यावदिशिष्यसि त्वम्" सीधा नहीं कहा। नम्रतासे कहा। आप जब तक शासन करेंगे तब तक हम जीवित रह सकते हैं। मतलब? एक दिन आप भी अधिकार समाप्त कर चले जायेंगे। अमरत्वका वर आप भी नहीं दे पायेंगे। तब याम्याधिकार पर्यन्त रहे या

अपने हिसाब के सौ वर्ष रहे-क्या फरक पड़नेवाला है? वही जन्ममरण फिर होता रहेगा। अतः "वरस्तु मे वरणीयः स एव"।

तीसरा दिक्चक्र है। वस्तुचक्र सर्वात्मताका भेदन करता है। कालचक्र नित्यताका भेदन करता है। दिक्चक्र व्यापकताका भेदन करता है। अन्न शरीर बना तब शरीरात्मक हो गया। फिर शरीरसे निकला तो शरीरात्मता समाप्त हो गयी। क्या घट मृत्तिकाको छोड़कर मृद्भिन्न हो सकता है? नहीं! क्यों वह मृदात्मक है। मृदधीन है। वैसे अन्न शरीरात्मक नहीं है। शरीराधीन नहीं है। अहमर्थकी सर्वात्मताको अन्नने भेद लिया। अहमर्थकी नित्यताको कालने भेद लिया। वैसे अहमर्थ की व्यापकताको दिशाने भेदा। जहां भी हम जाते हैं वहीं दश दिशायें हमें भेद डालती है। ये बर्रेके समान हैं। हिन्दूस्तान पाकिस्तान के सरहदपर यदि हम पहुंचे, उसके बाद यदि पाकिस्तानमें गये तो हिन्दूस्तानका सम्बन्ध छूटेगा। हिन्दूस्तानके अंदर आ जाय तो पाकिस्तानका सम्बन्ध छूटेगा। दूसरा उदाहरण हम समुद्रके किनारे खड़े हैं। पावों को लहरें आकर छू रही हैं। यदि कुछ दूर समुद्रमें जांय तो किनारेकी जमीन छूटेगी। जमीनपर चढ़कर आयेंगे तो समुद्र छूटेगा। अब दिशामें देखो। हम पूर्वपश्चिमके सरहदमें खड़े हैं। उत्तराभिमुख हैं। दाहिनी ओर से पूर्व दिशा शुरू होती है। बाईं ओरसे पश्चिम दिशा शुरू होती है। सड़क आदि सब पश्चिममें हैं। स्टेशन पूर्वकी गहराईमें है। चलो सड़ककी ओर पश्चिमकी गहराईमें। वहां पहुंचनेपर जैसे स्थल के अन्तर्भागमें समुद्रस्पर्श नहीं होता वैसे पूर्वदिशास्पर्श नहीं होना चाहिये। पूर्व की गहराईमें स्टेशनपर पहुंचनेपर पश्चिम का स्पर्श नहीं होना चाहिये। कांदीवली वेस्टमें रहनेवालोंको पूर्वदिशास्पर्श नहीं होना चाहिये। पर बात यहां अलग ही है। कहीं भी जाओ दश दिशाएं तुम्हें घेरे रहेंगी। दश दिशायें इतनी सजग हैं कि स्वर्गपाताल कहीं भी जाओ तुम्हारे पीछे-पीछे आयेंगी और तुम्हें घेरे रहेंगी। तुम्हें कभी व्यापक नहीं होने देंगी। यह देशचक्र हमारे पीछे लगा है। इन तीनोंके अधीन हम हैं। हमारे वशमें ये तीनों नहीं हैं। किन्तु परमात्माके ये तीनों वशमें हैं परमात्मामें ये घूम सकते हैं। परमात्माको ये घेर नहीं सकते। यही बात "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने सूर्याचन्द्रमसौ, निमेष मुहूर्ताः, प्राच्यो नद्य" इत्यादि श्रुतियोंमें बतायी।

अपने स्वरूपभूत आत्माको इस प्रकार वस्तु, देश, काल, चक्रके अधीन न होकर वशीके रूपमें देखना चाहिये। यह भी साधना श्रुति में कहा है–

'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु
य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते । सर्वस्य वशी
सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्मणा भूयान् ।'

इत्यादि। मैं नित्य हूं, जन्ममरण रहित हूं, यह भावना दृढ़ करो। मैं व्यापक हूं, देहपरिच्छिन्न नहीं हूं ऐसी भावना बढ़ाते जाओ। मैं सर्वात्मा स्वरूप हूं वस्तुसीमित नहीं हूं ऐसी भावना साक्षात्कारपर्यन्त करो। तब वह सर्ववशी सर्वेशान आदि होंगे। दक्षिणमें एक बड़े भारी सिद्ध संत हुए थे। जिनके एक परम्पराशिष्य भडुचमें मिले थे। वहां बहुत दिनों तक रहे थे। दक्षिणमें सह्याद्रिके घोर जंगलमें कुटिया बनाकर वे रहे थे। हाथी, शेर आदि भयंकर जानवर उस जंगलमें रहते थे। दर्शनार्थियोंके लिये समय बंधा हुआ था। वार और समय। उस समय सामान्य गृहस्थ दर्शन करने जा सकते थे। आगे पीछे शेर, हाथीका मुकाबला करना पड़ता था। समयानुसार ही जाते थे। उनको वहां अनाजपानी पहुंचाते थे। अनाजका ढेर पड़ा रहता था। उनके पास एक दो सेवक शिष्य रहते थे। हमारे संत वहां असमयमें पहुंचे। रास्तेमें शेर, चीते आदि दिखाई पड़े तो स्वामीजीका नाम लेकर आगे बढ़ते गये। किसी भी जानवरने हमला नहीं किया। दस ग्यारह बजे पहुंचे तो उनके शिष्योंने खाने को फलादि दिया। भोजन बन रहा था। बारह बजे दो तीन सौ आसन और पत्ता रखा। संतजी देखने लगे यहां तो कोई दूसरा आदमी नहीं है। किसके लिये आसन पत्ते हैं? बारह बजे घंटी बजी जोरसे। पांच मिनिटके अंदर आसन सभी भर गये। कौन थे? बंदर, भालू, चील, कौए आदि। सबको परोसा। सब बैठे रहे। नमः पार्वती पते बोल दिया तो सबने शुरु किया और खाने के बादमें अपने मुंहमें पत्ता लेकर सब चले गये। फिर महात्माओंने भोजन किया। संतजीको इतना आश्चर्य हुआ। इसका अभ्यास वे भी करने लगे। भरुच में नर्मदाकिनारे वे रहते थे एक मठमें। वहां हमने प्रत्यक्ष देखा कि चिड़ियाओंको वे दाना खिलाते थे तो उनके हाथपर कंधेपर सब आकर

चिड़ियाँ बैठ जाती थीं और खाती थीं। गिलहरी (खिस्कोली) हाथ से लेकर खाती थीं। एक बार एक गिलहरी आयी और अपने बच्चेको उनके कंधेपर रखकर चली गयी। दिनभर उनके कंधे पर, जेबमें माथेपर वह घूमती रही। दोपहरको उन्हें भिक्षा लेने जाना होता था। मठमें कुछ खास बनाते नहीं थे। गांवमें से भिक्षा लेकर भोजन करते थे। साथमें गिलहरीका बच्चा भी रहा उनके कंधेपर, माथेपर। कोई आदमी सामनेसे आ जाय तो जेबमें जाकर छिप जाता था। वापस आ गये। सोया, विश्राम किया। शामको उसकी मां आयी और बच्चेको लेकर चली गयी। एक यथार्थ घटना है। आंख खोलने वाली है। बच्चेमें कितना अनुशासन? कैसा उसकी मांने उसे समझाया। और संतसे कैसी निर्भयता! मैंने पूछा, आप इसके लिये साधना करते हैं? वे बोले यही कि एक तो किसीसे द्वेष नहीं करता हूं। किसी का द्रोह करने के लिये कभी नहीं सोचता हूं। दाना मिला तो खिलाता हूं। और यही भावना रखता हूं कि जैसे मेरे हाथ पांव आदि हैं वैसे ये सब भी मेरे अंग हैं। सारा विश्व मेरा ही शरीर है। मैं सबमें एक हूं। इसका ही यह परिणाम है। इन गृहस्थ आचार्योंको जो रागद्वेषमें डूबे हैं। वे भला सर्वात्मभाव क्या जानें ? क्या जाने साधना, क्या जाने सर्ववशित्व! ये तो धनसंचयार्थ गुरु बन बैठे हैं। संत तो वे हैं जो निःस्पृह हैं। सर्वात्मभाव रखते हैं सबसे प्रेम रखते हैं। आज पाखंड की दुनिया है। अद्वैतभावका विरोध करते हैं। किन्तु आज भी ऐसे संत विद्यमान हैं। यह साधना संतोंके बिना दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। इस प्रत्यक्ष उदाहरणसे दक्षिण के सर्ववशी संतके दृष्टान्तको भी मैंने यथार्थ समझा।

प्राचीन समयमें ऋषि मुनि रहते थे। उनका वृत्तान्त आता है कि वे जंगलमें रहते थे। कन्दमूल, मुनिअन्न आदि खाकर तप करते थे। किसीसे रागद्वेष नहीं। परिणाम प्रत्यक्ष यह था कि एक ओर गाय बैठी है और दूसरी ओर शेर। दोनोंमें कोई विरोध नहीं। अहि नकुल साथ साथमें।

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।"

यह श्रृंगेरी की कथा है। आचार्यने वहां देखा नेवला तड़प रहा था धूपमें। एक सांप आकर फना फैलाकर उसका छाता कर रहा था। श्रृंगी ऋषिकी तपस्याका यह प्रभाव था। यही वशित्व है।

सर्वभूतान्तरात्मा। ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये नानाविध साधनायें होती है। "एको वशी" इस मन्त्रमें साधनाओंका निरूपण है। "तमात्मस्थं योऽनुपश्यन्ति" यहां अनुपश्यन्तिका पूर्वदर्शनपूर्वक अनुदर्शन अर्थ है। पूर्वदर्शन अनुसन्धानात्मक है। वह अनुसन्धान साधन है। अनुदर्शन साध्य है। प्रथम अद्वितीयत्व भावना "एक" पद से बताया। उसके बाद "वशी" विशेषण दिया। सब प्राणियोंको जो वशमें करे वही वशी है। कैसे वशमें करना? सर्वत्र आत्मभावनासे, प्रेमसे, रागद्वेषपरित्यागसे। जैसे पूर्वमें भृगुकच्छीय महात्माके उदाहरणसे बताया। जैसे हम अपने शरीरसे प्यार करते हैं वैसे समस्त शरीरोंसे करो। क्योंकि वह भी मेरा आवासस्थान है। क्योंकि आत्मा एक है। अपने शरीरसे कोई राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता। राग का अर्थ है मोह। जैसे स्त्री या पुरुषको देखकर मोहित होते हैं वैसे कोई अपनी ही देहको देखकर मोहित नहीं होता। अपने से द्वेष भी नहीं करते। यह सामान्य बात बता रहे हैं। कभी कभी अपने अंगोंसे भी राग तो नहीं होता द्वेष हो जाता है। बाल सफेद होने लगता है तो द्वेष होता है। एक लड़की को हमने पारलेमें देखा। उसके दांत आगे निकले थे। भद्दे थे। उसे देखकर कोई लड़का उसे पसंद नहीं करता था। उसने अपने सारे दातोंको निकलवाकर नये बनावटी दांत बनवाये। तब उसको चैन हुई। परंतु तब तक वह काफी ऊमरकी हो चुकी थी। उनके लिये वशी बनना काफी ठेढ़ी खीर है। फिर भी अंगविशेषके प्रति द्वेष होता है। पूरे शरीरके प्रति नहीं। मरना कोई नहीं चाहता। अपने शरीरको कोई काटना पसंद नहीं करता। वैसे रागद्वेषरहितभावना समस्त प्राणियों के प्रति करना संतोंका ही काम है। उसके बाद इस तृतीय विशेषणसे एक विशिष्ट भावना बता रहे हैं।

सर्वभूतान्तरात्मा। समस्त भूतोंका अन्तरात्मा वह परमात्मा है। वही भावना अपने में करो। भूत शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। भूतकालको भी भूत कहते हैं। भूतप्रेतको भी भूत कहते हैं। संस्कृतमें भूतार्थ सत्यार्थको कहते हैं। भूतका प्राणीमात्र भी अर्थ है। पञ्चभूत भी अर्थ है। भवन्तीति भूतानि इस व्यत्पुत्तिसे उत्पत्तिवाले सबको भी भूत कहते हैं। हम यहां पर दो अर्थ को लेकर विचार करेंगे। एक प्राणी अर्थ, दूसरा भवन्तीति भूतानि-अर्थात् उत्पन्न होनेवाले सब।

अन्तरात्माका अर्थ है अंदर रहने वाला नियामक आत्मा। जो नियामक आत्मा है वही अन्तःस्थित है। इसीको अन्तर्यामी भी कहते हैं। अन्तर्यामीका अर्थ है-अन्तस्तिष्ठन् यमयति। अर्थात् जो अंदर रहकर नियमन या नियन्त्रण करनेवाला। बृहदारण्यकमें बताया है–

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद
यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।

जो पृथिवीमें रहता है। कैसे? हमारे जैसे ऊपर ऊपर? नहीं। पृथिव्या अन्तर। पृथिवीके अभ्यन्तरस्थ है वह। जिसको पृथिची नहीं जानती। जिसका शरीर पृथिवी है। जो पृथिवीके अंदर रहकर पृथिवीका नियन्त्रण करता है। वह अन्तर्यामी है। वह है कौन? "ते आत्मा"। तुम्हारी ही आत्मा। इस प्रकार "योऽप्सु तिष्ठन्", "यस्तेजसि तिष्ठन्" इत्यादि रीति बहुत सारे पदार्थों का परिगणन किया है। प्रथम मन्त्रपर थोड़ा विचार करें। पृथिवीमें रहता है। अंदर स्थित है। यह समझमें आया। किन्तु "यं पृथिवी न वेद" यह कैसा विशेषण? पृथिवी यही जो मिट्टी पत्थर पहाड़ आदिके रूपमें दीख रही है। इसके किसीको जानने या न जाननेका क्या सवाल है? यह पत्थर रामलालको नहीं जानता कहनेपर मजाक़ सा लगेगा। यह पत्थर नहीं तो कौन पत्थर रामलालको जानता? तो किशनलालको जानता है क्या? यह तो व्यर्थ विशेषण है। वैसे पृथिवी जिसको नहीं जानती यह अप्राप्तनिषेध है। नहीं। यहां पृथिवीका मिट्टी, पत्थर, पहाड़का भूगोल अर्थ नहीं है। भागवतमें कथा आती है। भूमि असुरोंके भारसे पीड़ित होकर ब्रह्माके पास गयी। वहां से ब्रह्मा आदि सहित वैकुण्ठ गयी–

"भूमिर्दृप्तनृपव्याज दैत्यानीकशतायुतैः।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥"

कौनसी पृथिवी ब्रह्मके पास सत्यलोकमें फिर वहांसे वैकुण्ठलोकमें गयी? यह पृथिवी जब गयी तब इस पर रहनेवाले हम भी तो वैकुण्ठ गये होंगे। यदि गये तो हम वापिस कैसे आये? "यद्गत्वा न निवर्तन्ते"। अतः इस प्रकारकी चर्चाका विषय पृथिवी मिट्टी पत्थर पहाड़ नहीं। किन्तु अधिष्ठाता देवता वहां गयी। इस पृथिवी को यहीं छोड़कर कामगामी होनेसे गयी, हम नहीं गये। उस पृथिवीको लेकर यह कथन है-"यं पृथिवी न वेद"। पृथिवी

देवी, जलदेवता, तेजोदेवता, वायुदेवता एवं सूर्यादि देवता नहीं जान पाये तो हमारे अन्तःस्थित भी उस अन्तरात्माको हमने नहीं जाना तो कौनसी बड़ी बात है? उस अन्तर्यामीको कोई पहचान नहीं पाता। उसकी पहचान तभी संभव है यदि हम अन्तर्दृष्टि बनें। अभी तो परागदृष्टि बने हुए हैं।

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः"

वाली बात है। अन्तर्यामीके रूपमें उस श्रुतिपरम्परामें श्रुति है-

'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरा यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं
शरीरं यो विज्ञानमन्तरा यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।'

माध्यन्दिन शाखामें विज्ञानकी जगह "य आत्मनि तिष्ठन्" विज्ञानवृत्य-वच्छिन्न चैतन्य है। आत्मा अन्तःकरणप्रतिबिम्बित या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है यही फरक है। अवच्छिन्नका अस्तित्व अनवच्छिन्नका अस्तित्व ही है। प्रतिबिम्बमें बिम्बास्तित्व ही है। अतः दोनों उपपन्न हैं। वह अंदर रहकर किस प्रकार नियमन करता है? क्या नियन्त्रण करता है? क्या कराता है? बताया है–

'एष उ साधु कर्म कारयति यानेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति।
एष उ ह्येवासाधु कारयति यानधो निनीषति।'

वही अच्छा कर्म भी कराता है। वही बुरा कर्म भी कराता है। गीतामें भी कहा–

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'

हम केवल यन्त्ररूढ़ कठपुतले जैसे हैं। जैसे वह नचाता है वैसे हम नाचते हैं। हमारे हाथमें कुछ नहीं है। परंतु इतना कहने पर भारी जटिल प्रश्न सामने आता है। क्या बुरे कर्म जो भी हम करते हैं वे सब ईश्वर कराता है? तो ईश्वर कारयिता हो गया। परिणाम ईश्वरको ही भुगतना होगा। कुछ लोग कहते हैं कि बुरे कर्म तो हम करते हैं। ईश्वर अच्छा कर्म कराता है। किन्तु यह कहनेकी बात है। अच्छे कर्म तो कहते हैं हमने किया। बुरा कर्म होनेपर कह देते हैं ईश्वरकी मर्जी ऐसी थी, ऐसा हो गया। एक जगह एक हंसीकी घटना हो गयी। एक अर्ध वेदान्ती था। उसने मेजपर पैसे की थैली देखी तो रहा नहीं गया। उठाकर अपनी थैली में

डाला। इधर पर्स कहां गया कहां गया इस तरह तलाशी होने लगी। आखिर तलाशी लानेपर वह पकड़ा गया। उससे पूछां तो बोला मेरा दोष नहीं। उस समय कुंछ मति ऐसी हो गयी। ईश्वरकी मर्जी थी। ईश्वरने कराया। सामनेवाले ने तीन चार झापड़ मारा। वह बोलने लगा मुझे क्यों मारते हो? उसने कहा मैं थोड़ा ही मारा हूं। मेरे अंदर बैठे ईश्वरकी मर्जी हुई। वह मुझसे मरवाता है। खैर, यह तो कादाचित्क घटना मात्र है। असल बात क्या है? असल बात यह है कि आगे विशेषण दिया है-"यानेभ्यो लोकेभ्यो उन्निनीषति"। और "यानधो निनीषति"। ईश्वरने कराया तो ईश्वरकी मर्जीसे ऊपर नीचे भी जाना पड़ेगा। पूर्वकृत कर्मानुसार बुद्धि उत्पन्न होती है और वासना जागृत होती है-

"कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।"

उसका पोषण परमेश्वर करता है। चाहे वह साधु हो चाहे असाधु। कसरको परमेश्वर पूरा करेगा। कंस महापापी था। किन्तु उसको दण्ड देनेका समय नहीं बन रहा था। तब पांच सात बच्चोंको ऊपरसे मरवाया। हिरण्यकशिपु दुष्ट था। उसे दण्ड देना था। पर दण्डयोग्य पाप नहीं हो रहा था। तो अपने पुत्रपर अत्याचार कराया। डाक्टर ऑपरेशनके लिये फोड़ा, मोतिया आदिको विपरीत दवा लगाकर पकवाते हैं। यह भी ईश्वरपक्ष को लेकर बतया जा रहा है।

परमात्मा तो उतना भी विशेष नहीं करता। वस्तुतः परमात्मामें तीन प्रकारकी जो शक्ति है-ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति। उन शक्तियोंका आधानमात्र वह करता है। वह भी स्वभावतः। जैसे बिजली एक ही है। बल्ब उपाधिमें प्रकाशशक्ति आती है। पंखा उपाधिमें क्रियाशक्ति आती है। फ्रीज आदि उपाधिमें शैत्यशक्ति आती है बिजली तो उदासीन ही रहती है। ग्रहण जिसको जो करना हो सो करो। योग्यपात्रसे ग्रहण करो। वैसे परमात्मा भी उदासीन है। योग्यपात्रमें ज्ञानशक्तिका आधान होता है। उस ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति आदिसे साधुकर्म, असाधुकर्म आदि होते हैं। स्ववासनानुसार साधु या असाधु कर्म करते हैं तो तदनुरूप मायावृत्ति होती है। उसमें प्रतिबिम्बरूपसे फलदानशक्ति आ जाती है तो

अनुरूप फल मिलता है। इसी को लेकर "साधु कर्म कारयति" "उन्निनीषति" इत्यादि कथन है।

सर्वभूतान्तरात्मा ही आत्मा है। "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इस श्रुति में उसको "त आत्मा" तुम्हारी आत्मा है ऐसा बताया है। उसकी निरन्तरभावना करनी चाहिये। दक्षिणके उस सन्तको हमने बताया जो घोर जंगलमें रहते थे, जिनके पंगतमें वानर, शेर भी आकर बैठते थे। और भड़ौचमें जो सन्त ते जिनके कन्धेपर, सिरपर, जेबमें गिलहरी खेलती थी। इसी सर्वात्मभावनासे वे सिद्ध बने थे। वशित्वभावना और सर्वात्मभावना ये दोनों परस्पर कार्यकारणभावापन्न हैं। अतः वशी विशेषणमें भी हमने उदाहरणरूपसे उन्हें बताया। जैसे हम अपने शरीरादिके अन्तर्यामी नियन्ता हैं वैसे शरीरान्तरमें भी हम ही अन्तर्यामी नियन्ता हैं। यह भावना ज्यों ज्यों बढ़ती जायगी त्यों त्यों सर्वभूतान्तरात्मा विस्तारको प्राप्त होगी। इसके अल्पविस्तार और अधिक विस्तारको लेकर ही संतोंका तारतम्य है। साधारण सन्त, महान् सन्त, लोकोत्तर सन्त इत्यादि भेद इसी तारतम्य को लेकर हैं। यह साधना सबके लिये संभव नहीं है। संत ही ऐसी साधना कर सकते हैं। इसीलिये संत वंदनीय होते हैं।

यह एक प्रकारकी व्याख्या हुई। अब द्वितीय प्रकारकी व्याख्या देखें। भूतका उद्भूत, जात, उत्पन्न अर्थ है। उत्पन्न समस्त संसारका वह अन्त-रात्मा है। चाहे उत्पन्न वस्तु जड़ हो या चेतन हो। एक मृत्तिकासे निर्मित घड़ा है। कद्दू, कोहड़ा, तर्बूज जितना बड़ा है। दूसरा सुवर्णसे निर्मित उतना ही बड़ा घड़ा है। दोनों एक बराबर बड़े हैं। एक मृत्तिकानिर्मित घटमें दो लिटर पानी आता है तो दूध कितना आयेगा? उतना ही, घी हो शायद थोड़ा कम। क्योंकि घी का वजन जलादि की अपेक्षा कम है और सुवर्णघटमें कितना पानी, कितना दूध और कितना घी आयेगा? उतना ही। क्या सोनेके घड़े में दस लिटर पानी दूध नहीं आते? उसमें तो नहीं आयेंगे। दूसरा घड़ा हो बड़ा तो अलग बात है। तब दोनोंकी कीमतमें क्यों फरक है? मिट्टी का घड़ा चार पांच रूपये में आयेगा। सोनेका घड़ा पचीस पचास हजारमें। जब दोनोंमें दूध पानी आदि बराबर ही आते हैं तो कीमतमें फरक क्यों? कहेंगे एक मिट्टीसे बना है, दूसरा सोनेसे। भले! यह

तो कारण का भेद हुआ। कार्यका नहीं। एक घड़ा देखेंगे कि उसको बनानेवालेको देखेंगे? उत्तर यह है यद्यपि घड़ा घड़ा एक है, एक ही आकार प्रकार है किन्तु एक का अन्तरात्मा मिट्टी है, दूसरे का अन्तरात्मा सोना है। घड़े की किमत नहीं। मिट्टी और सोनेकी कीमत है। और परिश्रमकी किमत है। कुम्हार आदि निमित्तकारण हैं। वह साथमें नहीं रहेगा। अन्तरात्माका अर्थ है आंतरिक स्वरूप। अंदर व्याप्त होकर सूक्ष्म-रूपसे रहनेवाला अन्तरात्मा है। "अत सातत्यगमने"। ततं व्याप्तं तेन सहेति सततं, सततस्य भावः सातत्यं व्याप्तिः। तेन गमनं व्यापनम्। अर्थात् व्याप्त होकर रहना अत धातुका अर्थ है। उससे 'मन्' प्रत्यय जोडनेपर आत्मन् शब्द होता है। अंदर व्याप्त होकर रहनेवाला यह अन्तरात्माका यौगिक अर्थ है। जब तक घड़ा है तब तक साथमें मृत्तिका या सोना रहेगा। जहां भी घट जायेगा वहीं मृत्तिका या सोना पहुंचेगा। जो घड़ा है वह मृत्तिका या सोनेसे अधिक सत्ता नहीं रखेगा। इस आपेक्षिक देश, काल, वस्तु परिच्छेदके विना घड़े में मृत्तिका या सोना रहेगा।

अन्तरात्माके स्वरूपको समझनेके लिये यह उदाहरण दिया। अब आगे हम मृत्तिकाका घट लेकर ही विचार करेंगे। क्योंकि सोनेका घड़ा खतरनाक है। कोई पण्डित कथा बोल रहे थे-समझ लो मेरे पास एक सोने का घड़ा है उसकी किम्मत पांच लाख रूपया है। क्या उसमें कोई मिट्टीका तेल भरेगा? अनाज भरके रखेगा। वैसे इस अमूल्य शरीरमें कौन विषयोंको भरेगा? एक चोर कथा सुन रहा था। उसने समझा पंडितजी कहते हैं मेरे पास एक सोनेका घड़ा है। पांचलाख रुपया दाम है। पंडितजीकी खोली थी। रातको सेंध मारकर अंदर घुसा। इधर-उधर ढूंढा तो न मिला। इतनेमें पंडित जग गया तो चाकू निकालकर कहा—कहां है सोनेका घड़ा? अरे, कौनसा घड़ा? कथामें जो तुम बोल रहे थे। पंडित समझ गये। कहने लगे—अरे! मैं कथामें कह रहा था, मेरे पास थोड़े ही सोनेका घड़ा है! लो चाभी पेटीकी। खोलकर देख लो। सब जगह ढूढ़ लो। हाँ, इसलिये सोनेके घड़ेसे खेलना खतरेसे खाली नहीं। मिट्टीके घड़ेपर

विचार करो। उसकी अन्तरात्मा मृत्पिण्ड है। आगे बढ़ो मृत्पिण्डका अन्तरात्मा कौन? मृत् चूर्ण। उसमें पानी डालकर पीसकर मृत्पिण्ड तैयार हुआ। मृच्चूर्ण का अन्तरात्मा है—मृत्कण। छोटे-छोटे त्रसरेणु जुड़-जुड़कर मृच्चूर्ण बनता है।

"जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मं यद्दृश्यते रजः।
त्रसरेणुरसौ प्रोक्तस्त्रुटिरित्यभिधीयते॥"

झरोखेसे अंदर प्रकाश आता है तो उसमें उड़ते हुए जो छोटे कण हैं ये त्रसरेणु हैं। ये ही कण हैं। इन्हींको त्रुटि कहते हैं। उनकी अन्तरात्मा कौन? परमाणु। जो दृष्टिगोचर नहीं होता। जो अतीन्द्रिय है। यहीं तक अनुमानकी गति है। आगे शास्त्र बतायेगा। परमाणुका अन्तरात्मा कौन है? उसको गन्धतन्मात्रा या पृथिवीतन्मात्रा कहते हैं। वह द्रव्य नहीं, शक्ति-विशेष है। पृथिवी तन्मात्रा का आत्मा कौन है? जलतन्मात्रा। पृथिवी तपती है तो तरल होकर जल हो जाती है। सोना तपनेपर जलाकार हो जाता है। पत्थर भी पिघलता है। जलतन्मात्राका आत्मा तेजतन्मात्रा है। बहुत तपनेपर अग्निवर्ण हो जाता है। जलता है। तेजतन्मात्राका आत्मा वायुतन्मात्रा है। जल, सुवर्ण आदि तपकर अन्तमें भाप होकर हवा बन जाता है। वायु तन्मात्राका आत्मा आकाश तन्मात्रा है। आसमानमें बादलके टुकड़े दीखते हैं। देखते देखते वहीं विलीन हो जाते हैं। "छिन्नाभ्रमिव नश्यति।" नाश क्या, वह आकाशरूप हो जायेगा। आकाश-तन्मात्राका आत्मा कौन? शास्त्र यहांसे मोड़ लेता है। आगे कोई तन्मात्रा नहीं है। उसका मूल अहंकारतत्त्व है। अंदरकी ओर मुड़ गये। समष्टि अहंतत्त्वसे आकाश हुआ। वह अहंतत्त्व कहांसे हुआ? उसका आत्मा कौन? महत्त्वत्त्व। जिसे बुद्धितत्त्व कहते हैं। उसका अन्तरात्मा कौन? अव्यक्त प्रकृति। भगवानने गीतामें कहा—

"भूमिरापोऽनलो वायु खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥"

इस श्लोककी व्याख्यामें गन्धतन्मात्रादि पांच, अहंतत्त्व, महत्तत्त्व, प्रकृति ये तीन ऐसे आठको प्रकृति बताया है। वह अव्यक्त क्या है? परमेश्वर शक्ति ही अव्यक्त है।

"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिस्त्वनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका सा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूते ॥"

विवेकचूड़ामणिका यह वचन है। अर्थात् परमेश्वरशक्ति ही प्रकृति, माया आदिका अर्थ है। शक्तिका आत्मा कौन? शक्ति कहां रहेगी? शक्तिमानमें। जैसे घड़ा जहां जायेगा वहां मृत्तिका भी पहुंचेगी। वैसे शक्ति जहां पहुंचेगी वहां शक्तिमान भी पहुंचेगा। शक्तिमानके बिना शक्ति नहीं है और शक्ति न हो तो शक्तिमानका अस्तित्व भी दुर्लभ है। फिर भी आधार होनेसे शक्तिमान अन्तरात्मा है। इसप्रकार एक घटको लेकर विचारकरनेपर हम शक्तिमान् प्रकृत्याश्रय तक पहुंचे। उसका भी आगे कोई अन्तरात्मा है? नहीं। अतः वह केवल आत्मा है। अतएव उसको परम आत्मा कहते हैं। यही परमात्मा है। इसीप्रकार गृह, वस्त्र, भूमि, जलादि सभीको देखो तो अन्तमें आत्मामें विश्राम है। अतएव सर्वभूतान्तरात्मा है। इसी आशयसे छान्दोग्यमें बताया—

"तस्य मूलं स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः इत्यादि ।

शुङ्गका अर्थ है कार्य। अन्नसे जलमूलकी खोज करो। जलसे तेज और तेजसे मूल सद्रूप परमात्माकी खोज करो। यह अधिभूतमें बताया। अध्यात्ममें शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोंका अन्तरात्मा पञ्चेन्द्रिय है। उनकी समष्टिसे शब्दादि हुए। इन्द्रियोंकी आत्मा मन है। "मनसा श्रृणोति"। मनकी अन्तरात्मा प्राण है। सुषुप्तिमें प्राण है। मन नहीं। मन उससे आता है। प्राण की अन्तरात्मा तेज है। जब तक शरीरमें तेज है तब तक प्राण चलेगा। तेज का अन्तरात्मा परमात्मा है।

"अस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते ।
मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ॥"

यह जड़ पदार्थोंको लेकर विचार हुआ। घटादि विज्ञानका आत्मा कौन? जीवात्मा अन्तः करणप्रतिबिम्ब। उसका आत्मा कौन? बिम्बात्मक ईश्वर। उसका आत्मा कौन? निरूपाधिक परमेश्वर परमात्मा।

एकं रूपं बहुधा यः करोति। ब्रह्मका स्वरूप एवं ब्रह्मसाक्षात्कारका तरीका दोनों प्रकृत मन्त्रमें बताया जा रहा है। "येऽनुपश्यन्ति धीरः" यहां अनुदर्शनमें अनु उपसर्गसे सूचित होता है। प्रथम दर्शन है बादमें अनुदर्शन है। दर्शन साधन है, अनुदर्शन साध्य है। जैसा दर्शन करते हैं वैसा अनुदर्शन होता है। भावना दर्शन है। साक्षात्कार अनुदर्शन है। जैसी भावना करते हैं वैसा दर्शन होता है। राम, कृष्ण, शंकर आदिके जिस आकारकी भावना करो उसी आकारका दर्शन होगा। क्योंकि भावनानुसार भगवानका रूप होता है। अतएव भगवानका रूप प्रतिव्यक्ति अलग अलग होता है। मंदिरोंमें भगवानका रूप एकसा नहीं होता। बंबईमें पचीस लक्ष्मीनारायण मंदिर है तो सबका रूप एकसा नहीं है। सबका कद, मुटाई, आकार प्रकार कभी भी एक नहीं होते। फोटो भी देखो तो अलग अलग ही होंगे। भावनानुसार ही आकार है। तदनुसार दर्शन होता है। दर्शन तो एक ही दिनकी भावनासे संभव है। परंतु एकाकार चित्तवृत्ति-प्रवाह नहीं होता। क्षणक्षणमें आकारपरिवर्तन कर देखते हैं। कभी नाक याद आयी कभी कान। कभी सकुण्डल कभी अकुण्डल। और इतना भी हुआ तो बहुत है। इधर कृष्णचिन्तनमें बैठे और क़ाफड मार्किट देखे तो क्या होगा? कल कैसा चिन्तन किया आज याद नहीं। अतः आकार-व्यत्यय होनेसे परमात्मदर्शन नहीं हो पाता। एकाकार चित्तवृत्तिप्रवाह हो जाय तो तुरंत ही भगवद्दर्शन हो जाय। बात यह है कि अनेक आकारोंको एक साथमें चित्त पकड़ नहीं सकता।

"युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।"

ऐसा महर्षि गौतमका कहना है। तब ध्यानमें नानाचिन्तन जो होता है उसका अर्थ है क्षण-क्षणमें आकारपरिवर्तन हो रहा है। शीघ्र ही अभीष्टाकार आता है तो समझ लेते हैं ध्यान बन गया। एकाकार चित्त-वृत्ति हो तो एक दिन क्या मुहूर्तमें दर्शन होगा। क्योंकि कृष्णाकार वृत्तिमें शरीराकार नहीं आयेगा। तुरंत दूसरे क्षणमें शरीराकार आता है। तब कृष्णाकार छूट गया। निरन्तर कृष्णाकार चला तो शरीरविस्मृति होगी। शरीरविस्मृति हो गयी तो साक्षात्कार सुनिश्चित है। इसीलिये खट्वांगको मुहूर्तमें ही साक्षात्कार एवं मोक्ष होता है।

"खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः ।
मुहूर्तात् सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥"

सर्वमुत्सृज्यका अर्थ है-सर्वविषयकचित्तवृत्तिमुत्सृज्य। एक क्षणमें मोक्ष नहीं होता। क्योंकि वृत्ति एक एक क्षण रहती ही हैं! शरीरवृत्तिको छोड़कर कुछ क्षणोंतक ध्येयवृत्ति हो जाय तो साक्षात्कार होगा। जैसे सपना। शरीर (स्थूल शरीर) वृत्ति छूटी और कुछ क्षणोंतक रथादिवृत्ति होने लगी तो रथादि साक्षात्कार होने लगे। अतएव निरन्तर भावना होनेपर साक्षात्कार होता ही है। तदर्थ एकत्वभावना, वशित्वभावना तथा सर्वभूतान्तरात्मत्व-भावना बतायी। अब भावनार्थ एक और रूप बता रहे हैं। एक रूपं बहुधा यः करोति।

एकं रूपंका अन्य किसी एक रूपको नानारूप बनाता है ऐसा अर्थ नहीं है किन्तु पहले के विशेषणके समान एकं का अद्वितीय अर्थ है। रूप एक ही है। अद्वितीय हो जाता है। वह रूप क्या है? भाष्यकार कहते हैं विशुद्ध विज्ञान ही वह रूप है। उसे वह नाना बनाता है। क्या स्वयं स्वको नाना बनाता है? हां। लेकिन ऐसा कहीं देखा नहीं गया। बनानेवाला कर्ता अलग होता है। जिसको नाना बनाते हैं वह कर्म (कर्म कारक) अलग होता है। एक गन्नेके दस टुकड़े बनाये। तो बनानेवाला अलग होता है। गन्ना अलग होता है। एकं अद्वितीयं यह विशेषण कैसे उपपन्न होगा? क्या संसारमें ऐसा कोई दृष्टान्त है? दृष्टान्तसे ही वस्तुसिद्धि होती है। उत्तर है-ऐसा भी दृष्टान्त है। श्रुतियोंमें दृष्टान्त आया है-

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम् ।"

भगवानने एक दृष्टान्त बनाकर रखा है। दयालु भगवान् रास्ता निकाल देते हैं। क्या दृष्टान्त? उर्णनाभि-मकड़ी-करोडिया। वह धागोंसे जाल बनाता है तो वहां अलग रूई धागा कहां है? मशीन कहां है? कोई कारखाना मील है क्या कि जहां रूई साफ करें धागा बनावें? वहां कर्ता और उपादान एक है। इसको अभिन्ननिमित्तोपादान कहते हैं। कर्ता निमित्त है। धागा आदि उपादान है। इसी प्रकार परमात्मा अभिन्ननिमित्तोपादान है। इतने का यह दृष्टान्त है। एकसे नाना किस प्रकार? इसका दृष्टान्त है-यथा

पृथिव्याम्। गरमीमें मैदान साफ था। कुछ नहीं था एकाकार था। बारिश आया तो कहीं घास, कहीं हरा पीला पौधा, कहीं लाल सफेद पुष्प पैदा हो रहे हैं। एकरूपका नानारूप इस प्रकार है। आमकी गुठली तोड़कर देखो। सिर्फ सफेद गिरी। जब उससे पेड़ निकलता है तो हरे पत्ते, पीले फूल, हरा पीला लाल फल निकलते हैं। वैसे परमेश्वर एकरूप होनेपर भी कार्य अनेकाकार होते हैं।

अब अपना भी दृष्टान्त देखो। एकं रूपं बहुधा यः करोति। हम सो जाते हैं तो अकेले सोते हैं कि चार पांच मिलकर नींद तैयार करते हैं? चार पांच मिलकर काम करेंगे तो नींद ही नहीं आयेगी। दूसरे सबको छोड़ देते हैं तब निद्रा आती है। यहां तक कि अपने शरीर इन्द्रियादिको भी छोड़ देते हैं तब निद्रा आती है। इससे यह निश्चय होता है कि नींदमें अकेले होते हैं। कुछ खानेपीने, बनानेकी सामग्री ले जाते हैं कि नहीं? नहीं, कुछ नहीं ले जाते। फिर भी वहां नयी दुनियाकी सृष्टि करते हैं कि नहीं? वहां सूर्य, चन्द्र सड़क, पर्वत, वन आदि सभी दीखते हैं कि नहीं? ये सब कैसे बन गये? यदि कहें कि ये सब वहां हैं नहीं, बनाये नहीं, खाली दीखते हैं तो जवाब है कि वस्तु न हो तो दिखा क्या? असत् का दर्शन नहीं होता। आकाशपुष्प नामकी कोई अखण्ड वस्तु नहीं दीख सकती। असत् दीखता है यह शून्यवाद बौद्धोंका है। यह आस्तिकों को मान्य नहीं है। हां, सत्तामें भेद मान सकते हैं। पारमार्थिक सत्ता परमात्मामें है। व्यावहारिक सत्ता जगत् में है। प्रातिभासिक सत्ता स्वाप्न वस्तुमें है। असत् तो नहीं है। प्रातिभासिक सत्ता देखनेभरके लिये है। स्वप्नप्राप्त सोनाचांदी नोट काममें नहीं आयेंगे। व्यावहारिक सत्ता देखने और व्यवहार करने दोनोंके लिये है। पारमार्थिक सत्ता ही वास्तविक है। उसीके उपाधिभेदसे नाना रूप है। इससे यह निश्चत है कि स्वाप्नपदार्थोंकी भी सत्ता है। जब सत्ता है तब उसे किसने बनाया? भगवान् यदि बनाते तो व्यावहारिक हो जाता।. अतः बनानेवाले हम स्वयं है। "न तत्र रथा न रथायोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" इस प्रकार सृष्टि बतायी है। हमने बनाया तो उपादान क्या ? निमित्त क्या? साधनसामग्री क्या? वहां तो हम अकेले थे। कोई साधनसामग्री नहीं है। फिर भी "एकं रूपं बहुधा यः

करोति' वाली बात हुई कि नहीं? हुई। यह कहें कि हमने कल्पनासे रथादिको बनाया। वस्तुतः नहीं बनाया। तो भगवानने भी तो कल्पनासे बनाया। कल्पना बोलना बड़े लगोंके लिये ठीक नहीं है। इसलिये 'सं' उपसर्ग जोड़कर बोल देते हैं। क्या? "संकल्प"। संकल्प भी तो कल्पना ही है। साधारण आदमी हो तो 'आओ' कहते हैं। कुछ विशिष्ट व्यक्ति हो तो-'पधारो'। और ज्यादा विशिष्ट हो तो पधारिये। महाराजाने तशरीफ ली बोलते हैं। वैसे यहां कल्पना बोलनेमें ठीक नहीं लगा तो संकल्पना-संकल्प कहने लगे। थोड़ा फरक सृष्टिमें भी है। परमेश्वरकी सृष्टि समष्टि सृष्टि है। हमारी सृष्टि व्यष्टि सृष्टि है। परमेश्वरने कल्पनासे संकल्पसे जो बनाया उसको सब देख सकते हैं? समष्टि होनेसे व्यवहार भी चलता है। हमने सपनेमें राजमहल बनाया तो दर्शन करनेके लिये जगनेके बाद मित्रोंको आमन्त्रण दो तो नहीं होगा। समष्टिसृष्टि होनेसे व्यावहारिक सत्ता है। व्यष्टिसृष्टि होनेसे प्रातिभासिक सत्ता है। अंधेरेमें एक रस्सी पड़ी थी। तो उस मार्गसे चार व्यक्ति गये। चारोंने उसे सांप समझा। तो वहां चार सांप है कि एक? एक अगर हो तो किसी को बादमें बोध हुआ यह सर्प नहीं है तो चारोंको बोध होता। जैसे एक घड़ा है। उसको एकने डंडा मारकर तोड़ा तो सबके लिये टूट गया। वैसे एकको रस्सीका ज्ञान होनेपर भी दूसरा उसे सर्प ही समझ रहा है। अतः चारोंके चार ही सर्प हैं। प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिमें भ्रान्ति है।

स्वप्नमें यह जीवात्मा स्वयं ज्योति होता है। जैसे स्वयं स्रष्टा वैसे स्वयं ज्योति भी है। जाग्रतमें पुस्तक पढ़ते हैं तो सूर्यादि की ज्योति चाहिये। सपनेमें पुस्तक पढ़ने बैठे तो वहां कौनसी ज्योति है? जाग्रतमें रथादि देखनेके लिये ज्योति दूसरी चाहिये। सपनेमें दूसरी कौनसी ज्योति है? "अत्रायं स्वयं ज्योतिर्भवति"। स्वयं सृष्ट की स्वयं ज्योति वैसे जाग्रतमें ईश्वर स्वयं ज्योति है।

एक और फरक है। ईश्वर जगतकी रचना करनेमें स्वतन्त्र है। किन्तु जीव रचना करनेमें पराधीन है। यदि हम स्वाप्न पदार्थ की रचना करनेमें स्वतन्त्र होते तो रोज ही रात को वैकुण्ठकी रचना करते और पार्षदोंकी, लक्ष्मी की अप्सराओंकी रचनाकर आनन्द लेते। पर कभी कभी अवाञ्छित

सृष्टि कर बैठते हैं। यह बाघ आ रहा है, सांप आ रहा है, कांटेमें फंसा इत्यादि सपना देखते हैं। वैकुण्ठका सपना तो जिंदगीमें शायद एक बार भी नहीं हुआ होगा। ईश्वर सृष्टिरचनामें स्वतन्त्र है। यद्यपि कर्मानुकूल ही ईश्वर सृष्टि करता है। किन्तु यह ईश्वरकी इच्छा है कि जीव अपने कर्मानुरूप फल भोगे। और वैसे स्वरूपतः भी ईश्वर स्वतन्त्र एवं जीव परतन्त्र है। तब सृष्टि भी ऐसी ही तो होगी।

"सत्त्वविशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्या च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।"

इत्यादि रीति। यह बात पञ्चदशीमें बतायी है। शुद्धसत्वगुणा माया है। उसको ईश्वरने अपने वशमें किया है। और ईश्वर सर्वज्ञ है। वह बिम्बरूप है। मलिनसत्त्वगुण जीवकी उपाधि है। उसमें प्रतिबिम्ब जीव है। वह अविद्याके अधीन है।

इन दोनोंसे ऊपर ब्रह्म है। वह किसी उपाधिसे परिच्छिन्न नहीं है। फिर भी आखिर सब कुछ वहीं है। वही माया एवं अविद्याके द्वारा सब कुछ बन रहा है। ईश्वर और जीवमें माया तथा अविद्या विशेषण है। ब्रह्मके लिये वह द्वारमात्र है। उसमें उपहित या विशिष्ट नहीं है।

"आत्मैवेदमग्र आसीत् स द्वितीयमैच्छत्
स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत् ।
ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्
सा गौरभवदृषभ इतरः । वडवेतराऽश्ववृषभ इतरः ।
गर्दभीतरा गर्दभ इतरः । अजेतरा बस्त इतरः । आपिपीलिकाभ्यः ॥"

इस प्रकार उस आत्माने अपने रूपको ही नाना बनाया। परमात्माने प्रथम मात्राको लेकर ब्रह्मशरीर बनाया। वह शरीर दो भागोंमें विभक्त हुआ। वही मनु और शतरूपा। उससे मनुष्य हुए। वे ही फिर क्रमशः गो-वृषभ, वडवा-अश्व,, गर्दभी-गदर्भ, बकरी-बकरा आदि चींटी पर्यन्त हुई।

साधक प्रथम साधना करता है तो यही भावना करे कि मैं व्यापक अखण्ड एक अद्वितीय हूं। द्वितीय कल्पित होनेसे से मेरे वश में है और कल्पितोंका अन्तरात्मा भी मैं हूं। ऐसी भावना परिपक्व होते होते पूरे जगतको अपने में उत्पन्न देखेंगे।

"यस्य प्रसादादहमेव विष्णुर्मय्येव सर्वं परिकल्पितं च।
इत्थं विजानामि सदात्मरूपं तस्याङ्घ्रिपद्मं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥"

मैं ही व्यापक विष्णु हूं। मुझमें ही सारा जगत कल्पित है ऐसा-विजानामि-अर्थात् साक्षात्कार करता हूं। यह सब कब संभव है? यस्य प्रसादात्। गुरुके प्रसादसे। इस प्रकार जिन्होंने साक्षात्कार किया वे ही गुरु हैं। चाहे वह न्यूनरूपमें हो, या पूर्ण रूपमें। हमने संतों का पूर्व उदाहरण दिया। कुछ तो आगे बढ़े हुए थे। कुछ बढ़ रहे थे। गुरुलोग साक्षात्कार करके फिर अधिकारी शिष्योंको बताते थे। वे पार पहुंच गये। फिर भी साधन नष्ट नहीं करते।

"स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्॥"

वहां तक पहुंचने के लिये अनेक साधनायें करनी पड़ती हैं। सत्कर्म, सदुपासना, पुण्यतीर्थनिषेवण आदिसे अन्तःकरण शुद्ध होने पर गुरुपदेशका श्रवण-मनन-निदिध्यासन करते हैं। तब गुरुकृपासे "अहमेव विष्णुर्मय्येव सर्वं परिकल्पितं" ऐसा अनुभव होता है। उस अनुभवके बाद पहले वाले साधन छूट जाते हैं। उनकी जरूरत नहीं। उस समय वे साधन बहुत हल्के होने लगते हैं। १५+१५ कितना? पांच पांच दस शून्य रखा एक बचा। एक-एक दो दो एक तीन। तीस हो गया। ऐसी गिनती बड़ा होनेपर कोई करेगा। नहीं। सीधा ही पंद्रह-पंद्रह तीस कह देगा। लेकिन पहली प्रक्रियाका तिरस्कार नहीं करते। बच्चों को वैसे ही पढ़ायेंगे। उस प्रक्रियाको दूसरोंके लिये बचाकर रखते हैं। संसारसागर पार करनेके बाद नावकी जरूरत नहीं है। परंतु यहां तक की बात बाद में। तुम संसार सागर पार कर चुके कि नहीं? कहीं मझधारमें तो नहीं है? वहीं नावको तोड़-फोड़ तो नहीं रहे? पार हो गये इसमें प्रमाण यही है कि पहले बताये संतोंकी जैसी स्थिति न्यूनाधिकभावसे आयी कि नहीं, यह देखो। यदि नहीं आयी और नाव भी तोड़ दिया तो स्वयं भी डूबोगे और दूसरेको भी डुबाओगे। पार पहुंचनेके बाद फिर यदि थोड़ी देर नावमें भी बैठे रहो तो कुछ हर्जा नहीं है। क्योंकि संसार सागर पार करके कुछ नया कार्य करना नहीं है। पार हो गये। बस। इतनेसे कृतकृत्यता है। अतएव पहुंचे हुए संत भी ध्यानपूजादि करते हैं।

दूसरी बात यह है कि ज्ञानीका भी प्रारब्ध रहता है। प्रारब्ध नष्ट नहीं होता। वह तो छूटे हुए तीरके समान है। उस प्रारब्धसे होनेवाले दुःखादि भले दुःखाभास हों, पर है तो दुःखरूप ही। उनको दबानेके लिये ध्यान आसन आदि तत्त्वज्ञानी भी करते हैं। क्या बिमारी लगी तो तत्त्वज्ञानी दवा नहीं खाते? क्या ठंढी लगी तो कंबल नहीं ओढ़ते। क्या ठोकर लगी तो मालिश नहीं करते? प्रारब्धदुःखनिवारणार्थ दवा आदिके समान ध्यानादि करना भी उत्तम है। कर्मश्लेष ज्ञानीको नहीं होता। किन्तु श्लिष्ट हुए बिना ही ज्ञानीके ईर्दगिर्द वे घूमेंगे ही। तभी निन्दक स्तावकोंके पास वे जाते हैं। यदि ज्ञानीके ही काममें आ गया तो क्या हर्जा है? वह संचितमें नहीं जाता। अग्रिम प्रारब्धका पूर्वरूप भी नहीं बनता यह अलग बात है। अस्पृष्ट भी पुण्यपाप दूर रहकर काम कर सकते हैं। एक बड़े संत हुए। उनको भयानक बिमारी आयी तो उनके शिष्योंने उनके निमित्त चण्डीपाठ आदि कराया। काशीमें हमारे गुरुकी बात ऐसी हुई थी। श्रीविद्यानन्दनाथ के लिये बाहरसे शाक्तने आकर प्रयोग किया और ठीक भी किया। बम्बई में एक संतके लिये हनूमान चालीसा पाठ किया। अतः ज्ञानीको भी वर्तमान पुण्यकर्म उपयोगी है। यदि ज्ञानी भी पापकर्म करे तो संभव है। प्रारब्धपापमें वह सहायक हो जाय। जैसे अग्निका सहायक वायु होता है। अतएव प्राणियोंमें आत्मभावना करते हुए उनको सुख पहुंचाना भी अच्छा है। यदि सत्कर्मका स्वयंको कोई फल नहीं मिला, प्रशंसकादि न होनेसे दूसरेको भी लाभ न पहुंचा तो भी नुकसान कुछ है नहीं। उन कर्मोंका लोप तो होनेवाला नहीं है। कदाचित् कोई साधक आ गया तो ऐन मौकेपर लाभदायी भी हो सकता है। अतः सत्कर्म, सदुपासना आदि करते ही रहना चाहयि। हां, "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादि अधिकारपूर्वक कर्मोंमें वे नहीं फंसते। क्योंकि अधिकार न होनेसे फल उसका होता ही नहीं। लोकसंग्रहातिरिक्त उसका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता है।

एको वशी............तमात्मस्थम्। ब्रह्मदर्शनके उपाय बताये जा रहे थे। अनुपश्यन्तिमें अनुदर्शन दर्शनोत्तरभावी होना। प्रथम दर्शन साधनात्मक बताया। एक अर्थात् अद्वितीयत्वको प्रथम देखो-दृढ़ निश्चय करो। तब द्वितीय कल्पित होगा। अतः जितने भी द्वितीय हैं सब कल्पकाधीन ही

होंगे। कल्पित होनेसे ही सर्वभूतान्तरात्मा भी है। कल्पितत्व शब्दोक्त न होनेसे शब्दतः कह दिया-एकं रूपं बहुधा यः करोति। इन इन रूपोंमें साधना करनेपर उन्हीं उन्हीं रूपोंमें आत्मदर्शन होने लगता है। परंतु वह यथार्थ है या अयथार्थ यह चिन्तनीय होगा। मूर्तिमें भगवद्दर्शन करते रहने से एक दिन साक्षात् दर्शन होगा। वह प्रातिभासिक भी हो सकता है और कभी व्यावहारिक भी। अन्तरांत्माकी पुकारको भगवानका आदेश मानते हैं कोई कोई और कभी वह विपरित परिणामी हो जाता है। कभी स्वप्नममें भगवदादेश मिलता है। उसमें कभी सच्चा भी निकलता है, कभी झूठा भी। पारलेमें एक संत थे। देवीने आदेश दिया है भोजन न करने। लेकिन जिसके लिये वह किया सफल नहीं हुआ। खैर, सफल भी हो जाय फिर भी व्यावहारिक सत्तातक ही दर्शनविषय सीमित रहता है। अतः भावना-प्रयुक्त दर्शन पारमार्थिक नहीं हो सकता। क्योंकि वह भावनाविषय नहीं है। भावना सोपाधिककी ही होती है। फिर भी दूर दूरतर, समीप समीपतर यह फरक तो रहेगा ही। सगुणोपासना दूर है। निर्गुणोपासना दूर है इत्यादि। अतः ब्रह्मसाक्षात्कारार्थ अब अतिनिकटका उपदेश करते हैं- "तमात्मस्थं" इस विशेषणसे ।

आत्मस्थंका अर्थ भाष्यकारने किया है-स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेणाभिव्यक्तम्। आत्माका यहां हृदय, हृदयाकाश बुद्धि आदिसे प्रसिद्ध तत्त्व अर्थ है। "यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह" इस प्रकार आत्माकी व्युत्पत्ति की है। हृदयका भी आहरति विषयान् यही अर्थ है (बृहोः षुगदकौ च) इन्द्रियां विषयसारको लेकर हृदयको देती है। बुद्धि-रूपी हृदय पुजारी है। वह अन्तरात्माको समर्पण करती है। उदाहरणार्थ चक्षुने एक सुन्दर फलको देखा या मनुष्यको देखा। उसका सार उसने ले लिया। उस वस्तुसे निकलती हुई प्रकाशमय छाया ही उसका सार है। क्योंकि व्यक्ति को आंख ले नहीं सकती। आंख छोटी है, व्यक्ति बड़ी है। सार लाकर उसने पुजारिन बुद्धिको दिया। पूजारिनने भोग परमात्माको लगाया। समर्पण किया। इसी प्रकार श्रोत्रने शब्दसार लेकर बुद्धिको दिया। त्वक् ने स्पर्शसार लेकर बुद्धिको दिया। रसनाने रससार लेकर बुद्धिको दिया। घ्राण ने गन्धसार लेकर बुद्धिको दिया। बुद्धि पुजारिनने आत्माको

भोग लगाया। किन्तु यह मालूम है कि पुजारी लोग भोग लगाते हैं तो भगवान् सिर्फ देखते हैं, खाते नहीं। छप्पन भोग लाकर भी भगवानके सामने रखो, भगवान् सिर्फ देखेंगे। खायेंगे नहीं। खायेंगे पुजारी लोग ही। हनूमानजीके यहां, शंकरजीके यहां नारियेल चढ़ाया तो पुजारी लोग खाते हैं। भगवान् सिर्फ देखते रहते हैं। अन्तरात्मा केवल द्रष्टा है। भोक्ता नहीं। भोक्ता तो बुद्धि ही है। या बुद्ध्यवच्छिन्न जीव है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वस्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥"

इस मन्त्र की व्याख्यामें एक जगह बुद्धिको भोक्ता बताया है। अन्य व्याख्यामें बुद्ध्यवच्छिन्न जीवको। हृत्पिंडमें दोनों सुपर्ण रहते हैं। एक स्वादिष्ट फल खाता है। दूसरा विना खाये ही चमक रहा है। आत्मा केवल विषयोंका द्रष्टा है, साक्षी है, प्रकाशक है। वह विषयोंका भोक्ता नहीं है। बुद्धिको आत्मा जो यहां कहा उसमें 'यच्चात्ति विषयानिह' यह विग्रह मूल है। यह विग्रह भोक्तृत्वमें घटता है। हृदय की व्याख्या 'आहरतीति हृदयं' में भी यही अर्थ है। आत्मा (अन्तरात्माने देखलिया, काम पूरा हो गया समझकर) बुद्धिरूप आत्मा अदन (भोजन) कर लेता हैं। अतएव विषय आत्मातक पहुँचता ही नहीं।

हृत्पिण्ड प्रथम आवरण है। फिर उसपर लगी हुई बुद्धि द्वितीय आवरण है। उससे आवृत आकाश सर्वथा शून्य है। उसमें निरुपाधिक आत्मा स्थित है। उसका दर्शन और अनुदर्शन करना है। वैसे तो ब्रह्म व्यापक है। हृदयाकाश तो क्या वाह्याकाशमें भी व्याप्त है। समस्त वस्तुओंमें भी व्याप्त है। परंतु निरुपाधिकरूपसे हृदयस्थका ही दर्शन होता है। क्योंकि अन्यत्र सर्वत्र मायाऽवृत है। माया से आवृत है। यदि आवृत न होता तो सर्ववस्तु प्रकाशन निरन्तर होता। और सभी नित्यसर्वज्ञ होते। पूरे विश्वमें अन्तरात्मा ब्रह्म मायावृत है। जब विषयेन्द्रियसंयोग होता है तब विषयाकार बुद्धिवृत्ति होती है तो उतने अंशका आवरण हट जाता है। फिर भी विषयावच्छिन्न ही प्रकाशित होगा। उसमें चैतन्य स्वप्रकाशतया प्रकाशित होता है और विषय अवच्छेदकरूपसे प्रकाशित होता है। जैसे चन्द्रमा स्वप्रकाशतया प्रकाशित होता है। राहुरूपी छाया परिच्छेदकरूपसे

चन्द्रमामें प्रकाशित होती है। परंतु राहुके रहते चन्द्रमाका वास्तविक रूप नहीं दीखेगा। वैसे विषयरूपी उपाधिके रहते आत्मा वास्तविकरूपसे प्रकाशित नहीं होगा। और विषयके विना बाहर वृत्ति नहीं बनती और आवरण भी नहीं हटता। फलतः बाहर कभी भी स्वरूपसे प्रकाशित नहीं होगा।

इसी बातको हम प्रकारान्तरसे समझ सकते हैं। यह फल है ऐसा प्रत्यक्ष होता है उसमें फलका प्रत्यक्ष कैसे हुआ? वायुका आंखसे प्रत्यक्ष नहीं होता तो क्यों नहीं होता? उत्तर है फलमें रूप है। वायु में रूप नहीं।

"उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये" ।

उद्भूत रूप नयनका विषय है। रूप होनेसे द्रव्य भी प्रत्यक्ष हुआ। प्रश्न है कि 'यह फल है' इसमें है शब्द के अर्थ अस्तित्वका प्रकाश होता है या नहीं? होता है। उसका रूप क्या है? फलका रूप उसमें है तो वही अस्तित्व वायुमें है। वहां भी अस्तित्वका चाक्षुष प्रत्यक्ष क्यों न हो? उत्तर यही है कि अस्तित्वको रूपादिकी जरूरत नहीं है। वह स्वयं प्रकाश है। फलाकार वृत्तिके होते ही अस्तित्वरूपी चैतन्यका आवरण नष्ट हुआ और अस्तित्व भासने लगा और अवच्छेदकतया फल भी भासने लगा। परंतु वह अस्तित्व फलावच्छिन्न है। व्यापक नहीं। कारण वायुगत अस्तित्व उस समय प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार अस्ति, भाति, प्रिय तीनोंको देख सकते हैं। जैसे फल, तदस्तित्व एवं अस्तित्वसामान्य आवृत है वैसे अहं पदार्थ अन्तरात्मा भी आवृत होता है या नहीं? नहीं होता। क्योंकि जाग्रतमें भी अहमस्मि होता है। स्वप्नमें भी अहमस्मि होता है। सुषुप्ति में भी अहं प्रत्यक्ष होता है। वहां वृत्ति की आवश्यकता नहीं है। अतएव वह नित्य अनावृत है अतएव निरूपाधिक भी है। सोपाधिक होता तो घटत्वावच्छिन्न अस्तित्वके समान अहमवच्छिन्न चैतन्य भी आवृत होता। उसके लिये वृत्यपेक्षा होती है। किन्तु मनके रहने और न रहनेकी अपेक्षा किये बिना, वृत्तियोंकी अपेक्षा किये बिना ही सर्वदा स्फुरित होता है। अतः अहमर्थका आवरण होता ही नहीं।

बाह्य विषय एवं आभ्यन्तर विषयोंसे स्वयंप्रकाश भी हृदयस्थ आत्मा संकुचित सा हो गया। बाह्य वृत्ति होने पर वह भाग स्पष्ट अलग दीखने

लगा तो हृदयस्थ आत्मा भी उससे कटकर संकुचित अल्परूपमें स्पष्ट भासने ही लगा। खुले असमानके नीचे एक्सिडेंटमें एक आदमी बेहोश हो गया। उसे अस्पतालमें पहुंचाया। एक दिनके बाद उसे होश आया। वह समझ रहा था मैं खुले आसमानके नीचे हूं। गाड़ीने टक्कर मारी इतना याद था। कहां है वह गाड़ी यह देखने आंख घुमाया तो किसी रूमके अंदर वह पड़ा है। वैसे तो आकाश अपरिच्छिन्न है, असीमित है। और वह प्रथम असीमित ही देख भी रहा था। किन्तु वहां कमरा उपाधि था यह भी सही है। किन्तु उपाधि होनेपर भी उपहित होना चाहिये यह नियम नहीं है। उपाधिके होनेपर भी ब्रह्मज्ञानीके लिये ब्रह्म अपरिच्छिन्न ही होता है। और उपाधि तो कल्पित होनेसे कल्पनाविरहकालमें स्वकल्पित उपाधिका अभाव भी है। अतः अपरिच्छिन्न समझना गलत नहीं माना जाता। हां, परमार्थदृष्टिसे। व्यवहारदृष्टिसे उपाधिज्ञान न होनेपर भी परिच्छिन्न है। क्योंकि इतर पुरुष कल्पित उपाधि वहां है। परंतु कमरेको इस मरीजने देखा तो लगा-अरे! मैं कहां इस छोटी सिकुड़ी जगह पहुंच गया? तब परकल्पित उपाधिसे स्वकल्पित उपाधि भी जुड़ गयी और वस्तुतः परिच्छिन्न हो गया। इसी प्रकार स्वतः ब्रह्म अपरिच्छिन्न होनेपर पर कल्पित (समष्टिकल्पित) उपाधिसे परिच्छिन्न है। उसकी वृत्ति (ज्ञान) जब होती है तो स्वकल्पित उपाधि भी समष्टि में आ जाने से आत्मा परिच्छिन्न हो गया। तब ब्रह्मदर्शन बंद हो गया। सिद्धान्त में भी समष्टि-कल्पित उपाधिको हटानेकी जरूरत नहीं है। स्वकल्पित उपाधिको समष्टिमें जोड़ देते हैं तब स्वके लिये परिच्छिन्न होता है। ब्रह्मज्ञानी स्वकल्पित उपाधिका बाध कर ही ब्रह्मसाक्षात्कार करता है। इसी आशयसे यह मन्त्र है-

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥"

इस मन्त्रको सामान्यतः देखनेपर ऐसा अर्थ लगेगा कि लोग बाहर की ओर देखते हैं अतः आत्मा नहीं दीखता। भीतरकी ओर आंख मोड़कर देखो तो आत्मा दीखेगा। इसी आशामें बहुतसे लोग आंख मूंदकर

पुतलियोंको भ्रुकुटिकी ओर खींचते हैं। परंतु इससे कोई आत्मदर्शन नहीं होता।

वस्तुतः इसका अर्थ है कि बाह्यवस्तुदर्शनसे आत्मा परिच्छिन्न हो गया। बाहर जो आत्मा है वह वाह्य वस्तुओंसे ही परिभूत हो गया। नामरूपने सच्चित् को आवृत किया। नामरूप दृष्टिको जब छोड़ते हैं तब अपरिच्छिन्न अन्तरात्मा प्रकाशित होता है।

यद्यपि बाह्य वस्तुओंको भले न देखो फिर भी व्यापक अविद्यासे तो वह आवृत है ही। अतः सर्व जगतमें है, दीखता है, ऐसा प्रत्यय नहीं होता। तथापि अदंर अपरिच्छिन्नरूपसे अहमर्थ को देखो तो वही तो बाहर भी है। जैसे न्यायमतमें घटका एक देश ही भले देखें फिर भी घड़ा दीख ही गया माना जाता है। मैंने घट देखा ऐसा कहते हैं। क्या घड़ेके अंदरका भाग, प्रत्येक परमाणु, सभी देख लिया? नहीं देखा। फिर भी घट देखा। नैयायिक मृत्तिकासे घटको भिन्न मानते हैं, एक और अखण्ड मानते हैं। अतः किसी भागमें दीख गया तो दीख ही गया। उनका मत सही या गलत यह यहां विचारणीय नहीं है। दार्ष्टान्तिकमें पूर्णतया वही स्थित है। हृदयसे आत्मा अत्यन्त पृथक् है, एक है, अखण्ड है। वहां अपरिच्छिन्न रूपसे उसे देख लिया तो देख ही लिया। फिर क्या कसर है? हां। बाह्य वस्तु दर्शनसे परिच्छिन्न हो जाता है तो अपरिच्छिन्न आत्मदर्शन हुआ ही नहीं। अतः वह दर्शन अकिंचित्कर हो जाता है। अतः बाह्यार्थदर्शननिवृत्ति ही आवृतचक्षुका अर्थ है। बाह्यार्थचिन्तन भी अपरिच्छिन्न आत्मदर्शनमें बाधक है। अतः मनोनिरोध भी आवृतचक्षुसे विवक्षित है।

वस्तुतः घटका एकदेशदर्शन वास्तविक घटदर्शन नहीं है। वैसे हृदयस्थ दर्शन भी पूर्णदर्शन माना नहीं जा सकता। क्यों नहीं? जब एक है, अखण्ड है? इसलिये कि घटदर्शनविषयता अव्याप्यवृत्ति है। एक देशावच्छेदेन दर्शनविषयता है। अन्यदेशावच्छेदेन अभाव भी है। अतः अज्ञान-समानाधिकरण ज्ञान अधूरा है। वैसे हृदयावच्छेदेन ब्रह्मदर्शन होनेपर अज्ञान-समानाधिकरण होनेसे अधूरा है। उसके लिये अखण्डाकारवृत्तिके द्वारा

अज्ञानापनयनं भी आवश्यक है। इसीलिये श्रुतिमें 'धीरः' यह विशेषण है। धियम् ईरयति इति धीरः। बुद्धिवृत्तिका विषय बनाना ही धीकी ईरणा है। साधारण लोग बाह्यवृत्तिको ही नहीं छोड़ते तो अपरिच्छिन्न अन्तरात्माको देखे ही कैसे? समाधिमें कदाचित् देखें तो भी बाह्यदेशावच्छेदेन अज्ञान या तत्संस्कार विद्यमान हैं। अतः पूर्णदर्शन उनको भी नहीं हो पाता। खैर, वहां तक हम पहुंचे, न पहुंचे। किन्तु साधनाके रूपमें हृदयमें अपरिच्छिन्न भावना तो हो ही सकती है।

वामन भगवानकी कथा प्रसिद्ध है। राजा बलिके यज्ञमें वे पहुंचे थे। राजा बलि भरूच में अश्वमेध कर रहे थे। वहां दशाश्वमेघ घाट है। उसका नाम भृगुकच्छ है। वहां भृगुऋषि एवं भार्गववंशीय शुक्राचार्यादि रहते थे। बटुक वामन वहां पैदल पहुंच गये। इसका अर्थ यहीं कहीं आसपास वामनजी भी जनमे थे। वामनजी आ गये तो राजा बलि ने उनका बड़ा संमान किया और कहा कि आप वेद पढ़नेवाले ब्राह्मण बालक दीखते हैं तो मुझसे कुछ वस्तु दानमें ले लो। विना संकोच मांग लो। वामनजीने कहा यह आपकी महान् उदारता है। क्यों न हो? आपका वंश ही ऐसा ऊंचा है। आप लोग कश्यपवंशीय हैं। कश्यप प्रजापति थे। ब्राह्मण थे। उनके दो महान् पुत्र हुए। उनका नाम था हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु। आज असुर-असुर कहकर उनको हम निकृष्ट भले समझें, वस्तुतः वे ऋषिपुत्र ब्राह्मण थे। आचरणसे असुर कहलाये। रावण भी तो ब्राह्मण ही था। अस्तु। वामनजी कह रहे थे कि इन दो में प्रथम हिरण्याक्षको विष्णुने मारा था। वीरगतिको वे प्राप्त हो गये थे। युद्धमें कभी वे पीछे नहीं हटते थे। हिरण्याक्षका वध होनेपर हिरण्यकशिपुके मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने विष्णुसे बदला लेनेकी ठाना। तपकर अपार शक्ति प्राप्त की। शक्ति जुटानेका साधन तप ही है। शक्तिसंपन्न होकर विष्णुको मारनेके लिये वह विष्णुलोकमें पहुंचा। विष्णुने देखा अरे! यह कौन आ रहा है! यहां शत्रुका आगमन कभी नहीं हुआ था। विष्णुने सोचा वैकुण्ठमें युद्ध करना अच्छा नहीं और इसे मैं इस प्रकार मार भी नहीं सकूंगा। क्योंकि वह वरदान प्राप्त है कि कोई देवता मनुष्यादि इसे न मारे। विष्णु भगवान् वहां से धीरे से खसके। ब्रह्मलोक उतर आये।

हिरण्यकशिपुने पूरा वैकुण्ठ ढूढ़ा किन्तु विष्णु नहीं मिले। तब सूक्ष्मदृष्टिसे देखा तो छाया उतरनेकी दिखाई पड़ी। तब हिरण्यकशिपु ब्रह्मलोक आ गया। विष्णुने देखा यह यहां भी आ रहा है तो वहां से इन्द्रलोक आये। पूरा बृहस्पतिलोक ढूंढनेके बाद एक जगहसे छाया दिखाई पड़ी। वहां से हिरण्यकशिपु भी उतरा। इस प्रकार इन्द्रलोक, देवलोक, पितृलोक, गान्धर्वलोक एवं मनुष्यलोकमें उतरकर भगवान् विष्णु आये और पीछे-पीछे हिरण्यकशिपु भी। फिर विष्णु पाताललोककी ओर बढ़े, अतल, वितल, सुतलादि गये। वहां फिर हिरण्यकशिपुका राज्य ही था। अब तो हिरण्यकशिपुसे बचो, उनकी सत्तासे भी बचो वाली बात आ गयी। तब अन्तमें भगवान् विष्णु सूक्ष्मरूप धारण कर हिरण्यकशिपुके हृदयमें ही प्रविष्ट हुए। पूरा पातालतक हिरण्यकशिपुने देखा। फिर कहीं वापिस वैकुण्ठ तो नहीं गया देखने के लिये तीन बार वैकुण्ठसे पातालतक चक्कर मरा। विष्णु इधर अंदर बैठा था। और वह बाहर ढूंढ रहा था। अन्त में कहीं नहीं दिखाई पड़ा तो हिरण्यकशिपुने सोचा कि वह मेरे डरसे ऐसा ही मर गया होगा। शरीर चिन्मय होनेसे बुज गया तो असत ही हो गया होगा। वह शान्त होकर बैठ गया। उसका पुत्र प्रह्लाद महान् भक्त हुआ। जिसने देवताओंको बचाया था। प्रह्लादका पुत्र विरोचन हुआ। उसको ऐसा वरदान प्राप्त था कि दूसरेसे उसका वध ही नहीं हो सकता था। ब्रह्मज्ञान होनेसे देवताओंको ऐच्छिक वर देते समय उन्होंने प्राण ही मांग लिया और इन्होंने दे दिया था। विरोचनके पुत्र आप त्रिलोकाधिपति राजा बलि हुए। वामनजीने पुष्करपंडोंके समान दूरी वंशावली ही सुनायी थी। इस विचारमें एक बात सामने आयी कि हिरण्यकशिपु बहिर्वृत्ति था। कितनी ही तपस्या करे, कितनी ही शक्ति पा ले, आकाशगमन आदि कितनी ही सिद्धि पा ले किन्तु अन्तर्वृत्तिताके अभावमें व्यापक भी विष्णुका दर्शन नहीं हो सकता।

ये....तेषाम् दुर्लभता सूचित करने यत्पद और तत्पद हैं। एकत्व भावना प्रथम साधनीय है। "सदैव सोम्येदमग्र आसीत्।" पहले एक ही था। बीचमें बहुत हो गये। "एकोऽहं बहु स्याम्" । अन्तमें फिर एक होगा। जो आदिमें और अन्तमें रहता है वह मध्यमें भी होता है। आदिमें सुवर्ण,

मध्यमें कुण्डल और गलाने पर अन्तमें पुनः सुवर्ण। तब मध्यमें भी वह सुवर्ण ही है। कुण्डल कल्पनामात्र है। वैसे आदिमें एक मध्यमें बहुत और अन्त में एक हुआ तो मध्यमें भी एक ही है। 'बहु' कल्पनामात्र है। निद्राके पूर्वमें एक था, सपनेमें अनेक हो गया, जगने पर एक ही रह गया तो सपनेमें भी एक ही था। यह भावना करते रहें। सुवर्णके वशमें कुण्डलादि हैं। वैसे एकके वशमें मध्य जगत् है। यही वशी भावना है। कुण्डलका अन्तरात्मा सुवर्ण है वैसे बहु जगत् का अन्तरात्मा वह एक ही है। जैसे नानाविध मिष्टान्नमें अन्तरात्मा एक ही शक्कर है। यही सर्वभूतान्तरात्म-भावना है। एक ही अनेक रूपों का बनाता है। सपनेमें एक ही अनन्त जगत् बनाता है। जाग्रतमें भी एक ही आत्मा अनन्त नामरूपनिर्माता है। यही नानारूपकर्तृत्व भावना है। वह आत्मस्थ है, बुद्धिगुहास्थ है। अनावृत रूपसे हृदयमें ही वह रहता है यह आत्मास्थताकी भावना है। इन समस्तरूपोंसे-ये अनुपश्यन्ति देखनेवाले अतिदुर्लभ हैं। ये केचिदनुपश्यन्ति।

गीतामें ऐसे दर्शन करनेवालों की अत्यन्त दुर्लभता बतायी है।

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥"

हजारों में एक यत्न करता यति होता है। हजारों यतियोंमें एक सिद्ध होता है। हजारों सिद्धोमें एक मेरा दर्शन करता है। हजारों यहां बहुवचन छोड़कर भी देखा तो हजार आदमीमें एक यत्नवान् यति होगा। बाकी सब-छोड़ों झंझट, रामराम करो-वाले मिलेंगे। ऐसे हजार यतिका अर्थ है हजारगुना हजार-दस लाखमें कोई सिद्धि पायेगा। कुछ चमत्कार होनेसे विश्वास होता है, निश्चय होता है। अर्थात् लोग वशमें होने लगते हैं— "सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति" यह सिद्धि उत्साह जनिका होती है अतः ग्राह्य है न कि अभिमानके लिये।

"ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः।"

ऐसा महर्षिने सचेत किया है। संतोंकी सेवा करनेवालोंको भी अनेक अभीष्ट प्राप्त होने लगते हैं। वृन्दावनमें उड़िया बाबा सिद्ध हो गये थे। ऐसा बताते हैं। यह सिद्धि क्या है ? जो कहते थे वह हो जाता था। हजार सिद्धोंमें अर्थात् उस लाखको हजारसे गुना करो, सौ से गुना करनेपर दस

करोड़, फिर दससे गुना करो तो सौ करोड़। एक अरब। एक अरब मनुष्योंमें एक ही तत्त्वतः जाननेवाला होगा। यह भी सहस्र-हजार अर्थ मानने पर। सहस्रेषु यह बहुवचन लिया जाय तो कमसे कम तीन अरब मनुष्योंमें एक तत्त्ववित् होगा। काशीमें पचास वर्ष पहले एक तैलंगस्वामी हुए थे। सुनते हैं कि उनको लोग साक्षात् शंकर मानने लगे थे। फिर क्या था? भक्तोंकी कमी नहीं। विश्वनाथ बाबाके ऊपर जल चढ़ाते हैं तो तैलङ्गस्वामी पर भी जल चढ़ने लगा। वे कुछ बोलते नहीं थे तो अज्ञानी-लोग उन पर भी चावल, अक्षत, चंदन आदिका निशाना बनाने लगे। दूरसे फेंकनेकी आदत है लोगोंकी। आखिर कुछ समझदारोंने उनके चारों ओर कठघरा बनाया शरीर आखिर पांचभौतिक ही तो है। उनके पास जाकर लोग मनौती भी मनाने लगे थे। फिर तो ये प्रत्यक्ष शंकर ठहरे। मनौतियां पूर्ण होने पर लोगोंकी श्रद्धाकी तो बाढ़ आने लगी। सचमुचमें अरबोंमें एकाध ही ऐसे संत होते हैं। या फिर कन्दराओंमें समाधि लगाये हुए महापुरुष ऐसे होंगे।

"ये" का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाष्यकारने लिखा है—निवृत्तबाह्यवृत्तयः। पूर्वोक्त विशेषणोंके अभ्याससे परिनिष्पन्न स्वरूपका यह कथन है। यह साधना तीन प्रकारकी है। किसप्रकार निवृत्त बाह्यवृत्ति है। बाह्याभावात् बाह्यविषयेन्द्रियसंयमनाद्, बहिरर्थवृत्तिपरित्यागात्। इसे हम क्रमशः देखेंगे।

वृक्षकी शाखा ऐसा हम कहते हैं। तो शाखा वृक्षमें होगी कि वृक्षको छोड़कर अन्यत्र शाखा होगी? अन्यत्र नहीं होगी। वृक्षसत्ता जहांतक है वहीं शाखा होगी। वृक्षका पत्ता, वृक्षका फूल, वृक्षका फल ये सब वृक्षमें ही सीमित होंगे। इसी प्रकार मेरा हाथ मेरा पांव, मेरा मस्तक आदि कहनेपर मुझमें ही ये हाथ, पांव, मस्तकादि होंगे? कि मुझे छोड़कर अन्यत्र कहीं हाथपांव आदि होंगे? अन्यत्र नहीं। मुझमें ही होंगे। वृक्षसत्ता अधिक है। शाखादिसत्ता एकदेशमें है। वैसे अहमर्थ सत्ता अधिक है या हस्तपादादि सत्ता अधिक है? निश्चय ही अहमर्थसत्ता अधिक है। क्यों? वृक्ष आधार है। शाखादि आधेय। सो भी वृक्ष व्यापक आधार है। वैसे अहमर्थ आधार है। शरीर आधेय है। अहमर्थ सत्ता व्यापक है। अब वृक्षसे एक विलक्षण बात यहां बतायेंगे। वृक्षकी शाखा वृक्षका मूल आदि कहते

हैं वैसे वृक्षका वृक्ष कहते हैं क्या? नहीं क्यों? समानसत्ता है। परंतु मेरा हाथ मेरा पांव आदिके समान मेरा शरीर ऐसा भी बोलते हैं। मतलब अहमर्थसत्ता शरीरसत्तासे अधिक है। सम नहीं है। मैं आधार हुआ शरीर आधेय हुआ। पात्र सत्ता पात्रान्तर्गत जलसत्तासे अधिक ही होगी। दो लीटरके बरतनमें तीन लीटर पानी नहीं आयेगा। दो लीटरसे कम आ सकता है। फिर बरतनकी जो मुटाई है वह अधिक है। दूधसे बाहर बरतन है, बरतनसे बाहर दूध नहीं। इसीप्रकार शरीरसे बाहर भी अहमर्थ है, अहमर्थसे बाहर शरीर नहीं। "स शरीरं सर्वतः स्पृत्वाऽत्य- तिष्ठद्दशाङ्गुलं" जैसी बात है। आपको शरीरसे बाहरतक लानेके लिये यह प्रक्रिया सामने उपस्थित की। आप इस शरीरसे बाहर भी हैं क्योंकि शरीरमें व्यापक हैं। शरीरका आधार हैं। दूसरा प्रमाण यह है कि जाग्रत शरीरको छोड़कर स्वप्न शरीरमें भी अहं रहता है। तीसरा प्रमाण यह है कि बचपनमें डेढ़ फुटका शरीर था। वह भी अहमर्थमें था। जवानीके पांच छः फुटका शरीर भी अहमर्थमें है। तो क्या आत्मा छोटा बड़ा हुआ? यदि छोटा बड़ा होगा तो शरीरके समान नष्ट भी होगा। एक चौथा प्रमाण भी है। उसे बोलनेसे पूर्व एक प्रश्न और करते हैं कि शरीरसे बड़ा आत्मा है तो कितना बड़ा? वही 'दशांगुलं' बड़ा या कम बेशी भी? इसके लिये गीतामें बताये एक श्लोकको देखेंगे—

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥"

हम यहांसे दिल्ली गये तो साथमें आत्मा रहेगा कि नहीं? निश्चित रहेगा। तो क्या इस शरीरके साथ आत्मा चला? यदि चला तो 'अचलोऽयं" यह विशेषण गलत होगा। वह तो चल हो गया। नहीं चलेगा तो दिल्ली जानेपर शरीर निरात्मा होगा। आत्माको अणु माननेवाला भी एक वर्ग है। विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैतवादी आदि आत्माको अणु मानते हैं। तब शरीरके चलनेपर वह भी चलेगा। उनका कहना है शरीरमें वह बैठा रहेगा। उसको चलनेकी क्या जरूरत? किन्तु यह बात आदमके जमानेकी है। गाड़ी दौड़ती है तो उतने ही वेगसे हम भी दौड़ रहे हैं। गाड़ीके जितना वेग हमारे अंदर भी होता है। चलती हुई गाड़ीसे आप उतरिये तब मालूम

पड़ेगा। आप अपने आप आगे भागे जायेंगे। विपरीत मुंह करके दौड़ेंगे तो धड़ामसे गिरेंगे। कारमें बैठे हों, कार पचास किलोमीटर तेज चल रही हो तो आप भी उसी वेगसे चल रहे हैं। गाड़ीमें कभी एकाएक ब्रेक लगाते हैं तो आप आगेकी ओर गिर पड़ेंगे। कितना भी सम्हालो, सम्हल नहीं पायेंगे। तब अणुरूप आत्मा भी दौड़ेगा, अचल विशेषण गलत होगा। अतः आपका आत्मा पहलेसे ही दिल्लीतक व्यापक होकर स्थित है मानना पड़ेगा। फिर परलोकगमनागमन मानते हैं तो अचलत्वसिद्धिके लिये वहां भी स्वात्माको मानना पड़ेगा। फलतः आत्मा शरीरसे बाहर दशाङ्गुल नहीं। विश्वके बाहर दशाङ्गुल मानना होगा। व्यापक मानना होगा। यही बात तो पूर्वविशेषणसे कही—नित्यः सर्वगतः। सर्वदेशमें है। सर्वकालमें भी है। नहीं तो पूर्वजन्ममें और इस जन्ममें आत्मा बदल जायेगा। इसप्रकार आत्मा सर्वव्यापक है। आत्मामें सर्ववस्तु है।

एक पंचम प्रमाण भी है। आत्मा जाननेवाला है। बल्कि ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है। "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" ऐसी श्रुति है। "ज्ञान" को भाषामें जानकारी कहते हैं। सूर्यको आप जानते हैं कि नहीं? जानते हैं। आपकी जानकारीमें सूर्य है कि नहीं? आपकी जानकारीमें चन्द्रमा है या नहीं? आपकी जानकारीमें पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश है या नहीं? जानकारीमें है बोलते समय जानकारी आधार हो गया। सूर्य चन्द्रादि सभी आधेय हो गये। तब आपकी जानकारी बड़ी या सूर्य चन्द्रादि बड़े? आपकी जानकारीमें विश्व है तो ज्ञानस्वरूप आपमें सारा विश्व आ गया। ज्ञान रूप आत्मा व्यापक आधार हुआ, विश्व व्याप्य आधेय हुआ। आप कह सकते हैं कि हम बहुत सारी वस्तु नहीं जानते हैं। वे वस्तु तो जानकारीमें नहीं हैं। क्या क्या नहीं जानते? अमेरिकाकी वस्तुएं, इग्लैण्डकी वस्तुएं अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हम नहीं जानते। मतलब इन सबका अज्ञान आपको है यही न? आप इस अज्ञानको जानकर बोल रहे हैं कि ऊपरसे गप मार रहे हैं? जानकर। अर्थात् आपकी जानकारीमें अज्ञान है। और अज्ञानमें डूबा है अनन्त ब्रह्माण्ड। तब अनन्त ब्रह्माण्ड आपकी जानकारीमें अपने आप हो गये। कमरेमें पानी है? पूछा। उत्तर मिला है। किसमें रखा? घड़ेमें। कमरेमें घड़ा, घड़ेमें पानी। तब कमरेमें पानी

किस प्रकार? तदाधाराधारस्य तदाधारत्वं इस नियमसे। तदाधेयादेयस्य तदाधेयत्वम्। कमरेका आधेय घड़ा, उसमें आधेय जल कमरेका आधेय है। वैसे आपमें अज्ञान, अज्ञानमें जगत् तब आपमें ही तो जगत् हुआ। इस बातको पञ्चपादिकाके टीकाकार पद्मपादाचार्यने बताया। 'सर्वं वस्तु ज्ञातत्वेनाज्ञातत्वेन साक्षिविषयः। कुछ वस्तु ज्ञातरूपसे साक्षीमें है और कुछ अज्ञातरूपसे।

इसप्रकार समस्त जगत् हमारे अंदर आया तो बाहर क्या चीज रही? कोई नहीं। कोई नहीं तो बहिर्वृत्ति कहां हैं? तब निवृत्तबाह्यवृत्ति हो गये कि नहीं? यद्यपि निवृत्त बाह्यवृत्ति सभी हैं किन्तु हम बाह्यवृत्ति समझ रहे हैं। अतः निवृत्तबाह्यवृत्ति नहीं हैं। जब आप समझेंगे। कि बाह्यवस्तु कोई है नहीं ऐसा साक्षात्कार करेंगे तो वह निवृत्तबाह्यवृत्ति माना जायेगा। यह एक अर्थ हुआ।

निवृत्तबाह्यवृत्तयः का दूसरा अर्थ है—इन्द्रियसंयमनाद् निवृत्त-बाह्यवृत्तयः। इस विषयमें पहले भी मन्त्र आ चुका है—

'पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।'

प्रत्यक् कहते हैं अंदरको। पराक् कहते हैं बाहरको। पराचः कामान्—बाह्यविषयान्। बाह्य विषयोंके पीछे-पीछे बालक लोग दौड़ते हैं और उसका फल है मृत्युके मुंहमें पड़ना। बाल किसको कहते हैं? अज्ञानीको। बालक खेलमें जब सूरज उगने पर अपनी छाया देखते हैं तो छाया का माथा पकड़ने दौड़ते हैं। तो क्या छाया पकड़में आयेगी? दौड़नेसे छाया हाथ लगेगी? छायाका माता पकड़ना हो तो अपना माथा पकड़ो। छायाको वशमें लेना हो तो सूर्यकी ओर मुंह करके दौड़ो। छाया पीछे दौड़ आयेगी। ये पराक् काम भी ऐसे ही हैं। यह भी तुम्हारी परछाही है।

'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम् ।
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरि त्रोद्भूतं यथा निद्रया ॥'

लाईटके सामने फिल्म रखते हैं तो पड़दे पर छाया पड़ती है। वैसे आत्मज्योतिके सामने अनन्तवासनामय फिल्म आती है तो बाह्य जगत् दीखने लगता हैं। बाह्याकार मायावासनाफिल्मका है। उसमें अस्ति भाति प्रिय आत्माका फोक्स है। उस बाह्यकारको फिल्मसहित फोक्स पकड़ने आगे बढ़ेगा तो वस्तु आगे बढ़ती रहेगी। वह पकड़में नहीं आयेगी। क्योंकि

यहां पड़दा अनन्त आकाशवितान ही है। वह वितान भी आगे बढ़तासा जायेगा और जगच्चित्र भी आगे बढ़ता जायेगा। विषयसुख जो अभिलषित है वह भी दूर होता जायेगा।

"एतां संतीर्य कष्टां स्थितिमथ सुखितः स्यामिति प्रश्रिताशो
यावत्तां निस्तृणोति प्रतिभयमपरं कष्टमापद्यतेऽसौ ।
नित्यं नेदिष्ठमेवं सुखमुपकलयन् सर्वमायुर्विमूढो
नीत्वा कृच्छ्रातिकृच्छ्रे तमसि विनिपतन्नन्तकातिथ्यमेति ॥"

अभी थोड़ी कठिनाई है। तकलीफ है। इसे पार करेंगे तो सुखी हो जाएंगे। यही सबकी आशा होती है। सामने सुख दीखता है। किन्तु इस कष्ट स्थितिको जब तक पार करते हैं तबतक दूसरी तकलीफ सामने आकर खड़ी होती है और उसके बाद सुख दीखने लगता है। इसप्रकार सारी आयु आगेके सुखकी प्रतीक्षामें बिता देते हैं और अन्तमें अतिघोर अतिदुःखरूप तममें पड़कर यमराजके अतिथि बन जाते हैं। यहीं "ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशं"से बताया।

कौन पराक् लोकके पीछे पड़ते हैं? बालाः। बालकका क्या अर्थ? बच्चे? नहीं। यहां बालकका अर्थ ऊमरसे कम व्यक्ति नहीं। ज्ञानसे कम व्यक्ति बाल है। आठ वर्षके एक ऋषि बूढ़े जिज्ञासुओंको वेदार्थरहस्य बता रहे थे। तो अन्तमें पुत्रका, बालाः बोल दिया। इसपर वृद्ध ऋषि नाराज हुए। बोलने लगे कि आप वेदार्थवेत्ता महान् भले हों फिर भी वृद्धोंके प्रति 'पुत्रकाः बालाः' कहें यह ठीक नहीं। इस विषयमें विवाद हुआ तो निर्णयार्थ ब्रह्माके पास पहुंचे। ब्रह्माजीने कहा ये ऋषि अनेकजन्मसंसिद्ध हैं। पूर्व जन्ममें जब ये अस्सी वर्षके थे तुमलोग तीस वर्षके थे और इनको पिता मानकर पूजते थे। आज तुम अठावन वर्षके दीखते हैं ये आठ वर्षके। अपने पूर्वसंस्कारानुसार उन्होंने पुत्रकाः कहा। वस्तुतः अनादि कालमें कोई भी ऊमरसे बड़ा छोटा नहीं है। ज्ञानसे ही बड़े छोटे होते हैं। इस कथासे यह निष्कर्ष निकला कि यहां बालाः का अर्थ है—ज्ञानरहिताः अज्ञानिनः ।

परंतु इन्द्रियसंयमनपूर्वक बाह्यवृत्तिनिवृत्ति बड़ी कठिन है। क्योंकि यह चित्त श्वास समान है। मार खाता रहता है। फिर भी इसकी चञ्चलता भारी है।

"दण्डैराहतविग्रहोऽपि शतधा संसारवीथीतले
नो यस्यामि कदाचनेति सुदृढ़ारूढ़प्रतिज्ञोपि च
दृष्ट्वा धावति पिण्डखण्डमभिको विस्मृत्य पूर्वस्थितिं
लाङ्गूलं परिचालयन्नसहनश्चेतोऽभिधानः शुनः ॥"

हजारों ठोकरें यह खाता है, डंडे खाता है। सोचता है निश्चय करता है कि इस संसारकी गलीमें फिर नहीं आऊंगा। परंतु फिरसे विषयपिण्ड देखता है, पहलेकी सारी बातोंको भूल जाता है और प्रसन्नतासे पूंछ हिलाकर उसी गलीमें फिर जाता है। डायाबिटिसवाले सोचते हैं कि मिठाई नहीं खाऊंगा। फिर भी सामने आ गयी तो सोच लेते हैं ज़रा सा खा लूं। फिर जरा सा खाया तो थोड़ा और खानेकी इच्छा होती है। नीतिकार कहते हैं–

"प्रतिजानाति वै योषित् प्राप्य प्रसववेदनाम् ।
नैवाग्रे जनयिष्यामि संततिं दुःखदायिनीम् ॥"

स्त्री प्रसवेदनाकालमें सोचती है कि अब आगे संतान उत्पन्न नहीं करूंगी। लेकिन थोड़ी देर बाद सब भूल जाती है। पुनः पूर्व स्थितिमें आ जाती है। संसारमें इन्द्रियनिग्रहके द्वारा निवृत्तबाह्यवृत्ति अति दुर्लभ है। अतएव 'ये तेषां' ऐसा संभावनामात्र किया।

तीसरा अर्थ विनिवृत्तबाह्यवृत्तयः का इसप्रकार है कि प्रथम बाहरं और अंदरका अर्थ क्या है देखो। शरीरको अवधि रखकर बाहर भीतर अर्थ करते हैं तो क्या भोजनसे तृप्ति हुई? वह तृप्तिवृत्ति अंदरवृत्ति है क्या? पेटमें दर्द हुआ। वह दर्दवृत्ति अन्तर्वृत्ति है क्या? सिरदर्द अन्तर्वृत्ति है क्या? मालिशसे शरीरमें माथेमें हल्कापन आया तो वह वृत्ति अन्तर्वृत्ति है क्या? मंदिरमें भगवानका दर्शन किया तो क्या यह बहिर्वृत्ति है? कीर्तनादिश्रवण बहिर्वृत्ति है क्या? कथाश्रवण बहिर्वृत्ति है क्या? सर्वत्र नकारात्मक उत्तर है तो अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्तिकी परिभाषा अलग करनी पड़ेगी। वस्तुतः नामरूप बाह्य है। अस्ति, भाति, प्रिय अंदर है।

नामरूपवृत्ति बहिवृर्त्ति है। सच्चिदानन्दवृत्ति अन्तर्वृत्ति है। नामरूपका मतलब क्या है? घटपटादि नाम और नीलपीतादि रूप? नहीं। रूपका अर्थ है रूप्यन्ते इति रूपाणि। शब्दस्पर्शादि सभी रूप हैं। श्रोत्रसे शब्दनिरूपण होता है। त्वक्से स्पर्शनिरूपण होता है। नेत्रसे रूपनिरूपण होता है। रसनासे रसनिरूपण होता है। घ्राणासे गन्धनिरूपण होता है। अतः शब्द स्पर्शादि सभी निरूपणीय होनेसे रूप हैं। नाम क्या है? रूपको धारण करनेवाली शब्दशक्ति। क्योंकि शब्द स्वयं रूप है। अतः शब्दशक्ति ही नाम है। नम्यन्ते पदार्था इति नाम। नामोंमें विलक्षण शक्ति होती है। उसी शक्तिसे जगत् बनता है। सामान्यतः वह घटपटादि नामोंमें रहती है। अतः उसको नाम शब्दसे कहते हैं। नामरूप बाह्य वस्तु है। और अंदरकी वस्तु अस्ति भाति प्रिय है। उसको अंदर क्यों कहते हैं? इसलिये कि वही उसका स्वरूप है। अस्तिके बिना नामरूपादि नहीं हो सकते। अतएव वह आत्मा है। नामरूप आदि अस्तिमें पैदा होता हैं। जन्म होनेपर वस्तुमें अस्तित्व आता है या अस्तिके आनेपर उसमें नामरूपका जन्म होता है? लोग यही कहेंगे कि पैदा होने पर 'है' कहते हैं, उसमें अस्तित्व आता है। 'जायते अस्ति वर्धते' ऐसा क्रम भी कहा जाता है। परंतु कुण्डलमें सुवर्ण है कि सुवर्णमें कुण्डल है? कुण्डलमें सुवर्ण है तो कुण्डल आधार होनेसे पहले वह होना चाहिये। जैसे घटमें रूप। सुवर्णमें कुण्डल ऐसी प्रतीति नहीं होती। यही तो माया है। जो विपरीत दीखाती है। सीधा भी समझना हो तो प्रथम कुछ वस्तु तो अस्तित्वमें हो तभी घटादि उत्पन्न होंगे। उस अस्तित्वमें घटादि उत्पन्न हुआ, वह अस्तित्व घटसम्बद्ध हो गया तो कहते हैं—घट्में अस्तित्व है। चार तोला सोनेमें यह कुण्डल बना बोलते हैं। तब बननेका आधार सोना हुआ। वैसे मृत्तिकाअस्तित्वमें घट हुआ। तब घटका आधार अस्तित्व ही तो हुआ। अतएव जैसे कुण्डलका अन्तवर्ती सोना है वैसे अस्तित्व भी कार्यान्तर्वर्ती है। ध्यानसे देखते हैं तो घट तो नामरूपमात्र हैं। असली तो मृत्तिका ही है। वैसे और गहराईसे देखेंगे तो अस्तित्वमात्र असली निकलेगा बाकी सभी नामरूप कल्पित होंगे। अतः नामरूपात्मक बाह्य विषयोंसे वृत्तिको हटा लो और अंदर जो अस्तित्वादि है उसीमें चित्तको स्थिर करो।

ये तीन प्रकार हुए। मैं व्यापक तथा "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" होनेसे बाह्य वस्तु ही नहीं अतः बाह्यवृत्ति क्या हो? दूसरा इन्द्रियजयसे बाह्यवृत्तिनिराकरणसे, तीसरा नामरूप बाह्य है। अंदर सच्चिदानन्द है। उस सच्चिदानन्दमें वृत्ति केन्द्रित करना। चौथा रास्ता शुद्ध वेदान्तियोंका है। सर्वं बाह्यं मिथ्या इसलिये आत्ममात्रसत्यत्वनिश्चय निवृत्तबाह्य-वृत्तिता है।

अनुपश्यन्ति। प्रथम पश्यन्ति होगा बादमें अनुपश्यन्ति होगा। प्रथम एकः वशी इत्यादिरूपसे देखो। एक का अद्वितीय अर्थ बताया। परंतु द्वितीय दीखता है तो अद्वितीय किस प्रकार? इसे पहले देखो। उपादान- कारण होनेसे एक है। सोनेसे कुण्डल बना तो एक सोना है, दूसरा कुण्डल है ऐसे दो पदार्थ नहीं हो जाते। क्यों? दोनों अभिन्न हैं।" सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ऐसा श्रुतिमें कहा। क्यों? इसमें हेतु बताया--तज्जलान्। तज्ज, तल्ल और तदन् और इसलिये जगत् ब्रह्मज है, ब्रह्मलयी है। जगत् ब्रह्मजीवी है। उपादानकारणरूपमें प्रथम देखो। इसके बाद वशीके रूपमें देखो। चेतनके वशमें जड़ होता है। चेतन निमित्तकारण है। नियन्त्रण रखनेवाला है। जगत् कठपुतलीके समान है। बल्कि यह जीवात्मा भी आत्माकी कठपुतली है। जीवात्मा प्रतिबिम्ब है। उसका हेतु बिम्ब है। वह उपाधिको नचाता है तो जीव भी नाचता है। जैसे मदारी नचाता है तो वानरादि नाचते हैं। इसप्रकार पूर्णचेतनरूपसे आत्माको देखो। फिर सर्वभूतानान्तरात्माके रूपमें देखो। अन्तर्यामीके रूपमें देखो। अन्तःस्थित्वा नियमयति। प्रशास्ताके रूपमें देखो। उसीके भयसे सूर्यादि चलते हैं। उसीके शासनमें सब रहते हैं। वह परमस्वतन्त्र है। इसरूपमें देखा। अब आगे बढ़कर विवर्तोपादानतक पहुंच जाते हैं क्योंकि एक ही रूप नाना कैसे होगा? विवर्तसे ही उसका नानात्व संभव है। यहांतक सामान्य साधना हुई। विशेष साधना है--"तमात्मस्थं"। हृदयमें वह शुद्धरूपसे व्यवस्थित है। अन्यत्र मलिनरूपसे, सो भी प्रायः जड़रूपसे।

इन सबका चिन्तनमात्र होगा। दर्शन कैसे होगा? प्रत्ययावृत्तिसे दर्शन भी होता है। राम, कृष्ण, शिवादिकी उपासना करते हैं। उपासना करनेसे क्या होगा? दर्शन होगा। "दर्शन दो घनश्याम मोरी अखिया प्यासी रे"

इसप्रकार भक्तलोग गाते हैं। तो दर्शन मिलता है क्या? क्यों नहीं मिलता होगा? कब मिलेगा? कितना मालाजप करनेसे कितना ध्यान करनेसे, कितने समय तक करनेसे? क्या इस जन्ममें दर्शन मिल सकता है? मरीनड्राईवमें एक भक्त था। वह बोलता था मुझे इस जन्ममें दर्शन हो जाय इतनी इच्छा है। बहुतसे कट्टरभक्त कहते हैं कि दर्शन चाहे इस जन्ममें मिले या न मिले। दर्शन मिलनेका आश्वासन भी बहुत है। भले दस जन्ममें हो। हमारा कहना है कि ऐसी आशा रखना उत्तम है। हम तो कहेंगे आप दर्शन करने पूरी तरहसे चाहते नहीं हैं। पूरी तरहसे चाहेंगे तो तीन, चार, दस जन्ममें क्या-तीन दिनमें दर्शन हो सकता है। कोई कहेंगे कि यह असंभव बात है। हम पूरी तरहसे चाहते हैं। तीन दिन भी लंबा समय है। तीन मिनिट में भी दर्शन कर सकते हैं। अष्टावक्रजीने जनकको दर्शन कराया था। क्या वह तरकीब है, जल्दी बताईये तो यहीं हम दर्शन कर लें। उपाय हम बतायेंगे। पर आपकी पूरी इच्छा न होनेसे कर नहीं पायेंगे। कोई कहेगा कि मै जीवनकी भी इच्छा नहीं करूँगा यदि दर्शन होनेकी बात हो। परंतु विवेचना करनेपर मालूम पड़ेगा कहांतक इच्छा है, कहांतक नहीं है।

उपासना प्रत्ययावृत्तिको-निरन्तर एकमात्र चिन्तनको कहते हैं। एकमात्र चिन्तनका मतलब है अन्य कोई वृत्ति न हो, एकमात्र वृत्ति हो। क्या भगवत्स्मरण करने माला जपने आदिके लिये बैठते हैं तो क्या एकमात्र चिन्तन होता है? क्या तीन घंटेतक एकमात्र चिन्तन चलता है? तीन घंटेकी बात छोड़ो, तीन मिनट एक चिन्तन चलता है? हम तो कहेंगे—तीन सेंकेंड भी यदि एकमात्र चिन्तन चले तो बड़ी बात होगी। ध्यान भगवानका कर रहे हैं। मन रसोई घरमें है। मन मार्किटमें है। इन सबसे जैसे तैसे बचा भी जाय किन्तु मन आसनपर है, कमरेमें है। क्या कोई ऐसा भी ध्याता है कि यह भूल जाय कि मै कहां हूं। वह भी शायद भूल जायं किन्तु शरीरको कोई भूला नहीं सकता। शरीर भी तो परमेश्वरसे अन्य हुआ। शरीरको हम भूलते हैं कब? जब सो जाते हैं। उस समय यह विशेषता है कि आप जिसका चिन्तन करते हैं वह प्रत्यक्ष हो जायेगा। सपना चिन्तन ही तो है। किन्तु शरीर विस्मृति होते ही

चिन्तितार्थ प्रत्यक्ष होने लगा। रथ, हाथी, घोड़ा, सड़क, सूर्य, चन्द्र आदि सभीका सपनेमें चिन्तन ही तो है। किन्तु घटका, कमरेका बिस्तरेका चिन्तन छूटा, शरीरका भी चिन्तन छूटा तो ये सब प्रत्यक्ष होने लगे। और आगे पूछा तो अन्य चिन्तन भी बाधक नहीं है। प्रत्यक्ष ही बाधक है। आसनपर बैठे हैं तो आसनका स्पर्शन प्रत्यक्ष हो रहा है। शब्द कानमें आया तो श्रोत्र प्रत्यक्ष हो रहा है। अगरबत्तीकी सुगंधीका प्रत्यक्ष हो रहा है। सड़ी वस्तुके दुर्गन्धिका प्रत्यक्ष हो रहा है। ज्वर हो तो मुहंमें कड़वापनका प्रत्यक्ष हो रहा है। सिर्फ आंख बंद रखनेसे रूप प्रत्यक्ष नहीं होता। ये प्रत्यक्ष जो हो रहे हैं ये ही चिन्तितार्थ प्रत्यक्षमें बाधक हैं। स्वप्नकालमें ये सभी प्रत्यक्ष बंद हो जाते हैं। इन्द्रियां लीन हो जाती हैं तो चिन्तितार्थका प्रत्यक्ष होता है। किसी किसीको लेटते ही नींद आती है तो सपना दीखने लगता है। उपास्य प्रत्यक्षके लिये तीन सेकेंड भी हम बहुत बतला रहे हैं। बाह्यप्रत्यक्ष एक क्षण बादमें करो। उसी क्षणमें ध्येय प्रत्यक्ष कर लो। अष्टावक्रजीने राजा जनकको यही कहा कि बाह्यार्थदर्शन बंद करो। राजाने वही किया तो ध्येयार्थ प्रत्यक्ष होने लगा।

लोग कहते है कि हम भगवानका प्रत्यक्ष करनेके लिये सब कुछ त्याग सकते हैं। पर यह सब कथनीमात्र है। आप अपने शरीरादिका चिन्तन नहीं छोड़ सकते। क्यों चिन्तन होता है? उसमें आसक्ति हो या द्वेष ये दोनों ही अन्यार्थचिन्तनमें कारण हैं। जाने अनजाने आसक्ति शरीरादिमें रहती ही है। ऐसा लगेगा कि शरीरमें आसक्ति नहीं है। किन्तु पता तब चलता है जब कोई अंग बेकार हो जाय, कुरूप हो जाय। बाल कालेसे जब सफेद होने लगते हैं तब देखो आसक्ति कैसी होती है। बादमें फिर उपाय न होनेसे आदत हो जाय सो अलग बात है। जीवनकी आसक्ति सर्वाधिक है। अतएव शरीरादि चिन्तन बना ही रहता है। दो ही अवसर हैं जब शरीरविस्मृति होती है। एक निद्राकालमें दूसरी समाधि-कालमें। निद्रामें चिन्तितार्थ साक्षात्कार होता है। समाधिमें भी ध्येयार्थ साक्षात्कार होता है। फरक दोनोंमें यह है कि निद्रा दोष है। समाधि गुण

है। दोष प्रयुक्त होनेसे निद्रामें वस्तुसाक्षात्कार प्रातिभासिक होता है। गुणप्रयुक्त होनेसे समाधिमें वस्तुसाक्षात्कार व्यावहारिक होता है। सत्यप्राय होता है। इसलिये समाधिमें भगवत्दर्शनादि सत्य होता है। बल्कि निद्रामें भी भगवत्साक्षात्कार तो सत्य ही माना जाना चाहिये। क्योंकि वस्तु विद्यमान है। हाथी, घोड़ा कमरेमें नहीं है अतः मिथ्या है। लेकिन भगवान् तो सर्वत्र है। अंदर भी है। अतः भगवत्‌दर्शनको सत्य मानना ही उचित है।

उपासनासे होनेवाला दर्शन सामान्य दर्शन है। वह आरोपितानारोपित साधारण है। अधिकतर आरोपित ही होता है। उपासना भी नाना प्रकारकी है। एक सगुणसाकारकी उपासना है। दूसरी सगुणनिराकारकी उपासना है। तीसरी निर्गुण निराकारकी उपासना है। श्रीकृष्ण श्रीराम आदिकी उपासना सगुण साकार है। वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् इत्यादि आकारवर्णन है। नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं इत्यादि भी आकारवर्णन है। शान्तं पद्मासनस्थं शशिधरमुकुटं इत्यादि शंकरका आकार है। गुण है—वरदातृत्व, दयामयत्व, दुष्टसंहारकारित्व आदि। शंकर भगवान् भोले बाबा हैं। यह गुण है। भगवान् राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं यह गुण हैं। श्रीकृष्ण लीलाविनोदी हैं यह गुण है। इसके बाद सगुणनिराकार है। आर्यसमाजी साकार नहीं मानते किन्तु सगुण मानते हैं। दयामयता, वेदोपवेदद्रष्टृता जगत्सृष्टिकारिता, रक्षणसंहारकारिता ये सब गुण हैं। कबीरपन्थी भी सगुणनिराकार मानते हैं। वेदान्तमतमें सगुणसाकार कृष्णादि भी हैं। सगुणनिराकार ईश्वर भी है। मायावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है। मायाका कोई आकार नहीं अतः उस ईश्वरका भी कोई आकार नहीं। बल्कि सत्त्वगुणावच्छिन्न विष्णु, रजोगुणावच्छिन्न ब्रह्मा तमोगुणावच्छिन्न ब्रह्मा, चतुर्भुज विष्णु, पञ्चमुख शिव आदि तो अवताररूप ही हैं। निर्गुण निराकार तो परब्रह्म परमात्मा है। उपासनासे इन सबका प्रत्यक्ष होता है। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। पञ्चदशीमें वर्णन आया है—

'मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥'

एक जगह मणि रखी थी। वह दिखाई नहीं पड़ती थी। नीचे फरशपर उसका प्रकाश पड़ रहा था। दूरसे उसीको किसीने मणि समझा। तो क्या वह प्रमा है या भ्रम ? भ्रम। एक जगह दीपक रखा था। वह भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। उसका भी प्रकाश फरशपर पड़ रहा था। जैसे टोर्चका। उसको किसीने मणि समझा। वह भी भ्रम है। दोनों भ्रमोंमें क्या फरक है? मणिप्रभाको मणि समझना भी भ्रम है। क्योंकि किसी ने मणि देनेका वायदा किया। दिखाकर पकड़ लो कहकर चला गया तो क्या वायदा पूरा माना जायेगा ? नहीं अतः वह भी भ्रम हैं। किन्तु फरक यह है कि मणिप्रभाको और दीपप्रभाको मणि समझनेवाले दो व्यक्ति उसे उठाने दौड़े। उनमें दीपप्रभावाला खाली हाथ वापिस आया। मणिप्रभावाला समीप पहुंचनेपर जान गया कि यह मणि नहीं है। किन्तु वह मणिके पास भी तो पहुंच गया था। अतः मणि हथियानेमें देरी नहीं लगी। उसका भ्रम संवादी भ्रम बताया गया है। दूसरेका भ्रम विसंवादी बताया गया है। वैसे कृष्णादि उपासना एवं भूतादि उपासना है। अब एक दूसरा उदाहरण सुनो मणि पूर्वकि ताकमें रखी थी। उसका प्रकाश नीचे पड़ रहा था। उसीको किसीने मणि समझा। पच्छिममें दर्पण लगा था। उसमें पड़ते हुए प्रतिबिम्बको किसीने मणि समझा। दर्पणके पास पहुंचते अपने व्यवधानसे मणिका दीखना भी बंद हो गयो तो? अर्थात् संवादि भ्रममें भी तारतम्य होना है। वैसे सगुणसाकारकी अपेक्षा सगुणनिराकार श्रेष्ठ है। और सगुण निराकारकी अपेक्षा निर्गुणानिराकार श्रेष्ठ है। क्योंकि अधिकाधिक समीप होते जा रहे हैं। इन सबका ध्यानसे जो दर्शन है वह केवल दर्शनमात्र है।

अनुदर्शन इससे पृथक् है। उपासनासे दर्शन होनेके बाद प्रमाणसे जो दर्शन होता है वह अनुदर्शन वास्तविक दर्शन है। अतएव अनुदर्शनका दूसरा भी अर्थ भाष्यमें किया। आचार्यगमोपदेशमनुसाक्षात्कुर्वन्ति।

क्या आचार्यागमोपदेशके बिना अनुदर्शन नहीं होगा? नहीं। क्योंकि वह औपनिषद् ब्रह्म है। उपनिषन्मात्रवेद्य है।

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः"

ध्यान तो प्रमाण नहीं है। अतएव ध्यानजन्यदर्शनको सम्यक् दर्शन नहीं माना जाता। एक का चिन्तन करते-करते कभी वह सामने दीखने लगता

है। क्योंकि अन्तःस्थित संस्कार चक्षुमें आकर बाह्य रूप धारण करने लगता है। जैसे धूपमें अपनी ही छाया दस पांच मिनिट देखो फिर आकाशमें देखो तो आकाशमें स्वस्वरूप दीखने लगता है क्योंकि आंखमें छायाका आकार आ गया। वैसे निरन्तर चिन्तन करनेपर भी इन्द्रियोंमें तदाकार आने लगता है। वह स्वीय संस्कारके स्थूल दर्शन जैसा है। अतः प्रमा नहीं है। प्रमा तो प्रमाणजन्य होता है। प्रमाण तो उपनिषत् है। तब पूर्वदर्शनकी आवश्यकता ही क्या रही? आवश्यकता है। पूर्वदर्शन जो किया है उसको कृतोपास्ति कहते हैं। अन्य अकृतोपास्ति है। कृतोपास्तिको ही जीवन्मुक्तिका सुख होगा। अकृतोपास्तिको नहीं। यह हम अगले विशेषणकी व्याख्यामें बतायेंगे। दूसरी बात यह है कि कृतोपास्तिके अन्य संस्कार शिथिल हो गये। देहादि संस्कार नहीं के बराबर हो गया तो ब्रह्मदर्शन आसानीसे हो जायेगा। इस समय तत्त्वमसि आदि वचन सुननेपर भी साक्षात्कार नहीं होता। क्या कारण? देहादिसंस्कार प्रबल है। ये सब प्रतिबन्धकं हैं।

'प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥'

हम बता चुके कि जाने अनजाने देहासक्ति प्रबल बैठी है। उपासनासे वह आसक्ति धीरे-धीरे कम होगी। उपासनासे बुद्धि तीक्ष्ण होती है। काशीमें बड़े पण्डित हुए। सभी उपासक थे। भारतीजी (शंकर चैतन्यजी) उपासक थे। राजेश्वरशास्त्रीजी उपासक थे। करपात्रीजी उपासक थे। गोपीनाथजी उपासक थे। प्राचीनकालमें पाणिनि आदि तो उपासक थे ही। जब तक कुछ चमत्कार नहीं होता तभी तक कुतर्क एवं विपर्यय होता है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं–

"विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।"

दिव्यविषयविषयक प्रकृष्ट वृत्ति मनको स्थिर करती है। इसप्रकार सर्व-प्रतिबन्धहारी उपासना है। साक्षात्कार पर्यन्त उपासना होनेपर हृदय भी अत्यन्त निर्मल होगा। श्रुति कह चुकी है–

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।"

ये सभी विशेषण उपासनासे संपन्न होते हैं। तीक्ष्ण होगी। सूक्ष्म होगी बुद्धि। सूक्ष्मवस्तुओंका दर्शन भी बुद्धि करने लगेगी। इसलिये प्रथम उपासनासे इष्ट दर्शन प्राप्त करना परम आवश्यक है।

उसीसे कृतार्थता क्यों नहीं? ध्यान प्रमाण भले न हो, हमें तो दर्शनसे मतलब है। ध्यानसे होनेवाला दर्शन मिथ्या ही होता है ऐसा कोई नियम नहीं है। विषयमिथ्यात्व ही ज्ञानमिथ्यात्वमें प्रयोजक है। कोई प्रिय मर गया। उसके निरन्तरचिन्तनसे उसका दर्शन होने लगा। वह मिथ्या है क्योंकि वह मर गया, वापिस नहीं आ सकता। नारदजी व्यासजीको कहते हैं–

"प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥'

क्या नारदजीको भ्रमात्मक दर्शन होता था? प्रगायतः का अर्थ है प्रेम्णा ध्यानपूर्वकं गायः। प्रेमसे भगवत्स्मरणपूर्वक गीत बोलना। इतनमें उनको शरीरादिविस्मृति हो जाती थी और चित्तमें दर्शन होने लगता था। जैसे वस्तु संनिहित होनेसे शब्दसे प्रत्यक्ष माना वैसे ध्यानसे प्रत्यक्ष माननेमें क्या हर्जा है? ध्यान प्रमाण न हो लेकिन मन तो मानसप्रत्यक्षमें प्रमाण है। इस पूर्वपक्षका समाधान यह है कि आप ध्यानसहकृतमानसप्रत्यक्ष मान सकते हैं।

"ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा यन्निर्गुणं निष्क्रियं।
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ॥"

इसप्रकार ध्यानवशीकृत मनसे प्रत्यक्ष श्रीमन्मधुसूदनसरस्वती भी कहते हैं। किन्तु उसमें न्यूनता यह है कि ध्यानका जो विषय होगा उसीका प्रत्यक्ष होगा। ध्यानका विषय सर्वथा निर्गुण नहीं होता। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" "नेदं यदिदमुपासते" इत्यादिरूपसे शुद्ध ब्रह्मको उपासनाका अविषय बताया है। बल्कि निराकारका ध्यान करना यह भी एक आग्रहमात्र है। आकाशके समान व्यापक कहनेपर आकाशका जो धनुष आकार है वह भी आ जाता है। ज्योति स्वरूप कहनेपर सौरादि ज्योतिका रूप भी आ जाता है। अतः ध्यान हमेशा ही कुछ गुण, आकार, रूप आदिके आरोपके साथ ही होता है। अतः ध्यानसे, उपासनासे प्रथम

इष्टसाक्षात्कार करो। फिर उसके बाद श्रवणादि कर ब्रह्मका साक्षात्कार करो। जगतका उपादान कारण, जगत्वशीकर्ता इत्यादि सभी सगुण-चिन्तन ही है। फिर भी काफी समीपतक पहुंच जाते हैं। उसके बाद भी वास्तविक दर्शन तो श्रुतिवचनोंसे ही होगा। अतः भगवत्‌दर्शन करनेके बाद भी श्रुतिश्रवण करना परम आवश्यक है।

धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्। अनुपश्यन्तिसे दर्शन तथा अनुदर्शन दोनों बातें बतायी गयीं। अयमनुगच्छति—यह पीछे-पीछे चल रहा है कहनेपर कोई आगे चल रहा है यह अर्थ अपने आप निकलता है। वह प्रथम दर्शन क्यां है? एको वशी इत्यादि ध्यानरूपी उपासनासे जो दर्शन होता है वही प्रथम दर्शन है। उसके बाद अनुदर्शन आसान है। ये सब किसके लिये संभव है? एतदर्थ विशेषण है—धीराः। इसी प्रकारका ही विशेषण 'पराञ्चि खानि' मन्त्रमें भी है।

"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।"

धीराः पश्यन्ति अनुपश्यन्ति च इससे मिलता-जुलता अर्थ वहांपर भी है—धीरः आवृत्तचक्षुः प्रत्यगात्मानमैक्षत्। आवृत्तचक्षुः का ही परिणाम पश्यति है।

चक्षुरावर्तनका क्या अर्थ है? क्या इन्द्रियोंको भीतरकी ओर पलटकर उससे आत्माको देखना? एक तो यह बताचुके कि इन्द्रियोंका परावर्तन संभव नहीं है। क्योंकि ब्रह्माजीने उनको पराग् वृत्ति बना दिया है। ब्रह्माजीने अग्निको उष्ण बनाया, ब्रह्माजीने पानीको ठंढा बनाया इसका अर्थ है कि अग्निकी उष्णता स्वाभाविक है। पानीकी शीतलता स्वाभाविक है। जो स्वभाव है उसका परिवर्तन नहीं हो सकता। तब पराक्‌प्रवणं इन्द्रियोंको प्रत्यक्षप्रवण कैसे बना सकेंगे? फिर अन्तर्वृत्ति करनेका मतलब क्या"? कान बंद किया तो अंदर शब्द सुनायी पड़ता है। नेत्र बंद किया तो अंधेरा और गोल-गोल एक प्रकारकी रोशनी दिखाई पड़ती है। बुखार हो तो अंदरका कड़वास मालूम पड़ता है। कभी नाकमें बलगम सड़ा तो दुर्ग़न्ध आती रहती है। पेटमें कभी दर्दका अनुभव होता है। ऐसे विषयोंका अनुभव करना ही प्रत्यग्वृत्ति है? नहीं। यह भी पराग्वृत्तिता है। यह कहें

कि कान आदिमें शब्दादिविषयोंको आने न देना। प्रत्यग्वृत्तिता है? यह भी असंभव है। कुछ संत लोग आंख, नाक, कान सब बंद करके बैठते हैं। किन्तु उसमें भी अन्तःशब्दादि सुनाई पड़ते हैं। अंगुलिस्पर्शादि स्पर्शानुभव होता है। चक्षुके दबानेसे रूप दिखाई पड़ता है। यह तो नलके दौत्यके समान है। महाकवि श्रीहर्षने नैषधमें बड़ा विलक्षण वर्णन किया है। दमयन्तीका स्वयम्वर सुनकर अग्नि, वायु, वरुण एवं यम ये चार देवता भी राजकुमारका वेष धारण कर चलते हैं। रास्तेमें नलको देखकर वे दंग रह जाते हैं क्योंकि नलके सामने देवता भी फीके हो जाते थे। नल का आचरण, कथा आदि भी लोकोत्तर थे।

"निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथा-

स्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि ।"

देवता नलको देखनेसे एवं नल चरित सुननेसे सुधा भी भूल जाते थे। इन चारों देवताओंने नलके पास आकर कहा हम सिद्ध ब्राह्मण हैं, हमारा एक कार्य करो। क्या काम? दमयन्तीको मनाओ हमारे गले वनमाला डाले। लंबा प्रसंग है। अनभीष्ट होनेपर भी हां कहनेके बाद न करना उचित नहीं है। उन्होंने अदृश्य होनेकी शक्ति नलको दी। नल राजमहलमें प्रविष्ट हुए और दमयन्तीके पास पहुंचे। पहले नलकी कुछ खामियोंको बताकर कहा—देखो तुम अमर देवताओंसे विवाह करो, वे भी तुम्हें चाहते हैं। दमयन्तीने कहा—यह कभी संभव नहीं है। मैं अपना हृदय नलको दे चुकी हूं। नलने कहा किन्तु देवता तो देवता ही हैं। उन लोगोंने हठ पकड़ा तो वह कार्य करके ही छोड़ेंगे। दमयन्तीने कहा ऐसी हालतमें मैं प्राणोत्सर्ग करूंगी। मर जाऊंगी। नलने पूछा कैसे मरोगी? पानीमें डूबकर। तो अपने आप वरुण देवताके पास पहुंचोगी। अग्निमें जलकर? तो अग्निदेवकी अभीष्टसिद्धि होगी। प्राण रोककर? तो वायुदेवतामें मिलना ही है। कैसे भी मरो, मृत्यु देवतासे छुटकारा मिलनेवाला तो है ही नहीं। यह सुनकर दमयन्ती बेहोश हो जाती है। विषयोंकी भी वैसी ही स्थिति है। आंख मुदोंगे तो पुतलीका रंग अंदर दीखेगा। कान बंद करो तो अंदर कुट्-कुट शब्द सुनाई पड़ेगा। स्पर्शका होना तो अनिवार्य ही है। फिर आत्माका दर्शन कैसे करेंगे?

इसका उत्तर यह है कि आत्माको तो चक्षु आदिसे देखना है ही नहीं। न खुली आंखसे और न बंद आंखसे। 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' बताया है। आवृत्तचक्षुका अर्थ है नामरूपसे इन्द्रियोंको हटाना और मनको बाह्य विषयसे रोकना। उपासनामें यही बात मुख्य है। इतर विजातीय-वृत्तिनिरासपूर्वक सजातीयवृत्तिप्रवाह ही उपासना है। चक्षु आदिको शान्त किया और मनको भी शरीरादिसे पृथक् किया। जैसे—स्वप्नादिकालमें। तब जिसका चिन्तन करे उसीका साक्षात्कार होने लगता है। आवृत्तचक्षु होकर 'एको वशी' इत्यादिरूपसे चिन्तन करते हैं तो उस रूपसे साक्षात्कार होने लगता है। यह सब अति दुर्लभ होनेसे 'ये तेषां' यह यहां बताया। और 'कश्चिद्धीरः' यहां कश्चित् का प्रयोग किया।

धीराः। धीर शब्दके अनेक अर्थ हैं। दधातीति धीरः। (सु सू धाञ् गृधिभ्यः' क्रन ऐसा उणादिसूत्र है) दधाति धारयतीति धीरः। धीरताके लिये दूसरा शब्द धृति है। उसका भी वही अर्थ है—धारणा। दधाति धारयति मनो मा भूदुद्भेद इति। मनका धारण करनेवाला धीर है। मन यद्यपि बहुत छोटा है। नैयायिक लोग इसे अणु परिमाण भी कहते हैं। परंतु उतना छोटा वेदान्ती मानते नहीं हैं। इस मनमें अनेक कमरे हैं। एक-दो, दस-बीस, या हजार-लाख नहीं, करोड़ों अनन्तों कमरे हैं। किसी भी वस्तुको देखते सुनते सूंघते तो मनमें तुरत कमरे तैयार हो जाते हैं। उस कमरेमें श्रवणदर्शनादिके सूक्ष्मरूप संस्कार पहुंच जाते हैं. और किवाड़ बंद कर बैठते हैं। ऐसे इस जन्ममें और जन्मजन्मान्तरमें पता नहीं कितने कमरे बने हैं और बनते भी जा रहे हैं। योगसूत्रमें बताया है—

"संस्कारसाक्षात्कारात्पूर्वजातिज्ञानम्।"

योगी पूर्वजन्मवृत्तान्त कैसे जानते हैं? पूर्वजन्मके बने कमरोंको खोलकर वे देख लेते हैं। देखे, अनुभव किये सभी वस्तुओंका नामरूपाकार संस्कार इन कमरोंमें पड़े हुए हैं। इसलिये योगियोंका पूर्वजातिज्ञान वास्तविक होता है। इन कमरोंकी दीवारको बहुत मजबूत हमने बनाया नहीं है। इसलिये कभी संस्कार सांकर्य होता है तो भ्रमात्मक स्मरण भी होता है। इनके दरवाजे भी हमने कमजोर बना रखे हैं। जब भगवत् ध्यान करनेके लिये बैठते हैं तो क्षणभरके लिये भगवत्संस्कारका कमरा खुला और भगवानको

देखा। इतनेमें कई कमरे और खुल गये। पैसा उसको दिया था, उसने वापिस नहीं किया। और कमरे खुले। आज बाजार जाना है। कमसे कम हजार पांचसौ तो चाहिये ही। एक-एक कमरा खुलता जा रहा है, पूर्व-पूर्व कमरा बंद होता जा रहा है। भगवान् तो कमरेमें बंद पड़े हैं। यह टेपरेकार्डरके बटनके समान है। एक बटन दबाकर खोला तो दूसरा बटन अपने आप ऊपर आकर अपना काम बंद कर लेता है। धीर बननेका अर्थ है—दधातीति धीरः। इन कमरोंके दरवाजोंको पकड़ रखो, खुलने मत दो और जो खुला है उसे बंद होने मत दो, पकड़ कर रखो।

यह मकान जीर्णशीर्ण-सा हो रहा है। इधर दरवाजा ठीक करने जाते हैं तो उधर दीवार टूट जाती है। दीवार ठोकते हैं तो खिड़की टूटती हैं। और संस्कार निकल बाहर आते हैं। उनकी खुली हवा मिला जाती है तो वे बढ़ भी जाते हैं और मजबूत भी होते हैं। जीर्ण कपड़ेके समान ये कमरे हैं। फटापुराने कपड़े जैसे हैं। इधर सियो तो दूसरी ओर कटता है। कच्चे बांधके समान है। पुराने मकानके समान है। इधर सिमेंट डालो तो उधर पानी चूता है। वहां डालो तो इस तरफ। इन सबको धारण करनेकी जो शक्ति है उसे धृति कहते हैं। धारण न करनेपर जितना अधिक ये बाहर आ जाते हैं उतने मजबूत होते हैं। बार-बार स्मरण करनेसे संस्कार दृढ़-दृढ़तर होता जाता है। संस्कारको नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है। अनेक संस्कार तो जीवन धारक हैं। शरीरमें जीवाणु हैं (Eells) खूनमें जीवाणु हैं। सूक्ष्म होकर पड़े रहते हैं तो उनसे जीवन है। परंतु कटा जला और पकाया तो कीटाणु बड़े हो जाते हैं। घाव सड़ गया, कीड़े पड़े तो क्या बाहंरसे आया? सूक्ष्मरूपसे सब अंदर है। अंदर सूक्ष्मरूपसे रहना ठीक है। बढ़ना ठीक नहीं। वैसे संस्कार भी सूक्ष्मरूपसे रहना चाहिये। यदि नष्ट हो जाय तो योगियोंको पूर्वजातिज्ञान भी नहीं होगा। इन संस्कारोंको दबाकर रखना चाहिये। जो इनको दबाकर रखता है वही धीर है।

धीर शब्दका दूसरा अर्थ है—धियमीरयतीति धीरः। ईर में प्र उपसर्ग जोड़नेपर प्र-ईर—प्रेर-प्रेरणा अर्थ होता है। बुद्धिको प्रेरित करना और कराना चाहिये, वही धीर है जो ऐसा करता है। बुद्धिको कैसे प्रेरित्त करना और क्या प्रेरित करना? श्रुति कहती है—

'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'।

जैसे बच्चेके लिये मां हमेशा सजग रहती है। जरा भी चूक जाय तो चाकूसे हाथ अपना काट देगा, कभी गिरकर पांव तोड़ देगा। कभी आगमें जलेगा। और अधिक असावधानीमें कुएंमें भी गिरेगा। हर हमेशा उसपर निगाह रखनी पड़ती है। मरीनड्राईवमें एक बच्चेने बाथमें किसीको छलांग मारते हुए देखा। और अपने पांचवें मालेसे ममी मैं बाथमें छलांग मारता हूं। कहकर छलांग मारा। फिर क्या दशा हुई यह कहनेकी जरूरत नहीं। बच्चे अनुकरणशील होते हैं और अविवेकी होते हैं। उनको प्रेरित करना मांका काम है। वैसे बुद्धिको प्रेरित करनेके लिये प्रथम शास्त्राचार्योपदेशद्वारा कर्तव्यका और ज्ञातव्यका विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। फिर उस ज्ञानको प्रज्ञान बनाना चाहिये। ज्ञान क्या है—सदर्थ प्रेरित करना है—"अमानित्वमदम्भित्वम्" इत्यादि। तदर्थ हर समय ध्यान रखना पड़ेगा।

इतना ही नहीं एतदर्थ सूर्यादि देवताका सहारा भी लेना पड़ेगा। "धियो यो नः प्रचोदयात्"। प्रचोदयात् का अर्थ है—प्रेरयेत्। सूर्यपदका अर्थ भाष्यकारने ईशावस्यमें लिखा है—स्वीरणात् सूर्यः। सुष्ठु ईरणात्। वह सूर्य बुद्धिको प्रेरित कैसे करेगा? उसके लिये द्वितीय पाद है—भर्गो देवस्य धीमहि। दिव्य देव सूर्यके भर्गका ध्यान करें। भर्गका तेज अर्थ है। सूर्यके दो प्रकारके तेज हैं। एक घोर रूप है, दूसरा अघोर-शान्तरूप है। जो प्रखर किरण है वह घोररूप है। इसके लिये कहा—व्यूह रश्मीन् समूह तेजः। इन रश्मियोंको तो बटोर लो। कौनसा रूप चाहिये—यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। प्रखर तेजका अपसरण होते ही चान्द्रमस तेजके समान शीतल किंतु अत्युज्ज्वल तेज प्रतीत होगा। उसका ही ध्यान करना है। तदर्थ विशेषण है—वरेण्यं—वरणीयम्। वरणीयं भर्गो धीमहि। न तु अवरणीयं प्रखरम्। इससे बुद्धिको प्रेरणा मिलती है। वही पूषादिरूप है। पूषन् पोषणकारी हैं। एकमर्षयति गमयति इत्येकर्षिः। अद्वैत दर्शन करानेवाला है। यम नियमन करानेवाला वशी समझो या सर्वभूतान्तरात्मा समझो। सर्वभूतान्तरात्माका एक अर्थ हम सर्वान्तर्यामी कर चुके हैं। वही सूर्य है। उससे हम धीर होंगे। वह प्राजापत्य है। 'एक रूपं बहुधा यः करोति।'

"सोऽहमस्मि"-यह "आत्मस्थं" से बताया गया है। जैसे सूर्य से पौधों को पोषण मिलता है वैसे बुद्धिको पोषण मिलता है। जैसे सूर्य गगनमें एकाकी दीखता है वैसे सूर्य चिन्तनसे एकत्वदर्शनके लिये बल मिलता है। सूर्यपुत्र यमराज हैं। काल सूर्यगतिसे बनता है। सर्वप्राणिसंयमी सूर्य है। सौरतेज सकलेन्द्रियसंयमनकारी भी है। सूर्य सोये प्राणियोंको जगाता है। मनुष्य भले सूर्योदयपर सोवें। किन्तु मृग, पक्षी आदि चहकने लगते हैं। वह प्रेरक है। हमारी बुद्धिको सुईरण कर वही जगानेवाला है। इस प्रकार सूर्यके कल्याणतमरूपका चिन्तन करना भी बुद्धि को प्रेरित करनेमें सहायक होता है।

धीरका तीसरा अर्थ है—धियं रातीति धीरः। रा धातु का अर्थ है देना। धियं रातीति धीरः। ज्ञानको जों प्राप्त करो उसे दूसरोंको प्रदान करो भी।

पञ्चदशीमें बताया है-

"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥"

स्वयं श्रवणकर तच्चिन्तन-ब्रह्मचिन्तन करो। जो अनुभवमें आये उसे बोलो भी। सुनते हैं बंगालमें एक बड़े भारी विद्वान् न्यायशास्त्रके हुए। गदाधर भट्टाचार्य। तर्कालंकार जगदीश की प्रसिद्धि होनेसे कोई गदाधरके पास पढ़ने नहीं जाता था तो जंगलमें बैठकर पेड़ों को लक्ष्यकर वे पढ़ाया करते थे। तत्कथन किये बिना विद्या निर्विघ्न नहीं होगी। क्या कोई पागल है सोचकर एक व्यक्ति ने पीछे से जाकर ध्यानसे सुना तो मालूम पड़ा कि ये गहनतम न्यायशास्त्र बोल रहे हैं। पाठ समाप्त हुआ तो उसने सामने आकर घुटना टेककर प्रणाम किया। भट्टाचार्यने पूछा, बोलो कैसे आये? क्या यह गहनतम पाठ मुझे सुनने की अनुमति देंगे? एक मिनट ठहरकर बोले, आओ, सुना करो। फिर क्या था। बिजली के समान भट्टाचार्य की विद्वत्ता लोकविश्रुत हो गयी। जिसके सामने ज़गदीशकी कीर्ति फीकी होने लगी। शास्त्रोंका कथन करते रहना चाहिये। जिससे वाणीशुद्धि एवं शास्त्र-शुद्धि होती है। अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। यही धियं राति का अर्थ है। अपने पास जो नयी सूझ है। उसे दूसरोंको दो। इससे विद्यावृद्धि होती है। यह विद्याधन ऐसा है कि इसे जितना दो उतना बढ़ता है न दो तो घटता है।

"अनभ्यासे विषं विद्या"
अभ्यास न रखो तो भूल जायेंगे। विद्या तो क्लेशदायिनी जैसे होगी। परस्पर प्रबोधनमें नित्यनूतन होगी, प्रेरणाप्रद होगी। अनुभवकी बात है। जितनी देर बोलो, सुनो, उतनी देर तो वैराग्य होता ही है। भले बादमें पल्लड़झाड़ करो। अतः इस बुद्धिका आदान-प्रदान तो होता रहना चाहिये।

तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्। "एकं" से द्वितीयाभाव सूचितकर अपरिच्छिन्नता बतायी। "वशी" से सर्ववशीकरणात् अपराधीनता बतायी। "सर्वभूतान्तरात्मा" से समस्त भूतसत्ताधारी अन्तर्यामी अर्थ पक्षमें प्रशास्ता सर्वोर्ध्वसत्ता बतायी। "एकं रूपं बहुधा यः करोति" से जगत् में तदतिरिक्त सत्ताका अभाव बताया। इस प्रकार पूर्वार्धमें अपरिच्छिन्न, अपराधीन, सर्वविधारक, सर्वोर्ध्व सत्ता बतायी और अन्यत्र तदीय सत्तामात्र बताया। आत्मस्थं-कर्मरूपसे अनुपश्यन्ति धीरा प्रकाशदातारः से कर्तृरूपसे उसे चिद्रूप बताया। वही द्रष्टा है, वही दर्शन है, वही दृश्य है ऐसा अपरिच्छिन्न त्रिपुटीरूपसे भासमान चिद्रूप है ऐसा कहा गया। निरंकुश सद्रूपता एवं व्यापक चिद्रूपताका परिणाम है-"तेषां सुखं शाश्वतं"।

निरंकुश सद्रूपता जहां स्फुरित हुई वहां हम असत् से सत् की ओर बढ़ते हैं। इस समय हम 'अस्मि' तो बोलते हैं किन्तु 'इहैवास्मि न तु मार्गादौ।' 'अधुनैवास्मि न तु बहुपुरा' इस प्रकार परिच्छिन्न सत्ताकालमें सद्रूपता होने पर भी असत् प्राय ही होते हैं। तथा इदं जानामि, इंद न जानामि इत्यादि रीति चिद्रूप होनेपर भी तमःप्राया ही रहते हैं। इसी का परिणाम दुःखरूप संसार है। यद्यपि परिच्छिन्न सत्ता और चित्ता के समान परिच्छिन्न आनन्द भी मिलता है परंतु वह सुख भी दुःखप्राय ही है। क्योंकि नष्ट होनेके बाद उसको सोच-सोचकर मनुष्य दुःखी होता है। धन से बड़ा सुख मिल रहा था। जब धन गया तो साथ साथ मान भी गया। महान् क्लेश तब होने लगा। बल्कि सुख तो अधिक दुःख का कारण है।

"पल्यङ्कसौधचपलाव्यजनादि तुल्य-
मिभ्यस्य हालिककुटीरजरत्कटानाम् ।
संसेव्यमानमधिकाय न तत्सुखाय
कष्टाय किन्तु परतस्तदलभ्यमानम् ॥"

समस्त सुखसुविधा होनेपर-महल एयरकंडीशन आदि होने पर जो सोनेका सुख, खानेका सुख होता है वही गरीबोंको झोपड़ीमें और सुखी रोटी में मिलता है। परंतु इतना ही है कि महलसे कभी झोपड़ीमें आना पड़ा तो अपार दुःख उसे होगा। अपरिच्छिन्न सत् चित् के बोधोत्तर जो सुख है वह शाश्वत है। शाश्वत सुख आत्मदर्शीको ही प्राप्त होता है। अज्ञानीको नहीं।

यह शाश्वतसुख दर्शन कृतोपास्तिको ही सम्पन्न होगा। जिन लोगोंने प्रथमतः सगुण साकार के फिर सगुण निराकारके और अन्तमें निर्गुण-निराकार के साक्षात्कारपर्यन्त उपासना की है उनको दर्शन करनेका अभ्यास पड़ गया है। हृदय परिशुद्ध हो गया है। महावाक्य से जब उनको आत्मसाक्षात्कार होगा तब वही पूर्वानुभूत सुख परिच्छेदत्यागसे अखण्ड सुखरूप भासेगा। तब वह जीवन्मुक्त होता है। पद्मपादाचार्यको नृसिंह भगवानका दर्शन हुआ था। श्रीधरस्वामीको नृसिंह भगवानका दर्शन हुआ था। मधुसूदन सरस्वतीको श्रीकृष्णका दर्शन हुआ था। विद्यारण्यजी महाराजको लक्ष्मी का दर्शन हुआ था। इन सबको जीवनमुक्तिसुख भी मिला। किन्तु उपासनामें इतना परिश्रम नहीं किया तो हृदयशुद्धिमें कसर होनेसे उपनिषत्श्रवणोत्तर भी नित्यसुखानुभूतियोग्यता न होनेसे जीवन्मुक्तिसुखप्राप्ति नहीं होती। मरणोत्तर उपाधिविलयसे विदेहमुक्तिमात्र उनको होगी।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

अनित्य वस्तुओं में जो नित्य है, चेतनों में जो मूल चेतनरूप है, एक ही होकर भी बहुतोंके कामों (आनन्दों) को संपादित करता है उस आत्मस्थित परमात्माका जो धीर अनुदर्शन करते हैं उन्हींको शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है, दूसरे को नहीं ॥ १३ ॥

'एको वशी' इत्यादि पूर्वमन्त्रमें शाश्वत सुख प्राप्तिका उपाय बताया। उपासना करते हुए उपास्यका साक्षात्कार करो। उसके बाद श्रवणादिसे अनुदर्शन करो। भगवानने गीतामें कहा–

"बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।"
"समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।"
"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः॥" इत्यादि

सगुणोपासना आदिसे बुद्धि शुद्ध होती है। धीर हो जानेसे आत्मनियमन होता है। वैराग्यपूर्वक ध्यानयोगपरायण होनेसे भगवद्दर्शनपूर्वक भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति से मेरा अभिज्ञान हो जाता है। ज्ञातज्ञानको ही अभिज्ञान कहते हैं। ध्यानयोगसे ही दर्शन हो जाता है। उसके भक्तिपूर्वक श्रवणसे दृष्टदर्शनरूपी अभिज्ञान होगा। "एको वशी" इत्यादि मन्त्रमें यही बात बतायी है। उससे परम शाश्वत सुख प्राप्त होता है। इसमें थोड़ा कसर रह जाता है। वह क्या है? सुख के साथ शान्ति भी चाहिये। कई करोड़पति हैं। सुख सुविधाकी कमी नहीं है। किन्तु उनको शान्ति नहीं है। लोग कई ऐसे भी हमको मिले हैं-बोलते हैं-घरमें कोई तकलीफ नहीं, कमी नहीं, परंतु मनमें शान्ति नहीं है। यद्यपि शाश्वत सुख के साथ शान्ति भी होना चाहिये। फिर भी उसके लिये कुछ पृथक् मार्ग यहां अब दिखाने जा रहे हैं।

नित्यो नित्यानाम्। अनित्य वस्तु जन्य होती है। उसका कोई कारण उस कार्यकी अपेक्षा नित्य होना चाहिये। जो आदि, मध्य एवं अन्तमें रहे। जैसे कुण्डल बनता है और गलाया भी जाता है। वह अनित्य है। उसकी अपेक्षा कोई नित्य वहां होना चाहिये। वह है सोना। जो कुण्डल बननेसे पहले भी था, मध्यमें रहता है, कुण्डलके गलाने के बाद भी रहनेवाला है। पूर्वपक्षवाले कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है। बीजसे अंकुर उत्पन्न होता है और अंकुर के बाद तक वह कहां कहता है। बीज फूट जाता है। फूटकर अंकुरके ऊपर या अंकुरके साथ दो दलके रूपमें ऊपर आ जाता है। फिर वह नष्ट होता है। अंकुर नष्ट नहीं होता। मातापितासे लड़का पैदा हुआ। तो क्या लड़केके मरनेके बाद भी मातापिता रहेंगे? अपवादकी बात अलग है। सामान्य नियमके अनुसार तो मातापिता पहले जायेंगे, लड़के बादमें जायेंगे। तब आदिमें, मध्यमें, और अन्तमें रहनेका नियम कहां रहा? उत्तर है-पहले यह बताओ कि बीज क्या है? गेहूं, चना आदि

पार्थिव हैं। पृथिवीतत्त्व उसमें है। अंदरसे गीला रहता है या दूध रहता है तो जलतत्त्व भी उसमें है। "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः" के अनुसार अग्नितत्त्व भी उसमें है। वायुतत्त्व भी उसमें है। अतः फूलता है, सूखता है। "वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टः" बताया भी। आकाशकी तो कोई बात नहीं। तो हम आपको एक वाटकीमें मिट्टी दे देते हैं। दूसरी वाटकीमें जल दे देते हैं। एक माचीस दे देते हैं। एक पम्प हवा मारनेवाला दे देते हैं। उसमें गेहूं धान आदि कुछ बीज बनाईये। मिट्टी में पानी डाल दो। माचीस जलाकर पम्पसे वायु भर दो। आकाश तो है ही। क्या बीज बनेगा? अरे! हमारी तुम्हारी बात दूर। रॉकेट विमान आदि बनाने वाले बड़े बड़े वैज्ञानिक भी जुट जांय तो भी इस रीति से कोई बीज नहीं बना सकता। क्या कारण? बीज इतना ही नहीं है। बीज जो दीख रहा है उसे बिजली के चूल्हेमें थोड़ा सा भून लो। देखनेमें आकार वैसा ही होगा। किन्तु अंकुर नहीं आयेगा। भुने हुए बीजसे अंकुर नहीं होता। क्यों नहीं? क्या उसमें पृथिवी, जल, अग्नि आदि का तत्त्व नहीं है ? है। किन्तु बीजशक्ति नष्ट होती है। तब अंकुरका कारण बीजशक्ति है। अंकुर उत्पन्न होनेके बाद भी बीजशक्ति रहती है। अंकुरसे दूसरा अंकुर होता है? हो न हो, पर बीज शक्ति उसमें रहती है। वृक्ष में भी रहती है। तभी तो वृक्ष पर हजारों वे ही बीज लगते हैं। बीजशक्ति वृक्षमें न होती तो गेहूं बोनेके बाद गेहूं के बदले चना, आम आदि क्यों नहीं होते? वह बीजशक्ति उचित आधार पानेपर वहां जम जाती है। वह आदि, मध्य, अन्त तक है। वृक्ष नष्ट होगा। किन्तु उस पर लगे बीजान्तरमें वह शक्ति रहेगी। अतः आपेक्षिक नित्यता कारणमें है।

परंतु अन्तमें एक निश्चित नित्य भी मानना पड़ेगा। आपेक्षिक नित्यतासे काम नहीं चलेगा। फिर कारण का कारण उसका भी कारण ढूंढो। इस प्रकार अनवस्था होगी। इस पर न्याय वैशेषिककारोंने कहा परमाणु नित्य है। परमाणुसे द्व्यणुक होता है। वह अनित्य है। किन्तु त्र्यणुक (त्रसरेणु) की अपेक्षा नित्य है। इस प्रकार घटादि पर्यन्त कार्य होते हैं। परमाणुको वे नित्य मानते हैं। सृष्टि के आदि में परमात्माको सिसृक्षा होती है। सृष्टि करनेकी इच्छा होती है। तब पूर्वकल्पके प्राणियोंके

द्वारा किये हुए कर्म को उजागर करते हैं। तब परमाणुमें क्रिया होती है तो एक दूसरे से जुड़ जाता है और द्व्यणुकादि पूर्वोक्त क्रमसे महापृथिवी, महाजल आदि होते हैं।

हमारे आस्तिक दर्शन छः हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा। इन दो-दो की जोड़ी है। न्याय और वैशेषिक सिद्धान्ततः प्रायः एक हैं। प्रतिपाद्यविषयमात्र अलग-अलग है। वैसे सांख्य तथा योग भी सिद्धान्ततः एक हैं। प्रतिपाद्य विषय अलग-अलग है। वैसे पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा न्याय, वेदार्थविचारादि सिद्धान्त से एक हैं। किन्तु विषय-धर्म एवं ब्रह्म-अलग होंने से अलग हैं। न्याय तथा वैशेषिक दोनों मतोंमें परमाणुमें जाकर परिसमाप्ति है। परमाणु नित्य है। परमाणु नहीं टूटते। आजकल लोग कहते हैं परमाणु भी टूटता है। किन्तु टूटने वाला त्रसरेणु है। जो तोड़ा गया उसका टुकड़ा ही परमाणु है।

सांख्ययोग वाले परमाणुको नित्य नहीं मानते, वे आगे बढ़ते हैं। परमाणु टूट जाता है। फिर दो टुकड़े होंगे? नहीं। परमाणु टूटनेपर एक प्रकारकी शक्ति रहेगी। उसको तन्मात्रा कहते हैं। गन्ध तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा। ये सब भी नित्य नहीं हैं। ये भी टूटते हैं। इनके टूटनेपर अध्यात्में अहंतत्त्व शक्ति रहेगी। अहंतत्त्व भी टूटेगा। महत्तत्त्व भी टूटेग। तब केवल प्रकृति रहेगी। वह नित्य है। आगे प्रकृति नहीं टूटेगी। यह सांख्य एवं योग दोनोंका मत है। यूं ही कल्पना करके यह सब लिखा क्या? वे योगी ठहरे। योगसे दिव्यदृष्टि पाकर इन सबको उन्होंने देखा।

"विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि"

ऐसा पातञ्जल सूत्र है। विशेष है तन्मात्रा। अविशेष है अहंतत्त्व। लिङ्गमात्र है महत्तत्त्व। और अलिङ्ग-न लीयत इत्यलिङ्ग वह है प्रकृति। इन सबपर पातञ्जलयोगी धारण, ध्यान, समाधि लगाकर सिद्धि पाते हैं। इसकी समाधिको वे विचारसमाधि कहते हैं। स्थूलविषयसमाधिको वितर्क कहते हैं। विचार सूक्ष्मवस्तुविषयक समाधि है।

"एतेन सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता"

इस सूत्र में द्विविध विचारसमाधिको सूक्ष्मविषय बताया है। सूक्ष्मविषय कहां तक चलेगा। इसके उत्तरमें लिखा है-

"सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्"

अलिङ्ग अर्थात् प्रकृति-अव्यक्ततक सूक्ष्मविषय चलेगा।

अब वेदान्तमें आईये। वेदान्तवाले कहते हैं कि प्रकृतिमें रुकना नहीं है। प्रकृतिको शाश्वतनित्य नहीं माना है। उसकी भी निवृत्ति अन्तमें मानी गयी है-

"भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"

अन्तमें यह विश्वमाया भी समाप्त होती है।

वेदान्तविचार करनेसे पूर्व एक प्रश्नका समाधान भी आवश्यक है। प्रश्न यह है कि चाहे त्रसरेणुको नित्य मानकर वहीं समाप्त माना जाय या परमाणुतक पहुंच जाय, अथवा प्रकृतितक पहुंचे और आगे भी बढ़ें हमें इससे क्या लेना देना है? हमको कोई परमाणु बनाना है या त्रसरेणु बनाना है? यह काकदन्त परीक्षा किसलिये? उत्तर यह है कि वैज्ञानिक ढंग से इसका प्रयोजन सिद्ध हो या न हो, आगे वैज्ञानिक इसे सुनकर खोज निकाले सो अलग बात है। इसका वस्तुतः उपयोग है लयचिन्तन, जो वेदान्तसाधनाओंमें एक मुख्य साधन है। जो शान्ति का साधन है। उसको हम आगे स्पष्ट करेंगे। योगियोंका तो अभी अभी सुना ही। इन सूक्ष्मतत्त्वोंको जानकर वे विचारसमाधि लगाते हैं। उसका फल ऋतंभरा प्रज्ञा उनको प्राप्त होती है।

लयक्रम श्री मद्भागवतमें बताया है-

"वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते ।
हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते ।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ॥
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप
प्रविशन्ति ह्यहंकारं स्वगुणैरहमात्मनि ।

प्रलयकाल उपस्थित होता है तो प्रथम भारी वृष्टि होती है। शतवर्ष वृष्टि होती है और घोर हवा चलती है। बारिषसे तहस-नहस हुई. पृथिवीके कणोंसे वायु गन्धको हर लेता है तो पृथिवीकण स्वयं जलरूप होकर जलमें विलीन हो जाते हैं। वही वायु जलका रस भी खींच लेता है तो अणुविभाग हो जानेसे अग्नि प्रज्वलित होती है और अग्निमें विलीन हो जाता है। (हाईड्रोजन आक्सिजन पृथक हुआ तो हाईड्रोजन जलने लगता है) इतनें में घोर तम उपस्थित होता है और तेजके रूपका हरण करता है तो तेज वायु में विलीन होता है। तम भी एक जबर्दस्त पदार्थ है। तेजका अभाव ही तम नहीं है। तम का नीला रंग है। किन्तु उग्रतेजमें तम विलीन हो जाता है। तेजके हटते ही पुनः आ घेर लेता है। इंधन समाप्त होने पर तेजका संवरण तम ही करता है। तेज परमाणुओंसे महत्तेज जब बना तो बादमें पार्थिव इंधनसे उसका क्या मतलब रहेगा? तब उसका नाशक कौन होगा? दण्ड नष्ट हो गया तो घड़ा क्यों नष्ट होगा? अतः तम ही तेजको बुझाता है। उसके बाद अवकाशमें वायु फैलता-फैलता स्पर्शरहित हो जाएगा। "छिन्नाभ्रमिव नश्यति" यह प्रसिद्ध है। उसके बाद आकाश रहेगा। आकाशका गुण शब्द है। उसका हरण काल ही करता है। उत्तर शब्द पूर्व शब्द का नाशक है ऐसा नैयायिक मानते हैं। किन्तु उत्तरका उत्तरकाल अर्थ है। वही शब्दको नष्ट कर सकता है। अन्यथा अन्तिम शब्दको क़ौन नष्ट करेगा? यदि स्वयं नष्ट करेगा तो प्रथम शब्द भी स्वयं नष्ट होने दो। क्षणिकत्वापत्तिका भय अन्तिम शब्दमें आ ही गया। इस प्रकार शब्दगुण नष्ट हुआ तो आकाश अपनी आत्मा में अर्थात् अहंकारमें लीन होगा। उसीमें इन्द्रिय, मन, बुद्धि भी लीन होंगे। वह फिर अपनी आत्मा महत्तत्त्वमें लीन होगा। महत्तत्त्व अव्यक्तमें लीन होगा। यह बात प्रथम ही बताया।

"धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥"

प्रलय आसन्न होता है तो द्रव्यगुणरूप समस्त व्यक्त को काल अव्यक्त की ओर आकर्षित करने लगता है।

सांख्ययोगवाले यहीं आकर रुक गये थे। वेदान्त अब इससे आगे बढ़ता है। शाक्तशास्त्रोंमें कुछ विलक्षण बातें बतायी हैं। गीतामें कहा है-

"सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥"

बारह हजार देववर्ष होनेपर एक चतुर्युग होता है। अर्थात् तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष। वैसे सहस्रयुग होनेपर ब्रह्माजीका एक दिन होता है अर्थात् लगभग साढेचार अरब वर्ष का उनका दिन और उतनी ही उनकी रात्रि है। अब इसके बाद आगे काल परिणाम है।

"लक्षाणां ब्रह्मणां कालो विष्णोस्तु घटिका भवेत्।
विष्णुकोटियुतः कालो रुद्रस्य विपलो मतः।
असंख्यरुद्रकालश्च श्रीदेव्यास्त्रुटिरीरितः।
न चायं कालचक्रस्तु परब्रह्मणि विद्यते॥"

एक लाख ब्रह्माओंका समय विष्णुकी एक घड़ी है। उससे फिर दिवस मास, संवत्सरादि जोड़ो और सौ वत्सर बनाओ। ऐसे करोड़ विष्णुओंका काल रुद्रका एक विपल है। रुद्र संहारकर्ता है। अपना संहार नहीं करता। विपलसे पल उससे घड़ी दिवस आदि पूर्ववत् जोड़ो, सौ वर्ष होनेपर शक्ति अपने अंदर लीन करेगी। शक्तिरूपी श्रीदेवी के लिंये कहा– "असंख्यरुद्रकालश्च श्रीदेव्यास्त्रुटिरीरितः"। अनन्त रुद्र बीतने पर देवी का एक त्रुटि-क्षणपरिमित काल होता है।

यहां थोड़ा विरोधाभास है। त्रुटि (क्षण) होनेपर भी त्रुटि मिलकर विपल-पल आदि होंगे और सौ वर्ष भी होंगे परंतु अनन्तरुद्रोंका समय विपल है। अनन्तका तो अन्त होता नहीं है। उससे लगता है असीमित है। त्रुटिसे ससीम प्रतीत होता है। इसका मतलब है-अनिर्वचनीय। माया अनिर्वचनीय है ही।

"सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाऽप्यभिन्नाप्युभयात्मिका न।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥"

ऐसा विवेकचूड़ामणिमें बताया। फलतः शक्तिका नाश नहीं होगा। रज्जु-सर्पका दंडप्रहारसे नाश नहीं होता। वह ज्ञानबाध्य है। माया भी ज्ञानबाध्य है। नाश्य नहीं। अतएव एक के लिये बाधित होनेपर भी दूसरे के लिये सत् दीखेगी। फलतः बाध्य होनेसे त्रुटि कहकर ससीम बताया और असंख्य कहकर अनाश्य बताया। यही "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" का भी अर्थ है। बाध ही निवृत्ति है।

इसके आगे बाधावधिरूप सदात्मक ब्रह्म है। जहां बाध भी नहीं होता। वही अनित्यानां नित्य है। उसका भी नाश होने पर असत् शून्य रहेगा। ऐसा शून्यवादियोंका मत है। परंतु वह केवल अनुभवहीन कुतर्कमात्र है। गौतमने अपने ज्ञान चक्षुसे परमाणुको देखा। योगियोंने योगाभ्यास से प्रकृतिको देखा। वेदान्तियोंने वेदान्तोपदेशजनित यथार्थ बोधचक्षु से ब्रह्मका अनुभव किया। यह सब किये विना ही शून्यवादी ने शब्दमात्र सुनकर बोल ।देया कि तुम्हारे सतका भी नाश होता है। उसे देखा किसने? किससे देखा? देखनेवाला ही न रहा तो देखेगा क्या? ज्ञान ही न रहा तो किससे देखेगा? इस बात का अंदाजा श्रुतिने पहले ही लगाया था और सचेत किया–

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।
तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।
कुतस्तु खलु सोम्यैवँ स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति ।
सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।"

कारणकी अनुवृत्ति कार्यमें होती है। सुवर्णकी अनुवृत्ति सुवर्णनिर्मित्त कुण्डलमें रहती है। सत् का अर्थ है-है। असत् माने नहीं है। वह उपादान हो तो है के बदले नहीं है कहना पड़ेगा। अतः असद्वाद कुतर्कमात्र है। अतः समस्त अनित्योंका अन्तिमस्थान एक नित्य है। कायपिक्षया कारण नित्य ही देखा गया है। जैसे कुण्डला पेक्षया सुवर्ण। समस्त जगत् में यही दृष्टान्त है तो अन्तमें जाकर सत् का कारण असत् कैसे हो गया? अर्थात् तर्क भी इस विषयमें मूलरहित है। निर्मूल तर्क अर्थसाधक नहीं हो सकता।

चेतनश्चेतनानाम्। अनित्य अर्थात् परिच्छिन्न सत्तावाला कोई भी हो उसकी अपेक्षा व्यापक सत्तावाला नित्य उसके पीछे होगा ही। जैसे तरङ्गें उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं तो उसकी अपेक्षा नित्य व्यापक उसका अधिष्ठान समुद्र है। कुण्डल बनाया जाता है तो उसकी अपेक्षा नित्यव्यापक उसके पीछे सुवर्ण रहता है। इसी प्रकार यह जगत् उत्पन्न होता है और नष्ट होता है तो उसके पीछे एक नित्य व्यापक तत्त्व अवश्य होगा। पूरा जगत् कार्यरूप होनेसे उसका अधिष्ठान नित्य और व्यापक नहीं, अपितु निरंकुश नित्य एवं व्यापक होगा। वहीं नित्यता और व्यापकता की परिसमाप्ति है। "सा काष्ठा सा परमा गतिः"। इस लय-चिन्तनद्वारा सद्रूपतापर पहुंचे। अब चिद्रूपता बतानेके लिये द्वितीय विशेष है चेतनश्चेतनानाम्।

छान्दोग्यमें सद्रूपताके लिये "सदेव सोम्येदमग्र आसीत तत्तेजोऽसृजत तदपोऽसृजत ता अन्नमसृजत इत्यादि श्रुति आयी है। वैसे चिद्रूपताके लिये मुण्डकोपनिषत् में श्रुति आती है-

"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥"

परमात्माको प्रथम सर्वज्ञ एवं सर्ववित् बताया। सर्वज्ञ तथा सर्ववित् में क्या फरक है? सर्वज्ञ इति सामान्यतः। सर्वविदिति विशेषतः। अति सामान्यरूपसे सर्वज्ञ हम आप आदि भी हैं। जैसे हमने समस्त जगत् परमात्मासे उत्पन्न हुआ है बताया तो बोध हुआ कि नहीं? हुआ। क्या हुआ? कुछ पदार्थ ब्रह्ममें उत्पन्न हुए कुछ नहीं, ऐसा? नहीं। पूरा जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ। यह आप जानकर कहते हैं कि तोता जैसे रट रहे हैं? जानकर। जानकर समझकर बोल रहे हैं। तब सबको जानकर परमात्मासे उत्पन्नं कहते हैं। सबको जानना ही तो सर्वज्ञता है। इस प्रकार सभी सर्वज्ञ हैं। किन्तु सर्ववित् नहीं हैं। सर्ववित् का अर्थ है विशेषरूपसे अणुअणुको जानना। यह ज्ञान किसी के पास नहीं है। इस वृक्षपर कितने पत्ते हैं मालूम है? नहीं है। एक पत्तेपर कितने रेशे नाड़ियां हैं मालूम हैं? मालूम नहीं है। एक नाड़ीमें कितने अणु परमाणु हैं मालूम है? नहीं है। एक एक अणुमें कितनी शक्ति है यह पता है क्या? नहीं है।

"अणीयांसं पांसुं प्रभवति विवेक्तुं न पुरुषो
न शक्तस्तच्छक्तिर्भवति कियतीत्याकलयितुम् ।
अनन्तब्रह्माण्डस्वगतिकथा का पुनरथा-
प्यपूर्वं सार्वज्ञं निजममितगर्वः प्रथयति ॥"

महावैयाकरण महावेदान्ती भर्तृहरिका कहना है-"अणवः सर्वशक्ताः स्युः।" यह फल है। या रोटी का टुकड़ा है। खाते हैं तो क्या होता है? प्रथम रस बनेगा, फिर रक्त बनेगा, फिर मांसादि बनेगा। सप्तधातुका शरीर बनेगा।

"रसाद्रक्तं ततो मांस मांसान्मेदः प्रजायते ।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसंभवः ॥"

तो इस रोटीमें अविद्यमान रसरक्तादि पचनेपर बाहरसे आये? नहीं। कहना होगा इसी रोटीमें रसरक्तादि शक्ति है। गाय खायेगी तो रस, रक्त, दुग्धादि होंगे। वृक्षके नीचे पड़ जाय तो कालान्तरमें खाद बनकर पत्र, पुष्प, फलादि बनेंगे। मतलब अणुओंमें अनन्त शक्ति है। कौन उसे जान सकता है? अतः सर्ववित् कोई नहीं है। परमेश्वर सर्ववित् है। कोई महायोगी वैसा हो तो अलग बात है। सर्वज्ञका भी अर्थ सब परमात्मासे उत्पन्न हुआ इतना ही ज्ञान होना नहीं है। किन्तु अधिष्ठान साक्षात्कार अर्थ है।

"उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति
अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति
यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं
विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं
मृत्तिकेत्येव सत्यम् । एवं नु खलु सोम्य स आदेशो भवतीति ।"

उस अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारसे सर्वजगत्तत्त्वज्ञान हो जाता है। एक मृत्तिकाको जान लिये तो घड़ा कसोरा, ईंट आदि सबका पता चला कि सब मिट्टी ही है। इसी प्रकार सब ब्रह्म ही है इस प्रकारका साक्षात्कार ही सर्वज्ञता है।

ऐसा सर्वज्ञ सर्ववित् वह परमेश्वर ही है। उसने तपकर जगत् बनाया।

"स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च ।"

उस परमात्माने तप किया। तप करके इस सारे जगत् को उत्पन्न किया जो भी है। कौनसा तप किया? सृष्टिसे पूर्व कौनसा जंगल था तप करनेके लिये? उत्तर है-

"यस्य ज्ञानमयं तपः"

परमात्माका तप ज्ञानमय ही है। संकल्पात्मक है। ईक्षणात्मक है। मायावृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञान है। सृष्टि हेतु उपादानविषयक ज्ञान ही तप है। उससे क्या हुआ? 'तस्मादेतद् ब्रह्म"-यह कार्यब्रह्म उत्पन्न हुआ। यह कार्यब्रह्म कौन है? इसे हिरण्यगर्भ बताया है। हिरण्यगर्भका मतलब है समष्टि सूक्ष्मशरीरविशिष्टचैतन्य। उससे फिर "नामरूपम्" देवदत्तादि नाम तथा देवदत्तादिरूप। अर्थात् व्यष्टि स्थूल शरीर एवं व्यष्टि सूक्ष्मशरीर भी। और अन्नका अर्थ है भोग्य। व्यष्टिस्थूलनामरूपविशिष्टदेवदत्तादि भोक्ता है और अन्न भोग्य है। व्रीहियवादि अन्न मुख्य पदार्थ है। किन्तु शब्द-स्पर्शादि सभी अन्न ही हैं। क्योंकि सभी भोग्य हैं। शब्दादिसे भोग होता है। प्रशंसादि शब्द सुनकर सुख हुआ। निन्दादि सुनकर दुःख हुआ। यह सुख-दुःखोपभोग है। पुष्पादिस्पर्शसे सुख हुआ। कण्टकादिस्पर्शसे दुःख हुआ। सुन्दर दास, सुतादिरूपसे सुख हुआ और भूतराक्षसादिरूपसे दुःख हुआ। मधुरादि रस से सुख हुआ। कारस्करादि रससे दुःख हुआ। पुष्पादि सुगन्धसे सुख हुआ और मल दौर्गन्ध्यसे दुःख हुआ। इस प्रकार शब्दादि समस्त विषयोंसे सुखदुःखभोग होता है। अतः ये सभी भोग्य हैं। सभी अन्नात्मक ही हैं।

यह अन्न अद्यमान होनेसे चेतनात्मक है। "मृदब्रवीत्। तत्तेज ऐक्षत। ता आप ऐक्षन्त।" इत्यादि रीति श्रुतियोंनें चेतनरूपसे वर्णन किया है। यह तो श्रुति की बात है। अनुभवमें भी अस्ति भाति, प्रिय ये तीनों समस्त वस्तुओंमें हैं। उसमें भाति यह चित् को लेकर है। दीखता है। अतः अन्न चेतन है। प्रश्न होगा कि देखते हम हैं, अन्न थोड़ा ही देखता है। तब अन्न चेतन किस प्रकार? सुनो। आप देख रहे हैं कि दीख रहे हैं? दीख रहा अन्न ही है। दीखना रूपी स्फुरणा अन्नमें है। अन्नाकार वृत्ति होनेपर अन्नावच्छिन्न चैतन्य स्फुरित होता है। लेकिन हम देखेंगे तब ना दीखेगा? भले आप देखें। पर दीखेगा अन्न ही। परंतु उस अन्नमें जो चेतन है उस

चेतनाका चेतन अत्ता है-भोक्ता है। भोक्ता हो तभी दीखेगा। भोक्ता नहीं है तो कुछ नहीं है। भोक्ता की चेतना है तो भोग्यका मूल्य है। भोग्यकी चेतना है। अन्यथा भोग्य तो शून्योपम हो जायेगा। राजा भोज की कथा आती है।

एक बार एक बड़ा भारी पंडित ब्राह्मण गरीबीसे पीड़ित हो गया था। कथा प्रवचन करे तो लोग वाह वाह कर के चले जाये। वाह-वाह से पेट भरता नहीं। नमस्कारसे पेट भरता नहीं। पंडितजी पड़े विद्वान् हैं इस टाईटलसे कुटुम्बका भरणपोषण होता नहीं। आखिर तंग आकर ब्राह्मणने सोच लिया कि इस कथाप्रवचनसे कुछ होगा नहीं। और कोई धंधा आता नहीं। क्योंकि बचपनसे मां बापने कह दिया था कि ब्राह्मणके लिये वेदवेदांगका अध्ययन ही सबकुछ है। "ब्राह्मणेन हि निष्कारणेन षडङ्गो-वेदोऽध्येयः।" ऐसा वचन मिलता है। अतः मैं इस निर्णयपर आ गया कि चोरी की जाय। चोरीसे पाप लगता है या नहीं ईश्वर जाने। पर पकड़ा न गया तो इस लोकमें आरामसे बिना मेहनत गुजारा हो जायेगा। ब्राह्मणने आगे सोचा कि चोरी करे तो कहां करें? झोंपड़पट्टोंमें चोरी करना बेकार है।

"गम्यते यदि मृगेन्द्रमन्दिरं लभ्यते करिकपोलमौक्तिकम्
जम्बुकालयगते त्ववाप्यते वत्सपुच्छखरचर्मखण्डनम् ॥"

शेरके घरमें जाओ तो वहां हाथी मार दिये जाते हैं तो गजमौक्तिक मिलेगा। सियारके घरमें जाओ तो बछड़ेकी पूंछ, गधेकी चमड़ी यही सब मिलेगा। चलो राजमहलमें ही चोरी की जाय। ब्राह्मण रातको एक बजे सेंध मारकर राजमहलके अंदर घुसा। सब सोये हुए थे। सोना-चांदी हीरेका हार आदि काफी इकट्ठा किया। पोटली बांधकर जानेकी तैयारी में था। संयोगवश भोजकी नींद खुली। चोरकी तो कोई आंशका नहीं थी। राजाकी नींद खुली। दुबारा सोनेकी कोशिश की लेकिन नींद नहीं आयी। टिमटिमाती बत्तीमें ब्राह्मण देख रहा था दूरसे। नींद नहीं आयी तो राजा उठ बैठ गया। सोचा एक कविता बोलूं तो नींद आयेगी। बोलने लगे—

"चेतोहरा: युवतय: स्वजनोऽनुकूल:
सद्बान्धवा: प्रणयगर्भगिरश्च भृत्या:
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गा:

तीन पाद बन गये। चौथा पाद क्या बोले? पतत्प्रकर्ष दोष नहीं आना चाहिये। किन्तु चौथा पाद नहीं आ रहा था। तीन पाद की आवृत्ति कर रुकता रहा। आखिर ब्राह्मणसे रहा नहीं गया। सियार बोले तो दूसरा सियार चुप नहीं बैठेगा। हीनोपमा है। लेकिन सत्य है कि पण्डित बोले तो दूसरा पण्डित चुप नहीं बैठ सकता। ब्राह्मणने चतुर्थ पादकी पूर्ति की-

"संमीलने नयनयोर्न हि किंचिदस्ति"

राजमहलमें युवतियां अतिसुन्दर हैं, स्वजन सभी अनुकूल हैं, कोई विरोध नहीं करता, बन्धु सभी मौकेपर काम देते हैं, मौकापरस्त नहीं हैं। भृत्य तो प्रेमसे काम करनेवाले हैं, मुखावलोकी नहीं। इधर हाथी चिग्घार रहे हैं। घोड़े ऐसे हैं कि छुओ तो उछले। सर्वसम्पतसामग्रीपरिपूर्ण राजमहल है। तीन पादका यही अर्थ था। पर चौथे पादमें कहा यह सब तब तक, जब तक आंख खुली है। जहां आंख बंद हुई कि सब समाप्त। सब शून्य।

राजाने कहा मेरे तीन पादको तो क्या पूरे महल को चौपट कर दिया। कौन है यह बोलनेवाला? ऊपर नीचे देखा। खोजा तो एक कोनेमें दुबककर ब्राह्मण देवता गठरी आगे रखकर बैठे हैं। "कौन हो तुम?" चोर हूं। "चोर! क्या चोर कविता बोलता है?" कविता और चोरीमें परस्पर विरोध नहीं है। बत्ती जलायी। ब्राह्मणको पासमें बुलाकर कहा "सच-सच कहो कौन हो तुम? ब्राह्मणने कहा "चोर हूं मैं। यह चोरी का माल अब ले ही जानेवाला था। लेकिन आपकी कविताने रोक दिया।" राजाने कहा-"मेरा सब कुछ तुमने चौपट किया, काव्य भी खतम हो गया, काव्यार्थ भी धूलमें मिल गया। अपना पूरा वृत्तान्त सुनाओ। ब्राह्मणपण्डित ने अपनी सारी बात बतायी और कहा—आपको जो दण्ड मुझे देना हो दो। राजाने कहा। गलती मेरी है कि मेरे राज्यमें ऐसे विद्वान् ब्राह्मणको मैं भोजन नहीं दे सका। सभी बटोरी चीजोंके साथ और उपहारके साथ ब्राह्मणको विदा किया। किन्तु इतना निश्चय हुआ यह भोग्य तब तक है जब तक भोक्ता की आंख खुली है। अतएव क्षणभंगुर है।

देवदत्तादि नामरूपवाले भोक्ता हैं। उसकी चेतना किससे है? "हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" सूक्ष्मप्रपञ्चाच्छिन्न-चैतन्य हिरण्यगर्भरूपी ब्रह्मा प्रथम हुआ।

"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥"

उस ब्रह्माने स्थूल प्रपञ्च रचा तब देवदत्तादिशरीर हुआ। तब तदन्तर्गत होकर व्यष्टि विभाग हुआ। अतः व्यष्टि विभाग का मूल समष्टि चेतन है।

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव।
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता॥"

विश्वकर्ताका अर्थ है-स्थूल विश्वको उत्पन्न करनेवाला। स्थूल विश्वोत्पत्तिसे पहले समष्टि व्यष्टिविभाग नहीं बनता।

उस ब्रह्माकी उत्पत्ति कहांसे हुई? तपसे। तप माने विशिष्ट-संकल्पात्मकज्ञान। इससे पूर्वमन्त्रमें बताया है-"तपसा चीयते ब्रह्म" वह मूल ब्रह्म तपसे उपचीयमान होता है। तब कार्यब्रह्म होता है। मायावृत्तिमें जो चैतन्यप्रतिबिम्ब होता है वही तपोरूप ज्ञान है। वह भी चेतन है।

उस तपोरूपी चेतनमें मूल क्या है? उसमें मूल है सर्वज्ञता एवं सर्ववित्तारूपी चेतन। क्योंकि तप तो सृष्टिका उपक्रम है। और सृष्ट्यर्थ तपोरूपी ज्ञान वही कर सकता है जो सर्वज्ञ एवं सर्ववित् हो। सर्वज्ञका अर्थ है अधिष्ठानमूलतत्त्वज्ञानवाला। जैसे मृन्मयका मूल मृत्तिका है वैसे जगत् का उपादान ब्रह्म है। अधिष्ठान ज्ञान न होनेपर वह कर्ता नहीं हो सकता। "उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं कर्तृत्वं।" ऐसा उसका लक्षण है। उपादान मृत्तिकाका ज्ञान और घट बनानेकी इच्छा एवं घटोत्पादक कृति ये तीन हो तभी कुम्हार घटकर्ता बन सकता है। वैसे जगत्कर्ता तब होगा जब उपादान ब्रह्मका ज्ञान हो। चिकीर्षा हो, कृति हो। चिकीर्षा एवं कृतिके लिये ही सर्ववित् होना भी आवश्यक है। सर्वचिकीर्षा सर्वविषयकविशेषज्ञानसे ही होगी। महत्तत्त्व अहंकारादि बनाऊं। पञ्च-तन्मात्रा बनाऊं, ब्रह्माण्ड बनाऊं इत्यादि इच्छा ज्ञानपूर्वक ही हो सकती है। नैयायिकोंका कहना है-"ज्ञानेच्छाकृतीनां समानविषयकत्वनियमः।" दूसरी ओर समस्त प्राणिकर्मोंका भी ज्ञान होना चाहिये। तब प्राणिकर्मानुसार सृष्टि होगी।

उस सर्वज्ञता और सर्वविताामें मूल क्या है? शुद्ध चैतन्य। सर्वज्ञता एवं सर्वविात्त्व मायावृत्तिको लेकर ही है। किन्तु मायावृत्ति जड़ है। चेतनके बिना तो वह बेकार ही होगी। उसे चेतित करनेवाला चैतन्य ब्रह्म है।

जैसे लयचिन्तनसे सद्रूपतामें प्रतिष्ठित होते हैं वैसे लयचिन्तनसे चिद्रूपतामें भी प्रतिष्ठित होंगे। भोग्य चैतन्य क्या है? भोक्तृचैतन्य ही है। भोक्तांका चैतन्यविलास ही भोग्य है। जैसे घट क्या है? मृत्तिका ही है। मृत्तिकाका विलास घट है। भोक्तृचैतन्य क्या है? वह समष्टि हिरण्यगर्भ चैतन्य ही है। भोग्य भोक्ताके अन्तर्गत है। भोक्ता व्यापक है। अनन्त वस्तुओंमें वृत्तिद्वारा भोक्तृचैतन्य फैला हुआ है। घटाद्याकार चित्तवृत्ति होती है तो तत्प्रतिबिम्बित चैतन्यसे घटका प्रकाश होता है। अतएव भोक्तृ-चैतन्यप्रयुक्त ही अभिव्यक्त घटचैतन्य है। वैसे भोक्तृचैतन्य समष्टि हिरण्यगर्भचैतन्यव्याप्य है। समष्टि चैतन्य तो व्यापक होगा ही। अतः समष्टिचैतन्यसे वह पृथक् नहीं है। समष्टि चैतन्य तपोरूपी चैतन्य है। क्योंकि "तस्मादेतद् ब्रह्म जायते" बताया है। भोग्यचैतन्य घटाद्युपहित है। भोक्तृचैतन्य अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है और हिरण्यगर्भ समष्टिसूक्ष्म-शरीरावच्छिन्न चैतन्य है। तप क्या है-ज्ञानेच्छाकृतिरूप मायावृत्ति-विशेषावच्छिन्न चैतन्य है। सर्वज्ञता और सर्ववित्ता क्या है-अधिष्ठानाकार-मायावृत्त्यवच्छिन्न तथा जगद्वृत्ति तथा प्राणिकर्मवृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्य। और अन्तिम ब्रह्म क्या है? वह निरवच्छिन्न निरुपाधिक चैतन्य है। इस प्रकार समस्त चेतनोंको मूल चेतनरूप समझना लयचिन्तन है। चेतनानां-सावच्छिन्न चेतनानां स्वापेक्षया निरवच्छिन्नश्चेतनः।

एक दूसरे प्रकारका भी चिन्तन है। ये समस्त चेतनरूपी जीवात्मा क्या हैं ? विवरणकारका कहना है यह ईश्वरका प्रतिबिम्ब है। माया में बिम्बचैतन्य ईश्वर है और प्रतिबिम्बचैतन्य जीव है। माया सकलवासना-समुदायरूपिणी होनेसे तत्तद्वासनापुञ्ज या उससे उत्पन्न अन्तःकरणमें नाना जीव होते हैं। वह प्रतिबिम्ब बिम्बसे पृथक् नहीं है। बिम्बचैतन्य ही प्रतिबिम्ब है और वह बिम्बात्मक ईश्वर कौन है? शुद्ध चैतन्य ब्रह्म ही मायाप्रयुक्त बिम्बत्वउपाधिवाला है। इस प्रकार प्रतिबिम्बोंको बिम्बरूपी ईश्वरमें लय करो और बिम्बको निरुपाधिक चैतन्यमें करो। तब अखण्ड-चैतन्यमात्रावशेष होगा।

चेतनानां चेतनः की एक तीसरे प्रकारकी भी व्याख्या है। अर्थात् एक तृतीयप्रकारसे लयचिन्तन होता है। एकात्मवाद से ही यहां उपदेश चल रहा है। अतः "चेतनानां" का शरीरादीनां ऐसा अर्थ है। यह स्थूल शरीर चेतन है। लोग बोलते हैं कि शरीर ठंढ़ा हो गया। शरीरमें चेतना नहीं रही। पक्षघातादिमें कहते हैं कि हाथमें चेतना नहीं, पांवमें चेतना नहीं है इत्यादि। शरीर चेतन है। इसको चेतित करनेवाला कौन? इन्द्रियां। चक्षु इन्द्रिय से आंखमें चेतना आती है। श्रोत्रेन्द्रियसे कानमें, रसनेन्द्रियसे जीभमें, घ्राणेन्द्रियसे नासिकामें चेतना आती है और त्वगिन्द्रियसे सर्व-शरीरमें। अंदर भी त्वगिन्द्रिय है। इसलिये अंदर भी दर्द हो तो प्रतीत होता है। जहां त्वगिन्द्रिय नहीं है वहां चेतना नहीं होती। जैसे केश नाखून आदिमें। यथा "सतः पुरुषात् केशलोमानि" यह उदाहरण चेतनसे अचेतन पैदा होने के समर्थनमें है। इन्द्रियोंमें चेतना कहां से आयी? मन से। मन हो तो इन्द्रियां काम करती है। मन नहीं हो तो इन्द्रियां काम नहीं करती। मनमें चेतना कहांसे आयी? अहंतत्त्वसे और अहंतत्त्वमें चेतना आत्मासे आयी। अतः चेतनानां शरीरेन्द्रियादीनां चेतनः। दूसरा शरीर स्वाप्न शरीर है। उसमें चेतना कहांसे आयी? मनसे। मनमें चेतना कहांसे आयी ? अंहकारसे। अहंकारकी चेतना आत्मासे। कारण शरीर अज्ञान है। उसमें चेतना कहांसे आयी? आभाससे। और आभासमें चेतना आत्मासे आयी।

यहां भी लयचिन्तन करो। यह शरीर जड़ है। इन्द्रियोंसे यह चेतित हो रहा है। यह मेरा रूप नहीं इसकी चेतना इन्द्रियोंमें है। ये इन्द्रियां भी जड़ हैं। ये मनसे चेतित हैं। मनकी ही चेतना इन्द्रियोंमें है। यह मन जड़ है। अहंसे इसमें चेतना आयी। अहंसे यह चेतित है। यह अहं भी जड़ है। यह अज्ञानमें से आविर्भूत है। इसमें चेतना आत्मासे आयी है। इसी प्रकार स्वाप्नशरीर भी जड़ है। मनसे उसमें चेतना आयी। मन भी जड़ है। अहंसे उसमें चेतना आयी। और अहं भी जड़ है। आत्मासे चेतना उसमें आयी। इसी प्रकार सौषुप्त शरीर अज्ञान जड़ है। आभाससे उसमें चेतना आयी। और आभासमें अन्तःस्फुरित होनेवाला आत्मा ही चेतन है। इस प्रकार समस्त चेतनोंका मैं चेतन हूं। वस्तुतः वही चेतन है।

यद्यपि घट आदिका मिट्टीमें लय होता है वैसे यहां शरीरादि चैतन्यका लय इन्द्रियादिमें नहीं है। तथापि कारणरूपताचिन्तन ही लय-चिन्तन है। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादि कार्य-कारणभाव भी है। तथापि वहां तक जानेकी जरूरत नहीं। चैतन्याध्यस्त होनेके कारण सर्व बाधकर शुद्धचैतन्यावशेषण फल है।

चेतनश्चेतनानाम्। ब्रह्मका भान सबको सदैव होता है। अस्ति भाति यही तो ब्रह्म है। अस्ति से सत्, भातिसे चित् आता है। "सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्" यहां सद्रूप परमात्माको बताया। "हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।" इस जगह उसे चिद्रुप बताया। "ज्योतिषामपि तज्जोतिस्तमसः परमुच्यते" ऐसा गीतामें भी आया। यदि अस्ति भातिरूपसे ब्रह्मदर्शन हो रहा है तो सब मुक्त क्यों नहीं होते? इसलिये कि खण्डशः देखते हैं, अखण्डरूपसे नहीं। घटोऽस्ति, वृक्षोऽस्ति इत्यादि रीति खण्डित सत् को देखते हैं। वैसे घटो भाति, पटो भाति इत्यादि खण्डितरूपसे चित् देखते हैं जैसे स्फटिककी माला लाल धागे में पिरोया जाय तो बाहर गांठ लाल दीखेगा। मणिके भीतर सफेद दीखेगा। ऐसा लगेगा कि टुकड़े-टुकड़े धागे जोड़ दिये हों। वैसे घटमें अस्ति भाति दीखेगा। फिर पटमें, वृक्षमें। वास्तवमें अखण्डसूत्रमें मणि पिरोये हुये हैं। भगवानने गीतामें यही बताया—

"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव"

यहां घटादि जड़ हैं। अस्ति चेतन है। ज्ञानेश्वर महाराजने ढंगसे व्याख्या की है। काले डोरेसे मणका भी बन जाता है। डोरा भी रहता है। मणके में डोरा व्यापक भी है। इसी प्रकार परमेश्वर सर्वत्र भीतर बारह व्यापक है। सर्वथापि सूत्र अखण्डरूपसे न दीखना यह समान है। अतएव अस्ति, भातिज्ञान मात्र पर्याप्त नहीं है। किन्तु व्यापक अखण्ड बोध आवश्यक है और वह गांठोंका विलय किये बिना जैसे शुद्ध डोरेका दर्शन नहीं होता वैसे जगत् विलय एवं भेद विलयके बिना नहीं हो सकता। इसलिये अखण्डचैतन्यबोधार्थ कह रहे हैं-चेतनश्चेतनानाम्।

चेतनानां इस बहुवचनसे अनेक चेतन बताये गये हैं। सात चैतन्य मुख्यरूपसे प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मचैतन्य, ईश्वरचैतन्य, जीवचैतन्य, प्रमातृचैतन्य,

प्रमाणचैतन्य, प्रमितिचैतन्य और प्रमेयचैतन्य। निरूपाधिक व्यापक अखण्ड चैतन्य ब्रह्मचैतन्य है। दूसरा ईश्वरचैतन्य है। ईश्वर मायोपाधिक चैतन्यको कहते हैं। माया ही प्रकृति कहलाती है। ईश्वर एक होनेपर भी उसके अनेक रूप हैं। जब सृष्ट्यर्थ रजोगुणका उद्रेक करता है तो ब्रह्मा कहलाता है। रक्षणार्थ सत्त्वगुणका उद्रेक करता है तो विष्णु कहलाता है। संहारार्थ तमोगुणका उद्रेक होता है तो रुद्रकहलाता है।

"बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः।
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः।
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः॥"

इस श्लोकमें बहुल, प्रबल, उद्रिक्त ऐसे शब्द आये हैं। अतः माया उपाधि सर्वत्र समान है। कभी तदन्तःपाती सत्त्वादिगुणोंका उद्रेकमात्र बताया है। यह सगुण निराकार स्वरूप है। सगुणसाकार ब्रह्मा आदि उपाधिभेदसे भिन्न है।

"ब्रह्मा विष्णुः शंकरो वाम्बिका वा
हेरम्बो वा राघवो माधवो वा
साक्षाच्चासाक्षाच्च भक्तानुकम्पिन्
सर्वे देवास्तावकीनावताराः॥"

ये सभी देव हैं। ईश्वरावतार हैं। अतएव इनका काम नियमित नहीं है। विष्णु साधुरक्षण, दुष्ट संहार दोनों करते हैं। रावणकंसादिवध प्रसिद्ध है। शंकर भी उपमन्यु मार्कण्डेयादिकी रक्षा करते हैं। त्रिपुरादि संहारकर धर्मरक्षण भी करते हैं तथा हिरण्यगर्भ एवं विराट् भी ईश्वरकोटिमें है।

जीवचैतन्य अविद्यावच्छिन्नचैतन्यको कहते हैं। ईश्वरोपाधि माया है। जीवोपाधि अविद्या है। ये वस्तुतः दो नहीं है। किन्तु एक ही प्रकृतिमें शुद्धसत्त्वावच्छिन्न भाग माया है और मलिनसत्त्वावच्छिन्न भाग अविद्या है। इनमें माया परमात्मा के वश में है किन्तु हम माया या अविद्याके वशमें हैं।

"मैं हूं संसारके हाथोंमें संसार तुम्हारे हाथों में।"

ऐसे भक्तलोग गाते हैं। संसार हमको नचा रहा है। संसारको परमेश्वर नचा रहा है। "भ्रामयन् सर्वभूतानि"। और हम? भ्राम्यन् संसारवर्त्मनि। जन्ममरण ही तो भटकना है। जनमना माने आना। मरना माने जाना। इस आवागमन चक्रमें जीवात्मा पड़ा है। जीवत्मा भी देव, मनुष्य, तिर्यक्, नारक भेदसे या जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज भेदसे चार प्रकार है। देवयोनि भी मानी गयी है। जीवके और तीन भेद हैं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ। जाग्रदवस्थामें स्थूलशरीरविशिष्ट विश्व है। स्वप्नावस्थामें स्वाप्न-शरीरविशिष्ट तैजस है और सुषुप्तावस्थामें कारणशरीर अज्ञानविशिष्ट प्राज्ञ है। इन तीनोंमें भी थोड़ा भेद है। तभी तो नाम अलग-अलग दिये गये हैं।

अब इसके बाद चैतन्य प्रमातृचैतन्य आदि हैं। सर्वसाधारण अविद्या-विशिष्ट चैतन्य जीव है। वह प्रमाता तभी बनता है जब अन्तःकरण तैयार होता है। सुषुप्तिमें अन्तःकरण न होनेसे प्रमाता भी नहीं है। अन्तःकरणवच्छिन्नचैतन्य । प्रमातृचैतन्य है। अन्तःकरणके विना कोई प्रमा नहीं होती। प्रमाण चैतन्य मन इन्द्रियादिविशिष्ट चैतन्यको कहते हैं मनमें और अन्तःकरणमें क्या फरक? अन्तःकरण सर्वसामान्य है, मन केवल करण है।

"कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम् ।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम् ॥"

अन्तःकरणके दो भाग हैं। एक बाह्य भाग है, दूसरा अन्तर्भाग है। अन्तर्भाग तो प्रमातृचैतन्य है और बहिर्भाग प्रमाणचैतन्य है। वह करण है। बाह्य भाग ही वृत्तिपरिणामी है। अन्तर्भाग तो प्रमाताके रूपमें हृदय-स्थानमें ही बैठा रहेगा। बहिर्भाग फैलता सिकुड़ता रहता है। विषयपर्यन्त या विषयच्छायापर्यन्त फैलता है और वापिस सिकुड़ता भी है। तदवच्छिन्न चैतन्य प्रमाणचैतन्य है।

विषयतक या विषयच्छायातक फैलनेके बाद विषयाकारमें मन परिणत होता है। विषयका आकार मनमें आ जाता है। वही वृत्ति कहलाती है। उसीको प्रमिति कहते हैं। उससे अवच्छिन्न चैतन्यको प्रमिति-चैतन्य कहते हैं। थोड़ा सा उसमें फरक है। वह प्रमेयचैतन्यके विश्लेषणसे

मालूम होगा। शब्दस्पर्शादि एवं घटगृहादि विषय है। उससे अवच्छिन्न चैतन्य विषय या प्रमेयचैतन्य है।

यह पुष्प दीख रहा है। मैं देख रहा हूं। इन दोनोंमें क्या फरक है? एक ही हैं? नहीं दीखना विषयधर्म है। देखना कर्तृधर्म है। लड़की दीख रहा और आदमी दीख रही ऐसा नहीं होता जबकि देखनेवाला एक ही है। दीखना वस्तुस्फुरण है। देखना यह प्रमितिस्फुरण है। द्रष्टा हूं यह प्रमातृस्फुरण है। इसे त्रिपुटी कहते हैं। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन। ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, श्रोता, श्राव्य, श्रवण। स्रष्टा, स्पृश्यं, स्पर्शन इत्यादि। दीख रहा है यह प्रमेयचैतन्यस्फुरण है। देख रहा हूं यह प्रमातृचैतन्यस्फुरण है। बीचमें दर्शन हो रहा है यह प्रमितिचैतन्यस्फुरण है। श्रीविद्यारण्यस्वामीजीने वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यको प्रमितिचैतन्य बताया। वही आवरणको हटायेगा। क्योंकि वृत्ति जड़ है। वह आवरणको कैसे हटायेगी? वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तो सामान्य चैतन्य है। सामान्य चैतन्य बाधक नहीं होता। अगर बाधक हो तो घटचैतन्य ही घटावरणको हटा देता। फिर वृत्तिकी भी जरूरत न होती। वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य होनेपर वृत्ति स्वयं चैतन्यमय हो जायेगी और वह आवरणको हटायेगी।

इस विवेचनका तात्पर्य यही है कि विचारों और चैतन्यका ही बोलबाला है। यहां प्रमेय चेतन हुआ। प्रमितिचेतन हुआ। प्रमाता चेतन हुआ। ये सब चेतन न होते तो सब व्यर्थ एवं शून्योपम हो जाता। नैयायिक, सांख्यादि सभी मानते हैं—"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः" चैतन्यसे ही सर्वसिद्धि है। अन्यथा असिद्ध असत् होंगे।

"यत्सिद्धौ सर्वसिद्धिः स्याद् यदसिद्धौ न किंचन ।"

मरुमरीचिका प्रकाश हो तब उसमें जलतरङ्गादि होते हैं। वैसे परमात्म-प्रकाशमें जगत् कल्पित है। उसीसे जगत् प्रकाशित होता है।

मनुमहाराज प्रियव्रतादि पुत्रोंको राज्य सौंपनेके बाद तप करनेके लिये जंगल गये थे। वहां उन्हें खानेके लिये राक्षस लोग आ गये। उस समय वे बोल रहे थे।

"येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम् ।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः ॥"

पूरा विश्व जिसको चेतित करता है, चेतनायुक्त करता है, प्रकाशित करता है किन्तु विश्व उसे चेतित नहीं करता, सब सो जाते हैं तो भी जो नित्य जागृत रहता है, वह सबको जानता है, उसको कोई नहीं जानता। इसलिये उसे बताया चेतनानां चेतनः। उस दिव्य ज्ञानमें राक्षस सभी अदृश्य हो गये। ऋग्वेदमें सत् चित् के मूल परमेश्वरका वृषभरूपसे वर्णन किया है–

"चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादाः
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो यस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महादेवो मर्त्यां आविवेश"

एक वृषभ है। वृषेण धर्मेण प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणेन तत्र वा भाति। जो धर्मसे भासित हो, धर्ममें भासित हो वही वृषभ है। उसके चार श्रृङ्ग हैं। और बैलोंके दो होते हैं। इसके चार हैं। [वैश्वानर, तैजस, !प्राज्ञ और तुरीय। विश्व, वैश्वानरादिके एकीकरणका माण्डुक्योपनिषत् में निर्देश है। तुरीयको आचार्यने मायासंख्यातुरीय बताया। तीनकी अपेक्षा कालमें चतुर्थ है] उसके तीन पाद हैं इसलिये त्रिविक्रम नाम भी है।

"क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे
नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः
पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं
न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि ॥"

एक पादमें संपूर्ण पृथिवी आदि आ गये। पादोऽस्या विश्वा भूतानि। द्वितीय पाद तो त्रिविष्टमें गया। समग्र दिव्यलोकोंको द्वितीयपादमें ले लिया। अब तीसरा पग रखनेके लिये एक अणु भी नहीं रहा। अर्थात् वह शुद्धरूप ही रह गया। चतुष्पात रूपसे अन्यत्र वर्णन रूपकान्तर है। इस वृषभके दो मस्तक हैं। जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी। अविद्याविशिष्ट जीव है। अविद्योपहित जीवसाक्षी है। मायाविशिष्ट ईश है और मायोपहित ईश्वर-साक्षी है। सात इसके हाथ हैं। जो अभी गिनाये–ब्रह्म, ईश, जीव, प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति और प्रमेय। यह तीन रस्स्योंसे बंधा हुआ है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे बद्ध। वह वृषभ रोरवीति–शब्दायमान हो रहा है। उसके शब्द हैं वेद। वही दिव्य तेज मर्त्योंमें प्रविष्ट है।

संसारमें जितने भी चेतन हैं वे सभी उस वृषभके अवयवके रूपमें स्थित हैं। उपाधिके कारण अवयवरूप हो गये। त्रिगुणात्मिका माया उपाधि है। उसके अनन्त रूप हैं। उनमें प्रविष्ट चेतन भी उसी रूपका हो जाता है।

इसकी कुछ प्रकारान्तरसे भी व्याख्या की गयी है। चार प्रकारका चेतन चार श्रृङ्ग हैं। जैसे घटाकाश, जलाकाश अभ्राकाश और महाकाश है। घटावच्छिन्नाकाश बिम्बरूप है। जलप्रतिबिम्बिताकाश आभास है। दोनों मिलकर घटमें है। मेघप्रतिबिम्बिताकाश और महाकाश उपरि हैं। वैसे अन्तःकरणप्रतिबिम्ब चैतन्य और अन्तःकरणोपहित बिम्ब चैतन्य दोनों मिलकर अहमर्थ होता है। वासनात्मक मायाप्रतिबिम्बितचैतन्य और मायोपहितबिम्बचैतन्य मिलकर ईश्वर है। तत्पदार्थ है। ये ही जीव, जीवसाक्षी तथा ईश्वर, ईश्वरसाक्षी हैं। तीन पाद विश्व, तैजस प्राज्ञ हैं। तुरीय तो मायासंख्यातुरीय है। वस्तुतः नहीं। वस्तुतः वह शुद्ध ब्रह्म ही है। दो सर हैं। साकार तथा निराकार। सात हाथ पूर्वोक्त सात ही हैं।

समस्त जगत् चैतन्ययुक्त है। अतएव श्रुतिमें अग्निविस्फुलिङ्गोदाहरण दिया है।

"यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्
एवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते
प्राणेभ्यो देवाः । देवेभ्यो लोकाः"

जैसे जलती हुई अग्निसे चारों ओर चिनगारियां फैलती हैं वैसे इस आत्मासे सभी प्राण निकलते हैं। प्राणोंसे देवता एवं देवताओंसे लोक प्रकट होते हैं। चिनगारी तो अग्निके समान है, अग्नि ही है। इस दृष्टान्तसे प्राण, देव, लोक आदि सभी आत्माके समान हैं, आत्मरूप ही हैं यह सूचित होता है। प्राणसे मन एवं इन्द्रियां आ जाते हैं। अर्थात् प्रमाता, प्रमाण आ जाते हैं। लोकसे प्रमेय भी आ जाते हैं। इन सब चेतनोंका मूल चेतन आत्मा है। मूल अग्निमें ही उपाधिभेदसे चिनगारियां कल्पित हुई हैं। वैसे ही मूल आत्मामें यह समस्त प्रमेय कल्पित हुआ है। आत्मसत्तानतिरिक्त सत्ता "नित्योऽनित्यानां" का अर्थ है तो आत्मचैतन्यानतिरिक्तचैतन्य चेतनश्चेतनानां का अर्थ है। इसमें स्वप्नदृष्टान्त बिल्कुल सही

उतरता है। सपनमें हजारों चेतन जीवात्मा दिखाई पड़ते हैं। वे चलते हैं, फिरते हैं, झगड़ते हैं किन्तु उन समस्त जीवात्माओंका मूल चेतन कौन? स्वयं हम। जब तक हम उस ओर ध्यान देते हैं तबतक वे सब हैं। जहां निद्रा खुली, वहांसे ध्यान हटा तो सब समाप्त हो जाते हैं। वहां एक ही चेतन अनेक प्रकारसे दीखता है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय सभी वही है। एक है। फिर भी अनेकरूपसे दीखता है। वैसे जाग्रतमें भी समष्टि चैतन्य हिरण्यगर्भ एक है। वही अनेकरूपसे दीखता है। जहां समष्टिने आंख मूंद ली वहां सब समाप्त।

"अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥"

यहां लयचिन्तन भी इसीप्रकार होता है। एक चेतनसे सपनमें अनेक चेतन प्रकट हुए। किन्तु वे सब पृथक् नहीं। मूल एक ही है। उसीसे सब हुए। उसीमें सब लीन होते हैं। वैसे जाग्रतमें भी हिरण्यगर्भ एकसे ही सर्वचेतन प्रगट होते हैं, उसीमें सब लीन भी होतै हैं। यह समस्त चेतन कार्यात्मक है। कारणात्मक परमात्मा ही मूलचेतन यथार्थ है।

नित्यो..........एको बहूनां यो विदधाति कामान्। वेदान्तके प्रख्यात कई ग्रन्थोंमें कुछ विशेष बातें उठायी हैं। ब्रह्म सत् चित् आनन्दरूप है। ब्रह्मके अज्ञान से जगतकी उत्पत्ति हुई। अज्ञानसे आवृत है ब्रह्म। क्या सत् चित् आनन्द ये तीनों आवृत हैं? "हां" यदि कहते हैं तो तो घटोऽस्ति, गृहमस्ति, घटो भाति, गृहं भाति यह अस्ति, भाति प्रत्यय किस प्रकार? अतः ब्रह्मका सदंश और चिदंश आवृत नहीं होता। ब्रह्मका सदंश आवृत हुआ तो घटो नास्ति होने लगेगा। चिदंश आवृत हुआ तो जगत् अन्धमय हो जायेगा। अतः आनन्दांश ही आवृत होता है। किन्तु यह सिद्धान्त नहीं बन सकता। यदि आनन्द आवृत्त हो तो गृहं प्रियं, पुत्रः प्रियः यह किस प्रकार? अस्ति भातिके साथ प्रिय भी तो जुड़ा रहता है। यदि प्रियं प्रतीति होनेपर भी प्रिय आवृत है तो अस्ति भाति भी आवृत माननेमें क्या हानि? यदि कहें कि अस्तिभातिके समान, सत् चित्तके समान आनन्द भी आवृत्त नहीं है

तो संसार क्या हुआ? अतः तीनोंको आवृत मानो या तीनोंको अनावृत मानो। इसमें द्वितीय पक्ष तो संसारानुपपत्तिसे बाधित है। अतः प्रथमपक्ष ही टिकेगा। तब अस्ति भाति प्रियं यह प्रतीति किस प्रकार? इसका उत्तर है खण्डशः अनावृत्त होनेपर भी अखण्ड सत् अखण्ड चित् अखण्ड आनन्द प्रतीत नहीं होता। वह आवृत है। घटोऽस्ति, गृहमस्ति इत्यादि रीति खण्डशः अस्तिभाति आदिका प्रत्यय होता है। यह जो दीख रहा है संसार इससे अरबों माईल ऊपर सूर्यादि हैं। है या नहीं पता नहीं। शायद नहीं हैं। दीखते नहीं हैं। फिर प्रियं का सवाल भी नहीं है। अर्थात् परिच्छिन्न सत् चित् आनन्द भासते हैं। अपरिच्छिन्न सच्चिदानंद नहीं। अतः आवृत्त अनावृत दोनों हैं। अतः प्रतीति एवं संसार दोनोंकी उपपत्ति है। इन तीनमें अब आनन्दपर यह विचार है—"एको बहूनां"। वह एक है। फिर भी अनेकोंको रखता और सम्हालता है। "कामान् विदधाति"। कामका अर्थ विषय तो प्रसिद्ध है। किन्तु काम्यन्त इति कामा आनन्दाः। असली कामना विषयोंकी नहीं, आनन्दोंकी है। अतः काम वस्तुतः आनन्द ही है। एक आनन्द कर देता है इससे यह सिद्ध होता है कि वह 'एक' आनन्दपूर्ण या आनन्दात्मक है। स्वयंमें आनन्द न हो तो वह आनन्दोंको करेगा कैसे? अन्यत्र आनन्द तो हैं नहीं जिसको करे। और असत्की उत्पत्ति अमान्य है। अतः वह एक आनन्दाश्रय या आनन्दस्वरूप मानना ही होगा।

लोग समझते हैं कि रूपरसादिसे, दारा अपत्यादिसे सुख मिलता है। उससे आनन्द मिलता है इसका अर्थ है उसमें आनन्द हैं। पूडेमें मधु हो तो उससे मधु मिले। मधु न हो तो क्यों मिलेगा? अब यह विचार करो कि दो लीटरका लोटा है। देवदत्त जायेगा दूध लेने तो उसमें कितना दूध मिलेगा? दो लीटर। यज्ञदत्त जायेगा तो चार लीटर मिलेगा कि नहीं? नहीं। विष्णुमित्र जायेगा तो आधा ही लीटर उसमें दीखेगा और पायेगा क्या? नहीं क्योंकि वस्तुमें विकल्प नहीं हो सकता। परंतु आमके प्रारंभमें आमपर फल लगते हैं तो बच्चे तोड़ते हैं और खट्टे होनेके भयसे उसे देखकर ही घबराते हैं। उसमें देवदत्तको बहुत आनन्द मिला, यज्ञदत्तको थोड़ा, विष्णुमित्रको कुछ नहीं। यह फरक क्यों पड़ा यदि आममें ही

आनन्द हो तो? किसीको नमकीन वस्तुमें आनन्द आता है, किसीको नहीं। मथुराके चौबेको लड्डुमें आनन्द आता है। यह फरक क्यों पड़ा यदि आममें ही आनन्द हो तो? यह फरक नहीं होना चाहिये। इससे यह निश्चित है कि विषयोंमें आनन्द नहीं है। कुछ लोग झटसे वेदान्तसंस्कारसे कहेंगे आत्मामें आनन्द है। किन्तु तब आनन्द हमेशा क्यों नहीं होता? यह सवाल होता है अतः धीरे-धीरे बढ़िये। विषयोंमें आनन्द नहीं तो विषयोंका क्या प्रयोजन? क्यों लोग विषय ग्रहण करते हैं? यह प्रश्न उठेगा। इसका उत्तर यह है कि विषयोंसे विषयाकार इन्द्रियवृत्तिविशेष पैदा होगा। सुन्दर गीत सुननेसे देरतक वह आवाज कानमें गूंजती रहती है। आनन्द होता है। बढ़िया रूप देखा, आँखोंमें वृत्ति हुई। आंखें तर हो गयीं। भंडारा खाया। रसनेन्द्रिय तृप्त हुई। इन्द्रियवृत्तिमें ही आनन्द है। विषयोंमें नहीं। विषयोंके बिना भी यदि इन्द्रियवृत्ति बन जाय तो सुख होगा। जैसे पातञ्जलसूत्रमें बताया है।

"विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।"

योगकी कुछ ऐसी प्रक्रियायें हैं। नासिकाके अग्रभागमें संयम करते हैं तो थोड़े दिनमें दिव्य विषय, दिव्यगन्धकी प्रकृष्ट वृत्ति नासाग्रमें उत्पन्न होगी तो विलक्षण दिव्यगन्धोंकी अनुभूति होगी। एक संतकी बात है। बिहारमें एक जगह आये। एक लोटा जल मागा। सूंघा। फिर कहा इसे कुंएमें डालो। भक्तने लोटा हाथमें पकड़ा तो बड़ी सुगन्धि आयी। कुंएमें डाला तो कई दिनतक कुंएका जल सुगन्धित रहा। सिद्धि सिद्धिके लिये नहीं। इससे योगमें विश्वास होता है। तालुनि रूपसंवित्। तालुमें संयम करनेपर ऐसे दिव्य प्रकाश, दिव्यरूप दिखाई पड़ेंगे कि सिनेमा टी. वी. सब भूल जायेंगे। जिह्वाग्रमें संयम करनेपर दिव्यरससंवित् होगी। दुनियामें कहीं भी ऐसी मिठाई आदि मिली न होगी। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्। शीतली प्रणायाम करनेपर कुछ दिनमें शरीरमें शीतलताका अनुभव होने लगता है। जिह्वामूले शब्दसंवित्। ऐसी शब्दमाधुरीका अनुभव होगा कि कोकिलकंठता बादमें काककंठता लगेगीं। हमारे अंदर ही देवता नृत्य करते हैं, अमृतघट भर रखते हैं। सरस्वती वीणा बजा रही हो ऐसा लगेगा। इसप्रकार अन्वयव्यतिरेक देखनेमें आता है। तत्सत्त्वे तत्सत्त्वं तदभावे तदभावः। यह

है तो वह है। यह नहीं तो वह नहीं। यही अन्वयव्यतिरेक है। इन्द्रियवृत्ति हुई तो योगिको बिना विषय भी संवित् हुई। उसके अभावमें विषय होनेपर भी ऐन्द्रियक सुख नहीं हुआ। पारलेमें एक बड़ा भक्त आया। एक हार था उसके हाथमें और कई सीसियां भी। स्वामीजीको हार पहनाया। उनका स्वभाव था कि कोई भी चीज लावे तो प्रशंसा करे। वे बोले, वाह! बड़ा सुन्दर सुगन्धिदार हार। भक्तने कहा, महाराज, यह सुगंधि यहांकी नहीं है। लंडनसे इत्तर लाया हूं। फिर सीसियां सामने रखीं। और वर्णन करने लगा—यह चमेली है। यह गुलाब है इत्यादि। स्वामीजी हंसे। बोले-भगतजी मुझे सब सीसियां एक बराबर हैं। मेरी घ्राणेन्द्रिय ही नष्ट हो गयी है। जैसे सर्दी जुकाम जोरसे होनेपर कोई सुगंधि दुर्गन्धि प्रतीत नहीं होती वही मेरा हाल है। ये सब तुम वापिस ले जाओ। मतलब यह सिद्ध हुआ कि विषय होनेपर भी इन्द्रियवृत्ति न हो तो आंनन्द नहीं आता। मलेरिया बुखार होनेपर सभी खाने, मिठाई आदि फीके हो जाते हैं। बहरेके लिये संगीत चाहे सुरैया गावे या और कोई। अंधेके सामने नाच दिखानेसे क्या हो? अतः इन्द्रियोंमें सुख है।

"सुखमैन्द्रियकं दैत्या..................सर्वत्र लभ्यते दैवात्"

इत्यादि भागवतमें भी कहा है।

तब क्या इन्द्रियोंमें सुख निश्चित हुआ? नहीं। विषयोंसे विलक्षण ऐन्द्रियक वृत्ति होती है। उससे विलक्षण मनोवृत्ति होती है। मन होनेपर ही इन्द्रियोंसे सुख होता है। अन्यथा नहीं। मिष्टान्न खा रहा था सेठ। आनन्द आ रहा था। इतनेमें सुना फोनपर कि रूईका भाव टूटा। लाखों गांठ रूई अभी-अभी मगायी थी। सारा मिठाईका रस खत्म हो गया। रूई और मिठाईमें क्या सम्बन्ध था? गीतवाद्यमें मस्त थे इतनेमें प्रियमृत्युका समाचार मिला। सारा खेल ही खतम हो गया। क्योंकि मनोवृत्ति बिगड़ी। आनन्दमय कोश दुःखमय हो गया। दूसरी ओर सपनेमें अपनेको देखा सिंहासन पर बैठे है। गीतवाद्य सुन रहे हैं, नृत्य देख रहे हैं। वहां न विषय है और न इन्द्रियां ही। फिर भी आनन्द आ रहा था क्योंकि मनोवृत्ति वैसी बन गयी।

'नायं जनो मे सुखदुःखहेतुः मनः परं कारणमामनन्ति"

इनमें दुःखका कारण तो मन है और वैषयिक सुख भी मनोवृत्तिसे ही होता है। किन्तु परमसुख तो मनमें भी नहीं है। सुषुप्तिमें मन भी नहीं रहता फिर भी आनन्द रहता है। तीन चार दिन बराबर सोनेको न मिला शादीविवाह आदिकी तैयारीमें। फिर छुट्टी मिली जब इन सबसे तब जोरसे नींद आ रही थीं। उस समय मिठाई अच्छी नहीं लगती। टी. वी. अच्छा नहीं लगता। बच्चा गोदमें आना चाहता था लेकिन उसको भगाया। कोई भी विषय पसंद नहीं आया। सब विषय छोड़कर सो गये। सुषुप्तिमें बड़ा आनन्द आया। वह आनन्द न विषयका है, न इंन्द्रियका है और न मनका है। वह आनन्द आत्माका ही है। यह तो सर्वसामान्य बात हुई। जिन्होंने अभ्यास किया है, समाधि जिनको होती है उनसे पूछो। क्या समाधिमें विषय हैं? नहीं। प्रत्याहारसे विषयोंको छोड़ चुके हैं। इन्द्रियां हैं? इन्द्रियोंका निरोध हो चुका है। मन हैं? "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" उसीका ही निरोध तो योग है। फिर भी आनन्द है। कैसा आनन्द?

"यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्"

उस आनन्दका कोई वर्णन ही नहीं कर सकता। वहां सर्व आनन्दका अन्तर्भाव है।

इस आत्माका आनन्द प्रथम प्रतिबिम्बरूपसे मनोमयमें या आनन्दमयकोशवृत्तिमें आया। वहांसे इन्द्रियवृत्तिविशेषमें आया। और हम समझने लगे विषयोंमें आनन्द है। और विषयोंके सामने भिखारी बन गये। हे शब्द! थोड़ा सुख दे दे। हे स्पर्श ! थोड़ा सुख दे दे। हे रूप! थोड़ा सुख दे दे। जबकि हमारा ही आनन्द विषयोंमें आया। राजा भिखारी बन गया। "एको बहूनां यो विदधाति कामान्" श्रुति कह रही है–

"अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"

इस आत्माके आनन्दका पूरा भाग नहीं, छोटी मात्रा अन्यत्र है। बल्कि मायारूपी अवयव नहीं। किन्तु प्रतिबिम्ब मात्र। उसीसे सर्वत्र आनन्दकी प्रतीति है। आनन्दमय कोशकी वृत्तिसे ही इस प्रतिबिम्ब आनन्दकी प्राप्ति एवं वितरण है। पूर्व पुण्यसे ही आनन्दमयकोशकी वृत्ति होती है। विषय निमित्त बन जाते हैं। पुण्य न हो तो विषयोंके होनेपर भी वृत्ति नहीं हो पाती। कर्म-सत्कर्म करनेपर विलक्षण मानसवृत्ति या आनन्दमय वृत्तिको

परमेश्वर उत्पन्न करता है। कहीं विषयपरम्परासे और कहीं साक्षात्। किसीको पुष्कल धन दिया। उससे उसने विषय प्राप्त किये। उससे इन्द्रिय-वृत्ति तथा मनोवृत्ति हुई। किन्तु जरूरी नहीं है कि विषयोंसे वैसी मनोवृत्ति होगी ही। इसीलिये बड़े-बड़े पैसेवाले भी रोते रहते हैं और पैसेके न होनेपर भी सुदामाजी जैसे आनन्दपूर्वक रहते थे। वहां परमेश्वरने साक्षात् ही वृत्ति उत्पन्न की। किसीने धनका दान-पुण्य किया तो विषयोंद्वारा वृत्ति उत्पन्न की। किसीने सेवा की, परोपकारादि शरीरसे किया तो इन्द्रियद्वारा वृत्ति उत्पन्न की। किसीने केवल भजन किया, पूजन किया, ध्यान किया। उसको धनादिके विना ही मानस आनन्दवृत्ति उत्पन्न हुई और स्वयं स्वानन्दका प्रतिबिम्बाधान किया। अतः कहते हैं—एको बहूनां यो विदधाति कामान्"

भक्तोंका और भक्ताचार्योंका कहना है कि मोक्षमें तारतम्य है। ज्ञानसे मोक्ष होता है तो एक ही आनन्द प्राप्त होगा। भक्तिसे सर्वरसानन्द मिलता है। किन्तु प्रश्न है किधरसे यह आनन्द मिलता है, कहां इसका थोक व्यापार है ? कहां मार्किट है? आनन्द कोई बाहरसे नहीं आता। असत्की उत्पत्ति मानी नहीं। केवल सत्की अभिव्यक्ति होती है। तिल पेरनेसे तेल निकलता है। बालू पेरनेसे तेल नहीं निकलता। क्यों? तिलमें तेल पहलेसे विद्यमान है। उसकी अभिव्यक्तिमात्र पेरनेसे होगी। बालूमें तेल नहीं है अतः पेरनेसे अभिव्यक्ति नहीं होती। आत्मा में आनन्द पूर्वतः विद्यमान है। वृत्तिसे उसकी अभिव्यक्ति होती है। अनभिव्यक्त क्यों है? उसपर आवरण पड़ा है। आवरणकी निवृत्ति होनेपर अभिव्यक्त होगा। आवरण किस चीजका है? अज्ञानका। अज्ञानावरण ज्ञानसे हट गया तो एक आनन्द अभिव्यक्त हुआ, दूसरा नहीं इसका अर्थ क्या होगा? पड़दा खोल दिया तो मंचस्थ किसीका दर्शन हुआ, किसीका नहीं यह कैसी बात है ? अन्धकार हटा तो घट प्रकाशित हुआ, पट नहीं, यह भी कोई बात है ? बल्कि भक्तिसे नाना वृत्तियां होगीं तो उनमें आनन्द परमात्माका प्रतिबिम्बमात्र होगा। अतएव उसमें नानात्व प्रतीत होता है। जो भ्रान्ति-सिद्ध है। ज्ञानमें तो मूल आवरण ही निवृत्त हो गया तो सर्वानन्दाविर्भाव

होगा। तब ये विषयानन्द आदि जितने हैं, ऐसा लगेगा कि वापिस आकर मूलमें मिल रहे हैं। यही गीतामें बताया है–

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥"

समुद्रसे तरंग उछलकर ऊपर बाहर गयी। किन्तु बादमें देखते हैं सब पानी वापिस फिर समुद्रमें मिल रहा है। यह दीखता है कि बरसातमें नदी, नाले आदिमें भर-भरकर पानी आ रहा है और समुद्रमें मिल रहा है। इसीलिये समुद्र हमेशा भरा रहता है। किन्तु बात दूसरी ही है। नदी नालोंमें पानी ही समुद्रमेंसे आया। समुद्रसे वाष्प निकला। बादल बना। बरसात हुई और नदीनालोंमें पानी आया और वापिस समुद्रमें आया। समुद्र तो नित्य ही आपूर्ण है। अचल स्थित है। वैसे वैषयिक आनन्द आत्मामें मिल रहे हैं। इन्द्रियां लाकर बुद्धिको देती हैं और बुद्धि आत्माको समर्पण करती हैं। वस्तुतः वह आनन्द आत्माका ही है। बल्कि यहां आत्मासे आनन्द निकलकर जाता नहीं है। केवल प्रतिबिम्बक्रम ही है। एक दर्पणमें सूर्य प्रतिबिम्ब पड़ा। प्रतिबिम्बका प्रतिबिम्ब दूसरेमें, उसका तीसरेमें पड़ा। वैसे आत्मानन्दका प्रतिबिम्ब आनन्दमयवृत्तिमें आया। उस प्रतिबिम्बका प्रतिबिम्ब इन्द्रियवृत्तियोंमें आया। उसका प्रतिबिम्ब विषयोंमें आया। उपाधियोंसे आनन्दकी विविधता है। वस्तुतः वह एक है। वेदान्तवाक्य-श्रवणमनननिदिध्यासनसे अखण्डाकार वृत्ति होती है तो फिर प्रतिबिम्ब नहीं, आवरणनिवृत्तिसे बिम्बानन्द ही प्रकट होता है। तब सर्वसुखप्राप्ति निरंकुशरूपसे होती है। यही उपनिषदोंकी घोषणा है।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्।
परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा॥"

ब्रह्मको जान लेनेपर ब्रह्मके साथ समस्त काम अर्थात् आनन्दोंको वह व्याप्त कर लेता है। प्रतिबिम्बानन्द ही सर्वकाम हैं। उन सबको वह अन्तर्भुक्त करेगा। ब्रह्मरूप होनेसे ब्रह्मको ही उसने व्याप लिया। ब्रह्मणा सह कामान्-ब्रह्म सहितान् कामान् ऐसा अन्वय है। कर्म, भक्ति आदिसे जन्य वृत्तियोंमें आनन्दप्रतिबिम्बग्रहणमात्र होगा। क्योंकि आवरण-निवारण शक्ति तो ज्ञानवृत्तिमें ही होती है। अतः भक्तिको स्वतन्त्र पुरुषार्थ स्वीकार

न कर वेदान्तवाले ज्ञानसाधनमात्र मानते हैं। वैकुण्ठ, कैलास, गोलोकादि गमन तो वही पूर्वोक्ततुल्य है। वैकुण्ठमें आनन्द है यहां पर नहीं यह देशपरिच्छेद हो गया। मोक्षकालमें वह आनन्द है, पूर्वमें नहीं यह काल-परिच्छेद हुआ। वैकुण्ठादिगत वस्तुएं, दिव्य हैं, वे आनन्दरूप हैं। इस जगतकी वस्तु आनन्दरूप नहीं यह वस्तु परिच्छेद है। इसप्रकार त्रिविध-परिच्छेदयुक्त आनन्द स्वर्गादिके समान अतिसाधारणपुरुषोंके लिये अवश्य पुरुषार्थ हो सकता है। परंतु वह परम पुरुषार्थ नहीं हो सकता। परम पुरुषार्थ क्या हैं? "एको बहूनां यो विदधाति कामान्" । वह एक अद्वितीय है। वस्तुपरिच्छेदरहित आनन्दरूप परमात्मा है। आनन्दरूप इसलिये कि "बहूनां कामान् विदधाति। स्वयं आनन्दशून्य दूसरोंको आनन्द क्या देगा? और बहूनां—सर्वेषां कामान् आनन्दान् विदधाति अत एव समग्र आनन्द उस एकसे भिन्न नहीं है। कामान् विदधाति वह काम अनित्य है—विधीयमान है। विधाता उससे पूर्वमें और बादमें रहेगा। क्योंकि अनादि-कालसे कामपरम्परा चल रही है अनन्तकालतक चलेगी। अतएव तद्व्यापक मूल आनन्द नित्य हैं "बहूनां सर्वेषां" अतएव सर्व प्राणीमें स्थित होनेसे देशपरिच्छेदरहित है। इसप्रकार आत्मारूपी आनन्द देशकाल-वस्तुपरिच्छेदरहित होनेसे परमपुरुषार्थरूप है यह बात सूचित की गयी।

तमात्मस्थं ये............तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् । पूर्वमन्त्रके उत्तरार्धमें और इस मन्त्रके उत्तरार्धमें एक ही शब्दका फरक है। पहले मन्त्रमें सुखं शाश्वतं है। इस मन्त्रमें शान्तिः शाश्वती है। अनुपश्यन्तिमें शब्द बराबर है। किन्तु भावार्थमें थोड़ा फरक है। पूर्वमें एकत्व, वशित्व इत्यादिका निश्चय कर प्रथम उपासनाके द्वारा जो दर्शन करते हैं और बादमें गुरूपदेशसे अनुदर्शन करते हैं उनको सुखप्राप्ति बतायी। यहांपर लयचिन्तनके द्वारा नित्योंमें नित्यका, चेतनोंमें मूल चेतनका, सर्वानन्द मूलानन्दका जो दर्शन करता है फिर गुरूपदेशसे जो अनुदर्शन करता है उसको लिये सर्वविलय होनेसे शान्ति बतायी जा रही है।

शान्तिकी खोज सब कर रहे हैं। सुख शान्तिसे सब रहना चाहते हैं। किन्तु होता नहीं है। भय होनेसे शान्ति नहीं होती। बेचैनी होनेसे शान्ति नहीं होती। उद्वेग, आवेग आदि होनेपर शान्ति नहीं होती। अपना विकार

देखकर, विनाश देखकर, असद्भाव सोचकर लोग भयभीत होते हैं, अशान्त होते हैं। हरक्षणमें विकारभय एवं मरणभय रहता है। एकबार चोट खाये तो चोट खानेसे भय लगा। बच्चेको सांपसे भय नहीं, आगसे भय नहीं, चाकूसे भय नहीं। क्यों? कभी सांपने काटा नहीं। आगसे जला नहीं, चाकूसे हाथ कटा नहीं। एकबार हाथ कट जाये तो चाकूसे भय लगता है। एक बार हाथ जला तो आगसे भय लगता है। कहावत प्रसिद्ध है—दूधसे जला छांछ भी फूंक फूंककर पीता है। अब सोचना हैं कि इसप्रकार मरणका अनुभव कब हुआ कि उससे हम डरते हैं? इस जन्ममें मरणका अनुभव हुआ कि नहीं? पूर्वजन्ममें मरण हुआ तो उसका क्यों स्मरण होने लगा? पूर्वजन्ममें हाथ कटा, जला इसको स्मरण कर बच्चा चाकूसे और आगसे डरता है क्या?

इसका उत्तर नैयायिक लोग यह देते हैं कि मरणभय पूर्वजन्ममरणको लेकर ही होता है क्योंकि वही तो पूर्वजन्मकी अन्तिम घटना है। उसके बाद एकाध वर्षका ही तो फरक रहा जन्मान्तरके लिये। मरणदुःख अति-घोर होनेसे उसका स्मरण हो सकता है अथवा जीवनादृष्टसे स्तन्यपानकी इच्छाके समान मरणभय भी होगा। जिससे प्राणी बचबचकर चलता है।

दूसरे लोग कहते हैं—अपना मरण भले न देखे, किन्तु दूसरेको तो मरते हुए देखा है, उसीसे मरणभय हो सकता है। किन्तु यह युक्ति सही नहीं है। पशुपक्षियोंमें जो मरणभय देखा जाता है क्या वह दूसरेका मरण देखकर? दूसरेको मरते समय क्या दुःख होता है यह हमको पता लगता है क्या? क्या दूसरेका हाथ कटा देखकर बच्चेको भय होता है? मरण भय तो चींटीपर्यन्त सबमें हैं। वह देखा-देखी नहीं स्वाभाविक है। एक तिलचट्टा आपको आते देखकर ऐसा भागेगा कि आप उसे जिंदा पकड़ नहीं पायेंगे। एक मकड़ी (करोड़िया) आपसे बचनेके लिये भागती है। मरणभय तो सर्वसाधारण है। महाभारतमें एक कथा आती है कि वसिष्ठजी कहीं जा रहे थे तो रास्तेमें एक कीड़ेको तेजीसे भागनेकी चेष्टामें देखा। वसिष्ठजीने कहा—हे कीट! तुम मुझसे मत डरो। मैं किसीको नहीं मारता हूं। कीट रुका और बोला—मुझे आपसे भय नहीं है। आप कान लगाकर देखो, एक भारी रथ आ रहा है। वह इस वन्यमार्गमें पता नहीं कहां-कहां फिरेगा। कहीं मैं

उसके पहियेके बीचमें आकर कुचल न जाऊं उसके लिये मैं अभयस्थान ढूंढ रहा हूं। वसिष्ठने कहा तुम्हारा यह यह कीट शरीर निकृष्ट है। वह कुचल जाय तो अच्छा शरीर पानेका भी मौका मिलेगा। कीटने कहा– आपकी दृष्टिमें यह निकृष्ट शरीर है। मेरी दृष्टिमें नहीं। मुझे इस शरीरमें सुख मिलता है। इन्द्रको जो सुख स्वर्गमें मिलता है इन्द्र शरीरमें सो मुझे इसमें प्राप्त है। लोग यूं ही उत्कृष्ट निकृष्ट परिभाषा बनाते हैं। वसिष्ठजीने सोचा बात यथार्थ है। स्वयं भगवान् जब सूकरावतारमें आये तो हिरण्याक्षके वधके बाद सूकरयोनिमें बहुत दिन रहे। देवताओंकी प्रार्थना- तक विफल हो गयी। उनको अपनी सूकरी पत्नीमें ही सुख मिलने लगा। फिर शंकरने आकर मोह छुड़ाया। वैसे यह कीड़ा भी है। वसिष्ठजीने दयाकर बादमें उसका उद्धार किया इत्यादि कथाशेष है। कथाका तात्पर्य वही है कि कीटको भी स्वशरीरसुख प्राप्त होता है और मरणभय होता है। वह भय किस कारण हुआ?

बहुतसे लोग कहते हैं कि हमें मरनेसे डर नहीं है। किन्तु वे बैठे-बैठे गपमात्र हांकते हैं। चिड़ियाघरमें पहुँचो तो मालूम पड़ेगा। शेर पिंजरेमें है। उसके पास पहुंचते ही मैंने देखा–यह गर्जा कि मैं पीछे हटा। एक दूसरा गिर पड़ा। क्या फास्ट ट्रेनको आते देखकर उसके सामने कोई कूदेगा? पागल भी कूदता नहीं। मरणभय सबमें है। मरण माने असद्भाव। मेरा असद्भाव होगा सोचकर भय होता है। मरणवेदनाका भय नहीं असद्भावका भय है। जैसे गगनपुष्प असत् है वैसे मरनेपर हम भी असत् होंगे सोचकर भय होता है। उस भयकी, उससे होनेवाली बेचैनीकी क्या दवा है? यह साधारण जनको ही नहीं, विवेकियोंको भी होता है।

"स्वरसवाही विदुषोऽपि तन्वनुबन्धोऽभिनिवेशः ।"

तन्वनुबन्धका अर्थ है तनुनाशाद्यनुनाशित्वादिसे एक विलक्षण बन्धन।

"त्यक्त्वा द्वित्रिक्षणेभ्यः परमखिलमथ क्वेवगम्यं मया स्याद्
दीर्घायाह्वे न जाने न खलु कथयितारं च कंचिद्विलोके ।
अन्धं पश्यामि दृश्यं प्रतिभयमभितो ध्वान्तपूरं पुरस्ताद्
गात्रं मे त्रस्यतीदं विचलति च मनः कुर्वतोऽखर्वचिन्ताम् ॥"

कुछ दिनके बाद, मरनेके बाद–हाय ! मुझे कहां जाना होगा? क्या अकेला आसमानमें घूमूंगा? क्या मेरा ध्वंस ही हो जायेगा? कितने दिनोंतक यह रहेगा? कोई बतानेवाला मुझे नहीं मिल रहा। मेरे सामने अंधेरा छा गया है। दृश्य भयानक हो रहा है। जब एक घर छोड़कर या बेचकर दूसरे घरमें जाते हैं तो इतना ध्यान रखते हैं कि बरतन, कपड़ा, भांडा, पेटी, फ्रीज आदि तो क्या एक सूई भी छोड़कर नहीं जाते। जानेका मन लगता है। इधर मरण ऐसा है कि विपरीत एक सूई भी साथमें नहीं ले जा सकते। पहले बंबई आदिमें आकर झोपड़ेमें रहे। फूटपाथपर रहे। धीरे-धीरे आगे बढ़े। नौकरी की, धंधा किया। कमाया। अच्छा घर लिया। सामग्रियां जुटाईं। किन्तु भोगनेका समय आया तो बुढ़ापा आ चुका। जीवनभरकी कमाई अब छोड़कर जाना है। यही महाभय है। असद्भावभय, सर्वभ्रंशभय, निराधारताभय–ये सब मरणभय हैं। मरणोन्मुखताका भी भय है। चिन्ता है। शरीरमें अशक्ति वृद्धता आदि। बाल सफेद होने लगा तो प्रथम बड़ी बेचैनी होती है। एक विश्वसुन्दरीने प्रथम बार अपना एक सफेद बाल देखा तो रो पड़ी। हाय! अब क्या होगा? विकार भय। ये सब अशान्तिके बीज हैं। इन सबको दूर करनेका उपाय बताया। "नित्योऽनित्यानाम्" ये जितने भी अनित्य वस्तु हैं शरीर, इन्द्रिय आदि उन सबका मूल नित्य मैं हूं इस प्रकार निरन्तर चिन्तनसे ये सारी चिन्तायें दूर होकर मनमें शान्ति होती है।

जन्मास्ति वृद्धि परिणाम परिक्षयान्ता–
स्तन्वा न्यगादिषत भावविकाररूपाः ॥
नाहं तनूरवयवैः कृतसंनिवेशा
एकोऽद्वयः समरसः परमात्मरूपः ॥

सत् वह है जो तीनों कालमें एकरस होकर रहे। निर्विकाररूपसे रहे। चिन्ता बेचैनी वर्तमान विकार और भाविविकारों को लेकर होती है। धनक्षय, जनक्षय आदिसे भी भय चिन्ता आदि होते हैं। क्योंकि इन सबके अभावमें शरीरमें हानि पुहँचती है। धन-जनके बिना मेरा क्या अस्तित्व इस जगमें, इसप्रकार सीधे भी अस्तित्वपर चोट पहुंचती है। इन सबके लिये "अनित्यानां नित्यः" यह भावना आवश्यक है। अनित्यपदार्थोंमें जो नित्यतत्त्व है वही आत्मा है।

अशान्ति बेचैनी आदिमें दूसरा कारण है अज्ञान। कई बिमारोंको फिट आता है। मूर्च्छा होती है। उसको लेकर बेचैनी है ही। अज्ञानके कार्य अहंता, ममता आदिसे भी बेचैनी होती है। किसीने डांटा फटकारा तो अहंपर चोट लगती है। उसको लेकर फिर अशान्ति होती है। सासूने बहूको डांटा तो बेचैनी होती है और बहूने सासको कुछ कह दिया तो कहना ही क्या? यद्यपि यह सब करनेके लिये शास्त्रोंमें छूट नहीं दी है। शिष्टाचारका कड़ाईसे पालन अभिप्रेत है। उससे विपरीत चलनेपर दंडविधान भी है। किन्तु वेदान्ती होनेपर इन सब पर विचार कर अशान्त भी नहीं होना चाहिये। किसीने कुछ बोल दिया तो शब्द आकाशका गुण है, वह आकाशमें लीन होगा। न तो वह कानमें चिपकेगा, न माथेपर चढ़ेगा ऐसा सोचकर शान्त रहना चाहिये। बुद्ध भगवानको उनके चचेरे भाई देवदत्तने बहुत गाली दी थी। राजकुमार होकर भिखारी होकर फिरता है। काम करनेके भयसे समाधि लगाता है इत्यादि। बुद्ध भगवान् सुनते रहे, हंसते रहे। आखिर देवदत्त हारकर पूछने लगा—मैं गाली देता हूं तुम जवाब क्यों नहीं देते? तब बुद्धने कहा तुम्हारे पास किसीने फल, पैसा, हार, भेंट रखा किन्तु तुमने स्वीकार न किया तो वह किसका रहेगा? देनेवालोंका। तुमने मुझे गाली दी। मैंने ग्रहण नहीं किया तो अब वह किसकी रही सोच लो। देवदत्त शर्मिंदा हुआ। परंतु अज्ञानकार्य 'अहं' पर वह चोट मारता है तब बेचैनी होती है। गीताभाष्यमें इस अहं और मम को ही मुख्य अज्ञान बताया है। "अहमेतेषां ममैते"। "एतेषामहं" मैं इनका हूं मेरे बिना ये जीवन निभा नहीं सकेंगे। मैं इनका रक्षक हूं। जन्मदाता पिता हूं। रक्षणकारी हूं। सुखकारी हूं। इस अहंके कारण बेचैनी हुई अर्जुनको। "आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः"। अपनी सेनामें पुत्रादि दीख रहे हैं। दूसरी सेनामें आचार्य पितामहादि। इनकेलिये वीर, शूर, पालक, पोषक, प्रशंसनीय मैं ही हूं। अर्जुनकी प्रशंसा आचार्यादि सभी करते थे। अतः प्रशंसनीय होनेसे अपनेमें वे बड़प्पन देख रहे थे। ममैते—ये मेरे हैं। यह ममता है। एतैर्विनाहं किं करिष्यामि कथं जीविष्यामि। इस अज्ञान तथा तत्कार्य अहं—ममसे बेचैनी है।

यद्यपि लोग सुषुप्ति चाहते हैं क्योंकि वहां आनंद मिलता है तो क्या हमेशा सुषुप्तिमें ही पड़े रहना पसंद करेंगे? यदि नहीं तो क्यों? जबकि बड़े-बड़े वेदान्ती सुषुप्तिको मोक्षका नमूना कहते हैं। "सता सोम्य तदा सम्पन्नोभवति" उस समय सत् परमात्माके साथ एक हो जाते हैं। क्यों हमेशाके लिये उसे नहीं चाहते? ऐसी नींद आने लग जाय कि दो-दो दिन तक न जगें तो सोनेसे डरेंगे। कारण यही कि उस समय सत्के साथ एक होनेपर भी चित् नहीं रहता। चित् स्पष्ट नहीं है। सुषुप्तिमें घोर अज्ञान रहता है। "नाहं किंचिदवेदिषं" यह अज्ञानका ही तो परामर्श है। श्रुतिमें भी बताया—

"सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति।"

"सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति।"

सत्में संपन्न होनेपर भी "न विदुः" अज्ञान रहा। जिससे सत्का अपना एवं संपत्तिका बोध न रहा। आनन्दको लेकर सुषुप्तिको चाहते हैं किन्तु अज्ञान होनेसे उससे घबराते भी हैं। समाधिमें यह दोष नहीं है। वहां अज्ञान नहीं रहता। अतः ऋषि मुनि हजारों वर्ष समाधिमें बैठे रहते हैं। उनको कोई बेचैनी नहीं, अशान्ति नहीं। शिवराजविजयमें एक योगीकी कथा लिखी है कि सह्याद्रिगुफामें कबसे वे समाधिस्थ होकर बैठे थे यह किसीको पता नहीं था। एक बार उनकी समाधि खुली। दर्शनार्थियों का तांता मच गया। उन्होंने पूछा अब किसका राज्य चल रहा है? सब एक दूसरे का मुँह देखने लगे। तुरत योगी बोले—हाँ-हाँ मालूम पड़ा, यवनों का आक्रमण चल रहा है। लोगों को जिज्ञासा हुई कि आप कबसे समाधिमें बैठे थे? बोले कि मैं युधिष्ठिरके समय समाधिमें बैठा था। श्री रामके समय समाधिंमें बैठकर युधिष्ठिरके समय उठा। फिर युधिष्ठिर के समय समाधिमें बैठकर अब उठा हूँ फिर योगी वहाँ से गायब हुए। उनमें अहं मम नहीं था। अज्ञान नहीं था। दीर्घसमाधिमें कोई तकलीफ नहीं थी। तकलीफ अज्ञानसे होती है।

"यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् दृश्यवस्तुषु।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥"

दृश्य सभी अनित्य हैं। इनके साथ सम्बन्ध जोड़नेका अर्थ है हृदयमें शोकका खूंटा गाड़ना। योगी किसीसे सम्बन्ध नहीं जोड़ते। वे न किसीसे राग करते हैं और न किसीसे द्वेष रखते हैं। कोई आया तो खुशी नहीं, गया तो शोक नहीं। किसीसे कोई अपेक्षा नहीं है।

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥"

वे अपने आत्मामें ही रमण करते हैं। आत्मामें ही तृप्त हैं। आत्मामें संतुष्ट हैं। कोई भक्त आये उनको आशीर्वाद दिया तो किसी अर्थके लिये नहीं। कुछ नहीं किया। जन नाराज हो जाय तो उससे भी कुछ नहीं। किसी भी प्राणीसे उनका कोई मतलब नहीं रहता। द्वितीयसे कोई हानि नहीं। किन्तु द्वितीयकी अपेक्षा हो, द्वितीयसे कोई स्वार्थहानि हो तब बात है। युधिष्ठिरके समय समाधिमान योगी अपने आपमें परमानन्दनिमग्न हैं। इसलिये थोड़ी देर तक लोगोंसे बात की। फिर अदृश्य हो गये। उन्होंने सोचा कि यवनराज्य आ गया है तो अब रोना सुनना है। जो भी आशीर्वाद देना था सो दे दिया। शिवराजविजय तो उससे हुआ। किन्तु कलिका प्रभाव कहां जानेवाला था।

आनन्दविपरीत। दुःख है। उससे भी बेचैनी होती है। बल्कि उग्र बेचैनी उसीसे होती है। दुःखवारणके लिये ही जीवनका पूरा परिश्रम है। नये-नये आविष्कार कष्ट वारणके लिये हैं। नल आया तो पानीकी तकलीफ दूर हुई। घर बना तो धूप, बारिष, हवाका कष्ट दूर हुआ। पंखा एयरकंडीशनसे गरमीकी तकलीफ दूर हुई। रोटी बेलनेकी तकलीफ दूर हो गयी। मशीन आ गयी। कपड़ा धोनेकी मशीन आ गयी। लिखने जोड़नेकी तकलीफके लिये कम्प्यूटर आ गया। किन्तु बात यह है कि इन सबसे तकलीफ दूर हुई कि नहीं यह मालूम नहीं पड़ा।

"पल्यङ्कसौधचपलाव्यजनादि तुल्य-
मिभ्यस्य हालिककुटीरजरत्कटानाम् ।
संसेव्यमानमधिकाय न तत् सुखाय
कष्टाय किन्तु परतस्तदलभ्यमानम् ॥"

महल है, पलंग है, पंखा एयरकंडीशन है। किन्तु इन सबसे जो सुख मिलता है वही मजदूरको बगीचेमें घासमें ईंटका तकिया लगाकर सोनेमें मिलता है। प्राकृतिक हवामें वह गहरी नींद लेता है। इधर करोड़पति करवटबदलपति होकर रात गुजार रहे हैं। सुख जरूर है। किन्तु एक बार भोग प्राप्त होनेके बाद पुनः वह प्राप्त नहीं होता तो अवर्णनीय कष्ट होता है। मरीनड्राईवमें जब महीना पंद्रह दिनेके लिये बिजली सप्लाई बंद हुई तब उन स्वर्गवासियोंको मालूम पड़ा कि नरकयातना क्या होती है?

दुःखकी समाप्ति कभी नहीं होती। आज शरीरमें कष्ट है। कल स्वजनोंसे कष्ट है। परसों पड़ोसियोंसे झगड़ा है। बेचैनीसे छुटकारा मिलता नहीं।

"एतां संतीर्य कष्टां स्थितिमथ सुखितः स्यामिति प्रश्रितांशो
यावत्तां निस्तृणोति प्रतिभयमपरं कष्टमापद्यतेऽसौ।
नित्यं नेदिष्ठमेवं सुखमुपकलयन् सर्वमायुर्विमूढ़ो
नीत्वा कृच्छ्रातिकृच्छ्रे तमसि विनिपतन्नन्तकातिथ्यमेति ॥"

मृगमरीचिकाके समान सुख नजदीक दीखता है। किन्तु तदर्थ दौड़ते-दौड़ते पूरी आयु बीत जाती है। उसके बाद वह घोरातिघोर दुःख आता है जिसको कोई आजतक हटा नहीं सका है। शिरोवेदना क्या होती है। बहुतसे लोगोंको मालूम है। मुझे भी मालूम है। मस्तिष्कके नसोंमें खूनका संचार बढ़ता है। बहुतसे लोगोंकी अन्तमें नस फट जाती है तो मर जाते हैं। उस समयका दर्द कितना होता होगा। हार्टमें आघात लगता है तो क्या स्थिति होती है। एक धीर जवानको जो कभी रोता नहीं था चीख पड़ा। अधिक वर्णन व्यर्थ है। इस अनिवार्य क्लेशको सोचकर अभीसे क्यों घबरायें। किन्तु वह समझना आवश्यक है कि दुःखका आना और बेचैन होना दोनों अनिवार्य है।

इस दुःखको देखकर बौद्धोंने सतका नाश-आत्मनाश ही मोक्ष माना। वैशेषिकोंने चित् नाश सर्वथा ज्ञाननाश दुःख देखना ही न पड़े उसे ही मोक्ष माना। नैयायिकोंने एक विंशति दुःख ध्वंसको मोक्ष माना। सुख मिले, न मिले, कुएमें डालो। यह दुःख तो मिट जाय।

"देहः षडिन्द्रियाणि च षड् विषयाश्चापि बुद्धयः षट् च ।
सुखमपि दुःखं स्यादेकविंशतिधा ॥"

इसप्रकार न्यायशास्त्रमें बताया है। इस देहको वे दुःखरूप मानते हैं। देह है तो दुःख भी निश्चित है। छः इन्द्रियां, उनके छः विषय और छः ज्ञान ये सब दुःखरूप हैं। आंख है तो बुरा दृश्य संनिकृष्ट हुआ। उसका ज्ञान हुआ, दुःख हुआ, इसप्रकार अठारह और एक उन्नीस हो गये। सुख भी दुःखरूप है। क्योंकि बादमें इतना सुख मुझे मिला था, सब नष्ट हो गया कहकर दुःखी होते हैं। फिर दुःख तो दुःख है ही। इसप्रकार दो मिलानेपर इक्कीस दुःख हो जाते हैं। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

"परिणामतापसंस्कारदुःखाद् गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः"

दादर खुजलाते हैं तो वर्तमानमें सुख है। परिणाम क्या है देख लो। चाट खाते हैं, वर्तमान सुख तो है। किन्तु परिणाम स्पष्ट है। इसीप्रकार ताप दुःखादि भी है। इन सब दुःखोंसे बेचैनी होती है।

जब बोध हुआ—मुझमें विकार नहीं। मेरा नाश नहीं, अनित्य देहादि प्रपञ्चमें नित्यनिर्विकार मैं हूं तो असद्भावप्रयुक्त बेचैनी समाप्त होगी, शान्ति होगी। जब बोध हुआ, अज्ञान एवं अहन्ता ममत्व कल्पित हैं। मैं चेतनका भी चेतन हूं तब इनसे बेचैनी थी वह भी समाप्त होगी और शान्ति होगी। जब बोध होगा-दुःख मिथ्या वस्तुमें है। मैं तो समस्त आनन्दोंको करनेवाला हूं, आनन्दविधान हूं तब दुःखप्रयुक्त बेचैनी दूर होगी और शान्ति होगी। एतदर्थ यह प्रार्थना भी करो।

"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।"

असत्-नाशसे सत्की ओर ले चलो-नित्यो नित्यानाम्। तमसे-अज्ञान अहंतादिसे ज्योतिकी ओर ले चलो-चेतनश्च चेतनानाम्। मृत्युरूपी दुःखसे अमृत-आनन्दकी ओर ले-चलो—एको बहूनां यो विदधाति कामान्। इसप्रकार पूर्ण सच्चिदानन्दरूप होनेपर शाश्वत शान्ति प्राप्त होगी।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

उस ब्रह्मको महात्मा लोग 'एतद्' इसप्रकार हस्तामलक वत् प्रत्यक्ष मानते हैं। वह वाणीका अविषय है। परम सुखरूप है। उसे कैसे साक्षात् किया जाय, उसका भान् तथा विशिष्ट भान होता है या नहीं इस बातपर गौर करना चाहिये ॥ १४ ॥

"हन्तं त इदं प्रवक्ष्यामि" इसप्रकार इदंत्वेन अर्थात् करतलामलकके समान ब्रह्मदर्शन कराता हूं वैसा प्रवचन करता हूं इसप्रकार प्रतिज्ञा कर तदनुरूप वर्णन "य एष सुप्तेषु जागर्ति" इत्यादिसे किया और अनेक साधनोंका भी निर्देश किया। इसका उपसंहार करते हुए तदर्थ आवश्यक प्राथमिक साधनोंका भी निरूपण अब किया जानेवाला है।

तदेतदिति मन्यन्ते। जो प्रस्तुत ब्रह्म है उसे महापुरुष लोग 'एतत्' ऐसा मानते हैं। पूर्वोक्तानुसार उपदेश सुनकर 'एतत्' इसप्रकार करतलामलकवत् साक्षात्कार हो गया ऐसा महापुरुष मानते हैं। कौन महापुरुष? इसके लिये विशेषण भाष्यकारने दिया है—"निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणाः"।

"ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च
लोकैषणायाश्च व्युत्यायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति ।"

तीन एषणाएं प्रसिद्ध हैं। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। एकाकीपना किसीको अच्छा नहीं लगता। पुत्र, पौत्र, कुटुम्बकी बड़ी एषणा रहती है। वित्तैषणाका तो कहना ही क्या? सुबहसे शामतक मेहनत करते हैं। गाड़ियोंमें लटक लटककर जाते हैं तो क्या ब्रह्मको पानेके लिये? उस वित्तसे पुत्रादिपालन होगा। फिर लोकैषणा—हर जगह सम्मान पानेकी इच्छा होती है। यह इहलोकैषणा है। इससे उत्तम हमारा जन्मान्तर हो यह परलोकैषणा है। इन तीन एषणाओंसे ऊपर उठनेवाले ब्राह्मण। ब्राह्मणका अर्थ केवल जातिब्राह्मण न समझना। किन्तु "मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणाः" यह जो श्रुतिमें बताया वह ब्राह्मण है। निरन्तर श्रवण मनन निदिध्यासनसे जो ब्रह्मोन्मुख हो गये हैं वे लोग "तदेतदिति मन्यन्ते"। ब्रह्मका एतद् करके साक्षात्कार करते हैं।

वैदान्तशास्त्र परोक्षवादी नहीं है। दूसरे लोग कहते हैं—परमात्मा परोक्ष है। कोई उसे वैकुण्ठवासी कहते हैं। कोई कैलासवासी। और तीसरे गोलोकवासी मानते हैं। वैकुण्ठ यहांसे काफी दूरीमें है। भागवतमें वर्णन

आया है—ब्राह्मणके लड़के मर रहे थे और ब्राह्मण गाली देने लगे तो अर्जुनने प्रतिज्ञा की तुम्हारे दसवें लड़केको मैं बचाऊंगा। और नहीं बचाया तो चितामें जलकर प्राण त्याग करूंगा। परंतु दसवां लड़का तो मरा हुआ ही पैदा हुआ। मृत्युलोक, पाताललोक आदि कहीं भी उसकी आत्माको प्राप्त न कर सका तो चिता पर चढ़नेको तैयार हुआ। तब भगवान् कृष्ण अर्जुनको ऊपर दिव्यरथमें ले गये। सूर्यका जहांतक प्रकाश था वहां तक सीधे गये। फिर लोकालोक पर्वत आया। बादमें अरबोंकोस अंधकार चीरते हुए आगे बढ़े। तब वैकुण्ठलोकमें पहुंचे। इत्यादि। कैलासलोक उसकी बांयी ओर है। और गोलोक ऊपर है। भगवान् इतनी दूर रहकर हमपर शासन करते हैं। परंतु वेदान्तका सिद्धान्त हैं—"तदेतदिति मन्यन्ते"। कवि-लोग कहते हैं—"ज्यों गर्दन झुका दी देख लिया"। उनका कहना है अहंकार छोड़ दिया तो परिच्छेद छूट जानेसे ब्रह्मदर्शन हों जाता है। वैचारिकोंका कहना है कि अस्ति भाति रूपसे हम नित्य देख रहे हैं। यदि घट न दीखे तो बोलते घटो नास्ति। वैसे अस्ति न दीखे तो भी नास्ति बोलते। किन्तु सब कहते हैं अस्ति भाति। तब कसर क्या रह गया ब्रह्मदर्शनमें? कसर यही रहा कि अस्ति भाति सखण्डरूपमें भासित होता है। अखण्डरूपमें नहीं। नामरूप उपाधिसे सखण्ड भासता है। बीचमेंसे इस नामरूपको निकाल दें तो अखण्ड ब्रह्मदर्शन होगा। किन्तु वही टेढ़ी खीर है। नाम-रूपको कोई छोड़ना नहीं चाहता। नामरूपसे तो विकल्प है। उन्हें छोड़नेपर निर्विकल्पक समाधि होती है। वहां अखण्ड ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। यमराजने स्वानुभवके साथ निवृत्तैषणोंका भी अनुभव जोड़कर ब्रह्मकी प्रत्यक्षताको परिपुष्ट किया। सबका यही अनुभव है।

अनिर्देश्यम्। वह ब्रह्म शब्दसे निर्देश्य नहीं है। स्वानुभवगम्य है। शाब्दबोधके लिये षष्ठी, जाति, गुण, क्रिया आदि कोई न कोई चाहिये। गाय भैंस आदि कहनेपर जाति आकारादि उपस्थित होते हैं। सफेद, नीला, पीला, कहनेसे गुण उपस्थित होता है। पाचक, धावक बोलनेसे क्रिया। धनवान्, गोमान् आदि कहने पर षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध। उनके बिना शब्द-प्रवृत्ति नहीं होती और ब्रह्ममें इनमेंसे कोई भी नहीं है। जाति आदि कल्पित वस्तु ब्रह्ममें नहीं है। अतएव शब्दशक्ति वहां काम नहीं आती।

ब्रह्मके लिये "मूकास्वादनवत्" यही उदाहरण है। गूंगेने गुड़ खाया। उससे पूछा—यह खरीदने योग्य अच्छा है क्या? वह क्या जवाब देगा? वही स्थिति ब्रह्मकी है।

"अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि" ।

श्रुति भी अतद् व्यावृत्तिमात्र करती है। तत्त्वमसिमें ब्रह्मसे भिन्न जो अतद् है वह क्या? अन्तःकरण, माया आदि उपाधि उसको त्यागकर स्वयंप्रकाश ब्रह्मका भान कराती है। उसे शब्दसे कोई प्रकाशित नहीं करा सकता।

परमं सुखम्। प्रश्न हुआ—ब्रह्म प्रत्यक्ष है घटोऽस्ति पटोऽस्ति इत्यादि। किन्तु उस प्रत्यक्षसे क्या लाभ होता है? यदि एक-एक रूपयेका मूल्य नहीं तो सौ रूपयेका भी मूल्य नहीं होगा। सखण्डका कोई मूल्य नहीं तो अखण्डका क्या मूल्य होगा? इसका उत्तर है—एक कपड़ेके सौ टुकड़े कर दिये तो सौ टुकड़ोंसे शरीर आच्छादन नहीं होता तो एक कपड़ेसे भी क्या होगा? यह तर्क टिकेगा? यदि नहीं तो प्रकृतमें भी वही बात है। एक कांच है उसको चूर किया। उनमें एक-एक कणमें चेहरा नहीं दीखता तो क्या साबुत कांचमें भी चेहरा नहीं दीखेगा? शक्करके परमाणु मुंहमें पड़े तो मीठास नहीं मालूम पड़ी तो क्या मिश्री मुहंमें रखे तो भी मालूम नहीं पड़ेगी? सखण्ड और अखण्डमें बहुत फरक है। सखण्ड बादल थोड़ी देरमें आकाशमें विलीन होगा। छिन्नाभ्रमिव नश्यति। किन्तु घना बादल थोड़ा भी हो तो पानी बरसेगा। और सबसे बड़ी-बात यह है कि अस्ति भाति की अखण्डता ही आच्छादित है। आनन्दांश तो सर्वथा अज्ञानावरणसे आच्छादित होता है। जब 'एतत्' इसप्रकार अखण्डाकारवृत्तिविषय होता है तो आनन्दांश भी प्रकट होता है। इसमें प्रमाण सुषुप्ति एवं समाधि है।

सुखका विशेषण है "परमम्"। क्योंकि सुख अनेक प्रकारका माना गया है।

"यत्तदग्रे विषमिव परिणाणेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥"

एक सात्त्विक सुख होता है जो शुरुआतमें विष जैसा लगेगा किन्तु परिणामें अमृतोपम होगा। ध्यान लगानेके लिये बैठते हैं तो पहले-पहले भारी कठिनाई होती है तो विष जैसा लगेगा। चित्त चञ्चल होनेसे ध्यान

टिकता नहीं। दस मिनिट बैठो तो दस साल जैसा लगेगा। एक महात्मा इसीलिये मजाकमें बोलते थे कि रावणादि पांच दस दिन बैठे होंगे तो उनके पांचदसहाजर वर्ष जैसा लगा होगा। हिरण्यकश्यप तप करने निकले तो प्रह्लाद मांके उदरमें थे। सौ वर्ष तप करके आये तो तब तक प्रह्लाद पांच वर्षके ही हो गये थे क्या? अस्तु। प्रथम कठिनाई भले हो परिणाम ध्यानादिका उत्तम होता है। यह सुख आत्मा एवं बुद्धिके प्रसादसे प्रकट हुआ है।

"विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥"

दूसरा यह सुख राजस है। विषय इन्द्रियके संयोगसे यह उत्पन्न होता है। शुरुआतमें तो अमृतके समान लगेगा। किन्तु परिणाम विषसदृश होता है। यह खुजलीके समान है। खुजलाते समय अच्छा लगेगा। बादमें जलन होगी। बाजारमें सड़कोंपर स्वादके लिये नाना वस्तु मिलेगी। चाट मिलेगा। भेलपूरी मिलेगी। खाते समय तो अच्छा लगेगा किन्तु परिणाम विष है। "भोगे रोग भयं"। स्वीकृत भोगोंमें भी मात्रा निर्धारित है। जिह्वा चापल्यादिसे अधिक उपभोग करनेपर परिणाम रोग ही है।

तीसरा तामस सुख है। उसका वर्णन गीतामें आया है।

"यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदहृतम्॥"

भोगकालमें भी क्लेश, परिणाममें भी क्लेश। मद्य पीनेवालोंकी दशा देख लो। पीकर रास्तेमें गिर पड़ते हैं। बादमें सैंकड़ों बिमारियां उन्हें घेर लेती हैं। एक हिरोयिन खानेवालेको हमने देखा। जब खाते हैं उस रोज सबसे झगड़ा-मारपीट। अन्तमें लकवा हुआ। बुरे हालमें समाप्त हो गये।

एक प्रारंभमें विष परिणाममें अमृत। दूसरा प्रारंभमें अमृत परिणाममें विष। तीसरा प्रारंभमें विष परिणाममें भी विष। कोई ऐसा भी सुख है क्या जो प्रारंभमें भी अमृत और परिणाममें भी अमृत हो? है। तीन तो गुणप्रयुक्त हुए। सात्त्विक, राजस और तामस। गीतामें तीन ही विभाग प्राय: बताये हैं। भागवतमें एक चौथा भी विभाग बताया है। वह है निर्गुण।

निर्गुण सुख क्या? यही सत्संग। यह सुनते समय भी आनन्दमयी अमृतोपम है। और परिणाममें भी आनन्दमयी अमृतोपम है।

"सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंपदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥"

श्रवणकालमें हृत्कर्णरसायन होती है। मधुर वाणी होनेसे कर्णरसायन है। दिलचस्प एवं हृदयदोषहारी होनेसे हृदयरसायन है। यही आरम्भमें अमृतोपमता है। बादमें तो मोक्षमार्गमें श्रद्धा रति एवं भक्ति होती है जिससे निर्दोष भगवत्-आनन्द प्राप्त होता है। यही परिणामामृत है। इसके परिणामस्वरूप जो सुख है उसीको यहां "परमं सुखं" शब्दसे बताया है। अस्ति भाति मात्र सुखरूपसे प्रतीत नहीं होता। "प्रियं में" यद्यपि आनन्दकी बात आती है परंतु वह भी पूर्वोक्त रीत्या कई भागों में विभक्त है। अखण्डरूपसे सत् चित् एवं प्रियकी अभिव्यक्ति होती है तब वह परमसुखरूप होता है। तब सत् चित् आनन्द तीनोंकी एकता हो जाती है। जो सुख है वही सत्, और वही प्रकाशमान होगा।

सात्त्विकादि सुखोंकी व्याख्या प्रकारान्तरसे भी होती है। चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ काम और मोक्ष। इनमें धर्मसुख सात्त्विक है। गङ्गास्नान करने हरिद्वार गये। वह महान् धर्म है। गङ्गा पतितपावनी है। उसे ब्रह्मद्रव बताया है। परंतु ठंढीके दिन प्रातःकाल गंगाजीमें उतरने समय लगेगा कि प्राण ही खिंच रहे हैं। मरीनड्राईवकी एक माई कहती थी कि जैसे कि बिच्छु डंक मारे ऐसा लगता है। अग्रे विषमिव। किन्तु गंगामैयाकी करामात है। परिणामेऽमृतोपमम्। मरनेके बादकी ही बात नहीं। स्नान करके ऊपर आओ तो शरीर गरम हो जाता है। तबियत खुश हो जाती है। मन प्रसन्न हो जाता है। आगे पुण्यका जो फल होता है सो होगा ही। स्नानादिकाः क्रियाः। दान देते समय यद्यपि पैसा जेबमेंसे निकलता है तो संकोच होता है। मंदिरमें कथामें पैसा चढ़ाते हैं। किन्तु काफी सोच विचारकर। दस पैसा तो बहुत होता है। एक महीनेमें तीन रूपया। जो कि एक बार रिक्शामें चढ़नेपर खर्च होगा। दानमें तकलीफ होती है किन्तु

परिणाम बड़ा सुन्दर होता है। सौगुना होकर वापिस आयेगा। माथेरान, महाबलेश्वर, शिमला जानेमें कुटुम्बका खर्च पांच हजार। हजार पांचसौ ज्यादा हो तो कोई बात नहीं। अस्तु यज्ञ और दानके बाद तप आता है। वह स्वयमेव क्लेशसहनरूप है। परिणाम अमृतोपम होता है। तपसे भगवत्प्राप्ति होती है। "तपो मे हृदयं ब्रह्मन्"। धर्मके बाद अर्थ आता है। अर्थसुख राजस होता है। अग्रे अमृतोपमं परिणामे विषम्। धन जब मिलता है तो खुशीका कोई पारावार नहीं। किंतु बादमें–

"अर्थानामर्जने दुःखं दुःखं च परिरक्षणे
नाशे दुःखं व्यये दुःखं ।"

प्राप्त अर्थसे आगे अधिक अर्जनकी इच्छा, उसमें क्लेश। इनकमटेक्ससे बचाओ, चोरोंसे बचाओ। याचकोंसे स्वयं बचे रहो। नाश हो गया तो दुःख, ज्यादा खर्च हुआ तो दुःख।

"अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् ।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा कथिता नीतिः ॥"

अतः अर्थ सुख राजस है। अर्थ तो राजाशाही है। अतः राजस है।

कामसुख तामस है। विषयोपभोगसे इन्द्रियशैथिल्य होता है। महाभारतमें कथा आती है कि यज्ञोंमें अधिक घी खानेसे अग्निदेवताको भी मन्दाग्नि हो गयी थी। धनसे हम परोपकार भी कर सकते हैं अतः धनको राजसमें रखा। विषयोपभोगरूपी काम तो अपने आपके लिये है। हम खाते पीते हैं, नृत्यादि देखते सुनते हैं तो उससे दूसरोंको क्या लाभ? अतः स्वार्थमात्र होनेसे कामसुख तामस है। दूसरी बात यह भी बतायी है कि दूसरेको लाभ होता नहीं, इतना ही नहीं, दूसरोंको हानि भी पहुंचाते हैं।

"नानुपहत्य प्राणिनः उपभोगः संभवति ।"

ऐसा सांख्यशास्त्रमें बताया है। दूसरोंको तकलीफ देते हैं क्योंकि दूसरे चाहते हैं यह हमको मिले।

निर्गुण सुख योगसुख या मोक्षसुख है।

"यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।"
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।"

इत्यादि योग के बारेमें बताया है। उस सुखका निर्देश करना संभव नहीं है। उसके लिये मौन ही व्याख्या है।

"कीदृक्तदिति चेत्तत्त्वमीदृक्ता तस्य नास्ति हि ।
यदनीदृगतादृक् च तादृक्तत्त्वमिहेष्यताम् ॥"

ऐसा है, वैसा है, इत्यादि प्रकारवर्णन इसमें संभव नहीं है। तोतापुरीजीने श्री रामकृष्णको वह दर्शाया। अष्टावक्रजी ने राजा जनको दर्शाया।

कथं नु तद् विजानीयाम्। बहुतसे व्याख्याताओंने उत्तरार्धको नचिकेताका प्रश्न माना है। वस्तुतः यह प्रश्न नहीं है क्योंकि नचिकेता उत्तमाधिकारी होनेसे उनको साक्षात्कार हो ही रहा था। यमराज जगत् हितार्थ अधिकाधिक वर्णन करते जा रहे हैं। "विजानीयां" में वि उपसर्ग है। ज्ञानं विज्ञानसहितं इत्यादिमें ज्ञानसे पृथक् विज्ञान बताया है। ज्ञान शास्त्रीय ज्ञानको कहते हैं। विज्ञान साक्षात्कारको कहते हैं। "कथं विजानीयां" यह विजिज्ञासा है। जिज्ञासा तथा विजिज्ञासा ये दो हैं। प्रथम तो अधिकारविशेषवान्को बताया है-

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" ।

'अथ' का साधनचतुष्टयप्राप्ति के अनन्तर ऐसा अर्थ है। विवेक, वैराग्य, शमादि एवं मुमुक्षुता होनेपर ब्रह्मजिज्ञासा करे। ब्रह्म जाननेकी इच्छासे वेदार्थ विचार करें। यहां तक ब्रह्म सूत्रका विषय है। ब्रह्मसूत्रोंके द्वारा वेदार्थविचार करनेपर ब्रह्मज्ञान हो जाता है। परंतु वहीं इतिश्री नहीं है। श्रुति विजिज्ञासाको प्रस्तुत करती है।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति
तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व ॥"

यद्यपि ब्रह्मसूत्रमें "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्रसे श्रुतिको सूचित किया तो ब्रह्मजिज्ञासा शब्दमें "तद्विजिज्ञासस्व" का ही सूत्रण प्रतीत होता है। तथापि ऐसी ही विवक्षा हो तो एक ही सूत्र बनाना ठीक था श्रुत्यनुसार। अतः प्रथम जिज्ञासा विचारात्मक प्रस्तुत किया। लक्षणार्थ "यतो वा" श्रुतिको दिखाया। "तद्विजिज्ञासस्व" इस श्रुतिसे निदिध्यासनात्मक साधन विवक्षित

है। अतएव यह आदेश सुनकर भृगु तप करने जाते हैं। न कि वेदान्त-विचार करने। "स तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।" यहां तपका आलोचन अर्थात् मनन तथा निदिध्यासन अर्थ है। प्रकृतमन्त्रमें "कथं नु विजानीयां" यह विजिज्ञासा बतायी जा रही है। 'कथं नु तद्विजानीयां विजिज्ञासा कर्तव्या' इस प्रकार इसकी व्याख्या है। यमराज कहते हैं कि प्रथम साधनचतुष्टयसंपन्न होकर ब्रह्मजिज्ञासा करो और ब्रह्मके बारेमें जानकारी प्राप्त करो। श्रुत्यर्थविचार भी करो। किन्तु इतनेसे गतार्थता नहीं है।

ऐसे ऐसे पंडित विद्वान् काशीमें थे कि ब्रह्मसूत्र के अक्षर अक्षर का विश्लेषण कर सकते थे। परंतु अधिकाधिक दक्षिणा प्राप्तकरनेकी उनकी विलक्षण वृत्ति भी देखी जा सकती थी। साधारण मनुष्यसे उसमें विशेषता शास्त्रज्ञानमात्र थी। अतः जिज्ञासासे ही काम नहीं चलेगा। विजिज्ञासा करनी पड़ेगी। वैराग्य एवं मुमुक्षुता को तीव्र प्रथम बनाना होगा।

"वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं च तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्यैव ह्यर्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥"

तीव्र वैराग्य एवं तीव्र मुमुक्षुता होनी चाहिये। उसके साथ फिर श्रवणोत्तर निदिध्यासन होना चाहिये। तभी विज्ञान प्राप्त होगा। तदर्थ यत्न ही विजिज्ञासा है।

किमु भाति विभाति वा। ये दोनों मिलाकर एक कल्प हैं। भान और विभान होता है या नहीं ऐसी व्याख्या है। भान सामान्य भान है। विभान विशेषभान है। भानविभाने भवतो न वेति विचार्यम्। यतितव्यं च। और उत्तर भी पाना चाहिये। भान एवं विभान कार्यतः होता है। अतः कारणतः भी होता है ऐसा उत्तर अगले मन्त्रमें मिलेगा।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

उस परमसुखरूपी परमात्मामें सूर्य प्रकाशकरूपसे भासित नहीं है एवं चन्द्र, तारे, विद्युत भी। अग्नि की तो बात ही क्या। उस परमात्माके

भानके पीछे जगत् का भान होता है। उस परमात्माके प्रकाशसे ही सभी प्रकाशित होते हैं ॥ १५ ॥

पूर्वमन्त्रमें "कथं नु तद्विजानीयां" इस प्रकार व्यग्रतापूर्वक विजिज्ञासा करने के लिये बताया। वेदान्तसारमें इसको इस ढंगसे समझाया है कि ज्येष्ठकी कड़ी धूपमें कोई मरुमार्गसे जा रहा है। माथा तप गया है, प्यास लगी है। वह छाया ढूंढ रहा है, पानी ढूंढ रहा है। भाग रहा है। उस समय कोई दूसरा रास्तेमें मिले तो क्या बातचीत करता रहेगा? यदि उसको यह मालूम हो कि कुछ दूर जानेपर पानी मिलेगा, छाया मिलेगी। संसारताप-संतप्त होकर इसी प्रकार शीतल छायारूप शीतल जलरूप ब्रह्मकी ओर बढ़े तो समझना कि वह सच्चा जिज्ञासु है। कैसे मैं उस ब्रह्मका साक्षात्कार करूं और तापशान्ति करूं इस प्रकार साधनजिज्ञासा तथा साध्यप्रेप्सा उत्कट होनी चाहिये। वह ब्रह्म भासित होता हो और विभासित होता हो तो मैं साक्षात्कार कर सकूंगा। अन्यथा नहीं। क्योंकि मेरे प्रकाशमें जो प्रकाशित होगा वह मेरी तापशान्ति नहीं कर सकेगा। मेरा प्रकाश तो विषयसुख है। उससे तो मैं विरक्त हूं, उद्विग्न हूं। उसकी ज्ञानसमकालीन सत्ता है। स्वयं "अज्ञातसुखे मानाभावात्" अज्ञात् सुख होता नहीं। अतः स्वयंप्रकाशमान सुख ही नित्यपरम सुख है। वह परम सुख जो पूर्वमें बताया। स्वयं भासमान एवं विभासमान है कि नहीं इस प्रकार जिज्ञासा एवं विमर्शके होने पर यह मन्त्र समाधान करने वाला है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। सूर्य जगत् में भासित होता है, परमात्मामें नहीं। सूर्य जगत् में ही है। वही तो भासेगा। परमात्मामें तो वह है नहीं। तब अप्रसक्तप्रतिषेध क्यों? अप्रसक्त-प्रतिषेध नहीं है। आधारआधेयभावमें यहां सप्तमी नहीं। प्रकाश्य-प्रकाशभावमें है। अर्थात् प्रकाशकरूपसे सूर्य ब्रह्ममें भासता नहीं है। जगतमें प्रकाशकरूपसे भासता है। रातके समय सूर्य जगतमें भी तो प्रकाशकरूपसे भासता नहीं है, ऐसे ब्रह्मका अस्तित्व रातमें हो इसलिये कहा-न चन्द्र। चन्द्र भी प्रकाशकरूपसे भासता नहीं। तारे भी नहीं। तारे तो वैसे भी प्रकाशक नहीं होते। नहीं। ऐसी बात नहीं। तारें भी सूर्य जैसे और सूर्य से

बड़े ग्रह हैं। जैसे अति दूर होने पर लोकालोक पर्वतके ऊपर सूर्यादि प्रकाशक शायद न हो। इस पर कहते हैं लोकालोक पर्वत पर भी ध्रुवादि तारे हैं। अतः अति दूर होनेसे शायद ध्रुवादि तारे प्रकाशित करते हो इस पर कहा न तारकं भाति। अति दूर-दूराति दूर होनेसे क्या? नहीं। वहां भी विद्युतलोक है। 'सूर्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानव एतं ब्रह्म गमयति" ऐसा बताया है। वह विद्युतलोक अन्तिम है। वहां से अमानव पुरुष उपासकको सीधा ब्रह्मलोक ले जाता है। वह विद्युत भी प्रकाशित नहीं करता। ऐसा आधिभौतिक आदि अर्थ है।

अध्यात्ममें सूर्यका चक्षु अर्थ है। चक्षुका अधिष्ठाता सूर्य है। चन्द्रका मन अर्थ है। मनोऽधिष्ठाता चन्द्रमा है। "नक्षत्राणामहं शशी" के अनुसार मनोवृत्तियां नक्षत्र हैं। विद्युत प्रतिभाको कहते हैं। हाजिरजवाब। जैसे अकबरके समय बीरबल देता था। भोजसभामें कालिदास। अकबर और बेगम के साथ बीरबल जा रहे थे। गरमी होनेसे दोनोंने अपने भारी वस्त्रोंको उतारकर बीरबल को दिया। बादशाहने कहा मजाकमें—बीरबल तुम्हारे पास एक गधेका पूरा सामान हो गया। बीरबलने कहा—जी नहीं सरकार! दो गधों का सामान हो गया। यही विद्युत है। अग्निमें वाक् समझना चाहिये। वाणी के अधिष्ठाता अग्नि है। ये सब भी उस ब्रह्मके प्रकाशकरूपमें नहीं भासते। प्रकाशकतया तत्र भाति का सीधा अर्थ भासयति होता है। दूसरे व्याख्याकार ने ब्रह्मतेजसे अभिभूत होनेसे दिनमें सूर्यके सामने तारे के समान ब्रह्म के सामने सूर्यादि भासते नहीं ऐसा अर्थ किया। परंतु वह अतिसमीचीन नहीं है। क्योंकि कठोपनिषद् की अनुगामिनी गीतामें स्पष्ट कह दिया—

"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।"

अतः पूर्वोक्त अर्थ ही यथार्थ है। ब्रह्म तेज से छादित ऐसा अर्थ तो नहीं ही होगा। क्योंकि ब्रह्म सर्वाधिकरण होनेसे ब्रह्म तेज से सूर्यादि तेज नित्य छादित होगा। तो सर्वथा अप्रकाशक ही होगा।

प्रकारान्तरसे व्याख्या यह हो सकती है, जैसे केनोपनिषदमें ब्रह्मका पता लगाने अग्नि, वायु, इन्द्र गये ऐसा बताया है। किन्तु ब्रह्मके सामने सब निस्तेज हो गये। वैसे ब्रह्मके सामने सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युदादि

निस्तेज हो जाते हैं। परंतु फलितार्थ पूर्वोक्त ही होगा। क्योंकि केनोपनिषदमें कहा है अग्नि आदि गये तो ब्रह्मका पता लगानेके लिये अर्थात् ब्रह्मको प्रकाशित करनेके लिये गये। किन्तु उनका तेज, शक्ति वहां कुण्ठित हो गये।

चक्षुरादि ब्रह्मको क्यों नहीं प्रकाशित करते? चक्षु रूप या रूपवानको ही प्रकाशित करती है। मन केवल अन्तःस्थित को प्रकाशित करता है। 'परतन्त्रं बहिर्मनः'। ऐसा सिद्धान्त है। ब्रह्म रूप नहीं, रूपवान नहीं, केवल आन्तर नहीं। 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः' इस प्रकार अंदर बाहर सर्वत्र व्यापक है ब्रह्म। मनोवृत्तियां चक्षुरादिद्वारा बाहर निकलती हैं। शब्दादिको भी प्रकाशित करती हैं। तथापि वृत्ति परिच्छिन्नअर्थविषयक होती है। ब्रह्म अपरिच्छिन्न है। प्रतिभा भी तत्कालिक अर्थ को प्रकाशित करती है। ब्रह्म तात्कालिक नहीं है। और वाणी तो षष्ठी, जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध सव्यपेक्ष है यह पहले ही कहा जा चुका है।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्। सूर्यादि से प्रकाश्य नहीं ऐसा कहकर सकलदृश्यप्रपञ्चनिषेध द्वारा ब्रह्मावगमन किया। यह समस्त प्रपञ्च चक्षु, मन आदि किसी न किसी से प्रकाश्य ही है। अतएव पूरा जगत् दृश्य है। यह निषेधमुखसे जाननेका तरीका हुआ। अब विधिमुखसे जाननेका रास्ता दिखाते हैं-तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्। सर्वसे केवल सूर्यादि चार पांच नहीं किन्तु समस्त दृश्य प्रपञ्च ग्राह्य है। चारों ओर से खिड़की दरवाजा बंद है। अंधेरी रात भी समझ लो। तब कमरे में कोई वस्तु दीख पड़ेगी? नहीं। कब दीख पड़ेगी? जब सूर्योदय हो या जब बिजली जलावे। तब प्रकाश वस्तुको घेर लेगा। तब प्रथम आप उस प्रकाशको देखेंगे। उसके अंदर फिर वस्तु देखेंगे। अर्थात् प्रकाश प्रथम भासेगा। वस्तु उसके बाद भासेगी। इसी दृष्टान्तसे दार्ष्टान्तिक समझो। यदि आप सुषुप्तिमें या मूर्च्छामें पड़े हैं तो क्या वस्तु दीखेगी? नहीं। जब जगेंगे तब देखेंगे। जगनेपर सर्वप्रथम अपनी चेतनाका भान होगा। अज्ञानावरण थोड़ा रहेगा। तब वस्तुएं दीखने लगेंगी। सूर्य प्रथम प्रकाशित हो तब वस्तु भासेगी। वैसे ज्ञानरूपी ब्रह्म प्रथम भासित हो तब वस्तु भासित होगी। वेदान्तकी प्रक्रियामें भी आवरण चेतनका ही माना है। घटाकार वृत्तिसे घटावच्छिन्नचेतनविषयकआवरण

हट जाता है तब प्रथम चेतन ही भासेगा। तब उसके प्रकाशमें घटादि भासेंगे।

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। तेन विभाति ऐसा नहीं बताया। वृत्तिसे, निवृत्तावरण चेतनसे घटादि भासते हैं ऐसा नहीं बताया। किन्तु उस निवृत्तावरण आत्माके भाससे भासित होगा। बताया। इसी आधारपर विद्यारण्यमुनिका कहना है कि निवृत्तावरण चेतनका भास वृत्तिमें प्रतिबिम्बरूपसे आयेगा। वही प्रतिबिम्ब घटादिको प्राकशित करेगा। अनावृत चैतन्य ही क्यों न प्रकाशित करे? उत्तर है घटज्ञानं नष्टं, घटज्ञानमुत्पन्नं इत्यादि वृत्तिको लेकर ही संभव है। आवरण आनेपर भी अनावरण नाश नहीं होता। क्योंकि अभावनाश नहीं होता तब लाक्षणिक प्रयोग भी चेतनको लेकर नहीं बनता इत्यादि गहन विचार दार्शनिकोंके लिये छोड़ दें।

गीतामें इसकी व्याख्या कुछ विलक्षण ढंगसे आयी है। वहां बताया है कि–

'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥'

वहां चेतन प्रकाशसे प्रकाशित होता है ऐसा न कहकर सूर्यादिमें जो प्रकाश है वह मेरा ही प्रकाश है ऐसा कहा है। अतएव सकल प्रपञ्चग्रहण भी प्रतीत नहीं होता। तदनुसार व्याख्या दूसरे ढंगसे करनी होगी। प्रश्न वहां एक यह उपस्थित होगा कि जैसे हीरेमें और रेडियम आदिमें जो तेज है वह सूर्यादिका ही तेज है वैसे सूर्यादिमें जो तेज है वह ब्रह्म का ही तेज है तो सूर्यादिमें भौतिक तेज है। क्या ब्रह्ममें ऐसा भौतिक तेज है जो सूर्यादिमें उतर आया? ऐसा तो स्वीकार्य नहीं हो सकता। ब्रह्मका तेज ज्ञानात्मक है। ज्ञान प्रकाश है। वह भौतिक नहीं हो सकता। इसका समाधान यह है कि यद्यपि ब्रह्मतेज ज्ञानप्रकाशरूप र है और वह भौतिक नहीं है तथापि सूर्यादि में जो प्रकाश है वह ब्रह्मजन्य होनेसे ब्रह्मातिरिक्त भी नहीं है। श्रुतिमें बताया है-

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृज त'

ब्रह्मने ईक्षण कर तेज आदि को बनाया। तेज को बनाया, जल को बनाया, पृथिवीको बनाया। फिर त्रिवृत कर सूर्य, अग्नि, चन्द्र, बिजली आदिको बनाया तो उन्होंने उपाधि बनकर, ब्रह्मप्रकाशके स्वरूपको बदल दिया। त्रिवृतकृत को लेकर उपनिषत् का कहना है–

'यदग्ने रोहितँ रूपं तेजसस्तद्रूपं
यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्न-
स्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥'

अग्निमें लालिमा तेज की है, सफेदी जलकी है, कालिमा पृथिवीकी है। तीनोंको अलग किया तो अग्नि क्या? वाचारम्भण विकार नामधेयमात्र।

'यदादित्यस्य रोहितँ-रूपं तेजसस्तद्रूपं
यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्या-
पागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥'

इत्यादि रीति आदित्यादियों को भी बताया। फिर इन तीन रूपोंको भी लेकर आगे बताया-अन्नका मूल आप, आपका मूल तेज, तेजका मूल सत्।

"अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छा-
द्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ
तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ
सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥"

अन्न (पथिवी) नामरूप विकार वाचारम्भण है। सत्य जल है। वह भी वाचारम्भण है। सत्य तेज है। वह भी वाचारम्भण है। सत्य सत् है। एक बिजली उपाधिभेदसे बल्बमें लाईट, फेनमें हवा, फ्रीजमें शैत्य, और हीटरमें गरमी होती है। वैसे ब्रह्म भी उपाधिभेदसे आदित्यादि तेजोरूपमें वाचारम्भित होता है। सुवर्ण से कड़ियां, कड़ियोंसे चेन भले हो चेनमें चमक सुवर्ण की है। वैसे ब्रह्ममें वाचारम्भित तीन और त्रित्वकृत आदित्यादि सबमें ब्रह्मकी की ही शक्ति प्रकाशदिरूपमें वाचारम्भित है। इस लिये गीतामें 'यदादित्यगतँ तेजः-तत्तेजो विद्धि मामकं' बताया। प्रश्न होगा कि आदित्यादिगत तेज ही क्यों जलादिगत रस, गन्धादि भी तो ऐसा ही

है? ऐसा ही है। किन्तु उपासनार्थ संक्षेपतः गीतामें उतना ही कहा। विशेषरूपसे सातवें आदि अध्यायोंमें–

"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ
बलं बलवतामस्मि बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि ।"

इत्यादि कहा ही है। भान एवं भासनकी दृष्टिसे सूर्यादिका उदाहरण बताया।

ये सभी रूप, रस, बलादि परमात्मामें पूर्वसे ही विद्यमान है। परमात्मामें कहो या परमात्मशक्तिरूप मायामें कहो एक ही बात है। क्योंकि ये सब वाचारम्भण हैं। अतः मूल माया को भी रखना होगा। माया क्या है? वाचारम्भण के प्रयोजक वासनाओंका समुदाय। उसका साक्षात्कार या प्रकाशन ब्रह्म करता है। इसलिये परमात्माको सर्वज्ञ, सर्ववित् बताया। जो बीत गया उसको देखा। अतः उसका स्मरण हो सकता है। भविष्य तो आया ही नहीं अतएव देखा भी नहीं, तो स्मरणवार्ता हो नहीं सकती तो ईश्वर भी भविष्यवेत्ता किस प्रकार? और सर्वज्ञ किस प्रकार? सुनो। भविष्यवेत्ता हम भी, आप भी हैं। यह सुनकर कोई कुण्डली लेकर मेरे पास नहीं आना। दूसरे ढंगसे हम कहते जा रहे हैं। मोटा उदाहरण-आज शामको छःके आसपास सूर्यास्त होगा यह भविष्यवाणी यथार्थ है या नहीं? सब लोग कहेंगे इतने अंशमें हम भी भविष्यवेत्ता हैं। प्रकृतार्थ सुनो। आमकी गुठली जमीनमें डाली, पानी पड़ गया। अंकुर आने लगा। हमने कहा इस पर हरी लंबी आमपत्ती होगी। बड़े होनेपर आमका फल लगेगा। कटहलका नहीं, गूलरका नहीं। सच है कि नहीं? बिलकुल सच है। क्यों सच है ? इसलिये कि आमके बीजमें सब पहलेसे संस्काररूपसे विद्यमान है। तो इन्हीं संस्कारों के समुदायरूपी माया का साक्षात्कार परमेश्वर करता रहता है तथा अदृष्टका भी। अतएव निश्चित भविष्यको ईश्वर जानता है। यही आचार्यने बताया–

"बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदंप्राङ् निर्विकल्पं पुन-
र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम् ।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥"

बीज में अंकुर प्रथम निर्विकल्पकरूपसे, अव्याकृतरूपसे रहता है। वैसे मायाशक्तिरूपी बीजमें समस्त जगत् है। उसे स्वेच्छासे ईश्वर विजृम्भित करता है। विकसित करता है। तब बीजशक्तिमें अव्याकृतका दर्शन तथा भाविनिर्माणोपयोगी तद्विषयक ज्ञान दोनों ईश्वरमें हैं। तात्पर्य यही कि यह सब मायाशक्तिविजृम्भण है। मायाशक्तिका फैलाव है।

लाईटके समान ब्रह्मचैतन्य प्रकाश है। मायाशक्ति फिल्मके समान सूक्ष्म संस्काररूप है। फिल्ममें लाईट पड़ती है तो पड़देपर कथानक का दृश्य सामने आता है। इस दृश्यमें कभी सूर्य, चन्द्र, तारे, बिजली आदि भी दिखाते हैं। प्रथम अंधकार दिखाया (वह भी इस प्रकाशमें ही) फिर दिखाया सूर्योदय हो रहा है। बच्चा बापको कहने लगा—बापूजी आपने बताया है सूर्योदय पर, सन्ध्या करनी चाहिये। स्नान करे। बाप कहता है-थोड़ी देर बाद। उस सूर्य के प्रकाशमें घट गृहादि दीख रहे हैं ऐसा दीखाया। किन्तु उस सूर्यादिमें कौनसा प्रकाश था? लाईटका। क्या वे पड़दे के सूर्यादि, पड़दे के घरबार वृक्षादिको प्रकाशित करते हैं वैसे मूल लाईट को भी प्रकाशित कर सकते हैं? नहीं। न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। उस लाईट के भासनेके पीछे ही पड़दे के सूर्यादि भासेंगे और उस लाईट के प्रकाशसे ही समस्त पड़दा जगत् भी भासित होता है। यह पूर्ण दृष्टान्त है। दार्ष्टान्तिक यह ब्रह्म और जगत् है। यह जगत् माया से बाहर दीख रहा है। वस्तुतः है उस आत्माके अंदर ही-ब्रह्मके अंदर ही।

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया ।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मनमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥

पञ्चम वल्ली प्रवचन समाप्त ।

षष्ठ वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाकूशाख एषोऽश्वत्थः सनातनः
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन
एतद्वै तत् ॥ १ ॥

ऊपर की ओर मूल, नीचे की ओर शाखा है जिसका ऐसा यह अनित्य संसार रूपी वृक्ष प्रवाह रूप से अनादि है। ऐसे वृक्ष का आधारभूत वही ब्रह्म बलशाली, वही महान् तथा अविनाशी है ज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं। उस ब्रह्म में सब लोक स्थित हैं। उस ब्रह्म का कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता है। यह निश्चित रूप से वही ब्रह्म है जिसके बारे में तुमने पूछा था ॥ १ ॥

"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इत्यादि नचिकेताके प्रश्नसे ब्रह्मविद्याप्रकरण प्रारम्भ हुआ। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ वल्लियों में सामान्यरूप से अस्तिपदार्थ ब्रह्म का वर्णन किया। पञ्चमवल्लीमें "हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि" इस प्रकार प्रत्यक्षदर्शनार्थ प्रवचनका उपक्रम हुआ। इदं-करामलकबोधवत् बोधनार्थ प्रवचन करता हूँ ऐसा बताया। और अतीव कृपया रहस्यकथन हन्त पदसे सूचित किया। फिर "य एष सुप्तेषु जागर्ति" इस प्रकार त्वंपदार्थप्रधानतया ब्रह्मोपदेश शुरु किया। यद्यपि उसमें भी तत्पदार्थ निरूपण है। "तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे" इत्यादि स्वरसतः तत्पदार्थ में ही घटता है। फिर भी त्वंपदार्थ को व्यापक बताने में ही उसका विनियोग है। इस वल्ली में "ऊर्ध्वमूल" इत्यादि से तत्पदार्थ प्रधानतया प्रारंभ है और आगे त्वंपदार्थवर्णन तत्पदार्थ की अपरोक्षता के स्पष्टीकरणार्थ है।

यदि तत्पदार्थ का निरूपण करना है तो संसारवृक्ष का वर्णन क्यों किया जा रहा है ? "य एष सुप्तेषु जागर्ति" के समान य एष संसारं रचयति ऐसा सीधा कहना चाहिये था। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि

त्वंपदार्थ और तत्पदार्थ में यही तो फरक है। त्वंपदार्थ अपरोक्ष है। इसलिये उसका प्रत्यक्ष निर्देश संभव है जो उसमें न्यूनता है व्यापकत्वादिकी उसीको दूर करना है। तत्पदार्थ अपरोक्ष नहीं है। अतः उसका प्रत्यक्ष निर्देश कर कुछ विशेषता बताना असंभव है। अतः प्रथम कार्य से कारण का अनुमान करना होगा। सो भी कार्यानुरूप। जैसे नदी में बाढ़ आयी तो अनुमान होगा ऊपर बारिश आयी। धूँआ उठता हुआ नजर आया तो अनुमान होगा कहीं आग लगी होगी। भाष्यकार लिखते हैं–

"तूलावधारणेनैव मूलावधारणम्"

तूलको देखकर मूलका पता लगता है। जैसे वृक्षको देखा तो भूमि के अन्दर जड़का प्रत्यक्ष न होने पर भी अनुमान हो जाता है। भारी हवा आने पर भी वृक्ष न गिरा तो कल्पना होती है कि इसकी जड़ खूब जमी हुई है।

ऊर्ध्वमूलः। इस संसार वृक्ष की विशेषता यह है कि अन्य वृक्षों के समान इसकी जड़ नीचे नहीं है। 'ऊपर' का अर्थ भाष्यकार ने गीता में ऐसा लिखा है–

"कालतः सूक्ष्मत्वात् कारणत्वान्नित्यत्वान्महत्त्वा-
च्चोर्ध्वमुच्यते ब्रह्माव्यक्तमायाशक्तिमत् ।"

ऊर्ध्व का अर्थ यह नहीं कि भूभुवः आदि लोकों में किसी ऊपर लोक में बैठा हुआ है। ऊर्ध्वका उत्कृष्ट अर्थ है। पुलिसों के ऊपर सब-इन्स्पेक्टर, उनके ऊपर इन्स्पेक्टर-बैठा है। या पुलिसवाले नीचे माले में, सब इन्स्पेक्टर ऊपर माले, इन्स्पेक्टर आदि उससे भी ऊपर माले में। वहाँ अधिक सत्ता, महत्ता, श्रेष्ठता आदि अर्थ है। वैसे यहां भी है।

कालतः सूक्ष्मत्वात्। संसार में सबसे सूक्ष्म काल है। कालको कोई देख नहीं सकता। उसकी गति का भी पता नहीं चलता। सूर्य परिस्पन्दादिसे कालका अनुमानमात्र होता है। काल में प्राणी उत्पन्न होते हैं। कालमें विलीन होते हैं।

"कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥"

प्राणियों को, वस्तुओं को एवं समस्त कार्यों को काल पका रहा है। अन्त में सबका संहार वही कर रहा है। आप भले सो जाईये आपको पता नहीं कितना समय सोये। किन्तु काल हमेशा सजग है। वह निरन्तर पकाता ही रहता है। उसको कोई पकड़ नहीं सकता, रोक नहीं सकता। परमाणुओं को पकड़ सकते हैं। रोक सकते हैं। तोड़ सकते हैं। काल को नहीं। काल परमाणुओंसे भी अधिक सूक्ष्म है। उस कालसे भी अधिक सूक्ष्म परमेश्वर है। क्योंकि काल उसके वश में है। परमेश्वर उस काल को लेकर ही सृष्टि आदि कार्य करता है।

"कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभुषुरुपाददे ॥"

परमात्मा सृष्ट्यर्थ विबुभूषु हुए। अर्थात् "एकोऽहं बहु स्यां" ऐसे विभवेच्छा हुई। तब यदृच्छया, काल, स्वभाव, कर्म ये तीन उपस्थित हुए तब उनको ग्रहण किया। ग्रहण किया अर्थात् उन तीनों के अधिष्ठाता होकर बैठे।

"कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठतादभूत् ॥"

पुरुष से ये तीन अधिष्ठित हुए। तब कालसे सत्त्वादि गुणमें उद्भव एवं अभिभव होने लगे। तब प्रकृतिमें स्वभावतः परिणाम शुरु हो गया। तब कर्मसे प्रथम महत्तत्त्व प्रादुर्भूत हुआ। असलमें यह काल क्या है? परमात्माका ही रूपान्तर है। अन्तःस्वरूप पुरुष है। बहिःस्वरूप काल है।

"अन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः"

ऐसा बताया है। बाह्यरूप होनसे काल स्थूल है। पुरुष सूक्ष्म है।

"तपसा चीयते ब्रह्म"

इस प्रकार मुण्डकमें कहा है। संकल्परूपी तपसे ब्रह्मका उपचय हुआ। जैसे बीज फूल जाता है। यही स्थूलभाव काल है। उस कालसे भी सूक्ष्म होनेसे ब्रह्म ऊर्ध्व हुआ।

कारणत्वात्। जगत्कारण भी सूक्ष्म परमेश्वर श्रेष्ठ है, ऊर्ध्व है। कारण कार्य की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। अधिक सत्तावाला होता है। पुत्र की अपेक्षा पिता महान् होता है। मूल्य कुण्डलका नहीं, सोनेका होता है। यह कहें कि कभी कभी पुत्र पिता से भी आगे बढ़ जाता है। वसुदेवजी से कृष्ण महान् हुए। दशरथसे राम।

"राम राम सब कहे दशरथ कहे न कोय।"

करमचंद गांधी से मोहनदास गांधी महान् हो गये। पुत्रका महत्त्व हो सकता है। किन्तु पिता पिता ही है। पिता पुत्रको प्रणाम नहीं करता। राम दशरथ जी को प्रणाम करते हैं। श्रीकृष्ण और बलराम वसुदेव देवकीको प्रणाम करते हैं।

"मातरं पितरं चैव मोचयित्वाथ बन्धनात्।
कृष्णरामौ ववन्दाते शिरसाऽऽस्पृश्य पादयोः॥"

बन्धनसे मुक्त कराया श्रीकृष्णने। तो भी वसुदेव श्रीकृष्णको प्रणाम नहीं करते। श्रीकृष्ण वसुदेवजीको प्रणाम करते हैं। श्रुतिमें भी–

"मातृदेवो भव पितृदेवो भव"

बताया। पुत्र श्रेष्ठ होनेपर पुत्रदेवो भव ऐसा नहीं बताया। अतएव कारणका महत्त्व सुरक्षित है।

नित्यत्वात्। नित्य होनेसे भी परमेश्वरका महत्त्व है। समुद्रमें तरङ्ग पैदा हो गयी फिर नष्ट हो गयी। समुद्र स्थिर है। नित्य है। योगसूत्रमें परमेश्वरका गुरुत्व सिद्ध करनेके लिये नित्यत्व ही हेतु बताया है।

"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"

परमेश्वर पूर्वगुरुओंके भी गुरु हैं। गौरवयुक्त हैं। क्यों? कालपरिच्छेद न होनेसे, नित्य होनेसे। विनाशी हमेशा उस महाकालमें निर्मूल्य होता है। उसका होना न होना बराबर होता है। हम बड़े गर्व से अपने इस शरीरको लेकर सिर ऊँचा कर चलते हैं। अपने आपको बहुत भारी समझते हैं। जरा भी अपमान हुआ। अहंपर चोट आयी तो सर्पके समान फना उठाकर फूंफकार मारते हैं। इसने हमको सलाम नहीं किया। बहूने चरणस्पर्श नहीं किया। 'जी' जोड़कर नहीं कहा संसारमें मैं कितना बड़ा हूं। किन्तु उस महाकालमें हमारा अस्तित्व कहां तक है यह प्रथम विचार करो। क्या अपने दादा को याद करते हों? हां। परदादाको? थोड़ा थोड़ा। उससे आगे नहीं। परंतु परदादाके परदादा जब अपने अस्तित्वकालमें थे तब तुम्हारे समान गर्व रखते रहे कि नहीं? मैं महान् हूं। मैं श्रेष्ठ हूं। मेरे समान कौन? उससे और पीछे जायेंगे तो कहना ही क्या? आज उनका नाम निशान नहीं। एक पुराना जीर्ण-शीर्ण फोटो घरमें था। पता नहीं

किसका था। आखिर उसे फेंक दिया। किन्तु याद रखो। परदादा आदिके परपोते आदि हुए वैसे अपने भी पोते, परपोते और परपोते के परपोते भी आगे होंगे कि नहीं? काल आगे सरकेगा कि नहीं? अवश्य सरकेगा। उस समय तुम्हें भी पूछने वाला कोई नहीं रहेगा। तुम्हारा जीर्णशीर्ण कोई फोटो रहा तो उसे भी समुद्रमें, कभी कूड़ेमें फेंक देंग। इस प्रकार परपोते आदि क्या हजारों वर्ष, लाखों वर्ष आगे आयेंगे, बीतेंगे। क्या उन कालोंमें हमारा अहं रहेगा? शून्य बराबर हो जायेगा। अतः अनित्य वस्तुओंको अपने समयमें बड़ेपनका आभास मात्र है। जो स्वल्पकालमें शून्यमें मिल जाने वाला है। यह एक शरीर की बात हुई। पूरा संसार ही इस प्रकार परिवर्तनशील विनाशी है। इस महाकालमें उनका कोई अस्तित्व नहीं बनता।

महत्त्वाच्च। महान् होनसे भी ब्रह्म ऊर्ध्व है। महत्त्व तीन प्रकारसे होता है। जो बड़ा होगा परिमाणतः उसे महान् कहते हैं। जो पूज्य है उसको भी महान् कहते हैं और जो अधिक सत्तावाला है उसको भी महान् कहते हैं। ब्रह्म परिमाणतः महान् है। इसलिये उसका नाम ब्रह्म है। बकरा अल्पकाय कहते हैं। हाथी महाकाय है। ब्रह्म प्रपञ्चापेक्षया महान् है। क्योंकि उसके एकदेशमें ही समस्त जगत् आ जाता है।

एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो
ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः।

पूछा-वह परमेश्वर कितना बड़ा है? हाथी जितना है क्या? उत्तर दिया हाथी से बड़ा। पहाड़ जितना है क्या? उससे भी बड़ा। हिमालय जितना है क्या? हिमालयसे भी बड़ा। पृथिवी जितना है क्या? उससे भी बड़ा। पृथिवीकी चारों ओर अन्तरिक्ष है। उतना बड़ा है क्या? उससे भी बड़ा। स्वर्ग जितना बड़ा है क्या? उससे भी बड़ा। चतुर्दश लोक जितना बड़ा है क्या? उससे भी बड़ा। उतना बड़ा तो ब्रह्माण्ड है। चतुर्दशभुवन सहित एक ब्रह्माण्ड है। वही ब्रह्मका शरीर है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उसके रोमकूपमें भटक रहे हैं।

"क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निर्वाभू-
संवेष्टिताण्डघट-सप्तवितस्तिकायः
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥"

असंख्य ब्रह्माण्ड रोमरोममें भटक रहे हैं जैसे खिड़कीके अंदर आनेवाले प्रकाशमें वह इतना बड़ा है कि परिच्छेदक देश उसके अंदर है। काल और दिक्का नैयायिक परममहत्परिमाण मानते हैं। किन्तु ईश्वर उनसे अपरिच्छिन्न है। नित्य तथा महान् है। महत्त्वादूर्ध्वम् इसी प्रकार पूज्य होनसे भी महान् माना जाता है। महीयमानत्वाद् महान्। मह पूजायाम्। परमेश्वर पूज्याभिपूज्य है। सर्वपूज्य है। सामान्यजन देवतापूजन करते हैं। देवता भी परमेश्वरपूजन करते हैं। वैसे अधिक सत्तावाला भी महान् है। ब्रह्म सत्ता पारमार्थिकी है। अतएव सर्वाधिक है। अतः ऊर्ध्व है।

कालतः सूक्ष्मत्वात् से अणोरणीयान् बताया। महत्त्वात् से महतो महीयान् कहा। अतिसूक्ष्म सर्वोर्ध्व होता है। अति महान् भी सर्वोर्ध्व होता है। होम्योपेथी दवा सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होती जाती है। पोटेन्सी-पावर बढ़ती जाती है। हजार पावर, लाख पावर, करोड़ पावरकी दवा होती है। अर्थात् सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। अन्तमें केवल शक्ति शक्ति रह जायेगी। उसे अनन्त पोटेन्सी कह सकते हैं। वह अनन्त शक्ति है।

अव्यक्त मायाशक्तिमत्। विशुद्ध ब्रह्म न मूल है। न कार्य है।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

उसका कोई कार्य नहीं। अर्थात् वह किसी का कारण नहीं। तथा किसीको उत्पन्न करनेके लिये आवश्यक करण भी उसके पास नहीं है। वह असंग है। कार्य एवं कारण तो मायोपाधिक हैं। यहां ऊर्ध्वको मूलरूपेण वर्णन किया है। अतएव वह शुद्ध ब्रह्म नहीं किन्तु अव्यक्त, माया, शक्ति आदि नामवाली प्रकृतिसे युक्त है। अर्थात् यह ईश्वरका स्वरूपनिर्देश है। शुद्ध ब्रह्म ऊर्ध्व भी नहीं है। ऊर्ध्व-अधः यह सब शबलमें ही संभव है। कालतः सूक्ष्मत्व-अर्थात् काल ब्राह्मरूप है। पुरुष आन्तररूप है। यह अन्तर्बाहिर्भाव भी शबल ब्रह्ममें है। ब्रह्म तो सर्वपरिमाणरहित है। "अस्थूलमनण्व-ह्रस्वमदीर्घ" ऐसा बताया है।

मायोपाधिक चैतन्यसे जगतका जन्म है। अतएव पारमार्थिक सत्ता भी नहीं है। गीता भाष्यमें संसारवृक्षका वर्णन प्रयोजन इसीलिये वैराग्यार्थ बताया। यहांपर नचिकेता स्वयं वैराग्यपरिपूर्ण होनसे कार्यवर्णन द्वारा कारणक्रमसे ब्रह्मस्वरूप को जताना विवक्षित है। अर्थात् साधारण साधनके लिये जगत् को मायामय बताना। वैराग्यका कारण है। वैराग्यपानको जब यह बात बतायी जाती है तब वह अधिष्ठानके बिना भ्रमसंभव न होनेसे जगद्भ्रमाधिष्ठानरूपसे ब्रह्मावलोकन करने लगते है।

ऊर्ध्वमूलः। परमेश्वरका प्राथमिक ज्ञान परोक्षरूपसे ही होता है। परमेश्वर है इस प्रकार शब्दसे परोक्षज्ञानमात्र होगा। उसका दृढ़ीकरण अनुमान के द्वारा होता है। ये दो अलग-अलग दो प्रमाण हैं। कहीं-कहीं तो अनुमानगर्भ श्रुति होती है। "यथैव कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" यह अन्तर्निर्हितानुमान श्रुति है। वैसे ऊर्ध्वमूल इत्यादि श्रुति भी है। कार्यनिरूपणसे कारणका अनुमान होता है। श्रुति स्वयं भी ऊर्ध्वतत्त्वको समझा रही है। यह संसार एक वृक्ष है। वृक्ष है तो मूल अवश्य होगा ऐसा अनुमान होता है। उस पर श्रुतिने स्वयं भी कहा-ऊर्ध्वमूलम्। ऊर्ध्व क्या है और क्यों वह ऊर्ध्व है इस पर भाष्यकारने सूक्ष्मत्वादि कई कारण बताये। पूरे जगतका कारण तो ऊर्ध्व अवश्यमेव होगा। क्योंकि कार्यपेक्षया कारण ऊर्ध्व होता है। कार्यपेक्षया कारण सूक्ष्म होता है। जैसे पटापेक्षया तन्तु और तन्तु की अपेक्षा परमाणु। पूरे जगतका कारण पूरे जगतसे पहले भी और बाद भी रहेगा। जैसे सुवर्ण कुण्डलसे पूर्व भी और बाद भी रहता है। तब जगत्कारण नित्य भी होगा। कार्यपेक्षया कारण व्यापक होता है। अतः महत् भी होगा। इस प्रकार कारणत्वादिमें ब्रह्म ऊर्ध्व सिद्ध हुआ। सोर्ध्वं बोलनेसे ही अर्थात् मूल आ जायेगा। क्योंकि वृक्ष कहा तो मूल होना ही चाहिये। अतः मूल शब्दका प्रयोग विशेष अर्थ के लाभार्थ है।

महर्षि पाणिनिने मूल धातुको स्वतन्त्र बताया है। अर्थनिर्देश भी किया है।

'मूल प्रतिष्ठायाम्'

यहां प्रतिष्ठाका मान, प्रतिष्ठा आदि अर्थ नहीं है। प्रतितिष्ठत्यत्रेति प्रतिष्ठा। यहां प्रतिष्ठित रहे वह प्रतिष्ठ है। जहां स्थिर हो जाय। जैसे मूर्तिकी प्रतिष्ठा होती है। उसका मतलब वहांसे फिर वह हिलेगी नहीं। संसारका मूल माने प्रतिष्ठ जहां हो वह ऊर्ध्वमूल है। कहां प्रतिष्ठा है, कैसी प्रतिष्ठा है इसे प्रथम व्यष्टिमें समझना चाहिये। उसके बाद समष्टि में समझा जायेगा। व्यष्टिमें विचार करते समय प्रथम यह शरीर आयेगा। यह काया हमारा शरीर है। और यह प्रपञ्चरूपी संसार परमेश्वरका शरीर है। यह शरीर अन्नमय कोश है। प्रथम इसे ही आत्मा। समझो-

"स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः"

यह अन्नरसमय ही आत्मा है। पुरुष है ऐसा क्यों समझना? इसलिये कि अत्यन्त अज्ञानी पुत्र धनादिको ही आत्मा समझ बैठा है। तभी तो धनके पीछे मरमिटनेको तैयार होते हैं। "पुत्रादिषु विकलेषु सकलेषु चाहमेव विकलः सकलः"। बेटा सेठ बन गया तो माँ-बाप अपनेके सेठ-सेठानी समझते हैं। भले बेटा पैसा न दे। और बेटा गरीब हुआ तो काशी के एक संतने अपने को ही गरीब बोलना शुरु किया था। इससे अच्छा है शरीरको आत्मा समझो। फिर आगे बढ़ो।

"अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः"

यह शरीर आत्मा नहीं। यह आत्माका कोश है। आत्मा इसके अंदर है। जैसे म्यानको पहले समझ रहे थे यह तलवार है। बादमें मालूम पड़ा यह म्यान है इसके अंदर तलवार अलग है। वह कौन? प्राणमय। शरीर कटे फटे तो भी जिंदा रहते हैं। प्राण ही आत्मा है। इसके बाद और आगे बढ़ना है।

"अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः" ।

प्राण भी आत्मा नहीं है। यह भी कोश है। क्योंकि प्राणको मैं रोकता हूं, चलाता हूं। मैं इससे अलग हूं। तब उसके अंदर मन दिखाई पड़ा। मन ही तो प्राणको रोकता छोड़ता है संकल्पोंकि द्वारा। फिर आगे विचार किया तो लगा मन भी आत्मा नहीं, यह भी कोश है। इसके अंदर जो विज्ञान है वही आत्मा है।

"अन्योऽन्तर आत्माविज्ञानमयः"

विज्ञानप्रकाशमें मनकी गतिका पता लगता है। योगी सम्यक् निरीक्षण करते हैं। साधारण लोग भी मेरा मन चञ्चल है, मेरा मन स्थिर है इत्यादि समझते हैं। अतः मन भी कोश है, इसके अंदर विज्ञान ही आत्मा है। विचार आगे बढ़ा तो मालूम हुआ कि विज्ञान भी आत्मा नहीं है। यह भी कोश है। सुषुप्तिमें विज्ञान नहीं रहता। और मैं रहता हूं, आनन्द भी रहता है। अतः आनन्द ही आत्मा है। जाग्रदादिमें भी उसीसे आनन्द होता है।

"अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः"

आनन्दावस्थामें न विज्ञानकी जरूरत है, न मन की और न प्राणादिकी। अतः विज्ञानमय भी कोश है। और आगे बढ़े। तब विचार आया कि यह आनन्द घटता बढ़ता है। मैं घटता बढ़ता नहीं हूं। मैं तो एकरस हूं। यह भी कोश ही दीखता है। वह क्या होगा?

श्रुतिमें सभी कोशोंको पक्षीके रूपमें वर्णन किया है। आनन्दमयका भी वैसा ही वर्णन आया है।

"तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः
प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"

आनन्दमयका प्रिय-प्रेमास्पद पुत्रदारादि शिर है। खेलकूद आदि मोद आमोद दक्षिण पंख है। खाना-पीना आदि प्रमोद उत्तर पक्ष है। बाह्य पुत्रादिज सुख शिर है। कर्मेन्द्रियज सुख मोद है। ज्ञानेन्द्रियज सुख प्रमोद है। और आनन्द अर्थात् प्रतिबिम्बानन्द या मानसानन्द आत्मा है। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठिा। अन्तिम प्रतिष्ठा स्थिररूप ब्रह्म है। इन पांचोंको आत्मत्वेन ग्रहण कर छोड़ने के लिये बताया है।

"एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य
एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य
एतमानन्दमयमात्मनमुपसंक्रम्य"-

प्रथम बाह्य पुत्रादिसे ऊपर उठकर अन्नमय को आत्माके रूपमें पकड़ो। फिर अन्नमयको छोड़कर प्राणमयको आत्माके रूपमें पकड़ो। फिर उसे

छोड़कर मनोमयको आत्माके रूपमें पकड़ो। फिर मनोमयको छोड़कर विज्ञानमयको आत्माके रूपमें पकड़ो। फिर विज्ञानमयको छोड़कर आनन्दमयको आत्माके रूपमें पकड़ो उसके बाद। इतना कहकर श्रुति छोड़ देती है। उसके बाद कहनेका मतलब उसे छोड़ो। परंतु पकड़नेका कुछ नहीं है। क्योंकि आगे वह स्वयं है। वह कौन? जो सर्वाधार है। वही ब्रह्म है। यह ब्रह्म कौन है? इसे जीवसाक्षी कहते हैं। इसी क्रमसे अब समष्टिमें देखना है। यह स्थूल जगत् अन्नरूप है। भोग्य रूप है। प्रथम इसे ब्रह्म समझा। "अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्"। परंतु यह तो क्षणभङ्गुर है। वृक्षवत् व्रश्चनीय है। अतः प्राणपर पहुंचे। इसे प्राणात्मा कहते हैं। यह क्रियाशक्तिप्रधान है। इसे वायु, मातरिश्वा आदि कहते हैं। यह प्राणमयस्थानापन्न है। इसके बाद सूत्रात्मा आ जाता है। वही मनोमय स्थानापन्न है। कामसंकल्पादि सबमें मन अनुगत है। सूत्रवत् है। मनसा पश्यति, मनसा श्रृणोति इस प्रकार सर्वत्र मनका अनुगमन है। वैसे सूत्रात्मा भी सर्वत्र अनुगत है। इसके बाद हिरण्यगर्भ आता है। वह विज्ञानमयस्थानापन्न है। वह ज्ञानप्रधान है। प्राण क्रियाप्रधान, मन अनुगतिप्रधान और विज्ञान ज्ञानप्रधान है। इसके बाद आनन्दमयको मानना है तो मायाप्रतिबिम्बको मानना पड़ेगा। जिसको ईश्वर कहते हैं। परंतु श्रुति "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इस प्रकार एक ही कहकर समाप्ति कर देती है। क्योंकि जीवके समान ईश्वर के आनन्दमयमें प्रमाण नहीं है। तैत्तिरीय द्वितीय वल्ली त्वंपदार्थमें जीवसाक्षीरूप प्रतिष्ठा ब्रह्म है। तत्पदार्थमें ईश्वरसाक्षीरूप ब्रह्म प्रतिष्ठा है। वह ऊर्ध्व मायाशक्ति विशिष्ट ब्रह्म है। मूल अर्थात् प्रतिष्ठा जिसकी वही ऊर्ध्वमूल है। यह सारा संसार ऊर्ध्वमूल है। यद्यपि व्यष्टि शरीरमें भी इस रीति ऊर्ध्वमूलता हो सकती है। जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। तथापि यहां तत्पदार्थमुख्यविवक्षा है। भाष्यादिमें वैसी ही व्याख्या की गयी है। समष्टिमें भी यदि आनन्दमय रखना हो तो कल्पना हो सकती है। प्रियभक्त सिर है। सृष्टिसंहारलीला मोद है। सर्वज्ञत्वाद्यानन्द प्रमोद है। मायाप्रतिबिम्बित आनन्द आत्मा है। और ईश्वरसाक्षी ब्रह्म प्रतिष्ठा है। इसप्रकार व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ होनेसे अधिक विचार नहीं करते। अर्थात् विराट् पुरुषके पांच कोशोंके बारेमें अधिक चर्चा अन्यत्र नहीं की गई है।

कारण आत्मको शरीरादिसे पृथक् साक्षात्कार करनेके लिये पंचकोशविवेक किया जाता है। ईश्वर पंचकोशात्मक है उसका भी विवेक करना है इत्यादि बातें उपस्थित नहीं होतीं। फिर भी मूल समझनेके लिये उपयोगी होनेसे बताया।

'मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा मूलम्।' ऐसा निरुक्तमें बताया है। बीजसे अंकुरका मोचन होता है। बीजके अंदर अंकुर सिमटा पड़ा है। जैसे अंडेमें पक्षिशावक, गर्भमें मनुष्यशिशु आदि। चारों ओरसे लपेटकर उसे बन्धनमें मानों रखा है। मूल वह है जो उस बन्धनसे अंकुर एवं पक्षिशाव आदिको मुक्त करे। चूहेदानीमें चूहा बन्धनमें आ जाय तो चूहेदानी स्वयं उसे बन्धनमुक्त करती नहीं है। जालमें फंसी चिड़ियाको जाल स्वयं मुक्त नहीं करती। किन्तु बीजान्तःस्थित अंकुरको बीज मुक्त करता है अतः बीज मूल है। जड़ पानीको खींचकर अंकुरमें मुक्त करता है। तिल अपने अंदर अव्यक्तरूपसे स्थित तेलका मोचन करता है। अतः अंकुरादिका मूल बीज है। कुण्डलादिका मूल सुवर्ण है। तैलादिका मूल तिल है। समस्त संसारको-जो अव्याकृत रूपसे अपनेमें स्थित है मूल ब्रह्म मोचन करता है। इसलिये वह मूल है। 'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे"। समस्त व्यक्त पदार्थ अव्यक्तसे ब्राह्म दिनमें बाहर जाते हैं।

मोषणाद्वा। सामान्य बीजसे यह विलक्षणता है। बीज अंकुरका मोचन करेगा। मोषण नहीं करेगा। हां सुवर्ण कुण्डलका मोषण करेगा जब वह गलाया जायेगा। हां जड़रूपी मूल अंकुरमोषण भले न करे किन्तु जलादिका मोषण वह करती है। जल-खाद आदिका मोषण कर, जलत्व-आदिका मोषण कर स्वसमानाकार बनाती है। अव्यक्त व्यक्तका मोषण करेगा। "रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके" ब्रह्माजीके रात्रिके समय अव्यक्त नामरूपप्रपञ्चका अपहरण कर अपने अंदर छिपाकर रखता है। अतएव नाशयति नहीं मोषयति, मुष्णाति-अपहरण करता है। 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" पूर्ण जगतका पूर्णत्वापहरण किया। तब मूल पूर्ण ही रह जाता है। कुण्डलमेंसे कुण्डलत्वका अपहरण किया तो सुवर्ण ही तो अवशिष्ट रहेगा।

मोहनाद्वा। वह मूल मोहित करनेवाला है। वहां लोगोंकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। इस बातको भागवतमें इसप्रकार बताया है–

"जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् ।

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ॥"

ब्रह्मसे जगतका जन्मादि है। तत्तु समन्वयात्। अन्वयसे विधितः जिसका बोध होता है। इतरतः निषेधसे भी जिसका बोध होता है। फिर भी बुद्धिमान् उसमें मोहित हो जाते हैं। गीतामें कहा है–

"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः"

कर्म अर्थात् क्रियमाण प्रपञ्च तथा अकर्म-सर्वानुगत अक्रियमाण सदधिष्ठान क्या है इस विषयमें क्रान्तदर्शी भी मोहमें पड़ जाते हैं। मूल छिपा रहता है तो उसके स्वरूपका पता नहीं चलता। तब अकर्ममें कर्म क्या है यह मालूम नहीं पड़ता। और भी बात यह है कि वह अपने आकर्षणसे मोहित करता है। भगवान् कृष्णको मोहन· कहते हैं। व्रजमोहन प्रसिद्ध है। ब्रह्मकी मोहनताका परिणाम है कि जानकर अनजानमें सब उसी ओर आकृष्ट होते चले आ रहे हैं। अपनी नित्यास्तिताकी ओर लोग आकृष्ट हैं। "मा न भूवं हि भूयासम्" यही तो नित्यास्तिता है। अपनी निरङ्कुश सर्वज्ञताके लिये सब लालायित हैं तथा अपरिच्छिन्न आनन्द की ओर दौड़ लगा रहे हैं।

एक ओर इसप्रकार अनजानमें ही आकर्षण हो रहा था। दूसरी ओर वह क्या है इस विषयमें व्यामोह हो रहा था। तब ऋषि कहने लगे–

"किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता ।

जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः ॥"

अवश्य ही कोई बृहत् है। कारण है। वह क्या है? हम कहांसे उत्पन्न हुए? किससे हमारी जीवन स्थिति है? और अन्तमें हम किस वास स्थानकी ओर जाते हैं और निलीन होते हैं। हमारी मूल संप्रतिष्ठा क्या है? ऋषियोंकी सभासी लगी थी। सब लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार बोलने लगे, सोचने लगे–

"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा

भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।

संयोग एषां न त्वात्मभावाद्

आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥"

एक ऋषिने कहा-मुझे लगता है कि काल ही ब्रह्म है, जगत्कारण है। सभी कालमें होते हैं। समयपर धान होते हैं। समयपर पकते हैं। समयपर आमपर बोर लगते हैं, फल उत्पन्न होते हैं। काल जबतक नहीं आता तबतक कोई किसीका बिगाड़ नहीं सकता। हाथी चींटीको मार नहीं पायेगा। काल आनेपर चींटी हाथीको भी मारेगी।

"समय एव करोति बलाबलम्"

विश्वविजयी अर्जुनको भीलोंने लूट लिया था। अतः काल ही ब्रह्म है।

दूसरे ऋषि कहने लगे—स्वभाव ही कारण है। वस्तुओंमें ऐसा स्वभाव है कि यथासमय जनमते मरते हैं। स्वभावसे अग्नि गरम है। स्वभावसे जल ठंढा है। स्वभावसे ईक्षुरस मीठा है। नीमरस कड़ुआ है। काल मीठा कड़ुआ नहीं करता। स्वभावतः पशु घास खाते हैं। सिंह हिरणको खाते हैं। मछलियां पानीमें तैरती हैं। इसमें काल भला क्या करेगा? अतः स्वभाव ही ब्रह्म है बृहत् है।

तीसरे ऋषि बोले-नियति कारण है। नियति भाग्यको कहते हैं। भाग्य कर्मपरिपाक है। जैसा कर्म किया वैसा परिणाम होता है। व्यष्टिकर्मसे प्रतिव्यक्ति जन्ममरण सुखदुःखादि होते हैं। समष्टिभाग्यसे सूर्यचन्द्रादि पैदा होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादि सभी स्वकर्मानुसार अधिकारस्थित हैं। अतः मूल कारण कर्म है। स्वभाव भी कर्मसे ही बनता है। अतः कर्म ही ब्रह्म है।

चौथे ऋषि कह रहे थे—यदृच्छा ही कारण है। मतलब कोई निश्चित कारण नहीं है। सभी संसार आकस्मिक है। कारणको ढूंढना व्यर्थ है। "यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतं" इस प्रकार युद्धप्राप्तिको यादृच्छिक बताया। कर्मफल नहीं। यदि कर्मफल है तो अनादि कालसे ही पूरा पूरा नियत होगा। तब पुरुषार्थका महत्त्व ही खतम होगा। कमसे कम पुरुषार्थको यादृच्छिक ही कहना होगा। अन्यथा उसका भी कारण कर्म हो तो पुरुषार्थका कोई स्थान नहीं रहेगा। पांचवें ऋषि कहने लगे—भूत ही कारण है। इनका जैसा-जैसा संयोगवियोग होता है वैसे वस्तु बनती है। यदृच्छासे कुछ हो तो आकाशमें भी पुष्प होना चाहिये। भूत उपादानकारण है। अन्य निमित्तकारण हो सकते हैं।

छठे ऋषिने कहा-पुरुष जीवात्मा ही कारण है। जीवात्मा घट पटादि बनाता है। वैसे किसी जीवात्माने जगत बनाया। जो योगादिसे शक्ति प्राप्त कर लेता है। वह सृष्टिस्थिति आदि कर लेगा। हम भी योगाभ्यास आदि करें तो ब्रह्म बन जायेंगे।

सातवें ऋषिने कहा–जो पूर्वोक्त छः पक्ष हैं इन सबका संयोग मात्र है। आत्मभावसे नहीं। "यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह" इत्यादि आत्मलक्षण इनमेंसे किसीका भी नहीं। काल भी निमित्त है। वस्तुका स्वभाव भी होता है। पूर्वकर्मरूपी भाग्य भी काम करता है। पुरुषार्थको स्थान देनेके लिये कुछ यादृच्छिकभी मानना होगा। ये भूत उपादान हैं ही। और आत्माके बिना होना क्या है? किन्तु ये सब पूर्ण कारण नहीं। बोले कि आत्मभाव जीवात्मामें तो है। है अवश्य। किन्तु पूर्ण आत्मता नहीं है। यदि पूर्ण आत्मता होती तो अपने सुख और दुःखका निमन्त्रण क्यों नहीं कर पाता है? कोई दुःख नहीं चाहता फिर भी दुःख होता है। सभी सुख चाहते हैं। लेकिन मिलता नहीं है। इसप्रकार सभी पक्ष निर्णायक नहीं हो सके तो–

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः करणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥"

सबने सोचा कि ध्यानयोग लगावें। सबने ध्यान लगाया। यद्यपि ध्यानयोग प्रतिव्यक्ति भिन्न होनेसे यह संमिलित प्रयत्न नहीं था। परस्पर चर्चा तो संमिलित प्रयास जरूर था किन्तु ध्यान प्रतिव्यक्ति सीमित है। तथापि प्रतिव्यक्ति परीक्षणमें नतीजा एक ही सामने होता हो तो प्रामाणिकत्व-बुद्धि हो जाती है। अतएव संवादको निर्णायक बताया है। श्रीमदाचार्य आनन्दगिरि लिखते हैं–

"विद्यते चोपनिषदर्थे गीतासंवादः" ।

उपनिषदका श्रूयमाण अर्थ ही यथार्थ है। इसमें निर्णायक गीता संवाद है। अतः सबने ध्यान योग लगाया। सबको एक ही अनुभव हुआ। उन्होंने प्रथम देवात्मशक्तिको देखा। फिर अनुभव हुआ कि वही देव काल एवं

आत्मारूपी मुख्यकारणद्वयसहित अन्य समस्त कारणोंके अधिष्ठाता होकर एक मात्र मूल बना बैठा है। अधिका अर्थ है–सर्वोपरि। तिष्ठतिका अर्थ है स्थिर हो स्थित है। उसकी शक्ति है माया। उस माया शक्तिके साथ वह सर्वाधिष्ठाता बना हुआ है। अधिष्ठाता ही प्रतिष्ठा रूप है। वही मूल है।

उर्ध्वमूल-ऊर्ध्वं मूलं यत्तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयम-व्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः । वृक्षश्च व्रश्चानत् । जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः ॥

यस्य मूलं भवेदूर्ध्वं विष्णोर्हि परमं पदम् ।
सोऽव्यक्तादिस्थावरान्तो वृक्षो जन्माद्यनर्थभृत् ॥ १ ॥

कार्य जगतका वर्णन श्रुति करती है। उससे कारणका ज्ञान सुगम होता है। वृक्ष है तो मूल जरूर होगा। कारण हमेशा ही कार्यसे व्यापक एवं सूक्ष्म होता है। चार तोलेका कुण्डल है तो सोना दो तोलेका नहीं हो सकता। हमेशा सभी कारण कुछ अधिक ही रखते हैं। बीस आदमी भंडारेमें खाने वाले हैं तो पचीस आदमीका भोजन बना देते हैं न कि पंद्रह आदमीका। थोड़ा बचे तो बादमें काम आ जायेगा किन्तु कम हो गया तो क्या होगा? और संसारभरके सोनेसे कुण्डल बनाया भी नहीं जाता। पूरा संसार कार्य हो गया तो कारण उससे कम तो होगा ही नहीं। इतनेसे कारणकी व्यापकता सिद्ध हो जाएगी। बल्कि कुछ ज्यादा ही होगा। अतएव वेदका कहना है-अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। कुण्डलापेक्षा सुवर्णपिण्ड। सुवर्णपिण्डापेक्षा सुवर्णकण सूक्ष्मसूक्ष्मतर होता ही है। अतएव सर्व-संसारापेक्षा सूक्ष्मत्व भी सिद्ध होता है। इस प्रकार महत्त्व (व्यापकत्व) सूक्ष्मत्व एवं कारणत्व सिद्ध होनेसे मूलको ऊर्ध्व बताया। भगवान् भाष्यकारने इसपर विस्तृत व्याख्या लिखी है। वह भी विशिष्टरूपसे द्रष्टव्य है।

यह ऊर्ध्व आखिर क्या है? ऊर्ध्वका श्रेष्ठ, ऊपर आदि अर्थ है। यह तो विशेषणमात्र है। मूलका रूपक विशेषणमात्र नहीं होता। चन्द्रमुखी कहा जा सकता हैं पूर्णिमामुखी नहीं। कमलनयन कहा जाता है। फूल्लनयन नहीं। इसपर भाष्यकार कहते हैं–"तद्विष्णोः परमं पदम्"। यह पहले मन्त्रोंमें आया है–"विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति

तद्विष्णोः परमं पदम्॥" विष्णुका परमपद अर्थात् परम अधिष्ठान जो संसारमार्गकी समाप्ति पर आता है। वह परमार्थचैतन्य ही ऊर्ध्व है। मैत्रायणीयमें है—

"अथ यदुज्ज्वलत्येतद् ब्रह्मणो रूपम् ।
तद्विष्णोः परमं पदं च । एतद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् ॥"

जो जगतमें प्रकाशमान है वही ब्रह्मका रूप है। वही विष्णुका परम पद है। यही रुद्रका रुद्रत्व है।

"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम्"

व्यापक विष्णुका परम पद (पूर्वोक्त ब्रह्मरूपको) सदा वेदवेत्ता सूरि देखते हैं। जैसे आकाशमें चिड़िया, सूर्य आदिको निर्व्यवधान देखते हैं। अविद्याव्यवधान उनका नष्ट जो हुआ है। कौन है वह सूरि?

"तद्विप्रासो विमन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
यद्विष्णोः परमं पदम्"

विप्र अर्थात् वेदवेत्ता। विमन्यु विशेषतः स्तुति करनेवाले। जागृवांसः अप्रमादी। उस ब्रह्मरूपात्मक विष्णुके परमपदको समिन्धते-प्रकाशित करते हैं।

ऊर्ध्वमूलवाला संसार क्या है? अव्यक्तादिस्थावरान्त। संसारमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म अव्यक्त । स्थूलातिस्थूल है स्थावर । अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त सारा जगत् संसार है। अव्याकृतावस्थावाला जगत् ही अव्यक्त है। वही बीजशक्ति है। उससे महत्तत्त्व, अहंकारादिक्रमसे समस्त जगत् उत्पन्न होता है। यही ऊर्ध्वमूल संसारवृक्ष है। भाष्यकार आगे कहते हैं—वृक्षश्च, व्रश्चनाद्। यह संसार वृक्ष है। केवल रूप ही नहीं। किन्तु वृक्ष शब्दका यौगिक अर्थ इसमें घटता है। कैसे? व्रश्चनाद् वृक्षः।

'व्रश्च' धातु है। उससे वृक्षशब्द भी होता है। वृश्चिक शब्द भी होता है। वृक्षमें कर्मप्रत्यय है। वृश्चिकमें कर्तृप्रत्यय है। जो काटा जाता है सो वृक्ष है। जो काटता है वह वृश्चिक है। वृक्षमें "उणादयो बहुलं"से कर्तृप्रत्यय माना जा सकता है। यह संसारवृक्ष काट डालो तो अच्छा है। नहीं तो वह स्वयं तुमको काटेगा। बिछूके समान डंक मारेगा। लोग इस संसारवृक्षके साथ चिपक गये हैं। संगका अर्थ है सम्बन्ध करना, चिपकना। कौनसा सङ्ग

है? साधारणतया आसक्तिमात्र समझते हैं। किन्तु संग यहांपर ऐसा चिपक जाना है कि अलग करना मुश्किल है। जैसे गोंदसे लिफाफा चिपकाया तो अलग नहीं होता। यहां संग यही प्रथम है—अन्योन्याध्यास। दूसरा संग है— धर्माध्यास। प्रथम इस शरीरको ही लो। इसके साथ लोग ऐसे चिपक गये हैं कि शरीरको ही आत्मा कहने लगे। और आत्माको शरीर समझने लगे। यही अन्योन्याध्यास या तादात्म्याध्यास है। तादात्म्य हो गया, तद्रूपता हो गयी। तब धर्माध्यास प्रारंभ हुआ। शरीरको चेतन समझने लगे। कभी हाथ सों जाय तो कहते हैं—हाथमें चेतना नहीं है। असलमें चेतना थी किन्तु अब नहीं रही ऐसा उसका अर्थ होता है। यही आत्मधर्मका शरीरमें अध्यास है। फिर शरीरधर्म, जन्ममरण, गौर दीर्घ ह्रस्व आदिका आत्मामें भी अध्यास किया। इस प्रकार शरीरमें चिपक गये संसारमें चिपक गये।

परमेश्वरने इस वृक्षको पहले ही काट रखा था। परंतु इन जीवों ने उससे चिपक कर उसे अखण्ड कर दिया। भगवान् कहते हैं—"तस्मान्नार्हा वयं हन्तुम्।" यह जीव अमर है। श्रुति कहती है—"अमृतस्य पुत्राः" अमृत परमात्माके पुत्र क्यों मृत होने लगे? ये अमृतपुत्र देहादिपर चिपक गये तो कैसे भगवान् उसको टुकड़े करते। भगवान् स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं। ज्ञानसे परमात्माने जगतको बाधित किया फिर भी जोड़ रखा है। क्योंकि जीव चिपका है। उसको टुकड़ा करना हो तो जीवके साथ काटना पड़ेगा। जैसे मार्कण्डेय शिवलिंगपर चिपके थे।

मृकण्डुने शंकरका तपकर पुत्र प्राप्त किया था। षोडशवर्ष मात्र विद्वान् पुत्र चाहिये कि शतायु मूर्ख पुत्र? इसप्रकार मृकण्डुने षोडशवर्ष विद्वत्-पुत्रको मांगा। जन्मतिथिपर वे रोते थे। क्योंकि आयु एक-एककर नष्ट हो रही थी। केवल मार्कण्डेयकी नहीं, सबकी बात है। किन्तु अल्पायु होनेसे मार्कण्डेयका स्पष्ट दीख रहा था। एक रोज जन्मतिथिपर रोते हुए मातापितासे पूछा और जगह तो जन्मतिथिपर खुशी मनायी जाती है। आप मेरी जन्मतिथिपर क्यों रोते हैं? मृकण्डुने कहा—तुम्हारी उम्र अगले वर्ष सोलह साल पूरी हो जाएगी और उतना ही शंकरने जीवन दिया है। मार्कण्डेय उसीसमय तप करने गये। अन्तिम जन्मतिथिपर यमराज आये तो मार्कण्डेयने संमुखस्थापित शिवलिंगको पकड़ा। यमराजने ध्यान नहीं दिया और शिवलिंग सहित मार्कण्डेयको रस्सीसे बांधा इधर शंकर क्रुद्ध रूपमें प्रकट हो गये और यमराजको ही अपने त्रिशूलका शिकार बनाया।

'तमन्तकान्तं भजे'। इसीप्रकार अमृतपुत्रोंने संसारको गलेसे चिपकाकर रखा है। परमात्मा यमराजके समान कुछ नहीं कर सकता। अतएव बाधित छेदित संसारको भी ज्योंका त्यों रखा।

यह तो ठीक है कि हमने देहके साथ सम्बन्ध जोड़ दिया है, तादात्म्य किया है। किन्तु संसारके साथ तो नहीं किया है। वृक्षादिके साथ तादात्म्य तो नहीं किया है। उनको परमात्मा क्यों नहीं काटते? किया है। वृक्षादिके साथ भी किया है। वहां भी तादात्म्य कर रखा है। वृक्ष, गृह, घटादि सबके साथ तादात्म्य कर रखा है। कैसे? 'श्रद्धत्स्व सोम्य'। यह श्रद्धा बिना नहीं समझ सकते हैं। जीवात्माका स्वरूप क्या है? यह पहले देखो। जीवात्माका स्वरूप है—सत् चित्त आनन्द। वह वस्तुतः सखण्ड है या अखण्ड? अखण्ड है। तब गृहमस्ति भाति प्रियं, वृक्षोऽस्ति भाति प्रियः इसप्रकार सच्चिदानन्द तादात्म्य गृह वृक्षादिके साथ कर रखा है कि नहीं? अतएव परमेश्वर ज्ञानसे बाधित होनेपर भी अबाधित होकर वे सब स्थित हैं। इसप्रकार हमने संसारवृक्षको न काटा और न काटने दिया। इसका परिणाम यही कि अब संसारवृक्ष हम तुमको काटने लगा है। हमने यह पढ़ा है किं आफ्रीकाके जंगलोंमें मांसभक्षी शेर आदि ही नहीं, मांसभक्षी वृक्ष भी हैं। उसके पाससे कोई जानवर जाये तो उनकी डालियां झुक जाती हैं और जानवरको, आदमीको काटता चूसता है।

क्या-क्या वह वृक्ष करता है? भाष्यकार कहते हैं—जन्म जरा मरण-शोकाद्यनेकानर्थात्मकः। जन्मदुःखं जरादुःखं मृत्युदुःखं तथैव च। जन्मदुःखको लेकर शास्त्रकारोंने बहुत कुछ वर्णन किया है। आचार्य कहते हैं—

> आदौ कर्मप्रसङ्गात् कलयति कलुषं मातृकुक्षौ स्थितं मां
> विण्मूत्रामेध्यमध्ये क्वथयति नितरां जाठरो जातवेदाः।
> यद्यद्वै तत्र दुःखं व्यथयति नितरां शक्यते केन वक्तुं
> क्षन्तव्यो मेऽपराधः शिव शिव शिव भो श्रीमहादेव शंभो।

पूर्व पूर्वतर जन्मोंमें किये कर्मोंका ही परिणाम है कि हम माताके उदरमें पहुंचते हैं। कर्मप्रसङ्गात् अर्थ है कर्मके प्रसङ्गसे। प्रसङ्ग क्या? मौका? नहीं। यहां प्रसङ्गका अर्थ है—प्रकृष्ट संग। संगका मतलब क्या है? आसक्ति या और कुछ? यहां संगका अर्थ सम्बन्धमात्र है। कर्मके साथ कौनसा सम्बन्ध है? सम्बन्ध है—कर्तृत्वसम्बन्ध तथा फलभोक्तृत्वसम्बन्ध। ये दोनों भाव न हो तो कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। कर्म तो होते रहते हैं। कर्मके बिना कोई भी

क्षणभर भी नहीं रह सकता। किन्तु कर्ममें कला होनी चाहिये। कर्मोंको होने दो। कर्तृभोक्तृभावको आने मत दो। "योगः कर्मसु कौशलम्"। बिजलीसे काम लो। किन्तु उसे छुओ मत। तेजाबसे काम लो। किन्तु कपड़ेमें न गिरे। हाथमें न लगे। रंग लगाते समय ब्रश ऐसा पकड़ो कि हाथमें, कपड़ेमें न गिरे। कर्म करते समय ऐसा करो कि उसका आध्यासिक सम्बन्ध आत्मामें न आये।

"पश्यन् श्रृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्
अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्
उन्मिषन् निमिषन्नपि
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्"

करना, धरना, देखना, सुनना ये सब इन्द्रियोंके काम हैं। मैं अकर्ता, अभोक्ता हूं ऐसा जब समझते हैं तो—

"लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा"

कर्मपरिणाम पुण्यपापसे वह लिपायमान नहीं होगा। परंतु उस स्थितितक पहुंचना सरल काम नहीं है। कर्तृभोक्तृभाव आ ही जाता है तो प्रसंगका होना अनिवार्य होता है। उसीका परिणाम है हम मातकुक्षिमें आ गये। कैसा वह कुक्षि है? क्या कोई स्वच्छ एयरकंडिशनवाला कमरा है? नहीं कलयति कलुषम्। कलुषपूर्ण है। मलिनता भरा है। उसीका स्पष्टीकरण है— विण्मूत्रामेध्यमध्ये। पेटमें भला क्या वस्तु है? वहां जों भी पहुंचे वही विष्टा और मूत्र बन जाता है। शरीरमें ताकत उसीका है। कभी दस्त हो जाय, दस पंद्रह बार संडास जाना पड़ जाय तो देखो क्या हाल होता है। उसी मलमूत्रके मध्यमें एक दिन, दो दिन नहीं, दस महीनेतक पड़े रहना पड़ता है। आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं उस समय बालकको कुछ बोध नहीं रहता। किन्तु पूर्वजन्म परजन्मके बारेमें अत्यन्त अनभिज्ञ ये माताके उदरकी बात भी क्या जाने? यह विज्ञानका विषय नहीं है। यह अध्यात्म विद्याका विषय है। वैज्ञानिक मस्तिष्कनाड़ियोंमें ही घूम रहे हैं। शास्त्र मस्तिष्कसे ऊपर अन्तःकरणकी बात कर रहे हैं। अन्तःकरण मस्तिष्कमें स्थित हैं। अतः मस्तिष्कके साथ अन्योन्याध्यासमात्र है। अन्तःस्थित

क्रियाशक्तिका प्रभाव शरीरमें आता है। वैसे अन्तःकरणका प्रभाव मस्तिष्कतन्तुओंमें आवे यह अलग बात है। गर्भावस्थामें वर्तमान सुखादिकी तो क्या बात है। भूतकाल, पूर्वजन्मकी बात भी याद आती है। माताके उदरके कष्टमें वर्तमान दुःख एवं पूर्वजन्मकी गलतियोंको लेकर यह जीवात्मा प्रतिज्ञा करता है–

"यदि योन्यां प्रमुञ्चामि सांख्यं योगं समाश्रये ।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ॥"

सांख्यचिन्तन-आत्मतत्त्वशोधन करनेकी प्रतिज्ञा की। योगसमाधिकी प्रतिज्ञा की। परंतु हुआ कुछ और ही।

"आगतो मनुजजन्मना सनादात्मतत्त्वममलं परीक्षितुम् ।।
आगतश्च निपुणं समावहं रत्नकाञ्चनधरापरीक्षणम् ।
आगतो भुवि समाहितं मनः संविधातुमखिलान्तरात्मनि
आगतश्च समदः समादधां पुत्रदारविभवाद्यनात्मनि ॥"

आत्मतत्त्वका सम्यक् ईक्षण करने हम आये। किन्तु आनेके बाद बड़ी निपुणताके साथ रत्न, सोना, जमीन आदिका ही समीक्षण परीक्षण किया। आये थे हम अपन मनको परमात्मामें समाहित करनेके लिये किन्तु आनेके बाद पुत्र, दार, धनादिमें ही मनको एकाग्र किया।

गर्भदुःखके समय प्रतिज्ञा कर लेते हैं किन्तु पुनः विस्मृति हो जाती है। कैसा-कैसा दुःख है? "क्लथयति नितरां जाठरो जातवेदाः" जठराग्नि उसे पकाती रहती है। जठरानल मामूली नहीं है। जिसे तुम पत्थरपर नहीं पीस पाते उसे जठराग्नि गला डालती है। मांसाहारी क्या-क्या खा जाते हैं सब जठराग्निमें पच जाता है। उसी जगह गर्भस्थ बालक है। उसे बचानेके लिये परमात्माने जरायुका निर्माण किया। उससे बचाव है। फिर भी जठरानल ताप तो अनिवार्य है। न वहां हवा है। न प्रकाश। कलकत्तेमें एक छोटे कमरेमें डेढसौ अंग्रेजोंको मारा। वे घुटकर मर गये। भारतका जो वायसरोय पहले होता था उसे प्रथम वही स्थान दिखाया जाता था जिससे वह भारतीयोंके साथ रुक्ष व्यवहार न करे। वहां थोड़ा बहुत हवा प्रकाश रहा। किन्तु इन गर्भाशयमें भरनेवालेके साथ कौन रुक्ष व्यवहार करे? यह कर्मफलदाता परमेश्वर है। घोर दुःखानुभवके कारण ही जनमता

हुआ शिशु रोता हुआ बाहर आता है। वह रोता है। तब मुकद्दमा ईश्वरपर चलाना तो दूर लोग हंसते हैं, प्रसन्न होते हैं। बल्कि बालक न रोता हो तो अपशुकन मानते हैं। कोई-कोई कहते हैं—गोस्वामी तुलसी-दासादि कई संत जनमते समय नहीं रोये थे। उसे लोगोंने अपशकुन माना। महान् दुःख भोगना पड़ेगा ऐसा मत है लोगोंका। सुननेमें आता है कि शुकदेवजीको सब देवता कहने लगे—अवतार सब लेते हैं, आप क्यों नहीं लेते? कबीरपंथी कहते हैं—शुकदेवजीने कहा मैं अब माताके उदरमें नहीं जाऊंगा। तब नदी किनारे स्वयं एक बालक होकर पड़ गये। इस दन्तकथामें सत्यता कितनी है यह तो कथाकार जाने। पर इतना अंश सर्वसम्मत प्रतीत होता है कि गर्भदुःख बहुत भारी है। भले इस समय याद न हो, पर अनुभवकालमें तो महाक्लेश है ही। बचपनमें जो दुःख हुए भले आज उसकी हम परवाह न करें किन्तु अनुभवकालमें तो असह्य होता ही है। यही तो भगवन्माया है।

जन्मदुःखके बाद जरादुःख बताया है। यह भी मामूली नहीं है। बुढ़ापा महान दुःखदायी है। वह स्वरूपतः भी दुःखरूप है और दुःखदायी भी है।

"वार्धक्ये चेन्द्रियाणां विगतगतिमतिश्चाधिदैवादितापैः
पापै रोगैर्वियोगैरनवसितवपुः प्रौढिहीनं च दीनम् ।
मिथ्यामोहाभिलाषैर्भ्रमति मम मनो घूर्जटेर्ध्यानशून्यं
क्षन्तव्यो मेऽपराधः शिव शिव शिव भो श्रीमहादेवशम्भो ॥"

बुढ़ापेमें इन्द्रियोंकी बात है कि कर्मेन्द्रियां गतिहीन तथा ज्ञानेन्द्रियां मतिहीन हो जाती हैं। इसीको भर्तृहरिजी भी कहते हैं—

"गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता नष्टा च दन्तावलिः
दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता................" इत्यादि ॥

वृद्धावस्थामें आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक सभी ताप एक साथ आ जाते है। पापफल रोग एवं नाना वियोग होने लगते हैं। शरीर रोग है। वियोगदुःखा मानस है। ये दोनों आध्यात्मिक हैं। शतवर्षजीवी होनेकी प्रबल इच्छा होती है। बल्कि उससे भी ज्यादा। "भूयश्च शरदः शतात्।" किन्तु इस बीचमें कितने वियोग होंगे सोच लो। सभी शतवर्ष-जीवी नहीं होते। पुत्रपौत्रोंमें एकाध भी चल बसा तो किनता क्लेश होता

है। फिर शतवर्षायुमें कहना क्या? जीनेके मोहसे अगर दीर्घ जीवन जियो तो बेकार है। क्लेशमात्र है। हाँ, लक्ष्यप्राप्तिके लिये हो तो अलग बात है। तब तो आध्यात्मिकादि ताप भी अकिंचित्कर होते हैं। हां, फिर बुढ़ापेमें उठना चलना सब मुश्किल। जवानीमें कैसे दौड़ते थे, फुरती थी, सोच-सोचकर भी क्लेश। दीनता ऊपरसे–"वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनः" बूढ़ेकी आदत बोलते रहनेकी, शासन करनेकी होती है। किन्तु सुनता कोई नहीं तो घूंट पीकर रहना पड़ता है। बूढ़ापेकी बात तो छोड़ों, बूढ़ापेकी निशानी भी आती है तो लोग दुःखी होते हैं। बाल सफेद होने लगा तो महान क्लेश। उसीसे वैर करते हैं। अरे! वह तो दूत है, कृतान्त नहीं है। वह कानमें कहने आया कि यमराज आ रहे हैं, सम्हल जाओ। लेकिन उसीपर लोग टूट पड़ते हैं। तुमको पूछा किसने कि यमराज आ रहा है कि नहीं? दूतपर आक्रमण करना पाप बताया है। बल्कि रावणने भी हनुमान अंगद आदिपर आक्रमण नहीं किया। यहां तो कृतान्तदूत सफेद बालको उखाड़कर फेंक देते हैं। सफेद बाल देखकर विश्वसुन्दरी रो पड़ी थी चिन्ताके कारण फिर तो दो सालमें पूरे बाल पक गये। बेचारी उसी चिन्तामें मर गयी। मिथ्या मोह मिथ्या अभिलाषायें उसी समय आ घेरते हैं और सभी अपूर्ण ही रह जाते हैं। हे प्रभो, हे शंकरबाबा क्षमा करो, क्षमा करो मैं क्या-क्या अपराध कर रहा हूं आपका ध्यान नहीं कर पा रहा हूं।

मरण दुःख तो एक अनिवार्य तथ्य है। मरणसे सभी भयभीत होते हैं। पर वह होकर रहेगा। अपने मरणसे भय होता है। स्वकीयोंके मरणसे शोक होता है। परंतु संसारका असली स्वरूप यही है। "मृत्युसंसारवर्त्मनि" समन्तात् सरणं संसरणं संसारः । इसीसे छुटकारा पानेके लिये प्रयत्न किया जाता है–

"जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये"

जरामरणमोक्ष तभी संभव है जब जन्मसे मुक्ति पावे। परंतु इन दोनोंसे छुटकारा नहीं मिलता जब तक संसार दृष्टि रहती है।

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च"

ऐसा चक्कर लगा ही रहता है।

प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद् दृष्ट-स्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदः

"प्रतिक्षणान्यथाभावो गन्धर्वनगरोपमः।
कदलीस्तम्भनिःसारो नानामतविकल्पितः" ॥ २ ॥

संसारका स्वरूप पहचाना जायं तो दो प्रकारसे परमात्मा मूल का ज्ञान होता है। कार्यसे कारणज्ञान होगा। दूसरा इसका पोल खुलने तक ही इसमें चिपके रहेंगे। स्वरूप मालूम पड़ गया तो इससे दूर हो जायेंगे विरक्त हो जायेंगे।

"द्रष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमन्त्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥"

यह मायासंसार पुरुषको तब तक ही आकर्षित करता है जब तक देखा नहीं जाता। यह तो दूरसे बड़ा रम्य दीखता है।

"दूरस्था भूधरा रम्याः"

ऐसी प्रसिद्धि है। पर्वत दूरसे सुन्दर लगेगा। किन्तु पासमें पहुंचो तो कांटे कंकड़से परेशान होंगे। पग-पगमें कांटे मिलेंगे, फिसलेंगे, गिरेंगे, पड़ेंगे।

"यह संसार है भूरेका लड्डू
जो खाये सो पछताये जो न खाये सो पछताये"

पर्वतकन्दरायें देखनेमें अच्छी लगीं। चढ़कर वहां गये। तब लगा कहां आ फंसे। इसलिये संसारनिरूपण हो रहा है। भाष्यकार विशेष वर्णन कर रहे हैं।

यह प्रतिक्षण अन्यथा स्वभाव होता है। प्रतिक्षण परिणामी होता है।

"बाल्यं विद्युत्समं न क्षणमिव विगतं लक्षितं यौवनं च
प्रायो यातं क्षणेन द्रवति च चपलं शेषभागोऽपि तस्य।
आहन्तुं चान्तकालस्त्वरयति नितरां वृद्धभावेन सार्धं
नो वा पश्यामि पश्यन्नपि खलु भगवन् देवमायाभिभूतः ॥"

कुछ दिन पहले बालक होकर खेल रहे थे। मधुर-मधुर स्मृतियां हो रहीं हैं। किन्तु बिजलीके समान चमककर वह चल गया। स्वभाव बदल गया,

स्वरूप बदल गया। संसारकी दृष्टि बदल गयी। यौवन भी जा रहा है। किसीका आधा गया किसीका लगभग पूरा गया और किसीका पूरा ही। स्वरूप फिर बदला। चमक ढमक समाप्त हो गया। दर्प ढीला हो गया। अब वृद्धताके साथ अन्तिम समय भी बहुत दूर नहीं है। यौवन भी बिजलीके समान चमककर जा रहा है। कहीं गया। एकक्षणके समान पूरी आयु समाप्त होने जा रही है। अतएव यह प्रतिक्षण परिणामी है।

यह माया मरीचिजल एवं गन्धर्वनगरके समान है। हम उत्तर कर्णाटकमें पैदल यात्रा कर रहे थे। एक जगह मरुभूमि जैसा दृश्य दिखाई पड़ा। प्यास लगी थी। दूरसे हमने देखा दो एक माईल दूरीं पर सरोवर है। चलो, वहां जाकर पानी पियेंगे। कुछ सोचता हुआ आगे बढ़ता जा रहा था। दो माईल निकल गये। फिर देखा तो सरोवर नहीं दीख रहा था। अरे! पीछे छूट गया? पीछे देखा तो सचमुच सरोवर दीखने लगा। पछतावा हुआ। पीछे क्या अब चलना! लेकिन आगे देखा तो दूसरा सरोवर दिखाई दिया। हमने कहा–चलो वहां जाकर पानी पी लेंगे। अबकी बार प्रमाद नहीं करूंगा। आगे बढ़ता गया, बढ़ता गया। देखते देखते गायब हो गया– "दृष्टनष्टस्वरूपः" यह बात यथार्थ उतरी। पहले कभी हमने मरीचि जल सुना नहीं। देखा भी नहीं था। आश्चर्य हो रहा था। पीछेकी ओर सरोवर दीख रहा था। दो माईल आगे गांव था। वहां जाकर फिर पानी पिया। वहां पूछा मैंने–यहां रास्तेमें पीछे सरोवर था? वे बोले-कोई सरोवर नहीं है, आपको भ्रान्ति हुई होगी। हम समझ गये। पर हिरण ऐसी मरुभूमिमें पड़ जाय तो आगे पीछे दौड़-दौड़कर मर ही जाता है। इसलिये इसका नाम मृगतृष्णा भी रखा है। इतना सुन्दर अपनेको बुद्धिमान मत समझो। हम भी मृगतृष्णाके पीछे भटक रहे हैं। अभी सुख मिलेगा, अभी सुख मिलेगा, इस आशामें दौड़ रहे हैं।

पहले हम दिल्ली, पंजाबमें बहुत कथा किया करते थे। दिल्हीमें कई साल बार बार करते रहे। एक लड़का कथामें कभी-कभी आता था। मैंने कहा-रोज क्यों नहीं आते हो? उसने कहा पहले मेरे भाई आदि साथमें थे। उनके अनुरूप चलना पड़ता था। अब हमने नया कारोबार शुरु किया है। रास्तेपर आ जायेगा। तो रोज कथामें आऊंगा। दूसरे साल पूछा तो

उसने कहा अकेला हो गया हूं, शादी होनेवाली है। फिर चैनसे श्रवण करूंगा। तीसरे साल बोला शादी तो हो गयी है, घर फर्निचर आदि करवाना है। रहने लायक तो बनाना होगा। फिर एक साल गया तो बोला बच्चा हो गया। घरवाली कहती है मैं नौकरी करूंगी। बच्चेका भी ख्याल रखना पड़ता है। फिर कई सालतक मैं दिल्ली गया नहीं। आठदस साल बाद गया तो पता चला बच्चे लोग स्कूल जाते हैं। दो चार साल बाद गया तो बोला कि इन सबकी शादी हो जाएगी। तो फिर छुट्टी है। मैंने समझ लिया कि अब यमराजके घर जानेकी ही इसे छुट्टी मिलेगी। इसपर हमने एक श्लोक लिखकर वैराग्य मन्दाकिनीमें जोड़ा–

"विद्यालाभाय पूर्वं तदनु वसतये जीविकायै निजाना-
मुद्वाहायात्मजायास्तनयभरणतश्चेति संजायमानैः।
नित्यं चिन्तावितानैर्नवनवविपदैः सर्वमायुर्नयन्तः
सर्वेऽप्यागामिशान्तेर्दधति तु जगति प्राणमाशावलम्बाः॥"

आगे छुट्टी मिलेगी, आगे शान्ति मिलेगी इसी आशामें सब जी रहे हैं। यही मरीचिजल है। आगे आगे जल दीखता है। यही संसार है। गन्धर्वनगरका भी दृष्टान्त दिया है। गन्धर्वनगर हमने कैलासके मार्गमें देखा। राक्षसतालसे आगे बढ़े तो कैलासपर्वत दीख रहा था। उसके नीचे ऊंचे ऊंचे महल दीख रहे थे। हरियाली थी। हम सबने सोचा वहां अच्छा शहर होगा या कसबा होगा जैसे बदरीनारायणमें। वहीं जाकर खूब नहायेंगे, धोयेंगे, खायेंगे, पियेंगे। चार पांच माईल दीख रहा था किन्तु तीन दिनकी यात्राके बाद कुछ समीप पहुंचे तो न महल है, न झोपड़ा है। एक प्रकारके छोटे पौधे थे जो दूरसे देखनेपर धनीभूत होकर वृक्षोंकी भ्रान्ति पैदा करते थे। हां कहीं, कहीं पानीके झरने थे। नहाओ और खाली। पर उस बरफीली ठंढीमें नहावे कौन? यही दृष्ट नष्ट स्वरूप गन्धर्वनगर है। अन्तमें अभावरूप होगा।

"यत्रानेको निवसति गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र चान्ते न चैकः।
इत्थं चेमौ रजनिदिवसौ दोलयन् वापि चाक्षौ
कालः काल्या सह बहुकलः क्रीडति प्राणिशारैः॥"

हमने अनेकस्थानोंमें यह प्रत्यक्ष दर्शन किया। भारतमें परिक्रमण करते समय एक जगह एक बार गया। (शायद वह जन्मस्थान ही था, पता नहीं।) उस घरमें बहुत सारे सदस्य थे। किन्तु उस समय पूरे घरपर एक ही बाकी बचा था। वहांसे दस माईल दूरीपर एक दूसरा घर था। पहले एक ही था। फिर कुटुम्ब बढ़ा। बीसों हो गया। परंतु बादमें पूर्णतया शून्य हो गया। कालकी यह शतरंज खेल है। कच्छके नारायणसरोवरकी अपार महिमा शास्त्रमें लिखी है। पर जब मैं गया था सब विराण पड़ा था। अब सुनते हैं कि बस रहा है। वृक्ष कभी हराभरा होता है। किन्तु एक बार पूरा ही सूख जाता है। अभाव हो जाता है। इसीलिये पूर्वमें भी कहा–

"सस्यमिव पच्यते मर्त्यः सस्यमिवाजायते पुनः ।"

सभी अन्तमें अभावरूप होने वाले हैं।

यदा मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निदलितः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रखरमकरग्राहनिलयाः ।
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपदैरपि धृता
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥"

अन्तमें ये हिमालय, मेरु आदि भी टूटनेवाले हैं। बड़े-बड़े ये समुद्र भी सूखेंगे। यह पृथ्वी भी तारेके समान टूटकर समाप्त होगी। शरीरकी तो बात क्या है? सात आश्चर्य दुनियामें प्रसिद्ध हैं। रूसमें कोई घंटा है। चीनमें कोई दीवार है। इत्यादि। किन्तु एक आठवां भी विलक्षण आश्चर्य बताया है। क्या?

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यमसादनम् ।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥"

प्रतिदिन लोग यमसदन जा रहे हैं। दूसरे कहते हैं–वह मरा, अच्छा हुआ। कांटा निकल गया। लेकिन यह बोलनेवाला यह नहीं सोचता कि एक दिन मैं भी जाऊंगा तो लोग मुझे भी ऐसा कहेंगे आंध्रप्रदेशकी बात है। वहां धर्मस्थान है। उसके महंतने ट्रस्ट बनाया तो बीस ट्रस्टियोंको बनाया। उनमें एक अच्छा भगत भी था। मैंने कहा इतने सारे ट्रस्टियोंका कभी एकमत होगा? उनको भी लगा कि यह कलहका बीज है। एकने कहा महंतको कोई चिन्ताकी बात नहीं है। आखिर एक मात्र ट्रस्टी रहेगा तो भी काम

चल सकता है तो ये ट्रस्टी मरेंगे तो भरती दूसरेकी नहीं करना। तब आखिर एक दो ही रहेंगे। फिर जरूरतके अनुसार भरती करना। महंतको भी बात जँची। मुझे हंसी आयी। मैं कुछ बोला नहीं। क्योंकि छूटी वाणी तीर हो जाती है। एक सालके बाद यह युक्ति बतलानेवाला जो था वही प्रथम मरा। हमने महंतसे कहा इसप्रकारकी दीर्घदर्शिता अपना कुल्हाड़ा अपने पांवपर वाली बातको भी चरितार्थ करती है।

कुछ दिन पहले एक जवान डाक्टर मेरे पास आया। वह कहने लगा कि वेदान्तकी बहुत सारी बातें मुझे जँचती हैं। मोक्ष पानेकी इच्छा मुझे भी है। उसके लिये आवश्यक हुआ तो संन्यास लेनेको भी मैं सोचता हूं। किन्तु कुछ बातें वेदान्तकी समझके बाहरकी हैं। एक यह कि विनाशी होनेसे ये सारी वस्तुएं हेय हैं यह समझमें नहीं आता। दूसरा-संसार दुःखरूप है यह समझमें नहीं आता। घर विनाशी है तो क्या बनावें नहीं? धन विनाशी है तो क्या कमावे नहीं? भोजन विनाशी है तो खावे नहीं? यह शरीर विनाशी है तो इसकी रक्षा न करें? दूसरा यह है कि भोजनसुख, शयनसुख, मानसुख इत्यादि अनुभवसिद्ध है। तो ये सब क्यों दुःखरूप मानेंगे? दुःखरूप मानकर निराश होना क्या उचित है? मैंने उस डाक्टरको कहा कि शास्त्रोंमें ऐसा लिखा नहीं है कि तुम मकान मत बनाओ, पैसा न कमाओ, भोजन न करो, शरीरकी रक्षा न करो। "शरीर-माद्यं खलु धर्मसाधनम्" यह भी शास्त्रवचन है। "वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय" यह भी शास्त्रवचन है। बात इतनी ही है कि इन विनाशी वस्तुओंके स्वभावपर-विनाशस्वभावपर ख्याल न कर आवश्यकतासे अधिक इनपर लोग चिपक गये हैं जिसके कारण एक तो अध्यात्ममें प्रवृत्ति नहीं होती। थोड़ी बहुत प्रवृत्ति होनेपर भी प्रगति नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें बताया है–

"मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै देहिनां ध्रुवः॥
तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत्स तथाविधः।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम्॥"

वसुदेवजी कंसको समझा रहे थे—मृत्यु तो देहके साथ ही तैयार होकर आयी है। चाहे आज मरो चाहे सौ वर्ष बाद। अतः इस शरीरको लेकर किसीका द्रोह न करो। अध्यात्ममार्गमें आनेके लिये यह अनिवार्य है। आत्माका क्षेम तभी संभव है। अन्यथा बहुतसे ऐसे मिलेंगे कि मरणपर्यन्त द्रोह भावना छोड़ते नहीं और आत्मचिन्तन नहीं कर पाते। क्योंकि दूसरेकी बुराई सोचोगे तो इसकी प्रतिक्रिया सामनेवालेकी क्या होगी और उसका प्रतिकार क्या हो सकता है यह भी सोचते रहना पड़ेगा।

"अनित्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्"

यह पहले कहा जा चुका है। नित्यकी प्राप्तिके लिये अनित्यका उपयोग करो। गृहादि सभी उपयोगी हैं। किन्तु जिस अंशमें उपयोगी हैं, उसीपर ध्यान देना चाहिये। किन्तु असली वस्तुको नुकसान पहुंचानके काममें नकलीका उपयोग नहीं करना चाहिये। अन्यथा—

"यथा किराती करिकुम्भलग्नां
मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम् ।"

वाली बात होगी। अजमिलने कामवश धर्मपत्नीको छोड़ा और वृषलीको अपनाया। वैसे साधारण मानव ब्रह्मको छोड़कर विषयोंके पीछे लगे। सोना फेंककर रोल्ड गोल्ड को पेटीमें सम्हालकर रखना बुद्धिमत्ता नहीं है।

दूसरी बात सारा संसार दुःखरूप है यह डाक्टरको नहीं जँचा था। हमने कहा-दुःख रूप हो या न हो किन्तु उसमें सुखको ढूंढ निकालना कठिन है। सुख प्रतीत होना अलग बात है। सुखरूप होना अलग बात है। इन समस्त सुखाभासोंके उदरमें दुःखभरा है। भगवान् कहते हैं—

"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।"

संसार अनित्य भी है, असुख भी है। उससे विपरीत परमात्मा है। वह नित्य तथा सुखरूप है। उसीका भजन करो। 'अनित्यमसुखं लोकमिमं त्यक्त्वा भजस्व मां" ऐसा कहते, किन्तु 'त्यक्त्वा' न कहकर 'प्राप्य' कहा। इसका अर्थ यह है कि प्राप्त हो रहा है तो कोई बात नहीं। उससे विद्वेष करनेकी जरूरत नहीं। किन्तु सेवा परमात्माकी करो। अनिवार्यको प्राप्त करो। पर उसका भजन, प्रेमतन्मयता उसमें मत करो। संसारमें किसीको निर्दोष सुख आजतक प्राप्त नहीं हुआ है। यह सुख हेममय कुरङ्ग है।

"न भूतपूर्वो न च दृष्टपूर्वो
न श्रूयते हेममयः कुरङ्गः।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः॥"

सुवर्णमय हिरण हमारे पूर्वजोंके जमानेसे भूतपूर्व नहीं है। अन्यत्र कहीं दृष्टपूर्व नहीं। कहीं शास्त्रादिमें श्रुतपूर्व नहीं। फिर भी रघुनन्दनकी तृष्णा सुवर्णमय मृगमें हुई। उस सुवर्णमय रूपसे दीखनेवाले मृगमें अंदरसे राक्षस वर्तमान था। हमारे पूर्वजोंमें किसीको शाश्वतसुख संसारसे मिला नहीं। न अन्यत्र देखा। और न कहीं सुना। जो भी उसे अनुभव कर आता है वह दुःख ही फरमाता है। ऋषिमुनियोंने यही फरमाया। विवेकियोंने यहीं बताया। फिर भी विषयसौन्दर्यसे आकर्षण हो रहा है। कारण यह काल तो अपने विनाशका ही है। उद्धारका नहीं। इस सुखके उदरमें दुःख है. बचपनका सुख सोचकर बिमार वृद्ध दुःखी होता है। हाय मैं कितना अच्छा था, कितना सुखी था। आज मेरी यह क्या दशा हो गयी। मरीनड्राईवमें एक माता थी। उसका एक लड़का था। फिर पंद्रह बीस वर्ष तक कोई लड़का नहीं हुआ। आशा समाप्त हो चुकी थी। पचासवर्ष ऊमरमें एक दूसरा लड़का हुआ। फिर क्या कहना था। खुशी खुशी। दिन रात तो खुशीमें क्षण बन गये। चार पांच साल वह खुशी रही। एक्सडेंटमें वह लड़का मर गया। बस, पांच सालका सुख जिंदगी भरके रोनेमें परिवर्तित हुआ। वह भगवानको कोसने लगी। महात्माओंके पास जाकर रोने लगी। उसको वैराग्यका जो उपदेश दें उसको गाली देने लगी। ये महात्मा हृदयशून्य होते हैं। बीच बीचमें कहे कि परमात्माके घरमें भी इतना अन्याय होता है। यदि लेना ही था तो दिया ही क्यों? हम आशा छोड़कर बैठे थे। क्या जिंदगीभर रुलानेके लिये दिया? उस माईके शब्दोंमें उसका अपना दर्द व्यक्त हो रहा था। किन्तु पांच सालतक लड़का जो जिंदा रहा उस समय उसमें रुलानेका रूप दीखता था क्या? उस सुखके अंदर उदरमें दुःख भरा है यह ख्याल सुखकालमें क्या आया? समस्त सुखोंकी यही हालत है। इसीलिये कहा—

"नष्टं सुखादि हृदि दुःखकरं चिराय"

इसी आशयसे ऋषियोंने दुःखरूप बताया। और सुख जो प्रतीत होता है वह भी आभासमात्र है। वस्तुतः सुख नहीं है। क्योंकि अल्पदिनमें ही वह सामान्य हो जाता है।

बंबईमें एक गुजराती सेठ है। पहले-पहले बंबईमें आकर १५ रूपयेकी नौकरी करता था। हीरा घिसनेका काम करता था। फुटपाथ पर या किसी दुकानके दरवाजे पर सोता था। बेचैनी थी। तकलीफ थी। बादमें उसको चालीमें एक छोटा कमरा मिला। बड़ा खुश हुआ। मानो कि स्वर्ग मिला। थोड़े दिनके बाद वह सामान्य हो गया। संडास जाने, नहाने आदिकी तकलीफ थी। होशियार था। ज्यादा पैसा कमाने लगा। अच्छा रूम लिया। स्वयं भी हीरेके काममें लग गया। बड़ी खुशी हुई, मिठाई बांटी। किन्तु बादमें वह भी सामान्य हो गया। बड़ा फ्लेट खरीदा। लाखपतिसे करोड़पति बनता गया। पर उसका क्लेश अभी तक गया नहीं। सुख फुटपाथ पर सोनेमें जितना उस समय था उतना ही अब भी है। बल्कि उससे कम। उस सेठकी बात छोड़ो। मैं अपनी बात कहूं। साधु बनकर घूमने लगा। जहां तहां रातको सो जाते। कहीं बरसाती नालेके ऊपर पुल जैसे बनाया हुआ रहता है। लोग गिरे नहीं इसके लिये पुलके दोनों ओर थोड़ी दिवार बालकनी जैसे बनाते हैं। वह जिस रोज मिल गया उस रोज भाग्य समझता था। क्योंकि कंकड़में नींद बराबर नहीं आती। यह चूनासिमेंटका प्लेन किया हुआ रहता था अच्छी नींद आती थी। वह नींदका सुख अब राजमहलमें भी कहां मिलनेवाला है? लेकिन अब कहो उसी दिवारपर जाकर सोओ तो नहीं बनेगा। उसमें सुखका आभास था। सभी विषयोंमें सुखाभास ही है। बादमें असुख हो जाता है। इसीलिये भाष्यकार कहते हैं– "कदलीस्तम्भवन्निःसारः"। सत्यनारायणकी कथाके लिये केलेका खंभा लगाते हैं। फल नहीं आया होगा। उस खंभेको छीलो। उसके अंदरसे कुछ निकल आवे। लेकिन आखिरतक ही छिलका रहता है।

यह तो संसारका स्वरूप हुआ। अब इसके अंदर क्या चलता है यह देखो भाष्यकार कहते हैं–"अनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदः" पाखण्डियोंकी कमी यहां नहीं है। कोई धर्मपाखण्ड करता है, कोई अर्थपाखण्ड, कोई

कामपाखण्ड और कोई मोक्षपाखण्ड। इससे भ्रमित हैं सभी। पाखण्डका अर्थ है—

'पालनाच्च त्रयीधर्मः पा शब्देन निगद्यते ।
तं खण्डन्ति ते यत्नात् पाखण्डास्तेन हेतुना ॥'

वेदोक्त धर्म पालनकारी होनसे 'पा' कहलाता है। उसका खण्डन पाखण्ड है। आचार्यके समयमें कापालिक भैरव, बौद्धादि अनेक धर्म ऐसे प्रचलित थे जो वैदिकधर्मका खण्डन करते थे। उसीका अवशेष पशुबलि, नरबलि आदि आज भी हैं। आजकल तो क्रिश्चियन आदियोंका पाखंड विशेष-रूपसे है। आसाममें क्रिश्चियन लोग इसलिये बढ़ गये। क्रिश्चियन पादरी क्या करते थे? कृष्णकी और क्राईस्टकी सीमेन्टकी मूर्ति बनाते। क्राईस्टकी मूर्तिमें अंदरसे लकड़ी रखकर ऊपरसे सिमेंट पोतते। फिर लोगोंके सामने पानीमें डालते। कृष्णकी मूर्ति डूब जाती और क्राईस्टकी मूर्ति पानीमें तर जाती। और बोलते कि कृष्ण डुबानेवाला है। क्राईस्ट तारनेवाला है। इसप्रकार वे बुद्धिको भ्रमित करते। देवदासी प्रथा पाखण्ड है। वैष्णवा-चार्योंके प्रति कुछ वर्ष पहले मुकद्दमा चला था भ्रष्टाचारके लिये। जिसे वे धर्म मानते थे वह प्रथा पाखण्डमात्र है। सभी वेदविरुद्ध हैं।

अर्थमें भी पाखण्ड चलता है। कई सेठोंको हम जानते हैं। वस्तुओंको पहले गायब करत्ते हैं। फिर दाम बढ़ाकर लाखों करोड़ों कमाते हैं। फिर कहीं प्याऊ लगा दिया, मंदिरमें एक घंटा लगा दिय। लोग समझने लगे सेठ बड़ा धार्मिक है। महान् है। धर्मादा ट्रस्ट बनाकर कर भरनेसे बच जाते हैं। पैसा अपना खर्च करते हैं। यह सब अर्थपाखण्ड है। ये धार्मिक कार्य उत्तम हैं किन्तु शुद्ध शुक्लधनसे करे तो उत्तम है। अन्यथा मनमें लक्ष्य कुछ और रहता है तो पाखण्ड हो जाता है।

काममें पाखण्ड होता है। पाखण्डकर रूप आजकल ब्यूटीपारलरके रूपमें प्रकट हो गया है। मनुष्य स्वच्छ दीखे यह ठीक है। अच्छे लगे यह भी ठीक है। प्रभावशाली हो यह भी उत्तम है। किन्तु दुनियाको ब्यूटी दिखाते फिरनेका मतलब कामपाखण्ड है। कई वर्ष पुरानी बात है। राजस्थानका एक राजा इग्लैंड गया। वहां एक नर्तकीका नाच देखकर और उसका रूप देखकर मुग्ध हो गया। उसे अपने साथ भारतमें आकर

रहनेको कहा। उसने स्वीकार किया किन्तु शर्त रखी कि उसके कमरेमें पूर्वसूचनाके बिना असभ्यतासे कभी न आवे। यदि आ गया तो वह उसे छोड़कर वापिस आयेगी और पांच लाख रूपया उसे हर्जाना देना होगा। स्वीकार हुआ। एक दो साल बीते। एक रोज किसी विशेष कामसे मेमसाहेबके यहां राजाको अचानक जाना पड़ा। उसके कमरेके आगे एक बूढ़िया बैठी थी। उससे पूछा मेमसाब किधर है। जवाब नहीं दिया। दूसरी बार, तीसरी बार जब नहीं बोली तो राजाने हंटर हाथमें उठाया। हंटर पड़नेवाली थी कि वह बोल उठी-मैं जाती हूं। पांच लाख रूपये दो। आवाजसे राजाने पहचाना। अरे! यह इतनी बूढ़ी हैं। मुंहमें दांत नहीं, झुर्रिया पड़ी हैं चेहरे पर। कैसा मेकअप करती थी। पांच लाख देना पड़ा। यह कामपाखंड है। क्या उससे कोई बच्चा होनेवाला था? धर्माविरुद्ध काम होना चाहिये। यह धर्म विरुद्ध काम पाखण्डसे हुआ।

मोक्षके विषयमें पाखण्डोंका आरपार नहीं है। सभी मोक्ष देनेका ठेका लेकर बैठे हैं। वेदशास्त्रका स्पर्श नहीं। कोई कहते हैं कंठी बांध लो मोक्ष मिलेगा। कोई कहता है तन, धन, मन, समर्पण करो मोक्ष मिलेगा। कोई कहता है अनन्याश्रयी बनो तो मोक्ष मिलेगा। अनन्याश्रयका अर्थ है– अन्यदेवताको देखो नहीं, अन्यशास्त्रको देखो नहीं, अन्यव्यक्तिको मानो नहीं। सिर्फ हमारे पास आना। और असली अर्थ है–कि हमको ही अर्थ काम प्रदान करना। इसके पीछे कमसे कम दो सौ पन्थ-पन्थायी आजतक हुए हैं। विष्णु पन्थ, शिवपन्थ स्वामीनारायण पन्थ, कबीर पन्थ, घीसा पन्थ आदि। संन्यासी कोई पन्थ नहीं है। यह वैदिक वर्णाश्रमधर्म है।

'ब्रह्मचारी भूत्वा गृही भवेत् ।
गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्'

पचीस वर्ष ब्रह्मचारी रहो। पचीससे पचासतक गृहस्थ रहो। पचाससे पचहत्तर तक वानप्रस्थ रहो। वनका अर्थ है संभजन। वनषणसंभक्तौ। पाचस वर्षके बाद लक्ष्यनिश्चय करो। भजन बचपनसे ही करो। किन्तु उस समय पूरा लक्ष्य बनाना सबके लिये शक्य नहीं है। पचास वर्षके होते ही जीवनको भगवन्मय बनाना शुरु करना चाहिये। पचहत्तरके बाद पूरा समर्पण करो यही संन्यास है।

'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' ।

जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास लो। पूरा समर्पण करो। संन्यासीका अर्थ है जिसने पूरा जीवन परमात्माके लिये समर्पित किया है। किन्तु पन्थायी लोग अपने स्वार्थके लिये संन्यासीकी निन्दा करनेसे भी नहीं चूकते। जो अपने आपमें एक महापाप है।

'दूषयन्तं क्रूरदृशा व्यासः प्रोवाच मण्डनम् ।
मा दूषय यतिं त्यक्तसर्वैषणमनिन्दितम् ॥'

व्यासजीने मण्डनमिश्रको कहा संसारत्यागी यतिकी निन्दा न करो वह घोर पाप है। किन्तु बात यह है कि अर्थ और कामके पीछे मनुष्य अपनी बुद्धिको खो बैठता है। अर्थ कामके पीछे ही ये सारे पन्थ और पन्थायियोका झगड़ा है। यह संसार का स्वरूप है। यहां इसी प्रकार माया मोहवश क्लेशदायी कार्य होते रहते हैं। इसे शुद्ध करना शक्य नहीं है।

तत्त्वजिज्ञासुभिरनिर्धारितेदन्तत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारः अविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवः, अपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धः तृष्णाजलावसेकोद्भूतदर्पो बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः ॥

वेदान्तवेद्यसन्मूलोऽविद्याकामादिबीजकः
ज्ञानक्रियाशक्तिरूपाऽपरब्रह्मादिसाङ्कुरः ॥ ३ ॥
प्राणिलिङ्गलतस्तृष्णाजलसेकावदर्पितः ।

संसार वृक्ष के स्वरूपका विचार करनेपर इसकी असारता मालूम होगी। कदलीस्तम्भवत् निःसार मालूम होगा। तब यहां से लगाव कम होगा तो परमात्माकी ओर चित्त झुकेगा जिसे वैराग्य कहते हैं। तदर्थ श्रुति संसारवर्णन कर रही है। भाष्यकार विशेषरूपसे निरूपण करते हैं।

संसार के बारेमें अनेकविध मतमतान्तर प्रादुर्भूत हुए हैं। पाखण्ड मत फैल गये हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सर्वत्र पाखण्ड व्याप्त हो गया है। तत्त्वजिज्ञासु इन मतोंका कोई स्वरूप निश्चित नहीं कर पाते।

'ध्रुवं कश्चित् सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये
समस्तेप्येतस्मिन्पुरमथन तैर्विस्मित इव'

इस प्रकार पुष्पदन्ताचार्य भी कहते हैं। सांख्यादि कहते हैं सभी ध्रुव हैं, शाश्वत हैं। वैभाषिकादि कहते हैं सभी अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं। नैयायिकादि कहते हैं परमाणु एवं आकाशादि ध्रुव हैं द्व्यणुकादि एवं गुणक्रियादि अध्रुव हैं ऐसे व्यस्तरूपसे ध्रौव्य अध्रौव्य दोनों मानते हैं। जैनादि कहते हैं समस्त वस्तु किसीरूपसे ध्रुव है और किसी रूपसे अध्रुव है। इतने सारे मत आ गये तो सामान्य जिज्ञासु क्या निर्णय करे?

इस पर प्रश्न हुआ कि इस प्रकारके चार मतोंमें वेदांतका एक पांचवां मत और आ जाएगा तो एक विकल्प और बढ़ेगा। उत्तर है-नहीं। वेदान्त किसी का विरोध नहीं करता। गौड़पादाचार्य महाराज यही कहते हैं कि–

"ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥"

आचार्य कहते हैं ये सभी अपनी अपनी कल्पनाके अनुसार ध्रुव अध्रुवादि कहते हैं। आखिर कल्पना ही बड़ी हुई। तब स्वप्नकल्पनाकल्पित ही वस्तु है यही सिद्ध हुआ। कोई कहता है शिवसे बड़ा विष्णु है। दूसरा कहता है विष्णुसे बड़ा शिव है। तीसरा कहता है दोनों बराबर हैं। आखिर ये सभी कल्पनायें हुईं। तीनों परस्पर विरुद्ध हैं। वस्तुमें विकल्प होता नहीं। हम यही कहते हैं कि गगन कल्पित है। हम किसीका विरोध क्यों करें? द्वैतवादी कहते हैं फिर आपका ब्रह्म भी कल्पना ही हुई। नहीं। एक न हो तो दो कहांसे हो? अतः एक तो सर्वानुमत है। हां, शून्यवादी पूछ सकता है कि एक भी शून्य है। परंतु उसे शून्य जाना किसने? शून्यसे जाना? यह तो विप्रतिषेध है। अतः जाननेवालेका कोई निषेध नहीं कर सकता। यदि जाना नहीं तो बोलना निरर्थक हुआ। अतएव वेदान्तका खण्डन नहीं हो सकता। यदि सिद्ध किया जाय तो खण्डन होगा। स्वतः सिद्धका क्या खण्डनमण्डन?

इस पर यह प्रश्न हुआ कि यदि स्वतः सिद्ध अद्वितीय परमार्थसत् एक ही वेदान्तवेद्य है तो यह संसार जो दीख रहा है यह कैसा दीख रहा है? इसका समाधान भाष्यकार देते हैं-अविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवः।

संसारके प्रादुर्भावमें तीन मुख्य कारण हैं-अविद्या, काम और कर्म। अविद्याके स्थूल रूपका वर्णन महर्षि पतञ्जलिने इस प्रकार किया है–

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"

अनित्यको नित्य समझना यह प्रथम अविद्या है। अनित्य कौन है?

"अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं संनिहितो मृत्युः (कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः) ॥

शरीर अनित्य है। किन्तु इसे नित्य किसने समझा? सब जानते हैं कि यह शरीर अनित्य है। बाहरसे जरूर बोलते हैं। दूसरोंको मरते हुए देखकर अपनी मृत्यु का अहसास होता है। किन्तु भीतरसे नित्य समझ रहे हैं। क्योंकि नित्य रहने की इच्छा होती है-"मा न भूवं हि भूयासम्" मेरा अभाव न हो। मैं बना रहूं-यह इच्छा ज्ञानपूर्वक ही होगी। क्योंकि जानाति इच्छति, यतते यह क्रम है। तब अपने नित्यत्वके ज्ञानके विना इच्छा कैसे हो गयी? लोगों के मन जाननेके लिये पूछो तुम मरना चाहते हो क्या? प्रथम तो वह उल्टा कहेगा। क्या तुम मुझे मारना चाहते हो? मेरा मरना देखना चाहते हो? शान्त होनेपर वह कहेगा बूढ़ा होनेपर भी दस-पांच वर्ष और जीना है। परंतु यह दस पांच वर्ष कभी पूर्ण नहीं होंगे। एक सौ आठ वर्षके महात्माकी जन्मतिथि मनाते समय यही प्रार्थना होती है कि और दीर्घायु हों। मार्कण्डेय जैसे सभी चिरायु ही बनना चाहते हैं। किन्तु उपाय न होनेसे निराश होते हैं। शरीर अनित्य है। उसे नित्य समझ रहे हैं। साथ ही उपभोग्य वस्तु को भी नित्य चाहते हैं। विभव-धन हमेशा ही बना रहे यही इच्छा होती है। धनादिनाश कोई नहीं चाहता। परंतु धनादिवैभव कैसा है?

"लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गचपला"

समुद्रमें तरंग उठती है और दब जाती है वैसी ही यह लक्ष्मी भी है। लक्ष्मी पासमें आ जाती है तो मनुष्यका गर्व इतना बढ़ जाता है कि दूसरेको तुच्छ समझता है। यदि उस लक्ष्मीको अनित्य समझते तो क्या गर्व होता? दौलतको इसीलिये महात्माओंने दुलतिया नाम दे रखा है। "मम माया दुरत्यया" की व्याख्या करते समय रलयोरभेद कहकर दुलत्यया कहने लगते हैं। इसीलिये आचार्यको कहना पड़ा–

"मा कुरु धनजनयौवनगर्वं
हरित निमेषात् कालः सर्वम्
मायामयमिदमखिलं हित्वा
ब्रह्मपदं तत् प्रविश विदित्वा"

यहां विदित्वा का दोनोंके साथ अन्वय है। धनादिको काल निमिषमें हर लेगा। यह सब शाश्वत नहीं है यह भी जानो और ब्रह्मपदको भी जानो जो एक मात्र शाश्वत है। नित्यं संनिहितो मृत्युः। मृत्यु रोज रोज एक एक कदम आगे बढ़ता है। छत्तीस हजार कदम उसके हैं। रोज रोज आगे बढ़ता आ रहा है। छत्तीस हजार कदम इसके लिये कहते हैं कि एक सालमें तीन सौ साठ दिन होते हैं और सौ वर्षमें छत्तीसहजार। यही तो मनुष्यकी सबसे बड़ी आयु है। वृन्दावनके गोरिया बाबा रोज रोज यमुना किनारे टोकरीभर पत्थर ले जाकर आसमान पर मारते थे। लोग पागल समझते थे और तमाशा देखते थे। हंसमुख होनेसे कभी कभी अच्छी बात सुनने से लोग कुतूहलता रखते थे। एक रोज चुपचाप यमुना किनारे बैठे थे। लोग़ोंने पूछा-आज क्यों नहीं सिर नाक उसके तोड़ रहे? बोले-आखिर वह आ ही गया। भागा नहीं। एकदम पासमें। बस बीसघंटे की फ्रंटियर है। लोग चले गये। वे शान्त होकर ध्यानमग्न रहे। कुछ श्रद्धालु आये थे। ठीक बीस घंटे बीते और वे चल बसे।" नित्यं संनिहितो मृत्युः"। किन्तु लोग इस रहस्य को नहीं समझते। वे अनित्यको नित्य समझ बैठे हैं।

अशुचिको शुचि समझना यह दूसरी अविद्या है। इस सूत्रके भाष्यमें व्यासजीने एक प्रमाणश्लोक उद्धृत किया है।

"बीजात् स्थानाद् उपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥"

व्यासजी कहते हैं इस शरीरके बीज शुक्रशोणित दोनों अशुचि हैं। बताया है—

"तावद् भवति चाण्डालो यावत् स्नानं न चाचरेत्"

पूर्वार्ध है "तैलाभ्यङ्गे चिताधूमे मैथुने क्षौरकर्मणि।" तेलमर्दन, चिता-धूमस्पर्श, मैथुन और क्षौरकर्म-बाल बनवाना इन कर्मोंके बाद तब तक वह चाण्डाल सम अपवित्र होगा जब तक स्नान न करे। इसलिये व्यासजी

कहते हैं कि इस शरीरका बीज ही अशुचि है। इसका उत्पत्ति स्थान तथा उत्पत्तिद्वार भी नित्य अपवित्र है। इस शरीरका विधारण भी अशुचिसे होता है। वात, पित्त, कफ, मल, मूत्र, शोणितसे यह शरीर टिका हुआ है। ये सभी अशुचि हैं। निष्यन्द भी अशुचि है। पसीना, बलगम आदि सभी अशुचि हैं।

"विभक्तानि केशासृगाद्यानि यस्मा-
दपूतानि यद्योगकाले शुचीनि
तमात्मानमेकं विशुद्धस्वभावं
वयं मन्महे पावनं पावनानाम् ॥"

नापितकी दुकानमें बाल कटे हुए पड़े रहते हैं। उसमें पांव रखना भी पसंद करेंगे? नहीं। क्यों नहीं? जिसे तुमने अपने माथेपर चढ़ा रखा था वह अस्पृश्य क्यों हो गया? नाखून रास्तेमें कहीं पड़ा हो तो छुएंगे? जिसको आजकल इतना संवारते हैं, वनमानुषके जैसे लंबाकर रंग लगाते हैं। खूनकी महत्ता तो कहना ही है चेहरा लालसूर्ख बताते हुए गौरवका अनुभव होता है। वही रास्तमें एक्सिडेंटसे गिरा हो तो, दूरसे ही लोग उससे बचेंगे। यह तो एक एक अंगकी बात है। "स्थान भ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः" कहकर समाधान देंगे। परंतु शरीरमें से चेतना निकल गयी तो? पूरा शरीर ही अपवित्र हो जाता है। उसका स्पर्श करनेवाला नहाये बिना पवित्र नहीं होता। बल्कि उसके कुटुम्बी तो दस दस दिनतक अशौच मनाते हैं। जैसे नित्य एक आत्मा ही है वैसे शुचि भी एक आत्मा ही है। उसके संयोगसे शरीर पवित्र हुआ। उसके संयोगसमवायसे केशादि पवित्र हुए।

दुःखको सुख समझना यह तीसरी अविद्या है। न्यायशास्त्रकार कहते हैं-

"देहः षडिन्द्रियाणि च षड् विषयाश्चापि बुद्धयः षट् च ।
सुखमपि दुःखमपि तथा दुःखं स्यादेकविंशतिधा ॥"

शरीर, छः इन्द्रिय, छः विषय, छः ज्ञान, सुख और दुःख ये इक्कीस दुःख हैं। महर्षि पतञ्जलिका कहना है—

"दुःखमेव सर्वं विवेकिनः"।

सांख्यमतवाले बताते हैं–

"तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति केवलः पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥"

लिङ्गशरीर जब तक है तब तक स्वभावतः दुःख रहेगा। क्योंकि वह त्रिगुणात्मक है और जरामरणकृत दुःख विशेषरूपसे होते हैं। परंतु विपरीत प्रतीति होती है शरीरादिपर इतना मोह है कि इन्हींको सुख माने हुए हैं।

"प्रेमाऽनुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः"

ऐसा आचार्योंका वचन है। और प्रेम शरीरादिमें है। अतएव इन सबको सुखरूप ही मान रहे हैं। इन सबको कभी छोड़ना नहीं चाहते।

चौथी अविद्या है-अनात्माको आत्मा समझना। शरीरादिके विवेकी बारबार विवेक करते रहते हैं कि ये आत्मा नहीं है। फिर भी वह तोतारटन हो जाता है। तोतेको राम राम कितना ही पढ़ा लो किन्तु जहां म्याऊं दिखाई पड़ी कि ट्रें ट्रें बोलना शुरु करेगा। वैसे जहां थोड़ा क्लेश हुआ वहीं शरीरादि आत्मा बन जाते हैं। ये चार अविद्याके स्वरूप हैं। ये ही संसारबन्धनमें मुख्य कारण हैं।

काम का अर्थ है कामना। यह भी संसारका कारण है। भागवतादिमें कहा है–

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥"

यह कामकामी शान्त नहीं होता। लोग सोचते हैं कि विषयोंपभोगसे काम शान्त होगा। किन्तु विपरीत है। विषयोपभोगसे कामना बढ़ती जाती है। जैसे अग्निको शान्त करने उसमें घी डालने लग जाय वैसा ही है। काम, अभिलाषा और लोभ तीन हैं। स्त्रीपुरुषेच्छा काम है। शब्दस्पर्शादीच्छा अभिलाषा है। धनादिकी इच्छा लोभ है। इनमें काम सामयिक है। "वयसि गते कः कामविकारः"। विषयाभिलाषा भी इन्द्रियां जब तक तेज हैं तभी तक है। किन्तु लोभ तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है।

"यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥"

दुनियाभरके सभी धनधान्य एकत्रित होकर मिल जाय तो भी एक की भी तृष्णा पूर्ण न होगी। वह आगे स्वर्गादिलोकके विषयोंकी ओर झांकेगा।

"वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥"

मुहंपर झुर्री पड़ी, बाल सफेद्र हो गये। शरीर शिथिल हो गये। वृद्धता हो गयी। किन्तु मन जवान ही रहता है। तृष्णा कभी बूढ़ी नहीं होती।

तीसरा संसारबीज कर्म है। हम जिस प्रकार कर्म करते हैं वैसा ही फल मिलता है। फूलका झाड़ लगाया तो फूल मिलेगा। कांटेका झाड़ लगाया तो कांटा मिलेगा। कर्म समाप्त होनेपर संसार ही समाप्त हो जायेगा।

"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥"

कर्मसे ही संसारबन्धन है। विद्या से बन्धविमोचन होता है। इसलिये विद्वान् कर्म नहीं करते। करते हुए भी नहीं करते। "तस्य कर्तारमपि मां विद्धकर्तारमव्ययम्" "हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते" इत्यादि बताया है।

संसारके ये तीन बीज बताये। अविद्या, काम और कर्म। इनका स्थूल सूक्ष्म दो रूप है। अविद्याका स्थूल रूप बताया-अनित्यको नित्य देखना इत्यादि। सूक्ष्मरूप है संस्कार। सुषुप्ति अवस्था में यद्यपि अनित्य नित्य आदि कोई देखता नहीं। तथापि उसका सूक्ष्मरूप संस्कार रहता है। उठते ही वही पुनः शुरु होता है। वैसे प्रलयोत्तर सृष्टिमें भी है। अतः बीजकारण अविद्यासंस्कार समझना चाहिये। कामका स्थूलस्वरूप बताया काम, अभिलाषा एवं लोभ। उसका सूक्ष्मरूप है-वासना। बालकमें कामादि प्रत्यक्ष न हो तथापि वासनारूपसे वह रहता है। कर्मका स्थूल रूप है प्रत्यक्ष यज्ञादि एवं हिंसादि। उसका सूक्ष्म रूप है पुण्यपाप। स्थूलकर्म तो तुरंत नष्ट होगा। किन्तु अदृष्ट पुण्यपाप फल पर्यन्त है। इन तीनोंका सूक्ष्मरूप सुषुप्ति, जागरण एवं प्रलयसृष्टि सर्वत्र व्याप्त है। किन्तु स्थूलरूपमें फरक है। अविद्या पूरे सृष्टिकालमें प्रत्यक्ष रहेगी। कामका स्थूलरूप कादाचित्क

है। कर्मका स्थूलरूप तो क्रियाकालमें ही रहेगा। फिर हमेशा के लिये गायब होगा। फिर उसका फल ही सामने आयेगा।

यहांतक संसारवृक्षका स्वरूप बताया। अब उनके अवयव, शाखा, पल्लव, पुष्पादिको देखें। इसका प्रथम अंकुर हिरण्यगर्भ है। जिसको अपर ब्रह्म एवं ब्रह्मा भी कहते हैं। मनुस्मृतिमें बताया है–

"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥"

वही प्रथम शरीरधारी के रूपमें श्रुतिमें वर्णित हुआ है। उसीको पुरुष भी बताया है। भूतोंका आदि कर्ता वही है। पुराणोंमें उसीको ब्रह्मा बताया है। वह ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति से परिपूर्ण है। सूक्ष्म समष्टि शरीर ही हिरण्यगर्भ का शरीर है। तथापि उपासनार्थ स्वेच्छामय हिरण्मय शरीर भी माना गया है। वह प्रथम सूक्ष्मतररूप होता है। वही फैलनेपर व्यष्टि लिङ्गशरीररूप होता है और संसारी प्राणी होते हैं। वह सूक्ष्म होता है। व्यष्टि सूक्ष्म है। समष्टि सूक्ष्मतर है। वही फरक है। जैसे प्रथम अंकुर सामान्यरूपसे होता है फिर फैल जाता है। इसलिये श्रुतियोंमें बुद्धितत्त्व और महत्तत्त्वको अलग बताया है। आगे यह बात आयेगी। पहले भी आ चुकी है। "मनसस्तु पराबुद्धिः बुद्धेरात्मा। महान् परः महतः परमव्यक्तं" इत्यादि। जैसे पुष्पोंकी कलियां और पुष्प। कलियोंमें भी दल अलग अलग होते हैं। किन्तु पुष्पमें कुछ स्थूलता आती है। अतएव हिरण्यगर्भ अतीन्द्रिय है। किन्तु बुद्धि अतीन्द्रिय नहीं। मनोग्राह्य है। यहां एक विशेषता यह है कि पुष्परूप होनेपर भी कलिका स्वस्वरूप से रहेगी। अर्थात् हिरण्यगर्भ अपने रूपमें रहेगा। दूसरी बात यह है कि कलिका होनेपर भी ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति पूर्णरूपसे रहेगी। बाह्याकार या तदाधार लिङ्गमें ही सूक्ष्मता और सूक्ष्मतरता का भेद रहेगा। ज्ञानशक्ति हिरण्य- गर्भ है वही महत्तत्त्व है। क्रियाशक्ति प्राण है वही मातरिश्वा है। व्यष्टि में ये दोनों अन्तःकरण में स्पष्ट है।

इस संसारवृक्षका पोषण क्या है? मस्तक ऊंचाकर कैसे खड़ा है? तृष्णाजलावसेकोद्भूतदर्पः। आगे तृष्णासे मूलपोषण बतायेंगे। यहां तो स्कन्धादि पोषण बताया जा रहा है। अवयववर्णनके मध्यमें प्रसङ्गागत है।

सूक्ष्म लिङ्गवर्णनोत्तर स्थूलकी ओर आगे बढ़ते हुए कहते हैं भाष्यकार कि पतझड़ के बादमें इसमें नये नये कोंपलें आने लगते हैं। क्या है वह? बुद्धिन्द्रियविषय-ज्ञानेन्द्रियविषय शब्दस्पर्शादि। अथवा बुद्धिका विषय एवं इन्द्रियोंका विषय प्रवाल है। "गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः" इस प्रकार गीता में बताया है। नये कोंपलसे वृक्षका वर्ण अरुण हो जाता है। उनसे वृक्ष रंग जाता है। वैसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये विषय हैं। इन विषयोंसे ही राग होता है। इससे संसारवृक्ष शोभायमान दीखता है।

प्रवालको विषय बताया। प्रवाल अत्यन्त कोमल होता है। जरा भी हाथ लगे तों टूट जाएगा। विषय भी क्षणभङ्गुर है। उसका सौन्दर्य भी थोड़े समयके लिये होता है। वही प्रवाल बादमें पत्ते बनते हैं। तो आकर्षण नहीं रहता। जैसे अंधे को नयी आंख मिलती है तो सारी दुनिया आश्चर्यकारी दीखेगी। धीरे धीरे आदत पड़ जाती है तो आकर्षण समाप्त हो जाता है। वैसे विषय भी पुराणे हो जाते हैं तो आकर्षण कम हो जाता है। किन्तु आगे श्रुति स्मृति आदिको पत्ते बतायेंगे। ये विषय ही कैसे वेदादि होंगे? सुनो। आखिर श्रुति स्मृति आदि भी तो शब्द ही हैं। क्या सामगायन शब्दरूपी विषय नहीं है? फरक इतना ही है कि वेदशास्त्रादि परिष्कृत पत्रविशेष हैं, दिव्य हैं। अतएव रक्षक होनेसे छेदनीयमें नहीं आता।

श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः सुखदुःखवेदनानेकरसः प्राण्युपजीव्यानन्तफलः तत्तृष्णावसेकप्ररूढजटिलीकृतदृढबद्धमूलः, सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वेलिताऽऽस्फोटितहसिताकृष्टरुदित हा हा मुञ्च मुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवः

शब्दस्पर्शादिविषयप्रवालः शास्त्रधीदलः ॥ ४ ॥
यज्ञादिकर्मकुसुमः सुखदुःखरसोर्जितः ।
स्वर्गादिफलकस्तृष्णासेकसंरूढमूलकः ॥ ५ ॥
सत्यलोकादिनीडश्च दुःखाद्युत्थमहारवः ।

संसारवृक्षवर्णन श्रुति कर रही है। इसके दो प्रयोजन हैं। एक यह बताया कि कार्यज्ञानसे कारणज्ञान होगा। कुण्डलसे सुवर्ण अधिक है,

व्यापक है, सूक्ष्म है। वैसे पूरे जगतरूपी कार्यसे यह ज्ञान होगा कि कारण परमात्मा अधिक है, व्यापक है, सूक्ष्म है। "पादोऽस्या विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इस प्रकार अधिक है। कुण्डलमें कोई भी भाग ऐसा नहीं होगा जहां सुवर्ण न हो। वैसे जगतमें कोई कण ऐसा नहीं होगा जहां परमात्मा न हो। "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्म" ये चारों बातें आ जाती है। कार्यापेक्षया कारण नित्य होगा ही। इस प्रकार ब्रह्मका बोध करानेके लिये कार्यवर्णन है। दूसरा प्रयोजन यह है कि संसारका स्वरूपज्ञान होनेपर उसकी तुच्छता मालूम होगी तो वैराग्य होगा। संसारसे राग हटना और परमात्मामें राग होना यही तो वैराग्य है। वैराग्य घृणाको नहीं कहते। रागं विरागं कथयन्ति सन्तः। राग ही वैराग्य है। यह फिर ऐसा हुआ दिन ही रात है जैसे कहें। ठीक तो है। हमारे यहां दिन, अमेरिकामें रात है और हमारे यहां रात, अमेरिकामें दिन है। वैसे ही परमात्मामें राग संसारवैराग्य है और संसारराग परमात्मावैराग्य है।

संसारका वर्णन यहां दो प्रकारसे कर रहे हैं। रक्षणीयरूपसे और नाशनीय रूपसे। संसार रक्षणीय है या नाशनीय? लोग तुरंत कहेंगे शास्त्रानुसार नाशनीय है। परंतु अंशतः रक्षणीय है। फिर नाशनीय है। रक्षणीय मतलब सुधारणीय है। यह रक्षण नाशनमें ही काम आयेगा। खेतमें घास को प्रथम उगने देते हैं फिर उखाड़ते हैं। घास ऊपर तक नहीं आवे तो उखाड़ा नहीं जा सकता। अतः भाष्यकार प्रथम सुधारणीय विशेषण कह रहे हैं" श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशः। "छन्दांसि यस्य पर्णानि" इस प्रकार गीतामें भी कहा है। श्रुति प्रथम संसाररक्षण करनेवाली है। वेदोंमें ही मानवीय कर्तव्यताका पता चलता है। प्राणिमात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति अधिकतर पापात्मक होती है। आनुषङ्गिक पुण्यमात्र है। श्रुतिने कर्तव्य कर्मका निर्देश किया जिससे चौरासीलाख योनियोंमें यथा-योग्य सुख की प्राप्ति होती है। पशुपक्षियोंमें भी जो आपेक्षिक सुख दीखता है वह सब मनुष्ययोनिकृत पुण्यका परिणाम है। सर्वथासुख न होता तो कोई प्राणी जिंदा न होता। रो-रोकर जनमते ही मरने लग जाते। "आनन्देन जातानि जीवन्ति" जीवन आनन्दके बिना संभव नहीं। चाहे वह

बिम्बानन्द हो, प्रतिबिम्बानन्द श्रुति इस प्रकार जीवनरक्षक उपदेश है। श्रुति के बाद स्मृतिकी बारी है।

श्रुति और स्मृतिमें क्या फरक है? श्रुति अपौरुषेय वाणी है। स्मृति पुरुषनिर्मित है। अपौरुषेय का अर्थ है-अनादिकालसे आयी हुई वाणी। कुछ लोग वेदमन्त्रोंको बनानेवाले ऋषि हैं ऐसा मानते हैं। किन्तु ऋषि मन्त्रकर्ता नहीं। मन्त्र द्रष्टा हैं। तपश्चर्याके समय हृदयमें मन्त्रोंकी स्फुरणा होती है। अतः वे मन्त्रद्रष्टा हैं। कभी कभी स्वप्नमें मन्त्र स्फुरित होते हैं। हमने कई मन्त्रोंको स्वप्नमें देखा बाद में पुस्तकोंमें ऐसी आनुपूर्वीमें मिले। एक महात्माने बताया कि उन्होंने श्रीहर्ष के गुरुमन्त्र चिन्तामणिमन्त्रको सपनेमें देखा। उनके नैषधीय श्लोक देखने पर वैसा ही मन्त्र उद्धृत हो रहा था। सपनेमें कोई महापुरुष आते हैं और बोल देते हैं। वैसे ही तपश्चर्या करते समय साक्षात् चतुर्मुख ब्रह्माजी या उनकी शिष्यपरम्परामें कोई ऋषि आये और मन्त्र पढ़ते जा रहे हैं ऐसा लगेगा। यही मन्त्र-द्रष्टृता है। महर्षि याज्ञवल्क्यने सूर्यका तप किया तो तपके बीचमें ध्यानसमयमें ऐसा लगा कि सूर्य नारायणाकारमें सामने आये हैं और यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा बोल रहे हैं। प्रखर बुद्धि होनेसे तुरंत ग्रहण कर लते हैं। और शिष्यादिको उपदेश देते हैं।

इस चर्चाके बीचमें न्यायवैशेषिकवाले आ गये। उन्होंने कहा— अपौरुषेय माननेका तुम मीमांसकोंका आग्रह क्यों है? मीमांसकोंने कहा पुरुषकृत हो तो पौरुषेय दोषका आना अनिवार्य है। समाजवादी यदि ग्रन्थ लिखेगा तो समाजवादमें जो दोष हैं उसे भी गुणरूपमें लिखेगा। कम्युनिस्ट यदि लिखेगा तो कम्युनिज्मके दोष भी वंहां गुण होंगे और समाजवादके गुण भी वहां दोष होंगे। इसीको पुरुषदोष कहते हैं। जैसे साम्यवादी कहेंगे कि करोड़पतियोंका लूटना बुरा नहीं है। राजवंशके बच्चेको मारना अनुचित नहीं है। एक माताको मैंने देखा वह बोलती थी मेरा बच्चा निडर है। चाहे दस लड़के भी आ जांय तो सबको मार भगाता है। मार भगाना उसको गुण दीखने लगा। परंतु एक दिन उससे जबर्दस्त दूसरे बच्चेने इसको ऐसा मार गिराया कि दूसरोंको मारना भूल गया। क्या वह माता इस दूसरे बच्चे की वीरता की प्रशंसा करेगी। तात्पर्य

यही कि मनुष्योंमें कई पूर्वाग्रह होते हैं जिसको हम पुरुषदोष कहते हैं। वेदमें कोई दोष नहीं. अपौरुषेय होनेसे ही वह सर्वथा निर्दोष है। इस पर नैयायिकोंने कहा कि माना साधरण पुरुषनिर्मितमें पौरुषेय दोष आ सकता है। किन्तु वेदकर्ता परमेश्वर है। परमेश्वरमें कर्मदोष हो नहीं सकता। अतः परमेश्वरनिर्मित है वेद।

इस पर मीमांसकोंने कहा माना जाय थोड़ी देरके लिये ईश्वरनिर्मित है। वेदान्त भी मीमांसा है। इसे सेश्वरमीमांसा कहते हैं। ईश्वनिर्मित है वेद यह माना जाय। किन्तु प्रश्न यह है कि जो वर्तमान कल्प है इससे पहले भी कल्प थे कि नहीं। यह सृष्टि चल रही है। इससे पूर्व प्रलय था। उससे पूर्व सृष्टि थी। उससे पूर्व प्रलय इस रीति यह संसार अनादि है कि नहीं? उत्तर स्पष्ट है सृष्टि अनादि है। पहले भी ऐसे कल्प होते रहे। उस पर आगे प्रश्न यह है कि इस कल्पमें यज्ञदानादि पुण्य एवं हिंसा चौर्यादि पाप है तो क्या कोई ऐसा भी कल्प रहा जब यज्ञदानादि पाप थे और हिंसा चौर्यादि पुण्य थे? उत्तर स्पष्ट ही नकारात्मक मिलेगा। तब पूर्वकल्पमें भी "मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि" "स्वर्गकामो यजेत्" "श्रद्धया देयं" ऐसे ही वाक्य पहले भी परमेश्वरने रचे होंगे कि नहीं? हां कहना होगा यदि ईश्वरवादी हो। मतलब वेद ईश्वरके इस कल्पके रचे मन्त्र नहीं हैं पूर्वकल्पके रचे हैं। और पूर्वकल्पके मन्त्र पूर्वतर कल्पके रचे हुए होंगे। पूर्वके नहीं। तब जिस कल्पकी रचनाकी बात कहोगे वही कट जायेगी। उससे पूर्व कल्पकी रचना सिद्ध होगी। तब संसार अनादि है तो वेद भी अनादि। अर्थात् अपौरुषेय भी। अतः श्रुति अपौरुषेय है। स्मृति तो स्मृति ही है। स्मृति माने स्मरण। जो स्मरणमें आया सो लिखा यही स्मृति है। जो स्मरणमें आया का मतलब यह नहीं कि मनमाने ढंगसे लिख दिया। वेदाध्ययनमें जो जो स्मरण रहा उसे संक्षेपमें लिखा। किन्तु कभी-कभी स्मरणमें फरक पड़ सकता है। ऐसा फरक पड़ा तो अंश विरुद्ध होगा। तब—

"विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्"

वेदविरुद्धांश अप्रामाणिक माना जायेगा। इसीको आधार रखकर आर्य-समाजी कहते हैं, मूर्तिपूजा वेदमें नहीं है अतः वेदविरुद्ध है। अप्रामाणिक

है। किन्तु यह साहस ग्राह्य नहीं है। मूर्तिका वर्णन नहीं है यह कहते हैं या मूर्तिपूजाका वर्णन नहीं है? दोनों ही पक्ष गलत हैं।

"नमस्ते रुद्रमन्यव उतो त इषवे नमः
बाहुभ्यामुत ते नमः
या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी

इत्यादि वेदमन्त्रोंमें स्पष्ट मूर्ति वर्णन है।

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्"

यहां यजामहे-पूजयामः ऐसा अर्थ है। अधिक विस्तार यहां अप्रासङ्गिक है। इतना ही कहना है कि मूर्तिपूजनमें कोई वेदविरोध नहीं है। अतः इस अंशमें स्मृति प्रमाण है। श्रुतियोंमें अनादिकालीन धर्मोंका वर्णन है। स्मृतिमें सामयिक धर्मों का भी वर्णन है। श्रौतकर्म को इष्ट कहते हैं, स्मार्त को पूर्त कहते हैं। सामयिक धर्म श्रुतियोंमें नहीं होते। वापी, कूप-तड़ागादि निर्माण स्मार्त है। नल लगाना, कालेज, अस्पताल आदि अत्याधुनिक बातें श्रुतियोंमें कैसे आयेंगी? श्रुतियोंमें, सामान्यरूपसे वर्णन जो आया है उसे विशेषरूप देकर स्मृतियां वर्णन करती हैं। श्रुति-स्मृतिके बाद संसाररक्षण न्यायविद्यासे होगा। वस्तुतः मीमांसशास्त्रीय न्याय वेदार्थनिर्णयमें ही सहायक है। पूर्वमीमांसा सहस्रन्यायात्मक है। उत्तरमीमांसामें न्यायतः निर्णय है। उचित अर्थका निश्चय करना न्यायका काम है। ये संसारवृक्षके पत्तेके समान है। ये रक्षक हैं। प्रश्न होगा कि रक्षा क्यों करना? सूखने दो, ससारवृक्षको नष्ट होने दो। नहीं, यह सूखेगा। किन्तु नष्ट नहीं होगा। इसी सूखे वृक्षपर लटके रहना पड़ेगा। तब असंग शस्त्र भी मिलेगा नहीं। काटा भी नहीं जा सकेगा। बड़ी भयंकर दुर्दशा होगी।

संसारवृक्षके रक्षक एवं सुखदायकरूपमें पुष्पवर्णन करते हैं भाष्यकार- यज्ञदानतप आद्यकेनक्रियासुपुष्पः। वृक्षपर फूल लगते हैं तो चारों ओर सुगन्धि फैलती है। प्रदूषण दूर हो जाता है। प्रदूषणसे अनेक बिमारियां होती हैं। वृक्ष के पत्तोंमें और विशेषरूपसे पुष्पोंमें प्रदूषण रोकने की अद्‌भुत शक्ति है। इसलिये नगरोंमें अधिकाधिक सपत्र सपुष्प वृक्षोंको लगानेकी बात चली है। सत्कर्मोंमें मुख्य तीन कर्म माने गये हैं यज्ञ, दान और तप।

"यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥"

भगवान् गीतामें यज्ञ, दान और तपको अत्याज्य बता रहे हैं। क्योंकि ये तीनों मनुष्योंके लिये पावनताकारी हैं। प्रतिदिन यज्ञ करना चाहिये। अग्नि में आहुति देना यज्ञ है। "अग्निमुखा हि देवाः" ऐसा बताया है। यज्ञका देवपूजन भी अर्थ है। "यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु" देवपूजन यज्ञ है। सत्संगति ज्ञानयज्ञ है। दानको देवतोद्देश्येन द्रव्यत्याग समझना चाहिये। अर्थात् होमात्मक कर्म भी यज्ञ है। इनमें देवपूजन आधिदैविक है। सत्संगति आध्यात्मिक है। अग्निहोम अधियज्ञ या आधिभौतिक है। बाह्य दृष्टिसे हविःप्रक्षेप आधिभौतिक है। इसके बाद दानका नाम आता है। धन कमानेका निषेध शास्त्र नहीं करता। कमाओ। क़िन्तु जरूरतमंदोंको दो भी।

"उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागादेरसंस्थानां परिवाह इवाम्भसम् ॥"

नदीमें पानी निरन्तर ऊपर से आता रहता है और वह नीचेकी ओर देता भी रहता है। देना तो चाहिये। यह शिक्षा नदीसे लो। सुपात्रदानसे हजारगुना बढ़कर अपने पास आता है तो पुनः दान कर अनन्तपुण्यभागी बनेगा। तीसरा कर्म तप है। कायक्लेशसहनपूर्वक साधनाको तप कहते हैं। साधनाके लिये कायक्लेश सहन करने पर दो लाभ होते हैं। एक तो साधना सम्यक् हो जाती है। दूसरा कभी भी क्लेश आ जाय किन्तु उससे वह घबरायेगा नहीं। साधनामें कमी नहीं आयेगी। क्लेशका आना अनिवार्य है। जिसको जिंगदीमें क्लेश नहीं हुआ उसका मरण अति क्लेशसे होगा। पण्डित नेहरू कभी बिमार नहीं होते थे। किन्तु अन्तमें लकवा हो गया। महान् क्लेश हुआ। अतः क्लेशका विश्वास न करो। पता नहीं कब वह आता है। अत एव संत लोग क्लेश अनुभव करनेका अभ्यास करते हैं। गंगोत्तरीमें एक बड़े संत नंगे रहते थे। एक संतको मैंने देखा कि एक कौपीन पहनकर गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी आदि चारधामकी यात्रा कर रहे थे। काशीमें एक बहुत बड़े विद्वान् श्री शंकरचैतन्य भारती हुए। ठंढी गरमी आदि कुछ भी हो एक कुशासनपर सोते थे। एक विरक्त

विद्वान् संतसे मैंने पूछा कि कपड़ा पहनने न पहननेसे तत्त्वज्ञानमें क्या फरक पड़ता है? संतजी बोले पहलसे सहनशक्ति नहीं बढाओगे तो क्लेशसमयमें तत्त्वज्ञान भूल जाओगे। मैंने कहा यदि ऐसा क्लेश नहीं आया तो? वे बोले कि यह निश्चय करना कठिन है। अन्तमें मरणक्लेश तो आयेगा ही। मूर्च्छामें मरण हुआ तो? वे हंसकर बोले रो-रोकर भारी क्लेशमें पड़कर मरना पड़ा तो? अतः अनिश्चयमें रहनेकी अपेक्षा तितिक्षा करते रहो यही ठीक है। अस्तु। किन्तु यह तप साधनाके लिये ही होना चाहिये। अन्यथा क्लेशसहनमें इधरसे भी गये उधरसे भी गये वाली बात हो जाएगी। यहां तक संरक्षणीयताके विशेषण हुए।

पुष्पके बाद फिर पुष्परस क्या है यह जिज्ञासा होगी। उसपर भाष्यकार कहते हैं-सुखदुःखवेदनानेकरसः। यहां से छेदनीयताको बतानेके लिये विशेषण है। कभी मीठा रस है तो कभी कड़ुआ रस। कभी मनमें प्रसन्नता होती है। मान-सन्मानकी बात सुनते हैं तो मानससुख होता है। विद्यार्थी सुनता है, परीक्षामें पास हो गया तो अपार हर्ष होता है। चिर-प्रतीक्षित मुकद्दमे जीतनेकी बात सुनते हैं तो हर्ष एवं तत्प्रयुक्त अपार सुख होता है। इससे विपरीत मनमें बेचैनीसे मानस दुःख होता है। पराजयकी बात सुनकर क्लेश होता है। यह मानसिक सुखदुःख है। कल्पनाप्रयुक्त सुख दुःख है। दूसरी है वेदना। विषय अनुकूल हो तो सुख होता है। मारपीट आदिमें दुःख होता है। वेदनाका दर्द अर्थ है। इस प्रकार संसार नानारस होता है। स्थायी रस न होनेसे अविश्वसनीय है।

पुष्प एवं पुष्परस बतानेके बाद फलकी जिज्ञासा होती है। उसके लिये भाष्यकार कहते हैं प्राण्युपजीव्यानन्तफलः। समस्त प्राणियोंको अनन्तविध फल प्राप्त होते हैं। स्वर्ग नरकादि तो कर्मफल प्रसिद्ध ही है। किन्तु गृह-धन-दार-पुत्र-क्षेत्र-पशु-हिरण्यादि सभी फल ही हैं। संपूर्ण जगतको कर्मफल ही बताया है। सप्तान्नसर्गप्रकरणमें यही बताया गया है। कहावत प्रसिद्ध है कि "दाने दाने पर नाम लिखा हुआ है"। इसी को भाग्य कहते हैं। कुम्भकी बात है। बालुशाही मिठाई बनी थी। लंबी लंबी पंगते लगी हुई थीं। एक महात्मा थे उनको बालूशाही बहुत पसंद थी। उस लाईनमें बालूशाही पहुंच नहीं रही थी। पंगतके इस किनारेसे बालूशाही परोसता

कोई आया। आशा बंधी कि अब मिलेगी। लेकिन उस महात्मातक पहुंचते पहुंचते खतम हो गयी। पासवाले महात्माने कहा यहाँ दो। समाप्त हो गयी। फिर आ रही है। दूसरी बार और भारी टोकरी लेकर दो आदमी परसते आ रहे थे। लेकिन वह भी उस महात्मातक पहुंचनेसे पहले खतम हो गयी। काफी समय बीता, पंगत उठनेको आयी तो महात्मा यही कहकर उठे-भाई दाने दानेपर नाम लिखा हुआ है। मेरा नाम कहीं नहीं था।

वेदान्तवेद्य-ब्रह्ममूलसारः से लेकर मूल, बीज, अङ्कुर, स्कन्ध, प्रवाल, पलाश, पुष्प, रस एवं फल इन वृक्षावयवोंका वर्णन किया। इसके बाद सेचन, जल, घोसला, पक्षीकलरवादि बहिरंगों को आगे भाष्यकार कहते हैं-तृष्णासलिल इत्यादिसे। इस संसारवृक्षको पोषण कहांसे प्राप्त होता है? तृष्णारूपी जलके सेचनसे। तृष्णा, तृषा आदि प्यासका भी नाम है। और यह संसारविषय खारे पानी के समान है। सन् उन्नीससौ अड़सठमें हम गरमीमें प्रवचन करने अहमदाबाद गये थे। उस समय वहां कुंएमें तो है ही, पाईपमें भी खारा पानी आता था। इतनी गरनी पड़ती थी कि प्यास जोरदार लगती थी। वह पानी कितना ही पियो प्यास बुझती नहीं थी। पानी पीपीकर पेट फूलने लग जाता था। फिर प्यासको सहन करना ही उपाय रह जाता था। फिर नया उपाय सोचा कि वहां आश्रममें गायें बहुत थीं तो एक घड़ा छांछ भरके रखने लगा। थोड़ा फरक जरूर पड़ा। किन्तु छांछमें भी पानी तो वही खारा पड़ता था। वैसे ही यह संसार है। तृष्णा लगी है। विषयजल पी रहे हैं। इधर मूल मोटा होता जा रहा है। जड़से ही तो वृक्ष भोजन खींचकर पेटमें रखते हैं। फिर शास्त्राध्ययन करनेसे छांछके समान थोड़ी बहुत शान्ति मिलती। पर अन्यान्य शास्त्रोंमें भी तो विषय वार्ता ही है तो खास फरक नहीं पड़ता। विषयोंको लेकर जैसे रागद्वेष है वैसे शास्त्रोंको लेकर भी है। इसमें खण्डनमण्डन चलता है। वैष्णव लोग वेदान्तको मायावाद कहकर खण्डन करते हैं। पुरुषोत्तम-स्तोत्रमें एक नाम यह भी है-मायावादनिराकर्ता। लेकिन भागवतमें प्रत्येक अध्यायमें मायाका नाम आता है। तो क्या भागवतका भी खण्डन अभिमत है? कृष्णकी व्याख्या है–

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया।

कृष्ण तो सर्वात्मा है। जगत् के हितके लिये शरीरधारीसा हो गया। वस्तुतः शरीरधारी नहीं। कैसे शरीरधारी-सा हो गया? मायया। मायासे। इस श्लोकका भी वैष्णवखण्डन करेंगे क्या? अतः शास्त्ररस भी खारा जल ही हो गया। इस जलसे वृक्ष तो मजबूत बनता गया।

वृक्ष है तो फिर उसपर पक्षी भी आयेंगे। घोसले बनायेंगे। छोटे-मोटे कई प्रकारके घोंसले वृक्षोंपर देख सकते हैं। इस संसारवृक्षपर भी घोंसले बने हैं क्या? उसमें भी पक्षी रहते हैं क्या? रहते हैं तो कौनसे पक्षी? इस पर भाष्यकार कहते हैं–सत्यनामादि सप्तलोक ब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः। सत्यलोक, वैकुण्ठलोक, कैलासलोक, गोलोक, साकेतलोक, मणिद्वीप ये मुख्य मुख्य घोसलें हैं। इन घोंसलोंमें रहने वाले पक्षी है-ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, कृष्ण, राम, अम्बा इत्यादि। इन्द्रलोक, वरुणलोक, कुबेरलोक, बृहस्पतिलोक आदि कुछ छोटे घोंसलें हैं जहां इन्द्र, वरुणादि पक्षी रहते हैं। अतल, वितलादि लोक में नाग, असुर राक्षसादि पक्षी रहते हैं। भूलोक भी एक घोंसला है। घोंसलेके अंदर छोटे-छोटे घोंसले बनाकर हम भी बैठे हैं। हम भी छोटे-मोटे पक्षी हैं। बोलेंगे–हमको उड़ना नहीं आता। कौन बोले उड़ना नहीं आता? जहां शरीर सम्बन्ध छूटा नहीं उड़कर दूसरे घोंसलेमें पहुंचते हैं। स्वर्गादिलोकमें पहुंचते हैं। यहां तो प्रारब्ध डोरेसे पांव बांध रखा है। उड़ नहीं पाते।

जहां पक्षी है वहां आवाज भी होगी। जहां प्रात समय हो गया पक्षी चहकना प्रारंभ करते हैं। जंगलोंमें, हिमालयमें और विशेष वृक्षोंपर पक्षियोंकी सुमधुर आवाज भी होती है। कहीं-कहीं लड़ाई-झगड़े का कटुरव भी होता है। पक्षी इस टहनीसे उड़कर उस टहनीपर चले जाते हैं। वहां से यहां मयूर नृत्य करते हैं। कोयल मधुर कंठसे गाते हैं। वैसे संसारवृक्षपर भी होता है क्या? इस पर भाष्यकार कहते हैं कि इस पर सब कुछ होता है। 'प्राणिसुखदुःखोद्‌भूत' इत्यादि कुछ नमूना यहां बता दिया है। अनन्तविध क्रिया-कलाप यहां होते हैं।

'क्वचिद्वीणानादः क्वचिदपि च हा हेति रुदितं
क्वच्चिन्नारी रम्या क्वचिदपि जराजर्जरवपुः।
क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहो
न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः॥'

किसी घरमें तो बाजे बज रहे हैं, वीणानाद हो रहा है। मधुर मधुर ध्वनि गूंज रही है। तबले हारमोनीयम लोग वाह वाह कर रहे हैं। सिर हिला रहे हैं, तालमें ताल मिला रहे हैं। दूसरी ओर किसी की मृत्यु हुई। छाती पीट पीटकर रो रहे हैं। हाय हाय कर रहे हैं, आंखोंमें झरने बह रहे हैं। यह एक विरुद्ध दृश्य हुआ। अब दूसरा देखो, कहीं सुन्दर मनोहर अप्सरा जैसी नारियां दीख रही हैं। पुष्प फल भरित वृक्ष नजर आ रहे हैं फलपुष्पभारसे झुकी लतायें दीख रही हैं। आंखें आनन्द प्राप्त कर रही हैं। दूसरी ओर जराजर्जरित शरीर दिखाई दे रहा है। शुष्कवन दीख रहा है। दावानलदग्ध पर्वत दीख रहा है। यह दूसरा विरुद्ध दृश्य है। अब तीसरा देखो। कहीं तो विद्वानों की शास्त्रचर्चा चल रही है। वेदशास्त्र- व्याख्यान चल रहा है। भागवत्कथा हो रही है और दूसरी ओर सुरा (मदिरा) पीकर होश गुमा बैठे हैं। आपसमें लड़ रहे हैं। गाली गलौच हो रही है। आदमी औरत को पीट रहा है। बरतन फोड़ रहा है। आगे भर्तृहरिजी महाराज कहते हैं—घूम घूमकर संसारमें मैंने देखा, पर यह निश्चित नहीं कर सका कि यह संसार अमृतमय है या विषयमय है।

वेदान्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षः।
ब्रह्मात्मबोधसुदृढासङ्गशस्त्रच्छिदेलिमः॥ ६॥

ब्रह्मबोधनार्थ यमराजने संसारवृक्षवर्णन प्रारम्भ किया। संसार कार्य है। कार्यनिरूपणसे कार्यानुकूल कारणका पता चल जाता है। कार्यसे कारण हमेशा अधिक होता है। रोटी कार्य है तो जितना आटा घरमें पड़ा पूरे की रोटी बनाकर नहीं धर दी जाती है। रोटीसे अधिक आटा घरमें होगा। कुण्डलसे अधिक सोना संसारमें होगा। थोड़े आटेसे रोटी बना लेते हैं। वैसे थोड़े ब्रह्मसे संसार बना। सिर्फ एक पादसे। यह संसार पावरोटी है। त्रिपात् आटा अब पड़ा है। आकाशादिसहित संसार कितना बड़ा है। उससे भी बड़ा ब्रह्म है। कार्यापेक्षया कारण नित्य एवं सूक्ष्म भी होता है। संसार स्वयं अनादि अनन्त है किन्तु ब्रह्म शाश्वतरूपसे अनादि अनन्त है। इस प्रकार व्यापकत्व, नित्यत्व, सूक्ष्मत्व आदि रूपसे ब्रह्मकी सिद्धि हो जाती है। दूसरा प्रयोजन संसारवर्णनसे इसका पोल खुल जाता है तो वैराग्य होगा। दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमन्त्यन्या। जैसे नर्तकी मेम-और

राजस्थान के राजा की कथा पूर्वमें बताया। मेमका असली स्वरूप देखा। राजा उपेक्षा क्या घृणा करने लगा और वह मेम मेरा असली स्वरूप देख लिया समझकर उपरत हो गयी। वैसे मायामय संसार है। साधक उपेक्षक हो गया, माया उपरत होगी। माया तभी तक उछलती है जब तक ये जन उस पर आसक्त हैं। आनन्दवन आश्रम में कुछ साल पहले एक उत्पाती छोकरा था। एक दिन रसोई घरमें चूहादानी रखी तो सात आठ चूहे उसमें फंस गये। उसको उसने एक झोलेमें लेकर बांधा। मैंने कहा दूर ले जाकर छोड़ देना। नहीं तो फिर वापिस आ जाएंगे। उसने क्या किया। थोड़ी दूर आगे ले जाकर फूटपाथपर रख दिया और सड़ककी दूसरी ओर गया। कोई रास्ता जानेवाला था। उसने देखा किसीका झोला गिरा है तो उसने उठा लिया और ले गया। वह छोकरा हंसता वापिस आया। मैंने कहा अरे दूर छोड़ना था न? बोला, अपने आप पहुंच जायेगा। बेचारा वह घर ले जाकर खोला होगा तो क्या स्थिति रही होगी समझ लो। अपनी मूर्खता समझेगा। वैसे ही संसारझोलेमें हम ढो-ढो कर क्या ले जा रहे हैं यह हमें पहले देख लेना अच्छा है नहीं तो अन्तमें महामूर्ख सिद्ध होंगे जब हम महाप्रलयके घरमें वासनाके चूहोंको ले जायेंगे। अतः रास्तेमें खोलकर देखना अच्छा है। तदर्थ ही संसारस्वरूप-वर्णन किया और भाष्यकारने विस्तृत व्याख्या की।

यह वृक्ष है। वृश्चिक है। काटोगे उसे तो वृक्ष पेड़ होगा। नहीं काटोगे तो वृश्चिक बन कर तुमको काटेगा। वृश्चिकका जहर चौबीस घंटे तक मनुष्यको रूलायेगा। अति घोर वृश्चिक हो तो मृत्यु भी हो सकती है। किन्तु एक बार। यह संसारवृश्चिक तो 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' के अनुसार कितनी बार मारेगा। अतः इसे काट गिराना है।

समुद्र किनारे बड़ी बड़ी सीप पड़ी थी। एक साधारण मनुष्य जा रहा था। उसने सोचा चांदी का कोई गहना है। दौड़कर उठाया और झोलेमें डालकर भागा। कोई देख न ले। उसी रास्तेसे एक महात्मा जा रहे थे। चमकीली वस्तु उन्होंने देखी, चांदी हो या और कोई चीज। महात्मा आगे बढ़ गये। इसके बाद एक जौहरी उस रास्तेसे गया। उसने भी चमकीली चीज देखी। वह उसे उठायेगा कि नहीं? नहीं उठायेगा। क्यों? देखते ही

वह पहचान गया यह असली चांदी नहीं है। प्रथमने उठाया। क्यों? उसको अज्ञान था, आसक्ति भी थी। महात्माने नहीं उठाया। क्यों? अज्ञान था-क्या चीज है यह निश्चित नहीं था। या यह चांदी है ऐसा अज्ञान ही रहा। फिर भी आसक्ति नहीं थी। तीसरे जौहरीने भी नहीं उठाया। आसक्ति उसमें थी। किन्तु वह पहचान गया था इसलिये अज्ञान नहीं था। अतः यह निश्चित हो गया कि अज्ञान और आसक्ति मिथ्या वस्तुमें प्रवृत्ति होनेका कारण है। संसारमें बात ऐसी है कि अन्तपर्यन्त ज्ञान होनेपर भी अज्ञानलेश रहेगा और वासनालेश रहेगा। अतः इन दोनोंको समाप्त करनेके लिये बोध तथा अनासक्ति दोनों दृढ़ होना चाहिये इस आशयसे भाष्यकार अब एक और विशेषण दे रहे हैं-"वेदान्तविहितब्रह्मात्म-दर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेदः"। ब्रह्मात्मदर्शन तथा असङ्गता ये दोनों शस्त्ररूपमें हो तब इसका उच्छेद होगा।

ब्रह्मात्मदर्शनके लिये विशेषण दिया है-वेदान्तविहित। क्यों यह विशेषण दिया है? चाहे वेदान्तविहित या अन्य किसीसे विहित हो क्या फरक? वेदान्तका अर्थ है वेदका अन्तिम भाग उपनिषत्। "वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं"। चाहे उपनिषत् से हो, चाहे पुराणोंसे हो, चाहे विचार-सागर वृत्तिप्रभाकर आदिसे। ज्ञानमें क्या फरक होनेवाला है? अग्नि चाहे माचीस से पैदा करो या लाईटरसे पैदा करो, क्या फरक पड़ता है? माखन चाहे मथानीसे मथकर निकालो, यन्त्रसे निकालो या सीसेमें डालकर हिलाहिलाकर निकालो क्या अन्तर आयेगा? बरतन राखसे, मिट्टी से, पाऊडरसे किसी से भी साफ कर लो, साफ होनेसे मतलब। नहीं। फरक है। दूध चाहे गायका हो, बकरीका हो, भैंसका हो, दूध दूध ही है। कहनेसे काम नहीं चलेगा। माचीससे अग्नि प्रकट करो या अरणि मन्थनसे, दीखनेमें अन्तर नहीं होगा। तो क्या सचमुचमें अन्तर नहीं है? हाथ मिट्टीसे साफ करो, चाहे पाऊडरसे, साफ होगा। किन्तु फरक नहीं है क्या? कारणका असर कार्यमें अवश्य रहेगा। कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते। निमित्तकारणके भी कुछ गुण कार्यमें आते हैं।

कैसा गुण? क्या गुण वेदान्तमें है जो ज्ञानमें आ जाएगा? उत्तर यह है कि गुणके आनेमात्रकी बात नहीं है। गहराईसे विचार करना पड़ेगा।

वेदान्त तो बहुत बार सुन रहे हैं। किन्तु अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हो पा रहा है। सो क्यों? जब किं शब्दप्रमाण है। उससे प्रमा होनी चाहिये। बात यह है कि बीचमें कुछ रुकावटें हैं। उनको दूर करना आवश्यक है। पहले हम कह चुके हैं कि वेद अपौरुषेय वाणी है। परम पवित्र वाणी है। इसके अध्ययनसे एवं श्रवणसे भी महान् पुण्य बताया है। उस पुण्यसे अनेक प्रतिबन्धक पापनिवृत्त होते हैं। उसमें भी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से श्रवण करने का विधान है।

"स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"

गीता पारायण भागवतपारायण आदिसे भी परमपुण्यकी प्राप्ति शिष्ट-परम्पराके आचरणसे सिद्ध है। फिर वेदपारायणकी बात ही क्या? यदि वेदाध्ययनकी इतनी महिमा है तो स्मृति पुराण निर्माण ही क्यों हुआ? इस प्रश्नका उत्तर है कि वेद सर्वसाधारण सरल नहीं है। उसमें से रहस्य निकालनेके लिये ही स्मृति पुराणों की सहायता लेनी पड़ेगी।

"स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥"

शास्त्रोंमें लिखा है कि "पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।" पहले कल्पमें नारियोंका मौञ्जीबन्धन अर्थात् वेदाध्ययग्न आदि होते थे। परंतु उसमें सफलता नहीं मिली। क्योंकि वे पांच सात दिन महीनेमें अपवित्र रह जाती तो दूसरे छात्रोंको तदर्थ रोक रखना संभव नहीं था। फिर वेदाध्ययनमें बालक लोग अधिक तेज थे। आजके चंचलयुगमें बालकोंकी बुद्धि शिथिल होने लगी। उस समय ऐसा नहीं था। अतः नारियोंके लिये कहा विधिकी झंझटसे दूर रहकर पुराणादिका श्रवण करो। शूद्रोंके लिये तो पवित्रतासंभव नहीं थीं और द्विजबन्धुका अर्थ ब्राह्मण जिसके रिश्तेदार हों, खुद तो पतित हो। इनको भी वेदाध्ययनका अधिकार नहीं था। अतः व्यासजीने पुराणरचना की। महाभारतकी भी रचना की। स्मृतियां तो पवित्रता संभव नहीं थी और द्विजबन्धुका अर्थ ब्राह्मण जिसके हैं। इतना पढ़ना कठिन है। और गीतासर्वोपनित्सार है—"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः"।

दूसरे ढंग से समझा जाये तो ऐसा कहना होगा कि स्त्रीआदि कर्त्तृदोष है। शूद्रकी व्याख्या व्यासजी कहते हैं–

"शुगस्य तदनादरणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि"

राजा जानश्रुति को रैक्वने शूद्र कहा–अहहारे वा शुद्र। क्यों? उसमें शोक था। मन्यु था। हर हमेशा जो शोकाकुल होगा शोकाद्रवित होगा वह वेदान्त का अनधिकरी है। शुचाद्रवणाच्छूद्रः। हमेशा प्रसन्न रहना चाहिये। ऐसा नहीं कि जब देखो मुंह पर शनिग्रह चढ़ा हुआ है। मन्यु पर्याय भी सुक् है। राजा चित्रकेतु शोकाकुल था। पुत्रकरण से सोकसंतप्त था। उन्हें समझाने नारद और अंगिरा आये। राजा चित्रकेतु साफ कहता है–

मूढाविव

तुम दोनों मूर्ख हो। शोक में पड़े मुझे ज्ञानोपदेश कर रहे हो।

स्त्री का अर्थ है–स्त्यायनात् स्त्री। उणादि प्रत्ययसे स्त्री ऐसा शब्द हुआ। स्त्यायन भी एक दोष है। "व्याधिस्त्यानसंशयप्रमाद" इस पातञ्जल-सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार व्यासजीने 'स्त्यायनमकर्मण्यता' बताया। स्त्रियां कहां भाग सकती है नाना कर्मकर सकती है? वेदाध्ययनार्थ महान् कर्म करना पड़ता है। मानसिक अकर्मण्यता यहां विशेष है। पुरुष दिन भर दौड़-धूप करता है। गहराई से वह विचार करता है। स्त्रियों को कोई भी झट बेवकूफ बनालें। वे भावुक होती हैं। मनःप्रधान होती है। पुरुष बुद्धि-प्रधान होता है। यहां शारीरिक तथा मानसिक कर्मठता जिस में न हो उसको स्त्री बताया है।

द्विजबन्धु का अर्थ है कि द्विज जिसका बन्धु मात्र हो। खान-पान शादी-विवाहादि होगा। बन्धुत्व के नाते। किन्तु स्वयं संस्काररहित है। संस्काराद् द्विज उच्यते। यहां द्विजबन्धु का तात्पर्य है संस्कारहीन। बाह्य-संस्कार आन्तरिक संस्कार के लिये है। आन्तरिक संस्कार मुख्य है।

यहां तात्पर्य हुआ कि कर्तृदोष के कारण शूद्र अर्थात् शोकाकुल अधिकारी नहीं। स्त्री अर्थात् अकर्मण्य अधिकारी नहीं। द्विजबन्धु अर्थात् असंस्कृत संस्कारहीन अधिकारी नहीं। एवं करण दोष होने पर भी बोध नहीं होता। वेद निर्दोष हैं। क्योंकि अपौरुषेय है। मीमांसक यहां तक कह देते हैं कि ईश्वर भी वेदकर्ता नहीं है। ईश्वर में भी कर्तृदोष होगा। क्योंकि

ईश्वर भक्तपक्षपाती हैं। भक्तों की गलती को वे गलती नहीं मानते। यह भला कैसा। वेद तो गलती को गलती ही कहेगा। ईश्वर अपनी विशेष शक्तिसे विशेषाधिकारसे भले माफ कर ले। जैसे खून दोष कानूनन अपराध ही है। राष्ट्रपति भले अपने विशेषाधिकार से माफ करें। अतः ईश्वरको भी वेदरचयिता स्वीकार करना मीमांसकों को स्वीकार नहीं है। इसी प्रकार स्थान दोष, समय दोष आदि भी।

भाष्यकार वेदान्तजन्यब्रह्मात्मबोध ऐसा न लिखकर वेदान्तविहित ब्रह्मात्मबोध ऐसा लिख रहे हैं। दोनोंमें क्या फरक हैं? फरक यही कि प्रथम पक्षमें वेदान्तसे स्वभावतः उत्पन्न होनेवाला ब्रह्मात्मबोध अर्थ निकलेगा। द्वितीय पक्षमें वेदान्तसे उत्पन्न किया गया ब्रह्मात्मबोध यह अर्थ निकलता है। अर्थात् उत्पन्न करनेका कुछ व्यापार, द्वार मध्यमें प्रतीत होता है। वह क्या है? मनन और निदिध्यासन। वेदान्तने कहा–

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।"

आत्मदर्शन करो। तदर्थ श्रवण, मनन, निदिध्यासन तीनों करो। श्रवण वेदान्तका ही। तदनन्तर मनन और निदिध्यासन भी करनेका आदेश वेदान्त ही देता है। श्रवण करनेका जिसप्रकार बोध फल है और विशेष पुण्य भी बीचमें हो जाता है वैसे मनन और निदिध्यासनका भी है। वेदान्तका मनन करनेसे साक्षात् प्रमेयगत असंभावनारूपी प्रतिबन्धककी निवृत्ति होगी। ब्रह्म अद्वितीय है कि नहीं इत्यादि संशयनिवृत्ति होगी। और उससे पुण्य भी होगा। क्योंकि युक्तिचिन्तनके साथ वेदवाक्य और उसके अर्थका भी चिन्तन चलता ही रहता है तथा पापनाश भी होता है। वह बात निदिध्यासनकी व्याख्याके साथ-साथ अनुपद स्पष्ट होगी।

श्रवण और मननके बाद निदिध्यासनकी बात आती है।

"तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्"

"एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते"

इसप्रकार योगसूत्रकार तथा पञ्चदशीकार कहते हैं। अर्थात् ध्यान ही निदिध्यासन है। ध्यान मतलब चित्तकी एकतानता। इसका फल बताया है–

"अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते॥"

निदिध्यासन परिपक्व हो गया तो सर्वप्रथम वह अनादिसंचित पापोंको जलायेगा। उस समय शुद्ध धर्मकी वृद्धि होगी। पाप पदसे पुण्य भी लेना चाहिये। क्योंकि पुण्य और पाप कर्तृत्व भोक्तृत्वको लेकर होते हैं। उसके नष्ट होनेपर पुण्य भी तो नहीं रहेंगे। ऐसा कुछ सन्त लोग मानते हैं। अन्य संत कहते हैं पुण्यका समाधिसे विरोध नहीं है। पुण्य पूर्णसाक्षात्कारके बाद ही नष्ट होंगे। पुण्य दूसरोंके काम आ जाएगा। उसे क्यों जलाये? घरमें कचड़ा पड़ा है, कपड़ा भी पड़ा है। कचड़ा जलाओ, ठीक है। कपड़ा तो अपनेलिये नहीं चाहिये तो दूसरोंके काममें लाया जा सकता है। इसपर प्रथम वादीका कहना है कि आग कचड़ा-कपड़ेका विवेक थोड़ा ही करेगा? जो सामने आया उसीको जलायेगा। द्वितीय वादी कहते हैं इसमें फरक है। कुछ सूखे पत्ते पड़े हैं उसमें कुछ केलेके खंभे भी पड़े है। आग सूखे पत्तोंको जलायेगी केलेके खंभेको नहीं। इसपर जिज्ञासा हुई कि वह फरक कैसे आ गया? उत्तर है कि पापकर्म तो स्वभावतः होता है। पुण्यकर्म सदिच्छा सत्प्रयत्नसे होता है। सदिच्छा, सद्भावना, सत्प्रयत्न ये सब केलेके खंभेमें जैसे पानी रहता है वैसे पुण्यकर्मोंके साथ लगे रहते हैं। तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणमें श्रद्धारूपी जलसे संपरिवेष्टन ब्रह्मसूत्रमें बताया है। तब प्रश्न हुआ—फिर आत्मसाक्षात्कारके बाद भी पुण्य रह जायेगा। तब जन्म भी होगा। नहीं। तत्त्वसाक्षात्कार तो दावानल है, उसमें गीला सूखा कुछ भी नहीं चलेगा। आगे कहते हैं—

"धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येव यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः॥"

इस निदिध्यासनरूपी समाधिको योगशास्त्रमें धर्ममेध समाधि बताया है।

"प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकखातेधर्ममेघः समाधिः"

वेदान्तानुसार प्रसंख्यानका मनन अर्थ होगा। मननकी जरूरत नहीं रह जाती है क्योंकि पूर्णविवेक हो चुका है। कोई संशय नहीं रह गया है। उसको निदिध्यासनसे धर्ममेध समाधि लगती है। उसकी व्याख्या है "वर्षत्येव" इत्यादि। मेघ बादलको कहते हैं। यह धर्मका बादल है। पानीका बादल हो तो पानी बरसायेगा। उस योगीपर तो बरसना ही है। उसके चरणोंमें जो बैठा है उसपर भी धर्मकी वर्षा हो जाती है। शिष्यवर्ग भी

कृतार्थ हो जाता है। उस समय शुद्ध धर्मकी विवृद्धि होती है। शुद्ध धर्मका क्या मतलब? 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' वेदोक्त धर्म अशुद्ध होता ही नहीं है। ठीक है। पापमिश्रित नहीं है। किन्तु पापगर्भित होता ही है। 'सर्वारम्भा हि दोषेण' इसप्रकार सभी आरम्भ क्रियाओंमें दोष रहता है। यहां शुद्ध धर्मका अर्थ है अशुक्ल अकृष्ण कर्म। कर्म दो तो प्रसिद्ध हैं पुण्य और पाप। तृतीय पुण्यपापोभयात्मक भी कुछ लोग मानते हैं। योगशास्त्रमें चार प्रकारके कर्म बताये हैं—

"कर्माशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्"

एक शुद्ध कर्म है। वही पुण्य है। दूसरा कृष्ण कर्म है—ब्लेक मनीका व्यापार या पाप। तीसरा पुण्यपापोभयरूप-शुक्लकृष्ण है। फुंफकारते हुए आते हुए जहरीले सर्पको मारा तो मारनेका पाप है किन्तु उस सर्पके काटनेसे कईयोंको बचाया उसका पुण्य भी है। धर्ममेध समाधिका फल अशुक्ल अकृष्ण परमपवित्र मोक्षदायी धर्म होता है। यह पुण्यपाप दोनोंको समाप्त करेगा।

"अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥
वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक् परोक्षावभासिते ।
करामलकवद् बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥"

वह धर्ममेधसमाधि समस्त वासनाजलको समाप्त करेगी। 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी"। फिर पुण्यपापरूपी कर्मसंचयको मूलसे उखाड़ फेंकेगा। तब समस्त प्रतिबन्धकोंकी निवृत्ति होगी। तब पूर्वश्रुत तत्त्वमसि आदि वाक्य काम करने लग जाते हैं। अर्थात् वही जो प्रमाण है, अपरोक्षज्ञान उत्पन्न करेगा। करामलकवत् प्रमा होती है। इसपर प्रश्न हुआ कि श्रवणमात्रकालमें वाक्य प्रतिबद्ध था। ज्ञान नहीं हुआ था। तो उस पापका नाश कैसे होगा? इसका उत्तर यह देते हैं कि अपरोक्षज्ञान भले न हो, परोक्ष ज्ञान तो होगा ही। परोक्षज्ञानका भी अपना महत्त्व है ही।

"परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥"

परोक्ष जो ब्रह्मज्ञान है, कैसा? शाब्द। उपनिषत्‌रूपी शब्दप्रमाणसे उत्पन्न। सो भी किस प्रकारका? देशिकपूर्वकम्। देशिक उपदेश देनेवाले आचार्यको कहते हैं। गुरूपदेशप्राप्तज्ञान होना चाहिये। वह स्वभावतः वेदपुण्यको उत्पन्न करेगा ही, पापोंका नाश भी करेगा। बाधसे नहीं, नाशकतासे। इसे बाद

"अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
संसारकारणाऽज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥"

अपरोक्ष ब्रह्मात्मविज्ञानके लिये शाब्दं देशिकपूर्वकं यह विशेषण व्यावर्तक नहीं है किन्तु स्वरूप कथनमात्र है। क्योंकि शब्द बिना और आचार्य बिना अपरोक्षज्ञान कभी होना ही नहीं है। परोक्ष ज्ञान तो पुस्तक प्रत्ययाधीतसे होगा। किन्तु पापनाशक नहीं होगा। अतः विशेषण व्यावर्तक है। अपरोक्ष ज्ञानके लिये पुस्तककी अपेक्षा भी नहीं है। क्योंकि वह स्वतः प्रमाण है। निरपेक्ष प्रमाण है। वह संसारकारण अज्ञान तमको ही समाप्त करेगा। यह तमके लिये सूर्यकि समान, अज्ञानके लिये महासूर्य है। इससे सर्व जगद्-बाध होता है। बाध होनेपर नाशका सवाल नहीं है। नाश भी वैसे क्वचित् होता है। जैसे मन्दान्धकारमें रस्सी पड़ी थी। उसे सर्प समझा। वहां कौनसा सर्प है? प्रातिभासिक सर्प है। डरके मारे भागे। घरमें जाकर काममें लगे। तब उस प्रातिभासिक सर्पका क्या हुआ? बाध तो हुआ नहीं। क्योंकि बाध तभी होता यदि यह पहचान जाते कि यह रस्सी है। पहचाना नहीं। डरसे वापिस घर गया था। बाध नहीं हुआ तो रातभर सांप पड़ा रहा? नहीं। प्रातिभासिक वस्तु प्रतिभासकालमें ही होती है। अतः नाश ही कहना पड़ेगा। वैसे परोक्षज्ञानसे पापनाश होगा। अपरोक्षज्ञानसे पापबाध होगा।

इसप्रकार मूल एवं शाखा शब्दसे सूचित अर्थको भाष्यकारने बताया। भाष्यका संक्षेप श्लोकोंमें इस प्रकार है—

"यस्य मूलं भवेदूर्ध्वं विष्णोर्हि परमं पदम् ।
सोऽव्यक्तादिस्थावरान्तो वृक्षो जन्माद्यनर्थभृत् ॥ १ ॥

जिसका मूल ऊर्ध्व है अर्थात् विष्णुका परम पद है वह संसार वृक्षरूप है, व्रश्चनीय है। अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त है। जन्म-जरामरणादि अनर्थकारी है।

प्रतिक्षणान्यथाभावो गन्धर्वनगरोपमः ।
कदलीस्तम्भनिःसारो नानामतविकल्पितः ॥ २ ॥

यह संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। मायागन्धर्वनगरादिके समान दृष्टनष्टस्वरूप है। केलेके खंभेके समान सारहीन है। आस्तिक-नास्तिक नानाविकल्पयुक्त है।

वेदान्तवेद्यसन्मूलोऽविद्याकामादिबीजकः ।
ज्ञानक्रियाशक्तिरूपापरब्रह्मादिसाङ्कुरः॥ ३ ॥

इसका मूल वेदान्तोक्त सत् ब्रह्म है। बीज अविद्याकाम कर्म है। इसका प्रथम अङ्कुर ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति स्वरूप अपर ब्रह्म है अर्थात् हिरण्यगर्भ है।

प्राणिलिङ्गलतस्तृष्णाजलसेकावदर्पितः ।
शब्दस्पर्शादिविषयप्रवालः शास्त्रधीदलः ॥ ४ ॥

प्राणियोंका लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर इसकी शाखायें हैं। तृष्णा जलसे यह दर्पित (हराभरा खिला ऊपर उठा) है। शब्दस्पर्शादि विषय इसके कोपल हैं। वेदज्ञान इसके पत्ते हैं।

यज्ञादिकर्मकुसुमः सुखदुःखरसोर्जितः ।
स्वर्गादिफलकस्तृष्णासेकसंरूढमूलकः ॥ ५ ॥

यज्ञदानादिकर्म इसके पुष्प हैं। सुखदुःखादि इसका रस है। स्वर्गनरकादि इसके फल हैं। तृष्णाजलसेकसे मूल जोरसे पकड़ा हुआ है—जमा हुआ है।

सत्यलोकादिनीडश्च दुःखाद्युत्थमहारवः ।
ब्रह्मात्मबोधसुदृढाऽसङ्गशस्त्रच्छिदेलिमः ॥ ६ ॥

सत्यलोक, विष्णुलोक आदि इस वृक्षपर बने हुए घोंसले हैं जिनमें ब्रह्मा विष्णु आदि पक्षी निवास करते हैं। ब्रह्मात्मबोध से उत्पन्न सुदृढ़ असङ्गशस्त्रसे इस वृक्षको काटना चाहिये इसीसे यह छेद्य है।

अवाक् शाखः । संसार वृक्षका मूल परब्रह्म ऊर्ध्व है। उसकी शाखायें नीचे हैं। विपरीत टंगे हुए वृक्ष जैसा है। क्योंकि यह मायासे होनेवाली प्रतिच्छायः है।

"विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं"

दर्पणमें मुंह देखो। दायां का बायां हो जाएगा, बायांका दायां। सरोवरके किनारे खड़े वृक्षकी परछांही देखो। वहां ऊर्ध्वमूल अधःशाख स्पष्ट दिखायी देगा। वहां भी ऊर्ध्वमूलका अंदाज ही होगा। क्योंकि मूल जमीनमें छिपा है। छिपे हुएका प्रतिबिम्ब नहीं होता। दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब आ गया तो पीठका भी प्रतिबिम्ब होना चाहिये क्योंकि पीठके बिना छाती मुख आदि नहीं होते ऐसा अनुमान काम नहीं करता। अतः मूल उसका जो है वही है। वृक्ष उलटा लटका दीखेगा सरोवरमें। फिल्ममें भी ऐसी ही बात है। फिल्म उलटा होगा। चित्र सीधा होगा।

एक प्रश्न यह उठेगा कि नीचे शाखा है। ऊपर ब्रह्म है तो क्या ब्रह्म नीचे नहीं है? ब्रह्म व्यापक है तो नीचे क्यों नहीं है? श्रुति स्वयं कहती है—

'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्
स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः
स उत्तरतः स एवेदँ-सर्वम्'

वह परमात्मा ऊपर है नीचे है, आगे, पीछे, दायें, बायें है। वही सब है। तब यह निर्धारण कैसे संगत होगा कि मूल ब्रह्म ऊपर है, शाखा नीचे है। इस प्रश्नका उत्तर यह है कि यह रूपकालंकारसे कह रहे हैं। वस्तुतः यहां ऊर्ध्व अधः आदिका अर्थ अलग ही है यह पहले ही इशारा कर चुके हैं। राजा सबसे ऊपर है। सेनानायक उससे नीचे। सेना उससे नीचे। सेनाके ऊपर सेनानायक है इसका अर्थ यह नहीं कि सत्ताके माथे पर पाटा रखकर वह खड़ा है। और सेनानायक पर राजा है। इसका अर्थ यह नहीं कि उससे माथे पर राजा बैठता है। ऊपरका अर्थ है अधिक सत्तावाला। तदधीनसत्ता यही नीचेका अर्थ है। नीचेमें अल्प सत्ता, तदधीनसत्ता, तत्प्रदत्तसत्ता होगी। सेनानायक, मन्त्री आदिमें राजाकी दी हुई सत्ता है। राजाधीन सत्ता है। राजासे न्यून सत्ता है। और सैनिकोंकी सत्ता नायक मन्त्री आदिकी दी हुई है। तदधीन है। अल्प है। एक सैनिक दूसरे सैनिक पर हुकम नहीं कर सकता। सेनानायक कर सकता है। वैसे यहां भी तीन सत्ता है। राजसत्ता, नायकसत्ता, सैनिकसत्ताके समान पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता एवं प्रातिभासिक सत्ता। ब्रह्मकी

पारमार्थिक सत्ता है। जाग्रत प्रपञ्चकी व्यावहारिक सत्ता है। स्वप्नप्रपञ्चकी प्रातिभासिक सत्ता है। जाग्रत् प्रपञ्चकी सत्ता परमात्माकी दी हुई है। परमात्माधीन है और अल्प है। वह केवल व्यावहारिक है। स्वाप्नप्रपञ्च रज्जुसर्पादिकी सत्ता जाग्रत्प्रपञ्चकी दी हुई है। जाग्रत्पञ्चाधीन है। जाग्रत्प्रपञ्चसे अल्प हैं। वह केवल प्रातिभासिक हैं। देखनेभरकी है। व्यवहारयोग्यभी नहीं हैं। स्वप्नमें प्राप्त लाख रूपया जाग्रत्के व्यवहारमें काम नहीं आयेगा। उससे व्यवहार नहीं चलेगा।

जाग्रत् प्रपञ्चकी सत्ता पारमार्थिक नहीं है। इतने अंशमें रज्जुसर्प शुक्तिरजतादिका दृष्टान्त है न कि शुक्तिरजतादिके समान प्रातिभासिक होनेसे। यही भ्रान्ति द्वैतवादियोंको हुई। वे प्रातिभासिक और व्यावहारिकका फरक नहीं समझ सके और बोलने लगे रोटी भी मिथ्या है, कंकड़ भी मिथ्या है। तो रोटीके बदले कंकड़ क्यों न खाया जाये? औरोंकी बात छोड़ो—स्वयं रामानुजादि आचार्य भी यह रहस्य समझ नहीं सके। प्रश्न करेंगे कि जाग्रत् जगत् पारमार्थिक सत्य क्यों नहीं? भगवान् कह रहे हैं। भगवानको पूछो। भगवान् कहते हैं—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"

असत् सत् नहीं होता। घट उत्पन्न होनेसे पहले असत् था कि नहीं? घट नहीं है कहते हैं। नास्तिका अर्थ है असत्। वह बीचमें सत् कैसे हुआ? फिर फूटनेपर नास्ति कैसे हुआ। सत्का कभी अभाव नहीं होता। घटादिका एवं प्रलयकालमें प्रपञ्चका अभाव रहता है। अतः वह सत् नहीं अर्थात् पारमार्थिक सत्ता नहीं। पारमार्थिक सत् न होनेसे मिथ्या कह देते हैं। मिथ्याका अर्थ रज्जुसर्प जैसे अव्यावहारिक समझना भारी भूल है। स्वप्न जगत्की प्रातिभासिक सत्ता भी कुछ काम कर ही जाती है। सांप शेर आदिसे डर होता है। प्रियादिसे खुशी होती है। बस इतना ही। वह सांप काटेगा नहीं। जहर चढ़ेगा नहीं। यदि प्रपञ्च मिथ्या है तो सत्य क्यों दीखता है? इसका उत्तर स्वप्न ही है। स्वप्नकालमें स्वप्न क्यों सत्य दीखता है? उस समय सांप, शेर आदिको मिथ्या थोड़े ही समझते हैं? उत्तर यही कि निद्रा दोषके कारण मिथ्या भी सत्य दीखता है। जाग्रतमें

भी वही उत्तर है। मायानिद्रादोषसे जाग्रत्प्रपञ्च परमार्थसत्य दीखता है। स्वप्न अल्पनिद्रा है। जाग्रत् दीर्घनिद्रा है। इसीलिये–

"दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमं"

इसप्रकार वसिष्ठजीने बताया। श्रुति भी कहती है–

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"

हम जगे ही हैं, जाग्रत बोलनेकी क्या जरूरत है? नहीं। आप जगे नहीं हैं। दीर्घनिद्रामें हैं। वहांसे जगना होगा। इसप्रकार परमार्थसत्य होनेसे ब्रह्म ऊर्ध्व कहलाया और तदधीन अल्पसत्ता होनेसे जगतको अधःशाख बताया।

ये नीचे लटकी हुई शाखा कौन हैं ? इसकी व्याख्या तीन प्रकारसे की हुई है। एक व्याख्या यह है कि अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार, एकादश इन्द्रियां तथा पञ्च तन्मात्रा, पञ्चभूत एवं तत्कार्य ब्रह्माण्ड ये अवाक् शाखायें हैं। प्रकृति, बुद्धितत्त्व, अहंकारतत्त्व ये तो अन्तस्तत्त्व हैं। पञ्च तन्मात्रा बहिस्तत्त्व हो गया। उसीसे पूरा ब्रह्माण्ड हुआ। अतएव सांख्यमतमें भी अंदरसे ही बाहर जगत् आया।

"निजान्तर्गतं पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं ।"

हम 'बहिरिव' कहते हैं। सांख्य 'बहिरेव' कहते हैं। इतना ही फरक है। यह तत्त्वोंको लेकर अधस्त्व है।

लोकोंको लेकर अधस्त्व-सत्य, तप, जन, मह, स्व, भुव, भू, ऐसे सात और अतल, वितल, सुतल, महातल, तलातल, रसातल, पाताल ये नीचेके सात मिलाकर चौदह लोक हैं। कहीं-कहीं संक्षेपमें स्वर्ग, भूतल, पाताल बोल देते हैं। इनमें भूतल तो दोनों गणनाओंमें बराबर है। भूवः, स्वः इत्यादि छः स्वर्गान्तर्गत हैं और अतलादि सात पातालान्तर्गत हैं। अतः चौदह लोक कहो, तीन लोक कहो कोई फरक नहीं पड़ता। कथन संक्षेपविस्तारमात्र है। तीसरे प्रकारसे अधस्त्व है प्राणियोंको लेकर। स्वर्गलोक, मर्त्यलोक, तिर्यक्लोक, नारकलोक, भूतप्रेतादिलोक ऐसी अधः, शाखाएँ हैं।

गीता में प्रथ्म श्लोक में 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखं इस प्रकारं शाखा को प्रथम अधः ही बताया। बादमें द्वितीय श्लोकमें "अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः" इसप्रकार शाखाको ऊपर और नीचे दोनों जगह बताया। क्या यह

परस्पर विरुद्ध नहीं? रहस्य न समझनेपर विरुद्धसा लगेगा। वस्तुतः विरुद्ध नहीं। क्योंकि प्रथम ऊर्ध्वं एवं अधः परमार्थसत्ता एवं अपरमार्थसत्ताको लेकर कहा। द्वितीय श्लोकमें ऊर्ध्व और अधः गुरुत्व और लघुत्वको लेकर कहा। श्रेष्ठता और कनिष्ठताको लेकर कहा।

"ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥"

इसप्रकार पूर्वमें कहा। अतः सात्त्विक स्वर्गादि ऊर्ध्व है और तामस अधः है। तब एक नवीन प्रश्न उठा कि ऐसी हालतमें अधश्चोर्ध्वं इस श्लोकमें मध्यको क्यों छोड़ा? वह भी तो कहना चाहिये था। राजस मध्यम है ही। बात सही है। किन्तु भगवानने संक्षेप कर दिया क्योंकि जो मध्यमें हैं उनमें भी कुछ ऊर्ध्व हैं और कुछ अधः हैं। अतः ऊर्ध्व-अधः विभागमें गतार्थ है। श्रुतिमें ही आया है कि ब्राह्मणादि ऊर्ध्वं हैं और चाण्डालादि अधः हैं। मध्यमें भी ये विभाग हैं।

"तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।"

ब्रह्माणादिकी आधुनिक ढंगसे व्याख्या करनी हो तो सच्चे मार्गसे चलनेवाले ब्राह्मण, सरकारी कामोंमें लगे हुए क्षत्रिय और व्यापार धंधा करनेवाले वैश्य और चोरी डकैतीमें पड़े हुए लोग चाण्डाल। ये भी ऊपर नीचे हैं ही। अतः अधश्चोर्ध्वंसे सर्वसंग्रह हो जाता है। ये कैसे बनते हैं? रमणीय चरण और कपूय चरणसे। यह चरण क्या है इसपर ब्रह्मसूत्रमें विचार किया गया है। कुछ लोगोंका कहना है कि आचरण ही चरण है। जो सदाचारी हों वे उत्तर जन्ममें ब्राह्मणादि होते हैं और जो दुराचारी हैं वे अधम जन्म पाते हैं। आचरण अर्थात् बरताव, व्यवहार। श्रुतियोंमें कर्तव्यतया प्रतिपादित यज्ञादि कर्म आचरण है और लोकमें सत्पुरुषोंके द्वारा आचरित बरताव आचरण है। यद्यपि वह भी श्रुतिस्मृतिप्रोक्त ही है। तथापि स्वर्गादिरूप विशेष फलके निमित्त जो कर्म बताये हैं उससे अन्य कर्म ग्राह्य हैं ऐसा मत कई आचार्योंने व्यक्त किया है। अन्य आचार्योंका

कहना है कि सभी सत्कर्मोंका फल स्वर्ग है। सभी दुष्कर्मोंका फल नरक है। "स स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशेषात्"। किन्तु कर्म जोरदार हों तो ही स्वर्गपर्यन्त पहुंच पाते हैं और जोरदार कर्म भी फलभोगसे शिथिल पड़ जाते हैं तो स्वर्गमें टिकाकर रख नहीं पायेंगे। कुछ सहकारीके कारण पुण्य बलवान हो जाते हैं। अन्यथा कमजोर होते हैं। श्रद्धाकी अधिकता हो तो कर्म बलवान होगा। अन्यथा कमजोर होगा। इसीलिये कर्म समान होनेपर भी कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय और कोई वैश्य होता है। वैसे पापकर्ममें भी है। भयंकर पापी तो नरकमें पड़ेगा। शेष पाप भी यदि उग्र हो तो श्वयोनि, शूकरयोनि आदिमें पहुंचेगा। और कमजोर होगा तो चाण्डालयोनिमें आयेगा।

तात्पर्य यह कि कर्म करो तो श्रद्धासे, भक्तिसे अच्छी तरह करो। चाहे वह पारलौकिक कर्म हो, चाहे इहलौकीय हो। एक पुजारी पूजा करता है, एक भक्त पूजा करता है। पूजारी तो तनख्वाह, दक्षिणा पानेके लिये करेगा। विधि अंशमें वह अधिक अच्छी हो सकती है। किन्तु भक्ति श्रद्धामें अत्यन्त न्यून होती है। एक सात्त्विक ब्राह्मण कहता था कि मैं यजमानकी ओरसे पूजा करता हूँ। विधिसे और श्रद्धासे। उसके मुताबिक यजमान दक्षिणा देता है तो पूरा पुण्य यजमानके पास जायेगा। बाकी मेरे पास रहेगा। उलटा ब्राह्मणके साथ छेतरपिंडी करनेका पाप उसको ऊपरसे मिलेगा। मुझे क्या फिकर है। मैंने पूछा ऐसी कहीं मीमांसा की गयी है क्या? उसने कहा मीमांसा तो लौकिक नीतियोंका संग्रह है। यह भी लौकिक न्याय ही है। तात्पर्य यह है जो सत्कर्म करना है वह अच्छी तरह करो। हां, दुष्कर्ममें खामी रखो। किसीको मारना पाप है। किन्तु बिल्ली चूहेको जिसप्रकार तड़पा तड़पाकर मारती है वैसे मारना घोर पाप होगा। सौराष्ट्रमें एक डाकू था मानसिंह। डकैती डालता था। फिर ब्रह्मभोज भी कराता था। उससे पूछा ऐसा क्यों करते हो? उसने कहा डकैती डालनेकी आदत पड़ गयी। अब उस धनसे शराबखोरी करने करानेकी अपेक्षा ब्रह्मभोज ही करा लूं तो कुछ राहत मिलेगी। इसलिये कर्म समान होनेपर भी ऊर्ध्व अधः विभाग हो गया।

ये शाखायें कैसी हैं ? गीता में आगे विस्तार किया। गुणप्रवृद्धाः। सत्त्वगुण बढ़ाने से ऊपर की शाखायें बढ़ती हैं और रजोगुण की वृद्धि से मध्यम शाखायें किन्तु वहाँ भी वही ऊर्ध्व अधः विभाग है। रजोगुण सत्त्वमिश्रित है या तमोमिश्रित है। यह देखना होगा। यदि सत्त्वमिश्रित होगा तो क्षत्रिय और यदि तमोमिश्रित होगा तो वैश्य होगा। इत्यादि विभाग। सत्त्वगुणकी प्रधानता होने पर ब्राह्मण और तमोगुण की प्रधानता होने पर शूद्र। शुद्ध सत्त्वगुण से ऊर्ध्वशाखा देवादि का विस्तार। शुद्ध तमोगुण से नारकादि योनि।

यह बढ़ाना घटाना सभी इस समय हमारे हाथ में है। अर्थात् मनुष्यलोक में ही संभव है। इसलिये गीतामें इसी श्लोक में आगे कहा– "कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके" सत्कर्म करना या पापकर्म करना हमारे हाथ की बात है। यद्यपि इसमें वंशीय संस्कार भी कार्य करते हैं। जैसे वंश के बड़े होंगे वैसे छोटे अनुकरण करते हैं। फिर वह आदत पड़ जाती है तो छोड़ना मुश्किल होता है। इसलिये कहा जाता है कि शास्त्र श्रवण करो। सत्संगश्रवण करो। जिससे जीवन की क्षणिकता का स्मरण दिलाया जाता है। आगे का परिणाम बताया जाता है। सम्हलने का रास्ता खोल दिया जाता है। अतएव बूढ़े-बच्चे आदि सबको सत्संग अनिवार्य है। मरीन ड्राईव में एक मायी थी (अब भी है) जब तक सत्संग में आती थी तब तक परकीय धनका उसका झोला अलग था। किन्तु सत्संग के छूटने पर स्वकीयपरकीय भेद नहीं रहा। एक यू. पी. के संत थे। गाँवों में जा-जाकर रामायण सुनाते थें। भाई-भाई जहाँ आपस में छोटी बातों पर लड़ पड़ते हैं। मारपीट करते हैं। उस संत ने कई गाँवों को रामायण सुनाकर सुधारा। अरे राम,. भरत आदि भी भाई-भाई थे। हजारों लाखों वर्ष बीत गये, आज भी उनका नाम है। नाम नहीं-बदनाम है। यही तो संसार में बचा रहेगा, नाम रहेगा या बदनामी रहेगी। लोग नाम लेते हैं तो परलोकगत आत्मा को बड़ा सुख मिलता है। यही स्वर्गसुख है। लोग बदनामी करते हैं तो परलोक में महान् कष्ट होता है। यही तो नरकदुःख है। क्योंकि मरणोत्तर आत्मा काफी व्यापक हो जाता है तो श्रवण दर्शनादि होंगे। प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। जैसे आप घर में बैठे हैं। बाहर लोगों को पता

नहीं है कि यह घर में है। यदि बाहरवाले प्रशंसा करते हैं तो कितनी खुशी होती है। निन्दा करते हैं तो कितनी बचैनी होती है। इस प्रकार सत्संग एवं सत्शास्त्रश्रवण से सात्त्विकता बढ़ती है। असत् ग्रन्थ, उपन्यासादि और असत्पुरुष मद्यपायीके संग का परिणाम, फिर कहना क्या है। जैसा संग वैसा रंग।

गीता में थोड़ा और भी वर्णन है। "अधश्च मूलान्यनुसंततानि।" यह पीपलवृक्ष बड़ा विलक्षण है। नीचे शाखा है और नीचे मूल भी है। यह बरगद के समान है। शाखा से सोर निकलकर जमीनमें घुस जाती है। वहां से भी इसको रस खाद प्राप्त होता है। नीचे की सोर कौन-सी हैं ? रागद्वेषमोहदोषाः। इस प्रकार न्यायशास्त्रकार कहते हैं। उससे पुण्यपाप प्रवृत्ति होती है जिससे जन्म होते हैं। जन्म तो शाखा ही है। शाखारूपी जन्म से पुनः रागद्वेषादि, पुनः पुण्यापुण्य प्रवृत्ति, पुनः सदसद् जन्मरूपी शाखा यह चक्र चलता ही रहता है। "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः" ऐसे पाँच सोर योगीलोक कहते हैं। नैयायिक परममूलतया मिथ्याज्ञान को जोड़कर प्रायः बराबरी में पहुँच जाते हैं। वेदान्तमत पहले ही भाष्यव्याख्यानमें हम कह चुके हैं—अविद्या-काम-कर्म ये तीन नीचे के मूल हैं। इस प्रकार अवाक् शाखा भी फैली हुई है। इसे काटना है तो किधर से काटना ? ऊपर मूल से काटकर अलग करना है या नीचे मूल से। उत्तर है ऊपर से तो संग=अध्यासके विपरीत विवेक से काटो और नीचे से संग आसक्ति के विपरीत वैराग्यसे काटो।

एषोऽश्वत्थः। परमात्माका वास्तविक स्वरूप समझाने के लिये संसार-वृक्ष का वर्णन यमराज कर रहे हैं। परमात्मा को मूल कहने से संसार कार्य अपने आप सिद्ध होता है। कार्य से कारण का यथार्थरूप पहचानने में आसानी होती है। ऊर्ध्वमूल और अधःशाख कहकर सामान्यतः छेदनीयता बतायी। अब एक अन्य प्रकार से विशेषवर्णन वैराग्यादि के लिये कहते हैं—अश्वत्थः। अश्वत्थ व्याख्या अनेक प्रकार से होती है। महाव्यायोग में बताया है—

"तिष्ठत्येष प्रकृतिचपलो ह्यश्ववद्धेषमाणो
नायं याति श्वयति न च संतिष्ठतेऽनेकरूपः।
न श्वः स्थाता परमविदुषोऽसंगशस्त्रस्य तस्मा-
दश्वत्थं तं समभिदधते संसृतिं वेदविज्ञाः॥"

अश्ववत्तिष्ठतीत्यश्वत्थः। घोड़े के समान जो रहता है वह अश्वत्थ है। अश्व कैसा है? प्रकृति से चपल है। "तरलास्तुरङ्गाः" इत्यादि प्रसिद्ध है। तरल का अर्थ है चञ्चल। यह खड़ा है। तिष्ठति का अर्थ है—खड़ा है। खड़ा रहने से यह जीर्ण होता है। निकम्मा होता है।

"अध्वा जरा मनुष्याणां वाजिनां बन्धनं जरा
[अमैथुनं जरा स्त्रीणां वस्त्राणामातपो जरा]

ऐसा बताया है। जीर्ण अश्वसदृश यह व्यङ्ग्यार्थ है। जीर्ण अश्व खाता बहुत है किंतु काम आता नहीं। वह केवल कामुक होता है।

न श्वयति, न तिष्ठति चेत्यश्वत्थः। यह दूसरी व्युत्पत्ति है। श्वयतिका अर्थ है गच्छति। न जाता है और न ठहरता है। इसको अश्वत्थ कहते हैं। प्रियजन, दार, सुत, धन आदि ठहर जाय ऐसी इच्छा होती है। सुख स्थिर रहे ऐसी इच्छा होती है। किन्तु ठहरता नहीं। ये सारी झंझटें मिट जाँय, चली जाँय ऐसी इच्छा होती है। पर जाती नहीं। जाने को कहो तो जाती नहीं, ठहरने को कहो तो ठहरती नहीं। यही इसमें विरोधाभास है।

न श्वोऽपि स्थाता यह तीसरा अर्थ है। यह कल तक ठहरने वाला नहीं है। क्यों नहीं ठहरने वाला है? यही तो बात है। समझ लो—सोसाइटी में फ्लेट लिया। प्रतिदिन एक रूपया भरना पड़ता है। अर्थात् महीने में तीस रूपया तब साल में कितना रूपया भरना पड़ेगा ? तीन सौ साठ। सौ साल में कितनी रकम होगी? छत्तीस हजार। दो सौ साल में—बहत्तर हजार (व्याज की रकम नहीं जोड़ रहे हैं) इसी प्रकार प्रतिदिन एक-एक आदमी का जन्म होता है। तो महीने में तीस, साल में तीन सौ साठ। सौ साल में छत्तीस हजार आदमी होंगे। और दो साल में कितने होंगे ? बहत्तर हजार। नहीं। हिसाब गलत है। कैसे गलत ? बराबर तो है। नहीं दो सौ साल में भी छत्तीस हजार ही होंगे। तीन सौ साल में भी छत्तीस ही हजार।क्यों ? मनुष्य शतायु है। इधर सौ वर्ष पूरे होने पर एक एक रोज

मरते भी तो जायेंगे। आज जो पैदा हुआ, सौ वर्ष में मरा। फल जो पैदा हुआ वह आज से सौ वर्ष एक दिन में। परसों वाला सौ वर्ष ऊपर दो दिन में। इस प्रकार जितने पैदा हुए उतने ही मरेंगे। यह भी शतायु हिसाब से हम कह रहे हैं। अर्थात् छत्तीस हजार की आबादी में सौ मरेंगे। एक्सिडेंट मृत्यु अलग है। भारत में लगभग एक अरब की आबादी है तो मतलब तीस हजार आदमी प्रतिदिन मरते हैं। और इतने ही जनमते भी हैं। जैसे एक कपड़ा हजार धागे का है। उसमें से पचास धागे हटाये और पचास नये लगाये तो कपड़ा बदलेगा नहीं ? पचास लाल धागे निकाले, पचास हरे धागे जुड़ गये तो बदलेगा नहीं? नैयायिकों का मत है कि सो तन्तुओं के वस्त्र में वस्त्र में से दस पाँच एक भी निकल जाय तो वह कपड़ा बदलेगा, खण्ड पट हो जायेगा। वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि बारह साल में इस शरीर के पूरे के पूरे अवयव बदल जाते हैं। पूरा खून बदल जाता है। त्वचा आदि भी बदल जाती है। बचपन का फोटो और आज का फोट मिलाकर देखो। क्या कोई पहचानेगा ? नये-नये कण जुड़ते हैं और पुराने-पुराने क्रमशः निकलते जाते हैं। इस प्रकार आकार प्रायः वही हो, पर वस्तु तो बदल ही जाती है। समान आकारादि के कारण प्रत्यभिज्ञा होती है। मरीनड्राईवाली एक मांने विदेश जाकर दस साल रहे हुए बेटे को नहीं पहचाना वैसे तीस हजार बूढ़े मरे और तीस हजार नये बच्चे आये तो संसार का स्वरूप बदलेगा नहीं ? आज जो तीस हजार वृद्धों से युक्त भारत है वह कल नहीं है। इसलिये कहा जा रहा है—न श्वोऽपि स्याता। उन तीस हजार व्यक्तियों में एक दिन हमारा भी नम्बर जुड़नेवाला है। असल बात हम यही बताने जा रहे थे।

"आसक्तं विषयेषु मानसमपाकुर्याः सपर्यापरं
चेतः साधय माधवाङ्घ्रिकमलद्वन्द्वस्य निर्द्वन्द्वतः।
विश्वासं ननु बुद्बुदेषु सरितां तीरेषु मा मा कृथा
मा वा शृङ्गिषु पन्नगेषु नखिषु ज्वालावलीषूर्मिषु ॥"

इन विषयों में आसक्त चित्तको वहाँ से हटा लो और माधव अर्थात् मायापति परमात्मा में लगा लो। क्योंकि अपरिवर्ती अविनाशी वही मायोपहित ब्रह्म है। मायोपहित इसलिये कहते हैं कि जो शुद्ध ब्रह्म है वह

किसी का अनुग्रह, निग्रहादि नहीं करते। वह हमारा अपना आपा है। माया को लेकर ही परमात्मा सृष्टि स्थिति संहार करता है। प्राणियों पर निग्रहानुग्रह करता है और अपने अनुग्रह से तत्त्वज्ञान कराकर स्वरूप-स्थितिरूपी मुक्ति को प्रयोजित करता है। उसकी शरण में जाओ विषयों के पीछ मत लगो। ये विश्वसनीय नहीं हैं। कभी भी धोखा दे सकते हैं। संसार पूरा ही एक धोखा है। माया है। यह मायामय है। अविश्वसनीय है। सामान्यत: तो धोखा है ही विशेषरूपसे देखो तो वही स्पष्ट होगा। जैसे बुद्बुदों में विश्वास करना कि यह सौन्दर्य बना रहेगा-धोखा है। वह क्षण में ही फूट जायेगा। अन्योक्ति है। यह शरीरादि फेनबुद्बुदोपम है। पता नहीं कब फूटेगा, नष्ट होगा। चला जायेगा। इस देह के निमित्त हमने क्या-क्या तकलीफ उठाया ! इस पर कितना प्यार किया। कितना खिलाया पिलाया। किन्तु एक दिन ऐसा गायब होगा कि फिर वापिस कभी नहीं आयेगा। बुद्बुदोंमें विश्वास न करो। सरितां तीरेषु। नदी तीर में विश्वास न करो। नदी तीर में विश्वास कर और यह समझकर कि पानी नजदीक है, मकान मत बनाओ, पेड़ मत लगाओ। कभी भी बाढ़ आयेगी तो मकान धराशायी होंगे। पेड़ उखड़ जायेंगे। जैसे एक बार नर्मदामें बाढ़ आयी। व्यास में नदी किनारे बने हजारों मकान ढह गये थे। कालप्रवाह चल रहा है। यह नदी है। हम सोचते हैं कि बचपन बीतने पर बड़ा काम हाथ में लेंगे। कुछ दिन बाद बड़ा मकान बनायेंगे। किन्तु इस ऊमर का विश्वास न करो, काल का विश्वास न करो। कभी भी बाढ़ आयेगी और तुम्हें बहा ले जायेगी। शृङ्गिषु। सींगवालों पर विश्वास न करो। एक भगत गाय की सेवा कर रहा था। गाय की सेवा उत्तम है। किन्तु बहुत नजदीक मत जाओ। एक बार गाय ने सींग मारा तो उसकी आँख फूट गयी। शृंगियों का अधिक विश्वास न करो। दर्प, अभिमान यह सब शृंग है। अपने दर्प का प्रयोग अनजान में भी कर ले तो भी आँख जायेगी। पन्नगेषु। सांपों में विश्वास न करो। जहाँ पांव जरा सा पड़ गया कि वह डसेगा। जहर चढ़ जायेगा। सर्प किसी का मित्र नहीं होता। उसको जितना ही दूध पिलाओ उतना ही उग्र बनेगा।

"पय:पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्।"

यहाँ सर्प का मतलब दुर्जन है। बाहर से कभी शीतल भी लग सकता है। लोग विश्वास भी कर बैठते हैं। परन्तु मौके पर अपना जहर उगलने लगते हैं—

"दुर्जनस्य च सर्पस्य वरं सर्पो न दुर्जनः ।
सर्पो दंशति काले हि दुर्जनस्तु पदे पदे ॥"

दुर्जन और सर्प की तुलना में सर्प अच्छा निकलेगा। दुर्जन तो अधिक खराब होगा। सर्प समय पर काटेगा। दुर्जन तो पग-पग पर काटेगा। साँपों पर विश्वास न करो। नखिषु। नाखूनवालों पर विश्वास न करो। बिल्ली, कुत्ता आदि नाखून वाले हैं। ज्यादा इनको गोद में मत उठाओ। बिल्ली तो देखने में बड़ी दीन-दीन लगेगी। लेकिन कभी भी नाखून मार सकती है। धूर्त है नाखूनवाला। नम्रत्वं धूर्तलक्षणम्। अतिनम्रता कोई दिखाता हो तो समझना कुछ गड़बड़ी है। नम्रता रखना अलग चीज है। दिखाना अलग चीज है। बिल्ली नम्रता दिखाती है। चूहा सामने आ जाय तब देखना उसकी नम्रता। शिकार सामने आया तो नम्रता गायब हो जाती है। ज्वालावलीषु। अग्निकी ज्वालाका विश्वास न करो। दीखेगी ऊपर ही जाती है। किन्तु अगल-बगल को भी वह पकड़ लेगी। काश्मीर में हमने देखा है एक मकान पर आग लग जाती है। लपटें ऊपर की ओर निकलती हैं। किन्तु आजूबाजू तो क्या छोटी सड़क हो तो उस पार के मकान में भी आग लग जाती है। काश्मीर में लकड़ी के मकान अधिकतर होते हैं। सिमिंट वहाँ बहुत ठण्डा हो जाता है। एक जगह आग लगी और असावधानी रही तो पूरा मुहल्ला राख हो जायेगा। ज्वालावली से यहाँ क्रोधी व्यक्ति समझना। उसे समझाने जाओ तो दो-चार तमाचा तुम पर भी जड़ देगा। रही-सही मित्रता भी खतम होगी। ऊर्मिषु। समुद्र की तरंगों में विश्वास न करो। मरीनड्राइवरी की बात है। वहाँ नरीमान पोयंट है। दो लड़के पोयंट पर नीचे बैठकर तंरगों का तमाशा देख रहे थे। आनन्द आ रहा था। एक बड़ी तेरंग आ गयी उसमें छोटा सम्हल नहीं पाया। उसे बचाने लगा दूसरा। दोनों को तरंग बहा ले गयी। मां दौड़-दौड़कर आ गयी। वह भी फिसल गयी। अखबारों में भी यह समाचार आया था। अमावस्या के दिवस मैं समुद्रदर्शन करने गया था। एक चोरने फलवालों

का फल उचका। फलवाले ने देख लिया। वह भागा और बचने के लिये समुद्र में कूदा। अब वह तरंग के सहारे दीवारके किनारे आ गया। पकड़ने की कोशिश करे। इतने में तरंग खींचकर उसे बीस कदम दूर फेंक देवे। दूसरे तमाशा देख रहे थे। मैंने मछुओं को कहा बचाओ, यह मर जायेगा। मछली पकड़ने का प्लास्टीकका तार देकर उसे किनारे खींचा। फिर मोटी रस्सी मंगाकर बाहर खींच निकाला। जैसे-तैसे बच गया। तरंगों पर विश्वास न करो। तरंगी मनुष्यों पर और तरंग सदृश भंगुर विषयों पर चमक-दमक पर विश्वास न करो। तरंगी मनुष्य पता नहीं कब क्या कर बैठे ! पूरा संसार ब्रह्मसागर की तरंग है। उत्पत्तिलयशाली है। दृष्ट नष्ट स्वभाव है। न श्वोऽपि स्थाता। श्वः तो दूर है। क्षणपरिवर्ती है।

"अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां" ऐसा गीता में बताया है। एक ओर वृक्ष होने से छेदनीय बता रहे हैं। दूसरी ओर भगवत्स्वरूप होने से अच्छेदनीय भी कह रहे हैं। यह विरोधाभास दूसरा प्रतीत हो रहा है। अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां यहाँ वृक्ष पद व्रश्चनीयताकी अभिव्यक्ति करता है। यहाँ हो न हो किन्तु 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं" यहां अश्वत्थं कहकर आगे "असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा" इस प्रकार स्पष्टतया छेदन बताया ही है। यह संसार विरोधाभासात्मक है। सर्वत्र यही स्थिति है। एक ओर संसाररूपसे कहा। दूसरी ओर परमात्मरूप से। दृष्टिभेद है। कार्यदृष्टि से त्याज्य है, कारण-दृष्टि से पूज्य है।

"अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥"

भूत का यहां प्राणी अर्थ भी है। जातमात्र अर्थ भी है। समस्त प्राणियों को भगवान् ने अपना आलय निवासस्थान बनाया। एक डाक्टर कहता था मेरा सभी बैंकों में खाता है। परमात्मा कहता है मेरे समस्त शरीर गृहों में फ्लेट है। आलीयतेऽत्रेत्यालयः। कौन सा वह फ्लेट है ? कमरा है। उत्तर प्रसिद्ध यही है कि हृदयस्थान परमात्माका आवासस्थान है। "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः" यह भगवद्वचन उसीका समर्थक है। "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" इस प्रकार दुबारा भी कहा। इसलिये किसी प्राणी का वध भगवान् का घर उजाड़ना है। सबकी अर्हणा करो, पूजा करो। हम

कैसे सबको चंदन अक्षत चढ़ाकर पूजा करें ? कैसे सबकी आरती करें ? उत्तर दिया–पूजयेत् नहीं कहा। अर्हयेत् कहा। यद्यपि दोनों का अर्थ एक ही है। किन्तु अवयवार्थ अलग है। अर्ह पूजायां धातु है। किन्तु अर्हका अर्थ है योग्य। औचित्यपूर्ण। गौमाता की पूजा करने के लिये कहा। लोग यही समझते हैं गाय को चन्दन कुंकुम चढ़ाओ और हार चढ़ाओ। हार चढ़ाने लगते हैं तो गाय मुँह लम्बा करती है। वह समझती है कुछ खाने की चीज है। गले में डाल दिया तो बेचारी छटपटाती है। गले तक जीभ नहीं पहुँचती। वस्तुतः हार चढ़ाना गोपूजन नहीं । गोग्रास प्रसिद्ध है। गोग्रास देना ही पूजा है। उसीकी अर्हता गाय में है। दान, मान, मैत्री आदि सभी अर्हणा है।

"येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः ।
संतोषं जनयेद्राम तदेवेश्वरपूजनम् ॥"

ऐसा रामजीके प्रति वसिष्ठजीका उपदेश है। येन-केन-प्रकारेण का जैसे-तैसे इतना ही अर्थ नहीं है। तत्तदुचित भिन्न-भिन्न प्रकारेण ऐसा अर्थ है। किसी को चोरी करने से संतोष है वह ईश्वरपूजन-इत्यादि विपरीत व्याख्या है। अतएव अनुचित होने पर पित्राज्ञा भी अपालनीय माना हैं। कोई अर्धनास्तिक बाप कहे कि पितृदेवो भव लिखा है। मैं कहता हूँ तू चोरी कर, हत्या कर तो यह वचनपालन पितृपूजन नहीं है। ययाति ने यदुको कहा तू अपनी जवानी मुझे दे। यदु ने नहीं दी। कहा इससे मुझे मातृगामी होने का दोष होगा। यद्यपि ययाति ने उसे श्राप दिया तुम राज्याधिकारी नहीं होंगे। फिर भी "यदोश्च धर्मशीलस्य" यह विशेषण माना ही गया। गरीबको दान देना, सेठ को मान देना, मित्रको समान भाव देना ये सब उचित होने से पूजन हैं।

दृष्टिभेद से पूज्यत्व तथा छेद्यत्व दोनों है। कुन्तीमाता भगवान् से प्रार्थना करती है कि हे भगवन् ! आप ही ज्ञान वैराग्यादि प्रदाता हैं–

"अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे ।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं वृष्णिषु पाण्डुषु ॥"

हे विश्वेश्वर ! हे विश्वात्मा ! हे विश्वमूर्ति ! मेरी यह प्रार्थना है कि मोह ही परमात्मा से मनुष्य को पृथक् करता है। पाण्डवों को और सात्वतों को

मैं समझती हूँ ये सब हमारे हैं। इनके प्रति मेरा स्नेह भाव है। वही पाश है। कुन्ती कृष्ण की बुआ है। इस प्रकार वृष्णिवंशी सभी सम्बन्धी हुए और पाण्डव तो पुत्र ही हुए। अतः वे भी सगे सम्बन्धी हुए। इनके प्रति जो मेरा स्नेहपाश है इसे आप ही काट डालो। परन्तु दूसरी जगह बताया है—

"मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः"

भगवद्भक्तों का भक्त भगवद्भक्त ही है। तब पाण्डव भगवद्भक्त थे कि नहीं ? यदि हैं तो "स्नेह-पाशमिमं छिन्धि क्यों कह रही हैं ? और भक्तों में यह प्रसिद्ध है कि दूसरा भक्त जब आता है तो दोनों का प्रेमसागर ऊमड़ पड़ता है। उद्धवजी और विदुरजी का मिलन यमुना किनारे होता है। परस्पर मिलन के बाद बिछुड़ते समय—

"आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम् ।
ध्यायन् गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ॥"

तब "स्नेहपाशमिमं छिन्धि" ऐसा क्यों ? दृष्टिभेद से। "स्वकेषु" यह पद इसलिये दिया। ये मेरे हैं इस प्रकारका स्नेह पाशरूप है। भगवदीय हैं सभी ईश्वरके हैं—मद्भक्तानां भक्ताः इसका यही अर्थ है। भोग्यत्वदृष्टि से छेद्य है। भगवद्रूपत्वदृष्टि से पूज्य है। नामरूपप्रधानतासे भोग्यत्वदृष्टि है और अस्तिभाति प्रधानता से भगवद्रूपत्वदृष्टि है। भगवद्रूपताको लेकर अश्वत्थ सर्ववृक्षाणां है। भोग्यताको लेकर व्रश्चनीय वृक्ष है। भगवद्रूपताको लेकर सनातन है और भोग्यता को लेकर न श्वः स्थाता है।

सनातनः । ब्रह्मको जानना अतिकठिन है। अनेक तरीकों से वहाँ पहुँचना पड़ता है। इसलिये विलक्षण ढंग से वर्णन किया है। कहा है।

"ब्रह्मैतदद्वितीयं हि गीयते बहुधर्षिभिः"

इसकी व्याख्या करते हुए कई व्याख्याकार यह कहते हैं कि द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत आदि रूप से ब्रह्म के बारे में ऋषिमुनि नानाविध वर्णन करते हैं। इसका मतलब यह निकलता है कि किसी ने यथावत् निर्वचन नहीं किया। परन्तु वास्तविकता इससे बहुत दूर है। तात्पर्यार्थ यह है कि बह्मको समझाने के लिये ऋषिमुनियों ने अनेक तरीके अपनायें हैं। "ब्रह्मैतदद्वितीयं" इतने से सिद्धान्त बता ही दिया। उसमें फिर द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैतादिका कोई विकल्प नहीं है। समझाने के तरीके अलग-अलग

हैं। कोई विधिमुखसे, कोई निषेध मुखसे और कोई विरोधाभासों से समझता है। प्रकृत में श्रुति कई प्रकार अपना रही है। यहाँ पर कार्यवर्णन द्वारा कारण रूप से समझाने का प्रथम प्रयत्न हुआ। ऊर्ध्वमूलमधःशाखम् । उसके साथ यह भी समझाया कि दुनिया विपरीत समझती है। उनके प्रत्यय पर आधारित कोई निर्णय नहीं लेना। यह "ऊर्ध्वमूलमधःशाखं" इस लोकप्रतीति से विरोधाभास सूचित किया। लोग कहते हैं। जगत् दीखता है, सत्य है। ब्रह्म दीखता नहीं है अतएव असत्य है। यह विपरीत क्यों है ? दीखता है, दृश्य है अतएव सत्य नहीं है। अनिर्वनीय है। दृग्दृश्य-सम्बन्धनिरूपण संभव नहीं है। ब्रह्म ही स्वप्रकाशतया दीखता है। न दीखने की बात ही गलत है। "एषोऽश्वत्थः" यह भी विरोधाभासपूर्ण है। ऊर्ध्व-मूलअधःशाख कहने से प्रथम वृक्षत्वकी उपस्थिति होगी और वह व्रश्चनीयत्व (छेदनीयत्व) सूचनार्थ है। "असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा" इस गीतावचन में स्पष्ट उक्त भी है। किन्तु अश्वत्थ तो काटने योग्य नहीं माना जाता। वह तो भगवत्स्वरूप है। उसकी पूजा लोग करते है– "अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां" ऐसा गीता में बताया भी है। अश्वत्थः के अवयवार्थ पर विचार करने से मालूम पड़ता है कि "न श्वोऽपि स्थाता"। यह कल तक ठहरनेवाला नहीं है। तो काटना ही क्यों ? विना काटे ही जब यह चला जायेगा तो मुफ्त का पाप क्यों मोल लें ? कोई मर रहा है उसे डंडा मारकर मारने की क्या जरूरत ? फिर अश्वत्थः के साथ सनातनः यह विशेषण विरुद्ध पड़ रहा है। जो कल तक नहीं रहनेवाला वह कैसे सनातन ? इन विरोधाभासों के साथ यह मन्त्र प्रारम्भ हुआ है। विरोधाभास का अर्थ लोग विरोध ही समझते हैं जिसके लिये अंग्रेजी का आर्थोडैक्स शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु यह गलत है। उसके लिये वदतो व्याघात, विप्रतिषेध, व्याघात आदि शब्द हैं। विरोधाभासका अर्थ है विरोध सा दीखना, जिसका वस्तुतः परिहार है। अतः विरोधाभास अलंकार माना गया है। दोष नहीं। तात्पर्यार्थ अन्य होता है जिसमें विरोध परिहार होता है। जैसे कोई कहे यह आदमी काम करने में बड़ा ठंढा है। इसलिये पंखा लगाया नहीं, गरमी में मर रहा है। यहाँ कोई पूछे जो ठंडा है वह क्यों गरमी में मरेगा? तात्पर्यार्थ लगाओ। ठंढा माने काम करने में

आलसी। न कि बरफ के समान ठंढा। इस विरोधाभास की ओर ध्यान न देने से वल्लभाचार्यादिने माना कि ब्रह्म में विरुद्धधर्मसमावेश होता है। इसी रहस्य की कड़ी में यह एक और विशेषण है–सनातनः।

सनातनका अर्थ है शाश्वत। जो कल तक स्थायी नहीं वह शाश्वत किस प्रकार ? उत्तर है व्यक्तिरूपसे अस्थायी है और प्रवाहरूप से शाश्वत है। जैसे बीज जला दिया तो नष्ट हो गया। वृक्ष काट दिया तो नष्ट हुआ। दोनों विनाशी है। परन्तु पूँछे कि बीज पहले हुआ कि वृक्ष हुआ। बीज पहले हुआ। किन्तु वृक्ष के विना बीज कैसे बनेगा ? तो बीजसे पहले वृक्ष हुआ। किन्तु वह वृक्ष बीज के विना नहीं होगा। तो इस प्रकार कहो इस वृक्ष से पूर्व बीज था। उससे पूर्व वृक्ष था। उससे पूर्व बीज था, उससे पूर्व वृक्ष था। कब तक बोलेंगे ? नान्तो न चानादिः। इसका आदि अन्त नहीं है। तब बीज और वृक्ष अनादि अनन्त हुआ। यही तो शाश्वतपना है। व्यक्तिगतरूपसे विनाशी है। किन्तु बीजाङ्कुर न्यायसे प्रवाहरूपंसे सनातन है। जैसे नदी प्रवाह है। एक ही नदी मालूम होगी। पानी क्षण क्षण में बदल रहा है। किन्तु मालूम पड़ता है एक ही पानी है। यही प्रवाह है। प्रवाहरूपसे जो हमेशा रहे उसको प्रवाहनित्य कहते हैं।

दूसरा समाधान यह है कि दृष्टिभेद से अश्वत्थ (अनित्य) एवं सनातन (नित्य) है। कैसे ? कार्यदृष्टि से अनित्य है। और कारणदृष्टि से नित्य है। सुवर्ण में और कुण्डल में भेद नहीं है। फिर भी सुवर्ण कारण है, कुण्डल कार्य है। दोनों एक होने पर भी कुण्डल कारण और सुवर्ण कार्य नहीं होता। अतः कार्यभाव तथा कारणभाव नियत है। कार्यदृष्टि से कुण्डल अनित्य है। कुण्डल बनाया जाता है। फिर गलाया भी जाता है। उत्पत्ति एवं विनाशवाला है। किन्तु कारणदृष्टि से नित्य है। कुण्डल बनता बिगड़ता है। सुवर्ण बनता बिगड़ता नहीं है। पहले भी सुवर्ण, बीच में भी सुवर्ण, अन्त में भी सुवर्ण। वैसे संपूर्ण जगत् की भी बात है। ब्रह्म कारण है, जगत् कार्य है। सुवर्ण और कुण्डलके समान दोनों में अभिन्नता है। फिर भी कार्यभाव और कारणभाव अलग है। कार्यदृष्टि से जगत् अश्वत्थ अनित्य है। ब्रह्मदृष्टि से नित्य है। जगत् बनने से पूर्व भी ब्रह्म था। मध्य में भी ब्रह्म रहता है। अन्त में भी ब्रह्म रहता है। पहले हम दिखा चुके हैं–

'ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिति
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये
समस्तऽप्येतस्मिन्'

इस श्लोक को विधिपक्ष से व्याख्या करें तो यह अर्थ होगा कि इस जगत् को ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मदृष्टि से ध्रुव कहता है। विरक्त जगत् दृष्टि से अध्रुव कहता है। तत्त्वविवेचक व्यक्ति दृष्टि से अध्रुव और प्रवाह दृष्टि से ध्रुव कहता है। परमतत्त्वचिन्तक कार्यदृष्टि से अध्रुव एवं कारणदृष्टि से ध्रुव कहते हैं। किन्तु कारणब्रह्मदृष्टि कहाँ होती है? होती है। उस पर ध्यान नहीं देते। अस्ति भाति ही तो ब्रह्म है।

घटोऽस्ति भाति क्षितिरस्ति भाति
भिन्ने घटादौ च मृदस्ति भाति।
एवं क्रमाद्यः परिशिष्यन्तेऽन्ते
स त्वं हि विश्वेश सदादिबीजम् ॥

प्रश्न हुआ कि घटोऽस्ति यहाँ घट उत्पन्न और नष्ट होता है। साथ में ही अस्तिता भी उत्पन्न एवं नष्ट होती है। यदि अस्तिता उत्पन्न एवं नष्ट न होती तो घट फूटने के बाद भी घटोऽस्ति होता। उत्तर है कि घटरूपी आधार न हो तो घटोऽस्ति क्यों होगा ? यह कहें कि केवल 'अस्ति' होगा तो अस्ति होता है परन्तु निरुपाधिक अस्ति संसारकाल में भासित नहीं होता। अतः घटोऽस्ति में घट फूटा तो वह मृत् में भासित होगा। मृदस्ति। मृत्तिका भी खतम हुई तो परमाणु अस्ति होगा। परमाणु खतम होने पर योगियों को तन्मात्राऽस्ति प्रतीति होगी। पांचों तन्मात्रायें समाप्त होने पर अहंकारोऽस्ति होगा। वह भी समाप्त हो जाय तो महत्तत्त्वमस्ति होगा। वह भी समाप्त होगा तब मायाऽस्ति प्रकृतिरस्ति होगा। फिर जब "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" के अनुसार माया समाप्त होगी तब केवल अस्ति अवशिष्ट रहेगा। वही सत् परम आदि बीज है। पर कब ? विश्वमाया-निवृत्ति होगी तब। विश्वमायानिवृत्ति होगी केवल एक ज्ञानमात्र से। तदर्थ ही प्रथम विवेकादिकी आवश्यकता है।

विवेक क्या है ? नित्यानित्यवस्तुविवेक। वही क्या है ? नित्यं ब्रह्म, अनित्यमिदं जगत्। बस इतना ही ? यह तो एक ज्ञान हुआ। इसको हम

विवेक क्यों कहेंगे ? वैकुण्ठादि में रहनेवाला या व्यापक परमात्मा नित्य है। यह दृश्य प्रपञ्च अनित्य है। यह ज्ञानमात्र है। नैयायिक लोग कहते हैं कुछ परमाणु एवं आकाशादि नित्य हैं। घटादि अनित्य हैं। इसे वे साधर्म्यवैधर्म्यमात्र कहते हैं न कि विवेक। घटादिकार्यप्रप्रञ्च में अनित्यत्व-साधर्म्य है। नित्यत्व वैधर्म्य है। आकाशादि में नित्यत्व साधर्म्य है। अनित्यत्व वैधर्म्य है। विवेकका अर्थ साधर्म्य वैधर्म्यज्ञान नहीं है। विच् धातु का अर्थ है–पृथग्भाव। प्रथम एकीभाव होने के बाद फिर अलग जो करना है वहीं वेक या विवेक है। वि उपसर्ग है। जैसे नाश-विनाश, जय-विजय, शुद्ध-विशुद्ध इत्यादि। वैसे वेक् पृथग् भाव ही विशेषरूप से हो तो विवेक कहलाता है। हिमालय और विन्ध्याचलको पृथक् करो। अरे वह तो पृथक् है ही, पृथक् करना क्या ? एकता होने पर पृथक्करण होता है। एकता वास्तविक हो या वैज्ञानिक उसका विवेक होगा। बाजार से साग खरीद लाये। उसमें कुछ सड़ा था तो दोनों को अलग कर विवेक किया। चावल में सफेद कंकड़ मिले थे उसको पृथक् किया, यह विवेक है। इस प्रकार नित्य एवं अनित्य मिल गये हो तब विवेक करना है। वैकुण्ठ में भगवान् है, यहाँ शब्दस्पर्शादि हैं इनका क्या विवेक करना है? इसका यहाँ रहस्य यह है कि नित्य और अनित्य मिले हुए हैं। उन्हीं का विवेक करना है। कहाँ मिला हुआ है? घटोऽस्ति, भाति इत्यादि में घट के साथ अस्ति ऐसा घुल मिल गया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि घट के साथ अस्ति भी पैदा हो गया, घटनाश के साथ अस्तिका भी नाश हो गया। परन्तु यहाँ घट अलग है। घट नामरूप है। अस्ति ब्रह्म है। घट विनाशी है। अस्ति नित्य है। यही नित्यानित्यवस्तुविवेक है।

इस विवेक के होने के बाद वैराग्य होता है। विवेक में जिस प्रकार संशोधन किया वैसे वैराग्य में भी संशोधन करना पड़ेगा। उसी के लिये यहाँ पर असंगशस्त्र का प्रयोग भाष्य में किया। गीता में मूलतः किया। असंग की व्याख्या हम पहले कर चुके हैं। फिर भी यहाँ पुनः संस्मरण कराना आवश्यक है। संग का सम्बन्ध एवं आसक्ति दोनों अर्थ हैं। शराबियों के संग से छोकरा बिगड़ गया यहाँ संगका सम्बन्ध अर्थ है। सत्संग का अर्थ है संतों से सम्बन्ध। आसक्ति भावविशेष है। यही राग है।

राग माने प्रिय व्यक्ति या वस्तुओं को अन्दर लाकर आत्मा से तादात्म्य कर उससे चिपकंना राग है। अप्रिय व्यक्ति या वस्तुको अन्दर लाकर आत्मासे तादात्म्य सम्बन्ध कर उससे द्वन्द्वयुद्ध गुत्थमगुत्थी द्वेष है। पुत्रभार्यादिको अन्दर लाकर आत्मा से तादात्म्य कर विलास करना मोह है। धन को अन्दर लाकर आत्मासे तादात्म्य कर उसमें आकर्षण होना लोभ है। अपने गुणों को अन्दर लाकर उनसे तादात्म्य कर फैलना मद या अभिमान है। परगुणको अन्दर लाकर उनसे तादात्म्य कर जलना ईर्ष्या है। इत्यादि सर्वत्र व्याख्या है। अब इसको उदाहरण से समझा जाय। कोई प्रिय वस्तु सामने आयी, कोई व्यक्ति आया। तो संत को कुछ नहीं होता। उसका चित्र अन्दर आया और आत्मासे जुड़ा। अब उसे चिपकाकर रखने लगे तो वह राग हुआ। शत्रुको देखे तो संतको कुछ नहीं होता। साधारण लोग उसे अन्दर लेते हैं अर्थात् उनका फोटो अन्दर लेते हैं और अन्दर लेते ही आत्मा से तादात्म्य हो जाता है। फिर उसके अन्दर द्वन्द्वयुद्ध शुरू होता है, जलने लगता है। यह द्वेष है इत्यादि। देखने के लिये देख लो। अन्दर तक वह आ भी जाय किन्तु उसके साथ तादात्म्य न किया तो आगे कुछ नहीं होगा। अतः संग कहने से सभी का संग आयेगा। जैसे शराबी का संग भी संग है। संत का भी संग है। वैसे अन्दर प्रिय के संग के समान अप्रियादिका भी संग होता है। इन सब संगों को छोड़ना ही असंग है। उसी को यहाँ असंगशस्त्र बताया है।

प्रियतादात्म्यपूर्वक आलम्भन राग है। गुलाबजामुन बड़ा प्रिय था। उसका तादात्म्य अन्दर करने लगे। किन्तु उस रोज मालूम पड़ा कि उसमें छिपकली गिरकर मर गयी। तो प्रियत्व खतम हो गया। उसके साथ अन्दर द्वन्द्व होने लगा तो रागके बदले द्वेष हो गया। अप्रियतादात्म्यपूर्वक द्वन्द्व द्वेष है। प्रथम कड़ुआ लगने से अप्रिय था। और द्वन्द्व हुआ। जब मालूम पड़ा कि यह औषध है तो अप्रियताबुद्धि समाप्त हो गयी तो द्वेष न रहा। मरीनड्राईवमें एक उत्तमा देवी रहती थी। उसका लड़का अठारह वर्ष उमर में लंडन गया। पच्चीस वर्ष उमर में वापिस आया। रात को ग्यारह बजे आकर घंटी बजायी। उसने डाढ़ी बढ़ा रखी थी। उत्तमाने दरवाजा खोला और देखते ही चीख पड़ी। उसने समझा कोई डाकू आया। जब उसने कहा माँ मैं तेरा बेटा हूँ, तब आवाज पहचान लिया। प्रथम

अप्रियत्वमतिसे अन्तर्द्वन्द्व हुआ। किन्तु बाद में पुत्रत्वमतिसे द्वेष समाप्त हो गया और मोह हो गया। धनबुद्धि से उसे अन्दर लाकर आकर्षित होना लोभ है। फिर वह जहाँ कहीं भी जाय पैसा देखता है। लोभी सत्संग में आयेगा तो वहाँ भी पैसा देखेगा। दादर में एक सेठ ने बताया कि दूसरे व्यापारियों से पहचान करने, बात करने आदि का यह सत्संग अच्छा माध्यम है। ये सभी संग जब मिट जाते हैं तब असंग शस्त्र दृढ़ होता है। "असङ्गशस्त्रेण दृढेन" बताया है। सभी तादात्म्य मिटने पर दृढ़ता आती है। उसी को असल में वैराग्य कहते हैं।

दृढ़ वैराग्य होना चाहिये। दृढेन छित्वा। दृढ वैराग्य भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है। लोगों को क्षणिक वैराग्य होता है। दृढ नहीं।

"स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥"

अन्तःकरण निर्मल हो तो ही वैराग्य-असंग होता है और वह हरितोषण से ही संभव है। प्रथम जहाँ हो वहीं रहकर अपने को शुद्ध करो। गृहस्थमें हो तो वहीं व्यवहारशुद्धि करो और भगवद्भजन करो। ब्रह्मचर्याश्रम में हो तो वहीं नियमपालन के साथ हरिभजन करो। संन्यासी हो तो संन्यास धर्म का पालन करते हुए हरिभजन करो तथा जप करो। तप एवं हरिभजन सर्वत्र आवश्यक है। तभी वैराग्य होगा। क्षणिक वैराग्य होता है। जिसको श्मशान वैराग्य भी कहते हैं।

एक समय की बात है। कबीरदासजीका नाम सुनकर एक भक्त उंनके दर्शनार्थ काशी पहुँचा। पूछता-पूछता वह कबीरचौरा पहुँचा। वहाँ कबीरजी की झोपड़ी थी। उसीके नाम आजकल मोहल्ला हो गया है। वहाँ झोपड़ी में जाकर पूछा तो बोले कि अब घर में नहीं है। भक्त ने कहा मैं बहुत दूर से आया हूँ। मिले विना तो नहीं जाऊँगा। कहाँ गये बताओ। बोले कि आज एक बड़े आदमी की मृत्यु हो गयी है। सभी शोकाकुल हैं। शरीर जलाने सभी मणिकर्णिका घाट गये हुए हैं। भक्त ने कहा—किन्तु मैं पहचानूँ कैसे ? उनके लिये कोई निशानी है ? हाँ निशानी है। सिर में मोर पंख होगा। भक्त मणिकर्णिकामें पहुँचे। वहाँ तो मुर्दों की क्यू थी। नम्बरवार जलाया जाता है। देखा सबके सिर पर मोर पंख है। वह वापिस

कबीरचौरा आ गया। बोलने लगा सब के माथे पर मोर पंख है। यह पहचान नहीं हो सकता। बोले कि वैसे तो सबके माथे पर होगा। आखिर तक जिसके माथे पर हो वह देखो, वही कबीरदास होंगे। भक्त वापिस गया। अर्थी जलायी, सबलोगों ने गंगा स्नान किया। वहाँ ऐसा रिवाज है। गंगा स्नान कर झरोखे से विश्वनाथ दर्शन करते हैं फिर घर जाते हैं। गंगास्नान सबने किया। भक्त देख रहा है कि आधे लोगों के माथे पर मोर पंख उड़ गया है। उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसके बाद सबने झरोखे से विश्वनाथदर्शन किया। इतने में देखा अस्सी प्रतिशत मोर पंख उड़ गये हैं। वहाँ से बड़ी सड़क कुछ दूर है। गली से जाना पड़ता है। मेन सड़कर पर पहुँच गये तो देखा पांच ही प्रतिशत पर मोरपंख है। बाद में सब लोग अपने-अपने घर के लिये अलग हो गये। इतने में देखा सबके माथे पर से मोरपंख उड़ गया है सिर्फ एकके माथे पर है। भक्त दौड़-दौड़ कर चरणों में पड़ा। कबीरजीने कहा कौन हो, कैसे आये हो, किससे मिलना है ? उसने कहा आपसे ही मिलने आया हूँ। दूर से आया हूँ । मुझे किस पहचान से मिलने आये ? आप गुरु कबीरदास हैं। प्रथम जिज्ञासा आपकी पहचान के बारे में ही होगी। अच्छा चलो। कुटिया में गये। फिर प्रथम यही पूछा कि आपकी निशानी यही बतायी कि मोरपंख आखिर तक जिसके माथे पर दीखे। क्या इसका रहस्य है ? कबीरजीने कहा बात यह है कि श्मशान में पहुंचने पर मुर्दे को देखकर लोग कहते हैं—हाय! यही कल तक बात करता था, शासन करता था। आज यह क्या हो गया ? बोलना बंद, शासन बन्द। चिता पर चढ़ाया गया। आगमें जलकर खाक होगा। हम सबकी यही दशा होगी। यह सोचकर लोगों को तत्काल वैराग्य होता है। कितना इसने कूडकपट किया ? कितना पैसा बनाया ? पर सब छोड़कर गया। दूसरे मौज करेंगे। इसके साथ उस दुष्कर्मका परिणाम पापमात्र गया एक दमड़ी साथ में नहीं गयी। वही वैराग्य मोर पंख है। परन्तु यह क्षणभर का है। इसी को श्मशानवैराग्य कहते हैं। गंगा स्नान करते ही आधे लोगों का वैराग्य समाप्त हो गया। विश्वनाथ पहुँचते-पहुँचते अस्सी प्रतिशत पूर्ववत् हो गये। सड़क पर आते-आते पाँच प्रतिशत हो गया। फिर घर की ओर बढ़ो घर याद आ गया। वैराग्य

समाप्त हो गया। मैं संसार की इस क्षणभंगुरतको हर क्षण याद करता हूँ। मुझे अपना मरण हरक्षण संमुख दीखता है। अतः मेरे माथे पर हमेशा मोर पंख रहता है। प्रिय अप्रियत्वादि थोड़ी देर के लिये मन से निकल जाते हैं फिर भी संस्कार रहता है। उस संस्कार के पुनरुद्बोध होने पर वही रागद्वेषादि फिर से उत्पन्न होते हैं। समता से प्रियत्वादि संस्कार मिट जाता है तो पूर्ण वैराग्य होता है। वही शस्त्र है। उस शस्त्र से ही वृक्ष को काटा जाता है।

इस असंगता की प्राप्ति के लिये यह संसार वृक्ष वर्णन है। इसी के लिये विरोधाभासों से निरूपण है। यद्यपि यह तत्पदार्थनिरूपणप्रधान है तथापि कुछ संत महापुरुष त्वंपदार्थ के रूप में भी इसका वर्णन करते हैं। यह शरीर ही अश्वत्थ है। ऊर्ध्वमूल अधःशाख है। मूल सोर वह है जहाँ से आहार-ग्रहण हो। वृक्षका आहार ग्राहक मूल नीचे है। किन्तु मनुष्य का आहार ग्राहक मूल मुख ऊपर है। अतएव यह ऊर्ध्वमूल वृक्ष है। शीर्षासन पर खड़े हो तो बाल और मुख वृक्ष के समान नीचे होंगे। हाथ-पाँव ऊपर शाखा के समान होगा। अँगुलियाँ उपशाखा के समान होंगी। सीधे खड़े होने पर वही ऊर्ध्वमूल अधःशाखा वृक्ष होगा। यह मानवशरीररूपी वृक्ष अश्वत्थ है। क्षणभंगुर है। इसे ख्याल में रखो। इसमें सनातन एक आत्मा है। शरीर क्षणपरिवर्ती है। बारह साल में पूरा शरीर-खून त्वचा आदि बदल जाता है ऐसा वैज्ञानिक मानते हैं। फिर भी हम स्मरण बचपन का करते हैं। अतः मानना होगा कि इसमें कोई सनातन बैठा है। वही परमार्थ तत्त्व है। इस बात को उत्तरार्ध में बतायेंगे।

तदेव शुक्रम्। इस उत्तरार्ध की व्याख्या पहले हो चुकी है। पूर्ववल्ली में त्वंपदार्थप्रधाननिरूपण में 'य एव सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' ऐसा पूर्वार्ध पढ़कर 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म' इत्यादि उत्तरार्ध वहाँ पढ़ा गया है। तथापि वहाँ त्वंपदार्थकी प्रधानता होने से व्याख्या में थोड़ा फरक है और यहाँ भी थोड़ा फर्क है। अतः यहा के प्रसंग के अनुरूप उसकी व्याख्या हम देखेंगे। शुक्लं का शुभ्रं, शुद्धं आदि अर्थ है। 'ईशुचिर पूतीभावे' इस धातुसे शुचि, शुक, शुक्ल आदि शब्द होते हैं।

त्वंपदार्थ जीवात्मा है और तत्पदार्थ परमात्मा ईश्वर है। दोनों में तब तक एकरूपता नहीं होती जब तक इनमें उपाधि है। उपाधि ही मालिन्य है। उसके निकल जाने पर वही शुक्र, शुचि है। जीवात्मा में जीवत्व उपाधि है। परमात्मामें परमत्व उपाधि है। जीवत्व क्या है ? अहंकार। अहं-अहं जिसको लेकर लोग बोलते हैं। ये जीव छोटे से लेकर बड़े तक अहं से युक्त हैं। उनके अहं का पोषण करो तो वे प्रसन्न होते हैं। और उस पर ठेस पहुँचती है तो वे दुःखी होते हैं। एक सेठ यदि दूसरे सेठ से लड़ता है तो एक भिखारी भी दूसरे भिखारी से लड़ता है। किसलिये ? अपने अहं के लिये। सबको इज्जत चाहिये। वह इज्जत क्या ? अहं का पोषण। इसे बुरा नहीं समझना। क्योंकि जब तक जीवभाव है तब तक अहं रहेगा। और उसका पोषण व्यवहारिक पहलू है। हाँ, इसमें यदि दूसरे के अहं की रक्षा करे तो वह उत्तम मनुष्य होगा। इस अहं का मूल अविद्या है। जो स्वतः मलिनरूप है। उसमें तीन गुण हैं, तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण। तमोगुण अलकत्रे के समान है। रजोगुण धूल कीचड़ के समान है। सत्त्वगुण साबुन सर्फ के समान है। ये तीनों ही मालिन्य ही है। अलकत्रा, दाग आदि निकालने के लिये स्पिरिट, घासलेट आदि की राजसकी जरूरत है। धूल-कीचड़ के लिये साबुन सर्फ की जरूरत है। किन्तु साबुन भी कोई अच्छी वस्तु नहीं है। कोई अपने शरीर पर साबुन लगाकर धोये बिना उसे सुखाकर चला नहीं करते। हाँ अफ्रिकामें हबशी लोग ऐसा करते हैं। सुना है वे साबुन लगाकर धोते नहीं। उनसे पूछते हैं कि क्यों नहीं धोते तो वे कहते हैं कि इतना खुशबूदार साबुन धोने के लिये थोड़ा ही है। क्या कोई इतर लगाकर उसे धो डालता है ? खैर हबशियों की बात अलग है। साबून वैसा तो मैल ही होता है।

श्रीमद्भागवतमें गुण वर्णन प्रकरण में गीता की अपेक्षा एक विशेषता देखने में आती है। गीता में त्याग, ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख आदि की त्रिविधता बतायी है। सात्त्विक, राजस एवं तामस। किन्तु भागवतमें विभाजन में एक चतुर्थ प्रकार भी बताया है। वह है निर्गुण। ज्ञान, शान्ति आदि के लिये जो भक्ति है वह सात्त्विक है। धन गृहादि भोगों के लिये जो भक्ति करते हैं वह राजस है। परहिंसा, शत्रुमरण आदि

के लिये जो भक्ति होती है वह तामस है। डाकू, चोर आदि भी भगवान् को प्रणाम कर डकैती आदि के लिये निकलते हैं। निर्गुण भक्ति का स्वरूप है।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये
मनोगतिविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्
अहैतुक्यव्यवहिता.........

यह जीवात्मा भजन ध्यान प्रथम तो सत्संगी होने से निर्गुण से शुरू करेगा। किन्तु मन में कुछ इच्छा होने ही लगती है। तब वह सात्त्विक होती है किन्तु थोड़ी देर में मन भटकने लगता है। राजस हो जाती है। फिर कभी-कभी निद्रा आ जाती है तो तामस हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जीव में मालिन्य आ ही जाता है। इसलिये गीता में तीन ही विभाग किये। किन्तु गीता में इसे लेकर न्यूनता मत समझो। वहाँ निर्गुण को तो अलग कोटि में ही रख दिया। वर्णन उसका भी किया किन्तु अलग कोटि में रखकर। यही तो गुणातीत प्रकरण है।

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥"

इत्यादि से गुणातीत का वर्णन किया। वह मुक्त पुरुषका ही लक्षण है। मुक्त पुरुष का अर्थ है—अहंकार रहित मालिन्य रहित। भागवत में भी वही तो बताया हैं—यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ। गङ्गा समुद्र में मिलती है तो किसलिये ? ज्ञानार्थ, धनार्थ, परहिंसार्थ ? नहीं। उसका वह स्वभाव है। संत स्वभावतः भक्ति करते हैं। स्वभावतः उनका चित्त ब्रह्म की ओर लग जाता है। बाह्यार्थ की ओर नहीं। उसके योगक्षेम की ओर नहीं। असल में नचिकेता का अर्थ भी वही है। न चिनोति न केतयति च। चि माने संचय करना। केत-निकेतन संग्रह को कहते हैं। संचयन चारों ओर से जुटाना। निकेतन उसको जमाना, संरक्षित करना। व्यापारी बाजार में संचयन करता है। घर में उसका संग्रहण संरक्षण करता है। इसी को योग और क्षेम भी कहते हैं। अप्राप्त प्रापणं योगः। प्राप्त परिरक्षणं योगः। इन दोनों से युक्त चिकेता है। दोनों से रहित नचिकेता है। बाह्यार्थग्रहणरक्षणपरा

उसकी बुद्धि नहीं। किन्तु बाह्यार्थत्यागपरा है। अतः नचिकेता हैं। कैसे मालूम पड़ा ? क्या प्रमाण ? उत्तर–"पीतादेका जग्धतृणा" में आ गया। वाजश्रवस संचयन से ग्रहण में लगे थे। नचिकेता धन को खर्च करने के पक्ष में थे।

योगसूत्र में यमनियमादि अष्टांगयोगवर्णन में पाँच यम बताये हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनमें अपरिग्रह की व्याख्या है–संचयसंग्रहाभाव। परिग्रह ही बड़ा भारी ज्ञानावरण है।

"अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः।"

ऐसा पातञ्जलसूत्र है। अपरिग्रहाभ्यासकी सिद्धि होने पर पूर्वजन्मादि में कौन था मैं, कैसा था इत्यादि का भी बोध होता है। कैसे ? इस पर भोजराज कहते हैं–

"न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एव परिग्रहो।
यावदात्मनःशरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः॥"।"

क्योंकि धनादि के समान शरीरादि भी बाह्य पदार्थ हैं। वहाँ से विरक्ति होने पर नचिकेता होता है। नचिकेता यमलोक जाने को तैयार हुए खुशी से। यमलोक जाने का सामान्य अर्थ है मरना। स्वर्गवासी हो गये का अर्थ है मर गये। नचिकेता मरने को भी तैयार थे। क्योंकि शरीरादि में भी उनका मोह नहीं था। ऐसा जीवात्मा जीवत्वोपाधित्याग से शुक्र हो जाता है, निर्मल हो जाता है। यही त्वंपदार्थप्रकरण में तदेव शुक्रं का अर्थ है।

प्रकृत में तत्पदार्थप्रकरणपठित शुक्रं का अर्थ भी मालिन्यरहित है। ईश्वर में मालिन्य क्या है? माया। भले वह शुद्धसत्त्वप्रधान हो किन्तु है मालिन्य ही। साबून के समान है। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि जीवन्मुक्त में मालिन्य वासनामात्ररूप से रहता है। वैसे परमात्मा में भी वासनात्मना स्थित है। उसके रहने न रहने में कोई खास फरक नहीं पड़ता। जीवनमुक्त, विदेहमुक्त इतना ईषत् भेदमात्र है। अतः ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख इत्यादि ईश्वरवर्णनके बाद आसानी से तदेव शुक्रं बताया।

तद् ब्रह्म जीवात्मा में बड़ा भारी मालिन्य अहंकार है। अविद्या प्रयुक्त अहंकार ही अशुद्धि है। जैसे चन्द्रमा में मालिन्य प्रकाश को ढ़ँकता है वैसे अहंकार भी ज्ञान प्रकाशको ढ़ँकता है। परिच्छिन्न करता है। जहाँ मूल

परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। वहां आत्मा शुद्ध होता है। ज्ञानी के लिये बताया है।

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वावनिः
यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः ।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्

शरीर की शुद्धि तीर्थस्नान से होती है। जिसने ब्रह्म में गोता लगाया वह शुद्ध हो जाता है। समस्ततीर्थों में स्नान करने की शुद्धि उसमें आ जाती है। ब्रह्मज्ञानी का चरणस्पर्श सर्वपापमलनाशक है। धन की शुद्धि दान से होती है। ब्रह्मचिन्तन जिसने किया उसने समस्त पृथिवी का दान कर लिया। "भुवि गृणन्ति ते भूरिदाजनाः" ऐसा बताया। "तव कथामृतं" ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मकथा बोलने लगता है यही सर्वाधिक दान है। क्योंकि वह ब्रह्म को ही दे रहा है। तन की शुद्धि यज्ञों से होती है। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः सामान्यतः शरीर शुद्धि तीर्थ से। विशेष शुद्धि यज्ञ से जिससे अधिकारिता आ जाती है। ब्रह्मज्ञान महायज्ञ है। "ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतं" बताया है। तप से मनःशुद्धि होती है। "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि" देवद्विजगुरुप्रज्ञपूजनादि तप है। ब्रह्मवेत्ताने सर्वदेव पूजन किया। "यथा तरोर्मूल निषेचनेन" बताया है। ब्रह्म पूजन करो सर्वपूजन हो जाता है। श्राद्धतर्पण से "पतन्ति नरकेऽशुचौ" इस अशुचि से उद्धार होता है। जो ब्रह्मवेत्ता होता है वह अपने पूर्व एवं पर इक्कीस पीढ़ी के पितरों का उद्धार करता है। कौन ? जिसका मन ब्रह्म में क्षणभर के लिए भी मग्न होता है।

ब्रह्मबोध से हम शुक्र हुए कि नहीं कैसे मालूम पड़ेगा ? शुद्धि तो अतीन्द्रिय पदार्थ है। सफाई बाथरूम में है, पर शुद्धि नहीं। वहाँ बैठकर कौन पूजा करेगा। गोबर लेपने से सफाई नहीं होती शुद्धि होती है। यहां कहते हैं—तद्ब्रह्म। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति वह ब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्म माने बृहत्। अहंकारने इसे परिच्छिन्न बताया है। आप काल से परिच्छिन्न हो गये। देश से परिच्छिन्न हो गये। अतः अर्जुन को भगवान् ने कहा—नित्यः

सर्वगतः स्थाणुः। वस्तु परिच्छेद वारणार्थ कहा–"वासुदेवः सर्वं" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"।

"जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमान्मदः पुमान्" इस मदने इसे परिच्छिन्न बना रखा है। जीवात्मा अहंकार से परेशान है। परिच्छिन्न है। अहंकार के छूटते ही वह अपरिच्छिन्न हो जाता है। जब तक अहं रहा तब तक साढ़े तीन हाथ परिच्छिन्न में समस्त बुद्धि का व्यय हुआ। उसके अवच्छेदक शरीर के योगक्षेम के पीछे लगे रहे। किन्तु उस परिच्छेदके हटते ही–

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः"

की उदात्तभावना जग जाती है। तब वह ब्रह्म होता है। ईश्वर में भी माया परिच्छेदिका है। ईश्वर किस प्रकार परिच्छिन्न है ? वह तो अनन्त जगत् में व्यापक है। वह साढ़े तीन हाथ में सीमित नहीं है। किन्तु माया एवं तत्कार्य स्वयं परिच्छिन्न है। भले ही हमारी दृष्टि में व्यापक अनन्त हो। श्रुतियों में कहा है–

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"

संपूर्ण जगत् परब्रह्म के एक पाद में आता है। तब उसका मूल माया भी एक ही पाद में आयी। तब मायावच्छिन्न चैतन्यरूप ईश्वर भी परब्रह्म के पाद में ही आ गया तो परिच्छिन्न क्यों नहीं ? जब ईश्वर की उपाधि माया निवृत्त होती है तब ईश्वर ब्रह्मरूप होता है। जीवात्मा उपाधित्यागसे ब्रह्म हुआ, परमात्मां भी उपाधित्यागसे ब्रह्म होता है। इसी को लेकर एकता का वर्णन है।

यह बात वेदान्त के सम्यक् अनध्ययन का परिणाम है कि जो लोग कहते हैं मैं ईश्वर हूँ। जीवात्मा कभी भी ईश्वर नहीं हो सकता। जीवात्मा ईश्वर तब हो सकता था यदि उसे माया उपाधि मिल जाती। परंतु माया उपाधि जीवात्माको कभी नहीं मिल सकती। क्योंकि जीव एवं ईश्वरका उपाधिसम्बन्ध अनादिसिद्ध है। तब जीवात्माका उपाधिरूप अहंकार या अविद्या का सम्बन्ध समाप्त हुआ तो वह सीधा ब्रह्म ही होगा। मायोपाधिसम्बन्ध कभी नहीं हो सकता। भागत्यागलक्षणासे कहें सो अलग बात है। किन्तु जीवमें ईश्वरता नहीं आ सकती। हां, पूर्ववल्लीमें जीवको ब्रह्म कहा, यहां ईश्वरको ब्रह्म कहा, इसप्रकार ब्रह्मरूपसे एकता है। ब्रह्म

शब्दका बृहत् अर्थात् अपिरिच्छिन्न अर्थ है। जो देशकाल एवं वस्तुसे अपरिच्छिन्न हो वही ब्रह्म है। इसका विवरण पहले आ चुका है।

तदेवामृतमुच्यते। वही मायामलरहित ब्रह्म अमृत कहलाता है। जीवात्मामें जबतक अहंकार है तब तक वह मर्त्य कहलाता है। मर्त्य अर्थात् मरणधर्मवाला है। वैसे तो वह जन्मवाला भी है। अतः उसे जन्तु, जन्मी आदि भी कह सकते हैं। किन्तु जनमना बुरा नहीं। किसीको बुरा लगता भी नहीं। जन्मसे तो खुशी मनायी जाती है। स्वयं जनमते समय भले रोएं किन्तु दूसरे लोग प्रायः खुश होते हैं। मरनेके लिये तो स्वयं भी रोते हैं। दूसरे भी रोते हैं। जन्मके लिये रोना तो यद्यपि तत्त्वज्ञानी कहते हैं। क़हते हैं कि जन्मसंसारसम्बन्धसे हम छुटकारा पायें। किन्तु बात ऐसी है कि पूर्वमें जो कसर रह गया उसका परिणाम जनम हुआ। उस कसरको इस जनममें पूरा कर सकते हैं। इस मानवजन्मकी महत्ता आगे बतायेंगे ही। किन्तु जन्म लेकर मर गया तो अफसोसकी बात ही होगी। प्रश्न होगा कि जन्म लेगा कोई तो मरेगा भी। उसमें क्या अफसोस? अफसोस यही कि मनुष्य होकर तप द्वारा अमर होना चाहिये था। अतः तदेवाऽजनमुच्यते ऐसा नहीं कहा। किन्तु "तदेवामृतमुच्यते" बताया। अमृतका तात्पर्य है कि अहंकारपरित्यागसे कालपरिच्छेदके अध्याससे निर्मुक्त होकर मरणभयरहित हो जाना।

ईश्वरमें यद्यपि मरणाध्यास नहीं है। फिर भी मायावासनात्मक बाधित जन्ममरणभाव है। अतएव ईश्वर अवतारके समय लीलासे जनमता है। और लीला समाप्त होनेपर तिरोभूत होता है। सर्वथा अमृत तो निरुपाधिक होनेपर ही संभव है। फिर भी ईश्वरको अनर्थकारी अध्यास न होनेसे वह अमृत ही है। अमृतशब्दसे केवल अमरण ही अभिप्रेत नहीं है। देवलोकमें एक अमृत, प्रसिद्ध है।

"अमृतं राजसम्मानममृतं क्षीरभोजनम्
अमृतं शिशिरे वह्निरमृतं प्रियदर्शनम्"

इत्यादि बताया है। जाड़ेमें आग सेंकते हैं तो वह भी अमृत है। चिरकालके बाद जब कोई प्रिय मिलता है तो वह मिलन भी अमृत है। अमृतका इन सब जगह उत्कृष्ट आनन्दरूपता अर्थ है। जीवात्मा समझता है कि मेरे

अहम्‌की पुष्टि होनेसे मैं आनन्दित हूं। किन्तु यह उसकी भूल है। अहंके त्यागसे जब वह ब्रह्म हो जाता है तब वह आनन्दित होता है। वह निरतिशय आनन्दरूप है। अतः "तदेव" यह एवकार है। वही अमृत है। अन्य सब अमृताभास है। "यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं", "नानवाप्त-मवाप्तव्यं" ऐसी स्थिति जब हो तब अमृतत्व है। अमृतं शिशिरे वह्निः इत्यादि चाणक्य का श्लोक है। चाणक्यने द्व्यर्थकरूप में कहा है। शिशिर जड़ता को भी कहते हैं। शिशिरं जाड्ये। उसमें वह्नि अमृत है। वह्नि अग्नि पर्याय है। अग्नि का ज्ञानस्वरूप आत्मा अर्थ है, "अग्निमीले पुरोहितम्" यहां अग्रणी होनेसे अग्नि को परमात्मा अर्थ बताया है। आगे ले जाने वाला प्रकाश है, विशेषतया ज्ञान प्रकाश है। वह प्रापणे। वहति प्रापयति लक्ष्य-स्थानं परमात्मानमिति वह्निः। जाड्य में ज्ञान ही अमृत है। अमृतं प्रियदर्शनम्। प्रिय कौन है? पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तऽरतरं यदयमात्मा। आत्मदर्शन अमृत है। नाना दुःखात्मकसंसारमध्यमें आत्मरूपी प्रियतम मिल जाये तो इससे बढ़कर क्या हो। अमृतं राजसम्मानम्। राजा का सम्मान बहुत छोटा भी पहले समय में अमृत लगता था। दूसरा अर्थ है संमानानां राजा राजसंमानः। "राजदन्तादिषु परम्" संमानका आदरादि तथा सम्यक्‌मान–ज्ञान दोनों अर्थ हैं, प्रथम पक्षमें तो पहले ही बताया– एतदालम्बनं श्रेष्ठम्, एतदालम्बनं परम् एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते। महीयते पूज्यते। ॐकारालम्बनसे उपासक ब्रह्मलोक पहुंचता है। और वहीं पूजित होता है", त्रैलोक्यपूज्योप्यसौ" ऐसा पहले बताया। अमृतं क्षीरभोजनम्। खीर खाना अमृत है। चाणक्य को अच्छा लगता रहा होगा। एसीडिटी कम हो जाती है इसलिये अमृत हो। क्षीरसागरशायी भगवान् नारायण है। क्षि निवासो। ईर गतौ। भुज पालने। प्राप्तनिवास स्थान का संरक्षण अमृत है।

तद्ब्रह्म से जो ब्रह्मप्राप्ति बतायी उसीका परिणाम अमृत है। ब्रह्म प्राप्तिसे ही अमृतत्वं संभव है। "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" यह मैत्रेयी के प्रश्नपर याज्ञवल्क्य का जवाब है। वित्तसे अमृतत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। किन्तु ब्रह्मवेदनसे ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। किन्तु वित्तसे अमृतत्वप्राप्तिकी संभावना कहां थी? क्या पैसे से अमृतत्व खरीदेंगे?

प्रातौ सत्यां निषेधः। यहां वित्त का अर्थ वित्तप्रयुक्त कर्म है। "अथ वित्तं मे स्यादथ कर्मकुर्वीय" पहले समय में वित्त का अर्थ कर्म ही होता था। अब तो वित्त का अर्थ काम हो गया है। धर्म-अर्थ-काम यहां मध्य में अर्थ आता है, 'अर्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय न स्मृतः' आज भले विपरीत होकर अर्थस्य कामैकान्तस्य हो गया हो किन्तु उपनिषत् में धर्म ही अर्थ है। कर्मणा अमृतत्वस्य नाशा। यह तात्पर्य है।

"कर्मणा मृत्युमृषयः निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः"

इत्यादि श्रुतिवचन है तथा मरणभय भारी है। न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यहां अर्जुनने भी मरणभय दिखाया। उसका अध्यास छूटना ही अमृत है। यह ब्रह्म प्राप्ति की निशानी है।

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके"

इसप्रकार सभी अर्थ प्राप्त हो जानेसे आप्तकामता आ जाती है। "सर्वे कामा अतो निवर्तन्ते" उससे सब कामनायें समाप्त हो जाती हैं। वह अकाम, निष्काम, आप्तकामं होता है। वही वास्तविक अमृत है। कैलास वैकुण्ठादि प्राप्त होनेके बाद भी "जक्षत् क्रीडन् रममाणः" के अनुसार भोगेच्छा बनी रही तो वह कैसे अमृत माना जाएंगा।

तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे। जीवात्मा अहंकारको त्यागता है तो उसको लगेगा यह सारा जगत् मुंझमें ही है।

"यस्य प्रसादादहमेव विष्णुर्मय्येव सर्वं परिकल्पितं च"

गुरूपदेशसे जब अहं ब्रह्मास्मि बोध होता है तो मैं विष्णु हूँ ऐसा आभास होने लगता है। क्या चतुर्भुज विष्णु? विष्णुका व्यापक अर्थ है। व्यापक रूप हो गया तो फिर क्या होगा? समस्त लोक अपनेमें ही दीखने लगते हैं। ईश्वरमें भी यही बात है। ईश्वरमें समस्त लोक आश्रित हैं। ईश्वर कहीं भी आश्रित नहीं है। समुद्रमें तरंग उठी। फेन बुद्बुद पैदा हो गये। उन तरंगोंमें, उन फेनबुद्बुदोंमें क्या चीज है? पानी। किन्तु पानीमें तरंग है या तरंगमें पानी है? वैसे ही यहां भी है। जगतमें हम हैं या हममें जगत् है? यदि पानी अपनेको समुद्र समझता है तो पानीमें तरङ्ग है। किन्तु यदि पानीको बूंद समझते हैं तो तरंगोंमें पानी है। अहंकारसे यह जीवात्मा बिन्दु बना तो जगतमें यह जीव है। बिन्दुभावात्मक अहंकार छूटा तो

पानीमें तरंग है। ध्यानसमाधिवेलामें अहंकारका दायरा छूट जाना चाहिये। व्यापक बन जाना चाहिये। तब आभासरूपसे पूरा विश्व अपनेमें तरंगके समान आश्रित अनुभव करेंगे। ईश्वर भी अवतारकालमें अपनेको परिच्छिन्न सा देखता है। जगतमें अपनेको देखता है। किन्तु अवतारभाव समाप्त होते ही व्यापकभाव आ जाता है तो अपनेमें जगत्को देखता है।

ऐतरेयमें बताया है—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किंचन मिषत्। स ईक्षत् लोकान्नु सृजा इति। स इमाल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचि मरमापः। अम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा अन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी भरः। या अधस्तात्ताआपः। सर्वप्रथम सृष्टिपूर्व एक आत्मा ही था। परमात्मा कहने की जरूरत नहीं। क्योंकि मिलावट आने पर उसकी व्यावृत्ति के लिये शुद्ध को बताने के लिये परमादिविशेषण कहना पड़ता है। जैसे शुद्ध दूध, शुद्ध घृत आदि। अतः उपनिषदों में कहीं परमात्मा नाम नहीं आया। उस परमात्मा ने ईक्षण कर सृष्टि बनायी। अर्थात् दृष्टि-सृष्टि बनायी। यद्यपि परमात्मा की शक्ति परमात्मा से अविभक्त है। परंतु अनादिकालसे विभक्तसा है। उस शक्ति का ही रूपान्तर ईक्षण है। उससे अनादिकाल प्रवाहागत स्वगत सुप्त वासना प्रबुद्ध हो गयी। यही अम्भ है। अर्थात् जगत् में चार लोक हैं। अम्भ, मरीचि, मर और आप। मोटा अर्थ बताया अम्भ माने "द्यौः" स्वर्ग दिवः परेण। दूसरा अन्तरिक्ष उससे नीचे। उससे नीचे मर-मरणधर्मा पृथिवी। उससे नीचे पाताल। या वरुणलोक। स्वर्गलोक गन्धर्वादि अन्तरिक्षलोक, पृथिवीलोक और पाताल लोक। इसका दूसरा अर्थ है—अम्भ माने कारण लोक। वह है—उद्बुद्ध वासनारूप। जैसा बीजसे अंकुर पैदा होते समय प्रथम उच्छूनता होती है। तभी बीज अंकुरकरण होता है। उसके बाद मरीचि। किरणप्रसार। अर्थात् सूक्ष्म-लोकसृष्टि अणुके अंदरही सूक्ष्म पक्षी आकार होता है। माताके उदरमें ही बालक के हस्तपादादि अभिव्यक्त होने लगते है। महत्तत्व अहंकार पंचतन्मात्रादि सूक्ष्मजगत् है। उसके बाद मर—स्थूल जगत् उत्पन्न होता है। पृथिवी जलादि समस्त स्थूल जगत् है। स्थूलमें स्थूलतर जगत् आप है आप्नोति स्थूलम्। स्थूलमें जीवकल्पना जगत् आप है। परमात्मा की सकंल्पशक्ति ही यह जगत् है। हमारा मन होता है। परमात्मा की

मनःस्थानापन्न माया शक्ति होती है। अभिन्न होने पर भी अनादि काल से किंचिद्भेदापन्न है। उससे मायाशक्त्यन्तःस्थित वासना को जागृत किया। प्राणिवसनासहकृतसंकल्पने जगत् बनाया। जैसे योगी भी सृष्टि करते हैं।

"बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं पुन-
र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया।

इसीलिये योगी तपस्वी निग्रहानुग्रह समर्थ होते हैं। सर्वे सर्वशक्तिमन्तः। शक्तियों का प्रादुर्भाव मात्र करना है। अगस्त्यने नहुषको सर्प बनाया। सन्त आशीर्वाद देते हैं। संकल्पशक्ति से।

दूसरी व्याख्या है—अभिशब्दे—अम्भः। प्रथम ॐकार प्रादुर्भूत हुआ। फिर उसकी किरणरूपी समस्त वाक् सृष्टि हुई। उसके बाद—मरः अर्थ सृष्टि हुई। अर्थ सृष्टि के बाद उसपर जीवात्माओंकी जीवसृष्टि "आपः" हुई।

भक्तलोग भगवानकी स्तुति करते हैं तो कहा जाता है कि भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसपर कुतर्क करनेवाले मजाक करते हैं कि चापलूसी किसको पसंद नहीं? भगवानको भी पसंद है। तभी तो भगवान् स्तुतिसे प्रसन्न होते हैं। स्तुति तो एक प्रकारकी चापलूसी तो हुई। वास्तविकता यह है कि स्तुतिसे प्रसन्न होते हैं। स्तुति तो एक प्रकारकी चापलूसी नहीं है। किन्तु वास्तविक स्वरूपकथन है। परमात्मामें भी मायारूपी ईषदावरण माना है। जब भक्तलोग परमात्माका स्वरूपवर्णन करते हैं तो परमात्माको स्वस्वरूपका यथार्थबोध होता है। तब व्यापक भाव आता है और पूरे जगतको अपनेमें कल्पित देखने लगते हैं। इसीके लिये परमात्माको स्तुति पसंद है। तब परमात्माकी शक्ति आविर्भूत होती है और वे वर देते हैं। भागवतादिमें जहां कहीं भगवत्स्तुतियां आयी हैं वहां भारी तत्त्वज्ञान भरा मिलेगा। अतएव सन्त व्याख्याता स्तुतियोंको विशेष महत्त्व देते हैं। वे कहते हैं कि भागवतादिमें स्तुतिभाग ही तो रहस्यमय एवं महत्त्वपूर्ण है। द्वैतवादियोंको भी यह मानना ही होगा कि स्तुतिसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। अर्थात् परमात्माका अपना आनन्द अभिव्यक्त होता है। तब आनन्द ही क्यों? स्वरूपतत्त्व भी अभिव्यक्त होता है माननेमें क्या हर्जा? मायारूपी लेशाविद्यावरणसे आवृत्तसा स्वरूपस्तुतिसे अभिव्यक्त होता है। तो समस्त जगतको परमात्मा

अपनेमें कल्पित देखने लगता है। अतएव तुम कमलनयन हो, सुवर्ण-कुण्डलधारी हो इत्यादिकी अपेक्षा तुम सच्चिदानन्द हो, अखण्ड हो इत्यादि स्तुति अधिक उत्तम होती है। शंकरभगवत्पादकृत स्तुतियोंमें यही तो विशेषता है। तत्पदार्थशोधनात्मक स्तुति सर्वोत्तम है। जगद्धर भट्टका कहना है कि मैं अपनी वाणीको भगवान् शंकरकी स्तुतिमें ही लगाऊंगा। राजा महाराजाकी स्तुतिमें नहीं। क्यों? जीवात्माकी स्तुति करो तो उससे उसके अंहकारकी ही वृद्धि होगी। फलतः वह प्रयत्न निष्फल होगा। परमात्माकी स्तुति करो. तो "स श्रृणोत्यकर्णः" कान बिना भी व्यापक होनेसे सुन लेता हैं तो मायोपाधि क्षीण एवं क्षीणतर होती है। अतएव भजनकीर्तनादिको तत्पदार्थशोधनात्मक बताया गया है।

तदु नात्येति कश्चन। परिशुद्ध जीवात्मा या परिशुद्ध परमात्माका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। लोग नदी पार करते हैं। क्योंकि उसकी सीमा है। तट है। समुद्र भी पार करते हैं क्योंकि उसकी भी सीमा है। पक्षी उड़कर आकाशको पार नहीं करता। क्यों? उसका पार नहीं। सीमा नहीं। संसार भी व्यावहारिक दृष्टिसे अपार है। किन्तु परमार्थदृष्टिसे नहीं। परमार्थदृष्टिसे परमात्माके एक पादमें संसार है। उसे पारकर परमात्मा-स्थित है। "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" ऐसा श्रुतिमें बताया है। परमात्माका पार नहीं है। वह अनन्त अपार है।

गीता में बतांया है–

"वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव, दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥"

और सब फलों का अत्ययन–अतिक्रमण होता। ब्रह्मरूपी परमफलका अत्ययन नहीं होता। वेद का अर्थ है–वेदानुवचन। उसका फल महान् होता है। महर्षि पतञ्जलि व्याकरण महाभाष्यमें कहते हैं–एकः शब्दः सम्यज् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति सामान्य संस्कृत शब्द की यह महिमा है ठीक तरह प्रकृति प्रत्यय एवं अर्थ समझो, मीमांसा से निश्चय करो। और प्रयोग करो। यह कृष्ण को कोई कृष्ण और दूसरे क्रीष्ण बोलते हैं यग्य, यग्न, यन्या इत्यादि बोलते हैं तो सुप्रयुक्त नहीं। स्थान प्रयत्नानुसार सुप्रयुक्त होना चाहिये तो स्वर्ग में वह कामधेनु का काम

करेगा। फिर यदि वैदिक शब्द हो तो कहना ही क्या? वेद पुण्यसे मानव न्यूनतम दूसरे जन्म में मानव ही बनेगा। एक सत्तरवर्ष के बूढ़े महात्मा लघुकौमुदी पढ़ने लगे थे। उनसे पूछा क्या आप पण्डित बनेंगे ? वे बोले यह तो मैं नहीं जानाता। किन्तु दूसरे जन्म में मनुष्य बनूंगा भारतीय बनूंगा। क्योंकि संस्कृत संस्कार मुझे यहीं ले आयेगा। उसके बाद फिर देखा जायेगा। "अयं लोकः" तो प्राप्त होगा ही। यज्ञ करने से क्या होगा? स्पष्ट है–"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापयज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते"। स्वर्ग मिलेगा। कर्मणा पितृलोकः। पितृलोक नामक स्वर्ग मिलेगा। तप से क्या प्राप्त होगा? उपासना तप है। उसको विद्या भी कहते हैं। विद्यया देवलोकः "यज्ञेन यज्ञमयजन्त" मन्त्र आता है। यज्ञ से विष्णु का पूजन किया। वही मुख्य धर्म हुआ। वे नाक–क सुख, अक दुःख, नाक दुःखरहित महिमान हो गये। महर्लोक गये और तपसे तपोलोक गये। यज्ञ और तप (उपासना) दोनों के समुच्चय से ब्रह्मलोक गये। (ष च समवाये) जहां पूर्व देव–विद्वान् गये। विद्वांसो वै देवाः। दान सबको सात्त्विक बनाता है। असृष्टान्न अदक्षिण सभी तामस हो जाते हैं। सकामभावसे ये फल हैं। निष्काम का फल विविदिषा है–तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा। खैर, यह सकामं की बात है। योगी इन सब लोगों को–अत्येति–पारकर आगे बढ़ता है। कहां तक पहुंचेगा? ब्रह्म तक। उसको भी पारकर कोई आगे जायेगा कि नहीं? नहीं। तदु नात्येति कश्चन। जो देशकालादि परिच्छिन्न है उसको लोग पारकर सकते हैं। यहां तो नमक की पुतली समुद्रपार करने निकली जैसी बात होगी।

एतद्वैतत्। इसीका फिरसे एक बार पुनरावलोकन किया जाये। नचिकेताने मूल प्रश्न किया था–"ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके"। वह तो अस्ति नास्तिको लेकर प्रश्न था। उसमें अस्ति पक्षको लेकर पुनः प्रश्न किया था–"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद"। धर्म-अधर्मसे कृतअकृतसे तथा भूतभव्यसे जिस पृथक् तत्त्वको आप देखते हैं उसे आप बताईये। इसीका उत्तर देते आ रहे थे–"एतद्वैतत्"। यही वह तत्त्व है जिसे

तुमने पूछा था। किन्तु "ऊर्ध्वमूलं" आदि उसका जवाब कैसा? यह तो संसारका वर्णन है। अश्वत्थका वर्णन है। इसका समाधान यह है कि एक तो तूलसे यहां मूल समझाया गया है। जैसे किसीने पूछा-सोना क्या है? तो हाथमें पहनी अंगूठी निकालकर दिखाकर कहा यह (अंगूठी) सोना है। परंतु यह अंगूठी सोनेका कार्य है। सोनेसे बनी है। फिर भी तूलसे मूल-बोध होता है। वैसे ऊर्ध्वमूल संसार वह परतत्त्व है। अर्थात् इसका मूलोपादन ही वह तत्त्व है।

दूसरा-उपलक्षणरूपसे भी बताया जाता है। कौन रामलाल है यह प्रश्न किया। उत्तर दिया–टोपी, धोती पहने, चश्माधारी, सांवले रंगके छड़ी (लकड़ी) हाथमें रखे व्यक्ति। परंतु न टोपी पूछा था और न धोती। न चश्माका प्रश्न किया था और न रंगका। न छड़ी की जिज्ञासा थी। यह सब कहनेकी आवश्यकता क्या थी? अच्छा, माना जाय कि उस व्यक्तिने टोपी धोती छोड़ दी पतलून पहना तो क्या वह रामलाल नहीं रहेगा? निश्चित रहेगा। वहां यही कहा जायेगा कि ये सब उपलक्षण हैं। ये समीपमें रहकर पहचान करानेवाले हैं। पहचानके लिये ये सब हैं। वह खास व्यक्ति ही प्रश्नका उत्तर है। इसीप्रकार ऊर्ध्वमूल अवाक् शाख इत्यादि उपलक्षण है अतएव उपलक्षणको निकालकर स्वरूप समझानेके लिये "तदेव शुक्रम्" इत्यादि बताया। "ऊर्ध्वमूलं" इत्यादि एंगलपर लानेके लिये हैं। उन उपलक्षणोंसे रहित स्वरूपको बतानके लिये "तदेव शुक्रं" इत्यादि विशेषण है। अतएव इन सबका पुनर्निरीक्षण भी आवश्यक हो गया।

"शुक्रं" का अर्थ हम बता चुके–शुद्धम्। वह शुद्ध तत्त्व क्या? चैतन्यात्मज्योतिस्वभावः। संसार उसमें एक मालिन्य है। उस मालिन्यसे उपलक्षण भले करो किन्तु उसे छोड़कर शुक्ररूपमें समझो। जीवमें मालिन्य अविद्या है। ईश्वरमें मालिन्य माया है। अविद्या और माया दोनों त्रिगुणात्मिका है। उस मालिन्यसे रहित तत्त्वको जानना है। इस बातको कुछ भूमिकाके साथ हम देखेंगे।

एक सज्जनने मुझसे पूछा कि ये लोग श्रवण करते हैं तो क्या लाभ? रोज सुनते हैं। किन्तु इस श्रवणसे न कोई व्यापारमें लाभ होता है न धन,

जन सुतादि मिलते हैं। पण्डित लोग पूजापाठ कराते हैं तो इतना कह देते हैं कि इस पाठसे धनागम होगा। पुत्रप्राप्ति होगी इत्यादि। वह प्राप्त हो या न हो किन्तु आशा दिलाते ही हैं। आप लोग तो धन गृहादिसे वैराग्य करनेकी बात करते हैं तो इससे क्या लाभ होता है? हमने प्रथममें मजाकमें कहा–कि बाजारमें जाते हो तो लाभ देखते हो। विदेश जाते हो तो लाभ देखते हो। क्या सत्संग भी लाभार्थ कोई व्यापार समझा गया? यहां लाभ नहीं। यहां त्याग होता है। और तुम यदि लाभ ही जानना चाहते हो तो यहांका परमलाभ–आत्मलाभ है। यही सबसे बड़ा लाभ है। महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं–

"आत्मलाभान्न परं विद्यते"

सबसे बड़ा लाभ आत्मलाभ है। बाकी लाभ तो छोटा लाभ है।

"आत्मलाभात्परो लाभो नास्तीति मुनयो विदुः।"

ऐसा वार्तिककार सुरेश्वराचार्य कहते हैं। यदि आत्मा नहीं तो मुर्देकी छातीपर लाख रूपयेकी थैली रखी तो क्या होनेवाला है?

परंतु इस आत्माका लाभ किस प्रकार? यह तो लब्ध ही है। यह प्राप्त ही है। अवश्य ही यह प्राप्त है। किन्तु प्राप्तकी प्राप्ति करनी है। स्नान करते समय जल्दबाजीमें घड़ी जेबमें रखी। स्नानके बाद शर्ट पहना। रोज मेजपर घड़ी रखते थे। आज वहां घड़ी नहीं है। पूरे कमरेमें ढूंढा। अलमारियोंमें ढूंढा। शंका होने लगी किसीने चुरायी। किसने चुरायी? नौकरने कि नौकरानीने या लड़केने ही? सबसे पूछने लगा। चार घंटे परेशान हुए। घरमें सब लोग ढूंढने लग गये। इतनेमें पैसा मांगने लड़का आयां तो जेबमें हाथ डाला। वह जेबमें ही थी। जेबमें ही थी तो पहलेसे ही मिली हुई थी। मिलनेकी क्या बात? पहलेसे थी किन्तु भूल गये थे। यह विस्मरण ही अप्राप्ति है और स्मरण ही प्राप्ति है। दर्शन प्राप्ति है। आत्मका लाभ भी ऐसा ही है। इसका आवरण, विस्मरण ही अप्राप्ति है। दर्शन ही प्राप्ति है। परंतु प्रश्न है कि हम आत्माको भूले कहां हैं? हम अपने आपको कैसे भूलेंगे? मैं इतना भी भूल गये क्या? इतना नहीं भूले परंतु मैं सच्चिदानन्द हूं यह बात भूल गये। कैसे? आवरणोंसे। मालिन्यसे। अविद्यासे सत्त्वरजतमगुणोंसे। इस आवरणनिवारणके लिये श्रवण है।

दिने दिने तु वेदान्त-श्रवणाद् भक्तिसंयुताद् ।
गुरुशुश्रूषणाच्चैव कृच्छ्राशीतिफलं लभेत् ।

यह एक सामान्य बात है। श्रवणमात्रसे भी पुण्य होगा और क्रमशः अन्तःकरणशुद्धिके द्वारा अन्ततः आत्मलाभका मार्ग खुल जायेगा। यदि श्रवणमात्रका इतना फल है तो श्रवण करते-करते आत्मदर्शन क्यों नहीं होता? कोई बीस वर्षसे श्रवण करता है। कोई पचास वर्षसे किन्तु आत्मदर्शन प्राप्त नहीं हुआ। बात यह है कि पुण्य अवश्य हुआ। किन्तु आत्मदर्शनका एंगल नहीं हुआ।

आजसे कई वर्ष पुरानी बात है। जब हिन्दुस्तान पाकिस्तान अलग नहीं हुआ था मैं रावलपिंडीमें था। बहुतसे लोग ऊपरकी ओर देख रहे थे। मैंने सोचा विमान देख रहे होंगे। क्योंकि उस समय लोगोंको विमान भी बहुत कम देखनेको मिलता था। मैंने भी ऊपर देखा। किन्तु कुछ दिखाई नहीं पड़ा। मैंने एकसे पूछा—ऊपर क्या देख रहे हो? उसने कहा—आज दिनमें तारे दिखाई दे रहे हैं। मैंने कहा—मुझे तो नहीं दीखता। उसने सामनेके पीपलके नीचे ले जाकर डालीके एंगलसे देखनेको कहा। कुछ देर तक प्रयत्न करनेपर दिखाई पड़ा। शायद शुक्रतारा हो। दिनमें तारा दीखना सो भी बारह बजे। एक पहेली जैसी थी। इसे एक दृष्टान्तके रूपमें ही समझ लो। प्रथम श्रवणमात्र हुआ। किन्तु तारा दीखा नहीं। फिर पेड़के नीचे डालीकी निशानीसे बहुत देर देखा। तब दिखाई दिया। प्रथम ब्रह्मका श्रवण करते हैं किन्तु दिखाई नहीं पड़ता। फिर डालीदर्शन मनन और उसके ऊपरकी ओर सूक्ष्मदृष्टिपातरूपी निदिध्यासनसे आत्मदर्शन होता है। डाली देखना एक युक्ति है। अतः उसे मनन कह सकते हैं। इसे शाखाचन्द्रन्याय, अरुन्धतीन्याय कहते हैं।

श्रीमद्भागवतमें कथा आती है—भागवतमाहात्म्यमें लिखा है कि गोकर्णने भागवत कथा सुनायी। वहां प्रेतात्मा धुंधकारी था। अन्य भी श्रोता थे। कथासमाप्तिपर धुंधकारीको ले जानेके लिये विमान आ गया। तब गोकर्णने पूछा कि केवल धुंधुकारीके लिये विमान क्यों लाये? सबके लिये क्यों नहीं लाये? क्योंकि सबने बराबर श्रवण किया है। विष्णुदूतोंने कहा—

"श्रवणं तु कृतं सर्वैर्न तथा मननं कृतम्"

श्रवण तो सबने बराबर किया। किन्तु बराबर मनन किया नहीं। लोग श्रवण कर चले जाते हैं। दूसरे दिन सब भूलकर आ जाते हैं। मनन तथा निदिध्यासन दोनों करना चाहिये। धुंधकारीके मनमें टीस थी। दर्द था। उसने दिलसे मनन और निदिध्यासन किया। यही तो संत और गृहस्थमें फरक है। संत सबकुछ छोड़कर परमात्माके पीछे पड़ते हैं तो उनके मनमें एक भय रहता है। (यदि सच्चा संत हो तो) उधर हमने पतिसुतान्व-यादिको त्यागा, इधर परमात्मा हाथ नहीं लगा। ऐसा कहीं जीवन बरबाद न हो। यही तो रासपंचाध्यायीमें रहस्यरूपमें आया। गोपिकाओंने संन्यास ले लिया और उधर श्रीकृष्णप्राप्तिमें बाधा मालूम पड़ी। श्रीकृष्ण अदृश्य हुए।

प्रथम श्रीकृष्णने बांसुरी बजायी थी। यह बांसुरी क्या थी? सामान्य स्वरमात्र? नहीं। वह विलक्षण थी। इसका वर्णन बिल्वमङ्गलाचार्यने किया है–

"ॐकारार्थमुदीरयन् विजयते वंशीनिनादः शिशोः"

बांसुरी ॐकारार्थको बोल रही थी। ॐकारका उच्चारण कर रही थी। ॐकार पंचम महावाक्य है। तत्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म ये चार वेदोंके चार महावाक्य हैं। किन्तु समस्त वेदोंका एक महावाक्य है। वह है ॐकार। यह वाक्य किस प्रकार? यह तो एक पद भी नहीं। एक अक्षर है। है सही। किन्तु यह वाक्य क्या महावाक्य भी है। वाक्य उसको कहते हैं जिसमें अनेक परस्परान्वयि पद हों। ॐकारमें तीन पद हैं। अ-ऊ-म। इन तीनोंके अर्थका परस्परान्वय भी है। सो भी दो प्रकार। एक विराट् हिरण्यगर्भ ईश्वर और दूसरा विश्व तैजस प्राज्ञ। प्रथम तीन ईश्वर और द्वितीय तीन जीव हैं। प्रथमतः ईश्वरोंकी एकता, फिर जीवोंकी एकता और अन्तमें जीवेश्वर एकता भागत्यागसे होगी। भागत्यागसे प्राप्य स्वरूप है ब्रह्म। परंतु ब्रह्ममें भी निर्विशेषतारूपी विशेषता है। निर्विशेषता यह कैसा विशेष? यही तो अनिर्वचनीय है। उसका त्याग एवं अर्धमात्रासे प्राप्य तुरीयतत्त्वका बोध होता है। यह ॐकार संन्यासकालमें दिया जाता है। अन्य समय तो ॐकारघटित ॐ नमः शिवायः, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय इत्यादि मन्त्र बोलते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने इसी ॐकारका उपदेश बांसुरीके द्वारा गोपिकाओंको दिया। तब उसी समय सर्वसंन्यास कर गोपिकाएं भगवान्‌की ओर चली हैं। सर्वकर्म संन्यास उन्होंने किया।

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥"

प्रारम्भ किया गया कर्म नित्य होता है। परंतु संन्यासमें यह नियम नहीं है। कर्म अधूरेमें ही वे त्याग देती हैं। स्वयं वे अपनेंको मुमुक्षु संन्यासीकी उपमा कहती हैं–

"मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं ।
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ॥
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् ।
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥"

संत्यज्य सर्वविषयसंन्यास स्पष्ट करती है। दो प्रकारका संन्यास यहां स्पष्ट हो रहा है। भक्ता भजस्व, भजते मुमुक्षून्। इसको भक्तिसंन्यास और ज्ञानसंन्यास कहते हैं। भक्तिसंन्यासमें भगवत्प्राप्तिकी मुख्यता है। और मुमुक्षुसंन्यासमें संसारबन्धनत्यागकी मुख्यता है। अर्थात् अस्ति भाति, प्रिय और नाम रूपमें अस्ति, भाति। प्रियमुख्यता प्रथममें और द्वितीयमें नामरूपत्यागमुख्यता है।

"पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यत्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥"

सर्वत्यागकर आयी हुई गोपिकाओं को निशि अर्थात् अन्धकार में– अज्ञानान्धकारमें कौन भला छोड़ेगा ? इस प्रकार संसारत्याग किया किन्तु परमात्मप्राप्ति न हुई तो न इधर की और न उधर की। धुंधुकारी की बेचैनी एक प्रकार की थी। यह बेचैनी दूसरी प्रकार की है। इस बेचैनी के साथ जो तीव्र जिज्ञासा, मुमुक्षासे शाखा- चन्द्रन्यायकी ओर प्रवृत्ति है वही एंगल सुधारना है। प्रथम श्रवण हुआ आसमान में तारे हैं। तब तीव्र कुतूहलतासे एंगल सुधारा। यह मनन हुआ। और फिर इधर दृष्टि की

एकाग्रता। उधर चित्त की एकाग्रता रूपी निदिध्यासन हुआ। तब श्री कृष्णका प्राकट्य हुआ। मनन निदिध्यासनके अभाव में श्रवण केवल पुण्योत्पादक है। मनन निदिध्यासन साथ में हो तो प्रत्यक्ष फल है।

ऊर्ध्वमूलं आदि से एंगल ठीक किया जा रहा है। स्थूलारुन्धतीन्याय एंगल ठीक करना है। एंगल-कोण-दृष्टिकोण। पहले शाखा को देखो। किस रूप में ? शाखा के रूप में। ये पञ्चभूतादि सभी संसार वृक्ष की शाखायें हैं। संसार अविद्या-माया है। उसकी ये सब टहनियां हैं। वही संसार बन्धन है। उसका मूल क्या है देखो। फिर अविद्या पर दृष्टि टिकाओ। फिर मूल की ओर देखो। वह मूल है—ऊर्ध्व। शाखा की सत्ता और वृक्षात्मक अविद्या की सत्ता दोनों से ऊपर उसकी सत्ता है। वह है परमार्थसत्ता। वही मूल है।

यद्यपि यह तत्पदार्थप्रधानवर्णन ही दीखता है। तथापि यहाँ त्वंपदार्थ-शोधन भी है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि सबका संसार अलग है। सब अपनी-अपनी दृष्टि से सृष्ट संसार को देखते हैं। मूल तत्त्व एक ही है। रज्जुतत्त्व एक ही है। किन्तु उसमें सर्प दीखता है तो सबके लिये अलग-अलग है। समानशक्त्युद्भव होने से समानसृष्टि एवं प्रत्यभिज्ञा होती है। समष्टिदृष्टिसृष्टि में व्यष्टिसृष्टि भी समाई हुई है। यह अन्य आचार्यों का मत है। उस मत में व्यष्टिसृष्टि है ही। समष्टि- अन्तर्गत रूपसे इतना ही फरक है। अतः पञ्चमहाभूतादि शाखाओं से अविद्यारूपी थडकी ओर बढ़ो। वहाँ से मूल ब्रह्म की ओर चलो। गीता में यहाँ दो मूल बताये हैं। "ऊर्ध्वमूलं" यह एक बताया। दूसरा—"अधश्च मूलान्यनुसंततानि"। वाचस्पतमतमें अविद्याभेद से मूलानि यह बहुवचन है। अन्य मत से सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण ये तीन मूल बहुवचनका अर्थ है। या व्यष्टि अविद्याबहुत्वको लेकर बहुवचन है। तब शाखायें पञ्च भूतादि। उसका अधःमूल अविद्या। और ऊर्ध्वमूल ब्रह्म हुआ। गौडपादाचार्य महाराज और ढंग से इनका उपपादन करते हैं।

"स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥"

स्वप्न तथा जाग्रत में अन्यथा ग्रहणरूपी स्वप्न एवं अप्रबोध दोनों हैं। सुषुप्ति में स्वप्नरहित केवल अप्रबोध है। तुरीय में दोनों ही नहीं है। स्वप्न

में प्रातिभासिक अन्यथाग्रहण है। जाग्रत में व्यावहारिक अन्यथा ग्रहण है। सुषुप्ति आदि में केवल मूल अज्ञान है। तुरीय में अद्वैतमात्र है। वह सर्वोर्ध्वसत्ता है।

प्रथम प्रातिभासिक सत्ता को देखो और उसे छोड़कर मूल की ओर बढ़ो। जीवसृष्ट इदं मम सुन्दरं कुरूपं इत्यादि प्रातिभासिकोपम हैं। क्योंकि एकको जो सुन्दर दीखता है वह दूसरे को कुरूप दीखता है। एक के लिये जो स्वादु है दूसरे के लिये वही दुःस्वादु है। किसी का शत्रु दूसरे का मित्र है। अतः प्रातिभासिक शत्रु मित्र सुन्दरकुरूपादिको छोड़कर प्रथम केवल वस्तुमात्र देखो। जैसे अन्य तारों को छोड़कर सप्त तारा देखना। उसके बाद भूतादि वस्तुओंको छोड़कर अविद्या मूल को देखना। फिर सप्त तारों को छोड़कर केवल वसिष्ठ को देखना। यहाँ मूल को देखना। फिर सबको छोड़कर अरुन्धती को जैसे देखते हैं वैसे मूलत्वको भी छोड़कर शुद्ध तुरीय ब्रह्मतत्त्व को देखना वही शुक्र है। शुद्ध है।

प्रथम तो श्रवण करने को ही नहीं मिलता। उसके बाद सुनने पर भी एंगल बराबर न करने से नहीं दीखता।

"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः।
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः॥"

स्थूलारुन्धतीन्याय मनन है। मनन से एंगल-कोण (दृष्टिकोण) बराबर करना है। उसके अभाव में शृण्वन्तोऽपि–सुनते हुए भी परमार्थतत्त्व को नहीं पहचान पाते। एंगलतक पहुँचाने का काम श्रवण का है। अतः श्रवण की सार्थकता है। उसके एक-एक ओर देखते हुए, आगे बढ़ते हुए, पीछे को त्यागते जाना यह मनन का काम है। अन्तिम गली (एंगल) पर पहुँचने के बाद फिर एकाग्रता के साथ ऊर्ध्व की ओर देखने का काम निदिध्यासन का है। इन तीनों में किसी की भी व्यर्थता नहीं है। निदिध्यासनसे यथार्थ वस्तुदृष्टि होने पर अन्य सबका परित्याग करने की स्थिति है। तदेव शुक्रम्।

तद्ब्रह्म। एतद्वै तत्। शुक्ररूपसे समझने के लिये "ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख" बताया। प्रातिभासिक सत्ता या अत्यल्प सत्ता पंचभूतादि शाखाओं की है। वे अधः हैं। व्यावहारिक सत्ता या कुछ अधिक सत्ता थड़की है। और

अधोमूलकी सर्वाधिक सत्ता है। वह है माया या त्रिगुण। क्योंकि वह अनादि है। किन्तु ऊर्ध्वसत्ता-पारमार्थिकसत्ता ब्रह्म की है। अतः एव अधः ऊर्ध्व ये विभाग होने से अधः से पृथक् कर ऊर्ध्व को समझो। लोग इस पार्थक्यको नहीं जान पाते। सबकी अधःसत्ता समझते हैं। सूर्य का प्रतिबिम्ब पानी में पड़ता है। तो लोग समझते हैं—पानी में सूर्य है। परन्तु पानी से सूर्यका कोई सम्बन्ध नहीं है। पानी मैला होने से सूर्य को मैला, पानी के हिलने से सूर्य को हिलता समझने लगते हैं। क्योंकि प्रतिबिम्ब नीचे है। वह उपाधि के अनुगामी है। उस बिम्ब को ऊर्ध्व समझो। अधस्तन दोषों से अलिप्त समझो। वह शुक्र है। शुद्ध है। ज्योतिमात्रस्वरूप है। नैल्यादि एवं चाञ्चल्यादिरहित है। महदहंकारादिसे असंस्पृष्ट है। यह पूर्वविशेषणका अन्वयार्थ हुआ।

अब "तद्ब्रह्म" पर विचार करें। यह संसार उलटे पड़े हुए वृक्ष के बराबर है। और वृक्षों का अधःमूल और ऊर्ध्वशाखा है। संसारवृक्षका ऊर्ध्वमूल है और अधः शाखा है। यह संसार स्वाभाविकता से या वास्तविकतासे विपरीत है। आन्ध्रप्रदेश में चक्रवात आया। बड़े-बड़े पेड़ उलट गये। ऊर्ध्वमूल अधःशाख हो गये। संसारवृक्ष यद्यपि ऐसा ही है किन्तु फरक यह है कि सामान्य वृक्ष ऊर्ध्वमूल अधःशाख होने से सूख जाता है। यहाँ तो संसार वृक्ष उलटा होकर भी हरा-भरा है। उलटा होने में भी उलटा है। क्या-क्या वैपरीत्य है ?

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः" (अविद्या)

प्रथम तो अनित्यको नित्य समझा और नित्य को अनित्य भी।

"अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः"

शरीर अनित्य है। उसे नित्य समझ लिये। लोग कहेंगे कि ऐसा तो नहीं है। इस शरीरको हम अनित्य नहीं समझते। लोग मर रहे हैं। उनके शरीर को जलाया जाता है यह प्रत्यक्ष देखते हैं। अवश्य। किन्तु लोग मर रहे हैं, मैं तो जिन्दा ही रहूँगा ऐसा ख्याल है। अपनी मृत्यु को किसी ने नहीं देखा। फलां बुढ़िया मर गयी, अच्छा हो गया। फलाना दुष्ट मर गया अच्छा हुआ। किन्तु तुम्हारे मरने पर दूसरे भी ऐसा ही बोलनेवाले मिलेंगे। परन्तु न अपनी मृत्यु को ही कोई देखता है और न उसके बाद के परिणामको

ही कोई समझता है। ऐसा होता तो इस अनित्य शरीरके लिये कोई वृथा परद्रोह न करता। वसुदेवजी कंसको क्या कहते हैं—

"मृत्युर्जन्मवतां तात देहेन सह जायते।
अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥
तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम् ॥"

हे कंस! मृत्यु का नाम सुनते ही क्यों घबराते हो ? वह तो इस शरीर के जन्म के साथ ही आयी हुई है। चाहे आज हो, चाहे सौ वर्ष बाद में हो मरण निश्चित है। अतः मरणशील को किसीसे द्रोह नहीं करना चाहिये। इस उक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि परद्रोह करनेवाले को अपनी मृत्यु नहीं दीखती। अतएव वसुदेवजीको यह कहना पड़ा। मृत्यु का उपदेश देना पड़ा। अज्ञातज्ञापक ही तो प्रमाण है। देवकीका मरण वह देख रहा है। किन्तु स्वमरण नहीं दीख रहा। अनित्यको नित्य समझनेवाला, नित्यको भी अनित्य समझता है। जैसे अर्जुन भीष्मादिको अनित्य देखने लगा। कंस देवकीको अनित्य देखने लगा। इसी प्रकार लोग अनित्य विभवको नित्य समझते हैं। वैभव, धनसंपदा को स्थायी समझते हैं। परन्तु यह स्थायी नहीं है।

"रङ्कं करोति राजानं राजानं रङ्कमेव च"

कंगाल राजा बनता है। राजा कंगाल हो जाता है। यह भाग्य की विडम्बना विलक्षण है। किन्तु इसे लोग नहीं समझते। यदि समझते कि यह धन स्थायी नहीं है तो जब आ जाता है तब उससे खूब पुण्य कमाते। घाटकोपरमें एक सट्टावाला सेठ था। दस बीस लाख इकट्ठा आ गया तो बनवा डाला आश्रम। उसको मालूम था कि यह सट्टा खतरनाक है। बाद में खतरनाक ही सिद्ध हुआ। बाद में सब कुछ उसने खो भी दिया। किन्तु आश्रम में शान से आता जाता। हजारों लोग उसका नाम लेते हुए लाभ ले रहे हैं। किन्तु लोग उसे स्थायी समझते हैं। लक्ष्मी छप्पर फाड़कर आयी। किन्तु दानपुण्य में वही पुरानी रीत। मंदिर में दस पैसा, पाँच पैसा। या खाली हाथ। धर्म नित्य है। किन्तु उसे अनित्य समझा। "धर्मो नित्यो

हेतुरस्य त्वनित्यः"। ऐसा महाभारत में बताया है। अतः कर्तव्यों धर्मसंग्रहः यही उपदेश दिया जाता है।

अशुचिको शुचि समझना भी ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख है। केश, दन्त, नाखून इन सबको हमने शुचि समझा। "कामिन्य केशशूलिन्यः"। उसको बहुत सजाते हैं। सजाना अच्छा है। आत्मानं भूषयामास ऐसा भागवत में श्रीकृष्ण की नित्यचर्या में बताया है। किन्तु वही वही नहीं करना है। ये केश बराबर शॉप सेलून में पड़े रहते हैं। कोई उसे पाँव से भी नहीं छूता। दाँत बड़े अच्छे हैं किन्तु दर्द करने पर निकलवाना पड़ता है। उसके बाद उसे सूंघो तब मालूम पड़ेगा। खून बड़ी अच्छी चीज है किन्तु हाथ थोड़ा कटा, खून रास्ते में गिरा तो कैसा भयानक होता है। स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः" यह प्रसिद्ध है। इन सबकी शुचिता किसको लेकर है यह किसी ने ध्यान नहीं दिया। "स्थानभ्रष्टाः" से लगता है कि इस शरीर पर जब तक हैं तब तक ये शुचि हैं, अच्छे हैं। परन्तु इस शरीर से कहीं आत्मा निकला तो? पूरा शरीर ही अति अपवित्र पापिष्ठतर होता है। मुर्देको छूने पर नहाना पड़ता है। तब यही कहना होगा—विभक्तानि केशासृगाद्यानि यस्मादपूतानि—तमात्मानमेकं विशुद्ध-स्वभावम्। अपवित्र शरीर को आत्मसंयोग से ही पवित्र समझा। और पवित्र आत्मा को अपवित्र भी। पहले समय में शूद्र स्पर्शसे अपवित्रता मानी जाती थी। किन्तु शूद्र में भी तो वही पवित्र आत्मा है।

तीसरा ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख है—दुःखको सुख समझना। संसार को क्या बताते हैं ? दुःख रूप। और परमात्माको सुखरूप। तो आप मंदिर में सत्संग भवन में बैठे रहिये। भोजन का क्या होगा ? पहुँचा दिया जायेगा। किन्तु घंटा, आधघंटा मंदिर, सत्संग में भले बिता लें। किन्तु सुख तो उसी घर में ही है। लोग हरिद्वार, ऋषिकेश जाकर रहते हैं। कहने लगते हैं कि यहाँ जो शान्ति सुख है वह अन्यत्र कहीं नहीं। किन्तु पन्द्रह बीस दिन में घर याद आने लगता है। घर का दुःख भी सुख ही है। बूढ़े को बेटे बहूओं ने बाहर निकाल दिया। संत बोले मेरे साथ में चलो, क्यों रोते हो? संतजी, बेटों की मार भी अच्छी है। आपके साथ नहीं चलूंगा। यही विवाद आत्मदेव और संन्यासी में हुआ। यह संन्यास शुष्क है। पुत्र-पौत्रों

से आबाद घर ही स्वर्ग है। संन्यासी ने फल दिया। पुत्र हुआ। घोर नरक का साक्षात्कार यहीं होने लगा। पहले पुत्र के अभाव से व्यथा। अब पुत्र से व्यथा। डायबिटीसवाले पूर्वभुक्त शक्करको स्मरण कर तरसते हैं। दूसरों को शक्कर खाते देखकर ईर्ष्या करते हैं। कभी खा जाते हैं तो भारी क्लेश हो जाता है।

चौथा विपरीत प्रत्यय है—अनात्माको आत्मा समझना। शरीरादि आत्मा नहीं। आत्मा स्वरूप को कहते हैं। क्या हमारा स्वरूप शरीर है ? यदि शरीर है तो शरीर उत्पन्न होने से पहले हमारा स्वरूप नहीं था क्या? शरीर छूटने के बाद स्वरूप नहीं रहेगा क्या ? ये शरीरादि आगमापायी हैं। आ रहे हैं, जा रहे हैं। ये स्वरूप नहीं। समुद्रका स्वरूप क्या है ? तरंग, फेन या बुद्बुद ? इनमेंसे कोई नहीं। ऐसा होता तो तरंग उत्पन्न हुआ तो बोलना चाहिये समुद्र उत्पन्न हो गया। बुद्बुद नष्ट हो गया तो कहना चाहिये समुद्र नष्ट हो गया, फूट गया। समुद्र का स्वरूप जल है। वह जल हजारों वर्षों से समुद्र में है। वह उत्पन्न और नष्ट नहीं होता। वैसे ही शरीर के उत्पन्न होने और नष्ट होने पर आत्मा उत्पन्न और नष्ट नहीं होता। किन्तु सब बोलते समझते हैं कि मैं अमुक सनमें उत्पन्न हुआ। ज्योतिषानुसार अमुक सनमें मरूगां। ये चार विपरीत प्रत्यय हैं। ये सबमें हैं। इसलिये पूरे संसारको भगवानने "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः" बताया। श्रुति ने भी बताया।

यह तो शुरूआत है। यहाँ से (इन चार विपरीतप्रत्ययरूपी अविद्यामें) प्रारंभ है। इसके बाद ये सब आगे बढ़ने लगते हैं। और पूरे जीवनको घेर लेते हैं।

"इच्छन्तः सततं सुखानि विषयान् गृह्णन्ति दुःखात्मकान्
प्रेप्सन्तः प्रभुतां व्रजन्ति जनतां निघ्नां परेषां स्वतः ।
सार्वज्ञं प्रतिलिप्सवो दधति तां विद्यामविद्यात्मिकां
तत्र ब्रह्म सुखं स्वधामविधृतं ज्ञानात्मकं गृह्णते ॥"

पूरे जीवनमें मनुष्य सुख की खोज जारी रखता है। सुखार्थ यत्न करता है किन्तु सुख प्राप्त करने के लिये किसके पास पहुँचे ? विषयों के, जो स्वयं दुःखात्मक हैं।

"अपामहमापांपते: सुखमप: पिपासावशा-
दधारयमगारधग्दहनहेतिशान्त्यै घृतम् ।
अभार्षमपि दार्षदप्लवमहं तितीर्षुर्नदा-
नसेविषि च योषितश्च विषयांश्च तृष्णाकुलः ॥"

प्यास लगी तो समुद्र में जाकर पेट भरकर पानी पिया। घर में आग लगी तो बुझाने के लिये घी सींचा। नदी पार करने के लिये पत्थर की बनी नाव में बैठा। और मानसिक तृष्णा शान्त करने के लिये कामका और विषयों का सेवन किया। ये सब एक बराबर हैं। समुद्रजलसे प्यास शान्त नहीं होती। दुगुनी-चौगुनी होती है। घी से आग शान्त नहीं होती बल्कि और ज्यादा भभकती है। पत्थर की नाव तो नदी क्या पार करायेगी, जो न डूबनेवाला है उसे भी डूबायेगी। यही काम, विषयों की स्थिति है। उससे कामना, तृष्णा शान्त नहीं होती, उत्तरोत्तर बढ़ती है। दोपहरका समय था। बड़ी-कड़ी धूप पड़ रही थी। सोचा किसी घर में पहुँचो। किसी घर में वह घुसा किन्तु वहाँ लोहा गलाने की भट्ठी जल रही थी। अब सोच लो उसको शीतलता कितनी प्राप्त होगी।

"अर्थानामर्जने दुःखं रक्षणे वर्धने तथा ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखसाधनम् ॥

लोग समझते हैं कि बहुत धन आ जायेगा तो सुख होगा। किन्तु संचय करने में ही जिन्दगी गुजर जाती है। कुछ प्राप्त हुआ तो उसकी रक्षा करने और बढ़ाने के लिये जमीन आसमान एक करना पड़ता है। मजदूर मजदूरी करते हैं। जो मिला उससे खूब खाया और खर्राटा मारकर सो गये। ये सभी सेठ धन के क्षेत्रपाल हैं। दरवान हैं। उनसे दो रोटी हजम नहीं होती।

लड़का मातापिता के बन्धनमें था। उसने सोचा स्वतन्त्र हो जाऊँगा। झंझट समाप्त करना। शादी किया। नयी खोली ली, स्वतन्त्र रहने लगा। बच्चे हो गये। एक बन्धन छोड़ा, दूसरा बन्धन जोड़ा। मातापिता का बन्धन तो कच्चे धागे का था। माता-पिता कभी भी जा सकते है। बन्धन टूटेगा ही। किन्तु बालबच्चों का बन्धन लोहशृङ्खलाका बन्धन है। जीवनभर नहीं छूटेगा। नेतालोग प्रभु बनने स्वयं पराधीन जनता के पाँव छूते हैं।

सर्वज्ञता प्राप्त करने के लिये अविद्या के पास पहुँच रहे हैं। इन सब विपरीत स्थितियों को देखकर कबीरजीने कहा–

"चलती को गड्डी कहे बनेको कहे खोय।
रंगीको नारंगी कहे कबीर गया रोय॥"

इस बात को गीता में भगवान् ने विशेष स्पष्ट किया–

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जांगर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥"

जहां सब लोग सोये हैं वहां संयमी जग रहा है। जहाँ सब जग रहे हैं वहाँ सन्त सोया है। जहाँ सजगता चाहिये वहाँ सो गये। जहाँ सो सकते थे वहाँ लोग सजग हैं। अमरता के लिये मृत्यु का वरण किया।

तदेवामृतं अमरता क्या है ? ब्रह्म । मृत्यु क्या है? प्रमाद। ब्रह्मचिन्तन अमरता है। विषयचिन्तन प्रमाद है। "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि" ऐसा बताया है। सत्यान्न प्रमदितव्यं, धर्मान्न प्रमदितव्यं, कुशलान्न प्रमदितव्यं, भूत्यै न प्रमदितव्यं, स्वाध्याय- प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं, देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। ऐसा श्रुति आदेश करती है। किन्तु इन सब जगह प्रमाद ही होता है। ब्रह्म ही सुखरूप है, स्वतन्त्र है, ज्ञानात्मक है, अमर है। सत्य धर्मादि उसके मार्ग हैं। उस मार्गका परित्याग करनेवाला मार्गभ्रष्ट होकर भटकेगा। उसीको वहाँ "तद्ब्रह्म" से कह कह रहे हैं। जो संसार को उलटा समझता है वही सीधे मार्ग में है।

ब्रह्म का अर्थ बृहत् है। नित्यों में वह बृहत् है शुचियों में वह बृहत् है। सुखों में वह बृहत् है। आत्माओं में वह बृहत् है। आनन्दों में वह बृहत् है।

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।"

यह श्रुतिवचन भी है। "नित्यो नित्यानां" का अर्थ है –परमनित्य। अन्य आकाशादि नित्य हैं किन्तु उनका बाध होता है। बाधरहित नित्यत्व तो चैतन्यात्माका ही नित्यत्व है। ज्ञानों का वह ज्ञान है। अतः ब्रह्म है। लोग समझते हैं पुस्तक से ज्ञान होता है। अनुभव से ज्ञान होता है। तो स्वयं पुस्तक को ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? पत्थरको ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? पहाड़को वृष्टिका, अग्निका, हवाका पूरा-पूरा अनुभव है तो क्या उसे

ज्ञान है ? ज्ञान तो अन्दर है। चैतन्य ही ज्ञान है। वृत्ति केवल अभिव्यञ्जक है।

"लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति"

अंदर चैतन्यज्ञान नहीं तो पर्वतादि वृष्टि आदि का अनुभव क्या कर सकते हैं। अतः आत्मा ही बृहत् है।

बृहत् का अर्थ है बड़ा। जिसे कोई घेर न सके। घेरनेवाला कोई होगा तो वह उससे बड़ा होगा चद्दर बड़ी हो तो आदमी को घेरेगी। छोटी नहीं। घेरनेवाला बड़ा होता है। बाँधनेवाला बड़ा होता है। भगवान् कृष्ण को यशोदामाता ने रस्सी से बाँधना चाहा घेरना चाहा। किन्तु रस्सी "द्व्यङ्गुलोनमभूत्।" रस्सी दो अंगूल कम पड़ी। जितनी रस्सी जोड़ी सभी दो अंगुल कम पड़ती गयी। दो अङ्गुल कौन ? एक आदि है, दूसरा अन्त है। रस्सी आदि अन्तवाली थी। वह घेर न सकी। बाँध न सकी। श्रीकृष्ण अनादि अनन्त थे।

"नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते ॥"

मध्य न होने से तीन अंगुल कम क्यों नहीं कहा ? अनादि अनन्त होती रस्सी तो भी काम चल जाता। फिर बाद में कैसे बन्धन में आये ? कृपया। "कृपयासीत् स्वबन्धने"। सो भी स्वबन्धने न तु परबन्धने। वह आत्मा भूमा है। "स कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नीति। यदि वा न महिम्नीति।" वस्तुतः स्वप्रतिष्ठित भी नहीं है। फिर भी स्वप्रतिष्ठित कह सकते हैं। कृपया।

तीन प्रकार का बन्धन जिसमें हो वह अल्प है। तीन बन्धन न हो तो वह बृहत्। कालबन्धन, दिग्बन्धन और वस्तुबन्धन। काल ने इस शरीर को सौ वर्ष में बाँध रखा। आगे पीछें इसे जाने नहीं देता। जन्म और मरण ने अपने मध्य में शरीर को रखा। वह शरीर अल्प है। बृहत् नहीं। जिसमें कालका घेरा न हो वही ब्रह्म है। जिसकी उत्पत्ति और नाश न होता हो– आत्मा का जन्ममरण नहीं होता है–वह ब्रह्म है। बोले कि आकाशादि का भी जन्म-मरण नहीं होता तो वह भी ब्रह्म है ? नहीं। आकाशादि का भी जन्म होता है। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादि श्रुति आकाशादिकी भी उत्पत्ति बताती है। अतएव अन्त भी होता है। दिग्बन्धन

क्या है ? "ॐ भूभुर्वःस्वरोमिति दिग्बन्धः"। चारों ओर जिसकी चुटकी बजायी जा सके वही दिग्बन्ध में है। चारों ओर और ऊपर नीचे चुटकी बजायी जाती है। कुछ लोग छः चुटकी बजाते हैं कुछ लोग दस। इस शरीर की षट् दिशायें या दस दिशायें हैं। उन दिशाओं ने इस शरीर को घेर रखा है। वही दिग्बन्धन है। ब्रह्म का दिग्बन्धन नहीं होता। क्यों ? दिशायें उसके आगे नहीं हैं। मन्त्र में बताया है–

"स भूमिँ सर्वतस्स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्"

वह पूर्ण पुरुष प्रथम समस्त जन्यपदार्थरूपी भूमि को घेरकर स्थित हुआ। फिर दशाङ्गुलं-दस अंगुलरूपी दश दिशाओं को अत्यतिष्ठत्=पार किया। दश दिशाओं से आगे गया मतलब दिशायें अन्दर आ गयीं। आगे दिशायें नहीं रहीं।

वस्तुबन्धन क्या है ? यह यही वस्तु है, अन्य नहीं। शरीर शरीर में सीमित है। वह कंकड़, पत्थर, वृक्षादि नहीं। यह मनुष्य है, यह पशु नहीं इत्यादि। परमात्मा में यह बन्धन नहीं है अतः ब्रह्म है।

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्"

समस्त जगत् पुरुष ही है। उसमें किसी का भेद नहीं है।

इस शरीरतादात्म्याध्याससे हमने विपरीत समझा। "ऊर्ध्वमूलमधः शाखं" देखा। मैं शतवर्ष जीवी हूँ। यह कालबन्धन आत्मायें लाये। मैं गृहवासी हूँ यह देशबन्धन आत्मामें लाये। मैं ब्राह्मणक्षत्रियादि हूं यह वस्तुबन्धन लाये। इसे विपरीत देखो तब वह ब्रह्म है। "न जायते म्रियते वा" यह कालबन्धन को पार करना है। "मय्येव सर्वं" यह देशबन्धनको पार करना है। "मय्येव सर्वं" यह देशबन्धनको पार करना है।" नाहं मनुष्यौ न च देवयक्षौ" इत्यादि वस्तुबन्धनको पार करना है। तब वह ब्रह्म होगा। वैसे ईश्वर में भी है। हिरण्यगर्भादि एवं इन्द्रादि अपने को कल्पस्थायी या मन्वन्तरस्थायी समझते हैं। तो काल बन्धन है। सत्यलोक, वैकुण्ठ कैलासादिवासी हो तो देशबन्धन है। विष्णुरहं, शिवोऽहं न पार्षदादिः ऐसा है तो वह वस्तुबन्धन है।

"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥"

वह अशरीर है फिर भी अनवस्थित शरीरों में देखा जाता है। वह महान्त-सर्वमहान् है। विभु-व्यापक है। अनवस्थित शरीर किस प्रकार आधार होगा ? जैसे तरंगों में जल, कुण्डलमें सुवर्ण उपादानरूपसे स्थित है। अतएव कार्यप्रपञ्चोपादान होने से महान् है। क्योंकि उपादान कार्य की अपेक्षा हमेशा महान् होता है। मिट्टी उपादान है। घट उपादेय है। तो घट में मिट्टी निश्चित है। किन्तु समस्त मिट्टी में घट अवश्यंभावी नहीं है।

तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे। संसारवृक्षका वर्णन करते हुए नचिकेताके प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा था। यहाँ स्वरूप विपरीत है। कथन विपरीत है। चिन्तन विपरीत है। यह विरोधाभासों से भरा हुआ है। कहीं अवचन ही प्रवचन है। इसी को लेकर बताया—

"चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्नसंशयाः॥"

शिष्य अल्पवयस्क अनुभूतिरहित होता है। गुरु अधिवयस्क अनुभवी होता है। किन्तु वटवृक्षके नीचे यह विचित्रता देखी कि गुरु अल्पवयस्क युवा है। शिष्य वृद्ध हैं। गुरु व्याख्यान कर रहे हैं मौन से। और शिष्यों का संशय दूर हो रहा है। एक कहानी प्रसिद्ध है। एक लड़का सत्संगी था। वैराग्यवान था। किन्तु माता-पिता के आग्रह से उसने शादी की। घर में जो आयी वह पढ़ी-लिखी थी। उसके दिमाग में बैठा था कि ये आदमी हमेशा औरतों को दबाते रहते हैं। आदमी जो कहें उससे उल्टा चलने पर ही ये ठिकाने पर पहुँचेंगे। आदमी कहे कि आज मन्दिर जाना है तो कहती—आज गार्डन में जाना है। आदमी कहे कि आज सत्संग में चलो तो कहती आज सिनेमा जाना है। वह कहें कि आज खिचड़ी बनाओ तो वह रोटी बनाती और रोटी बनाओ कहने पर खिचड़ी बनाती। आदमी बहुत तंग आ गया। अपने गुरु के पास जाकर रोने लगा। गुरु ने कहा—तेरे को मैं मन्त्र सिखाता हूँ। मन्त्र ॐ नमः शिवाय आदि नहीं। किन्तु यही कि तुमको जो चाहिये उससे विपरीत बोलो। खिचड़ी की जरूरत हो तो बोलना कि खिचड़ी बादी करती है मत बनाओ। सत्संग में जाने की इच्छा हो तो बोलो—यह सत्संग बेकार है। मंदिर में जाना हो तो बोलो क्या मंदिर में है भगवान् ? क्या भगवान् हर जगह नहीं हैं? उसने ऐसा ही

किया। उसने कहा, क्या लोग सत्संग-सत्संग करते रहते हैं। मैंने देखा कुछ तत्त्व नहीं है। कान पकड़ लिया अब सत्संग में नहीं जाना है। पत्नी ने कहा—जाना है। मुझे भी देखना है सत्संग में क्या होता है ? एक दिन सुना तो चस्का लगा। वह आदमी दूसरे दिन बोला—देखा, क्या फालतू बातें बोलते रहते हैं। स्त्री ने कहा अच्छी बात है, जाना ही है। इस प्रकार उसकी एक एक बात सुधारी। वह आदमी संत के पास जाकर बोलने लगा—आपका मन्त्र काम आया। उसके जाने पर शिष्य ने पूछा। गुरुजी वह मन्त्र क्या था? मुझे भी सिखाईये। गुरुजी ने कहा— ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाखः। यह संसार उलटा है। इसको मुख्य सामानाधिकरण्य से नहीं, बाधसामानाधिकरण्यसे समझो। बाधसामाधिकरण्य क्या है? यह वेदान्त की एक मुख्य कड़ी है, प्रक्रिया है।

एक समय की बात। हम विचरण कर रहे थे। एक गाँव में गये तो सूर्यास्त हो गया। वहाँ वालों ने कहा—महाराज आगे मत जाइये। वह स्मशानमार्ग है ब्रह्मराक्षसादि रहते हैं। कइओंने देखा है और कई मर गये, बिमार पड़ गये। किन्तु दूसरे गाँव में जल्दी पहुँचना था तो दूसरे सुबह उठकर चला। मेरे साथ में और एक आदमी आया सहायतार्थ। एक माईल दूर गया तो दूर से दो आदमी दिखाई पड़े। सफेद पोशाक पहने हुए। ऊँचे-ऊँचे। उसे देखते ही साथ वाला डर के मारे भागा। चिल्लाता-चिल्लाता घर में जाकर घिरा। मैं भी डरा जरूर। लेकिन मैंने सोचा पास में जाकर तो देखूं। भूत हो तो सामने आयेगा तो भागेंगे पीछे खायेगा तो एक दिन मरना ही है। खड़ा होकर देखा तो वह हिल नहीं रहे थे। कौन है, कौन है पूछता आगे गया। कुछ पास में पहुँचा तो मालूम पड़ा। क्या? वहां एक कुँआ है। पानी निकालने के लिये दो पिल्ला बनाये हुए हैं। उससे पहेल ही दिन उस पर चूना पोता था। मैं दूसरे गाँव गया। वहाँ का काम करके वापिस लौटा तो मालूम पड़ा कि मेरे साथ में जो आया था उसको बुखार चढ़ गया है। मैं पास में गया। वह घबरा रहा था। मैंने कहा जो भूत कल दीखे थे वे खंभे थे। तुम्हारे वे भूत पानी निकालने के खंभे थे। तब उसको कुछ शान्ति मिली मैंने क्या कहा— वे भूत तो खंभे थे। यहाँ पर बीच में एक 'नहीं' शब्द विना बोले ही घुस जाता है। वे

भूत खंभे थे माने वे भूत नहीं किन्तु खंभे थे ऐसा अर्थ निकलेगा या नहीं ? 'नहीं' शब्द मैं बोला नहीं। किन्तु बीच में आ गया। कल जो सर्प दीखा था वह सर्प रस्सी है। क्या अर्थ ? वह सर्प नहीं किन्तु रस्सी है। विना बोले ही बीच में नहीं शब्द आ जाये तो उसको बाधसामानाधिकरण कहते हैं। जैसे आज खिचड़ी खाना है इसका अर्थ क्या था ? खिचड़ी नहीं, रोटी खाना है। क्योंकि खिचड़ी की तैयारी भी कर ली हो और बोल दे कि आज खिचड़ी खाना है तो वह उसे किनारे रखकर रोटी बनाती थी।

श्रुति में कहा है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः। क्या सब ब्रह्म है तो मकान आदि को हम देख रहे हैं ये सब ब्रह्मदर्शन हो गये तो मोक्ष मिलना चाहिये। परन्तु निश्चित है कि इस ब्रह्मदर्शन से मोक्ष नहीं होता। क्यों नहीं होता ? यहाँ भी बाधसामानाधिकरण्य है। बीच में 'नहीं' शब्द आयेगा। ये सब जगत् वस्तु नहीं, ब्रह्म ही वस्तु है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" बोलते हुए जगत्बाध करोगे तब वाक्यार्थ बराबर होगा। बाधपूर्वक ब्रह्मदर्शन करो तो वह मोक्षसाधन होगा। वैसे ही असी ब्रह्म तुसी ब्रह्म कहने से नहीं होगा। यह पंजाबी वेदान्त है। असी तुसीका बाध करो तब वह ब्रह्म है। गीता में भगवान् ने भी यही रहस्य बताया। चतुर्विध भक्तों को कहने के बाद।

"उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः"

इस प्रकार ज्ञानी की विशेषता कहतें हुए ज्ञान का स्वरूप आगे बताया—

"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।"

सकलमिदमहं च वासुदेवः। समस्त जगत् वासुदेव है। तो "मामेव ये प्रपद्यन्ते" के अनुसार हम जगत् की शरण ले ? जगत् की शरण में हम हैं ही। क्या उसे छोड़ना नहीं यह उपदेश है ? तो 'मामेव' यह एवकार व्यर्थ है। वहाँ भी उत्तर पूर्वोक्त ही है। 'वासुदेव सर्वं के' बीच में भी न आयेगा। सर्वं न वासुदेव एव। यह जगत् नहीं, वासुदेव ही है। तब जगत् जो दीख रहा है वह क्या है? बोले—यह दीखने भरका है। क्या रस्सी में सर्प नहीं दीखता ? प्रश्न हुआ कि वह सर्प तो काटता नहीं, बाबी का सर्प काटता है। यह दीखने मात्र का नहीं। उत्तर है इतना ही फर्क है। एक की

प्रातिभासिक सत्ता है। दूसरे की व्यावहारिक सत्ता है। किन्तु दोनों ही त्रिकालाबाध्य परमार्थसत्ता नहीं है। एक रज्जुसर्प है। दूसरा समुद्रतरङ्ग है। तरङ्ग कोई स्थायी नहीं। उसका भी अभाव होता है। सुवर्णकुण्डल है तो सोना हजारों लाखों वर्ष पड़ा रहेगा। कुण्डल गलेगा, केयूर बनेगा, अंगूठी हो जायेगी। अगर वह सत् होता तो उसका अभाव कभी न होता। इस विषय में भी भगवान् ने समझाया–

"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव"

मुझमें वह सारा जगत् पिरोया हुआ है। जैसे धागे में मणियां। भगवान् में यह सारा जगत् पिरोया हुआ है यह समझ में तो नहीं आता, यह केवल शास्त्रवचन ही है या आनुभविक भी है ? उत्तर है आनुभविक भी है।

सूत्र और मणिके दृष्टान्त को समझने के लिये दो स्वरूप जानना आवश्यक है। एक सूत्र का स्वरूप और दूसरा मणियोंका स्वरूप। कीमत, चमक आदि की बात नहीं किन्तु दार्ष्टान्तिकके लिये उपयुक्त स्वरूप। सूत्र (धागा) अनुवर्तमान है और मणियां व्यावर्तमान हैं। अर्थात् धागा एक है। समस्त मणियों में वह एक ही अनुस्यूत है–सिला हुआ है। मणियाँ सौ है, अलग-अलग हैं। सूत्र अनुवर्तमान हैं और मणियां व्यावर्तमान हैं। इस बात को अब जगत् में देखो। समस्त जगत् में क्या अनुवर्तमान और क्या व्यावर्तमान है ? एक ही अनुवर्तमान है बाकी सभी व्यावर्तमान है। क्या है वह ? जो हम है शब्द से बोलते हैं। आकाश है। वायु है। तेज है। नदी है। पर्वत है। मकान है। पात्र है। वस्त्र है। सर्वत्र 'है' जुड़ा हुआ है। है का क्या मतलब है–सत्-अस्तित्व। अन्य आकाश वायु गृह वस्त्रादि उसी 'है' में जुड़े हुए हैं। बदलते जा रहे हैं। सूत्र है सत्। मणिगण हैं आकाश, पवन आदि। इसके बाद आगे विचार करो। अनुवर्तमान तथा व्यावर्तमान एक ही है या भिन्न है ? उत्तर साफ है। शब्द ही बतलाते हैं कि दोनों भिन्न हैं। एक स्थिर है, दूसरा बदल रहा है तो बदलनेवाला स्थिर से भिन्न ही होगा। पर्वत और नदी एक ही है क्या ? नहीं। एक स्थिर खड़ा है, दूसरी बह रही है। दोनों भिन्न हैं। भले ही पर्वत में ही नदी हो फिर भी वह भिन्न है। तब यह सिद्ध हुआ कि अनुवर्तमान सत से भिन्न हैं व्यावर्तमान आकाशादि और घटादि। तब अगला प्रश्न यह होगा कि सत् से भिन्न

कौन होगा ? निश्चित ही असत् होगा। घट से भिन्न अघट, धर्म से भिन्न अधर्म, ज्ञान से भिन्न अज्ञान, चल से भिन्न अचल। तब सत् से भिन्न असत्। जगत् असत् है। सत् परमात्मा के योग से वह सत् प्रतीत होता है। इस प्रकार घट है का भी अर्थ है–घट स्वयं असत् और 'है' सत्। यही विपरीत संसार ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख है। वही–"तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे" से बताया।

'तस्मिन् लोकाः श्रिताः'–यह सूत्रे मणिगणाः के समान है। जैसे धागे में मणि हैं वैसे तस्मिन् उस ब्रह्म में ये सभी लोक हैं। लोक शब्द की दो व्युत्पत्तियां हैं। लोकान्ते दृश्यन्त इति लोकाः। लोकन्ते पश्यन्तीति लोकाः। प्रथम व्युत्पत्ति में लोक शब्द का अर्थ है द्रष्टृ वर्ग। और भावप्युत्पत्ति की जाये तो लोकनं लोकः–दर्शन अर्थ है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन ये तीनों ही उस परमात्मा में ही श्रित हैं। प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति ये तीनों शुद्ध चैतन्य में ही अध्यस्त हैं। लोक शब्दका भूर्भुवः स्वः आदि चौदह लोक भी अर्थ हैं। परन्तु वे सब लोक्यमान में अन्तर्गत हैं। अन्तःक़रणावच्छिन्न चेतन प्रमाता है। विषयावच्छिन्न चेतन प्रमेय है और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य प्रमिति है। ये सभी समुद्र में तरङ्ग के समान उस आत्मरूपी ब्रह्म में ही आश्रित हैं। या रज्जु में सर्प के समान। अर्थात् इनमें चैतन्यांश समुद्र में तरङ्ग के समान है और अन्तःकरण, विषय तथा वृत्ति ये रज्जु में सर्प के समान हैं। समुद्र में तरंग हवा की उपाधि से या क्रियाविशेष से उत्पन्न होती है। पुराणों के अनुसार कूर्म भगवान् के श्वासोच्छ्वास की गति से उत्पन्न होती है। तरंग समुद्र से सर्वथा भिन्न एवं अभिन्न नहीं, वैसे ये प्रमाता, प्रमेयादि चैतन्यांशमें ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। किन्तु अन्तःकरणादि उसमें कल्पित हैं। अतः रज्जुसर्पवत् हैं। वस्तुतः अन्तः-करणादि उपाधिके कारण ही ब्रह्म में प्रमाता आदि भाव आ गये। उस अनात्मांशक़ा परित्याग होने पर भेदादि छूटकर ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं।

तदु ऩात्येति कश्चन। ब्रह्म का वर्णन किया। उसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। यह तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे का ही समर्थन है। एक बुद्बुद पैदा हो गया। वह उड़ने लगा। जैसे साबून का झाक उड़ता है। उसने विचार किया कि मैं इस समुद्र को पार कर चला जाऊँगा। मेरा

अब न समुद्र से मतलब और न किसी अंश से। वह उड़ता गया। बहुत दूर पहुँचा। उसने समझा कि मैं खारे उस समुद्रजलको पार कर गया। किन्तु यह ठंडक मुझमें कहाँ से आया ? खारापन कहाँ से आया ? विचार किया तब उसकी समझमें आ गया अरे वह तो समुद्र की ठंडक और खारापन। मेरा स्वरूप ही उस समुद्रजल से बना। उस समुद्रजल का अतिक्रमण मेरे लिये संभव नहीं है। थोड़ी देर में मैं सूख जाऊँगा तो मेरा अस्तित्व मिटेगा। उस समुद्र में ही जाना मेरे लिये ठीक है। वह वापिस आकर उस समुद्र में ही एक हो गया। "अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे, रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।" अंदर वायु उपाधि आ गया तो बुद्बुद हुआ।

यमराज कहते हैं कि उस परमात्मा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। तब यह समझना और बोलना भी छोड़ दो कि मैं परमात्मा से भिन्न हूँ। परमात्मा से मेरा क्या मतलब ? उस परमात्मा की शरण में हो। उस परमात्मा से एक होकर रहो।

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

जो भी यह जगत् दिखाई दे रहा है वह उस प्राणात्मक परमात्मा से निकलकर सक्रिय हो रहा है। उठाये हुए वज्र के समान वह भयकारी है अर्थात् नियन्त्रक है। जो इस बात को जाने वे अमृत हो जाते हैं॥ २ ॥

"तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन" ऐसा पूर्वमन्त्र में बताया। बुद्बुद ने पहले समझा कि मैं स्वतन्त्र हूँ परन्तु अधिक दूर जाने पर उसको मालूम पड़ा कि मुझमें जो शीतलता है वह समुद्राधीन है। अब वह सूर्यकिरणों से ओझल हो रहा है। ओझल अब इस कद तक होगा कि उसका अस्तित्व ही खतरे में रहेगा। बुद्बुद फूट गया तो हवा में उसका पता भी नहीं लगेगा। यद्यपि वस्तुका सर्वथा नाश नहीं होता। किन्तु होना न होना एक बराबरकी स्थिति होने से वह असद्रूप ही है। असतो रूपमिव रूपं यस्य। समुद्र जलका अतिक्रमण बुद्बुद नहीं कर सकता है। हाँ, अपने अस्तित्वको साकार रखना हो तो समुद्र में ही उसे रहना होगा। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये अगले मन्त्र का अवतरण है।

यदिदं किं च.....निःसृतम्। परमात्मा की दो शक्तियां हैं। एक ज्ञानशक्ति है और दूसरी क्रियाशक्ति है। परमात्मा यद्यपि एकरस है। किन्तु उपाधि आने पर ये दो शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। अन्तःकरणपर परमात्मा का प्रभाव पड़ता है—चाहे आभासरूपमें, चाहे प्रतिबिम्बरूपसे, चाहे अवच्छेदक रूपसे। वहाँ ज्ञानशक्ति प्रादुर्भूत होती है। अन्तःकरणसे ज्ञान होता है। प्राण से क्रिया होती है। इसकी स्पष्टता इन्द्रियों के आने पर होती है। चक्षुरिन्द्रियपर अन्तःकरणशक्ति उतर आयी रूपज्ञान हुआ। श्रोत्रेन्द्रियपर उतर आयी तो शब्दज्ञान होता है। घ्राणेन्द्रिय पर उतर आयी तो गन्धज्ञान होता है। रसनेन्द्रिय पर उतर आयी तो रसज्ञान होता है। वैसे ही प्राण पर आयी क्रियाशक्ति।पाद पर आयी तो चलना, फिरना, दौड़ना क्रिया स्पष्ट होती है। हाथ पर आयी तो उठाना, फेंकना, लिखना आदि क्रिया होती है। वागिन्द्रिय पर आ जाये तो बोलना चालना आदि क्रिया होती है। प्रत्येक अंग पर उसकी क्रिया स्पष्ट होती है। पूरा यह जगत् प्राणरूपी परमात्मा से निःसृत है।

यहाँ प्राणका अर्थ परमात्मा है। वेदव्यासजीने ब्रह्मसूत्र में इस पर विचार किया है। "अत एव प्राणः" इत्यादि सूत्रों से प्राणशब्दका अर्थ ब्रह्म निश्चित किया है। परन्तु कहीं पर भी ब्रह्म के लिये प्राणशब्द का प्रयोग आया है ? आया है। "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः" ऐसा मन्त्र आया है। वह श्रोत्रका भी श्रोत्र है। मनका भी मन है। वाणी की भी वाणी है। प्राण का भी प्राण है। यहाँ ब्रह्मको प्राण का प्राण कहकर बताया है। जगतकी व्युत्पत्ति-गच्छतीति जगत्-ऐसी है। तात्पर्य आगे स्पष्ट किया जायेगा।

प्राणे एजति निःसृतम्। इसका अन्वय अनेक प्रकारसे है। एक अन्वय है—प्राणात् निःसृतं प्राणे एव एजति चलति। यह जगत प्राणेंमेंसे निकला अर्थात् उत्पन्न हुआ और प्राणमें ही चल रहा है। दूसरा अन्वय है—प्राणे एजति सति जगदिदं निःसृतम्। जब प्राण स्पन्दमान हुआ तब जगत् प्रगट हुआ। प्राणस्पन्दनसे ही जगत्की उत्पत्ति है।

"यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥"

परमात्माके स्पन्दनसे शिवशक्तिप्रादुर्भाव है। उससे समस्त जगत्का प्रादुर्भाव है। वैज्ञानिकोंने भी स्पन्दनसे ही जगत्का प्राकट्य माना है। वे लोग इसके लिये शब्द दूसरा बोलते हैं। वायब्रेशन कहते हैं। यह पृथिवी क्या है? यह स्पन्दमान अणुसमूह है। किसप्रकार स्पन्दमान है? एक मध्य अणु है जो घनाणु है स्वयं सचल है। उसके चारों ओर ऋणाणु घूम रहे हैं। घनाणुऋणाणु तोड़ो तो वह सचलसर्गाणु मिलेगा। उसका भी तोड़ना संभव है। वैज्ञानिक वहांतक पहुंच नहीं पाये हैं किन्तु कल्पना करते हैं कि अन्तमें केवल स्पन्दन ही रहेगा। कोई ठोस पदार्थ नहीं रहेगा। उस अवस्थाको शास्त्रकार प्रकृति कहते हैं। परंतु प्रश्न यह है कि उस अन्तिम केवल क्रियाका आश्रय कौन? क्योंकि क्रिया आश्रयके बिना नहीं होती। पांव हैं तो चलते हैं। हाथ हैं तो लेते देते हैं। जीभ है तो बोलते हैं। यह जो चरम क्रिया है उसका आश्रय कौन? निराश्रय क्रिया नहीं हो सकती। इसका उत्तर सायन्सवाले नहीं खोज पा रहे हैं और न कल्पना ही कर पा रहे हैं। उसमें कारण है कि पूरा जगत् क्रियात्मक होनेसे क्रियाका आधार जगत-व्यापक होना चाहिये। किन्तु व्यापक क्रिया नहीं हो सकती। देशान्तरप्रापक ही तो क्रिया है। इसलिये उनकी कल्पना प्रकृतिमें जाकर समाप्त हो जाती है। बल्कि हमारे छः शास्त्रोंमें सांख्यशास्त्र उस प्रकृतितक पहुंचा। आगे उसकी भी बुद्धि कुण्ठित हो गयी। उसके आगे वेदान्त पहुंचा। वेदान्तने बताया उस आदि क्रियाका आधार ब्रह्म है। बोले वह व्यापक है तो उसमें क्रिया किस प्रकार? उत्तर है क्रिया एक शक्ति है। उसके लिये देशान्तरप्राप्तिकी आवश्यकता नहीं है। चक्र अपनी धुरीपर घूम रहा है। क्रिया है किन्तु प्रसिद्ध देशान्तरप्राप्ति नहीं है। अवयव देशान्तर प्राप्त हो किन्तु अवयवी देशान्तरप्राप्त नहीं होता। और यह कहना संभव नहीं है कि अवयवमें ही क्रिया है, अवयवीमें नहीं। यह नैयायिक तो नहीं ही मान सकते। इसीप्रकार निरवयव ब्रह्ममें ही परिस्पन्दन संभव है। पारमार्थिक नहीं है, केवल व्यावहारिक है यह तो अगला चिन्तन है। उस परिस्पन्दनसे जगत् हुआ। जगतमें भी ठोस पदार्थ अल्प है। क्रिया ही अधिक है। किसी वैज्ञानिकने बताया है कि इन अणुओंकी क्रिया बन्द कर बटोरा जाय तो यह सारी पृथिवी एक गेंद

बराबर हो जायेगी। प्रत्येक अणुमें क्रिया है। (उन अणों से एक आकाशवायु आदि क्रम से सृष्टि है—तस्माद्वा एतस्मादात्ममन आकाशः संभूतः आकाशद्वायुः इत्यादि। वहां प्रथमसृष्ट आकाश को ब्रह्मरूप में बताया—आकाशाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते इत्यादि। उस पर सूत्र है—आकाशस्तलिङ्गात्। दूसरा प्राणादि क्रमेण सृष्ट है—एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुः इत्यादि उस में यदिदं किं च जगत् सर्वं प्राण यह बताया। यह सूत्र है—प्राणस्तथानुगमात्। यह अण्डाकारब्रह्माण्ड क्या? गतिशील पृथिवीसूर्यादि। पृथिव्यादि क्या गतिशील अणु अणु क्या गतिशील घनाणु और ऋणाणु। वह क्या गतिशील कर्षाणु। जहां आकर्षण गतिमात्र है। वह क्या? सर्गाणु गति सृजनकारी अणु। अन्तमें केवलगति। वह स्व अधिष्ठान ब्रह्म में अनादिगति सिद्ध है। द्रव्यक्रमसे घटः कपालंश्च ततः कपालिका) उन अणुओंसे जन्य पृथिवी आदि ग्रह भी घूम रहे हैं। चन्द्रमा पृथिवीके चारों ओर घूम रहा है। पृथिवी सूर्यके चारों ओर घूम रही है और सूर्य भी स्थिर नहीं है। वह भी परममूलकी परिक्रमा कर रहा है। परममूल कौन? मेरु जहां ब्रह्मकी शक्ति स्थित है। वह प्रथम बिन्दुरूप था। वैयाकरण यहां शब्दस्फोट मानते हैं। शब्दस्फोटसे चारों ओर जो अणु सक्रिय अणु बिखरे वेही परस्पर आकर्षित होकर सूर्यमण्डलादि बने। वे मण्डल उसी बिन्दुकी परिक्रमामें लगे हैं। तात्पर्य यह कि उस परब्रह्म परमात्मामें स्पन्दन हुआ तो नाद हुआ। उससे बिन्दु हुआ। बिन्दुके स्फोट से अनन्तग्रहनक्षत्रादि समुदाय रूप ब्रह्माण्ड बना। यह एक स्पन्दनका परिणाम है। इसप्रकार उस व्यापक अनन्त परमात्मामें अनन्त स्पन्द, तदनुरूप अनन्त नाद एवं अनन्त बिन्दु उद्भूत हो गये और अनन्त ब्रह्माण्ड हो गये।

उस अनन्त परमात्मामें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। हम जिसपर हैं यह एक छोटासा अणुसदृश ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माजीने भगवान् कृष्णकी स्तुतिमें यही बात बतायी। वत्सहरणलीला प्रसङ्गकी कथामें ब्रह्माजी श्रीकृष्णकी परीक्षा करने जाते हैं। परीक्षामें उन्होंने देखा कि यह मेरी ही परीक्षा हो गयी है।

"क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥"

यह ब्रह्माण्ड तो एक बिस्तामात्र है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि समुदायरूप यह एक ब्रह्माण्ड है। इसकी चारों ओर प्रथम पृथिवीकी परत है। उसके ऊपर आकाश- तत्त्वकी परत है। ये सब दशगुणोत्तर हैं। पृथिवीसे दशगुना जल। उससे दसगुण तेज। उससे दसगुणा वायु। उससे दसगुना आकाश। उसके बाद अतिसूक्ष्म अहंतत्त्वकी परत है। तदनन्तर महत्तत्वकी बुद्धितत्त्वकी परत है। उसके बाद प्रकृतितत्त्वकी परत है। कुल मिलाकर ब्रह्माजीके सात बिस्ते अर्थात् साढ़े तीन हाथ होते हैं। यही ब्रह्माजीका शरीर है। चतुर्मुखादि शरीर तो स्वेच्छागृहीत शरीर है या अधिकारभोगार्थ प्राप्त शरीर है। ब्रह्माजी कहते हैं यही मेरा परिणाम है किन्तु परमेश्वर कैसा है—इस प्रकारके असंख्य ब्रह्माण्ड भगवानके रोम सुषिरमें वैसे दिखाई पड़ते हैं जैसे खिड़कीके अंदरकी ओर आये सूर्यप्रकाशमें त्रसरेणु दिखाई देते हैं। हजारों लाखों त्रसरेणु जाल सूर्यमरीचिमें दीखते हैं वैसे श्रीकृष्ण परमात्माके एक-एक रोमविवरमें अनन्त ब्रह्माण्ड परमाणुके समान भासते हैं। फरक इतना ही है कि खिड़कीकी रोशनीमें त्रसरेणु पैदा नहीं होते। यहां तो परमात्माकी रोशनी में ही सकल ब्रह्माण्ड पैदा होते हैं। प्राणे एजति निःसृतम्। परमाणुसे ठोस पदार्थ माने जाते हैं। यह तो केवल स्पन्दमात्र है। अतः अनन्त ब्रह्माण्ड वहां रहें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जैसे पंखेके तीन दल होते हैं। किन्तु वेगसे चलनेपर सैंकड़ों दल या थांलीसदृश दीखता है। वैसे क्रियाके कारण ही ये बृहत् दीख रहे हैं। इसके लिये भगवद्गौडपादाचार्यने अलातका उदाहरण दिया है। क्रिश्चियनोंके क्रोसके समान एक लकड़ीके माथे पर दूसरी लकड़ी तिरछी लगाते हैं। फिर दोनों ओर रुई लगाकर बत्ती जलाते हैं। उसे वेगसे घूमावे तो एक बड़े चक्रके आकारमें बत्ती दीखने लगती है। यही अलात चक्र है। वैसे अणुसदृश होनेपर जगत् महान् दीखता है। इसीलिये इसको जगत् भी कहते हैं। गच्छतीति जगत्। जों गतिशील है वही जगत् है।

महद्भयं वज्रमुद्यतम्। यह मूलस्वरूप ब्रह्म महान् भयरूप है। जैसे वज्र हाथमें लेकर खड़ा हो, स्वयं वज्ररूप ही है। क्या वह डरानेवाला है? ब्रह्मको तो अभय बंताया है। "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि"। यहां ब्रह्मको अभय बताया है। उत्तर है कि परमार्थमें अभय है, व्यवहारमें भय है। व्यवहारमें लोग बोलते हैं कि झूठ बोलते हो, धोखा देते हो, कमसे कम ईश्वरसे तो डरो। ईश्वर भयरूप है। किसलिये? अपराधीको दण्ड देनेके

लिये। "फलमत उपपत्ते"। व्यासजी सूत्रमें लिखते हैं कि बुरा कर्म करें तो और लोग भले क्षमा कर लें पर भगवान् क्षमा नहीं करते। सरकारने छूट दे दिया कि झूठ बोलनेका दण्ड नहीं है। झूठको एक और झूठ बोलकर धो सकते हैं। झूठा साक्षी बोलता है–इसने इसको डंडा मारा। सामनेसे पूछा किन्तु इसपर डंडेकी कोई निशानी नहीं है। तब उसने कहा कि दूरसे देखनेपर हमको ऐसा लगा कि इसपर इसने दंडेसे प्रहार किया। बस, सफाई हो गयी। परंतु परमात्माके यहां प्रथम झूठ साफ नहीं होती। किन्तु प्रथम झूठ तो बचानेकी दूसरी झूठ मिलाकर दो झूठ हो गयी। दो अपराध हो गये और उसका फल अवश्यंभावी है। अतएव वह महद्भय है। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि"। फल भोगे विना छुटकारा नहीं। भक्त लोग कहते हैं कि भक्ति करने से कर्म नष्ट होते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष है कि भक्त ही अधिक तकलीफ पाते हैं। मीराने कम तकलीफ पायी ? नरसी ने कम तकलीफ पायी? यह कह देते हैं कि भगवान् परीक्षा करते हैं। परीक्षा तो विद्यार्थी योग्य है या नहीं यह जानने के लिये होती है। क्या भगवान् को पता नहीं कि हम कितनी गहराई में हैं ? असली बात यह है कि कर्मफल देकर भगवान् कर्म से हमें छुड़ाते हैं। वज्र के समान परमेश्वर का नियम अकाट्य है। जैसे वज्र अकाट्य होता है।

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । जो यह जान लेता है कि समस्त जगत् उस ब्रह्म के स्पन्दन में ही स्पन्दित हो रहा है वही परम नियन्त्रण करता है। वह अमृत हो जाता है। वेदमन्त्रों ने बताया है–अमृतस्य पुत्राः । हम सभी अमृत परमात्मा के पुत्रं हैं। तब हम क्या हुए ? स्वयं भी अमृत । मनुष्य का पुत्र मनुष्य। गाय का पुत्र गोजाति। हाथी का पुत्र हाथी। वैसे अमृत का पुंत्र अमृत। अन्य श्रौत वचन यह भी है–आत्मा वै पुत्रनामासि। आत्मा ही तो पुत्र है। यह अपना ही द्वितीय जन्म है। प्रथम मातापिता से जन्म हुआ। फिर जाया से जन्म। जायतेऽस्यामिति जाया। स्वयं ही पुत्ररूप में जन्म लेता है। अतएव ब्राह्मण पुत्र ब्राह्मण हुआ। वैसे अमृतपुत्र अमृत ही है। दोनों में फरक यही है कि पिता से पुत्र जन्म लेता है तो पितृतत्त्व से अतिरिक्त अन्न जलादि तत्त्व उसंमें मिलकर वृद्धि को प्राप्त होता है। अतः सर्वथा पिता ही पुत्र है यह कहना संभव नहीं है। किन्तु अमृतपुत्र में तत्त्वान्तर समावेश है ही नहीं। क्योंकि समस्त जगत् उससे हुआ, उससे

भिन्न नहीं है। तब सोने से बना कुण्डलादि सोना ही होता है वैसे अमृत से बना जीव भी अमृत ही होगा। उसमें अन्य वस्तु का प्रवेश नहीं है। अतएव गीता में

"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः"

इस प्रकार सबको भगवान् बताया। पितृतत्त्व भी वही है। मातृतत्त्व भी वही है। पितामह तत्त्व भी वही है। और सर्वादि धातृतत्त्व भी वही है। जल तथा बुद्बुद में फरक नहीं है। बल्कि बुंद्बुदमें विजातीय वायुतत्त्व है। यहाँ तो प्रज्ञानधन ही है। न्यूनता यदि है तो समझ की है। हम नहीं समझते। हम यदि आस्तिक हैं तो यही समझते हैं कि हमसे दूर-दूर वह परमात्मा है। नास्तिक हो तो परमात्मा ही नहीं समझता। उसका परिणाम क्या? श्रुति कहती है–

"असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्"

बुद्बुद यदि समुद्रको भूल जाता है, दूर चला जाता है तो वह फूटेगा। कण बिखरेगा और शून्य हो जायेगा। यद्यपि वस्तु कभी शून्य नहीं होती। फिर बूंद का अस्तित्व सर्वथा दीखेगा नहीं। शून्य नहीं तो शून्यसदृश होगा। पुरुषार्थ रहित होगा। जल तथा बुद्बुद एवं परमात्मा जीवात्मा में फरक इतना ही है कि बुद्बुद को अपना अस्तित्व बना रखना हो तो उड़ने के बाद वापिस आना होगा। क्योंकि परिच्छिन्न होने से वह वस्तुतः अलग हो गया था। किन्तु परमात्मा अपरिच्छिन्न है। यहाँ परमात्मा से बिछुड़ना अज्ञान से है, क्रिया से नहीं। और मिलना भी ज्ञान से है क्रिया से नहीं। इसीलिये यहाँ–"य एतद्विदुः" ऐसा बताया।

क्या उठा हुआ वज्र जानने से ही अमृत हो जायेंगे? इसे समझनेके लिये वज्र के बारे में भी देखना होगा। वृत्रासुर के वधके लिये वज्रका निर्माण हुआ था। महर्षि दधीचि की अस्थियों से वज्र बनाया। वृत्रासुरवधोपेतं श्रीमद्भागवतं विदुः इस भागवतलक्षण से वृत्रासुरकथा अतिमहत्त्वपूर्ण लगती है। त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप हुआ। उसका वध इन्द्रने किया था। त्वष्टाको इससे बड़ा क्रोध आया और इन्द्रको मारनेवाले पुत्र प्राप्त करनेके लिये त्वष्टा ने बड़ा भारी यज्ञ किया, उससे वृत्रासुर पैदा हुआ। गलती एक हो गयी। वह यह कि इन्द्रशत्रो विवर्धस्व मन्त्र बोलते समय

अन्तोदात्त की जगह आद्युदात्त बोल गये। जिससे इन्द्रका शत्रु-मारक के बदले इन्द्रशत्रु-मारक जिसका ऐसा वृत्रासुर हुआ। स्वरभेद होने पर भी मनमें वह न होने से वृत्रासुर अतिबलवान् हुआ। उसके आक्रमण से देवता त्रस्त हो गये तो सभी देवता विष्णु की शरण में गये। विष्णु ने कहा—उसे मैं भी नहीं मार सकता। हाँ, महर्षि दधीचि की वज्र बनाओ तो उससे वृत्र का वध होगा। मैं अपने तेज को उसमें सिक्त करूंगा। देवीभागवत में भी ऐसी ही कथा है। वहां देवी ने कहा—मैं अपनी शक्ति का उस वज्रमें आधान करूँगा। देवता दधीचि के पास गये हड्डी मांगी तो दधीचि ने कहा—भला अपना शरीर किस को प्यारा नहीं होता? देवताओं ने कहा संतोंका सबकुछ परोपकारर्थ होता है हमारे जैसे साधारण जन केवल स्वार्थ देखते हैं। भगवन्! त्रिलोककल्याणार्थ आप से हमारी यह प्रार्थना है। दधीचि ने कहा—मैं सिर्फ परीक्षा कर रहा था। मैं ज्ञातज्ञेय हूं प्राप्त प्राप्य हूं कृत कृत्य हूं। इस शरीरसे यदि परोपकार अन्त में हो तो कितनी ही अच्छी बात होगी। अपकार के बदले भी उपकार ही कर्त्तव्य है। दधीचि की हड्डी से वज्र बना, विष्णुशक्ति उस में आ गयी। देवीशक्ति भी आ गयी और उससे वृत्रासुरवध हुआ। वह केवल वज्र था। ब्रह्म तो महद् वज्र है। वृणोति आवृणोतीति वृत्रः। अविद्यावरण वृत्र है। "ध्वान्तारिदान-वावृत्राः" ऐसा कोशमें बताया है। ध्वान्तसे आन्द्धरध्वान्त अज्ञान समझो। ब्रह्म वज्रात्मक दधीचिअस्थिसमान उपकारस्वरूप है। सुख-दुःखादि देकर परमात्मा ने बड़ा उपकार किया। लोग दुःख में कहते हैं परमात्मा मुझपर नाराज है। सुख-धनमें कहते हैं। परमात्मा की दया है। अरे दुःख से पाप कटता है। यह परमात्मा का उपकार है। बल्कि सुख से पुण्य कटता है। वह अच्छा शायद हो न हो। वस्तुतः सुखदुःख से शुभाशुभ सर्वकर्म ध्वस्तकर नैष्कर्म्यसे अपनी गोद में परमात्मा सबको रखना चाहता है। परंतु यह जिद्दी जीवात्मा रूपी बालक इंजेक्शन लगाने वाले डाक्टर को अपना शत्रु समझ रहा है। परमात्मा उपकार स्वरूप है। वैष्णणी शक्ति पालनात्मिका है। त्यक्तेन भुञ्जीथाः पालयेथाः बताया हैं। आत्मपालन परमात्मा करता हैं। बुद्बुद समुद्र को छोड़ ऊपर उड़ रहा है तो नष्ट होगा। समुद्र में रहने में ही उसकी रक्षा है। देवी तो सर्वशक्तिरूपिणी है।

सर्वस्वरूपे सर्वेशि सर्वशक्तिसमन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोस्तु ते॥

वही अभयदायिनी शक्ति है।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ ३॥

उस ब्रह्मके भयसे ही अग्नि तपती है, सूर्य तपता है, इन्द्र तथा वायु स्वकार्य करते हैं एवं पञ्चम मृत्यु दौड़ती हुई आ रही है॥ ३॥

महद्भयं वज्रमुद्यतं ऐसा पूर्वमन्त्रमें बताया। वह ब्रह्म उठे हुए वज्रके समान महाभयरूप है। ब्रह्मको यहां भयरूप बताया। और कहीं अभयरूप भी बताया है। "अभयं ब्रह्म। अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद" इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति है। एक ही ब्रह्म भय तथा अभय दोनों किसप्रकार? द्वैतवासनाकालमें भयरूप है और अद्वैतनिश्चयकालमें अभयरूप है।

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्"

द्वितीयका जहां अभिनिवेश है वहां भय होता है। साक्षात् या परम्परया भय होता है। वह द्वितीय ही भयरूप होगा। या ब्रह्म ही भयरूप होगा। द्वितीय कभी अनुकूल होता है। कभी प्रतिकूल होता है। अनुकूल हो तो बिछुड़नेका भय। प्रतिकूल हो तो सामनेसे भय। दोनोंमें पुण्यपापात्मक प्रवृत्ति होगी। उसके लिये फिर परमेश्वरका भय। बुरा काम करते हुए व्यक्तिको लोग कहते हैं—उसको भगवानसे भय नहीं है। क्योंकि फलदाता परमेश्वर हैं। "फलमत उपपत्तेः"।

कर्म करनेतक आप स्वतन्त्र हैं। अच्छा कर सकते हैं, बुरा कर सकते हैं। अच्छी भावनासे कर सकते हैं बुरी भावनासे भी अच्छा बुरा कर्म कर सकते हैं। कर्म जहां हो गया वहां वह वज्र हो जाता है। कर्म हो गया तो नष्ट हो गया। वज्र क्या बनेगा? कर्माकारवृत्तिसहित परमेश्वर वज्ररूप हो जाता है। बाण छोड़नेसे पूर्व आप स्वतन्त्र हैं। कहां छोड़ना कहां नहीं। किन्तु बाण छूट गया तो फिर आपके अधीन नहीं रहेगा। कर्म हो गया तो अब उसके फलकी प्रतीक्षा करो। उसे देनेवाला परमेश्वर है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'

लोग भगवानको कोसते हैं—कितनी परीक्षा लोगे। दूसरे कहते हैं—भगवान् हमपर तो नाराज हैं। तीसरे कहते हैं भगवानने हमपर अन्याय किया। सात्त्विक भावसे परीक्षा कही। राजसभावसे नाराज बताया। तामस भावसे अन्याय कहा। वस्तुतः ये सब स्वयंके लिये कर्मोंका परिणाम है। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि"—यह भगवानका नियम है। उस अंशमें उद्यत वज्रोपम है। यह केवल हमारे कर्मके लिये ही नहीं किन्तु समस्त विश्वके लिये है। चेतन अचेतन सर्वत्र यही स्थिति है। इस बातको इस मन्त्रमें अब बताया जायेगा।

भयादस्याग्निस्तपति। अग्नि आदिके तीन-तीन भेद हैं। भौतिक अग्नि पर विचार करो। अग्नि तप रही है। अग्नि जलनेके बाद उसपर भोजनादि बनाते हैं। लेकिन भोजनादि बनाते-बनाते बीचमें अग्नि शीतल हो जाय तो क्या होगा? जैसे लिफ्ट चढ़ते-चढ़ते बीचमें बिजली गयी तो क्या स्थिति होती है? उत्तर है कि अग्नि कभी शीतल नहीं होगी। क्योंकि वज्ररूपमें परमात्मा स्थित है। परमात्माके नियमका उल्लङ्घन अग्नि नहीं कर सकती। सामान्य अग्नि इन्धनको जलाकर भस्म करती है। प्रलयाग्नि पूरे विश्वको जलाकर भस्म करती है। उस भस्मीभूत त्रिगुणको भगवान् शंकर अपने मस्तकमें त्रिपुण्ड्रके रूपमें धारण करते हैं।

भयात्तपति सूर्यः। परमात्माके भयसे सूर्य अपना काम करता है। नियत समयमें उगता है नियत समयमें अस्त होता है। ऐसा कभी होता है कि नहीं कि उदयसे पूर्व रास्तेमें कोई मिला, उससे बात करते रहे तो पांचसात मिनिट देरीसे उदय हुआ? कभी उदय हुआ हि नहीं, जैसे सत्संगी सत्संगमें कभी देरसे आते हैं कभी नहीं आते हैं? नहीं। ऐसा नहीं होता। सूर्यके उदयास्तसमयपर ही हम समय निश्चित करते हैं। सूर्य यदि सात मिनिट विलंबसे आ जाय तो वही छः बजेका समय होगा। सूर्य पूषा है—पोषण कर्ता है। सूर्यकी रोशनीमें ही पेड़-पौधे आदि पुष्ट होते हैं। सूर्यका अर्थ है—सुष्ठु ईरणात्। ईरण प्रेरणा। संप्रेरण सूर्य ही करता है। प्रातःकाल वह जगाता है। सूर्य बुद्धिको प्रेरणा देता है—धियो यो नः प्रचोदयात्। यह सूर्य तप रहा है उसी परमात्माके भयसे।

भयादिन्द्रश्च। इन्द्रसे यहां मेघ अभिप्रेत है। मेघपति इन्द्र है। मेघमें ही इन्द्रधनुष दिखाई देता है। यह मेघ चातुर्मास्यके समय आ जाता है। चारों ओर जलमय कर तृषित भूमिको एवं प्राणियोंको आप्यायित करता है। यह अपने नियममें स्थित है। किसके भयसे? परमेश्वरके भयसे। यद्यपि यह मेघराज सत्संगियोंके समान कभी देरीसे आता है। कभी जल्दी आता है। फिर भी आता जरूर है। वृष्टिसे ही धान्य पैदा होते हैं। वृक्षलतादि पुष्ट होते हैं। जलको तो जीवन बताया है। "जीवनं भुवनं वनं कबन्धमुदकं पाथः" इत्यादि पर्यायवाची हैं।

वायुश्च। वायु निरन्तर चलता रहता है। जब स्थिरसा प्रतीत होता है तब भी अन्तर्गति होती ही है। अतएव "श्वसनः स्पर्शनो वायुर्मातरिश्वा सदागतिः" इसप्रकार कोशमें वायुका सदागति भी एक नाम बताया है। क्यों यह सदागति है? मनुष्य क्या प्राणीमात्र इस वायुके श्वासोच्छ्वाससे जीवित हैं। अतएव परमात्माने इसे सदागति बनाया और परमात्माभयरूपी नियन्त्रणसे यह सदागति बना हुआ है।

मृत्युर्धावति पञ्चमः। चार पूर्वमें बताये पांचवीं मृत्यु है। यह भी परमात्माके नियन्त्रणमें है। आदमी केवल जन्मे और न मरे तो पृथिवीपर कहीं पांव रखनेकी जगह न होती। आदमीपर आदमीको चलना पड़ता। बूढ़े चलफिर न पाते। पड़े रहते। ऊपरसे जवान चलने लगते। मृत्युसे पुराना शरीर चला जाता है और नया शरीर यथासमय मिलता है। कुछ लोकान्तरमें चले जाते हैं। मृत्यु टालनेपर टलती नहीं। बुलानेपर आती नहीं। तोतापुरी रामकृष्ण परमहंजीके गुरु डूब मनरेके लिये गंगामें उतरकर दो बार पार कर गये। किन्तु पानी घुटनेसे ज्यादा नहीं मिला। जिसकी मृत्यु नियत है उसकी उसी समय होगी। यह भी परमात्माके अधीन है।

यह आधिभौतिक पक्ष हुआ। आगे आधिदैविक पक्षभी है। संसारमें सभी वस्तुएँ सदेवताक हैं। सबका देवता है। दैवी शक्तिसे संसार चल रहा है। "अनन्ता वै विश्वेदेवाः" इस विश्वके कण-कणके देव हैं अतएव वे अनन्त हैं। अग्नि प्रज्वलित होती है यह भौतिक दृश्य है। इसके देवता अग्निदेवता हैं। वे ही जलानेका काम करते हैं। जहां भौतिक स्वरूप प्रकट

करना है वहां वे ही अग्निदेव प्रकट करते हैं। किन्तु स्वेच्छासे वे कार्य नहीं करते। किन्तु परमात्माके नियन्त्रणमें रहकर ही करते हैं। उस परमात्माके हुकमके बिना वे जला नहीं सकते। हुकम होनेपर जलाये बिना छोड़ नहीं सकते। —"ते अग्निमब्रुवन्नग्न एतद्विजानीहि किमेतद् यक्षमिति। तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति"। इत्यादि कथा केनोपनिषत्में आती है। यक्ष ब्रह्मने तिनका जलानेको कहा। किन्तु अग्निदेव जला न सका।

यह सूर्यमण्डल भौतक है। इसका अधिष्ठाता देव है। जिसे हम सूर्यनारायण कहते हैं। जिसको हम अर्घ्य देते हैं। क्योंकि मण्डलको अर्घ्य देनेका कोई मतलब नहीं होता। यह अर्घ्य वहांतक पहुंचता नहीं। पहुंचनेपर भी सूर्यतेजमें जलकर खतम हो जायेगा। सूर्यदेवताके लिये अर्घ्य देते हैं। देवता व्यापक होनेसे या यथेच्छशरीरधारी होनेसे हमारे अर्घ्यको ग्रहण करता है। वह सूर्य बड़ा ज्ञानी है। परमात्माने उनको ज्ञान दिया। और सूर्यने मनुको ज्ञान दिया। "इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान् मनवे प्राह।" इसप्रकार गीतामें भी कहा है। महर्षि याज्ञवल्क्यको सूर्य भगवानने यजुर्वेद पढ़ाया। वाजिरूप धारणकर सूर्य भगवान आये थे। उसका नाम वाजसनेय संहिता है। यह सूर्यनारायण भी परमात्माके नियन्त्रण के अधीन रहकर ऊर्जावितरण करता है। अपार ऊर्जाका वितरण सूर्यनारायण करता है। अभीतक उसका सही-सही उपयोग करना वैज्ञानियकों को नहीं आया है। परमात्माके नियन्त्रण होनेसे ही हम सबका जीवन है। यदि सूर्य दो चार फुट नजदीक आ जाये तो भी जीवन नहीं हो सकता। दूर हो जाय तो भी नहीं हो सकता।

इन्द्रका आधिभौतिक स्वरूप मेघ है और आधिदैविक स्वरूप देवेन्द्र है। उसाक वासव नाम है। "देवानामस्मि वासवः"। मेघगणोंका वह अधिपति है। प्रलयकालमें सांवर्तक मेघगणको वही भेजता है। गोवर्धन पूजाके बाद कुपित इन्द्रने सांवर्तक मेघगणको प्रेरित किया था। व्रजको पानीमें डुबानेके लिये इन्द्र क्रतुपति भी हैं। यज्ञसे इन्द्रका पूजन होता है। उससे पर्जन्य तथा वृष्टि होती है। "देवान् भावयतानेन" इत्यादिसे गीतामें इसका वर्णन आया है। यक्ष ब्रह्मका पता लगानेके लिये इन्द्र भी पहुंचा था। जब यक्ष

तिरोहित ही हो गया। इन्द्र प्रतर्दनसंवाद कौषितकीमें आया है। ये बड़े ज्ञानी थे।

यह जो वायु चल रहा है वह वायुदेवताका भौतिक शरीर है। इसका अधिष्ठाता वायुदेवता है। वह भी परमेश्वरके भयसे अपना कार्य करता रहता है। यक्षके समीप वायु भी गया था। "तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति। वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति"। परंतु ब्रह्मके संमुख वह एक तिनका भी हिला नहीं सका था। वायु सूत्रात्मा हिरण्यगर्भको भी कहते हैं। "तस्मिन्न यो मातरिश्वा दधाति" सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ भी उस परमात्माकी सत्तामें ही रहकर प्राणियोंके कर्मका विभाजन करता है। उस अर्थमें इसी श्रुतिको प्रमाणरूपेण भाष्यकारोंने उपस्थित किया है।

पंचम मृत्युके अधिष्ठाता यमराज हैं। यमराजके भी नियामक परब्रह्म हैं। नचिकेताको इसी उपनिषत्का उपदेश करनेवाले यमराज हैं। यह तो इसी उपनिषत्से अवगत होता है कि वे बड़े ज्ञानी थे और हैं। तत्त्वज्ञानी होने ही से अनन्त प्राणियोंके मृत्यु हेतु होनेपर भी इन्हें पाप नहीं लगता। "यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" इसप्रकार उपनिषदोंमें ही कहा गया है। कमलका पत्ता जलमें ही रहता है फिर भी उसमें जल चिपकता नहीं। जलका शोषण नहीं होता। वैसे यमराज महापापात्मक मृत्युकर्ममें लगा है। किन्तु पापका श्लेष नहीं होता। क्यों? एवंवित् है। परमात्मस्वरूपसाक्षात्कार किये हुए हैं। करते भी रहते हैं। लेकिन यदि तत्त्वज्ञानी हैं तो इस पापकर्ममें लगे ही क्यों हैं? सब छोड़कर् शान्तिसे बैठे रहना था। नहीं। अपने अधिकारानुसार कर्म करते हैं।

"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्"

जब तक अधिकार तब तक इनकी स्थिति उसी अधिकारकी पूर्तिके लिये ही होती है। बड़े-बड़े संत भी कर्म करते हुए देखे जा सकते हैं। क्या लोभसे? या अन्य किसी प्रयोजनके लिये? नहीं। यावत्प्रारब्ध कर्म वे प्रारब्धपूरणार्थ ही करते रहते हैं। प्राणिवधसे भी यमराजको पाप नहीं लगता तो साधारण कर्मसे संतोंको क्यों पुण्यपाप होने लगे? यह बात भागवतमें भी स्पष्ट है—

"भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः।
नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥"

ब्रह्माजीका कहना था कि मैं प्रजासृष्टिमें अधिकृत हूं। किन्तु सृष्टिमें विषमता निश्चित है। विषमतामें पक्षपात आ जाता है। कोई सुन्दर है, कोई कुरूप है। कोई अंधा, लंगड़ा, रोगी है। कोई स्वस्थ सर्वगुणयुक्त है। इसमें पाप तो होगा ही। अतः मुझे वह शिक्षा दीजिये जिससे मैं बन्धनस्थ न होऊं। उससमय भगवानने चतुःश्लोककी भागवतका उपदेश किया और कहा—

"एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥"

इस चतुःश्लोकी सिद्धान्तको परमसमाधिसे ग्रहण करो। आप कल्पविकल्पोंमें मोहित नहीं होंगे। आत्मज्ञानी रहेंगे। कर्मालिप्त रहेंगे। वायु हिरण्यगर्भको यही ब्रह्मा माना जाये तों भी कोई हानि नहीं।

इन्द्र जगतका पालक देवता है। क्योंकि समस्त जगतका वह इन्द्र है। वायु हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जगत्सृष्टिकर्ता देवता है। और मृत्यु जगत् संहारकर्ता देवता है। इसप्रकार विभाजनपूर्वक व्याख्या सुगम है। तब अग्नि कर्माश्रय देवता है। अग्निमें ही आहुति आदि डाले जाते हैं। "सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा" "यज्ञाद् भवति पर्जन्यः" "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते आदित्याज्जायते वृष्टिः" इत्यादि वचनोंसे अग्निकर्म ही मुख्य कर्म है। उसीसे जगतकी स्थिति भी है। यह व्याख्या होगी। और सूर्य कर्मसाक्षी देवता है। कर्मसाक्षी जगच्चक्षुः इसप्रकार सूर्यके नाम आये हैं। यज्ञादि कर्म सूर्यसद्भावमें ही संभव है। अतएव सतीके शापसे सूर्योदय अवरुद्ध होने लगा तो देवता ऋषि आदि घबरा गये थे। अरुणोदयसे ही सूर्यास्तित्व माना जाता है अतः ब्राह्ममुहूर्तमें भी कर्म होता है। सन्ध्यापर्यन्त होता है। रातका हवनादि उत्तम नहीं है। सूर्य कर्मसाक्षी है ऐसी व्याख्या समझनी चाहिये। अतएव "पञ्चमः" इस विशेषणकी सार्थकता है। अन्यथा अनन्त देवताओंके होनेसे पञ्चममें समाप्ति करना संगत न होता। ये सभी परमात्माके भयसे ही स्वस्वकार्यमें स्थित हैं।

आधिभौतिक एवं आधिदैवक अर्थके बाद आध्यात्मिक अर्थ भी लेना उचित होगा। अग्नि अध्यात्ममें वागिन्द्रियको कहते हैं। क्योंकि वाणीके अधिष्ठाता अग्नि है। वाणीका प्रेरक कौन है? परमात्मा ही है।

"योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना"

इसप्रकार ध्रुवकृत स्तुतिमें बताया है। मेरे अंदर वह वाणी सुप्त थी। परमात्मा भी आवृत्त था। "अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानम्" तपश्चर्यासे नारायण-दर्शन हुआ तो उससे अज्ञानावरणका भंग हो गया। परमात्मा निरावरण हो गया। तब सर्वप्रथम वाणीको ही जागरित किया। शब्दब्रह्मवादियोंके सिद्धांतमें सर्वप्रथम वाणीका ही प्रादुर्भाव होता है। उसके स्फोटसे अर्थ उत्पन्न होता है।

"स्फोटरूपं यतः सर्वं जगदेतत्प्रकाशते"।

अतः वागिन्द्रियका विशेष महत्त्व होनेसे प्रथम उपादान है।

द्वितीय नंबरमें सूर्यको लिया। सूर्यका अध्यात्ममें चक्षु अर्थ है। क्योंकि चक्षुके अधिष्ठाता सूर्य हैं। चक्षु समस्त इन्द्रियोंमें प्रधान हैं।

"सर्वौषधीनाममृता प्रधाना सर्वेषु सौख्येष्वशनं प्रधानम् ।
सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानं सर्वेषु गात्रेषु शिरःप्रधानम् ॥"

ऐसा नीतिकारका वचन है। अमृता नामकी औषधि सब औषधियोंमें प्रधान है। समस्त सौख्योंमें भोजन ही प्रधान है। भोजन नहीं तो शरीर नहीं। शरीर नहीं तो अन्य भोग क्या हो? समस्त शरीरमें मस्तक प्रधान है। इसप्रकार एक मुख्य कर्मेन्द्रिय तथा एक मुख्य ज्ञानेन्द्रिय लिया।

यहां मुख्य ग्रहण उपलक्षणार्थ हैं। न कि केवल मुंख्य ही को लेना। इसलिये कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियां गौणरूपसे पुनः उपादान करते हैं— भयादिन्द्रश्च वायुश्च। इन्द्रसे हस्त लेना चाहिये और वायुसे त्वक् लेना चाहिये। हस्तयोरिन्द्रो देवता। त्वचो वायुर्देवता। हम हाथसे लेते हैं, देते हैं। नाना कर्म करते हैं तो प्रवर्तक कौन? वही परमात्मा है तथा त्वगिन्द्रियसे शीतोष्णादि अनुभव करते हैं किससे? परमात्मासे। "अन्यांश्च हस्तचरण-श्रवणत्वगादीन्" इसप्रकार सामान्यतया अन्य सबका भी ग्रहण हुआ है।

'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचम्' इत्यादि सभी यहां उपलक्षणीय हैं। ये सभी परमात्माके भयसे ही नियमित हैं।

मृत्युर्धावति पञ्चमः। यह विशेष निर्देश है। परमेश्वरके अधीन होकर ही मृत्यु शिकार ढूंढती दौड़ती रहती है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सबकी मृत्यु समयपर ही होती है। एक जवान परिभ्रमण करते हुए एक गांवमें पहुंचा। वह उज्जनियीके पास था। अथक परिश्रम करनेवाले उस जवानको देखकर सभी गांववाले मुग्ध थे। रात को सोनेके लिये कहां जाये तो एक महल दिखाई पड़ा। लोगोंसे पूछताछ की कि यह महल किसका है? खाली क्यों है? लोगोंने बताया कि इसमें एक बेताल आता है। जो भी रातको उसमें रहता है उसे वह मार डालता है। जवानने कहा मैं जाकर रहूंगा। लोगोंने कहा ऐसा मत करो। सुदंर जवान हो मारे जाओगे। जवानने किसीकी परवाह नहीं की। महलमें गया। पान इलायची आदि ले गया। रातको वेताल गरजता हुआ आया। जीना हो तो भागो नहीं तो मारे जाओगे। जवानने कहा–आईये बैठिये मैं प्रथम आपका सत्कार करूं। मधुर वाणी सुनकर वह आया, कुर्सीपर बैठा। जवानने फूलहार चढ़ाया। प्रणाम किया। खानेके लिये भोग दिया। स्तुति की और बोला अब आप मुझे मार सकते हैं। वैतालको आश्चर्य हुआ। प्रसन्न भी हुआ। बोला, तुम कोई वरदान मुझसे मांगो। फिर कल से यहां नहीं आना। जवानने कहा– आपकी गति कहांतक है? बोला ब्रह्मलोकतक है। तो आप ब्रह्माजीसे पूछकर मुझे बतावें मेरी आयु कितनी होगी। दूसरे दिन प्रथम वह भयानक रूपसे आया। उस जवानने पूजादि किया। उसने कहा तुम्हारी सौ वर्ष आयु रहेगी। कुछ मांगना हो तो मांग लो। जवानने कहा कि एक दिनकी आयु मेरी बढ़ावें ऐसी आप ब्रह्मासे प्रार्थना करें। वेतालने कहा-पूछ आऊंगा, बताऊंगा। फिर तुंमको यहांसे जाना होगा, नहीं तो मारूंगा। अच्छी बात। दूसरे दिन आकर बोला ब्रह्माजी कहते हैं कि एक दिन नहीं बढ़ सकता। फिर पूजन किया। वरदानके लिंये कहा तो बोला आप यह पूछ कर बता दें कि एक दिनकी आयु घटा दें। वेताल पूछकर आया और बताने लगा–एक दिन घटाया नहीं जा सकता। आज जवानने वेतालको उठाकर पटका और बोला–अरे ब्रह्म यदि मेरी आयु एक दिन

बढ़ा घटा नहीं सकता तो तू कौन मारनेवाला। वेताल कांप गया। तबसे उस जवानका दास बना। कौन था वह जवान? विक्रमादित्य। मृत्यु र्धावति पञ्चमः। परमात्माके नियन्त्रणमें मृत्यु है।

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

इसी जन्ममें शरीरके जर्जरित होनेसे पूर्व यदि परमार्थज्ञान पासके तो ठीक है। उससे विपरीत तो सृष्टिके नाना योनियोंमें शरीरधारण परिणाम होता है ॥ ४ ॥

पञ्चम वल्लीमें "हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्" इस प्रकार ब्रह्म प्रवचनकी प्रतिज्ञा की। साथमें ही "यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवित" इस मरणान्तरभावी स्वरूपके प्रवचनकी भी प्रतिज्ञा की। तदनुसार "य एष सुप्तेषु जागर्ति....... तदेव शुक्रं" इत्यादिसे त्वंपदार्थशोधनपूर्वक ब्रह्म वर्णन किया। और इस वल्लीमें "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख..... तदेव शुक्रं" इत्यादिसे तत्पदार्थशोधनपूर्वक ब्रह्मका वर्णन किया। शरीर इन्द्रिय आदि सुप्त होकर निष्क्रिय हो जाते हैं उस समय उनकी निष्क्रियता एवं सुषुप्तिको देखनेवाला जीवसाक्षी ही है तथा ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख संसार-वृक्षके रचयिता साक्षी ईश्वरसाक्षी ही है। इसके साथ मरणोत्तर भावि स्थितिके स्पष्टीकरणार्थ पञ्चमवल्लीमें "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते" इत्यादि बता दिया था उसीका स्पष्टीकरण यहां षष्ठवल्लीमें भी तत्पदार्थके स्वार्थ के साथ कर देते हैं।

इह चेदशकद्बोद्धुम्। संसारमें कई प्रकारके मानव मिलते हैं। एक वे हैं जो खाना-पीना, मोज करना, तदर्थ लड़ना-भिड़ना धंधा करना ही सब कुछ समझते हैं जिन्हें हम चार्वाक कोटिमें मान सकते हैं। इनको लोकायतिक भी कहते हैं। दूसरे वे हैं जो कहते हैं कि संसारमें आकर कुछ कार्य करना चाहिये। लोकसेवा ही परमात्मसेवा है या लौकिक वैदिक कर्म ही परमात्मा सेवा है। वे मंदिरमें जाना और तदर्थ खर्च करना आदि फजूल समझते हैं। अस्पताल, स्कूल, कालेज आदिके निर्माण संवर्धनादिको ही सच्ची ईश्वरपूजा समझते हैं। इनको हम पूर्वमीमांसक कह सकते हैं। क्योंकि पूर्वमीमांसावाले ईश्वरको नहीं कर्म को ही मानते हैं। कर्म पर ही

बल देते हैं। पूर्वमीमांसामें फरक यह है कि वहां वेदोंमें पूर्ण निष्ठा होती है। यज्ञयागादि कर्म यदि वातावरणशुद्धि, वृष्टि आदिके लिये हैं तो परलोकार्थ भी हैं। किन्तु आधुनिक कर्मी तो परलोकपर विश्वास नहीं रखते। तब इस लोकसेवापर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है। अधिकतर नाम की प्रसिद्धिके लिये यह सब करते हैं। तीसरे वे हैं जो लोकसेवा, अन्य कर्मादिपर विशेष ध्यान नहीं देते। उनका कहना है रामनाम भजन करो यही मुक्तिका साधन है। एक भक्त मुझसे बोल रहा था र् आ म् अ इन चार अक्षरोंमें चारों वेदशास्त्र सभी आ जाते हैं। सेवा आदि उसीमें आ जाते हैं। हां, संभवतः धन उसमें नहीं आता। तदर्थ दुकान कारखाना चलाना पड़ता है। परंतु श्रुति कहती है कि ये सब अच्छी बातें हैं। शक्ति संपादनार्थ सभी चाहिये। अच्छा सात्त्विक खाना पीना न हो तो शरीर ही बिमार हो जाएगा। शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। शरीर स्वस्थ हो तो ही सब कुछ संभव है। चार्वाकों का इतना अंश ठीक है। भगवान् भी "कर्षयन्तः शरीरस्थं" कहते हुए कठोर तपस्वियोंका आदर नहीं करते। शरीरको जानबूझकर क्लेशमें डालना यह भगवानको पसंद नहीं है। कर्मकांडियोंका कर्म भी आवश्यक है। क्योंकि जन्मजन्मान्तरीय मालिन्य मैल इस मनपर चढ़ा हुआ है। उसके लिये सेवात्मक कर्म ही एकमात्र उपाय है। कर्म प्रायश्चित्तरूपसे तथा पुण्योत्पादक रूपसे अन्तःकरण-शोधक है। "नित्य नैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्" ऐसा बताया है। दुरित का अर्थ है-प्रारब्धदुरित। जो ज्ञानादिमें प्रतिबन्धक है। सेवासे परदेहस्थ परमात्माकी प्रसन्नता दुरितक्षयमें कारण है। इसी प्रकार उपासनाकी भी आवश्यकता है। उसके बिना चित्तविक्षेपकी निवृत्ति नहीं होगी। विक्षेप-निवृत्तिके बिना ज्ञाननिष्ठा संभव नहीं है। ज्ञाननिष्ठाका अर्थ है—ज्ञानमें निरन्तर स्थिति। अतएव वेदान्ती कर्म एवं उपासनाका परित्याग नहीं करते। आवश्यकता विशेषरूपसे न होनेपर भी आदतसे कर लेते हैं। रोज कपड़ेमें साबून लगानेकी आदत है तो लगा ही लेते हैं। थोड़ा कहीं मैल रह गया तो निकल जायेगा ही। परंतु इन सबमें आकर 'इतिश्री' नहीं करते। परिसमाप्ति नहीं करते। परम लक्ष्य क्या है इस जीवनका इस

बातको श्रुति यहां कह रही है-बोद्धुम्। बोध प्राप्त करना ही मानव-जीवनका परम लक्ष्य है।

उस ज्ञानके बारेमें भी कई मतभेद हैं। कुछ लोग प्रथम यही कह बैठते हैं कि इस जन्ममें तो ज्ञान या ब्रह्मसाक्षात्कार हमारा नहीं हो सकेगा। क्योंकि हम गृहस्थ हैं। सब कुछ देखना पड़ता है। केवल वेदान्तसे जीवन निर्वाह तो होना नहीं है। अतः अगले जन्मकी प्रतिक्षा करना ही होगा। परंतु अगला जन्म भी तो ऐसा ही होगा। वहां भी तो यही गृहस्थी आनेवाली है। ये ही बालबच्चे वहां भी। यही बन्धन वहां भी। तब अगले जन्ममें भी यही कहना होगा कि इस जन्ममें ज्ञान नहीं होगा, आगे अगले जन्ममें होगा। यह तो दुकानोंकि आगे टंगे हुए बोर्ड के समान होगा-आज नकद कल उधार । पहली बार गांवसे आया हुआ आदमी समझेगा कि अपरिचित होनेसे नगद देना पड़ेगा। कल उधार मिलेगा। दूसरे दिन उधार लेने जाता है तो दुकानदार कहता है-क्या लिखा है, पढ़ो, आज नगद, कल उधार । कल आपको उधार मिलेगा। परंतु बात यह है कि वह कल कभी भी नहीं आयेगा। वैसे अगले जन्ममें ज्ञानकी इच्छा रखनेवालेका यह अगला जन्म शायद कभी नहीं आयेगा। इसलिये अगले जन्मकी बात छोड़िये। एक सज्जनने कहा-गीतामें लिखा है-"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्"। तो क्या आपके बहुत जन्म अभी बीते नहीं हैं क्या? आजसे बहुत जन्मके अन्तमें ऐसा क्यों? आज जो बहुत जन्मोंका अन्त हुआ उसमें-ऐसा अर्थ क्यों नहीं? गीताका तात्पर्य यह नहीं है कि तुम जन्मान्तरोंकी प्रतीक्षा करो। वहां तात्पर्य इतना ही है कि ज्ञान अति दुर्लभ है। अनेक जन्म भी लेने पड़ते हैं-अनेकजन्म-संसिद्धः। हमें अपनी ओरसे अगले जन्म तक टालना नहीं है।

दूसरे लोगोंका कहना है कि अगले जन्मकी प्रतीक्षा करनेकी बात नहीं है। किंतु सत्संग आदि बुढ़ापेमें करना चाहिये। बचपनमें या जवानीमें नहीं।

"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥"

इस प्रकार महाकवि कालिदासजी भी कहते हैं। बचपनमें स्कूल कालेज आदि जाकर विद्याभ्यास करो। जवानीमें विषयसेवन करो। वृद्धावस्थामें मुनिवृत्तिको अपनाओ और अन्तमें परमात्मामें जीवात्माका योग कराओ। यौवनमें त्याग और बुढ़ापेमें भोग दोनों ही शल्यरूप है। इन सबके प्रति श्रुतिका कहना है कि बोधके लिये किसीकी भी प्रतीक्षाको स्वीकारना उचित नहीं है। महाकवि कालिदासने यही कहा-शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्। उस विद्यामें अध्यात्मविद्याको छोड़नेकी बात नहीं है। आत्मविद्या भी विद्या है। "अध्यात्मविद्या विद्यानाम्"।

स्वर्गमें कोई कल्पवृक्ष प्रसिद्ध है। जिसके नीचे जानेपर समस्त मनकामनायें पूर्ण होती हैं। किन्तु भूलोकमें भी कल्पवृक्ष है। यहीं पर अपने संकल्पित अर्थोंको पूर्ण कर सकते हैं। सकल पुरुषार्थका यह साधन है। इसमें भी बाल्य, कौमार और यौवन सर्वकार्यसाधक है। प्रह्लादजी कहते हैं-

"कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥"

बाल्यावस्था तो अबोधतामें चली जाती है अतः उसमें कुछ वक्तव्य नहीं है। अर्थात् सर्वसाधारणके लिये कुछ वक्तव्य नहीं है। यदि असाधारणता हो तो मदालसा जातमात्र शिशुको शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि उपदेश दे रही थी और बालक उसे ग्रहण कर रहे थे वैसे संभव है। कौमारावस्था तो उल्लेखनीय है। उसी समय अपना अभ्यास जारी रखना चाहिये। उसी समय भागवतधर्मशिक्षण प्राप्त होना चाहिये। एक घरमें मैं गया तो माता कोशिश कर रही थी लड़के को बुलाने और सत्संगमें बैठाने। किन्तु वह शरमा रहा था। आखिर चुपकेसे भाग ही गया। दूसरे छोटी ऊमरके दो बच्चोंको तो बैठाया। तात्पर्य यह कि छोटी ऊमरमें संस्कार डालना आसान है। बड़ा होनेके बाद उनको भय रहता है कि मित्रवर्ग कहीं देख ले तो कलसे भगतजी कहकर मजाक करेंगे। किन्तु बचपनमें संस्कार पड़ गया तो उनके मनमें ऐसी शंका पैदा ही नहीं होती। भागवत धर्मका अर्थ है-भगवत् सम्बन्धी चर्चा, पूजा, सत्संगबोध आदि सभी। भागवत धर्मकी व्याख्या एकादश स्कन्धमें योगीश्वरोंने बहुत सुन्दर ढंगसे की है। किन्तु

प्रह्लादके सामने किसी बालक ने प्रश्न रखा होगा कि यह खेलने की अवस्था है, भजन सत्संग बुढापेकी चीज है। इस पर प्रह्लादजी कहते हैं कि ऊमरके बारेमें अब मत सोचो। दुर्लभं मानुषं जन्म। यह मानव जन्म एक तो दुर्लभ है। तिसपर यह अध्रुव है। जिस ऊमरकी कल्पना करते हो उसके आनेसे पहले ही चल बसे तो क्या होगा? यह अध्रुव है, स्थायी नहीं है। और ऐसा भी नहीं कि कौमारावस्था फलदायिनी नहीं है। यह तो अर्थदम्-सकल पुरुषार्थदायी है। पूरा मानवजन्म ही ऐसा है। उसमें अवस्थाविशेषका कोई प्रश्न नहीं है। यही "प्राक् शरीरस्य विस्रसः" का भी अभिप्राय है।

बोद्धुं यह विशेष निर्देश है। वैसे तो कर्म तथा उपासना भी मानव शरीरमें ही संभव है। "कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके" मनुष्यजन्म ही कर्मानुबन्धी है। अर्थात् कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। कर्म करनेमें तो सभी स्वतन्त्र हैं। किन्तु वह केवल स्वाभाविक कर्ममात्र होगा। पुण्यपापादि मनुष्यको ही लगते हैं। सिंह यदि हिरणको या बकरेको या ब्राह्मणको ही मार दें तो उसको कोई पाप नहीं लगेगा। क्योंकि उसे विधिनिषेधका ज्ञान नहीं है। अतएव किसी कुत्तेने मनुष्यको बाघसे बचाया तो कोई पुण्य भी नहीं होगा। हां, शेरने मनुष्यको मारा, दूसरे ने उसे गोलीसे उड़ा दिया यह प्रत्यक्ष परिणाम हो सकता है। कुत्तेने चोरको भगाया तो दो रोटी ज्यादा उसको दी यह हो सकता है। उपासना भी पशुपक्षियोंमें संभव नहीं। एकने प्रश्न किया कि गजेन्द्र काकभुशुण्ड आदिने भजन किया वे सफल भी तो हुए। इसपर यही कहना है कि आज कितने हाथी और कौए भगवानको भजते हैं सो बताओ। कर्म तो स्वाभाविक संभव है। किन्तु उपासना स्वरूपतः भी संभव नहीं है। गजेन्द्रादिकी बात अलग है। वे तो पूर्वजन्मके तपस्वी थे।

"एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदि ।
जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम् ॥"

ऐसा भागवतमें बताया है। पूर्वजन्ममें इन्द्रद्युम्न नाम का वह राजा था। अगस्त्यके शापसे गजेन्द्र बना। शापमोक्ष भी दिया गया था। काक भुशुण्डकी भी वही बात है। बल्कि ऐसा बताया है कि कर्मके झंझटसे

बचनेके लिये ही काकशरीर पसंद किया। फिर भी माना जा सकता है कि स्वभावतः ही सही पशु आदि योनिमें अच्छे कर्म हो सकते हैं। स्वभावतः मंदिरकी रक्षा कुत्ता कर सकता है। तोता राम-राम बोल सकता है। किन्तु ज्ञानकी यह खास विशेषता है कि वह मानवशरीरमें ही संभव है। गुरूपसदन, महावाक्यश्रवण आदि अन्यत्र अशक्य है।

कर्म या उपासनासे कृतकृत्यता समझना भी भूल है। कर्मसे किसी की उत्पत्ति, किसी की प्राप्ति, किसी की विकृति एवं किसीकी संस्कृति संभव है। कर्मसे मकान का निर्माण हुआ। मकान बन गया। कर्मसे धन प्राप्त हुआ, यश प्राप्त हुआ। कर्मसे दूधसे दही बनाया विकार हुआ। दहीसे माखन बनाया। कर्मसे हीरा घसकर संस्कृत किया। सत्कर्म कर मनका संस्कार किया। किन्तु ये सब स्थायी नहीं है। मकान बना तो गिरेगा कभी। धन प्राप्त हुआ जा भी सकता है। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति"। उपासनाकी भी वही बात है। वैकुण्ठमें जयविजयकी गलती हुई तो उनको हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु बनना पड़ा। रावण कुम्भकर्ण बनना पड़ा। किसी कल्पमें कैलासवासी श्रृंगी भृंगी को रावण कुम्भकर्ण बनना पड़ा था। अर्थात् "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।" ये सभी पुनरावृत्तिवाले हैं। विनाशी हैं। अतः कर्म एवं उपासना भी श्रेष्ठ साधन नहीं है। इनकी आवश्यकता तो है ही। इन दो से ही भंयकर दो दोष दो प्रतिबन्धकोंकी निवृत्ति है। मल और विक्षेप ये दो प्रतिबन्धक हैं।

"मल विक्षेप जाके नहीं किन्तु एक अज्ञान।
सो अधिकारी जानिये चौ साधनयुत मतिमान ॥"

वेदान्तमें सबके लिये समुचित स्थान है। कर्मी कहेंगे ताली बजानेसे क्या होगा, कर्म करो। भक्त कहेंगे शास्त्ररटनसे क्या होगा, नाम जप करो। किन्तु वेदान्त कहता है अन्तःकरणमें निर्मलता लानेके लिये और लाये हुए की रक्षाके लिये कर्म करते रहो। चित्त स्थिर करनके लिये और भगवत्प्रसादके लिये उपासना करो। हां, सबका अन्तिम तो वेदान्त ही है। ज्ञान ही है। ज्ञान प्राप्त करना चरम लक्ष्य है। इह चेदशकद् बोद्धुम्। इसी मानवशरीरमें उसे प्राप्त किया जा सका तो सत्यता है। यही बात केनोपनिषत्में बतायी-

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।"

यहीं अगर जान लिया तो सच्चाई है, अन्यथा बड़ा विनाशी है।

प्राक् शरीरस्य विस्रसः। इस मानव शरीरमें आकर भी बादके लिये नहीं रखना। विस्रंसन पतनको कहते हैं। शरीर जर्जरित होनेसे पहले काम पूरा हो जाना चाहिये।

"यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतः।
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्।
प्रोद्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥"

जब तक शरीर स्वस्थ है तभी तक जो करना है सो कर लो। शरीर बिगड़ा तो सब रह जायेगा। और वृद्धावस्था ऐसी है कि प्रायः सभी उस समय अस्वस्थ हो ही जाते हैं। बुढापेमें जरा कहीं गिरे कि हड्डी टूट जाती है। बच्चे दिनमें बीसों बार गिरते हैं। उनको कुछ नहीं होता। और मान लो वृद्धावस्थामें कोई रोग नहीं आया तो भी साधना उस समय हो नहीं पाती-यावज्जरा दूरतः। जवानीमें जो कमाया वही बुढ़ापेमें काम आता है। सरकारमें भी पेन्शन तभी मिलता है जिसका दुगुना काम पहले किया है। बचपनकी साधना ही बुढ़ापेमें काम आती है। इसी प्रकार इन्द्रियशक्ति जबतक है तभी तक सब कर लो। श्रवण शक्ति नहीं तो क्या शास्त्र सुनोगे! दर्शनशक्ति नहीं तो क्या वाचन करोगे! संकल्पनादि शक्ति नहीं तो क्या मननध्यानादि करोगे! एक आशा ही उस समय बलवती रहती है।

"अङ्गं गलितं पुलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चति आशापिण्डम्॥"

कई मातायें बूढ़ी हो गयी वे कहती हैं महाराज, बहुत इच्छा है कथा सुननेकी। किन्तु शरीर साथ नहीं देता। बच्चे लोग भी कभी गाड़ी मिली तो लाकर छोड़ देते हैं। जिनको गोदमें पाला वे भी छोड़ देते हैं फिर भी आशा महती होती है। कुछ अंशमें ठीक भी है। बच्चे पराधीन तो पांचसात साल ही रहे। तुम तो साठ वर्षके बाद पंद्रह, बीस, पचीस साल कब तक पराधीन रहना चाहते हो। उधर बच्चे दो, चार, आठ सालमें स्वतः कार्य करनेकी क्षमता रखेंगे यह आशा है। और इधर निराशा ही

निराशा उत्तरोत्तर बढ़ेगी। अतः मूलसे परमुखनिरीक्षणको छोड़ देना ही अच्छा है। सबसे मुख्य बात है-यावत् क्षयो नायुषः। आयु समाप्त होनेसे पहले ही सब हो जाना चाहिये। लोकोंमें कहावत प्रसिद्ध है-'झोपड़ीमें आग लगी तो कुंआ खोदने लगे।' कहावतको भर्तृहरिने जो विक्रमादित्यके बड़े भाई थे दो हजार वर्ष पूर्वमें ही लिख दिया था-'प्रदीप्ते भवने'।

ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते। ततः यह अपादानमें पञ्चमी है। अपादान अर्थात् अपाय-विश्लेष। बोधसे विश्लेष है अबोध रहना। उसका परिणाम है सर्गेषु। बहुतसे लोग समझते हैं कि मरनेके बाद फिर हम इसी घरमें बेटा-पोता होकर पैदा होंगे। फिर इन्हीं बालबच्चोंके साथ रहेंगे। दूसरे नास्तिकादि समझते हैं कि आगे कुछ है ही नहीं। परंतु ये दोनों ही बात बराबर नहीं है। शरीरत्वाय कल्पते। शरीर जरूर मिलेगा। सो भी सर्गेषु लोकेषु। नाना सृष्टिरूपी योनियोंमें। जो समझते हैं-अगले जन्ममें ज्ञान प्राप्त करेंगे। किन्तु अगला जन्म मानवजन्म ही होगा। इसमें क्या गेरंटी। कहीं पशुपक्षी बन गये तो। भरत महान् तपस्वी थे। गण्डकी नदीके किनारे घोर तपमें लगे थे। किन्तु हरिणमोहके कारण हरिण बन गये। भरत जैसे तपस्वी अपने नहीं हैं तो क्या ठिकाना कि आगे मनुष्यशरीर ही मिलेगा।

यथाऽऽदर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके
छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

इस मनुष्यलोकमें तो जैसे दर्पण में वैसे बुद्धिमें आत्माका दर्शन होता है। पितृलोकमें स्वप्नमें जैसा दीखता है। गन्धर्वलोकमें जलमें जैसा दीखता है। ब्रह्मलोकमें तो छाया और धूपके समान दीखता है ॥ ५ ॥

'इह चेदशकद् बोद्धुं' इत्यादि पूर्वमन्त्रमें बताया। इस मानवशरीरमें ही आत्माको जाननेका प्रयत्न करो। सो भी शरीर शिथिल होनेसे पूर्व ही। ऐसा क्यों? अनन्त असंख्य जन्म हम ले चुके हैं। इतना जल्दी क्या है? बात यह है कि यह नरजन्म बड़ा दुर्लभ है। इसके एक एक क्षणका मूल्य है। मूल्य क्या-एक एक क्षण अमूल्य है। जो बीत गया। वह वापिस मिलनेवाला नहीं है। बचपनकी याद आती है कि हम कैसे स्वतन्त्र घूमते

खेलते थे। परंतु वह स्मृतिमात्रावशेष हो गया। वापिस जानेवाला नहीं है। जो कल बीत गया वह फिर कभी नहीं आयेगा। अपारधन खर्च करो किन्तु बीता हुआ वापिस नहीं आता। इसमें एक एक क्षण साधनाके लिये है। जितना प्रमाद हुआ उतनी भयंकर हानि हुई।

'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्'

यह मानवशरीर अति दुर्लभ है। किन्तु हमारे लिये नहीं। हमें तो मिल चुका है। सुलभ है। हां, यह हाथमें से निकल गया तो फिर सुदुर्लभ होगा। तत्त्वबोध बहुप्रयत्नसाध्य है। अतः एक एक क्षण सार्थक करो और बुढ़ापा आनेसे पूर्व ही बोध प्राप्त करो। एक भक्त माता बोल रही थी मैं भी यदि संन्यासी होती तो क्या अच्छा था? किन्तु मातापिताने जल्दी शादी करा दी। बचपनमें तत्त्वज्ञान मिल जाता तो मैं त्याग अवश्य करती। अब तो समय बीत गया। अब अगले जन्ममें जनमते ही शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि उपदेश करनेवाली मदालसा जैसी माता प्राप्त हो तो पूरे जीवनमें साधना कर भगवत्दर्शन करें। मैंने कहा यह तो ठीक है, तुम्हारे चार बच्चे हैं इनमें से कितनेको तुमने शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि उपदेश देकर विरक्त बनाया? शादी ठीक है। मातापिताने कराया। अपने बच्चेको तत्त्वज्ञान देनेसे किसने रोका? और उनको विरक्त कर जंगल भेजनेमें क्या तकलीफ थी? बात यह कि अपने नंन्हेंसे बच्चेके वैराग्यकी कल्पना नहीं हो सकी, और न हो सकती है। तब तुम दूसरे जन्ममें मदालसा जैसी माताकी कल्पना करो यह संभव किस प्रकार? तुम्हारे बच्चे बड़े भी हो गये किन्तु किसीमें वैराग्य नहीं है। कहने लगी जमाना बदल गया। बच्चेलोग मातापिताका कहना कहां मानते हैं? मैंने कहा-जमाना बच्चोंको नहीं पकड़ते, बच्चे कुछ बड़े होनेपर जमानेको पकड़ते हैं। सायन्सवालोंने यह पता लगाया है कि जब बालक पैदा होता है उस समय उसमें अद्वैत भाव ही रहता है। उस अद्वैतमें नानारूप, नानाकार चित्रोंके समान देखते हैं। मातापिता आदि उनमें भेदबुद्धि पैदा करते हैं तब बच्चे जमानेको पकड़ने लगते हैं। इसलिये अगले जन्म में मदालसा जैसी मांकी खोज करना या आशा रखना वृथा है। कहीं गो गर्दभी मां न मिले इतना सतर्क रहो तो भी अच्छा रहेगा। भरत जैसे महातपस्वियोंको हरिण जन्म मिल सकता है तो

साधारणोंकी बात ही क्या? अतः भगवत्साक्षात्कारार्थ अगले जन्मकी प्रतीक्षा करना ही बेकार है। यदि अनिवार्य हुआ तो अगला जन्म कैसे सुधरे इस पर विचार करना चाहिये। भरत के समान गलती न कर बैठे एतदर्थ सावधान रहना ही चाहिये।

इस पर विचार हुआ कि भरत दृष्टान्तसे यहीं बात सामने आती है कि 'अन्ते या मतिः सा गतिः'। तो अन्तमें स्मृति ठीक बना लेंगे। "प्राक शरीरस्य विस्रसः" इसपर जोर क्यों देना? गीतामें भगवान् भी कहते हैं-

"स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि। ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति"।

अन्तकाल मरणसमयमें भी यह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो तो वह ब्रह्म-निर्वाणको प्राप्त होगा। भागवतमें खट्वाङ्गकी कथा आती है।

"खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।
मुहूर्तात् सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥"

देवताओंके आवाहनपर वे असुरोंसे युद्ध कर रहे थे। दीर्घकाल तक युद्ध चलता रहा। असुर प्रायः परास्त हो चुके थे। उस समय उनको मालूम पड़ा कि मेरा सिर्फ एक मुहूर्त ही जीवन बचा है। तुरंत वे पृथिवीपर आये और सर्वसङ्गपरित्याग कर निर्विकल्पतक समाधिमें पहुंचे और भगवानको प्राप्त हो गये। तब अन्तिम समयका ही महत्त्व रहा। भरत का अन्तिम क्षण बिगड़ा खट्वाङ्गका अन्तिम क्षण सुधरा। तब "प्राक् शरीरस्य विस्रसः" ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि भगवान् इस बातको रख कर ही बोल रहे हैं-

"अन्तकाले तु मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥"

इसमें शक नहीं कि अन्तकालमें मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ने पर मुझे प्राप्त होता है। इसके तुरंत बाद कहते हैं.

"तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।"

हर हमेशा ही मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो। जब अन्तकालमें स्मरण करनेसे ही काम बन ज़ाता है तो हमेशा भगवत् स्मरण करनेकी क्या जरूरत? यदि भूल जाये अन्तमें तो? हमेशा याद रखने पर भी अन्तमें भूल गये तो? बुहतसे लोग बार-बार याद करते आज मंदिर जाते समय यह फल ले जाएंगे। किन्तु जाते समय भूल गये। इस पर सन्तोंका

विचार यह है कि घोर कष्टके आने पर भूलना स्वाभाविक है और अभ्यास हो तो याद आनेमें सरलता होगी। दूसरी बात भगवत्स्मरण बार बार करनेमें तज्जन्य पुण्य भी अन्तमें काम करेगा। उसके अभावमें जिसका अभ्यास जीवनमें अधिकतर रहा उसीका स्मरण होनेकी बहुतर संभावना रहती है। अतः अभ्यासार्थ तथा पुण्यार्थ अभीसे लगना चाहिये।

"कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥"

कृष्णाशब्दका मुरलीधारी कृष्ण अर्थ तो है ही। "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।" के अनुसार सत् आनन्द ब्रह्म भी अर्थ है। साकार कृष्णका चरण तो प्रसिद्ध है। निराकार कृष्णका चरण क्या है? "पादोऽस्या विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" यह त्रिपाद ही चरण है। त्रिपाद अलग कहीं नहीं। किन्तु माया-संस्पर्शरहित शुद्ध दिव्यस्वरूप ही त्रिपात् है। वही मायाविशिष्ट होनेपर अनिर्वचनीय भेदसे सर्वभूताश्रय होता है। वही पिंजरा है। उसमें मेरा मानस बंद हो जाये। वहांसे बाहर न निकल पाये। जैसे तोता पिंजरे से बाहर नहीं जा पाता। यह मानस तो तोता नहीं है। राजहंस है। वह स्वयं नीरक्षीरविवेकी होनेसे बाहर जाना पसंद नहीं करता। फिर भी प्रारब्ध-वशात् बाहर निकल सकता है। उसके लिये प्रार्थना है। यह पिंजराप्रवेश अन्तकालमें नहीं। किन्तु अद्यैव। क्यों ? प्राणप्रयाणसमयका विश्वास नहीं हो सकता। उस समय वात पित्त कफ ये तीनों उग्र हो जाते हैं। वातसे समस्त संधियोंमें दर्द होता है। पित्तसे जलन सिरदर्द आदि होता है। कफसे कण्ठावरोध होता है। इस समय कण्ठमें कफ आ जाये तो हम उसे खांसकर निकाल देते हैं। किन्तु मरणकालमें खांसनेकी शक्ति नहीं रहती तो कफ गलेमें अटक जाता है तो श्वास बन्द होनेसे लगता है। उस भयानक स्थितिमें क्या भगवानका स्मरण हो। अतः अन्त समयके भरोसे मत रहो। अभीसे अभ्यास करो, भगवत्स्मरणपुण्य कमाओ और आत्म-दर्शन अभी ही पाओ। समयकी प्रतीक्षा मत करो।

इतनी भूमिका होनेके बादमें प्रश्न उठा कि हमने जीवनमें अनेक सत्कर्म किये हैं। नहीं किये तो कर लेते हैं। उसके फलस्वरूप पितृलोक, गन्धर्वलोक, देवलोकादि प्राप्त होंगे। वहां हम आत्मदर्शन कर लेंगे। वहां प्रारब्धका झमेला नहीं रहेगा। वहां भी ब्रह्मदर्शन होता है यह बात व्यास-जी भी मानते हैं-

'तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्'

मनुष्यलोकसे ऊपर पितृलोकादिमें भी ब्रह्मदर्शन संभव है। इस पर श्रुतिका कहना है कि वहांके करोड़ों वर्षोंके बदले यहीं पर थोड़ा प्रयत्न क्यों नहीं कर लेते। फिर पितृलोकादिमें स्पष्ट दर्शन भी नहीं हो पाता। एतदर्थ तारतम्य प्रदर्शन है।

यथादर्शे तथात्मनि। पूर्वमन्त्रमसे 'इह' की अनुवृत्ति है। इस मनुष्य-शरीरमें आत्मदर्शन उस प्रकार स्पष्ट होगा जैसे स्वच्छ दर्पणमें अपना मुख आदि देखते हैं। कहां दर्शन करते हैं? आत्मनि। अर्थात् बुद्धिमें। आत्मासदृश निर्मल एवं सूक्ष्म बुद्धिमें। अथवा आत्मविषयक होनेसे बुद्धिको यहां आत्मा शब्दसे कहा। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुतिके अनुसार श्रवण मनन एवं निदिध्यासन करनेसे जो तत्त्वसाक्षात्कार (दर्शन) रूपी बुद्धि होती है वही यहां आत्मशब्दका अर्थ है। वह बुद्धि अज्ञानको नष्ट करती है। अज्ञान कहां रहता है? अज्ञान आत्मामें या अन्तःकरणमें? कुछ लोग अन्तःकरणमें मानते हैं। परंतु वह सही नहीं। क्योंकि अन्तःकरण तो अज्ञानका कार्य है। जब अन्तःकरण उत्पन्न नहीं हुआ था तब अज्ञान कहां था? कहना पड़ेगा आत्मामें। किन्तु, किस आत्मामें? जीवात्मामें या परमात्मामें? परमात्मामें अज्ञान रहेगा तो परमात्मा अज्ञानी मानना पड़ेगा। जो संभव नहीं। जीवात्मामें कहो तो जीवात्मा अज्ञानका कार्य है। "आभासेन जीवेशौ करोति माया चाविद्या च।" इस प्रकार श्रुतियोंमें कहा है। तब जीव होनेपर उसमें अज्ञान रहेगा। किन्तु जीव बनेगा ही अज्ञानसे तो यह अन्योन्याश्रय दोष माना जायेगा। जो ठीक नहीं। इसका उत्तर है कि सड़कोंपर धूल पड़ी थी। बारिश हुई तो कीचड़ हो गया। तो धूल पर पानी है या कीचड़ पर? धूल पर पानी है ऐसा देखनेमें नहीं आता। कीचड़ में पानी है कहो तो

पानीसे कीचड़ बना। उत्तर है यह सब अधिक निर्वचनयोग्य नहीं है। जीवमें अज्ञान है। भले अज्ञानसे जीव बना। फिर भी स्वरूप पहले था। जैसे धूल स्वरूपसे पहले थी। पानीसे कीचड़ होनेपर कीचड़में रहेगी। जीवपर अज्ञान है और अखण्डाकार वृत्तिरूप ज्ञान अन्तःकरणमें, तो अंधेरा रूममें और प्रकाश सड़कपर बाली बात हो गयी। उत्तर है-अज्ञानके ही तीन गुण है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। तमोगुणसे वस्तुका आवरण होता है और सत्त्वपरिणामवृत्तिज्ञानसे अज्ञान दूर होता है। अतः आवरण तथा ज्ञान दोनों जीवमें ही है। चांदी का बर्तन जमीनपर रखा तो जमीनपर बर्तन भी है, चांदी भी है। वैसे अज्ञान जीवमें है तो अज्ञानकार्य अन्तःकरण और उसकी वृत्ति भी जीवात्मामें ही रहेगी। अतः सामानाधिकरण्य ही है।

दर्पण यदि अत्यन्त स्वच्छ हो तो उसमें चेहरा स्पष्ट स्पष्ट दीखेगा। बल्कि कभी कभी दर्पणमें मौलिकसे भी अधिक सुन्दरता आ जाती है। सामान्यरूपवाला भी दर्पणमें अपना सुन्दर मुख देखकर दर्प करता है। इसलिये उसका नाम दर्पण पड़ा। दर्पयतीति दर्पणः। आदर्शका भी अर्थ है-आ समन्तात् दर्शयति। पीठका भाग नहीं दिखाई पड़ता तो दो दर्पण रख लो तो पीठ भी साफ दिखाई देगी। इस प्रकार सब कुछ स्पष्ट दिखाई देनेपर भी एक कसर दर्पणमें होता है। एक दोष रह जाता है। वह क्या? दपर्णमें बांया अंग दाहिना दीखता है, दाहिना बांया दीखता है। भोजन करते समय सामने दर्पण हो तो ऐसा लगेगा कि बायें हाथसे खा रहा हैं। लिखते हुए को देखेंगे तो दीखेगा बांये हाथसे लिख रहा है। इसी प्रकार इस मनुष्य लोकमें तत्त्वज्ञान तो ठीक ठीक होगा किन्तु थोड़ा अन्तर रहेगा। क्या रहेगा? लेशाविद्या रहेगी। लेशाविद्याके कारण दुनिया भी दिखाई देगी। कितनी भारी ब्रह्मज्ञानी क्यों न हो किन्तु लेशाविद्या रहेगी ही। दर्पण में यद्यपि उलटा दीखता है, किन्तु लोग उसे सुलटा कर समझ लेते हैं। वैसे जगत् तो ब्रह्मका उलटा रूप है। लेशाविद्यासे यह जगत् दिखाई पड़ेगा किन्तु ज्ञानी उसे सुलटा करके समझ लेता है। समझना अलग है, दिखाई देना अलग है।

प्रश्न यह है कि ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ तो यह विपरीत जगत् क्यों दीखना चाहिये? ऐसा ही क्यों न माना जाये कि जगत् दीख रहा है अतः ब्रह्मसाक्षात्कार ही नहीं हुआ। बात यह है कि तब तो जगतके न दीखनेसे ब्रह्मज्ञानी किसीको उपदेश ही नहीं करेगा। उपदेश करता है इसका मतलब है कि द्वैत दीखनेसे वह ब्रह्मज्ञानी ही नहीं है। अतएव वेदान्तमें यह स्वीकार किया है कि जब तक यह मानवशरीर रहेगा तब तक लेशाविद्या रहेगी और तब तक द्वैत भी दीखता रहेगा। परंतु उलटा दीखनेपर भी जैसे प्रतिबिम्बको हम सुलटा करके समझते हैं, बांयी आंखमें काजल लगाना है तो प्रतिबिम्बमें दायीं दीखनेपर भी बाईं समझकर काजल लगाते हैं, वैसे जगत् के दीखनेपर भी अद्वैत समझकर उपदेश करता है।

यदि आत्मा वस्तुतः अद्वैत है तो गुरु-शिष्य दोनों एक ही हैं तो गुरु के ज्ञानसे ही शिष्यको ज्ञान क्यों नहीं होता? और यदि यह जीवभाव मिथ्या है तो ठूंठ है, आदमी नहीं है ऐसा समझनेपर जैसे ठूंठको उपदेश नहीं दिया जाता, वैसे शिष्यको क्यों उपदेश करेंगे इत्यादि प्रश्न द्वैतवादी उठाते हैं। परंतु बात यह है कि अद्वैतमें भी व्यावहारिक भेद रहता है। दुःख भी व्यावहारिक है। उसे भी हटाना है। अविद्या भी सबकी अलग है। इस व्यावहारिक द्वैतको रखकर सभी व्यवहार है। परमार्थमें इन सबका बाध होता है। किन्तु वह छठी और सातवीं भूमिकाओंमें ही परमार्थता आती है। छठी भूमिकामें जागनेपर द्वैत देखेगा। सातवींमें जागरण होता ही नहीं। वह नित्य परमात्मामें लीन रहता है। समाधिस्थितिमें द्वैतदर्शन नहीं होता। तो वह उपदेश भी कहां करता है।

यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। "इह चेदशकद् बोद्धुम्" का ही विवरण चल रहा है। मानव शरीरमें ही यदि जाना तो दर्पणमें मुखादिके समान स्पष्ट बोध होगा। भले उसमें थोड़ा वैपरीत्य हो। मानवशरीर यदि हाथसे निकला तो चौरासीके चक्करमें पड़कर "ततो यान्त्यधमां गतिं" वाली बात होगी। उसपर प्रश्न हुआ कि पशुपक्षी आदिमें ज्ञान भले न हो, किन्तु पितृलोक गन्धर्वलोकादिमें ऊर्ध्वगति यदि हुई तो वहां पूर्णज्ञान हो सकता है और यह केवल कल्पनामात्र नहीं है। व्यासजीने उसे स्वीकार लिया है।

"तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्"

यह विचार हुआ कि ब्रह्मविद्यामें कौन अधिकारी है। क्या पशुपक्षी आदि भी अधिकारी है कि नहीं? क्योंकि उनमें विशेष बुद्धि नहीं है। जो शूद्र है वह भी अधिकारी नहीं है। "शुगस्य तदनादराात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि"। हंसोंने अनादर किया तो जानश्रुति के मनमें भारी शोक हुआ। शुचमा-द्रवतीति शूद्रः। शुचा आद्रूयते वा वा। मन्यु शोकौ तो शुक् स्त्रियांके अनुसार क्रोधादि सभी शुक् हैं। उससे आहत होनेसे जानश्रुतिको शूद्र बताया "अहहारे वा शूद्र।" जातिशूद्रके बारेमें जो भी वहां सिद्धान्त किया हो किन्तु शोकक्रोधाकुल शूद्रको ब्रह्मविद्या पानेका अधिकार नहीं है। यह उस समय विद्या न देनेसे सिद्ध होता ही है। जानश्रुतिके मनमें उदार भावना जब आयी तभी रैक्वने उनको ब्रह्मविद्योपदेश किया। अर्थात् शूद्रभावके हटनेपर भी मनुष्य अधिकारी होता है। इसके साथमें प्रथम यह भी विचार किया कि देवताओंको ब्रह्मविद्यामें अधिकार है कि नहीं। वेद-व्यासजीने यही बताया कि देवताओंको ब्रह्मविद्यामें अधिकार है।

इस पर एक जबर्दस्त पूर्वपक्ष हुआ कि तब हम देव बननेका ही प्रथम प्रयत्न क्यों न करें? मनुष्यशरीरमें हजारों झंझट हैं। यहां परतन्त्रता है। तो इस जन्ममें ज्ञानकी आशा कम होने से देवशरीरकी प्रतीक्षा क्यों न करें? प्रश्न उसपर यह उठता है कि मानव मरते ही तुरंत देव बन जाये ऐसी कोई ग्यारंटी नहीं है। वह चौरासी लाखमें भटक भटक कर भी तो आ सकता है। इतना भटकनेपर आज सत्संगमें जो सुना उसका संस्कार कहां रहनेवाला है? तब देवयोनिमें भोगपरायण हो कर जाएंगे। इसका उत्तर है कि ऐसी बात नहीं है। आज ज्योतिष्टोम यज्ञ करे और चौरासी लाख भटककर आनेके बाद स्वर्ग मिले ऐसी बात नहीं होती। 'मरणोत्तरं स्वर्गं मे भूयात्' यही कामना रहती है। उसी कामनाको लेकर "स्वर्ग-कामोयजेत्" इत्यादि वाक्य हैं। अतः यज्ञ, दान, तप आदि स्वर्गकामनासे करते हैं तो अवश्यमेव मरणोत्तर ही स्वर्ग प्राप्त होगा। अपरिहार्य विलम्बसे अधिक विलम्बकी कल्पना वाक्यार्थ निरूपणमें नहीं हो ककती। अतः अग्निहोत्र, ज्योतिष्टामादिकारी अवश्यमेव स्वर्ग पहुंचेगा और वहां सत्संग संस्कारसे बोध प्राप्त क्यों नहीं हो सकता? इस पर भी पूर्वपक्ष हो

सकता है। यदि मरणंव्यवहितोत्तरं स्वर्गप्राप्ति हो तो भरतको हरिणजन्म क्यों मिला? स्वर्ग मिलना चाहिये था। उत्तर यही कि भरतके मनमें स्वर्गकामना थी ही नहीं। वासनाप्राबल्यसे एक हरिण जन्म मिला। फिर पूर्ववत् स्वस्थ हुए।

परंतु इतनेसे समाधान पूरा नहीं होता। राजा नृगने अनन्त पुण्य किया था। तो मरणोत्तर तुरंत उन्हें स्वर्ग क्यों नहीं मिला? जीवनमें एक गलती उनकी हुई। वह थी-दूसरे ब्राह्मणकी गाय लेकर दूसरे ब्राह्मणको दिया। उसके लिये उनका पतन हुआ। इसका समाधान यह है कि यह नियमापवाद नहीं है। नृगसे राजाने स्वयं पूछा था कि तुम्हें, प्रथम पापफल चाहिये कि पुण्यफल? इस पर नृगने सोचा कि अनन्त सुख भोगनेके बाद फिर दुःख भोगना पड़ा तो सारा भोग चौपट हो जाएगा। पचास वर्ष सुख भोग किया। उसके बाद एक दिन कांटेपर खड़ा होना पड़ा, पेटमें घोर पीड़ा हुई तो पचास वर्षका सुख उसे दबायेगा? उस क्षणमें पचास वर्ष का सुख शून्योपम हो जाएगा। हां, दुःखके बाद सुख आता है तो वह निखरने लगता है। जैसे धूपमें दौड़ने के बाद शीतल छाया मिलती है तो महान् आनन्द होता है। गरीब को लाटरी लग गयी तो देखो उसका आनन्द कितना होता है। करोड़पति को लाखकी लाटरी लगी तो कौनसी भारी खुशी होनेवाली है। सुखके बाद दुःख मिलता है तो दुःख भी प्रखर हो जाएगा। अतः नृगने सोचसमझकर उचित वरण किया। हमसे भी यमराज पूछेंगे, तुमको प्रथम स्वर्ग चाहिये या नरक? तो तुरंत बोलना-स्वर्ग। क्यों? बाद में नरकमें भोगनेमें भारी कष्ट होगा। नहीं होगा। हम स्वर्गलोकमें "तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्" के अनुसार ज्ञान प्राप्त कर लेंगे। सत्संगी हम हैं ही। और "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरते" यह बताया ही है। क्या अपनी इच्छा के अनुसार स्वर्गनरक आगे पीछे हो सकते हैं? या नृगकी एक घटनामात्र है? एक घटनामात्र नहीं। पांऽव- कौरवोंकी भी तो यही बात हुई थी। कौरवोंका पुण्य थोड़ा था क्योंकि वे युद्धमें मरे थे। पाप पर्वतोपम था। जीवनभरमें झूठ कपट किया। पाण्डवोंमें पाप अल्प था। पुण्य पर्वतोपम था। पाण्डवोंने कुछ वीरोंको युद्ध में धोखेसे मारा। वहां भी यमराजने यही प्रश्न किया था। कौरवोंने सोचा हमारा पाप तो अपार है।

सुख भोगनेका समय आये न आये इसलिये पहले स्वर्ग मांगा। पाण्डवोंने सोचा थोड़ा पाप है। उसको पहले ही भोगना ठीक है। तदनुसार कौरव स्वर्गमें गये। पाण्डव नरकमें। युधिष्ठिर सशरीर स्वर्ग गये थे। किन्तु इस दृश्यको देखकर बोले ऐसा स्वर्ग मुझे नहीं चाहिये जहां पक्षपात हो रहा हो। आखिर यमराजने वस्तुस्थिति समझायी तो वे शान्त हो गये यह अलग बात है। कहनेका तात्पर्य है स्वेच्छानुसार फल आगे पीछे भी हो सकता है। स्वभावत: तो यज्ञादि कर्मोंका फल मरणोत्तर तुरंत होगा यदि कोई भारी प्रतिबन्धक उपस्थित न हुआ हो। अपना पूर्वपक्ष तो यही है कि जीवनमें ऐसा कोई भयंकर कर्म करना नहीं जैसे ब्रह्महत्या आदि है और स्वर्गकारण यज्ञ, दान, तप आदि कर लेंगे। ऐसे कठोर ज्ञानमार्गका आश्रयण इसी मानव शरीरमें क्यों करना? तत्त्वज्ञानको अत्यधिक कठिन बताया है। "दृष्टे सापार्था चेत्", "दृष्टवदानुश्रविक:" इत्यादि सांख्यवचनोंमें यह स्पष्ट किया है, कुछ धन खर्चकर यज्ञादि करना आसान है। तत्त्वज्ञानका मार्ग अतिकठिन है। इसमें विवेक वैराग्यादि चाहिये। "ज्ञानका पन्थ कृपानकी धार" "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति" इत्यादि वचन भी उसका समर्थक है। यह कहें कि फिर वेदान्ताध्ययन करनेवाला कोई रहेगा नहीं तब उत्तरकाण्ड व्यर्थ ही हो जायेगा। इसका समाधान यह है कि वेदान्ताध्ययन कर पूर्व भूमिका यहीं तैयार कर लो किन्तु साक्षात्कार तो पितृलोकादिके लिये रखा जाये।

इस जबर्दस्त पूर्वपक्षपर श्रुति कह रही है-यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। प्राप्त मनुष्यलोकको छोड़कर स्वर्गादिलोक क्यों सोचने लगे? चिन्तामणि को फेंककर कांचको ले रखनेका यह विचार तो उचित नहीं है। स्वर्गलोक भी आसान नहीं है। और कुछ सरल कदाचित् मान भी लिया जाय तो भी वहां स्पष्ट दर्शन नहीं होगा। स्वर्गलोक एक सामान्य नाम है। वहां अनेक लोक हैं। पितृलोक, गन्धर्वलोक, देवलोक, इन्द्रलोक इत्यादि सभी स्वर्गलोकके अन्तर्गत हैं।

आजकल के लोग प्रश्न करते हैं कि ये सब लोक हैं कहां पर? विमानोंमें, राकेटोंमें लोग दूर-दूर तक जा चुके हैं। दूरबीन, खुर्दबीन आदि लगाकर देख चुके हैं। किन्तु कहीं भी इन लोकोंका पता नहीं लगा है। इस

पर हमारा कहना है कि दुरबीन, खुर्दबीन आदिसे ये लोक दीखनेवाले भी नहीं हैं। ये सभी सूक्ष्मलोक हैं। इन पर रहनेवालोंके शरीरादि अति सूक्ष्म हैं। ये स्वेच्छासे अपने शरीर को स्थूलाकार बना सकते हैं और स्वेच्छासे सूक्ष्म बनाकर अदृश्य भी कर सकते हैं। इन्द्रादिदेवतारूप धारण कर असुरोंसे युद्ध किया। वृत्रासुर वध किया। तपश्चर्या करनेपर इन्द्र कुबेरादि सभी उपासनानुसार रूप धारण कर आ जाते हैं। यहां तक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर भी साकार रूपधारण करते हैं।

पितृलोकादिके बारेमें तैत्तिरीय बृहदारण्यकादिमें वर्णन किया है– "युवास्यात्साधु युवा आशिष्ठो.....मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणां-देवगन्धर्वाणा पितृणां चिरलोकलोकानाम्" इत्यादि शत- गुणोत्तर आनन्दका वहां निरूपण है। कौन पितृलोकमें जाता है, कौन देवलोकमें आता है इसका भी निरूपण है-"कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः"। जो केवल कर्म करते हैं वे पितृलोकमें जाते हैं और उपासना करनेवाले देवलोक जाते हैं। यज्ञदानादि जीवन भरमें करते हैं और बोलते हैं यही मेरा तप है। गरीबोंकी सेवा, परमात्माकी सेवा यही हमारी पूजा है इत्यादि कहते हुए सत्कर्ममें लगे रहते हैं वे कर्मी हैं। ये लोग पितृलोक जाते हैं और जो उपासना निरन्तर करते हैं वे देवलोकमें जाते हैं। इनमें कर्मको अविद्या बताया है और उपासनाको विद्या।

"अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥"

विद्या माने उपासनासे कुछ अन्य फल होता है और अविद्या माने कर्मसे कुछ और फल होता है। कर्म को अविद्या क्यों बताया? इसलिये कि कर्म के लिये अनिवार्य है कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व। दोनों न रहे तो वह कर्म फिर कर्म ही नहीं होगा। जैसे भगवान् कृष्णका कर्म है। "तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारम्" मैं कर्ता होनेपर भी अकर्ता हूं। अर्थात् कर्म होनेपर भी वह अकर्म है और कर्तृत्वके साथ ही अकर्तृत्व होनेसे कर्तृत्व अपारमार्थिक है। तात्पर्य यह कि कर्म असलमें तभी होगा यदि कर्तृत्व और भोक्तृत्व हो। आत्मा स्वयं अकर्ता और अभोक्ता है। अविद्याके कारण कर्ता भोक्ता प्रतीत होनेवाला। और कर्तृत्व भोक्तृत्वपूर्वक ही कर्म है अतः

कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा तत्पूर्वक सभी अविद्या ही है। अतः श्रुतिने कर्म को अविद्या शब्दसे कहा और उपासनाको विद्या बताया। वह इसलिये कि उपासना तभी यथार्थतः होती है जब उपास्यमें ब्रह्मदृष्टि हो। गीतामें कहा है)—

"देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि"

जो देवोपासक हैं वे देवताओंको प्राप्त होते हैं और जो मेरे भक्त हैं वे मुझे प्राप्त होते हैं। यह कहनेकी क्या जरूरत थी। देवतोपासक देवताको प्राप्त होगा। कृष्णोपासक कृष्णको प्राप्त होगा यह तो सीधी बात है। रामोपासक रामको प्राप्त होगा। शिवोपासक शिवको प्राप्त होग। यह कौनसी नयी बात है? नयी बात यह है कि देवोपासकका मतलब है जो ईश्वर नहीं साधारण देवोपासक है वे तदनुरूप उन्हीं छोटे-मोटे देवोंको प्राप्त होंगे। और उसका फल—

"अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्"

फल अन्तवाला होगा। वे अल्पबुद्धिवाले हैं। क्यों वे छोटे-मोटे देवोंको भजते हैं?

"कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।"

नानाविध कामनाओंके कारण उनका ज्ञान धूमिल हो जाता है। अस्तु। किन्तु ये मद्भक्त कौन? अन्य देवता कौन? यदि कहते हैं कृष्णभक्त मद्भक्त हैं, राम शिवादि भक्त अन्यदेवोपासक हैं तो इसके ठीक विपरीत रामभक्त और शिवभक्त बोलेंगे—ये कृष्णभक्त अन्यदेवतोपासक हैं। क्या विनिगमना? सभी पुराण व्यासविरचित हैं। सर्वत्र मुख्य देवकों परमात्मा और अन्योंको देवता बताया है। विष्णुपुराणमें विष्णु सर्वोत्तम भगवान् हैं। ब्रह्मा शिव आदि उनके पूजक हैं ऐसा बताया। और शिवपुराणमें शिवको सर्वोत्तम भगवान् बताया और अन्य कृष्ण रामादिको उनके सेवक साधारण देवता बताया। असल बात यह है-राम, कृष्ण, शिव, देवी आदि सबके दो स्वरूप हैं। एक आकारविशिष्ट चैतन्यरूप और दूसरा आकारोपलक्षित चैतन्यरूप है। आकारविशिष्ट चैतन्य देव है। आकारोप-लक्षित चैतन्य परमात्मा है। इसलिये उपासकको चाहिये प्रथम आसनपर बैठकर निराकर व्यापक शुद्धचैतन्यचिन्तन करे। फिर उसमें आकारको

लावें। जैसे टी. वी. आदिमें प्रथम सामान्य प्रकाश आता है। उसमें म-हा-भा-र-त ये अक्षर प्रगट होते हैं। आकारोपलक्षित स्वरूपको लेकर तत्तत्पुराणोंमें तत्तत् राम, कृष्ण, शिवादिको पर ब्रह्म सर्वोत्तम बतलाया और आकारविशिष्ट रखकर तदितर पुराणोंमें उन्हींको सेवक बताया। यदि आकारोपलक्षित स्वरूपका स्मरण किये बिना केवल विशिष्ट चिन्तन करेंगे तो वह अन्यदेवतोपासना होगी तब वे अन्तवान् फल पायेंगे। अस्तु। उपासना यदि पूर्वोक्त विवेकपूर्वक हो तो यथार्थ बोधपूर्वक होनेसे वह विद्या कहलायी। इनमें केवल कर्म एवं केवल उपासनाको निकृष्ट कहकर समुच्चयका विधान श्रुतिने किया है जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। यहां हम केवल कर्मोपासक पितृलोकगामी की चर्चा आगे बढ़ाते हैं।

केवल कर्मसंपादित लोकको क्यों कहा गया? इसका नाम यद्यपि सोमलोक, चन्द्रलोकादि भी है। किन्तु पितृलोक पढ़नेका कोई विशेष कारण है या नहीं? उत्तर सकारात्मक है। कारण है। क्या कारण? कारण यह कि-

"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति ।"

इस श्रुतिके अनुसार वे क्रमशः नीचे गिरकर मातापितासे जन्म लेते हैं। सोमलोकसे गिरकर अभ्र बनेगा अभ्रसे मेघ बनेगा। फिर वृष्टिद्वारा नीचे आकर वनस्पतियोंमें पहुंचगा। भोजनद्वारा पितृ शरीरमें जायेगा। वहांसे स्त्री उदर में पहुंचकर जन्म लेगा। यह नियत है अतः यह पितृलोक है। पितृलोकके अधिपति अर्यमा है। "पितॄणामर्यमा चास्मि" ऐसी प्रसिद्धि है। नित्य, नैमित्तिक काम्य कर्मों का फल वहीं प्राप्त होता है। उसको "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" में भी बताया। अतएव यह पितृलोक भोगप्रधान है।

उस पितृलोकमें जाकर ब्रह्मसाक्षात्कारकी अभिलाषा करना यह कुछ अटपटीसी बात है। एक तो वहां वेदशास्त्रादि उपलब्ध नहीं है। आप क्लबमें जायें, सिनेमाघर जायें, डान्समें जायें तो क्या वहां उपनिषदें देखनेको और सुननेको मिलेगा? होटल फाईवस्टारमें जायें तो वहां वेद, ब्रह्मसूत्रादि मिलेंगे? वैसे सर्वभोगस्थान पितृलोकमें भी वेदशास्त्रादि कैसे प्राप्त हों? और मान लिया जाये कि किसी किसी होटलमें टेबल पर

मासिक, पत्रिका आदि रखते हैं वैसे पितृलोकमें कुछ शास्त्र मिल भी जाये तो उपदेष्टा कौन? सिनेमाघर होटेल आदिमें क्या कोई सिखानेवाला बैठा रहता है? पितृलोकमें शास्त्र दुर्लभ है। उपदेष्टा दुर्लभ है। कदाचित् वह लोकान्तरमें जाकर श्रवण कर आयें जैसे इन्द्र ब्रह्मलोकमें जाकर सीखकर आया था। तथापि मनन निदिध्यासनकी प्रसक्ति न होनेसे स्वप्नवत् श्रवणार्थ होगा। स्वप्नवत् के यहां कई अभिप्राय हैं। जैसे सपनेमें कई चीजें देख लेते हैं तो जगनेके बाद कुछ लोगोंको थोड़ा याद रहता है। कुछ लोगोंको बिल्कुल याद नहीं रहता। कुछ लोग उसे अतिमिथ्यारूपसे, आभासमात्ररूपसे याद करते हैं वैसे लोकान्तरादिमें जाकर श्रवणकर आयें तो भी भोगोंमें आनेपर श्रुतार्थ स्वप्नवत् हो जाता है। जैसे सत्संगमें जो श्रवण कर आये कि संसार मिथ्या है, पुत्र पौत्रादि सम्बन्ध क्षणभङ्गुर है इत्यादि वह सभी घरमें आनेपर आभासमात्र हो जाता है। पुत्रादिमोहमें मिथ्यात्वज्ञान तो डूब ही जाता है। जैसे सत्संगमें सुना—

"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः"

उस समय तो समझमें आया किन्तु जहां दुश्मन सामने आ गया वहां उपदेश शून्यावस्थाको प्राप्त होगा। दुश्मनके प्रति वही क्रोध प्रकट होगा। उसे मार गिरानेकी इच्छा होगी। मानापमानमें सम रहनेकी बात सुनी किन्तु रिश्तेदारके घरमें आये वहां किसीने पूछा नहीं, आदर नहीं किया तो क्या स्थिति होगी? अर्थात् उपदेशावस्थामें जो सुना वह प्रेक्टि-कल कालमें स्वप्न तुल्य मिथ्या हो जाता है। वैसे पितृलोकमें जानेके बाद जो ज्ञान होता है, भोगों के सामने आनेपर वह स्वप्न तुल्य हो जाता है।

दूसरा तात्पर्य यह है कि कभी स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। जैसे जाग्रतमें करतलामलकवत् वस्तुको ठीक-ठीक देखा सुना जा सकता है। समझा जा सकता है वैसे स्वप्नमें कोई विशेष ज्ञान नहीं होता। वहां गुरूपदेशसे कोई नया प्रतिभास नहीं होता। स्नमें कोई गुरु आकार "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" बोले तो कोई असर नहीं पड़ता। वैसे पितृलोकमें कोई उपदेश कर भी लें तो भी आभास ज्ञानमात्र होगा, स्पष्ट ज्ञान नहीं होगा। कोई नया उन्मेष नहीं होगा।

तीसरा तात्पर्य यह है कि कभी-कभी स्वप्नमें भान होगा मैं स्वप्न देख रहा हूं। जैसे मृत प्रियका दर्शन किया तो कभी-कभी होगा मैं सपना तो नहीं देख रहा हूं। किन्तु सपना देख रहा हूं ऐसा सोचते हुए भी सत्य देखने लगते हैं। एक बार मैं सपना देख रहा था कि एक पहाड़पर मैं चढ़ चूका हूं, उतरनेका रास्ता नहीं है। मैं गिर जाऊंगा, मरूंगा। क्षणभर ऐसा लगा मैं सपना देख रहा हूं। मैं पर्वतपर वस्तुतः नहीं। ऐसा ख्याल आनेपर भी फिर लग रहा था मैं पर्वतकी चोटीपर ही हूं, गिर जाऊंगा। वैसे पितृलोकमें ज्ञानकालमें भी अज्ञान ही प्रबल रहता है।

चौथा तात्पर्य यह है कि कभी हम सपनेंमें इष्टदेवका दर्शन करते हैं, कृष्ण, शंकर आदिका दर्शन करते हैं। वह कृष्ण, राम प्रायः काल्पनिक रूप ही होता है। और काल्पनिक वातावरणके अंदरही देखा जाता है। वैसे पितृलोकमें ब्रह्मदर्शन इष्टदर्शनके समान काल्पनिक वातावरणसे घिरे हुएका ही होता है। काल्पनिकवातावरणरहित शुद्ध चैतन्यका ज्ञान स्वप्नमें कभी नहीं होता। वैसे पितृलोकमें पितृलोकीयवातावरणाऽऽवृत आत्माका ही ज्ञान होगा। शुद्ध आत्माका नहीं। अर्थात् मान लिया जाय थोड़ी देर कि राम, शिव आदिका सच्चा ही दर्शन सपनेमें है तो भी स्वप्नदृश्यमान वातावरण मिथ्या ही है, उससे घिरे हुए का ही स्वप्न दर्शन होता है। वैसे पितृलोकमें ब्रह्मज्ञान शुद्ध नहीं होता। मिथ्यावस्तुशबलित ही होगा। जाग्रतमें प्रयत्नसे इतरनिषेध हो सकता है। स्वप्नमें नहीं, वैसे पितृलोकमें इतरनिषेधपुरःसर ज्ञान नहीं होता।

पांचवां रहस्य यह है स्वप्नमें राम, शिव आदिका दर्शन हो सकता है, शुद्ध ब्रह्मका नहीं। वहां तत्त्वमसि आदि महावाक्योंका उपदेश होनेपर भी तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होगा। क्योंकि स्वप्नका अर्थ ही है—जाग्रति यद् दृष्टं श्रुतं तज्जनितवासनया निद्रासमये य प्रपञ्चः प्रतीयते स स्वप्नः । जाग्रतमें देखे और सुने हुए की वासनाको लेकर निद्राकालमें जो प्रपञ्च प्रतीत होता है वह स्वप्न है। यदि प्रपञ्चकी प्रतीति है तो ब्रह्मसाक्षात्कार किस प्रकार? यदि ब्रह्मसाक्षात्कार है तो प्रपञ्चकी प्रतीति किस प्रकार? ब्रह्मचिन्तन या ब्रह्मदर्शन किसको कहते हैं?

"अनात्मादर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे ।"

के अनुसार परमात्माकार कोई नयी वृत्ति नहीं है। किन्तु अनात्मविषयक वृत्तिके न होनेपर केवल चैतन्याभास जो होता है वही ब्रह्माकार वृत्ति है। सुषुप्तिमें कुछ अंशोंमें वह संभावित है। वस्तुतः अज्ञानाकार वृत्ति वहां भी होनेसे सुषुप्तिमें भी नहीं कह सकते हैं। किन्तु समाधिमें ही वह होता है। समाधि है तो फिर स्वप्न क्या? अतः स्वप्नदर्शनमें आत्मा किंचिदाकार-सहित ही होगा अतः स्वप्नमें वास्तविकस्वरूपदर्शन नहीं होता और पितृलोकमें भी स्वप्नोपममिथ्याभोगविशिष्ट चैतन्यदर्शन ही होगा।

यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके। विषय यह चल रहा था कि इस मानवजन्ममें ब्रह्मदर्शन करना चाहिये, तदर्थ घोर यत्न करना चाहिये। यदि इस मानवशरीरसे निकल गये तो फिर अध्यात्मकी प्रगति अति कठिन है। तीन प्रकारकी गति गीतामें बतायी है—

"ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥"

अन्तमें सत्त्ववृत्ति सामने आयी तो ऊर्ध्वलोकगतिं होगी। रजोवृत्ति सामने आयी तो मर्त्यलोकमें ही रह जायेंगे और तमोवृत्ति उद्भूत हुई तो अधोगमन होगा। अधिकतर लोग तमोवृत्तिमें ही जाते हैं। मरणसमयमें बेहोशी आ जाती है या पापभावना आ जाती है या पशु आदि स्मरण आ जाता है तो चौरासी प्रारंभ हो जाता है। क्योंकि एकबार पशु बना तो पशुके मरणसमयमें तामसवृत्तिके उदयकी ही अधिकतर संभावना है। तपस्वियोंकी बात अलग है। एक-एक योनिमें डेढ़-डेढ़ साल भी रहे तो सवा करोड़ वर्ष कहीं गया नहीं। तबतक सत्संगादि संस्कार के रहनेकी कोई आशा नहीं रखी जा सकती है। इसलिये एक तिहाई भाग निराशाका है। अब रहा मनुष्यलोक और ऊर्ध्वलोक इनमें अगले जन्ममें मनुष्यशरीर मिलता है तो बड़ी अच्छी बात है। किन्तु उस समय मनुष्य शरीरमें बैठकर जन्मान्तरकी प्रतीक्षा कर रहे हैं तो अगलेमें भी यही तो होगा। क्योंकि इससमय मानवशरीरका मूल्य आंका नहीं जो सका तो अगलेमें भी वही बात होगी और ऐसा होते होते एक जन्म ऐसा भी होगा जहां तमोगुण सामने आ जायेगा।

हमने अगले जन्मकी प्रतीक्षा नहीं की इसका अर्थ है कि इस जन्मके महत्त्वको नहीं समझा। लोग अपनेको कृतकृत्य तब समझने लगते हैं जब अपने श्रमसे या बुद्धिचातुर्यसे कुछ धन कमाया, एक मकान बनवाया या फ्लेट खरीदा, उसको सजाया बच्चोंके निर्वाहार्थ भी इन्तजाम किया। तब समझने लगते हैं कि हम कृतार्थ हो गये। एक हमारा भक्त है। जीवनभर उसने कड़ी मेहनत की, भारी संघर्ष किया। सत्तर वर्षका हो गया तो गांवमें एक सुन्दर मकान बनवानेकी शक्ति अर्जित की। उसने मकान बनवाया। उसके बाद वह बोलने लगा कि उसे अफसोस यही था कि अपने गांवमें स्वयंका कोई मकान नहीं। अब मकान हो गया तो लगने लगा कि जीवन सफल हो गया। मैंने कहा जीवन सफल हो गया किन्तु उस सफलताका उपोयग कब करोगे? दो चार सालके बाद इस चोलेको छोड़कर दूसरा चोला ग्रहण करोगे तो फिर उसीकी पुनरावृत्ति। जीवनभर संघर्ष कर फिर घर बनाओ और मर जाओ। यही गोरख धंधा। इधर जीवनसामग्रीको पूरा महत्त्व दे दिया और सत्संगादिके बारेमें मान लिया कि ये सब मन बहलानेकी चीजें हैं। या फिर पुण्यके द्वारा वही जीवन-सामग्री अधिकसे अधिक जुटायी जा सकेगी। सत्संग सुनना अनिवार्य नहीं है। धनार्जन करना अनिवार्य है। बहुतसे लोग तो सत्संगको फालतू ही समझते हैं।

"न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम् ।
यथा किराती करिकुम्भलग्नां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम् ॥"

एक किराती-भीलनी पूर्वसे पश्चिमकी ओर जा रही थी। दूसरी भीलनी पश्चिमसे पूर्वकी ओर। पूरबवालीने एक जगह देखा कि एक मदोन्मत्त हाथी मारा गया है। किसी शेरने मारा होगा। पड़ा है। उसके गण्डस्थलसे छिटककर मोती चारों ओर बिखरे हुए थे। जिसको गजमुक्ता कहते हैं। चमकीले पत्थरके टुकड़े समझकर उसने इकट्ठा किया और गठरी बांधकर आगे बढ़ी। पच्छिमवालीने देखा रास्तेमें बड़ी अच्छी बेल लगी है। उसपर गोल-गोल फल लगे हुए थे। नीचेकी ओर काला सांवला ऊपर लाल गोल-गोल वह गुंजा था दाने बड़े अच्छे लगे। उसने काफी तोड़ निकाला। गठरी बांधकर वह भी आगे बढ़ी इन दोनों भीलनियोंकी भेंट बीचमें हुई।

पच्छिमवालीने पूछा-क्या गठरीमें है ? उसने खोलकर गजमुक्ता दिखाया। पूरबवालीने पूछा तेरी गठरीमें क्या है? उसने खोलकर गुंजा दिखाया। अरे, ये बहुत सुंदर दीखते हैं। मेरे गजमुक्ताके बदलमें इसे दे दे। दूसरी ने कहा नहीं नहीं। पहलीने बहुत मिन्नत करायी। कहा—आधा आधा अपने बांट ले। अच्छी बात। दोनों अपने अपने घर पहुंचे। गजमुक्ता सूईसे छिद नहीं रहे थे। बोलने लगी बेकारके पत्थर हैं। गुंजा झटसे छिद गये। हार बनाकर गलेमें डाला और नाचने लगी। बस यही विषय और सत्संग है। विषय झटसे काम आये। सत्संग सुनते रहे। क्या हुआ। बेकार समझने लगे। हां इतनी बात सिद्ध हो गयी कि सत्संग का तिरस्कार करनेवाले वे किराती या उसके भाई-बहन हैं।

अधोलोक और मध्यलोककी यह चर्चा हुई। अब ऊर्ध्वकी ओर बढ़ो। उनमें प्रथम पितृलोक आया। यह सोमलोक है। यही ज्योतिष्टोमादि यागसे प्राप्य है। जहांसे पुनरावृत्ति होती है। हम आगे ज्ञानकी जो प्रतीक्षा कर रहे हैं वह दो गतियोंमें फेल ही समझ लो। अब तृतीयमें उसकी स्थिति क्या है? उनमें प्रथम पितृलोकमें तो स्वप्नदर्शनमात्र बताया। द्वितीय गन्धर्वलोक है। गन्धर्वलोकसे यहां देवलोक समझना चाहिये। भाष्यकारोंने उपलक्षणतया समस्त देवलोकका ग्रहण यहां बताया। केवल कर्म करनेवाले पितृलोक जाते हैं तथा केवल उपासना करनेवाले देवलोकमें जाते हैं। "कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः" ऐसा श्रुतियोंमें बताया है। नारदजी गन्धर्वलोकमें थे। वे ही देवर्षि हुए। इसलिये भी गन्धर्वलोकसे सभी देवलोक उपलक्षणीय हैं। पितृलोकके समान देवलोकमें भी शास्त्रप्राप्ति, गुरूपसदनादि दुलर्भ है। क्योंकि कोई भी तत्त्वज्ञानी देवलोकमें जायेगा नहीं। ब्रह्मलोकमें जा सकते हैं। अतएव इन्द्र और विरोचनको ज्ञानप्राप्त्यर्थ प्रजापतिके पास जाना पड़ा था। इस प्रकार अन्यत्र जाकर विद्या प्राप्त की जा सकती है। किन्तु वह नियत नहीं है। अतएव "तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्" इसप्रकार संभवमात्र कहा। न कि तदुपर्यादि भवति साधिकारत्वात् इत्यादि बताया। अतः उपासना करके हम देवलोकको ही क्यों न प्राप्त कर लें? दो चार माला अधिक जप लेंगे इसके उत्तरमें श्रुति कह रही है कि देवलोकमें भी ज्ञान बराबर नहीं होता। जलमें प्रतिबिम्बके

समान वहां ब्रह्मदर्शन होगा। नदीके किनारे या समुद्रके किनारे जाकर खड़े हो जाओ। और अपना मुख देखो, कैसा दीखता है। स्पष्ट दर्शन तो नहीं ही होगा। सूर्यको देखो तो कटे-कटे हजारों प्रतिबिम्ब दीख पड़ेंगे। किन्तु सम्यक् दर्शन नहीं होगा जैसे दर्पणमें दीखता है। वहां जल चंचल है। स्थिर जलवालेमें शायद कुछ ठीक दीख भी जाये किन्तु जरा सी हवा चली कि वही समुद्रवाली बात होगी। जलमें प्रतिबिम्ब सम्यक् नहीं दीखता वैसे देवलोकमें ब्रह्मदर्शन भी सम्यक् नहीं होता। क्या असम्यक्ता है? ज्ञानमें असम्यक्ता असंभावना और विपरीत भावना है। असंभवना प्रमाण संशय और प्रमेयसंशयको कहते हैं। इन्द्रको प्रजापतिके पास चार बार जाना पड़ा था। "नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" इसप्रकार देखकर इन्द्र वापिस जाता था। प्रजापतिने उपदेश दिया। "य एषोऽक्षणि पुरुषः"। प्रथम समझा ठीक। किन्तु उसमें संशय हुआ तो वापिस गया और पूछा। तब बताया– "य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाच"। सुनकर इन्द्र गया किन्तु फिर संशय होनेपर वापिस आया। तब प्रजापतिने कहा–"तद् यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाच"। इन्द्र सुनकर गया। किन्तु फिर संशय हुआ तो वापिस आया। तब बताया– "मघवन् मर्त्यं वा इदं सर्वं.........न वै सशरीस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहति-रस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।" तात्पर्य यह है कि सौ वर्ष ब्रह्मचर्य पालनकर प्रजापतिके पास रहनेपर ही इन्द्रका संशय दूर हुआ था। क्योंकि वहां उपदेश देनेपर विषय झटसे उपस्थित हो जाता है। यह असंभावना इन्द्रमें भी आयी तो गन्धर्वलोकमें सुतरां प्राप्त है। दूसरी विपरीत भावना है। जैसे विरोचनको हुई। विरोचन असुर था। उसने "य एषोऽक्षिणि पुरुषः" इस उपदेशसे शरीरको ही आत्मा समझा था। यह विपरीत ज्ञान प्रथम इन्द्रको भी हुआ था। दूसरी बात उपदेशकालमें आत्माको शरीरादिसे भिन्न भले ही समझते। किन्तु प्रत्यक्षरूपसे शरीरात्म-वाद उपस्थित होता है। इन्द्रके समान सौ वर्ष ब्रह्मचारी कहकर तीव्र जिज्ञासा रखनेवाला देव दुर्लभ होता है। अतः गन्धर्वादिलोकमें पूर्वोक्त अस्थिरता प्रतिबिम्बदृष्टान्तसे बताया।

दूसरे ढंगसे विचार करें तो ज्ञान दो प्रकारका होता है। अदृढ़ ज्ञान है, दूसरा दृढ़ ज्ञान है। अदृढ़ ज्ञान उसको कहते हैं जो खसकनेवाला है। एक ज्ञानीने प्रवचन किया—जगत् मिथ्या है। तो मान लिया फिर एक भक्तने आकर कहा—जगत् भगवानकी लीला रचना है, लीलास्थान है अतः मिथ्या नहीं है तो उसे मान लिया। यह है अदृढ़ ज्ञान। दृढ़ ज्ञान वह है जो वज्रलेखके समान कभी न मिटे।' गन्धर्वादि लोकमें दृढ़ ज्ञान नहीं होता। प्रथम सुन लेते हैं कि जगत् तुच्छरूप है तो मान लेते हैं। फिर अप्सराओंके बीचमें आनेपर सत्य समझने लगते हैं। जैसे जलमें प्रतिबिम्ब स्थिर नहीं होता वैसे गन्धर्वलोकमें ब्रह्मदर्शन स्थिर नहीं होता।

गन्धर्वादिलोकोंका ज्ञान अदृढ़ होनेमें कई हेतु हैं। विषयोपस्थिति विचारहीनता तथा अभिमान ये मुख्य कारण हैं। श्रीमद्भागवतमें चित्र-केतुका उदाहरण आता है। शौरसेन राजा चित्रकेतुको पुत्र न होनेसे महर्षि अङ्गिरासे वह प्रार्थना करता है। महर्षिके यह कहनेपर भी कि तुम्हें कई जन्मोंतक पुत्रसुख प्राप्त नहीं होगा। चित्रकेतु हठ पकड़ता है। फिर यज्ञ करता है। पुत्र उत्पन्न भी होता है कि सौतें उसे जहर देकर मार डालती हैं इत्यादि वहां कथा है। शोकसंतप्त राजाको नारदजी और अंगिराजी वैराग्योपदेश करते हैं। फिर नारदके दिये मन्त्रसे शेषभगवानकी उपासना करनेसे विद्याधराधिपति बनता है। उसको घूमनेके लिये विमान भी मिल गया था। वह एक बार विमानमें जा रहा था तो कैलासमें देखा सिद्ध, चारण एवं मुनियोंकी सभाके मध्यमें शंकर पार्वतीके साथ बैठे हैं। चित्रकेतु बोलने लगा कि देखो यह धर्मका प्रवक्ता बैठा है सभाके बीचमें स्त्रीको गोदमें लेकर निर्लज्ज जैसा इत्यादि। भगवान् शंकर सुनकर ठहाका मारकर हंसे और चुप बैठे।

"भगवानपि तच्छ्रुत्वा प्रहस्यागाधधीर्नृप।
तूष्णीं बभूव सदसि सभ्याश्च तदनुव्रताः॥"

क्यों हंसे? उसका कारण यह था कि दृष्टि सबकी विलक्षण होती है। पार्वतीकी ओर चित्रकेतुकी दृष्टि गयी। सर्पोंकी ओर क्यों नहीं? जो भयंकर हालाहलवाले थे।

"भीतिर्नास्ति भुजङ्गपुङ्गवविषात् प्रीतिर्न चन्द्रामृता-
न्नाशौचं हि कपालदामलुलनाच्छौचं न गङ्गाजलात्।
नोद्वेगश्चितिभस्मना न चसुखं गौरीसमालिङ्गना-
दात्मारामतया हिताहितसमः स्वस्थो हरः पातु वः॥"

शंकरभगवानमें अनेक विरोधाभास जैसे देखेंगे। एक ओर भयंकर सर्पोंके जहरसे भीति नहीं तो दूसरी ओर चन्द्रमासे चूते हुए अमृतसे कोई प्रीति हीं। अमृत और जहर अत्यन्त विरुद्ध हैं। इसीप्रकार कपालमालाको धारण करनेसे कोई अपवित्रता नहीं, गङ्गाजल धारण करनेसे कोई नयी पवित्रता नहीं। ये भी दोनों अत्यन्त विरुद्ध हैं। "नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सचैलस्नान-माचरेत्" बताया है। और गङ्गाजल पवित्रताके लिये प्रसिद्ध है। इसीप्रकार पूरे शरीरपर चिताभस्मका भस्मोद्धूलन करते हैं तो कोई उद्वेग नहीं और उधर गौरीके आलिङ्गनसे कोई हर्ष नहीं। इसलिये कोई शंकरकी स्तुति करता है तो हर्षविश नहीं और चित्रकेतु जैसा निन्दा करे तो परवाह नहीं। चित्रकेतुको इतना तो विचार करना चाहिये था जिस शंकरने कामदेवको भस्म किया वह फिर क्यों काम वशीभूत होने लगे? शंकरजीने कुछ कहा नहीं किन्तु पार्वतीने दण्ड दिया और वह दूसरे जन्ममें असुर बना जो वृत्रासुर कहलाया। यहां विचार करनेपर यह रहस्य निकलता है कि चित्रकेतु नारदादिसे उपदेश प्राप्त होनेपर भी देवलोकमें पहुंचकर भी ज्ञानको दृढ़ नहीं कर सके। एक तो उसमें अभिमान था—मैं विद्याधरादि-पति महान हूं। किसीको भी कुछ भी बोल सकता हूं। दूसरा उसमें विचारशक्ति नहीं थी। जो कामारि हो वह कामवशीभूत कैसे यह विचार नहीं कर सकता। तीसरा विषयलम्पट होनेके कारण दूसरेको भी वैसे ही समझने लगा। 'कुलाचलेन्द्रद्रोणीषु नानासंकल्पसिद्धिषु। रेमे विद्याधर-स्त्रीभिः'। इतनेसे मालूम हो जाता है कि वह कैसा कामातुर था। ऐसे व्यक्तिको भला ब्रह्मविवेकज्ञान कैसे हो सकता है।

छायातपयोरिव ब्रह्मलोके। इसी मानवशरीरमें बोध प्राप्त करना चाहिये। यह उपक्रम किया 'इह चेदशकत्' इसपर पूर्वपक्ष हुआ कि इस जन्ममें ब्रह्मसाक्षात्कारकी कोई आशा नहीं दीखती उसपर विचार चला कि अगले जन्ममें ब्रह्मबोध हो सकता है तो किस गतिमें। अधोगतिमें या

मध्यगतिमें या ऊर्ध्वगंतिमें। अधोगतिमें तो चौरासी लाखका चक्र आयेगा। क्योंकि पशु-पक्षी आदि सभी मरते समय तामस-मूढ़ वृत्तिवाले होते हैं तो उत्तरोत्तर पतन ही होता जायेगा। "आसुरीं योन्निमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि। मामाप्राप्यैव तु कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्"। कदाचित् किसी पुण्यप्रभावसे विशेषकारणसे मानवयोनिमें आ जाये तो करोड़ों वर्ष पुराने सत्संगकी क्या स्मृति होगी? अतः अधोजन्ममें ज्ञानप्राप्तिकी संभावना दूरनिरस्त है। अतः दूसरी गति-मध्यगतिके बारेमें सोचें तो बात यह है कि इस जन्ममें आपने अपने मनको कहांतक रोकनेमें सफलता पायी यह बताओ। कामक्रोधादिमें किन किनपर विजय पायी और इस जन्ममें क्या कमजोरी रह गयी? एक भक्तने कहा—इस जन्ममें हर बातमें कमजोरी ही कमजोरी रह गयी है। काम- क्रोधादिमें किसीको नहीं जीता। हां—"वयसि गते कः कामविकारः" इत्यादि स्वाभाविकसंयम हुआ तो अलग बात। क्यों तदर्थ निरन्तर यत्न नहीं करते? बोले कि संसारका भी तो काम करना है। ठीक है। किन्तु अगले जन्ममें ये सब समस्याएं नहीं रहेगी? ऐसे दो चार जन्मके बाद फिर एक तामसी अन्तिम वृत्ति आ गयी तो वही चौरासी लाखका चक्र। अतः तीसरी गति अर्ध्वगति विचारणीय रही। ऊर्ध्वमें यहां संक्षेपतः तीन गतियाँ बतायीं। पितृलोकगति, गन्धर्वोपलक्षित और तीसरी ब्रह्मलोकगति। पितृलोक अर्थात् स्वर्गलोकमें तो चौबा गया छब्बा होने और दूबा होकर लौटावाली बात है। मनुष्यलोकमें दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान स्पष्ट दर्शन हो सकता था। स्वर्गलोकमें ब्रह्मदर्शन स्वप्नदर्शनोपम हो गया। जाग्रतमें ईश्वरदर्शन और स्वप्नमें ईश्वरदर्शन दोनों क्या बराबर है? जाग्रतमें नोट प्राप्त हुई, स्वर्गमें नोट प्राप्त हुआ, दोनों बराबर हो सकता है क्या? अतः पितृलोकमें जाकर आत्मदर्शनार्थ प्रयत्न करना भी मूर्खता सिद्ध होगी। जिस खाने, पीने, मौज करने वहां गये वही होने दो तो ही ठीक है। वहां गुरु भी नहीं मिलते। वहांसे पतन भी निश्चित है। और कहीं कपूययोनि मिल गयी तो? "श्वयोनिं सूकरयोनिं वा" तो मूर्खता और आपदा दोनोंको आमन्त्रण देना हो जायेगा। मनुष्ययोनिमें रहते तो कुछ प्रायश्चित्त भी हो सकता था उससे भी रह गये स्वर्गलोकमें। फिर इसके बाद दूसरी गति देवयोनिकी बात आ गयी। देवयोनि उपासनासे प्राप्त होती है। उसमें भी जल में प्रतिबिम्ब के समान ही दर्शन होता है। इतने के लिए भी गुरुप्राप्ति आदि की कठिनाई ऊपरसे। इसीकारण

कर्ममार्गफलपितृलोकको अन्धतमस और उपासना देवलोकको घोरान्धतमस बताया।

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ-रताः ॥

स्वप्नदर्शनमात्र जहां हो वहाँ अन्धतमस है ही। जलबिम्बसदृश दर्शन तो विपरीत भावनाको ही दृढ़ करनेवाला है अतः भूयस्तमस है। यही स्थिति इन्द्रलोक बृहस्पतिलोक आदि की भी है। ये सभी पुनरावृत्तिवाले भी हैं ही। "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः" से यह स्पष्ट है।

अब तीसरी गति ब्रह्मलोकपर विचार करें। 'छायातपयोरिव ब्रह्मलोके'। ब्रह्मलोकमें ब्रह्मदर्शन धूपछायाके समान होगा। स्वाप्नदर्शनके समान आवृत नहीं। गन्धर्वलोकीय दर्शनके समान विक्षिप्त भी नहीं। किन्तु विविक्तदर्शन होगा। मनुष्यलोकमें दर्पणस्थ मुखदर्शनवत् स्पष्ट दर्शन होता है। ब्रह्मलोकमें छायातपवत् विविक्त दर्शन होता है। कौनसा उत्तम? कुछ लोग कहते हैं दर्पणमुखदर्शन उत्तम होगा। नहीं। दर्पणमुखदर्शन है तो स्पष्ट किन्तु वैपरीत्य होता है। दायां बायां बदल जाता है। उसको हम एडजस्ट करते हैं यह अलग बात है। जैसे आंखमें संमुख वस्तुका चित्र विपरीत पड़ता है। किन्तु आँखें उसको सुलटा करके देखती हैं। किन्तु ब्रह्मलोकमें एडजस्ट करनेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि वहां सभी सीधे सीधे ही दीखते हैं। धूप ऊपर, वृक्ष मध्यमें और छाया नीचे पड़ती है। छाया कैसी होती है? जैसा वृक्ष। डाली पत्ती आदिकी छाया वैसी ही नीचे आती है। मनुष्यकी छाया मनुष्याकार होती है। प्रकृतमें ब्रह्म आतपप्रकाशस्थानापन्न है। माया वृक्षस्थानापन्न है। वृक्षकी डाली, पत्ती आदिके समान मायामें वासनायें होती हैं। उनका विस्तरितरूप ही जगत् है। जैसे सिनेमाका प्रकाश है। बीचमें फिल्म है। उस फिल्ममें महीन महीन चित्र होते हैं। पड़देपर उनका विस्तारण-एनलार्जिंग होता है। परमात्माके संकल्पसे यह जगत् मायागतवासनाका विस्तारित-एनलार्ज्ड रूप है। ब्रह्मलोकमें ये तीनों स्पष्टतया विविक्त दीखते हैं। अर्थात् ब्रह्मलोकमें भी माया और जगत् है। नहीं तो ब्रह्मलोक एवं तत्रस्थ भोगादि कैसे दीखते? किन्तु विविक्तरूपसे दीखता है। मनुष्यलोकमें दर्पणस्थ प्रतिबिम्बके समान ब्रह्मदर्शन होता है। जहां लेशाविद्यासे वैपरीत्य दर्शन होता है। उपाधिरूप दर्पणके रूप आकारादि

भी उसीपर एकीभूत होते हैं। ब्रह्मलोकमें भी वृक्षपर भी जैसे धूप एवं छायामें भी धूपका प्रकाश होता है। अन्यथा वे नहीं दीखते वैसे माया एवं तत्कार्यपर ब्रह्म प्रकाश रहता है। अन्यथा वे न दीखते और वह शवलित ही दीखेगा। तथापि शुद्ध धूप भी दीखती है वैसे शुद्ध ब्रह्म भी दीखता है।

ब्रह्मलोकसे भी ऊपर कुछ है कि नहीं? ब्रह्मलोक सर्वोर्ध्व माना जाता है। कोई कहेगा—आगे कैलास, वैकुण्ठ, गोलोक साकेतादि हैं किन्तु ये सब पुराणोंकी कहानी हैं। वेदोंमें—श्रुतियोंमें कहीं कुछ वर्णन किया है या नहीं? बोले कि पुराण भी तो प्रमाण हैं। पुराणोंसे वेदकी कल्पना कीजिये। परंतु उसमें कठिनाई यह है कि शैव कहते हैं शिवलोक सर्वोपरि है और वैष्णव कहते हैं विष्णुलोक सर्वोपरि है। फिर वैष्णवोंमें भी नारायणभक्त वैकुण्ठको सर्वोपरि और गोलोकादि उसके अंगमात्र मानते हैं। और कृष्ण भक्त गोलोकको सर्वोपरि और वैकुण्ठादि को नीचे मानते हैं। रामभक्त साकेतको। वस्तुमें विकल्प होता नहीं है। अतः विरुद्ध श्रुतियोंकी कल्पना नहीं हो सकती। बात आखिर नीलकण्ठाचार्यके कथनपर टिक जायेगी कि ये सब एक ही ब्रह्मलोकके नामान्तर तथा रूपान्तरमात्र हैं। भक्तोंकी भावनानुसार उसीमें ऊँचापना नीचापनाका दर्शन है। फिर यदि आप अपने अभिनिवेशमें हैं तो जिस लोकको आप सर्वोपरि मानते हैं उससे भी ऊपर कोई है या नहीं? चाहे ऊंचाईसे हो, चाहे श्रेष्ठतासे। उत्तर नकारात्मक आता है। किन्तु वस्तुतः नकारात्मक नहीं, सकारात्मक है। इस ब्रह्मलोकसे ऊपर है—त्रिपाद् ब्रह्म ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त प्रपञ्च एक पादमें स्थित है। शेष तीन पाद इससे ऊपर हैं।

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'

अर्थात् परिच्छिन्न पूरा संसार व्यावहारिक सत्तामें है और पारमार्थिक दिव्य सत्तामें परब्रह्म परमात्मा है। ब्रह्मलोकके अन्तिम छोरपर खड़ा महापुरुष उस ओर अपार अनन्त ब्रह्मधामका दर्शन करता है। और इस ओर माया एवं तत्कार्य जगतका। यही 'छायातपयोरिव ब्रह्मलोके' वाला दर्शन है। हां, देखने वाला आखिर किनारे एक पादमें ही रहेगा।

उस ब्रह्मलोकमें कौन पहुंच पाता है? यह प्रश्न सामने है। केवल ब्राह्मण पहुंचता है या संन्यासी पहुंचता है? इसका जवाब यह है कि

उचित साधना करनेवाला कोई भी वहां पहुंच सकता है। ब्रह्मचारी के लिये बताया है—

"देवा ब्रह्मचर्येण मृत्युमपाघ्नन्"

देव अर्थात् विद्वान् ब्रह्मचारी ने ब्रह्मचर्य के बलसे मृत्युको मार हटाया।

"ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येण विन्दन्ति"

ब्रह्मचर्यका पूर्ण परिपालन करनेवाला ब्रह्मलोक को पाता है। ब्रह्मचर्य किसको कहते हैं? इसके दो अर्थ हैं। एक तो प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य—

"अष्टाङ्गमैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः।"

मन, वाणी, शरीर, इन्द्रियादि सबमें संयम जहां हो वह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्माध्ययनमेव चर्यं ब्रह्मचर्यम्। ब्रह्मैव-ब्रह्माध्ययनमेव चर्या यत्र। वेदाध्ययन करना। ये दोनों मिलाकर ही ब्रह्मचर्य हैं। न कि कुँआरा रह गया या कुमारी रह गयी तो ब्रह्मचारी हुआ। मार्कण्डेय ऋषि आत्यन्तिक गुरुकुल-वास करनेवाले ब्रह्मचारी रहे। ब्रह्मचारीके दो भेद किये हैं। एक आत्यन्तिक ब्रह्मचारी, दूसरा उपकुर्वाण ब्रह्मचारी जीवनभर जो ब्रह्मचारी रहे वह आत्यन्तिक है। गृहस्थमें प्रवेश करनेके लिये पूर्वमें जो ब्रह्मचारी होते हैं वे उपकुर्वाण ब्रह्मचारी हैं। भीष्मपितामह आत्यन्तिक ब्रह्मचारी थे। वे ब्रह्मलोक पहुंच जाते हैं। गृहस्थ भी ब्रह्मलोक जा सकता है। किस प्रकार? समुच्चयकारी होनेसे—

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूत्यामृतमश्नुते ।"

जो अविद्या अर्थात् कर्म तथा विद्या अर्थात् उपासना दोनों साथमें समुच्चितरूपसे करते हैं वे ब्रह्मलोकगामी होते हैं। विद्यामें भी प्रकृत्यु-पासना और हिरण्यगर्भोपासना दोनोंको समुच्चित रूपसे करते हैं। दूसरे वे गृहस्थ भी ब्रह्मलोक जाते हैं जो स्वाश्रमधर्मानुष्ठान तथा पञ्चाग्नि विद्योपासना करते हैं। गृहस्थका स्वाश्रम धर्म यज्ञदानादि यथावर्ण समझना चाहिये। पञ्चाग्निविद्या छान्दोग्यादिमें प्रसिद्ध है। कर्ममात्र करनेवाला

सोमलोकमें, वहां से अभ्रलोक में, वहाँसे मेघ एवं वृष्टिद्वारा पृथिवीमें पहुंचकर पुरुषमें, फिर स्त्रीमें, जो यह जीवात्मा चलता है इस गति के साथ आत्मचिन्तन पञ्चाग्निविद्या है। वानप्रस्थ कौन ब्रह्मलोक जाता है? "तद्य इत्थं विदुः" कहकर आगे बताया "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति" इस क्रम से अर्चिर्देवता, अहर्देवता, शुक्लपक्षदेवता, उत्तरायणदेवता, संवत्सरदेवता, आदित्यदेवता, चन्द्रदेवता, विद्युतदेवता तक पहुंचनेपर-"तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति" तत्पुरुष उसे ब्रह्म प्राप्त कराता है। इनके लिये यज्ञादि भारी कर्म की जरूरत नहीं है। हाँ, श्रद्धा और तप चाहिये। पञ्चाग्नितापादि तीन तप वानप्रस्थोंके लिये प्रसिद्ध है। अन्तमें संन्यासी की बात आती है। वे भी ब्रह्मलोक ज़ाते हैं–

"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥"

संन्यासी के लिये निरन्तर वेदान्तचिन्तन, मनन, निदिध्यासन करना ही परम कर्तव्य है। उससे साक्षात्कार हुआ तो यहीं ब्रह्म प्राप्त करेगा। नहीं तो ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्मको प्राप्त करेगा।

इस प्रकार चारों आश्रमवाले वहां पहुंच सकते हैं। किन्तु सत्संग श्रवण सबके लिये अनिवार्य है। अन्यथा–

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः"

वाली बात होगी। श्रवणादि बराबर न होने पर ब्रह्मलोक में तो पहुंचेगा किंतु नीचले भागमें, सर्वोर्ध्व भागमें नहीं। नीचले भागसे देखेंगे तो उपरीले भागका व्यवधान होनेसे शुद्ध ब्रह्मका दर्शन मुश्किल होगा। उनको वापिस आना पड़ सकता है। ऊर्ध्वभागमें वे ही पहुंचते हैं जो कृतनिश्चय हों। वे ही छायतप के समान विविक्त दर्शन कर पाते हैं।

यहां तक के विवेचनासे स्पष्ट हो गया कि ब्रह्मलोकीय दर्शन सर्वोत्कृष्ट है। तब "इह चेदशकद् बोद्धुं" यह नियम नहीं रहा। मरनेके बाद भी हम कृतकृत्य हो सकते हैं। ब्रह्मलोकमें गुरुका अभाव नहीं है। स्वयं प्रजापति ब्रह्मा वहां स्थित हैं। जहां जाकर इन्द्रविरोचनादिने ज्ञान पाया

था। तब हम अगले जीवनकी प्रतीक्षा क्यों न करें? यह भारी पूर्वपक्ष उपस्थित हुआ। इसका समाधान यह है कि ब्रह्मलोक जानेकी तैयारी और ब्रह्मको जाननेकी तैयारीमें खास कोई फरक नहीं है। ब्रह्मबोधार्थ आवृत्त्या श्रवणमनननिदिध्यासनादि करो। ब्रह्मलोकार्थ जीवनभर अखण्ड ब्रह्मचारी या विद्याविद्यासमुच्चयोपासनादि करो। पञ्चाग्नितापादि करो। क्या अन्तर पड़ा? अगले जन्मकी बात इसलिये कर रहे थे कि आलसी मानस विषयाभिलाषी होकर यत्न करना नहीं चाह रहा था। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मलोक भी नहीं पहुंच सकता। और भी एक खास बात है। वह यह कि ब्रह्मलोक जाते ही मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥"

के अनुसार ब्रह्मलोक जानेवाले ब्रह्मकी पूरी आयु तक वहीं रहेंगे। उसके बाद ब्रह्माके साथ मुक्त होंगे। इतने करोड़ों अरबों वर्षोंकी प्रतीक्षा करना मामूली बात नहीं है। अब जायेंगे वहां।

काशीमें कई पण्डित ऐसे थे कि वे काशी छोड़कर नहीं जाते थे। पहले समयमें उनको सौ, सवासौ ऐसा तनखा मिलता था। बाहरसे उनके लिये बुलावा आया था। हजार, दो हजार पगार देनेको तैयार। किन्तु वे नहीं जाते थे। उनका कहना है कि काशीमें करस्थ है मुक्ति। बाहर क्या, क्या नहीं, यह कौन जाने? अपने लिये काशी तो 'काशीक्षेत्रं शरीरं' है। गङ्गा ज्ञानगङ्गा है। इसीमें गोता लगाते हुए यहीं मुक्त होना है। बाहर पता नहीं क्या होगा। पितृलोक, गन्धर्वलोककी तो बात ही छोड़ो। जो सर्वोत्तम ब्रह्मलोक है वहांसे भी पुनरावृत्तिकी संभावना है। वहां भी कमीकी पूर्ति करनेके लिये यहीं आना पड़ता है। चाहे श्रवणादिकी कमी हो चाहे उपासनाकी कमी हो तेल यहीं आकर भरना पड़ेगा इन्धन यहीं से लेना पड़ेगा। पचीस मालेका मकान है। लिफ्ट खराब हो गया, नीचे आकर सब खरीदकर ले जाना है। ऊपर चढ़नेके बाद कुछ भूल गये तो ऊपरसे नीचे उतरो, फिर चढ़ो। ऊपरसे नीचे उतरते समय पैसा लाना भूला तो फिर क्या कहना है। एक भक्तने मुझे बताया कि हमारे यहां बिजली बार-बार

जाती है। बहुत तंग होना पड़ा तो नीचे फ्लेटमें ही रहना शुरु किया। अतः सर्वप्रथम यहीं बोध प्राप्त करनेका प्रयास करो।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

आकाशादिसे पृथक् पृथक् उत्पन्न होनेवाली इन्द्रियोंका आत्मासे पृथक्त्व एवं जाग्रतमें एवं स्वप्नमें उदय तथा विलय समझकर धीर पुरुष शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

"इह चेदशकद् बोद्धुं" इस प्रकार आत्माको इसी मानवशरीरमें रहते हुए जाननेका प्रयास करनेकी बात बतायी। अधोलोकमें जाकर बोध प्राप्त करनेके लिये कोई गुंजाईश है नहीं। दूसरे मनुष्यशरीरमें पहुँचकर ब्रह्मबोध प्राप्त करनेके लिये गुंजाईश है। किन्तु वह तो सर्वोत्तम शरीरमें ही संभव होनेसे शरीरान्तरकी प्रतीक्षा व्यर्थ ही मानी जायेगी। कुछ विलक्षणता ऊर्ध्वलोकोंमें हो सकती है। वहां की परिस्थिति "यथादर्शे तथात्मनि" इत्यादि तुलनात्मकरीतिसे पूर्वमन्त्रमें बताया। अर्थात् पितृलोक और देवलोककी बात करना व्यर्थ है। क्योंकि उनकी अपेक्षा यह मानवलोक ही अधिक अच्छा है। यहां दर्पणमें मुखके समान स्पष्ट दर्शन तो हो सकता है। पितृलोकादिमें वह भी संभव नहीं है। बचा एक ब्रह्मलोक। वह अवश्य ही मानवलोकसे उत्कृष्ट है। किन्तु वहां पहुंचनेके लिये ही परिश्रम दुगुना करना पड़ता है। बम्बईमें बैठे एक काम करनेपर एक हजार रुपया मिलता है। दिल्ली में जानेपर ढाई हजार। तो कौनसा काम हाथमें लिया जायेगा? दिल्लीका। किन्तु दिल्ली आने जानेका तात्कालिक खर्च डेढ़ हजार हो तो? तो कौन दिल्ली जायेगा? सवा हजार खर्च हो तो भी ढाईसौ के फायदे के लिये कौन धक्का खायेगा? वही हालत वहां भी है। अतः सभी प्रकारकी गति अवरुद्ध बतलाकर इसी निष्कर्षपर आये कि "इह चेदशकद्बोद्धुम्"। किन्तु यह तो नकारात्मक, निषेधात्मक उत्तर हुआ। इसका विधिपक्ष भी तो बताना होगा। क्योंकि मूलप्रश्न यह था कि इस जन्ममें तत्त्वसाक्षात्कारकी कोई आशा नहीं दीख रही है। हमारी पकड़ अत्यधिक कमजोर है। हमारी पहुंच दूरतक बिल्कुल नहीं है। अतः अब इस मन्त्रमें इसी जन्ममें बोधप्राप्तिका तरीका बताया जा रहा है।

इन्द्रियाणां पृथग्भावम्। इन्द्रियाणां स्वकारणेभ्यः पृथक् उत्पद्यमानानां ब्रह्मतः पृथग्भावं ब्रह्मणस्तेषाम् उदयास्तमयौ च मत्वा धीरो न शोचति। इन्द्रियां दस होती हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय। इन इन्द्रियोंसे परमात्माका पता लगाना चाहिये। प्रश्न यह है कि इसी जन्ममें हम कैसे ब्रह्मसाक्षात्कार करें? क्या सब काम छोड़कर सभी बाबाजी बनें? तब संसार कैसे चलेगा? बाबाओंको भी तो अन्न-वस्त्र चाहिये तो कहांसे आयेगा? इसके उत्तरमें यही कहा जा रहा है कि संसारका कामं करते हुए ही हमें यहीं ब्रह्मदर्शन करना है। क्या जनक, अश्वपति, रैक्व आदि गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मदर्शी नहीं हुए थे। एतदर्थ युक्तिसे विचार करना चाहिये। अतः प्रथम दर्शनेन्द्रियवृत्तिपर विचार करें। ज्ञानेन्द्रियां ज्ञानप्रकाश कर रही हैं। कर्मेन्द्रियां कर्ममें प्रवृत्त हो रही हैं तो किस प्रकार? इस पर विचार करो। मूलचिन्तन करो। वस्तुतः परमात्मामें ही सर्वशक्ति स्थित है। वह अनादिकालसिद्ध है। दो मूल शक्तियां हैं। एक ज्ञान शक्ति है, दूसरी क्रियाशक्ति है। ज्ञानशक्तिका अवतरण अन्तःकरणमें होता है और क्रियाशक्तिका अवतरण प्राणोंमें होता है। जैसे बिजली की प्रकाशशक्तिका अवतरण बल्बमें होता है। और क्रियाशक्तिका अवतरण पंखेमें होता है। वह ज्ञानशक्ति पुनः ज्ञानेन्द्रियोंमें उतर आती है और क्रियाशक्ति कर्मेन्द्रियोंमें। तब श्रोत्र में उतरी ज्ञानशक्ति शब्दश्रवणरूपसे प्रकट होती है। त्वचामें उतरी शैत्यादि स्पर्शमें, चक्षुमें उतरी शक्ति रूपदर्शनमें, रसनापर उतरी शक्ति रसास्वादनरूपसे और घ्राणमें उतरी शक्ति गन्धग्रहणरूपसे प्रगट होती है। इसी प्रकार वाक् पर उतरी क्रियाशक्ति शब्दोच्चारणादिरूपसे और पाणि आदि पर उतरी क्रियाशक्ति आदानादिरूपसे अभिव्यक्त होती है। इस प्रकट ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्तिका मूल चिन्तन करते हुए लक्ष्यतक पहुंचना है।

ये इन्द्रियां कैसे पैदा हुईं? आकाशादि भूतोंसे। यद्यपि आकाशादि पञ्च भूतोंसे सभी इन्द्रियोंका जन्म है तथापि विषमता भी है। आकाशादि सभी त्रिगुणात्मक है। उनमें सत्त्वगुणसे उत्पन्न है ज्ञानेन्द्रियां। अतः ज्ञानशक्तिका अवतरण स्थान हुआ। रजोगुणका कार्य है कर्मेन्द्रियां अतः क्रियाशक्ति अवतरणयोग्य हुई। तमोगुणका कार्य पञ्चीकृत जगत् है। ये आकाशादि

कहांसे उत्पन्न हुए? परमात्मासे। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी"। यह श्रुति बतला रही है। यह क्रमकथन है। वैसे तो सभी ब्रह्म से ही आये।

"इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच"

इस श्रुतिमें साक्षात् स्रष्टृत्वेन परमात्माको ही बताया हैं। क्रममें बात इतनी ही है कि आकाशसृष्टिकर: फिर आकाशमें स्थित होकर वायुको बनाया। वायुमें स्थित होकर अग्नि बनाया। बनाने वाला परमात्मा हीं है। आकाशादि नहीं। यह बात-तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इत्यादि रीति तेज आदिकी ईक्षणोक्तिसे स्पष्ट है। अतः "आकाशाद्वायुः" इत्यादि क्रमोक्तिमात्र है। आकाश आदिसे श्रोत्रादि इन्द्रियां एवं वागादि इन्द्रियां उत्पन्न हुई। आकाशसे श्रोत्र, वायुसे त्वचा, तेजसे चक्षु, जलसे रसना और पृथिवीसे घ्राण। यह कैसे मालूम पड़ा? विपरीत क्यों नहीं? पृथिवीसे श्रोत्र क्यों नहीं? जलसे नेत्र क्यों नहीं? उत्तर है समानाभिव्यञ्जकता। श्रोत्रसे क्या सुनते हैं? शब्द और आकाशसे प्रकट होता है शब्द तज्जन्य, तद्गुणग्राही होता है। त्वक् से स्पर्श मालूम पड़ता है। वायुका भी स्पर्श होता है। चक्षुसे रूपका ज्ञान होता है। और तेजका ही सभी रूप है। कैसे तेजका सभी रूप है? भाष्य में बताया है-त्वाष्ट्राण्येव सर्वाणि रूपाणि सायंटिस्ट भी कहते हैं कि तेजमें सभी रूप है। वस्त्र, पुष्पादि उनमें से अपनी योग्यता के अनुसार रूपका आकर्षण करते हैं। सूर्यको सप्ताश्व बताया हैं। किन्तु रोज सूर्योदय होता है तो न तो रथ दिखाई देता है न घोड़े माईक्रोस्कोप दूरबीनसें भी नहीं दीखता तब ये घोड़े क्या हैं? अश्व शब्दका रश्मि, रूप आदि भी अर्थ है। सातों रूप सूर्यके हैं। इसीलिये उसको सप्ताश्व कहा। वस्त्र लाल, पीला आदि होता है। पुष्प लाला पीला, काला होता है। कैसे? वे अपनी योग्यतानुसार सूर्यकिरणों को पकड़ते हैं अतः सूर्यादिका ही रूप है। चक्षु रूपग्राहक है। अतः चक्षु तेजसे उत्पन्न होता है। रसनेन्द्रियसे रस ग्रहण होता है। जल रसव्यञ्जक होता हैं। मुँहमें पानी हो तो सब रस प्रतीत होंगे। मुंह सूख गया तो कोई रस प्रतीत नहीं होगा। मुंहमें ज्यादा सत्तू डाला या पंजरी डाली तो जब तक मुंहके पानीसे वह भीगता नहीं तब तक रस प्रतीत नहीं होता। अतः जलका रस है, रसग्राहक रसना है।

वैसे गन्ध पृथिवीकी होती है। घ्राणसे गन्धग्रहण होता है। इस प्रकार इन इन्द्रियोंका मूल कारण आकाशादि है। इसी प्रकार वागिन्द्रियका मूल आकाश है। अर्थात् आकाशका राजस भाग है। पाणिका मूल वायु है। पादका मूल तेज है। उपस्थका मूल जल है और पायुका मूल पृथिवी है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियोंका मूल आकाशादिका सात्त्विक भाग तथा कर्मेन्द्रियोंका मूल आकाशादिका राजस भाग हुआ। तासम भागसे स्थूल पृथिवी आदिका जन्म है। किन्तु प्रकृतमें हमें इन्द्रियोंको लेकर ही विचार करना है।

अब यह विचार करो कि ये इन्द्रियां स्वतन्त्ररूपसे विषय ग्रहण करती है या परतन्त्ररूपसे? आंख खुली तो आप चाहो या न चाहो तो भी संमुख रूप दीखेगा। तुम चाहो या न चाहो श्रोत्र शब्दको सुनेगा। आप स्वनिन्दा नहीं सुनना चाहते, गाली नहीं सुनना चाहते तो क्या कोई गाली दें तो श्रोत्र ग्रहण न करें ऐसा होता है? नहीं होता। आप चाहो या न चाहो तो भी त्वगिन्द्रिय शीत उष्ण ग्रहण करेगा कि नहीं? करेगा। दुर्गन्ध आपको पसंद नहीं है। नाकको कहो दुर्गन्ध ग्रहण मत करो तो नासिका मानेगी? नहीं। आप इनमें विघ्न डाल सकते हैं। खराब दृश्य आया तो आंख बन्द कर सकते हैं। कठोर शब्द आया तो अंगुलिसे कान बंद कर सकते हैं। दुर्गन्धि आयी तो नाक पकड़ सकते हैं। किन्तु प्रतिबन्ध न डाला तो आपका कहना ये नहीं मान सकतीं। तब क्या ये सब इन्द्रियाँ सर्वथा स्वकार्यमें स्वतन्त्र हैं? नहीं। आप सो जाते हैं तो क्या कान सुनेंगे, आंखें देखेंगी। अन्य इन्द्रियां काम करेंगी? नहीं। तब यह निश्चित है इनका अन्तःप्रेरक कोई और है। फिर बोलते हैं-कान लगाकर सुनो, आंख खोलकर देखो। यह लगाने वाला खोलनेवाला कौन? वागादीन्द्रिय तो सुतरां परतंत्र है। हम बोलें तो बोलती हैं। जोरसे बोलें तो जोर से बोलती हैं। पांवको चलनेका आदेश दो। शक्ति दो तो ही चलता है। अतः निश्चित है अन्तःप्रेरक कोई और है। वह है परमात्मा। परमात्माने आकाशादिको बनाकर सात्त्विक तथा राजस अंशोंसे ज्ञानिन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां बनायी। फिर ज्ञानेनिन्द्रियोंमें अन्तःकरणके द्वारा ज्ञानशक्ति उतारी तथा प्राणके द्वारा कर्मेन्द्रियोंमें क्रियाशक्ति उतारी। इतनेसे भी नहीं। ऊपरसे पुनः प्रेरित

किया। यही तो केनोपनिषत् में कहा—"केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति"। ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियां तो बनार्यीं परंतु किसकी प्रेरणासे प्रेरित होकर ये काम करती हैं? इसके लिये "केनेषित पतति प्रेषितं" इस प्रकार इषितंकी आवृत्ति है। प्रेरण तथा प्रवर्तन दोनोंके लाभार्थ उभयपद है। परमेश्वरकी इच्छा ही प्रथम प्रेरण है। फिर आगे बढ़ाना प्रवर्तन है। अर्थात् शक्तिसंचारण कर आगे बढ़ाना प्रवर्तन है।

"योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।"

अखिल शक्तिधरः से चार शक्तियां मुख्यरूपसे विवक्षित हैं। ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति प्रथम हम बतला ही चुके हैं। तीसरी है इच्छाशक्ति प्रेरक होती है। हममें जब इच्छा होती है तब उठते बैठते चलते देखते हैं। इच्छा नहीं तो चुपचाप पड़े रहते हैं। अतः इच्छाशक्ति प्रेरक है। चौथी प्रवर्तन शक्ति हैं। यह भी शक्ति परमेश्वरकी है। इस बातका भी श्रुतियोंमें निर्देश किया है।

"एष एव साधु कर्म कारयति
यानेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति
एषउ ह्येवासाधु कर्म कारयति
यानधो निनीषति ।"

इस प्रकार श्रुतियोंमें कहा है। साधु कर्म हो या असाधु कर्म, सभी करने वाला परमात्मा है। वही प्रवर्तक है। गीतामें भी बताया है—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥"

सब प्राणियोंके हृदयमें बैठकर वही परमेश्वर अपनी माया से यन्त्रारूढ़ के समान सबको घुमाता फिराता है। और सत्कर्म दुष्कर्म कराता हैं। क्यों ऐसा? सत्कर्म ही सबसे क्यों नहीं कराता? पूर्वकर्म और पूर्ववासना जो मनमें बैठे हुए हैं। उस कर्म एवं वासनाको त्यागनेके लिये ही आगे-"तमेव शरणं गच्छ" इत्यादि बताया।

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत"

उस परमात्माको सर्वभाव से शरण जाओ। क्या सर्वभाव है? कैसा सर्वभाव है? कैसी शरणागति है?

प्रथम प्रश्न उठा था यहीं बोध प्राप्त करनेके लिये ही प्रयत्न करें तो संसार कैसे चलेगा? उत्तर है बोध प्राप्त करनेके लिये सर्ववस्तुका स्वरूपतः त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसके लिये भगवानने दो बातें पूर्वोक्त प्रसंगके पहले बतायी। एक यह है–

"सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः"

मेरे आश्रयमें रहते हुए सब कर्म करते जाओ। तब त्यागकी बात कैसी है?

"चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः"

किये हुए सभी कर्मों को भगवानके लिये संन्यस्त करना है, छोड़ना है। किये हुए कर्म कैसे छोड़े जा सकते हैं? कैसे समर्पण कर सकते हैं? वह तो साथ जुड़ गया। कर्म पुण्यपापसे परिणत हो गया और गुण होनेसे आत्माके साथ, अन्तःकरण के साथ समवेत हो गया। समवेतका अन्यत्र समर्पण असंभव है। इसका उत्तर उत्तरार्धमें दिया–

"बुद्धियोगमुपाश्रित्य"

बुद्धियोगका उपाश्रयण कर परमेश्वरमें समर्पित करो। बुद्धियोग पदसे लगता है कि अबुद्धिसे स्वसमवेत हुआ और बुद्धिसे परसमवेत हो जाएगा। अर्थात् स्वसमवेतत्वकी भ्रान्ति है। उसे परसमवेतत्वेन जानना है। क्यों स्वसमवेतत्वेन जानना भ्रम है? इसका उत्तर है "ईश्वरः.... भ्रामयन्। इस भ्रमका निवारण ही "तमेव शरणं गच्छन्" से बताया। अतः यह शरणगमन क्या है यह विशेषरूपसे जानना होगा। और "यत्करोषि यदश्नासि..... तत्कुरुष्व मदर्पणम्"। यह समर्पण क्या है यह भी जानना चाहिये।

एक राजा शत्रुराजासे युद्ध करने लगा। राजा केवल निर्देशन मात्र दे रहा है। आदेश दे रहा है। लड़ रही है सेना। उस युद्धमें यदि सेना जीत गयी तो किसकी जीत हुई। सेनाकी जीत या राजाकी जीत? राजाकी जीत ही मानी जाती है और सेना हार गयी तो हार किसकी? सेनाकी या राजाकी? राजाकी। क्यों? शत्रुराजाने सैनिकोंको बंदी बनाया। बादमें इस

राजाको भी बंदी बनाकर उसके सिंहासनपर बैठ गये। सैनिक अच्छे रहे तो अपनी सेनामें उनको जोड़ दिया। वे पहले सैनिक थे। अब भी सैनिक रहे। क्या फरक पड़ा? कर्मफल मालिकपर ही आता है। इसी प्रकार परम मालिक परमात्माने हमसे कर्म कराया। उसका फल मालिकके पास ही पहुंचना चाहिये। स्वर्ग नरक जो भी हो सब परमात्माके पास ही जाना चाहिये। किन्तु बीचमें हमने उसे पकड़ा। मैंने किया, मैं कर्ता हूं, अतः भोक्ता भी मैं हूं, इस अंहकार एवं कर्तृ भोक्तृभावसे जीवात्मा कर्ताभोक्ता बना। तो क्या परमात्मा कर्ता भोक्ता बनता? नहीं वहां तो ज्ञानाग्नि जल रही है। "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते"। अहंकार ही जलसेचक है। वही उसे हराभरा रखता है। इस प्रकार सर्वसमर्पण होता है। भोक्तृत्वत्याग होनेसे फलसमर्पण होता है। कर्तृत्वत्यागसे कर्मसमर्पण होता है। स्वयं कर्तृ भोक्तृरहित हो गया तो पृथक् सत्ता भी समाप्त हो जाती है। यही सत्ताविशरण शरणागति है। शरणागतिको "तमेव शरणं गच्छ" बताया। उससे पूर्व कर्तृभोक्तृभाव त्याग ही "सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः" से बताया। "मद्व्यपाश्रयः" का अर्थ है भगवन्निष्ठकर्त्रादिभावनाकः।

इस प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रिय, उनके मूल आकाशादि सत्त्वगुण, उनके मूल प्रकृतिस्पन्दन एवं तदाश्रय आत्माका अवलोकन करो तथा इन्द्रिय, श्रोत्रादि तथा वागादि उनका मूल ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति, उन शक्तियोंके ग्राहक अन्तःकरण और प्राण और मूलशक्तिरूपसे ब्रह्मका अवलोकन करो। प्रत्येक श्रवणादिके कारकरूपमें और साधु-असाधु कर्मकारकके रूपमें परमात्माका निरीक्षण करो। इस रीति ये इन्द्रियां परमात्माकी गमक है। इस प्रकार की व्युत्पत्ति महर्षि पाणिनिने की।

"इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा ।

इन्द्र परमात्माको कहते हैं। इदि परमैश्वर्ये ऐसा धातुपाठ है। परमैश्वर्य यह भावप्रत्यय है। मूल है परम ईश्वर-परमेश्वर। देवेन्द्र, भूपेन्द्र इत्यादिमें लाक्षणिक है। इस इन्द्रके लिङ्गअनुमापकः होनेसे इन्द्रिय कहा जाता है। ये इन्द्रियां-इन्द्र परमात्माके द्वारा दृष्ट हैं, ईक्षित हैं। ज्ञानशक्तिसंयोजित हैं। इन्द्रसृष्ट है। परमात्माने इनको बनाया–

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च"

ये सब परमात्मासे ही उत्पन्न हैं। परमात्मा इन सबमें रहकर इनका सेवन करता है। "य एषोऽक्षन् पुरुषः" इत्यादिसे यह अवगत होता है। अक्ष आंखको भी कहते हैं और समस्त इन्द्रियोंको भी। प्रत्यक्ष शब्दमें अक्षका सभी इन्द्रिय अर्थ है। उपासनार्थ आंखको विशेष रूपसे लेते हैं सो अलग बात है।

"इन्द्रियाणां पृथग्भावम्" इत्यादिका यह भी अभिप्राय है कि इन इन्द्रियोंने आकाशादिसे उत्पन्न होकर अपना-अपना अलग-अलग भाव बना लिया। एक ही ब्रह्मको नानारूपसे अनुभव किया। घ्राणेन्द्रिय अपने स्पन्दनसे गन्धरूप बनाकर सूंघने लगी। रसनेन्द्रिय अपने स्पन्धनसे रसरूप बनाकर स्वाद लेने लगी। चक्षुरिन्द्रिय अपने स्पन्दनसे रूप बनाकर देखने लगी। त्वगिन्द्रिय अपने स्पन्दनसे स्पर्श बनाकर छूने लगी। श्रोत्रेन्द्रिय अपने स्पन्दनसे शब्द बनाकर सुनने लगी। वस्तुतः तत्त्वं एक ही है। इन्द्रियोंसे पृथग् भाव हो गया।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियोंसे उत्तम मन है। मनसे सत्त्व उत्तम है। सत्त्वके ऊपर महत्तत्त्व है। महत्तत्त्वसे ऊपर अव्यक्त है ॥ ७ ॥

यहीं ब्रह्मदर्शन करना है। उसके उपाय के रूपमें इन्द्रियोंके पृथग्भावादिपर विचार किया। ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति एवं विलय उसी आत्मासे है। उनमें ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति ब्रह्मसे ही प्राप्त है। शब्दस्पर्शादिका जो अनुभव हो रहा है वह अनुभव कैसा है? देखा तो मालूम पड़ा कि वह ब्रह्मचैतन्य है। वागादि जो प्रवृत्त हो रही है वह किस प्रकार? इनमें स्फूर्ति कहांसे आयी? वह ब्रह्मकी ही क्रियाशक्ति है। इसका मनन करनेपर ब्रह्मानुभव होता है तो धीर पुरुष शोकसंसार-सागर पार करता है। क्योंकि इन्द्रियादिकी अनित्यतासे शोकादि होता हैं। नित्य आत्माके जाननेपर वह दूर होता है। वह बताया। अब मनको लेकर ब्रह्मानुभव कहने जा रहा है।

इन्द्रियेभ्यः पर मनः। आकाशादिके सात्त्विक पांच अंशों से व्यष्टिरूपसे पांच ज्ञानेन्द्रियां हो गयीं और आकाशादिके पांच राजस अंशोंसे व्यष्टिरूपसे पांच कर्मेन्द्रियां हुईं व्यष्टि क्यों कहते हैं? इसलिये कि श्रोत्रसे केवल शब्दका ही ज्ञान होगा। स्पर्शादिका नहीं एवं त्वगादिसे स्पर्शादिका ही ज्ञान होगा, अन्योंका नहीं। इसी प्रकार वागिन्द्रियसे शब्दका ही उच्चारण होता है। हाथका काम पांवसे नहीं, पांवका काम हाथ से नहीं। इन्हीं सात्त्विक अंशोंकी समष्टि से मन उत्पन्न होता है और समष्टि राजस अंशोंसे प्राण उत्पन्न होते हैं। सात्त्विकसमष्टिः ज्ञानशक्तिका ग्राहक है और राजससमष्टि क्रियाशक्तिका ग्राहक है। वस्तुतः दोनों मिलकर एक ही तत्त्व होता है। वह अन्तःकरण है। उसके दो भागमात्र ये दो हैं। एक स्वच्छ भाग है, दूसरा अस्वच्छ भाग है। यह आगे स्पष्ट करेंगे। इस मनका बना हुआ सारा संसार है। श्रीमद्गौडपादाचार्य कहते हैं—

"मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥"

जो भी चराचर संसार दीख रहा है यह मनःसृष्ट है। मनोजन्य है। मन जहां अमन हो गया वहां द्वैत गायब हो जाता है। यह कैसे? इसे दृष्टान्तसे समझाया—

"अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥"

जब सो गये कमरेमें और आंख बंद कर लिया तो उन आंखोंके अंदर कोई द्वैत रहता है? आंखोंमें हाथी, घोड़ा, पर्वतादि द्वैत रहते हैं? नहीं आंख बंद है तो इन वस्तुओं की परछायीं भी वहां नहीं हो सकती। फिर भी सपनेमें पूरा संसार दिखाई पड़ता है। हाथी, घोड़ा, पर्वत, सूर्य, चन्द्रादि सभी दीखने लगते हैं। तो ये सब कहांसे आये? और कैसे दीखे? कहना होगा कि मन ही द्वयाभास हुआ। मनकृत कल्पनासे द्वैत प्रपञ्च दीख पड़ा। मानस संस्कार ही विश्वाकारसे विस्तरित हुआ। संस्कार यह विस्तारण-एनलार्जिंग है। वैसे यह जाग्रत संसार भी मनोविस्तार मात्र है। मनो निर्माण है। सकल चराचर मनोदृश्य है।

पूर्वपक्ष होता है कि स्वप्नमें जो दीखता है वह मिथ्या है। किन्तु जाग्रतमें जो दीखता है, वह मिथ्या नहीं है। वेदान्तवाले भले मिथ्या कहें। किन्तु अनुभवमें मिथ्या नहीं आता। अतः स्वप्न जगत् की अपेक्षा जाग्रत जगत् विलक्षण है। स्वप्नमें मनके सिवाय और कुछ नहीं था अतः मनने सब बनाया। किन्तु जाग्रतमें कार्यकारणभाव है। मृत्तिकासे घट बनेगा। मनसे नहीं बनता। धागोंसे वस्त्र बनता है। मनसे नहीं बनता। इस पूर्वपक्षपर हमारा कहना यह है कि स्वप्नपदार्थ मिथ्या क्यों है? इसलिये कि वह मिथ्या समझमें आता है। किन्तु कब? जाग्रतमें। स्वप्न देखते समय तो उसे सत्य ही समझते हैं। स्वप्नमें सांप दीख पड़ा तो डरके मारे भागते हैं। क्या झूठा समझकर? नहीं, सत्य समझकर ही। सपनेमें जेब में हजार रूपये हैं। चोरोंसे डर रहे हैं। क्या झूठा समझकर? नहीं। सपनेमें किसी भिखारीने हजार मांगा तो दे देंगे क्या? नहीं। यदि झूठा समझते तो देनेमें क्या हर्जा था? स्वप्न देखते समय तो स्वाप्नार्थ सत्य ही देखते हैं। जाग्रतमें उसका बाध होता है। उसको मिथ्या समझते हैं। अब आईये जाग्रतमें। जाग्रद्वस्तु सत्य दीखती है जब उसे देखते हैं। किन्तु इसका भी अगर बाध हो जाय तो? मिथ्या मानोगे कि नहीं? कहोगे कि जाग्रत वंस्तुका बाध नहीं होता। किन्तु गलत। इसका भी बाध होता है। श्रुति इस जाग्रत को भी स्वप्न बतलाती है।

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"

उठो जागो। क्या यह श्रुति विस्तरे पर सोये खर्राटा मारनेवाले व्यक्ति के प्रति कह रही है? वह तो सोया है। इस श्रुतिको सुनेगा नहीं। जो सुनेगा वह सोया नहीं। तब किस लक्ष्यको लेकर यह श्रुति बोल रही है। यह तो निश्चित ही है कि सुननेवालोंको लक्षित कर ही श्रुति बोल रही है। तब सुननेवाले ही सोये हुए हैं यह श्रुतिका अभिप्राय हुआ। अर्थात् यह जाग्रत् श्रुतिकी दृष्टि में स्वप्न ही है। स्वप्न है का और कोई अर्थ नहीं हो सकता। प्रसिद्ध स्वप्न यह नहीं है। अतः बाधितार्थत्वेन रूपेण स्वप्न है यही तात्पर्यार्थ होगा। जब इसमें भी ऊपर जगेंगे तब मालूम पड़ेगा कि यह जो जाग्रद् दृश्य था वह भी मिथ्या था। मनोजन्य था।

किन्तु यह संसार किसके मनसे उत्पन्न हुआ? आपके मनसे या मेरे मनसे? आपके मनसे जो हुआ उसे मैं कैसे देखूंगा? मेरे मनसे जो पैदा हुआ उसे आप कैसे देखेंगे? सबके मनसे तो पैदा होता नहीं। स्वप्नमें तो ठीक है। मेरे मनसे समस्त स्वाप्न प्रपञ्च हुआ। किन्तु जाग्रत प्रपञ्चको मैं कहूं मेरे मनसे पैदा हुआ तो आप कहेंगे नहीं मेरे मनसे। अतः जाग्रत और स्वप्नमें फरक आया। दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य आ गया। नहीं। वैषम्य नहीं। आप स्वप्न देख रहे हैं मान लो। ऐसी सत्संग चर्चा चल रही थी। दिल्लीमें सत्संग हॉलमें बैठकर चर्चा कर रहे हैं। तब उस स्वप्न जगत् को बनाने वाला कौन? स्वप्न दृष्टा मैं? नहीं। स्वप्नमें आपने अपना भी एक नया शरीर बनाया है। क्योंकि असल शरीर बंबईमें लेटा है। मिथ्या शरीरेन्द्रियादि दिल्लीमें है। वह स्वप्नार्थदृष्टा नहीं है। क्योंकि वहां बैठे हुए अन्य सब भी समानसत्ता वाले हैं वे भी कह सकते हैं हमने बनाया। वस्तुतः सोने जो गया जाग्रत शरीरोपाधिक वही स्वप्न 'जगत्स्रष्टा है। और वह स्वप्न जगत् के प्रत्येक व्यक्ति क्या प्रत्येक वस्तुमें रग-रगमें भरा है। क्योंकि जो सोने गया उसीके अंदर सारा स्वप्नजगत् है। स्वप्नमें जितने व्यष्टि हैं उसका वह समष्टि है। इसी प्रकार जो जाग्रत् प्रपञ्च बनाने जा रहा रहा था। उसका मन जाग्रत्प्रपञ्चनिर्माता है। वह है समष्टि चैतन्य हिरण्यगर्भ। हिरण्यगर्भने अपने मनसे स्वप्नमें यह बनाया। हिरण्यगर्भ भी सोते हैं कि नहीं? सोते हैं।

'सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥'

हमारा मन व्यष्टि मन है। हिरण्यगर्भका मन समष्टि मन माया है। अतएव समष्टि मन निर्मित होनेसे आपके मनसे बना या मेरे मनसे बना यह विवाद नहीं उठता। इतना ही फरक है कि हिरण्यगर्भरूप समष्टिकी दो ही अवस्थाएं हैं। सुषुप्ति और जाग्रत। या उसी जाग्रत को स्वप्न कह लो। सुषुप्तिमें प्रलय होता है। जाग्रतमें सृष्टि होती है।

'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥'

सृष्टिकालमें-ब्रह्माजीके दिनमें प्रलीन सभी वस्तुए प्रादुर्भूत होती है और रात्रि में प्रलय कालमें वहीं सब प्रलीन होती है। हम सो जाते हैं तो हमारा भी मन जीवसृष्टिके साथ प्रलीन होता है और दिनमें पुनरुद्भूत होता है। अतः यह भी प्रलय ही है। हमारी सुषुप्ति रूपी प्रलय को नित्य प्रलय कहते हैं और ब्रह्माजीकी सुषुप्तिरूपी प्रलयको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। हमारी सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत ऐसी तीन अवस्थायें होती हैं। यह भी विशेषता है। किन्तु गौड़पादाचार्यने तो दो ही अवस्था मानी। जाग्रत और स्वप्न मिलाकर एक अवस्था मानी। अतः दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक बराबर है। इस बात को श्रीमद्भागवतमें भी एकादशस्कन्धमें स्पष्ट किया है-

"यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥"

मन, वाणी, आंख, कान आदिसे जो भी कुछ हम अनुभव करते हैं यह मायामनोमय है। माया रूपी मन है। समष्टि हिरण्यगर्भका मन माया ही है। मायामयं मनोमयं च ऐसा अर्थ करनेपर समष्टिसृष्टि मायामय है। हमारी व्यष्टिसृष्टि मनोमय है। व्यष्टिसृष्टि चक्षुरादिसे कल्पित शुक्तिरजतादि मनोमय है। मनोजन्य भी मनोमय है। अर्थात् जीवसृष्टिरूपी शत्रुमित्रादि मनोमय हैं। क्योंकि ये सभी नश्वर हैं।

अब इसकी प्रक्रिया देखो। लोगोंका ख्याल है कि शुक्तिरजतादि मिथ्या है किन्तु आपणरजतादि सत्य है। स्वप्न जगत् मिथ्या है। जग्रत् जगत् सत्य है। क्यों? शुक्तिरजतादि एवं स्वाप्न गजादिको हमने अपने मनसे बनाया। आपणरजतादि एवं वन्य गजादिको नहीं। उसको किसने बनाया? परमेश्वरने। किससे बनाया? कैसे बनाया? यहां पुष्पदन्ताचार्योक्त सभी प्रश्न सामने आयेंगे।

"किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ॥"

परमात्माने जगत् बनाया तो कहां बैठकर त्रिभुवन बनाया? वैकुंठमें बैठकर? तो उस वैकुण्ठको कहां बैठकर बनाया? किसीने कहा-वैकुण्ठ हमेशा रहता है। उसकी उत्पत्ति आदि नहीं है। किन्तु श्रीमद्भागवतमें

पंचम मन्वन्तरमें शुभ्रकी पत्नी विकुण्ठासे वैकुण्ठ भगवानका अवतार बताकर कहा—

"तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम्।
वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः॥"

अर्थात् वैकुण्ठ नामक भगवानने वैकुण्ठ लोक बनाया। जगत् को बनाने के लिये हाथपांव आदि शरीर चाहिये। उस शरीरको किसने कैसे बनाया? एक मकान बनानेके लिये ईंट, लोहा, सिमेंट, थापी आदि हजारों साधन उपाय चाहिये। उनको बनानेके लिये अलग अलग कारखाने होते हैं। तो जगत्सर्जनोपकरणको किन उपकरणोंसे बनाया। सबसे अधिक आवश्यक उपादान कारण है। जगत् को किन उपादानोंसे बनाया? परमाणुओंसे बनाया तो परमाणुओंको किस उपादानसे बनाया। उनको नहीं बनाया तो जगत्स्रष्टा किस प्रकार? इन सब प्रश्नोंका एक ही उत्तर है कि परमात्माने विना आधार, विना उपकरण, विना शरीर और विना उपादान कारण अपने संकल्पसे ही जगत् को बनाया। अपने ईक्षणसे जगत् को बनाया। "धाता यथापूर्वमकल्पयत्"। इस श्रुतिमें संकल्पसे जगन्निर्माण बताया। "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादिमें ईक्षणसे सृष्टि बताया। संकल्प कल्पनाको ही कहते हैं। उसमें एक सं उपसर्ग आदरार्थ है। क्योंकि बड़ों को बोलनेके लिये शब्द भी विशिष्ट होना चाहिये। साधारण लोगोंको कह देते हैं-आओ। बड़ों को कहेंगे-पधारो। साधारणको मिस्टर कहते हैं। बड़ों को हिज होलिनेस कहते हैं। हम लोगोंकी कल्पना है। परमात्माकी कल्पनासे उत्पन्न व्यावहारिक होता है। परमात्मा अपनी संकल्पशक्तिसे पारमार्थिक क्यों नहीं उत्पन्न करता है? कल्पनासे उत्पन्न करे और पारमार्थिक भी हो यह तो वदतोव्याघात है और जो पारमार्थिक होगा वह उत्पन्न ही नहीं होगा। असतसद्भाव। उत्पत्ति है। पारमार्थिक पहले असत् रहे यह किस प्रकार? ईक्षणसृष्टको ही हम दृष्टिसृष्टि कहते हैं परंतु फिर भी हम इसे मिथ्या कैसे समझे? इसका बाध नहीं होता है। व्यावहारिक दशामें नहीं होगा। स्वप्नका स्वप्नमें बाध नहीं होगा। जाग्रतमें बाध होगा। वैसे जाग्रत जगत् का जाग्रतमें बाध नहीं होगा। स्वप्नका स्वप्नमें बाध नहीं होगा। जाग्रतमें बाध होगा। वैसे जाग्रत जगत् का

जाग्रतमें बाध नहीं होगा। किन्तु परम जाग्रतमें बाध होगा। जिसको 'उत्तिष्ठत, जाग्रत' से बताया वह परम जाग्रत है। परम जाग्रत अवस्था कौनसी है? इसे योगवासिष्ठमें बताया है। सुषुप्ति, स्वप्नसुषुप्ति, स्वप्न स्वप्न, स्वप्न जाग्रत, जाग्रतसुषुप्ति, जाग्रतस्वप्न, जाग्रज्जाग्रत इत्यादि। विभाजन वहां बताया है। और आपको मोटी तौरसे समझना हो तो समाधिको परमजाग्रत कहते हैं। अस्तु।

हम स्वप्न देखते हैं या रज्जुसर्प देखते हैं तो कैसे होता है? अपने अंदर मनमें सारे संस्कार बैठे होते हैं। उन संस्कारोंका विस्तारण रज्जुसर्प और स्वप्न प्रपञ्च है। वही कल्पना है। किन्तु उसमें भी जो हम चाहें वही नहीं दीखता। हम सपनेमें इन्द्रभवनमें बैठना चाहते हैं तो कल्पना करके बना सकते हैं क्या? इन्द्रभवन तो दूर, अपना भवन भी नहीं, भूतभवन कभी कभी दिखाई पड़ता है। अतः केवल संस्कार वासना ही कारण नहीं, कुछ कर्म भी कारण है। इसी प्रकार परमेश्वर जगत्कल्पना करता है तो मायास्थित वासना और प्राणियोंका कर्म दोनों कारण हैं। इस प्रकार वासनानुसार परमेश्वरकल्पित जगत् सर्वव्यष्टिसाधारण होनेसे व्यावहारिक है। जीवकल्पित अपने देखने भरके लिये है। अतः प्रातिभासिक है। रातको नोटों का सपना देखा तो वह व्यवहारमें नहीं आयेगा। हां, समान कल्पना हो तो व्यवहार चलेगा। जैसे नोटको रूपया कहते हैं किन्तु वह कल्पना जीव कल्पना है। रूप्य चांदी को कहते हैं। नोट तो कागज है। गवर्न्मेन्टने केन्सल किया तो हजारका नोट दस पैसेका भी नहीं रहेगा। कुछ साल पहेल हजारका नोट केन्सल किया तो भगदड़ मच गयी थी। वह कल्पना है। किन्तु समानकल्पना होनेसे व्यवहार चलता था। सरकारके आदेशसे कल्पना होनेसे प्रातिभासिक होनेपर भी व्यावहारिक हो गया। वैसे ब्रह्माजीकी कल्पना होनेपर समस्त व्यष्टिसाधारण होनेसे व्यावहारिक हो गया। यदि कल्पनामात्र है तो व्यवहार भी कैसे? नोटको रूप्य मान लिया तो क्या उस रूप्यको गलाकर कटोरी गलास बना सकते हैं? वैसे ब्रह्माकल्पित अन्नादिसे क्यों भूख मिटती? उत्तर है भूख भी ब्रह्माकल्पित है। अन्नसे मिट जाती है। स्वप्नका रोग स्वप्न की दवासे मिट जाता है।

इसके लिये विचारसागरमें एक राजाकी कहानी ही लिख डाली है। तात्पर्य यही कि समानसत्तावाला होनेपर साधक-बाधक सब बन जाता है। फलतः श्रीमद्भागवतमें "विद्धि मायामनोमयम्" जो बताया वही परमसिद्धान्त है। मायामयं, मनोमयं, मायारूपं यन्मनस्तन्मयम् ये तीनों विग्रह संभव हैं। मनोमयं कहनेसे प्रायः प्रातिभासिक ही आता है। किन्तु कहीं-कहीं व्यावहारिक भी होता है। जैसे शत्रु, मित्र, मान, अपमान आदि मनोमय हैं। माना तो शत्रु, माना तो मित्र। मान अपमान आदि माननेकी बात है। लोग छोटा काम करनेमें अपमान समझते हैं। यह समझने मात्रकी बात है। गांधीजीकी एक कथा आती है। अंग्रेजोंके जमानेमें कुमारप्पा एक बड़ा भारी आफिसर था। गांधीजीके विशाल कार्यक्रमोंसे प्रभावित होकर एकबार उनसे मिलना चाहा। गांधीजीने तारीख दी और समय सायं चार बजनेका दिया। कुमारप्पाकी विशेष जिज्ञासा होनेसे वह साढ़े तीन बजे पहुंचा। किन्तु उस समय मकानमें झाड़ू लग रही थी। एक बूढ़े से जिसने सिरपर गमछा बांधा था पूछा-गांधीजी कहां है? उस बूढ़ेने पूछा-आप कौन हैं, क्या काम है? कुमारप्पाने सोचा गांधीजीने इतनी स्वतन्त्रता दे रखी है कि नौकर भी अफसर जैसी बात करता है। कुमारप्पाने कहा मुझे गांधीजीने आज चार बजेका समय दिया है। उस बूढ़ेने कहा-अभी साढ़े तीन बजे हैं। आप बैठ जाईये। कुमारप्पाने कहा-खैर, मैं बैठता हूं, आप जाकर बोल तो दें कि कुमारप्पा मिलने आये हैं। बूढ़ेने कहा-आप चिन्ता न करें। ठीक समयपर वे आपसे मिलेंगे। इतना कहकर वह अपना काम करने लगा। कुमारप्पा अंदर गद्दीपर जा बैठा। सोचने लगा कि ठीक नौकरोंको आजादी देना चाहिये किन्तु शिष्टाचार भी सिखाना आवश्यक था। चार बजेमें एक मिनिट बाकी रहा तो काम पूरा कर झाड़ू छोड़ दिया। हाथमुहं धोया। पोंछा, इतनेमें चारका टकोरा बजा। गांधीजी अंदर आये। बोले-आप सकुशल हैं? मुझे ही लोग गांधीजी कहते हैं। कैसे आये? कुमारप्पा तो पांच मिनिट गांधीजीका मुहं देखते ही रह गये। तात्पर्य यही कि मान-अपमान आदि अपनी कल्पनाकी बात है।

मन भी इस प्रकार सृष्टि करता है तो उसी परमात्मासे ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति पाकर ही। "तदैक्षत" "यथापूर्वमकल्पयत" इत्यादि ईक्षण एवं

कल्पना चैतन्यके बिना संभव नहीं हैं। मनोवृत्तियोंमें चैतन्य प्रतिबिम्बके पड़नेपर ही ईक्षण या कल्पना होता है यहां पर भी। "इन्द्रियाणां पृथग्भावं" जैसें ही मनसः पृथग् भावमुदयास्तमयो इत्यादि समान है।

मनसः सत्त्वमुत्तमम्। ब्रह्मबोधका दूसरा उपाय बताया—इन्द्रियेभ्यः परं मनः। समष्टि श्रोत्रने शब्द बनाया। व्यष्टिने सुना। समष्टि त्वगिन्द्रियने स्पर्श बनाया। व्यष्टिने देखा। समष्टि रसनाने रस बनाया, व्यष्टिने अनुभव किया। समष्टि घ्राणने गन्ध बनाया, व्यष्टिने अनुभव किया। ब्रह्ममें समष्टिकी कल्पना है। व्यष्टिका अनुभव करना है। उन इन्द्रियोंसे मन उत्तम है। वह शब्दस्पर्शादि समग्र विषयोंको एक साथ से कल्पना करता है। और इन्द्रियोंके संमुख उपस्थित करता है तब इन्द्रियां पृथक् पृथक् शब्दादि कल्पना करती है। तब शब्दादि का अनुभव कर मनके पास भेजती है और मन उन्हीं रूपोंमें संकल्पविकल्प करता है। मूलतत्त्व तो चैतन्य है।

अब मंनसे आगे बढ़ो। तब हम बुद्धिमें पहुंचेंगे यहां पर बुद्धिको ही सत्त्व शब्दसे कहा। क्यों बदला? मनसा बुद्धिरुत्तमा ऐसा कह सकते थे। पहले "मनसस्तु परा बुद्धिः" ऐसा कहा भी है। इसका कारण पूर्वमें अन्य प्रक्रियासे समझाया। यह दूसरी प्रक्रिया है। पहले "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः" इस प्रकार बीचमें अर्थको रखा। यहां नहीं रखा। क्योंकि यहां ज्ञानप्रकारसे चल रहे हैं। इन्द्रियां ज्ञानसाधन है। मन भी ज्ञानसाधन है। अर्थ तो तामस है। ज्ञानसाधन नहीं है। इसी प्रकार बुद्धि दो प्रकारकी है। जिनमें एक ज्ञान साधन है, दूसरी नहीं। अतः ज्ञानसाधन ग्रहणार्थ सत्त्वशब्देसे कहा।

"अध्य वसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विरा ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥"

इस प्रकार सांख्यकारिकामें बताया है। निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। उसके दो विभाग हैं। सात्त्विक और तामस। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य सात्त्विकरूप हैं और इसके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य तामसरूप है। बीचमें राजस क्यों छोड़ दिया? बोले कि उसे मनके लिये छाड़े दिया क्योंकि मन चञ्चल होता है तो प्रायः राजस ही

रहता है। अस्तु। बुद्धिके सात्त्विक तथा तामस दो रूपोंमें सात्त्विकरूप ही ब्रह्मबोधमें उपयुक्त है। इसलिये यहां मनसो बुद्धिरुत्तमा न कहकर 'मनसः सत्त्वमुत्तमम्' बताया। अर्थात् सात्त्विक रूप ब्रह्मबोधार्थ उत्तम है।

बुद्धिका एक सत्त्वात्मक भाव धर्म है। धर्मको सुखका साधन बताया है। परंतु धर्म और सुखका क्या सम्बन्ध है जिससे कि वह सुखसाधन बना? मृत्तिका घटका कारण है क्योंकि घट मृत्तिकामय है। पट तन्तुमय है। किन्तु सुख और धर्मका क्या सम्बन्ध है? धर्म तो यज्ञयागादि क्रिया है। 'यागादिरेव धर्मः' ऐसा वचन प्रसिद्ध है। यागादिजन्य अदृष्ट धर्म है ऐसा माना जाय तो भी धर्मका और अदृष्ट का क्या सम्बन्ध है? बल्कि अदृष्ट भी यागादि क्रियाका सूक्ष्मरूप ही है। वह सूक्ष्म अप् स्वरूप होकर यजमानको परिवेष्टित करता है।

'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।'

इस व्याससूत्रसे निश्चित होता है कि अप्प्रधान यज्ञादि कर्मके सूक्ष्म अबंश (जलाँश) से वेष्टित होकर यजमान सोमलोकादि जाता है। तब प्रश्न यह रह जाता है कि चाहे यज्ञरूप हो, चाहे अप्रूप हो, चाहे अदृष्टरूप हो धर्म, उसका सुखके साथ कैसा सम्बन्ध हैं? कैसा कार्य-कारणभाव है? उत्तर यही है कि धर्म सत्त्वोत्पन्न होनेसे स्वच्छ होता है। उसमें ब्रह्मका आनन्द प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी योग्यता है। जलरूप हो तो सुतरां प्रतिबिम्बग्राहकता होगी। यह बीज हुआ। उस बीजसे बना हुआ सोमलोकीय अम्मय शरीर भी विस्तारितरूप होनेसे स्पष्ट सुखग्राहक होगा। और उस धर्मनिर्मित ऐहिक अन्तःकरणमें भी धर्मांशप्रादुर्भाव जब-जब होता है तब-तब सुखानुभूति होती है।

यह धर्म सत्य है या झूठा? धर्मको मिथ्या कैसे कहेंगे? हम कपट-धर्मकी बात नहीं कह रहे। यहां मिथ्या है या नहीं का अर्थ है—पारमार्थिक है या नहीं। मिथ्या धर्म सुनते समय कपटधर्म ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। यह तो मिथ्या शब्दके पारिभाषिक अर्थपर दृष्टि न जानेसे होता है। धर्म पारमार्थिक है या नहीं? ऐसा प्रश्न अच्छा रहेगा। ब्रह्मके समान वह पारमार्थिक नहीं है क्यों? वह उत्पत्तिविनाशशाली है। उत्पत्तिका अर्थ है—पहले नहीं था और बादमें हुआ। नाशका अर्थ है पहले था, बादमें नहीं

रहा। धर्म उत्पत्तिवाला है या नहीं? अवश्य उत्पत्तिवाला है। क्योंकि यज्ञादि करनेसे पूर्व यज्ञीयधर्म नहीं था। यज्ञ करनेपर धर्म उत्पन्न हुआ। पहले नहीं था अर्थात् असत् था। बादमें हुआ—सत् हो गया। किन्तु भगवान् कहते हैं—"नासतो विद्यते भावः"। असत् कैसे सत् होगा। आकाश-कमल असत् है। वह कभी सत् नहीं होगा। असत् सत् दोनों विरुद्ध हैं। तब धर्म उत्पन्न हुआ तो प्रथम असत् और बादमें सत् हुआ तो वह पारमार्थिक सत् नहीं हो सकता। नाशका अर्थ भी ऐसा ही है। पहले सत् बादमें असत्। इसपर भी भगवान् कहते हैं—"नाभावो विद्यते सतः"। असत् सत् नहीं हो सकता। तो सत् असत् भी नहीं हो सकता। धर्मका नाश होता है।

"कर्मनाशाजलस्पर्शात्करतोयातिलङ्घनात्।
गण्डकीबाहुतरणाद् धर्मः क्षरति कीर्तनात्॥"

कर्मनाशा एक नदी है। उसके जलको छू लो तो धर्म नष्ट होगा। उससे कुछ कम करतोया है। करतोया नदीको पार करो तो धर्म नष्ट होगा। उससे और थोड़ा कम गण्डकी है। गण्डकीको तैरकर पार करो (नाव आदिसे नहीं) तो धर्म नष्ट होगा। नाश सत्का असत् भाव है। वह भी स्वरूपतः विरुद्ध है। अतः धर्म पारमार्थिक सत् नहीं है। पारमार्थिक सत् होता तो स्वयं सुखरूप होता। अतएव भागवतमें "नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्" बताया। नश्वर है अतः मायामय है। अतः उसके मूलकी ओर चलो। धर्ममें सुख है। सुखका मूल ब्रह्म है। इसप्रकार धर्ममें मूलतया ब्रह्मदर्शन करो।

दूसरा सत्त्व है ज्ञान। ज्ञानसे वस्तुप्रकाश होता है। वस्तुस्फुरण होता है। यहां भी पूर्ववत् प्रश्न है। ज्ञान चित्तका एक धर्म है। एक वृत्ति है। उससे वस्तुका स्फुरण कैसे हो? चित्त अंदर है। वस्तु बाहर है। उत्तर भी समान है। चित्तवृत्तिरूपी ज्ञानमें ब्रह्मके चिदंशका प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी योग्यता है। ब्रह्मका चिदंश स्फुरणरूप है। चित्तवृत्ति घटाकार हुई तो ब्रह्म-स्फुरणं प्रतिबिम्ब उसमें पड़ा तो तद्विशिष्ट घटादि स्फुरित होने लगते हैं। आंख खोली तो सारा विश्व स्फुरित हुआ। विश्वव्यापक चित्तवृत्तिमें

विश्वव्यापक स्फुरणप्रतिबिम्ब हुआ था। उस प्रतिबिम्बसे मूलकी ओर बढ़ो। तो मूल ब्रह्मको समझनेमें समर्थ हो जाओगे। तीसरा सत्त्व वैराग्य है।

"वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।"

वैराग्यसे प्रकृतिलय होता है। वैसे तो अज्ञानपूर्वक वैराग्यसे प्रकृति महत्तत्त्वादिलय होता है। ज्ञानसहित हो तो ज्ञानसे ही मोक्ष होगा, वैराग्य व्यर्थ हो जायेगा। तथापि 'इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः' इत्यादिमें बतायी हुई प्रकृतिस्थिति सामान्यतः वैराग्यका प्रयोजन है। राग चञ्चलता का कारण है। वैराग्य स्वरूपस्थितिमें कारण है। वैसे तो पातञ्जलमें परवैराग्यको ज्ञानप्रसाद ही बताया है। "तत्पुरुषं पुरुषख्यातेर्गुण-वैतृष्ण्यं" परवैराग्य गुणवैतृष्ण्य है। वह पुरुषख्यातिके बादमें ही होगा। ज्ञानप्रसाद हुआ तो निर्मल स्वच्छ जलके समान प्रसन्नजलोपम अन्तः-करणमें ब्रह्मदर्शन स्वयमेव हो जाता है। वहां तक भी हमें पहुंचना इस समय नहीं है। क्योंकि इस समय ब्रह्मबोधके साधनका वर्णन है। अतः तदनुरूप चिन्तन करना है। न प्रकृतिलयकी बात और न स्वरूपस्थितिकी बात। वैराग्यका मुख्य परिणाम है परमशान्ति। रागी भटकता रहता है। अशान्त रहता है। विरागी शान्त होता है। वह जो शान्त स्वरूप है वह क्या चीज है? असलमें शान्त भी ब्रह्म है।

"शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते"

ऐसी श्रुति है। उस ब्रह्मस्वरूपको ग्रहण करना है हृदयमें। उसे ग्रहण करनेकी स्वरूपयोग्यता वैराग्य है।

चौथा सत्त्व ऐश्वर्य है। यह क्रमिक प्रगति है। धर्म करते रहने से ज्ञान प्राप्त होगा। अतएव ज्ञानको परमधर्म बताया-"अयं तु परमो धर्मो यद्यो-गेनात्मदर्शनं"। अतएव धर्मपदसे योगधर्म ही मुख्यरूपसे विवक्षित हो जाता है। धर्म, ज्ञान और वैराग्य के होनेपर ऐश्वर्य अपने आप आने लगते हैं। ईश्वरभाव ही ऐश्वर्य है। "ऐश्वर्यादविघातः" ऐसा बताया। विघात विघ्नको कहते हैं। निर्विघ्नताके साथ वह आगे बढ़ता जाता है.

"जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥"

अणिमादिको सिद्धि कहते हैं, ऐश्वर्य भी कहते हैं। धर्म में योग आ जाता है यह बताया। उसके साथ ज्ञान और वैराग्य भी आ जाते हैं तब ये सिद्धियां स्वयं आने लगती हैं। चाहते हुए सिद्धिको बुलाना अलग बात है। स्वयं सिद्धियोंका आना अलग बात है। सिद्धियोंको बुलानेका अर्थ है उनमें राग करना। तब तो यह वैराग्यके विपरीत होगा। स्वयं आना यह तो वैराग्य का उत्कर्ष है। ऐसे सन्त स्वयं तो उन सिद्धियोंको देखते नहीं। कार्य से समझ लेते हैं। वृन्दावनमें उड़िया बाबा हुए। वे कहीं भी गांवमें जाते थे तो भंडारे होते रहते थे। लोग उनको सिद्ध बोलते थे। वे स्वयं यही कहते कि मैं कोई सिद्ध-उद्ध नहीं हूं। सुनी सुनायी बातसे लोग प्रभावित होते हैं। और आकर भंडारा करते हैं तो लोग समझते हैं कि ये बड़े सिद्ध हैं। कोई आशीर्वाद लेने आता है तो मैं कह देता हूं बच्चा तेरा भला हो जायेगा। "भद्रं भद्रमिति ब्रूयात्"। कभी-कभी किसीका भला अपने आप हो जाये तो वे मुझे सिद्ध मानने लगते हैं। वास्तविकता यह है कि उनके पास सिद्धियां आने लगी थीं किन्तु उन्होंने स्वयं न सिद्धियोंकी अभिलाषा रखी और न ही सिद्धियों को सिद्धि समझा।

इन ऐश्वर्योमें क्या ऐसी शक्ति है जिससे जो बोले वह हो जाता है। निग्रह-अनुग्रह आदि हो जाते हैं? ये ऐश्वर्य भी अन्तःकरणकी अवस्था या वृत्ति ही है। उनमें परमेश्वरके सामर्थ्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है। उन शक्तियोंसे परमेश्वरके समान योगी अनुग्रहादिसमर्थ होता है। इस प्रकार मूल परमात्माको समझना चाहिये। वहीं "इह चेदशकद् बोद्धुं" से बताया।

इसीको दूसरे प्रकारसे भी देख सकते हैं। यह शरीर तो भगवानका मंदिर बताया गया है। "देहो देवालयः प्रोक्तः"। इसमें आत्मा परमात्मा है।

"आत्मा त्वं गिरिजा मतिःसहचराः प्राणाः शरीरं गृहम् ।
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ॥"

इस परमात्माके अतिनिकटवर्तिनी सेवापरायणा है बुद्धि। वही पार्वती है। शंकर तपस्या करते थे तो पार्वती सेवामें लगी रहती थी। वही पुजारिन है। शंकर तक और किसीका प्रवेश नहीं है। सहचर हैं प्राण। प्राण समस्त इन्द्रियोंको ही कहते हैं। उनमें मुखिया है मन। "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि"। दक्षिणमें बड़े बड़े मंदिर होते हैं। वहां आप जाकर स्वयं पूजा नहीं कर

सकते। पुजारी ही पूजा करेगा। आप सामग्री ले जाकर दीजिये तो पुजारी उससे पूजा कर सकते हैं। किन्तु आपके हाथसे पुजारी स्वयं पूजासमाग्री नहीं लेते। पूजा सामग्री लेनेवाला सहायक पूजारी एसिस्टंट होता है। सहायक ब्राह्मण खड़ा रहेगा। फूल देगा, जल देगा, आरति जलाकर हाथमें देगा। इसप्रकार हमारे अंदर आत्मा परमात्मा है। मुख्य पुजारी बुद्धि है। उसके सहायक पुजारी मन है। मन सब चीजें तैयारकर बुद्धिको देगा। और उस मनको सामग्री लाकर देनेवाले भक्तलोग हैं ये इन्द्रियां। श्रोत्र शब्दको लेकर प्रथम मनको देता है। इन्द्रियोंसे आलोचनात्मक ज्ञान होता है। मनके पास आनेपर उसपर संकल्पविकल्प होता है। यह अच्छा है कि नहीं, ग्राह्य है या नहीं इत्यादि। फिर मन मुख्य पुजारी बुद्धिके हाथमें देता है। बुद्धि आत्माके संमुख उपस्थित होकर समर्पित करती है। आत्मा केवल निरीक्षण ही करेगा। खायेगा पियेगा नहीं। 'देवा दृष्ट्वैव तृप्यन्ति" "न खादन्ति न पिबन्ति देवा दृष्ट्वैव तृप्यन्ति" इत्यादि वचन है। आत्माने देखा, बस प्रसाद हो गया। खायेंगे पियेंगे पुजारी और भक्त ही। मंदिरोंमें भी मूर्तिरूपी भगवान् खाते पीते नहीं। खाते पीते हैं पुजारी और भक्त ही। श्रोत्र शब्दको लेकर मनके पास आता है। त्वचा स्पर्शको लेकर, नेत्र रूपको लेकर, रसना रसको लेकर, घ्राण गंधको लेकर मनके पास आता है। सबका ग्रहण मन करता है। और वहांसे मुख्य पुजारी बुद्धिको देता है। "गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं, पूजा ते विषयोपभोगरचना"। पूजन आराधन आदि सभी भावनाप्रधान होते हैं। यदि विषयोपभोगकालमें यह भावना रही तो सचमुच वह पूजा हो जायेगी। वैसे वैश्वानराहुति यज्ञ मानी जाती है। "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापान-समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्"। यह भावनीय है। जब यह भावना करता हूं कि मेरे उदरमें वैश्वानररूपसे परमात्मा विराजमान है, जो मैं भोजन करता हूं वह वैश्वानरमें आहुति डाल रहा हूं, इसे परमात्मारूपी वैश्वानर पचाता है तो यह वैश्वानर यज्ञ माना जाता है। ऐसे यज्ञ करनेवालेको अन्नदोष नहीं होता।

जो मैं देखता हूं, सूघंता हूं, सुनता हूं, रसास्वादन करता हूं यह मनके पास पूजा सामग्री दी जा रही है। वह मन बुद्धिके पास समस्त विषयोंको

सौंप रहा है। बुद्धि आत्माको निवेदन करती है। आत्मा ही कर्ता भोक्ता सब कुछ है। तथापि निर्लिप्त है ऐसी भावना रखते हुए संसारमें रहे उसे आत्मयाजी कहते हैं। आत्मयज्ञसे विषयदोष नहीं लगता। आत्मयाजीका यह भी लक्षण है–

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
संपश्यन्नात्मयाजी स्या.....................

इसमें विशेषता यह है कि ये सभी विषय एवं भूत क्रमशः आत्मामें पहुंच गये तब आत्माने स्वीयप्रकाशसे उन विषयोंको प्रकाशित किया। बुद्धिको प्रकाशित किया, मनको प्रकाशित किया। इन्द्रियोंको प्रकाशित किया और बाह्य विषयोंको भी प्रकाशित किया। इस आत्मप्रकाशमें सब है। आत्म-प्रकाश सबमें है इसप्रकार की भावना होनेपर वह आत्मयाजी होता है। इसमें काम बुद्धिका है। अतः बुद्धि मनसे उत्तम हुई और बुद्धिके द्वारा आत्मस्वरूपका ज्ञान संपन्न हुआ।

सत्त्वादधि महानात्मा। धर्म, ज्ञान, वैराग्य ऐश्वर्ययुक्त सत्त्वप्रधान बुद्धिको यहां लिया जाना चाहिये इसलिये बुद्धि शब्द न कहकर सत्त्व शब्दसे कहा। स्वच्छ कांचके समान सत्त्व है। लाल कांचके समान रज है। और काले कांचके समान तम है। शुद्ध सत्त्वके कार्य धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्यमें परमात्माका सच्चिदानन्द स्वरूप देखा जा सकता है। इन्द्रियोंसे उत्तम मन है। मनसे भी उत्तम सत्त्व है। अब सत्त्वसे भी परमात्मदर्शन हेतु उत्तम तत्त्वका निरूपण करते हैं। सत्त्वसे भी उत्तम महान् आत्मा है। क्या है यह महानात्मा? इसको महत्तत्त्व कहते हैं।

यद्यपि सांख्यशास्त्रमें महत्तत्वका ही दूसरा नाम बुद्धितत्त्व है। ये दो तत्त्व नहीं हैं। तथापि यहांपर श्रुतिने पृथक् ग्रहण किया है। अतः दोनोंमें कुछ फरक मानना होगा। क्या फरक है? फरक और कुछ नहीं। समष्टि भाव और व्यष्टिभावको लेकर फरक समझना चाहिये। महत्तत्त्व समष्टि-रूप है, बुद्धितत्त्व व्यष्टिरूप है। आत्मा शब्दका प्रयोग बुद्धिमें भी आया है। 'उद्धरेदात्मनात्मानं' यहां अपनी बुद्धिसे अपना उद्धार करनेकी बात कही है तब आत्माका बुद्धि अर्थ हुआ। उसके लिये महान् विशेषण दिया तो बुद्धिसे अपना उद्धार करनेकी बात कही है तब आत्माका बुद्धि अर्थ

हुआ। उसके लिये महान् विशेषण दिया तो बुद्धि समष्टि बुद्धि उपस्थित होती है। इसपर शंका होगी तब समष्टि इन्द्रिय तथा समष्टि मनको भी पृथक् क्यों नहीं कहा? कहना बेकार है इसलिये। 'शतमप्यन्धानां न पश्यति' वाली बात है। मन स्वयं हाहाकार मचानेवाला रजोगुणी। यदि सौ मिल जाय तो हाहाकार ही बढ़ेगा। इन्द्रियां विषयलोलुप हैं। उसकी समष्टि क्या करेगी। यहां तो समष्टि बुद्धि विचार कर किसी निर्णय पर पहुंच सकती है। अतः बुद्धि समष्टिका पृथक् उल्लेख सार्थक है और उसके बादका अव्यक्त तो समष्टिरूप है ही।

ग्रामपंचायत प्रसिद्ध है। पंच मिलकर निर्णय लेता है। निर्णय लेनेवाली बुद्धि है उसीका पञ्चक है। किन्तु व्यवहारमें पांच व्यक्तिको ही पंचायत कहते हैं। संतोंकी भाषामें पंच परमेश्वर है। इससे एक तथ्य सामने यह भी आता है कि निर्णयार्थ दुनियाभरकी बुद्धियोंकी समष्टिकी जरूरत नहीं है। छोटी बड़ी हर प्रकारकी समष्टि होती है। पंचायत पांचकी समष्टिको कहते हैं। सेना हजारों लाखों सैनिकोंकी समष्टिको कहते हैं। कोई ज्ञानहेतु समष्टि है, कोई शक्तिहेतु समष्टि है। समान विषयमें अधिकाधिककी समष्टिका महत्त्व उत्तरोत्तर अधिकाधिक है। जैसा कि चाणक्यने कहा—

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥"

कुल समष्टि है, व्यक्ति व्यष्टि है। कुलरक्षार्थ एकाधका बलिदान होता है। न कि एक सामान्य व्यक्तिके लिये कुलका बलिदान होता है। भीष्म-पितामह कहते हैं—हम हस्तिनापुरकी रक्षाके लिये लड़ रहे हैं। दुर्योधनके लिये नहीं। एक ओर घर जलने जा रहा है। दूसरी ओर पूरा गांव। तो किसे बचाना चाहिये? ग्रामको। गुरु गोविंदसिंहके बच्चोंने अपने पूरे घरको नष्ट करके भी पंजाबको बचानेका प्रयास किया और पूरे राष्ट्रकी रक्षा की। और अन्तमें बताया—आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्। यह स्वार्थकी बात नहीं किन्तु व्यापक अखण्ड आत्माकी रक्षाके लिये संतलोग जगत्का त्याग करते हैं इस अभिप्रायसे है। अस्तु। यहां अधिकाधिक समष्टिका पूर्वपूर्वा-पेक्षासे महत्त्व स्पष्ट है। तथापि हम छोटी समष्टिसे आगे बढ़ेंगे।

विद्यार्थियोंकी समष्टिको ज्ञान देना उत्तम है। ट्युशन, व्यक्तिगत अध्ययन पहले समयमें नहीं होता था। आज स्वार्थका युग आ गया सो अलग बात है। संतलोग समष्टिमें प्रवचन करते हैं। उसीमें अपने श्रमका सदुपयोग समझते हैं। पहले समयमें शास्त्रवेत्ताओंकी समष्टि सभा होती थी जहांका निर्णय मान्य होता था। ब्राह्मणसभायें होती थीं। जहांका नीतिनिर्धारण राजाओंको भी मान्य होता था। तत्त्वज्ञानका आविष्कार कैसे हुआ, ब्रह्मदर्शन कैसे हुआ, इस विषयमें बड़ी रोचक कथा आती है।-बौद्ध जैनादिमें ऐसी चर्चा दुर्लभ है। वहां एक ही आद्याचार्य की बातको परम प्रमाण स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु ब्रह्मविचार ऐसा नहीं हुआ। श्वेताश्वतर उपनिषदमें इसका वर्णन आया है। प्रथम प्रथम बड़े-बड़े बुद्धिमान विचारशील ज्ञानी एकत्रित हुए थे। उन्होंने चर्चा की–

"किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥"

प्रपञ्च अनन्त होनेसे उसके कारणपर विचार किया जाय तो वह भी अनन्त बृहत् होना चाहिये, जैसा कि कई लोग बोलते भी हैं। वह बृहत् कारण क्या है, इस जगत्का उपादान कारण क्या है जो कि अवश्य व्यापक होना चाहिये तथा चेतनात्मक हम कहांसे पैदा हुए? क्या उस चेतन से ही या और किसीसे। हम जीवित हैं तो किससे? कौनसा कहांका वह स्रोत है जहांसे जीवनधारा हमें मिलती है। जैसे बत्ती जलती है तो तेलकी धारा मूलमें होती है। और अन्तमें हमारी स्थिति कहां है? चेतन, अचेतन, शून्य आदि किसमें? और किसके द्वारा अधिष्ठित होकर पराधीन जैसे सुख एवं दुःखमें हम जुड़े हुए हैं? "हे ब्रह्मविद्! अत्र व्यवस्थां चिन्तयामः"। ऐसा वाक्यशेष है। इसपर व्यक्ति अपना-अपना अभिप्राय व्यक्त करते हैं समष्टि निर्णयार्थ।

"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥"

इसपर एक ऋषिने अपना मन्तव्य व्यक्त किया कि काल ही जगत्कर्ता, जीवनदाता, सर्वाश्रय, यथासमय सुखादिप्रदाता आदि है। कालो हि दुरतिक्रमः।

"समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इ तीव शरीरिणाम् ।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयू रमणीयताम् ॥"

समयकी बलिहारी है। समय पर धूप होती है। समयपर बारिष, समयपर शीत। समयपर धान पकते हैं। समयपर बालक युवा होता है। फिर वृद्ध। सर्वं कालाधीनम्। तब दूसरे ऋषिने कहा—मैं तो यह सब स्वभाव समझता हूं। सबकी अपनी प्रकृति होती है। नेचर होता है। कालके आनेपर स्वभाव काम करता है। काल वही है एक बच्चे और एक जवानके लिये। बच्चा बालगोपाल है तो युवा नानाविकारी है। अपना अपना स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव जलना है। पानीका स्वभाव ठंढा करना है। बिल्लीको किसने सिखाया छिपकर चूहा पकड़ो? मछलीको किसने तैरना सिखाया? पक्षीको किसने उड़ना सिखाया? कुत्ता भौंकता है, शेर गरजता है। हाथी चिघांरता है। सब स्वभावसे चलते हैं। "स्वभावो दुरतिक्रमः" ऐसा भी तो बताया है।

तीसरे ऋषिने कहा—नियति कारण, व्यापक कारण है। हर जगह कार्यकारणभावनियम बना हुआ है। पूरा 'सायन्स' नियमों पर आधारित है। ऐसी पेट्रोलकी गरमी होगी तो ऐसी गाड़ी चलेगी। ऐसा यन्त्र होनेपर ऐसी गति होगी यह सब नियत ही तो है। उस नियमका पता लगाना ही आविष्कार है। नियतिका अर्थ भाग्य, कर्म आदि भी करते हैं। मनुष्योंके पूर्वकृत कर्म ही सबके जन्मदाता हैं। 'सर्ववस्तुजातमदृष्टोत्पन्नं' ऐसा प्रायः सभी मानते हैं।

"पत्रं नैव यदा करीलविटपे दोषो वसन्तस्य किं ।
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ॥
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम् ।
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥"

ऐसा नीतिकारोंका कहना है। वसन्तमें सभी पेड़ों पर नये कोंपल आते हैं, करीलपर नहीं। वसन्तमें प्रथम सभी पुराने पत्ते निकल जाते हैं। जौके नहीं।

"वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम् ।
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः ॥"

सब दिनमें देखते हैं। उल्लूको नहीं दिखाई पड़ता। बादल बरसता है तो सबकी प्यास बुझती है–चातक प्यासा रह जाता है। क्या नियम बनाया जाये। सभी नियम सापवाद हैं। अतः भाग्य ही सर्वत्र कारण है।

"भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्"

चौथे ऋषिका कहना था कि दुनियामें कोई कार्यकारणभाव नहीं है। यदृच्छाहीसे सबकुछ होता है। अचानक अकस्मात् सब कार्य होते हैं। यदृच्छया माने एक्सिडेंटली। एकबार मनाली पहाड़पर एकाएक जोरदार बादल आया और टूट गया, पूरा गांव ध्वस्त हो गया। नामनिशाना नहीं रहा। विमान उड़ रहा है। बीचमें टूट पड़ा। सब मर गये। क्या सबका मरण स्वभाव था या सबका एक ही कर्म था? यह सब एक्सिंडट है। मातापिता बहुत कोशिश करते हैं। लड़का नहीं होता। मरीनड्राईवमें एक माताजी थी। पचास वर्षकी थी। लड़का होनेकी कोई आशा नहीं थी और एक लड़का हो गया। इतना उसपर आसक्ति, मोह हो गया मां बापको। एक रोज फूटपाथपर खेलते समय एक ट्रक चढ़ गया उसपर और वह मर गया। दोनों रोते फिरे। हे भगवान्। हमने तुमसे लड़का मांगा नहीं था और दिया। और दिया तो इस कदर वापिस क्यों लिया? किस किसको करुण कहानी सुनायें। यह सब यदृच्छा है। आजकलके लड़के हैं–हम एक्सि-डेण्टली पैदा हो गये। इसमें मांबापका क्या एहसान। किसलिये ये लोग मातृदेवो भव, पितृदेवो भव बोलते हैं? सब आकस्मिक हैं।

पांचवें ऋषि कहने लगे कि पञ्चभूत उपादानकारण हैं। इनके परमाणु नित्य हैं। यह निरुपादानसंरंभ नहीं है। चार्वाक भी चतुर्भूतसे जगदुत्पत्ति मानते हैं। उसीसे स्थूल जगत् है। उनकी सूक्ष्ममात्राओंसे जीवात्माकी उत्पत्ति और स्थिति है। उन्हींसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति है। किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्तदुत्पत्तिः ।

छठे ऋषिका विचार था–"पुरुषः पुरुष कारण है। नवद्वार पुरमें रहने-वाला यह पुरुष जगत्का कारण है। "यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता" इसप्रकार बताया है। पुरुषने ही कर्म और उपासनासे सप्तान्नसर्ग बनाया। योनिशब्दका सबके साथ सम्बन्ध है। ये कारण हैं क्या ऐसा चिन्त्य है।

सातवें ऋषि सबका खण्डन करते हैं—संयोग एषाम्। कालादिका संयोग हो सकता है। निमित्तकारण ये बन सकते हैं। यदृच्छांका किसीकी इच्छा ऐसा अर्थ कर लिया जाय तो वह भी क्वचित् निमित्त हो सकती है। न त्वात्मभावात्। इनका संयोगमात्र संभव है। आत्मभाव होनेसे ये कारण है ऐसा नहीं हो सकता। अर्थात् उपादान कारण ये नहीं बन सकते। घटका उपादानकारण मृत्तिका है क्योंकि मृत्तिकाका आत्मभाव घटमें हैं। किन्तु वस्तुमें कालात्मता, स्वभावात्मता इत्यादि रीति तत्तदात्मभाव नहीं है। बोले; तो जिसको आत्मा कहते हैं उसीको कारण मान लो। हमारी आत्मा ही जगत्का कारण मान लिया जाये। उत्तर है—आत्मा भी अनीश है। असमर्थ है। वह भी जगत् नहीं बना सकता है। क्योंकि 'सुखदुःखहेतोः' सुखदुःख जो उसके भोगना पड़ा रहा है। यदि वह समर्थ होता तो दुःखों को आने ही नहीं देता। यदि कोई अन्य विवर्तोपादानरूप आत्माको लेकर जगत्सृष्टि करता हो तो उसीको विवर्तोपादान तथा कर्ता भी मान लो। जीवात्मा को विवर्तोपादानमात्र माननेकी क्या जरूरत? इस प्रकार समष्टिरूपसे बैठकर ऋषियोंने समष्टि बुद्धिसे विचार किया। अन्तमें सब लोगोंने यह निश्चय किया कि हम सब ध्यानयोग लगावें और अपना-अपना अनुभव संमुख रखें। यह देखें कि कहां जाकर एकमतता होती है।

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥"

उन सबने ध्यान योग लगाया और परमार्थतत्त्वको देखा। यह यहां पर संक्षिप्त कथनमात्र है। क्योंकि उत्तरोत्तर ध्यान बढ़ाते जानेसे सूक्ष्मताकी ओर क्रमशः बढ़ते हैं। जैसे भृगुवल्लीमें बताया है। "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादि लक्षण बताकर "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इस प्रकार भृगुने उपदेश किया। "तप आलोचने" आलोचनात्मक तप ही वहां विवक्षित है। भृगुने प्रथम-"अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" कहा वरुणने पुनः पुनः तप करनेका आग्रह किया तो क्रमशः-मनो ब्रह्मेति व्यजानात्-विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्" और अन्त में "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" कहा वैसे

यहां भी क्रमशः आगे बढ़ते गये। पिछले को भूल बताते गये तो पिछड़ा हुआ आगे बढ़कर दूसरोंको बोलने लगा। इस प्रकार समष्टि बुद्धिसे विचार कर वे कहां पहुंचे? "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्"। जीवात्मा नहीं, देवात्मा, केवल देवात्मा नहीं शक्ति भी। देवसे दिव्य अर्थ समझना चाहिये। जिसको "त्रिपादस्यामृतं दिवि" बताया। एक पादस्थ है शक्ति। वहीं यह कार्यप्रपञ्च है। ध्यानयोग के द्वारा शरीराध्यास निकल गया वहां इसी आत्माका व्यापक स्वरूप प्रकाशित होने लगा। अतः उसमें आत्मत्व स्थित है तथा दिव्यप्रकाशयुक्त होनेसे देवरूपसे भासने लगा। किन्तु स्वयं वह निष्क्रिय होनेसे स्रष्टा नहीं बन रहा था। तब उसमें अनादिसिद्धा प्रकृतिरूपा शक्ति भी दीख पड़ी। जो उससे भिन्न, अभिन्न वा भिन्नाभिन्न नहीं थी। अतएव उसे उन्होंने माया समझा। जगत्प्रकारक होनेसे प्रकृति भी। इसीको आगे बतायेंगे—

"माया तुं प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥"

वही माया, प्रकृति आदि शब्दोंसे कहा जाता है। "साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो" के अनुसार वह माया सर्वथा अंगरहित नहीं है। अतएव उससे विशिष्ट महेश्वर भी औपाधिक अंगयुक्त है। सत्त्वगुण, रजोगुणादि मुख्य अंग हैं। अनन्त वासनायें अन्य अवयव हैं। इस प्रकार कुछ ऋषियोंकी समष्टि बुद्धि भी महानात्मा कहलाया। अतएव वेदोंमें समष्टिका उपदेश दिया गया है।

"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥"

मिलकर चलो, मिलकर बोलो। और तुम्हारे मन मिलकर जानें क्योंकि मिलकर जाननेसे ही पूर्व देव अपने भजनीय भाग पा सके। "मनांसि संजानतां" यहां महत्तत्त्व विवक्षित है। समष्टि बुद्धि पूर्णतया जानें। इस प्रकार समष्टि बुद्धिमें प्रकाशमानरूपसे उस ब्रह्मको जानना है-"इह चेदशकद्बोद्धुं"

महतोऽव्यक्तमुत्तमम् परमार्थतत्त्व परब्रह्मस्वरूप दर्शन यहीं करना है। तदर्थ उपाय वर्णन चल रहा था। इन्द्रियप्रकाशकरूपमें, मनोभासकरूपमें,

बुद्धिप्रतिबिम्बरूपमें, समष्टि महत्तत्त्व विशेषशक्तिरूपमें दर्शन करनेको बताया। अब उससे आगे अन्तिम सोपान पर आ रहे हैं-महतोऽव्यक्त-मुत्तमम्। महत्तत्त्वसे भी उत्तम दर्शनसाधन अव्यक्त है। यह अव्यक्त क्या लिये नामान्तर दिया है-अव्याकृत। किन्तु वह नामान्तरमात्र है। अर्थज्ञानमें पूर्ण उपयोगी तब होगा जब उसकी व्याख्या होगी। क्योंकि उसका प्रत्यक्ष संभव नहीं है। आचार्योंने इस प्रकार निरूपण किया है।

"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति र्ह्यनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका सा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ॥"

यह अव्यक्त परमेश्वरकी शक्ति है। इसे अविद्या एवं माया भी कहते हैं यही त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी है। किन्तु यह प्रत्यक्ष नहीं, कार्यानुमेय हैं।

किन्तु अनुमेय तब होगा जब दृष्टान्त होगा। पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त इन चारके विना अनुमिति नहीं होती। पर्वतो वह्निमान् धूमात् यथा महानसम् ये चार मुख्य हैं। पर्वत पक्ष है। वह्नि साध्य है। धूम हेतु है। महानस दृष्टान्त है। महानसमें-रसोईघरमें धुँआ तभी दीखता है जब आग जलती है। एकने प्रश्न किया कि अग्नि हो तो धुँआ होना चाहिये ऐसा नियम नहीं। धुँआ हो तो अग्नि जरूर होगी यह नियम है। अतएव अग्नि को व्यापक और धुँए को व्याप्य कहते हैं। अतः महानसादि दृष्टान्त है। वैसे अव्यक्त के अनुमानके लिये दृष्टान्त क्या है? दृष्टान्तका मतलब जो दृष्ट होकर सिद्धान्तित हो गया हो। अव्यक्तका दृष्टान्त अव्यक्त हो तो वह दृष्ट कैसे? उत्तर यह है कि देखा हुआ दृष्टान्त हो ऐसी बात नहीं है। निर्णीत अर्थ दृष्टान्त होता है। एक आमका बीज है। उसे जमीनमें डाला तो उससे आमका पेड़ तैयार हुआ। वह आमका पेड़ पहले कहां था? कहांसे आया? वह वृक्ष उस गुठलीमें ही था। इस पर लोग कहेंगे कि गुठलीमें ही पूरा पेड़ कहां होता है? गुठलीमें सिर्फ अंकुर था। फिर उसमें पानी खाद आदिने प्रवेश किया तो पेड़ हुआ। पेड़में अधिक अंश मिट्टी पानी का है। गुठली तो नाममात्र की है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। सौ मन मिट्टी पानीमे गुठली पीसकर डाला जाये या अंकुर पीसकर डाला जाय तो क्या आमका पेड़ तैयार होगा? यह कहें कि बीज या अंकुरके अंदर पचाया गया मिट्टी पानी ही वृक्ष होगा तो? ठीक है। यही मिट्टी पानी

कटहलके बीजमें जाता है तो आम पैदा होगा कि नहीं? गुठली तो नगण्य है। वस्तुतः गुठलीमें ही सारे आम्रवृक्षका ढांचा है। मिट्टी पानीके पहुंचनेसे वह केवल विकसित होता है। गन्ना जो बोते हैं उसमें जरासा शक्कर है। उसमें ढेर मिट्टी पानी घुस गया तो फीका होना चाहिये था। अस्तु। अंकुर ही सही बीजमें था। किन्तु बीज तोड़कर देखनेपर अंकुर दिखाई पड़ता है? एक कबूतरका अंडा है। उसमें से पूरा कबूतर बाहर आता है। क्या कबूतर का अंडा तोड़कर देखें तो कबूतर दिखाई देगा? नहीं। तो क्यों? बीजमें अंकुर और अंडेमें कबूतर सूक्ष्मरूपमें हैं। अच्छा सूक्ष्म हो तो दूरबीन, खुरदबीन, माईक्रोस्कोप आदि लगाकर देखो, दिखाई पड़ेगा? किसी भी यन्त्र से अंडेमें कबूतरकी कोई भी निशानी दिखाई नहीं पड़ेगी। तोड़नेपर सिर्फ पीला, सफेद पानी दिखाई पड़ेगा। जब कि उसमें चोंच हैं, पर हैं, आंखें हैं, मोरका अंडा हो तो उसमें रंगबिरंगे पंख हैं। इसीको अव्यक्त कहते हैं। इसीको अव्याकृत भी कहते हैं। नामरूपाभ्यामव्याकृत ऐसा बताया जाता है। नाम और रूपका जहां व्याकरण नहीं हुआ। व्याकरणका ग्रामर अर्थ नहीं किन्तु विशेष आकरण व्याकरणं, विशेषरूपसे आकार प्रकार नहीं हुआ वह अव्याकृत है। बीजमें अंकुरादि अव्याकृतनामरूपसे है। अंडेमें पक्षी अव्याकृत नामरूपसे हैं। इसलिये कहा-अव्यक्तनाम्नी। परंतु यह नेगेटीव वर्णन है। पोजिटीव नहीं है। निषेधात्मक वर्णन है। विधिरूप नहीं। अव्यक्तका अर्थ है-व्यक्त नहीं। अव्याकृतका अर्थ है नामरूपसे व्याकृत नहीं। आखिर क्या चीज है वह? निषेधके बाद विधिजिज्ञासा होती है। साड़ी नील नहीं, सफेद नहीं, बोलनेपर जिज्ञासा होगी फिर किस रंग की, कैसी? उसके लिये लाल-पीला आदि विधिरूप उत्तर देना चाहिये। दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक दोनोंमें। दार्ष्टान्तिक है-समस्त जगत् का अव्यक्त-अव्याकृतरूप।

"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् ।
तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत ॥"

पहले यह समस्त जगत् नामरूपसे अव्याकृत था। बादमें नामरूपसे व्याकृत हुआ। अव्याकृत वह आखिर क्या स्वरूप था? इसके उत्तरमें बताया जाता है कि जिसको अव्यक्त या अव्याकृत कहते हैं उसे वासना कहते हैं।

वासना, संस्कार इत्यादि उसके नाम हैं। बीजमें वृक्ष वासनारूपसे रहता है। अण्डेमें पक्षी वासनारूपसे रहता है। वैसे जगत् प्रथम वासनारूपसे रहता है।

वासना दो प्रकारकी होती है। एक वस्तुवासना है। दूसरी ज्ञानवासना है। बीजमें वस्तु संस्कार रहता है। अन्तःकरणमें ज्ञानवासना रहती है। संस्कारको अतीन्द्रिय बताया है। जो भी कुछ हम सुनते हैं, देखते हैं उसकी अव्यक्तरूप वासना मनमें रह जाती है। हरिद्वार गये, हिमालयमें गये, गंगास्नान किया। इन सबकी वासना मनमें बैठ गयी। जब इच्छा हुई फिल्म चलाया, एनलार्जिंग विस्तारण किया। तो पूरे हरिद्वार, हिमालय आदि का फोटो सामने आया। घरके प्रत्येक वस्तुकी वासना मनमें बैठी है। जब उद्बोधक आ गया तो एनलार्जिंग किया। लड़के वहां हैं। अलमारी वहां है। आटा दाल सामान वहां है। सृष्टिसे पूर्व इस प्रकार अनन्त वस्तु संस्कार तथा ज्ञानसंस्कार रहे। उद्बोधक समवधान होनेपर ब्रह्माजीने ईक्षण द्वारा इनका विस्तारण किया। बल्कि सृष्टि पूर्वमें वस्तुसंस्कार तथा ज्ञान संस्कार एक हो जाते हैं। इक्षणके द्वारा विस्तारण हो जाता है।

इसी अव्यक्त या अव्याकृतको ही प्रकृति तथा माया भी कहते हैं। आचार्यने इसीको स्पष्टतया बताया है-

"बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं पुन-
र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्।
मायावीव विजृम्भत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥"

बीजमें जिसप्रकार अंकुर प्रथम निर्विकल्परूपसे रहता है-यहां एक नया नाम अव्यक्त-अव्याकृत के लिये निर्विकल्प जोड़ दिया है, इसी प्रकार पूरा जगत् सृष्टिसे पूर्व निर्विकल्परूप था। अव्याकृत था। वस्तुसंस्काररूपमें था। फिर ज्ञानसंस्कारात्मक मात्रासे कल्पित देशकालादिको लेकर अनेक विचित्रताओंसे चित्रित हुआ। जिसे उच्छूनावस्था कहते हैं। फिर उस मायावीके समान या योगी के समान परमेश्वर ने विजृम्भित किया। यहां

एनलार्जिंगके लिये विजृम्भण शब्दका प्रयोग किया। इस श्लोकमें वस्तु-वासना और ज्ञानवासनाको पृथक् रखकर वर्णन किया। "तदैक्षत बहुस्याम" इत्यादिमें एकीकरण कर वर्णन किया है। क्योंकि बीजमें अंकुरका विजृम्भण करनेके लिये पानी खाद आदि पृथक तत्त्व है। किन्तु सृष्टि से पूर्व अन्य कोई वस्तु नहीं है। अतः अन्तःकरणमें स्थित ज्ञानसंस्कारका विजृम्भण जिस प्रकार केवल इच्छामात्रसे जैसे होता है वैसे इच्छामात्रसे वस्तुविजृम्भण सृष्टिकालमें कहना होगा। तब वस्तु संस्कार तथा ज्ञान संस्कार वहां एक हो जाते हैं।

एक प्रश्न बाकी रह गया। वह यही कि यह वासना यह संस्कार कहां रहेंगे। इसका आधार क्या है? कुछ लोग कहेंगे कि इसका आधार माया है। किन्तु माया ही को अव्यक्त कहते हैं। "अव्यक्तनाम्नी.....कार्यानुमेया सुधियैव माया"। ऐसा सामानाधिकरण्य प्रयोग है। और माया कहते ही हैं वासनासमुदायको।

"जाग्रत्स्वप्नजगत्तत्र लीनं बीज इव द्रुमः ।
तस्मादशेषजगतो वासनास्तत्र संस्थिताः ॥"

संपूर्ण जाग्रत स्वप्न मायामें स्थित है वासनारूपसे। यद्यपि यहां मायामें वासना बतायी है। तथापि आचार्यने पृथक् नहीं रखा। और मायामें माना जाये तो भी मांयाका आश्रय क्या यह प्रश्न रह जायेगा। सांख्य और वेदान्त बहुत दूरतक साथ दौड़े। अन्तमें यहीं आकर अलग हो गये। यहां तक मान लिया कि यदि सांख्यलोग मायास्वातन्त्र्यवाद तथा जगत्सत्यत्वा-ग्रह छोड़ देवे तो वेदान्त सांख्य में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। रह भी जाय तो वह नाना वेदान्त के समान एक और मतभेद मात्र होकर रहेगा। इस मायाका आश्रय क्या यह बताना होगा-भले उसे प्रकृति शब्दसे कहो। क्रोध प्रकृति है। किसकी? आश्रय कौन? देवदत्त। दुर्वासा ऋषि क्रोधी प्रकृतिके थे। वसिष्ठजी शान्त प्रकृतिके थे। मनुष्य लोभी प्रकृतिके होते हैं। देवता काम प्रकृतिके होते हैं। सर्वत्र प्रकृतिका आधार बताना ही पड़ा। क्रोध प्रकृतिका आधार असुर। काम प्रकृतिके आधार देवता इत्यादि। तात्पर्य यही है कि प्रकृतिका आधार कोई होना चाहिये। वह आधार है-परब्रह्म परमात्मा। इसीलिये आचार्यने-"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः" ऐसा

बताया है। शक्ति शक्तिमानमें आश्रित है। शक्ति निराश्रित नहीं होती। शक्तिमान् बीजस्थानीय है। शक्ति अंकुरोत्पादनयोग्यतारूपी है। इसका वर्णन आचार्यने इस प्रकार किया है–

"बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं"

बीजमें अव्याकृतरूपसे शक्तिरूपसे अङ्कुर रहता है। शक्तिका आधार बीज है। सौन्दर्यलहरीमें श्रीविद्याके वर्णनमें श्रीविद्यादेवीको शिवस्थ बताया है।

"सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मन्त्रे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्॥"

"सुधासिन्धोः" इत्यादि पूर्वार्ध उपासनार्थ है। पञ्चप्रेतपाद शिवाकार मञ्च है। पांच पायेका वह मञ्च है। ब्रह्मा विष्णु, रुद्र आदि पांच पायेके समान हैं। उस पर शिव लेटे हुए जो मंच के समान है। उसमें परमशिव और उनके पर्यङ्कमें श्रीविद्यादेवी है। शक्ति है। उस शक्तिका आधार परमशिव हुआ। वहां तक न भी पहुंचे तो शिवजीके वामाङ्गमें गिरिजा प्रसिद्ध है। वामाङ्ग अर्थात् वामपादमें स्थित है। 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि'। एक पादमें शक्ति एवं तत्कार्य है। त्रिपात् तो शुद्ध है। शक्ति शिवाभिन्न होने पर भी चिदानन्दशक्तिकी लहरी पादमात्रमें है।

महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि और व्यष्टिबुद्धितत्त्व इस अव्यक्तसे प्रकट हुआ। बुद्धितत्त्वतक तो अपनी पहुंच है। हम निश्चयात्मिका बुद्धिका अनुभव करते हैं। उसकी समष्टिसे होनेवाला विशेष प्रभाव भी अनुभवमें आता है। किन्तु उससे आगे अव्यक्त तो केवल अनुमानगम्य है। जैसे पूर्वानुभूतका संस्कार हमारे अंदर है यह ज्ञात है, जैसे अंकुरशक्ति बीजमें है यह भी ज्ञात है। वैसे मूल प्रकृति अव्यक्त परमात्मामें हैं ऐसा जानकर ध्यान लगाओ। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ां ऐसा पहले बताया। "देवात्मानमपश्यत्" ऐसा नहीं बताया। प्रथम शक्तिका दर्शन होता है तब परमात्माका। यही 'य कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधिष्ठित्येकः............तमेकनेमि"। इस प्रकार उत्तरार्धसे लेकर आगे मन्त्रोंमें बताया-"तमेकनेमिं अपश्यन्" ऐसा पूर्वेणान्वय है।

वह शक्त्याश्रय बीज अणु है या महान् । बीज तो सूक्ष्म होता है। वटधानका दृष्टान्त दिया जाता है। 'यं न निभालयसे अस्मिन् महान् न्योग्रोधस्तिष्ठति" जो देखनेमें भी नहीं आता ऐसे बीजमें पूरा बरगद स्थित है। एक ही वृक्ष नहीं उस वृक्षपर लाखों बीज और उन बीजोंमें लाखों वृक्ष। उनपर करोड़ों अरबों बीज इस क्रमसे एक सूक्ष्म दानेमें अनन्त वृक्ष हैं। उन सबमें बीजशक्ति व्याप्त है। वटधानशक्ति वटवृक्षके रगरगमें व्याप्त है। अन्यथा पीपलका फल लगने लगता और आगे पीपल, आम आदि उसमें पैदा होने लगते। शक्तिदृष्टिसे व्यापक है और बीजदृष्टिसे अणु है। अतएव पहले "अणोरणीयान् महतो महीयान्" ये दोनों बातें बतायीं। खैर, वटबीजादिमें सहकारी पृथिवी, जलादि हैं। अतः बीजसे अतिरिक्त भी वृक्ष संभव है। किन्तु ब्रह्ममें सहकारी साधनान्तर भी नहीं है। अतः बीज ही "अणोरणीयान्" और "महतो महीयान" है।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्त्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अव्यक्तसे भी पर पुरुष है। वह व्यापक एवं अलिङ्ग है। जिसे जानकर प्राणी मुक्त होता है और अमृतत्व पाता है॥ ८ ॥

अव्यक्तपर विचार किया गया। अव्याकृत ही अव्यक्त है। बीजमें वृक्ष रहता है अव्याकृतरूपसे। अण्डेमें पक्षी रहता है। अव्याकृतरूपसे। परंतु वृक्षमें भी वह अव्याकृतरूपसे रहता है। यह कैसे? वृक्षका नामरूप तो आ गया। अवश्य आ गया। किन्तु उस वृक्ष पर आगे फल आनेवाला है या नहीं? है। तो वर्तमानमें वह वृक्षपर किसरूपसे है? उसमें फिर बीज भी आनेवाला है और बीजोंमें वृक्ष भी आनेवाले हैं तो वे भी उसमें अव्याकृत रूपसे हैं। तब यों कहो कि वह बीजवृक्षशक्ति व्यापक है। वह नामरूप व्याकरण करती रहती है। वर्तमानमें कुछ नामरूप व्याकरण हुआ है और भविष्यत् नामरूपका अव्याकृत है। सृष्टिपूर्व सर्व अव्याकृत है। सृष्टिकालमें कुछ व्याकृत एवं कुछ अव्याकृत है। वह अनादि सान्त है। बीजदाहसे शक्ति नष्ट होती है जबकि वह परम्परया अनादिकालसे आ रही है। और "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" के अनुसार सकल मायाका भी अन्त होगा। जैसे संसारकालमें तूलाविद्या नष्ट होती है। मूलाविद्या

मोक्षकालमें ही नष्ट होती है। वैसे संसारकालमें बीजादिदाहसे तूलाशक्ति नष्ट होती है। मूलाशक्ति रह जाती है। मूल शक्तिलय तो मोक्षकालमें ही होगा। उस अव्यक्तरूपी शक्तिको जाननेपर उसके आधारका भी बोध हो सकता है। अतः अब उस आधारका ही साक्षात् वर्णन करने जा रहे हैं।

अव्यक्तात्तु .परः पुरुषः। परः की आवृत्ति कर या पूर्वमन्त्रसे उत्तमकी आवृत्ति कर अव्यक्तसे उत्तम पर पुरुष है ऐसी व्याख्या संभव है। पर का श्रेष्ठ भी अर्थ है और रक्षक भी अर्थ है। पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा परः। अव्यक्त एवं तत्कार्य जगत् का रक्षक पुरुष ही है। या सत्ताप्रदानसे पूरक पुरुष है। अधिष्ठान ही आरोप्य का रक्षक है। और अधिष्ठान सत्ता ही आरोप्यमें मानी जाती है। पुरुषका अर्थ–

"स वा अयं सर्वासु पूर्षु पुरिशयः।
स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते।

इत्यादिमें "पुरिशयनात् पुरुषः" ऐसा बताया है। और दूसरा अर्थ

"वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येको
येनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।"

यह बताया है। सर्वत्र पूर्ण होनेके कारण पुरुषः पुरी वसतीति पुरुषः यह भी अर्थ हो सकता है। वस धातुसे क प्रत्यय और संप्रसारणसे उष होता है। प्रथम इस नवद्वार पुरमें रहनेवाले रूपमें पुरुषको देखो। फिर समस्त पुरियोंमें शयन करनेवाले के रूपमें और अन्तमें पूर्ण रूपसे दर्शन करो। सुषुप्तिकालमें अव्यक्त हो जाता है। उसमें नामरूपविलय होता है। किन्तु उसका आधार चेतन होता है। "नाहं किंचिदवेदिषम्" इस प्रकार अव्यक्तरूपी अविद्याका आश्रय अहंपदार्थ चैतन्य है। वह चैतन्य अव्यक्तसे परे है। उस अव्यक्तको साक्षी प्रकाशित करता है। सत्ता देता है। वही प्राज्ञ है और जाग्रत तथा स्वप्नमें पुरिशय है।

इस प्रकार स्वपुरवासीके रूपमें पुरुषको देखनेके बाद फिर सर्व पुरशायीके रूपमें वही पुरुष रहता है यह समझना है। "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।" ईश्वररूपसे वही सर्वहृदयशायी है। अन्तमें समग्र-जगत्पूरक रूपमें उसे समझना है। किन्तु पुरवासीतक समझमें आता है। सर्वपुरशायी और सर्वपूर्ण किस प्रकार?

ठीक है। प्रथम स्वपुरवासीको ही समझा जाये। स्वपुरवासीके रूपमें हम उसे कैसे समझ रहे हैं। चैतन्यरूपमें। उसका आकार है-अहम्। किन्तु इतना कहकर समाप्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि अहंके साथ-मनुष्यः जुड़ता है। गौरः श्यामः जुड़ता है। श्रृणोमि, पश्यामि जुड़ता है। सुखी दुःखी जुड़ता है। शरीरके संमिश्रणके विना मनुष्यः श्यामः आदि नहीं होगा। श्रोत्र, चक्षु; आदिके संमिश्रणके विना श्रृणोमि पश्यामि नहीं होगा। अन्तःकरणसंमिश्रणके विना सुखी दुःखी नहीं होगा। इसलिये कहो कि इन संमिश्रणोंके विना जो चैतन्यका स्वरूप है वह स्वपुरवासी है। इन सबको प्रकाशित करता है। किन्तु बोलना आसान है। लाल कांच पकड़ा। उस उपाधिसे उसके नीचे जो प्रकाश आया उसमें लाल रंग किसका है? कांचका प्रकाश किसका है? सूर्यका। यह बात सर्वथा निश्चित है कि नहीं? हां निश्चित है। अब दोनोंको थोड़ा पृथक् करो। पृथक् करके बताओ। यह असंभव है। तब वैसे ही शरीरादिसे पृथक् करके आत्माको देखना भी असंभव है। नहीं। कांचको हटाया जाय तो? स्वच्छ प्रकाश दीखेगा कि नहीं? दीखेगा। परंतु शरीरादि उपाधि हटाये नहीं जा सकते। उसके हटनेपर आदमी मरेगा। क्या मरनेके बाद तत्त्वसाक्षात्कार होगा? द्वैतवादी कहते हैं-ठीक है। जीवनमुक्ति नहीं होती। किन्तु इतनेसे हम इतिश्री नहीं करेंगे? जीवित अवस्थामें भी इनके विना आत्मप्रकाशको देख सकते हैं। कैसे? मिथ्या समझकर। क्या मिथ्या समझने मात्रसे लाल प्रकाश सफेद दीखेगा? सुनो। हम स्वप्न देखते लगते हैं तो जाग्रत शरीरेन्द्रियादिके होनेपर भी उनसे मिश्रित चैतन्यका ही अनुभव होता है क्या? नहीं। हां, स्वाप्नशरीरेन्द्रियादि संमिश्रित चैतन्य दीखेगा। सुषुप्तिमें शरीरेन्द्रियादि सर्वथा असंमिश्रित चैतन्यका दर्शन होगा। किन्तु उस समय भी अज्ञान-संमिश्रित चैतन्यका ही बोध होगा-अहमज्ञ आसम्। किन्तु स्वप्न और जाग्रतमें 'नाहं किंचिदवेदिषम्' नहीं होता है। अतः इन उपाधियोंके रहते हुए भी इनके मिश्रणके विना चैतन्यका अनुभव असंभव-इतनी बात कट ही जाती है। हां, कोई न कोई उपाधिमिश्रण रहेगा। इनका सर्वथा विश्लेषण साधारण लोगोंके लिये असंभव है। फिर भी योगियोंके लिये असंभव नहीं है। निर्विकल्पक समाधिमें वे सर्वमिश्रणरहित आत्मचैतन्य-

दर्शन करते हैं। सर्वसाधरणके लिये चालनीन्यायसे देखना होगा। जाग्रत शरीरका स्वप्नमें अभाव, स्वप्नशरीरका जाग्रतमें अभाव इत्यादि।

इसके बाद सर्वपुरवासीके रूपमें आत्माको देखना है। कैसे देखेंगे? उदाहरणके द्वारा प्रथम समझना बादमें उसी प्रकार ध्यानाभ्यास करना। उदाहरण स्वप्नका है। स्वप्नमें जाग्रतके समान ही सब कुछ देखते हैं। सामने मित्र खड़ा है। मकान, पशु आदि हैं। उन सबको 'तुम' शब्दसे बोलते हो या मैं शब्दसे? मित्रसे क्या पूछोगे? तुम कहां गये थे चार दिनसे ऐसा कि मैं चार दिनसे कहां गया था? 'तुम' शब्दसे ही कहोगे। उसको युष्मत्प्रत्ययगोचर कहते हैं और जो मैं पूछ रहा हूं उसके लिये 'तुम' कहोगे या 'मैं'? यह तुम तुमसे पूछता है, तुम कहां गये थे ऐसा कहेंगे या मैं पूछ रहा हूं तुम कहां गये थे। निश्चित है द्वितीय वाक्य ही ठीक है। इसको अस्मत्प्रत्ययगोचर कहते हैं। सामने दीखनेवाले सभी युष्मत्प्रत्यय हैं। देखनेवाला मैं अस्मत्प्रत्यय हूं। इस प्रकार जाग्रतके समान सपनेमें भी 'युष्मत्' 'अस्मत्' ऐसे दो विभाग हो गये। अब प्रश्न यह है कि क्या सपनेमें ऐसे दो विभाग हैं? सपनेमें जो भी कुछ देख रहे हो सबमें तुम हो कि नहीं? सबमें हैं। और स्वाप्न जगत् पूरा किसमें? तुम्हारे अंदर ही। वहां बाह्य कोई जगत् नहीं। सबमें हम। हममें सब। भगवान् कहते हैं-ऐसा ही जाग्रत् में भी है–

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति"

मुझमें सब हैं। सबमें मैं हूं। सपनेमें सबमें मैं हूं और सब मुझमें हैं। किस मुझमें? यह जटिल प्रश्न है। सपनेमें जिस स्वशरीरको देखते हो वह सबमें नहीं है। जो सोनेवाला है वह सबमें और सब उसमें। इसी प्रकार जाग्रत शरीर विशिष्ट आत्मा सबमें नहीं है किन्तु जाग्रतरूपी सपना देखनेवाला चैतन्य सर्वत्र है। वही ईश्वर है। वह सर्वत्र है। अभी हम सोये हैं तो हमें मालूम नहीं पड़ता कि हम सबमें हैं। उत्तिष्ठत, जाग्रत से जगनेपर मालूम होगा। इसको कहते हैं-सर्वासु पूर्षु पुरिशयं'। इसको श्रुति और दृष्टान्तसे समझकर फिर ऐसा अभ्यास करेंगे तब अनुभव होगा कि मैं सर्वभूताशय-स्थित हूं।

अब तृतीय पूर्णत्वात् पुरुषः को देखो। उसी स्वप्नदृष्टान्तसे इसे भी समझना है। सपनेमें तुम ही देवदत्त, यज्ञदत्तादि सबके हृदयमें हो। इतना ही नहीं। सबके रगरगमें तुमही भरे हो। क्योंकि ये सभी स्वात्ममें कल्पित है। जैसे सर्पके रगरगमें रस्सी स्थित है वैसे स्वप्नजगतमें, कणकणमें स्वात्म ही स्वात्म है। वैसे ही जाग्रतमें भी समझना है। अनन्त ब्रह्माण्डमें आत्मा पूर्ण है। शरीरावच्छिन्न आत्मा नहीं। किन्तु शरीरोपाधिविनिर्मुक्त। एतदर्थ अशरीरत्व भावना भी परम आवश्यक है। उस अव्यक्तके कारण अनन्त वस्तु उस आत्मामें दीख रही है। अतः उन पदार्थों से तथा अव्यक्तसे पर वही पुरुष है।

व्यापकः। दो प्रकारसे व्यापकता होती है। एक तो सर्वमूर्तसंयोगी होनेसे व्यापक होता है। जैसे सूर्योदय होनेपर प्रकाश व्यापक हो जाता है। घरके अन्दर हो, बाहर हो सभी वस्तुएं दीखने लगती हैं। यह एक प्रकारकी व्यापकता है। पानीमें नमक डाला या शक्कर डाला या स्याही डाला तो पूरे पानीमें यह फैल जाता है। पानीमें नमक आदि व्याप्त रहता है। इसी प्रकार आत्मा सर्व जड़ जगतमें व्यापक है। अस्ति भाति प्रिय रूपसे सर्वत्र रहता है। दूसरा प्रकार है-घरमें मृत्तिका व्यापकरूपसे रहती है। कुण्डलमें सुवर्ण व्यापकरूपसे रहता है। चीनीके खिलौने हाथी घोड़ा आदिमें चीनी व्यापक होकर रहती है। इसी प्रकार परमात्मा उपादानरूपसे सर्वत्र व्यापक है। दोनों व्यापकतामें फरक यह है कि प्रथमोक्तमें दोनोंको अलग किया जा सकता है। पानी गरम किया तो भाप होकर पानी अलग हो जायेगा और नमक अलग हो जायेगा। किन्तु दूसरे प्रकारमें घरसे मृत्तिकाको अलगकर घर अलग रहे ऐसा नहीं हो सकता। प्रथम व्यापकताको समझकर द्वितीय व्यापकतामें आना चाहिये। श्रुति कहती है वह पुरुष व्यापक है। सहस्रशीर्षा है-

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥"

इसको गीतामें इस प्रकार बताया है-

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके संर्वमावृत्य तिष्ठति ॥"

साधारणरूपसे लोग इसका अर्थ यही समझते हैं कि विराट् पुरुषके हजारों मस्तक, हाथ, पांव आदि हैं। वैसी मूर्ति फोटो आदि भी बने हैं। उपासनार्थ ठीक है, किंतु भाष्यकारोंने यहां व्याख्या यह की है कि सर्वेषां पाणिपादमस्यैव पाणिपादमिति सर्वतः पाणिपादम्। इसी प्रकार यहां पर भी सर्वेषां सहस्रशः शिरांसि अस्यैव शिरांसीति सहस्रशीर्षा। समस्तशरीरोंमें वही आत्मा है तो सबके हाथपांव मस्तक उसीके हाथ पांव मस्तक बने। अतएव सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष आदि हुआ। वह इस भूमिको-भूतजातको, उत्पन्न संपूर्ण को आवृत्त कर दस अंगुल अधिक आगे स्थित हुआ। दशदिगवच्छेदसे दश अंगुलोत्तर होकर स्वयं अपरिच्छिन्न हुआ एवं जगत् तदन्तपाती होनेसे जगतको परिच्छिन्न किया। यह मन्त्र प्रथम व्यापकताको मुख्य रखकर प्रवृत्त हुआ। द्वितीय व्यापकताको लेकर दूसरा मंत्र है-

'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'

यह वर्तमान समस्त दृश्यप्रपञ्च पुरुष ही है। जो भूत बीता हुआ संसार है वह भी पुरुष ही है। और भविष्यमें होनेवाला जो संसार है वह भी पुरुषरूप ही है।

एक तीसरे प्रकारकी भी व्यापकता है। वह है शुक्तिरजतमें शक्तिकी व्यापकता है। मरुमरीचिका जलमें मरीचिकाकी व्यापकता। स्थाणुकी व्यापकता चोरमें। यह विषमसत्ताक व्यापकता है। वेदान्तसिद्धान्तमें यही व्यापकता ब्रह्मकी जगतमें है। अतएव जडप्रपञ्चदर्शनमात्रसे ब्रह्मदर्शन हो गय्या यह माना नहीं जा सकता। कुण्डलदर्शनमें समानसत्ता होनेसे सुवर्ण दर्शन हो जाता है। दीपावलीको सुवर्ण एवं रजतकी पूजाके लिये विक्टोरिया रूपये, गिन्नीकी पूजा करते हैं क्योंकि सुवर्णरजतदृष्टि स्पष्ट है। किन्तु सर्पदर्शनसे रज्जुदर्शन नहीं माना जायेगा। क्योंकि वहां रज्जुभाव नहीं है। अतएव शिवलिङ्गदर्शन मुसलमान भी करता है। ब्राह्मण भी करता है तो फरक पड़ता है। घटादि दर्शनमें ब्रह्मभाव नहीं रहता बल्कि ब्रह्म कार्यभावसे ढँक गया है। ब्रह्मभावसे जगत् को ढको तब ब्रह्मदर्शन माना जायेगा। 'ईशावास्यं' यह श्रुति यही बता रही है।

अलिङ्ग एव च। यह पुरुष अलिङ्ग है। 'न स्त्री न पुमान् न नपुंसकः'

"नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥"

ऐसा श्वेताश्वतरमें बतलाया है। और साफ बताया है। इस जन्मका पुरुष दूसरे जन्में स्त्री हो जाता है तो आत्माका क्या लिङ्ग माना जा सकता है? पुरञ्जन दूसरे जन्ममें वैदर्भी हो गया। अम्बा अम्बालिकामें एक दूसरे जन्ममें शिखण्डी बना। और आजकल इसी जन्ममें लड़के से लड़की और लड़की से लड़के होते हैं तो क्या माना जाये आत्मा? आत्मा स्त्रीलिङ्ग, पुंलिग, नपुंसकलिङ्गसे रहित है। सत् बोलने पर नपुंसक। चित् बोलनेपर स्त्री। आनन्दः बोलनेपर पुमान्। सच्चिदानन्द ऐसा एक करके ब्रह्मको कहा जाता है। अतः वह अलिङ्ग है। लिङ्ग, चिह्न निशानीको कहते हैं। ब्रह्ममें कोई निशानी नहीं है।

लिङ्ग शब्दका दूसरा अर्थ है लीयमानत्वाल्लिङ्ग, लीयतेऽस्मिन्निति लिङ्गम्। जो लीन होता है उसे लिङ्ग कहते हैं। और जिसमें लीन होता है उसे भी लिङ्ग कहते हैं। स्वयं ब्रह्म कहीं लीन होता नहीं। और उसमें अन्य वस्तु भी लीन नहीं होती।

यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुः। उसको जाननेसे ही प्राणी मुक्त होता है। क्या जेलर को यह जेलर है जाननेसे जेलसे मुक्ति मिलती है? क्या श्रृंखलाको देखनेसे श्रृंखलाबद्ध मुक्त होता है? यदि नहीं तो उस पुरुषकों जाननसे संसारबन्धनमुक्ति किस प्रकार? इसका समाधान यह है कि जाननेसे निवृत्ति निवृत्तकी ही होती है। अतः यहां निवृत्तनिवृत्ति है। पैदल घूमते समयकी बात है। सायंकाल लगभग छः बजेका समय था। एक गांवमें पहुंचा। छोटा गांव था। पानी भी मुश्किलसे मिलता था। सोचा, सुबह स्नानादि कैसे करेंगे। किसीसे पूछा, आगे दूसरा गांव कितनी दूरमें है और वह कैसा है? एकने कहा छः माईल दूर है, बड़ा गांव है। तालाब नदी सब वहां है। मैंने सोचा-रातको वहीं पहुंच जायेंगे। रास्ता विकट था। रात हो गयी। सो भी अंधेरी रात। रास्तेमें जंगल था। आठ नौ बजेतक चलते रहे। यह जंगल खतम हुआ। मैदान आ गया। किन्तु आगेकी ओर देखा तो और भारी काला जंगल। पीछे देखा जंगल। आगे देखा जंगल। सोचा-फंस गया मैं विचार किया जंगलमें जायेंगे तो जानवरोंका खतरा है। वहीं एक चट्टान

पर रातको सोया। सुबह उठा तो एक आदमी दिखाई पड़ा। मैंने पूछा-यह जंगल कैसा है? उसने कहा-इस गांवमें ऊंचे-ऊंचे वृक्ष हैं वे दीख रहे हैं। थोड़ा एक फर्लांग आगे जाओ तो घर दिखाई देंगे। आगे बढ़ा तो ऐसा ही था। रातको मैं जंगलमें फंस गया था। सुबह छुटकारा मिला। कैसे मिला? निवृत्तकी निवृत्ति हुई। श्मशानकी कथा भी प्रसिद्ध है। वहां भूत पकड़ लेता है। फिर छोड़ता नहीं। कई छोकरे आपसमें बोल रहे थे। एकने कहा-मैं जाकर आता हूं। कील गाड़कर आऊंगा। वह गया। पर डर होने लगा। पेड़ पर कील मारा। कपड़ेको किसीने पकड़ा। वह भागा। चिल्लाया, बिमार हो गया। भूतने पकड़ा। प्रातः मालूम पड़ा कील मारते समय अपने कपड़के साथ मार दिया था। बस भूत छूट गया। यह निवृत्ति निवृत्तकी है। अमृतत्वप्राप्ति भी प्राप्तकी प्राप्ति है।

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

उस पुरुषका स्वरूप दर्शनविषय नहीं बनता। इसे चक्षुरादि इन्द्रियोंसे कोई नहीं जान पाता। हृदयस्थ अविकल्पक बुद्धि एवं मननसे प्रकाशित इसे जो जानते हैं वे अमृत होते हैं ॥ ९ ॥

"इह चेदशकद्बोद्धुं" से आत्मबोध यहीं प्राप्त करना चाहिये यह बताया। उसे प्राप्त करनेके लिये प्रथम इन्द्रियप्रेरकतारूपसे देखो। उसके बाद मनःप्रेरकतारूपसे देखो। फिर बुद्धिस्थित प्रकाशबीजरूपसे देखो तथा बुद्धिसमुदायस्थ विशेषप्रकाशबीजरूपसे देखो। उसके बाद सर्ववस्तु-वासना एंव सर्वज्ञानवासना रूपी अव्यक्तके अधिष्ठानरूपसे देखो। इसके बाद सबसे पर अर्थात् अधिकसत्ताक व्यापकस्वरूपका दर्शन करो। यह यहां तक के ग्रन्थका संक्षिप्त अर्थ हुआ। इस पर यह प्रश्न हुआ कि इतने द्रविडप्राणायामकी क्या जरूरत है? देखना तो सीधा ही देखा जा सकता है। ध्रुव प्रह्लादने साक्षात् ही प्रत्यक्षदर्शन किया। वैकुण्ठवासी तो भगवानका दर्शन करते ही हैं। वृन्दावनवासियोंने प्रत्यक्ष दर्शन किया था। श्रीमद्भागवतमें—

"यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीह साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥"

इत्यादि अनेक स्थानोंमें श्रीकृष्णको परब्रह्मरूपसे वर्णन किया है। उसके लिये जो पुण्य, तप आदिकी आवश्यकता है उन्हें संपादन करो। आत्माकी बात करते हो तो–

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्"

इस प्रकार आत्माके रूपमें श्री कृष्ण का वर्णन आया है। अतः श्रुति अब सर्वसन्देहनिवारणार्थ नये सिरेसे विचार कर रही है।

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य। संदृशका अर्थ है संमुखदर्शन। रूप्यमाण, निरूप्यमाण स्वरूप ही रूप शब्दका अर्थ है। विधिमुखसे सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादि निरूप्यमाणस्वरूप है। तथा "अथात आदेशो नेति नेति" इत्यादि निषेधमुखसे निरूप्यमाणस्वरूप है। विधिमुखसे सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म, विज्ञानं ब्रह्म इत्यादि बोध होता है। बाधत्यागपूर्वक अखण्डाकारवृत्तिविषय ही रूप है। प्रथमतः श्रवणमात्रसे साक्षात्कारात्मक ज्ञान नहीं होता। अभ्यासादिकी अपेक्षा है। जो लोग श्रवणसे साक्षात्कार मानते हैं उनके मतमें भी प्रथम परोक्षकल्प ही ज्ञान होगा। सत्यसे अनृत की भी व्यावृत्ति होती है। ज्ञान से जड़ता की व्यावृत्ति होती है। आनन्दसे दुःखकी व्यावृत्ति होती है।

"अनृतजड़विरोधिरूपमन्तत्रयमलबन्धनदुःखताविरुद्धम् ।
अतिनिकटविक्रियं मुरारेः परमपदं प्रणायादभिष्टवीमि ॥

ऐसा संक्षेपकाचार्यने ब्रह्मके रूपका वर्णन किया है। यहां भी रूप शब्दका रूप्यमाण अर्थ है। यहां निषेध मुख को ही मुख्य रखा है। दोनोंमें फरक क्या है? विधिमें भागंत्याग है और चैतन्योपस्थिति है। निषेधमें अनृतादिका त्याग है, चैतन्योपस्थिति है। उत्तर यही है कि फरक विधिमें चैतन्यपदसे उपस्थित है। उसका लक्षणासे एक भाग त्याग होता है। निषेधमें पदसे सीधा निषेध आता है। पदान्तरसे आत्मोपस्थिति है। या निषेधावधिरूपसे अर्थात् चैतन्य उपस्थित होता है। फिर बोध होता है। यह रूप कृष्ण,राम, विष्णु आदिका नहीं है। गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्। ब्रह्म तो गूढ़ रह गया और मनुष्यलिङ्ग दीख रहा है। "देहीवाभाति" यहां 'इव'

पदसे वास्तविक देह नहीं है बताया। जो कृष्णादि प्रत्यक्षरूपकी अन्तरात्मा है वह तो प्रत्यक्ष नहीं है। परमात्माकी बात छोड़ो, यह जीवात्मा प्रत्यक्ष कहां है?

"प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः"

दूसरा आदमी जिंदा है कि नहीं, इसमें आत्मा है या चला गया इसका पता लगानेके लिये डाक्टरकी सर्टिफिकेटकी जरूरत होती है। अगर प्रत्यक्ष हो तो सीधा ही देख लेते और है तो है बोलते, नहीं तो नहीं बोलते, सर्टिफिकेटकी क्या जरूरत? और दूसरोंकी आत्माकी बात छोड़ो,स्वयंकी आत्मा प्रत्यक्ष है क्या? है तो बतावो उसका आकार प्रकार क्या? बड़े-बड़े नैयायिक भी सुखादिमत्त्वेन प्रत्यक्ष मानते हैं। तो उलटा आत्माको देखनेके लिये सुखदुःख देखो। सुषुप्तिमें खुद का ठिकाना नहीं रहता। रूपादि रहित होनेसे यह कैसे प्रत्यक्षविषय होगा? फिर परमात्माका क्या कहना? उस पुरुषका निरूप्यमाण शुद्ध चैतन्यस्वरूप संमुख प्रत्यक्ष- विषय होकर नहीं रहता।

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। यहां चक्षुसे ब्रह्मदर्शनका स्पष्ट निषेध किया है। शंका हो सकती है कलियुगी हम भले न देखे द्वापरयुगी, सत्ययुगी अवतारकालमें तो देख सकते हैं। इसका उत्तर है-कश्चन। न सत्ययुगी देख सकता है न त्रेतायुगी या द्वापरयुगी। कोई भी उसे चक्षुसे नहीं देख सकता है। यहां भाष्यकारने चक्षुपदको उपलक्षण माना है। किसी भी इन्द्रियसे ब्रह्मका दर्शन नहीं होता।

"यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥
"यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।"
"यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ॥"

इत्यादि श्रुतियोंमें इसका स्पष्ट वर्णन है। "देहीवाभाति मायया" यहां मायानिर्मित शरीरका ही आभान बताया, न कि आत्माका। चिन्मयविग्रहादिकी भी कल्पना व्यर्थ है। क्योंकि वह प्रकाश्य हो नहीं सकता। चक्षुर्विषय आकार तो मायामय ही है। वल्लभाचार्यादि ने भी मायापसरणसे चिन्मयप्रकाश माना है।

हृदामनीषा। हृदाका अर्थ भाष्यमें हृत्स्थया बताया। हृत्स्थयाका अर्थ है-हृदयाकाशविषया। " हृदयस्थानमें एक पुण्डरीक है। उसमें एक आकाश है।

"यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म
दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्त-
स्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् ॥"

यह शरीर ब्रह्मपुर है। जिसको लेकर "इह चेदशकद्बोद्धुं" बताया। ब्रह्मपुरमें ब्रह्म न मिल सका तो फिर कहां मिलेगा? इस ब्रह्मपुरमें एक दहर-पुण्डरीक है। उसे हृदयकमल कहते हैं। उसमें एक अन्तराकाश है। उस दहरपुण्डरीकमें ही उसकी खोज करो। वह आकाश कितना बड़ा होगा? एक कमल मुट्ठीमें आता है तो आकाश मुट्ठी भरका होगा। घटाकाश कितना? जितना बड़ा घट। गृहाकाश कितना बड़ा? जितना बड़ा गृह। दहराकाश कितना बड़ा? जितना बड़ा दहरपुण्डरीक। नहीं। ऐसा नहीं। श्रुति कहती है।

"यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः"

जितना यह बाहरका आकाश है उतना ही यह अन्तर्हृदय आकाश है। यह भला किस प्रकार? महाकाशमें विमान उड़ता है तो क्या घटाकाश भी उतना ही बड़ा होनेसे वहां भी विमान उड़ेगा? क्या गृहाकाशमें आप रहते हैं तो घटाकाशमें भी रहेंगे? यदि नहीं तो "यावान् वा अयमाकाश" इत्यादि श्रुति क्या कहती है? इसका उत्तर पूर्वोक्त स्वप्नोदाहरणसे समझना होगा। स्वप्नमें यह अनन्त आकाश दीखता है या नहीं? सूर्य-चन्द्रादि दीखते हैं या नहीं? पर्वत सागरादि दीखते हैं या नहीं? सब दीखते हैं। क्या छोटे छोटे दीखते हैं या जाग्रत में जितने बड़े दीख रहे थे उतने ही बड़े दीखते हैं? उतने ही बड़े दीखते हैं। कहां वे दीखते हैं? बाहर, या कमरेमें, या बिस्तरमें या आंखोंमें या हृदयमें? बस अन्तिम विकल्प ही। हृदयमें आधार बड़ा होता है या आधेय? आधार ही। तब जितना बड़ा आकाश सपनेमें देखा उतना ही बल्कि उससे ज्यादा बड़ा हृदयाकाश हुआ कि नहीं? श्रुतिने तावान् कहा। हम व्याख्या करेंगे उससे भी बड़ा। वैसी ही जाग्रत हृदयाकाशकी भी बात है। जाग्रतवाला समझमें

नहीं आता। समझो। स्वप्नमें व्यावहारिक हृदयमें प्रातिभासिक अनन्त जगत् रहा। विषमसत्ता होनेसे उसमें समा गया। इसी प्रकार जाग्रतमें पारमार्थिक हृदयाकाशमें व्यावहारिक अनन्त जगत रहता है। जाग्रत में एक हृदयाकाश ही पारमार्थिक रूपसे प्रकाशित होता है इसलिये हृदयाकाशको बताया जाता है। बाकी सब नामरूपसे व्यहित है। अंदर स्वयं होनेसे निर्व्यवधान है। हृदयमें शुद्ध आत्मा। उसके बाहर बुद्धि-व्यवधान। फिर शरीरव्यवधान। उसके बाद परकीय शरीर, उसकी बुद्धि, उसके बाद आत्मा। कितने व्यवधान हो गये? अतः परकीय आत्मा आदिको निरूपाधिक स्वरूपका प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु स्वयं स्वके लिये व्यवहित नहीं हो सकता। अतः हृदयाकाशप्रकाश पारमार्थिक है। पारमार्थिक में विषमसत्ताक आकाशादि आ जाये तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। तब श्रुतिने तावान् क्यों कहा? जबकि "पादोऽस्या विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" ऐसा अन्यत्र बताया? इसका कारण यह है कि "अन्तर्हृदय आकाशः" यह शुद्ध होनेपर हृदयोपाधिक होनेसे पादात्मक हो गया। उसमें विश्वभूत आ गये। विश्वभूत आकाशमें है। अतः तावान्से कहा। उस हृदयाकाश को विषय करनेवाली बुद्धिको यहां हृदासे बताया।

मनीषा यह भी उसी अर्थमें है। मन ईष्टे इति मनीट्। मन पर नियन्त्रण करनेवाली बुद्धि मनीट् है। बुद्धिका ही यह नाम है। अथवा मनोनियन्त्रणकारी निदिध्यासन यहां विवक्षित है। निदिध्यासनमें एकाकार वृत्तिप्रवाह होनेसे वह संकल्पविकल्पात्मक मनोनियन्त्रणकारी है। तब हृदाका अर्थ हृदयाकाश विषयक बुद्धि, श्रवणजनित बुद्धि ही ग्राह्य है। क्योंकि तृतीय विशेषण मनसासे मनन लाभ हो जायेगा। मनपर नियन्त्रण करना परम आवश्यक है।

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धे तु विषयासङ्गं मोक्षे निर्विषयं मनः॥"

मन ही तो बन्धन और मोक्षका कारण है। बन्धन होता है जब वह विषयोंकी ओर दौड़ता है। लक्ष्यकी ओर चले या निर्विषय हो तो वह मोक्षका कारण है। यह मन घोड़ेके समान है। यदि लगाम बराबर है-मनीषा है तो वह लक्ष्यपर पहुंच जायेगा। अन्यथा तुरंत नीचे गिरायेगा।

घोड़ा आदमीको पहचानता है। अनजान आदमी चढ़े तो तुरंत गिरा देता है। इस मनका ईशन कौन करता है? बुद्धि करती है। अतएव बुद्धिको मनीट् बताया।

मनसा। मनु अवबोधने। यहां मनस्का चित्त अर्थ नहीं। क्योंकि मनपर ईशन करने बताया तो फिर उसी मनको करण बतानेकी विशेष आवश्यकता नहीं है। अतः मननोत्पन्न अवबोधन मनस् शब्दका अर्थ है। मनन करनेपर ही अवबोध अर्थात् अवगतिरूप बोध होता है। अतएव यहां सम्यग्दर्शनपर्यन्त अर्थ भाष्य में बताया। अतएव इन तीन विशेषणोंका अर्थ अपनी अपनी सुविधानुसार कर लेना चाहिये। जैसे मनीषाका अर्थ है मनोनियन्त्रण करना। मनसाका अर्थ होगा शास्त्रमनन, तदर्थ चिन्तन, निदिध्यासनजनित साक्षात्कार। और हृदाका अर्थ होगा-हृदयाकाशरूपी आत्मविषयक चरम बुद्धि इत्यादि। इनसे अभिक्लृप्तका अर्थ है अभिप्रकाशित। महाभारतमें एक समान श्लोक आया है–

"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
भक्त्या च धृत्या च समाहितात्मा ज्ञानस्वरूपं परिपश्यतीह ॥"

यदि यहांके उत्तरार्धकी व्याख्या वहांपर की हो तो हृदा मनसा का वहां भक्त्या शब्दसे अर्थ किया। मनीषाका अर्थ धृत्या पदसे किया। भागात्मिका भक्ति है। परमात्माका मैं भाग हूं चाहे "ममैवांशो" के अनुसार अंशरूप हो या 'अमृतस्य पुत्राः" के अनुसार पुत्ररूप है। हृदयाकाश तो भागरूप है ही। तद्विषयक भावना भक्ति है। शरणागति है। "स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते"। अपने वास्तविक स्वरूपका अनुसन्धान अर्थात् चतुष्पात् ब्रह्मका मैं पाद हूं इस प्रकार की ऐक्य भावनासे होनेवाली प्रियता ही भक्ति है। भक्ति विक्षेपनिवारिणी तो है ही तथा धृति मनको धारण करना, वशमें करना है। उससे अभिक्लृप्त का अर्थ है नियन्त्रित-वहीं यहाँ समाहितात्मासे बताया।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

जब पांच ज्ञानेन्द्रियां मनके साथ स्थिर हो जाती है, बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्था को परमगति बताया है ॥ १० ॥

कैसे आत्माका बोध प्राप्त करना चाहिये इसका तरीका-विचारात्मक तरीका बताया। 'इन्द्रियाणां पृथग्भाव' इत्यादिसे। अब उस बोधको प्राप्त करनेके लिये योगक्रियापद्धति बता रहे हैं। किन्तु वेदान्त होनेसे विचार-प्रधान ही योग क्रिया है। अतः मन्त्रकी व्याख्या विचारपूर्वक ही होगी।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते। काफी दूर तक सांख्य तथा वेदान्त साथमें चलते हैं। इन्द्रियादिको अवस्थित कैसे किया जाये इसके लिये प्रथम सांख्यानुसारी विचार देखें। सांख्यशास्त्रवालोंका सिद्धान्त है—

'संघातपरार्थत्वात्त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥'

सांख्योंका कहना है कि संघात हमेशा परार्थ होता है। मकान ईंट, चूना, सिमेन्ट, लोहे आदि का संघात है। वह किसके लिये हैं? क्या मकान मकानके लिये ही होता है? वस्त्र तन्तुसंघातरूप है। वह परार्थ है। इस प्रकार सभी संघात परार्थ ही होता है। कौन पर है? जो असंहत है। बोले-परमाणु संघात रूप नहीं है। सांख्योंने कहा वह भी त्रिगुणसंघातरूप है। फिर असंघातरूप कोई नहीं होगा। होगा। क्यों नहीं होगा? पुरुष असंहतरूप है। उसमें भी सुखदुःख मोह त्रिगुण है। नहीं। ये प्रकृतिके तीन गुण पुरुषमें प्रतीत होते हैं। दूसरी बात संघात तभी संभव है यदि संघातक हो। वह स्वयं असंहत होगा। पुरुष अधिष्ठानरूप है। संघातक है। तीसरी बात संघात हमेशा जड़ होता है। जड़ हमेशा चेतनके लिये ही होता है। जड़का अपना कोई प्रयोजन नहीं होता। चौथी बात संघात भोग्यवस्तु होती है। भोजन रोटी, दाल, भात व्यंजनका संघात है। भोग्य है। तदर्थ भोक्ता चाहिये। भोक्ताके बिना भोग्य निरर्थक होता है। अतः असंहत, अत्रिगुण, अधिष्ठान भोक्ता पुरुष पृथक् है। तदर्थ ही ये सारे संघात हैं।

इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी संघातरूप है। अतः परार्थ है। कौन है पर? आत्मा। हम पहे बता चुके हैं-ये इन्द्रियां विषयोंका संचय कर सहायक पुजारी मनको देती हैं और मन मुख्य पुजारी बुद्धिको समर्पित करता है। बुद्धि निश्चयकर आत्माको समर्पित करती है। सीधे शब्दोंमें ये सभी संघातरूप होते सभी पुरुषार्थरूप हो गये। विषय शब्दस्पर्शादि, उनकी ग्राहिका श्रोत्र, त्वगादि तथा, मन, बुद्धि सभी संघातरूप होनेसे परार्थ हो

गये, आत्मार्थ हो गये। विषय विषयके लिये नहीं है। इन्द्रियादिके लिये भी नहीं है। क्योंकि इन्द्रियादि सभी जड़ हैं। मन बुद्धि भी जड़ है। अतः सभी आत्मार्थ ही हुए।

परंतु प्रश्न उठा कि आत्माको इनकी क्या जरूरत पड़ी? यहां से वेदान्त सांख्यसे अलग हो जाता है। सांख्य कहते हैं-पुरुष भोक्ता है। वेदान्ती कहते हैं पुरुष भोक्ता नहीं है। कर्ता नहीं है यह सांख्य भी मानते हैं। किन्तु भोक्तृत्वका त्याग वे नहीं मानते। वेदान्तका कहना है कि वह भोक्ता क्यों बनने गया? क्या उसको सुख चाहिये इसलिये? उसको क्यों सुख चाहिये? वह स्वयं आनन्दरूप है। उसको सुखकी क्या जरूरत पड़ी? सूर्य प्रकाशरूप है। अतः उसको दीपक प्रकाशकी आवश्यकता क्या है? आत्मा स्वयं अनन्त आनन्दस्वरूप ठहरा। उसको विषयसुखकी आवश्यकता क्यों पड़ने लगी? बल्कि आत्माके आनन्दसे अन्य सबमें आनन्द है।

"अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"

अन्य सभी भूत अर्थात् शब्दादिविषय, श्रोत्रादि इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि ये सभी आत्मानन्दसे आनन्दवान् हैं। आत्मान्दका प्रतिबिम्ब अविद्यावृत्तिमें आता है। उसका असर अन्तःकरणमें आता है। उसका प्रतिबिम्ब इन्द्रियोंमें और इन्द्रियसुख ही विषयमें भासित होता है। शब्दादि विषय केवल इन्द्रियोंमें अनुकूल वृत्ति पैदा करते हैं। जिसकी घ्राणेन्द्रिय नहीं है उसका मन बुद्धि होनेपर भी गन्ध सुख कहां होता है? बहेरे को शब्दसुख नहीं होता। अंधेको रूपसुख नहीं होता। ज्वरपीड़ित रसनेन्द्रियको रससुख नहीं मिलता। विषय बिना भी यदि अनुकूल इन्द्रियवृत्ति पैदा कर सकते हैं तो विषयों के बिना ही विषयानन्द प्राप्त होगा। जैसे नासिकाग्रमें संयम करनेवालोंको गंधप्रवृत्ति होनेपर दिव्य गन्धानुभूति होती है। तालु संयमन से रूपप्रवृत्ति तथा दिव्यरूपदर्शन होता है। इन्द्रियोंका भी उपयोग मनोवृत्ति पैदा करने मात्रका है। विषय भी, इन्द्रिय भी सपनेमें नहीं है। विषय, हाथी, घोड़ा, दिल्ही, कलकत्ता सोनेके कमरेमें कहांसे आये, जो सपनेमें दीखते हैं? इन्द्रियां तो लीन ही हो गयीं। सोये हुए आदमीके समाने टी. वी. रख दें तो क्या उसको दिखाई पड़ेगा? गाना गावें तो सुनाई पड़ेगा? इसप्रकार विषय एवं इन्द्रियोंके न होनेपर भी विषयसुख

तथा ऐन्द्रियक सुख सपनेमें होता है। अतः विषय तथा इन्द्रियोंका प्रयोजन मनमें अनुकूल वृत्ति उत्पन्न करना मात्र है। वहां प्रातिभासिक विषयादि स्वीकार लें किन्तु योगी प्रातिभासिक विषय एवं इन्द्रियोंके बिना भी मनमें वृत्ति उत्पन्न कर सकते हैं। और दिव्य विषयक दिव्य ऐन्द्रियक सुख पा सकते हैं। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

"सत्त्वपुरुषयोरत्य.......स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ।
ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥"

स्वार्थसंयमसे पुरुषज्ञान होता है। उससे दिव्य शब्दादिज्ञान होता है। दिव्य शब्दादि क्या? उनसे होनेवाला आनन्द प्राप्त होता है। दिव्य शब्द बोलनेका मतलब ही है विषय नहीं। विषय तो भौतिक होता है। आगे जाकर मनोवृत्ति भी आनन्दप्रतिबिम्ब ग्रहणार्थ है। प्रतिबिम्बके लिये लोग इतने लालायित हैं तो विषयकी बात ही क्या। वह पूर्ण आनन्दस्वरूप है। उस पूर्णानन्द आत्माको विषयानन्दसे क्या मतलब? वह तो परछाही मात्र है। कोई अपनी परछाहींकी अपेक्षा रखेगा? सूर्य अपनी परछाहींसे प्रकाशित होगा? तब संघात परार्थत्वायमें पर कौन?

उसका उत्तर सांख्यैकदेश यह देते हैं कि पुरुषको उसका उपयोग हो न हो तो भी प्रकृति अपना काम करती रहेगी। दुःख पुरुषको नहीं चाहिये तो क्या प्रकृति दुःख उत्पन्न नहीं करेगी? उसका स्वभाव है सुख-दुःख संपादन कर पुरुषको समर्पित करना। "स्वभावो दुरतिक्रमः"। काशीमें एक कोठारी था। कभी अच्छा साग नहीं लाता था। बाजारमें जो सड़ी चीज रहती थी उसे सस्तेमें लाकर, सड़े भागको काटकर फिंकवाकर बाकीका उपयोगमें लाता था। मैंने उसको कहा सड़ा भाग काटकर फेंको, बाकी बचा भाग उतना ही होगा जो अच्छी चीज अधिक पैसेमें लाओगे। उस कोठारीका कहना था मेरेसे अच्छी चीजकी खरीदी नहीं हो पाती। यह है स्वभाव। एक महात्मा दिखाई पड़े। दिल्ली आश्रममें। किसीकी अच्छी पेन्सिल, अच्छी पेन, घड़ी आदि देखे तो उठाकर ले जाते, बादमें वापस देते। हम पूछते ऐसा क्यों करते हो? वे बोले—पहलेकी आदत पड़ गयी। नयी आदतके कारण विवेक कर वापिस लाकर देता हूं। ऐसी यह प्रकृति

भी है। सुख देना, दुःख देना इसका स्वभाव है। अनुकूलादिवृत्ति पैदा करना इसका काम है। शेष काम प्रतिबिम्बादि वह होता रहता है।

सिद्धान्त यह है कि ये संघात परार्थ हैं। पर है चिदचिद्ग्रन्थि। चित् में अचित् ग्रन्थि हो गयी है। वही अहंकार है। वह भी संघात है कि नहीं? नहीं। चित् अचित् मिलकर कोई पदार्थ नहीं बनता। जैसे अनेक तन्तु मिलकर एक कपड़ा बनता है। अचित्तादात्म्य स्वतन्त्र अहंकार है। वही सुखी, दुःखी भोक्ता आदि है। प्रकृति असंहतके लिये प्रवृत्त होती है। वह चिदचिद्ग्रन्थितक पहुंचती है। बस वही सब है।

जब यह मालूम पड़ जाता है कि ये इन्द्रियां एवं मन परार्थ—आत्मार्थ प्रयत्न करते हैं किन्तु वह आत्मा तक नहीं पहुंचता, जैसे गरीब, बाढ़ पीड़ितादिके लिये दिया गया धन बीचवाले खा जाते हैं तब देनेवाले देना बंद कर देते हैं। कबूतरको डाला गया अनाज बकरी खा जाय तो कौन दाना डालेगा? सन्तके निमित्त दिया गया मिष्टान्न बीचमें नौकर ही खा जाये तो कौन देता रहेगा? वैसे ये इन्द्रियां, मन आदि भी जब अपनी प्रदत्त वस्तुको बिचौली ग्रन्थि खा जाती है तो प्रयत्न बन्द कर देते हैं। यही यहां कह रहे हैं—"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते"। परंतु यह ज्ञानके बादकी बात होगी। क्योंकि ज्ञानके बिना इस बातका पता लगता नहीं कि ग्रन्थिरूप अहंकार भोक्ता है, आत्मा नहीं। अतः प्रथम साधनविचार करना होगा।

पञ्चावस्थानका साधन है—प्रत्याहार। केवल निश्चलतामात्र नहीं। निश्चलता तो सुषुप्ति मूर्च्छा आदिमें भी होती है। किन्तु वही—"तामाहुः परमां गतिः" वाली गति नहीं है। यहां प्रत्याहारके द्वारा निवृत्तिप्रयत्न से एकाग्रता संपादन करना ही अवस्थान है। हाँ, इसमें भी योगप्रक्रिया और वेदान्तप्रक्रियामें फरक है। "स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" यह इन्द्रियोंका अवस्थान, "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा, तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"। यह मनका अवस्थान है। "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" यह बुद्धिका अविचेष्टन है। यह यौगिक प्रक्रिया है। इनमें प्रत्याहार किस प्रकार है? श्रोत्रादि इन्द्रियोंका विषयोंसे संपर्क टूट जाये और चित्तकी ओर हो जाये।

"योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः"

इस गीतोक्तिके अनुसार तदर्थ एकान्तवास आवश्यक है।

"समे शुचौ शर्करवह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवासाश्रयणे नियोजयेत् ॥"

इसप्रकार उपनिषदोंमें भी एकान्तवासादिकी आवश्यकता बतायी है। इसमें एक प्रश्न उपस्थित होता है कि विषयसंपर्क तोड़ना एक तो असंभव जैसा है। जैसे-तैसे मान भी लिया जाये फिर भी अंदरकी ओर उनको ले जाना किस प्रकार है? जंगलमें चिड़िया चहकने लगे तो सुनायी पड़ेगा। बरफके समय ठंढीका अनुभव होगा। जंगल आदिका रूपदर्शन निश्चित है। तब प्रत्याहार किस प्रकार? अंदर ले जाना सुनकर कुछ लोग दृष्टिको भ्रूमध्यमें ले जानेकी कोशिश करते हैं परिणाम सिरदर्द होता है। उसके लिये योग प्रक्रियायें नाना प्रकारकी करते हैं। वेदान्तका कहना है विषयोंसे हटाना और अंदर ले जानका अर्थ न तो आंख मूंदना और न भ्रूमध्यमें दबाना है। किन्तु नामरूप बाह्य है वहांसे हटाकर अंदर ले जानेका मतलब है अस्ति, भाति, प्रियमें ले जाना। वेदोंमें एक मन्त्र आता है—

"पञ्च नद्यः सरस्वतीमपियन्ति सुस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत् सरित् ॥"

पञ्चामृतस्नानं समर्पयामिका यह मन्त्र ब्राह्मण लोग पढ़ते हैं। पाञ्च नदियां सुस्रोत होकर सरस्वतीमें मिल जाती हैं। उससे कुछ विपरीत होनेपर सरस्वती पांच धाराओंमें विभक्त होकर देशमें सरित हो गयी। (सा+उ=सो वही सरस्वती)। जैसे गङ्गाजीमें यमुना, गण्डकी, क्षिप्रा आदि मिलती हैं। किन्तु सत सरोवरमें सात धारायें बन जाती हैं। श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियोकी धारा जब सुस्रोत हो तब सरस्वती ज्ञानमयी चिति परमात्मामें विलीन हो जाती हैं। परमात्माभिमुख होनेपर नामरूप छोड़कर अस्ति भाति प्रियरूपी शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें पहुंच जाती है। वही सरस्वती चिति प्रथम मनमें आकर पांच इन्द्रियोंसे पांच धारा बनकर देश अर्थात् विषयोंमें पहुंच जाती है। तात्पर्य परमात्मचिति इन्द्रियोंमें ढलकर नाना ज्ञान स्वरूप हो रही है। जैसे एक ही सूर्यप्रकाश नीला, पीला, लाल आदि काँचोंमें ढलकर नानाकार हो जाता है। इन श्रोत्रादिकी धारा विपरीत हो तो इनमें आयी हुई जलधारायें उसी परमात्मचितिमें लीन

होंगी। विषयोंमें (देशमें) पहुंचना संसार है। वह हो चुका इसलिये अभवत् यह भूत प्रयोग है। और अभी साधककी इन्द्रियधारा सुस्रोत हो गयी है अतः परमात्मामें मिल रही हैं। वर्तमान प्रयोग है। श्रुतिमें "अवतिष्ठन्ते" का अर्थ है आत्मन्यपियन्ति। आत्मामें स्थिर होना।

मनसा सह। इन्द्रियोंकी गति विषयोंकी ओर होनेसे कुस्रोतस है और परमात्माकी ओर होनेसे सुस्रोतस है। परंतु इतनेसे नहीं होगा। मनको भी अवस्थित करना होगा। गीतामें बताया—

"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥"

यहां कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियोंका भी उपलक्षण है। कर्मेन्द्रिय मिथ्याचारतामें विशेष भूमिका निभाती हैं अतः उनका नाम लिया। प्रत्याहार किया। चित्तस्वरूपानुकार बना दिया। परंतु चित्तमें क्या स्थित है? यहां यदि विषयसंस्कार प्रबल है तो? इन्द्रियसंयम बेकार सा हो जाता है। अतएव स्थितप्रज्ञमें—

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जम्"

बताया। विषयहरणका परित्याग किया तो इन्द्रियां अवस्थित हो गयीं। किन्तु मनमें रस रहा। वासना रही। तो वह मिथ्याचार कोटिमें आयेगा। अतः यहां श्रुति कह रही है—मनसा सह। मन भी अवस्थित हो जाये तब योगकी बात होगी। मनमें वासनाओंके कारण संकल्पविकल्प होते रहते हैं। इन विषयोंको पुनः ग्रहण करें कि नहीं। वे विषय अच्छे दीख रहे हैं। वस्तुतः ये अच्छे हैं या नहीं। क्या विषयसेवनसे नुकसान? इसप्रकार संकल्पविकल्प चला तो इन्द्रियसंयमकी क्या कीमत रही? मनको स्थिर करनेका मतलब विषयचिन्तनको भी त्याग कर उसे ब्रह्ममें लीन करना, स्थिर करना।

बुद्धिश्च न विचेष्टति। मनमें यद्यपि विषयवासना नहीं, उसे दूर किया, किन्तु ब्रह्मकी ओर ले नहीं गये। विषयाकारवृत्ति बनती रही तो? ग्रामोंमें वृद्ध होते हैं। भोगोंसे वे तृप्त हो जाते हैं। इन्द्रियोंमें शक्ति न होनेसे अपने आप कुस्रोत नहीं है, मनमें भी विषयवासना नहीं है क्योंकि इन्द्रियां प्रबल हो तो विषयवासना मनमें होती है। किन्तु दुनियाभरकी चर्चा वे करते

रहते हैं। बच्चे लोग बैठते हैं तो भूतवर्तमान बोलते ही हैं, काफी भविष्य भी बोल जाते हैं। परंतु इन्द्रिय और मन स्थिर होनेसे वे योगी कहलायेंगे कि नहीं? नहीं। 'बुद्धिश्च न विचेष्टति'। चित्तवृत्तिनिरोध भी होना चाहिये। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। असलमें चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है। इन्द्रिय-संयमादि साधनमात्र है। अतः भूत वर्तमान वृत्तियोंसे बुद्धिमें जो सचेष्टता है उसे भी त्यागकर एकाकारचित्तवृत्तिप्रवाहसंपादन भी आवश्यक है। थोड़ी देरके लिये बुद्धिकी चेष्टा बंद कर सकते हैं और लोग करते भी हैं। किन्तु अविचेष्टता विवक्षित नहीं। इन्द्रियमनःसंयोगपूर्वक बुद्धिविचेष्टन ही योग कहलाने योग्य है।

तामाहुः परमां गतिम्। विरोधाभास जैसा लगेगा। इन्द्रियां अवस्थित हैं, गतिहीन हैं, मन भी अवस्थित है, गतिहीन है, बुद्धिमें भी चेष्टा नहीं, वह भी गतिहीन हैं, तब परमगति किसप्रकार? साधारणगति नहीं, परमगति। विरोधाभासपरिहार है। परमगति मोक्षका वह साधन है। कारणमें कार्योपचार है।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

उस इन्द्रियधारणाको योग मानते हैं क्योंकि वह स्थिर है। उस समय साधक प्रमादरहित होता है। योग तो उत्पत्ति और विलय है। ॥ ११ ॥

कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, संन्यासयोग इत्यादि अनेक योग प्रसिद्ध हैं। कर्मियोंका कहना है कि कर्मसे स्वर्गादि संयोग होता है। अतः वही योग है। कर्म करनेपर इहलोक भी सुधर जाता है। 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः' ऐसा बताया है। इहलोकसंयोगहेतु होनेसे भी योग है। उपासनावाले भक्तलोग भक्तियोग मानते हैं। भक्तियोगसे चित्तकी परमात्माकार वृत्ति होनेसे परमात्मासे योग है ही। आत्मा भी सालोक्यादिसे परमात्मसांनिध्य प्राप्त करते हैं अतः आत्मपरमात्मयोग है। इसीप्रकार अन्ययोगोंकी भी बात है। गीतामें योगकी व्याख्या निराली ही की है।

'तत्र तं बुद्धिसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

योग संयोगको नहीं, वियोगको कहते हैं। बुद्धिसंयोगका वियोग हो तो वही योग है। असलमें योग क्या है? क्योंकि मोक्षसाधनके रूपमें योगका वर्णन श्रुति-स्मृति आदिमें है। अतः पूर्वमन्त्रमें योगका स्वरूपोपक्षेप कर इस मन्त्रमें संज्ञावधारण कुछ विशेषतासे करने जा रहे हैं।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। यद्यपि द्वितीयान्तके बाद इति शब्दका प्रयोग नहीं होता। और इति हो तो द्वितीयान्त प्रयोग नहीं करते। अतः 'तामीदृशीमवस्था'—पञ्चज्ञानेन्द्रियावस्थानादिरूप अवस्थाको, जिसको योग कहते हैं—इति मन्यन्ते—परमा गति है ऐसा मानते हैं ऐसा अन्वय करना पड़ेगा। किन्तु उसमें काफी दिमागपची है। इसलिये छान्दस् प्रयोग कहकर समाधान करना ही आसान है।

पञ्चावतिष्ठन्ते, इन्द्रियधारणाम् इत्यादि शब्दोंसे विषयसंयोगवियोग ही सूचित होता है। सभी योगोंमें यह बात न्यूनाधिकभावसे स्वीकृत है। संन्यासको योग कहते हैं। और प्रायः योगी संन्यासी ये दोनों शास्त्रोंमें पर्यायरूपमें ही आये हैं। संन्यासमें बहुत सारे विषयोंका त्याग होता है। अतएव बन्धन हेतु विषयसंयोगका वियोग होनेसे संन्यासयोग हुआ। संन्यासीको देखकर कहते हैं—हे योगी, ठहरो इत्यादि। जो इसप्रकार विषयसंयोगका सर्वथा वियोग नहीं कर सकते उनके लिये भक्तियोग है। भक्तियोगमें भगवत्के लिये असमर्पित विषयोंका वियोग होता है। शब्दरूपी विषय है। संकीर्तनात्मक शब्द विषय ग्रहण करते हैं। मीरा, सूरदास आदि की पदावली मधुर-मधुर होती है, भावात्मक होती है। प्यारी-प्यारी सूरतको एक ओर गा रहे हैं, दूसरी ओर मीराके प्रभु गिरिधर नागर कह रहे हैं। प्रथममें अरुचि है। द्वितीयमें रुचि है। तब बन्धनात्मक विषयवियोग हुआ। भले बन्धक विषयसंयोग हुआ हो। इसीप्रकार रूपादिविषय भी है। एक ओर टीपूसुलतानका सीरियल है। दूसरी ओर रामायण, महाभारत, भागवत सीरियल है। प्रथम वियोग और द्वितीय संयोग है। रसविषयोंमें होटलोंमें छप्पन क्या उससे भी अधिक ऐटम हो सकते हैं जिसमें खाद्य-अखाद्य सभी संमिलित रहते हैं। पलाण्डु लशुनादिसे रहित कोई होटल आजके युगमें असंभवसा है। दूसरा हविष्यान्नका भोग लगाकर

आस्वादन किया जाता है। प्रथममें बन्धनविषयसंयोग है द्वितीयमें उस संयोगका वियोग है।

योगाभ्यासवाले कुछ और आगे बढ़ जाते हैं। वे पूरे बाह्य विषयोंको किनारे कर देते हैं।

"विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी" ।

नासाग्रभागमें धारणादि करनेपर दिव्यगन्धसंवित् होती है। जिह्वाग्रपर धारणादि करनेपर दिव्यरससंवित होती है। तालुमें धारणादि करनेपर दिव्यरूपसंवित् होती है। जिह्वामध्यमें धारणादि करनेपर दिव्यस्पर्शसंवित् होती है। जिह्वामूलमें धारणादि करनेपर दिव्यशब्दसंवित् होती है। यह किस प्रकार? हमारे इस शरीरमें ही सभी दिव्य तत्त्व विद्यमान है। "यदिहास्ति तदन्यत्र" जो यहां है वही अन्यत्र है। स्थूल शरीर न कहकर सूक्ष्म-शरीर कहो। वह सड़ने गलनेवाला नहीं है। वह सृष्टिसे प्रलयपर्यन्त रहता है। उसके अधिष्ठाता अनेक देवता हैं। नासिकाग्रपर ध्यानादि स्थिर हो जाय तो पारिजातादि पुष्पसुगन्धि अंदर ही प्रकट होगी। उसीसे तो बाह्य गन्धसृष्टि है तथा जिह्वाग्रपर धारणादिसे सर्वव्यञ्जनरस प्रादुर्भूत होता है। बाह्यरसके साथ अंदरका रस एक होनेपर वह प्रकट होता है। बाह्याभाव-कालमें ध्यानादिसे अंदरका केवल दिव्यरस प्रकट होता है। इसीप्रकार समस्त रूप तालुमें स्थित है। बाह्यरूपके आनेपर उससे मिलकर वह प्रगट होता है। बाह्याभावकालमें योगसे दिव्य वह प्रगट होता है। वैसे ही जिह्वामध्यमें समग्र स्पर्श है। बाह्याविषयोंसे एकीभूत होकर वह प्रगट होता है। बाह्याभावमें योगसे केवल वही दिव्यरूपसे प्रगट होता है। उसी प्रकार जिह्वामूलमें समग्र शब्द है। बाह्यशब्दसे एकीभूत होकर वह प्रगट होता है। बाह्य संयोगके अभावमें ध्यानसे केवल वह प्रगट होता है। बृहदारण्यकमें बताया है–

"स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्
एवँ सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्
एवँ-सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनम्
एवँ-सर्वेषां रसानां जिह्वैकायनम्
एवँ-सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायंनम्
एवँ-सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनम्"

इत्यादि। सभी शब्दस्पर्शादिका एक आधार हमारा शरीर है। यद्यपि तत्तत् इन्द्रियोंका ही एकायन श्रुतिमें बताया है। और योगशास्त्रमें नासिकाग्र और मुखमें ही सब कुछ बताया है। ऐसा वैलक्षण्य है। तथापि इन इन्द्रियोंका विशिष्टसम्बन्ध उन-उन स्थानोंमें होनेसे ध्यानस्थान वे ही हैं जो योगोक्त हैं। नासिकाग्र और जिह्वाग्र अविवादरूप हैं। आंखमें दवा डालनेपर तालुमें पहुंचती है अतः आंख और तालूका सम्बन्ध रहता है। एक शीतली प्राणायाम है। जिह्वासे श्वास खींचा जाता है जिससे पूरे शरीरमें शीतलता पहुँचती है। अतः जिह्वामध्य और स्पर्शनका विशेष सम्बन्ध है। जिह्वामूल या कण्ठसे सभी शब्द निकलते हैं। अकारो वै सर्वा वाक्। अतः जिह्वामूल और श्रोत्रका विशेष सम्बन्ध रहता है। इन्हींको विषयवती प्रवृत्ति कहते हैं। इन दिव्यविषयसंवित्से बाह्यविषयवियोग होता है। अतः योगियोंका योगप्रक्रम यथार्थतः योगरूप है ही। इसमें दो बातें आ जाती हैं। एक तो बाह्यविषयवियोग और दूसरी स्वस्थिति। अपने अंदर ही जो शब्दादि हैं उनका आविर्भाव। परंतु इतनेमें भी योग पूरा नहीं होता। यह तो एक प्रारम्भ है। इन शब्दादि संवित्में मनकी सक्रियता तो रहती ही है। अतः योगमें विश्वासोत्पादनार्थ ही विषयवती प्रवृत्तिका निरूपण किया गया है। अतएव आगे "मनसा सह" "बुद्धिश्च न विचेष्टति" बताया। इन्द्रियां स्थिर हो गयीं तो इन्द्रियगत दिव्यशब्दस्पर्शादिग्रहण होगा। मन स्थिर होनेपर मन सर्वविषयात्मक होनेसे एक ही साथ सर्व दिव्य सुसूक्ष्मविषयसंवित् होगी। उसमें बुद्धिवृत्तियां नाना होंगी ही। जब बुद्धिवृत्तियोंकी चेष्टायें भी बंद हो जाती हैं तब आत्मस्थित स्वरूपानन्द प्रकाशित होगा जो सर्व आनन्दोंका मूल स्रोत है। जो आनन्दका अथाह सागर है।

अप्रमत्तस्तदा भवति। इन्द्रियोंका और मनका अवस्थान होता है, बुद्धिचेष्टा समाप्त होती है, तब योगी अति सावधान रहता है। क्योंकि यह अवस्था हाथमेंसे निकली तो दुबारा पकड़ना बड़ा कठिन है। उस अवस्थानको और उस स्थिर इन्द्रियधारणाको कायम रखनेके लिये योगी सजग रहता है। यह साधनविधि है। वर्तमानापदेश नहीं। अर्थात् योगियोंको उस समय अप्रमत्त होना चाहिये।

"व्याधिस्त्यानसंशयप्रामदालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-
ऽलब्धभूमिकत्वानवस्थितत्त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।"

इस प्रकार चित्तविक्षेपकारी नौ अन्तरायों को महर्षि पतञ्जलिने बताया है। नाना प्रकारकी व्याधिसे परेशान हो तो इन्द्रियधारणा नहीं होती। स्त्यान, अकर्मण्यताको कहते हैं। योगके लिये दीर्घकाल प्रयत्न आवश्यक है। व्याधिस्त्यान इत्यादि दोषों में प्रमादकी भी गणना की है। अब मैं सिद्ध हो गया समझकर प्रमाद करें तो शीघ्र ही वह योगच्युत होगा इसलिये गौड़-पादाचार्यने "लये संबोधयेत्" इत्यादि कहा।

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत् ॥"

इत्यादि बताया। चित्तको स्थिर करते करते काफी सुषुप्ति आने लगती है। उस समय प्रमाद न करो। यह तमोगुणके कारण होता है। फिर कभी कभी रजोगुणमें चित्तविक्षेप होने लगेगा। तो प्रमाद किये विना उसे शान्त करो। चित्तगत वासनाओंका पता लगाकर उसे दबानेमें प्रमाद न करो। और सत्त्वगुणोत्कर्षमें शम प्राप्त हुआ तो प्रमादसे उसे चलायमान नहीं करना चाहिये। उस समय रसास्वादमें पड़नेका भी प्रमाद न करो।

इस प्रकार अप्रमत्त होकर योगसाधना करते रहेंगे तो उसका परिणाम भी "अप्रमंत्तस्तदा भवति" से बताया। फिर वह कभी प्रमादी होगा ही नहीं। जैसे बताया है-

"उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥"

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां" इत्यादि साधनवर्णन है। उन साधनोंको करते हुए योगसिद्ध हो जाये तो तब अद्वेष्टृता आदि उसके स्वाभाविक गुण बन जाते हैं। तदर्थ उसका प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। वैसे अप्रमादी होकर प्रथम योगसाधना करते रहेंगे तो योगसिद्ध होनेपर वह स्वयमेव अप्रमादी बनता रहेगा। हर हमेशा सजग रहेगा। और सजग रहनेका मतलब ही है कि उसका पतन नहीं होगा। रातको पहरेदार सजग हैं तो चोर क्या करेगा? वैसे साधक सदा सजग है तो कामादि षट् दस्यु क्या कर पायेंगे? वह है योगशास्त्रानुसारी व्याख्या।

अब हम वेदान्तानुसार इस मन्त्रकी व्याख्या देखेंगे। ज्ञानमार्गियोंके लिये पंचावस्थान किस प्रकार है सो बताया। वस्तुमें सत्यत्वबुद्धि हो तो ही हेयोपादेय भावना होती है। तब तदर्थ हानोपादान प्रवृत्ति होती है। शुक्ति में रजत सत्य समझा तो उठानेके लिये दौड़ते हैं और रज्जुमें सर्पको सत्य समझनेपर वहांसे भाग निकलनेकी चेष्ट करते हैं। जब दोनों मिथ्या समझा तो न रजत में प्रवृत्ति होगी और न सर्पसे निवृत्ति होगी। नाम-रूपात्मक प्रपञ्चको जब तक सत्य समझ बैठे हैं तभी तक उनको ग्रहण करने या त्यागनेके लिये प्रवृत्ति या निवृत्ति इन्द्रियोंमें होगी। मिथ्या समझनेपर न प्रवृत्ति होगी और न निवृत्ति होगी। क्योंकि वहां लोभ नहीं और भय नहीं। तब पांचों इन्द्रियां स्थिर हो जायेंगी। ज्ञानानि यह विशेष निर्देश इसलिये किया कि कर्मेन्द्रियां यदि व्यवहारार्थ कदाचित् प्रवृत्त हुई तो वह केवल शारीर कर्म रहेगा, बन्धक नहीं। अतः शब्दस्पर्शादि विषयोंमें उपरति ही मुख्य है। मनमें संकल्प विकल्प होते रहते हैं, भावि चिन्ता होती है। भविष्यनिधि बढ़ानेके लिये सोचते रहते हैं। परंतु यह मनोराज्य समाप्त होगा जब भूतके समान भावि भी एक दिन ग़हरी खाईमें पड़ने-वाला दीखेगा। तब मन भी अवस्थित होगा। तब इन विषयोंको लेकर बुद्धि काकदंन्तपरीक्षामें क्यों पड़ी रहेगी? काकदन्तपरीक्षा प्रसिद्ध है। कौएके दान्त हैं कि नहीं? चोंचमें जो चीज वह लेता है तो चबाता है कि नहीं? यदि दांत है तो जैसे चोंच, पंख, पंजा आदि सभी काले है वैसे दांत भी काले हैं या सफेद? क्योंकि आदमी काला होनेपर भी दांत सफेद होते हैं। यह एक व्यर्थ परीक्षा है। वैसे मिथ्या विषयोंको लेकर कौन उपकारी, कौन अपकारी इत्यादि चिन्ता बुद्धि नहीं कर सकती। तब इन्द्रियां एक तो ग्रहण ही नहीं कर रहीं, कदाचित् भूलमें ग्रहण किया और मनको भेजा तो वह लेनेको तैयार नहीं। कदाचित् वचनाभाससे ग्रहण किया तो बुद्धि न तो उसके गुणदोषपर चिन्तन करनेके लिये तैयार है और न आत्माको समर्पण करनेके लिये उद्यत होगी। विषयनिवृत्त होनेपर भी मन रसके कारण काल्पनिक विषय तैयार कर सकता है और बुद्धि भी आगे बढ़ सकती है। परंतु स्थिर बुद्धिके होते ही आत्मदर्शन हो जाता है तो—

'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'

यह अंश लागू होगा। प्राथमिक स्थिर इन्द्रियधारणा योग है। तदर्थ प्रथम अप्रमत्त होना चाहिये। और स्थिर इन्द्रियधारणके होते ही आत्मदर्शन होने लगता है तो उसकी रसनिवृत्ति होने लगती है और स्वयं अप्रमत्त हो जाता है। फलतः यह अप्रमाद साधन साध्य दोनों है।

"किंचिन्नावसरं दद्यात् कामादीनां मनागपि ।
आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया ॥"

साधकावस्थामें कामादिकोंको अल्प भी अवसर नहीं देना चाहिये। सिद्धावस्थामें तो अवसर मिलेगा ही नहीं। सुषुप्तिपर्यन्त और समाधि-पर्यन्त वेदान्तचिन्तन करते ही रहना चाहिये। कामादिके लिये अवसर देना प्रमाद है-

"भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्यात् ।
यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः ॥"

प्रमत्तके साथ कामादि छः शत्रु रहते हैं अतः उसे भय बना रहता है इस कथनसे कामादिको अवसर देना ही प्रमाद सिद्ध होता है।

"क्षणमेकं न वा तिष्ठेद् वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना ।
प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न विधेयः कदाचन ॥"

यह भी आचार्योपदेश है। ब्रह्मनिष्ठामें प्रमाद न करो। एक क्षण भी ऐसा न हो जब ब्रह्म भूल जाये।

परन्तु निरन्तर ब्रह्मचिन्तन तो किसी के लिये संभव नहीं है। गृहस्थोंकी बात क्या संतों को भी व्यवहार करना पड़ता है। इसका उत्तर यह है कि व्यवहार ब्रह्मचिन्तनका बाधक नहीं साधक है। संसारमें रहने वालोंको अनुभव होता है यह संसार कैसा है। किसीकी मृत्यु हुई तो देखते हैं-कलतक बोलता चालता व्यक्ति आज निश्चेष्ट पड़ा है। क्या यही दशा हम सबकी भी नहीं है? आजसे सौ वर्ष बाद पूरा संसार बदल जायेगा। "बहिःसरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्तते।" बल्कि संतोंको यह सब देखना नहीं पड़ता। नित्य शाश्वत एक ही अनादि अनन्त तत्त्व है वही ब्रह्म है यह निश्चय होनेपर समस्त व्यवहारके मूलमें उस ब्रह्मका ही दर्शन होगा। "यत्र यत्र मनो यादि तत्र तत्र समाधयः"।

योगो हि प्रभवाप्ययौ। योग उत्पत्ति एवं प्रलय उभयरूप है। योग करनेपर परमात्मा से संपर्क होता है और संसार संपर्क टूट जाता है। आत्मप्रकाश प्रादुर्भूत होता है और अविद्या का विलय होता है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥

वह पुरुष वाणी से या मनसे प्राप्य नहीं है। और चक्षुरादि इन्द्रियोंसे भी प्राप्य नहीं। जो अस्ति रूपसे उसे कहता है उससे अन्य उस तत्त्वको नहीं जान सकता ॥ १२ ॥

इन्द्रियोंका अवस्थान, मन का अवस्थान, बुद्धका अविचेष्टन और इन सबमें अप्रमाद परा गति है। परम साधन है। इनसे "इह चेदशकद् बोद्धुम्" यहीं पर हम परमेश्वरको जान सकेंगे यह बताया गया। इन सबके होनेपर किस साधनसे ब्रह्मबोध होगा? ब्रह्मदर्शन का कारण क्या है? यदि वे करण हैं तो इन्द्रियावस्थान आदिकी आवश्यकता क्यों पड़ी यह प्रश्न सामने आया। इसके समाधानके लिये यह प्रस्तुत मन्त्र है।

नैव वाचा। मीमांसकोंका कहना है कि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान वाणीसे होता है। उदाहरणार्थ धर्म अधर्मादि। पुण्यपापादि। यज्ञ, दान, तप, जीवदया, परोपकार आदिसे पुण्य होता है यह प्रसिद्ध है। यह पुण्य क्या चीज है? उसको किसीने देखा है क्या? देखा हो तो उसका आकार क्या? प्रकार क्या? रंग क्या? किससे उसको देखा? इसी प्रकार हिंसा करनेसे परपीड़न, निषिद्ध कार्य करनेसे पाप लगता है यह प्रसिद्ध है। वह पाप क्या चीज है? उसका आकार प्रकार, रंग आदि क्या है? किसीने कहा पुण्यका रंग शुक्ल है। पापका रंग काला है। परंतु देखा किसने उसको? आपने जाना कैसे? पिताने, दादाने कहा। लेकिन उन्होंने देखा है क्या? अन्ततः यही कहना होगा कि इसमें शास्त्र ही प्रमाण है। क्या शास्त्रकारोंने इनको देखा? नहीं। उन रचित शास्त्रोंकी बात नहीं कर रहे। वेदोंने कहा। वेदोंके विषयमें दो पक्ष हैं। नैयायिक उसे ईश्वरविरचित मानते हैं। मीमांसक अपौरुषेय मानते हैं। ईश्वरको तो सर्ववस्तु साक्षात्कार होता है। अतः प्रश्न नहीं है। अपौरुषेयवादमें अनादिसिद्धअर्थबोधक होनेसे पूर्ण प्रामाणिकता है। जैसे धर्म और अधर्मका बोध वेदोंसे होता है वैसे

ब्रह्मज्ञानका भी बोध वेदोंसे होता है। वेदोंको भी शास्त्र ही कहते हैं। शासनात् शंसनाच्च। धर्मादिका शासन है। ब्रह्मका शंसन है। इस पर श्रुतिका कहना है-नैव वाचा। वाणीसे ब्रह्मका वर्णन नहीं हो सकता। अन्य श्रुतिने स्वमेव बताया-

"यतो वाचो निवर्तन्ते"

उस ब्रह्म तक वाणी नहीं पहुंचती। पहले ही वह वापिस आ जाती है। वाणी की गति संसार की ओर ही है। जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्धोंको लेकर ही वाणी प्रवृत्त होती है। ब्रह्ममें जाति, गुण, क्रिया आदि नहीं है। वाणी की शक्ति अत्यंत सीमित है। गन्नेका रस क्या है? मीठा। हाफुस आमका रस क्या है? मीठा। रसगुल्ला आदिका रस क्या है? मीठा। क्या एक ही मीठा? तो अलग अलग मिठाईयों की क्या जरूरत? कहना होगा सबकी मीठास अलग अलग है। तो अलग करके बताओ, गन्ने आदि का क्या रस है? यहीं पर वाणीकी शक्ति शिथिल होती है। तो, ब्रह्म तक वह कैसे पहुंचेगी? अतः ब्रह्म वाणीका विषय नहीं है।

न मनसा। योगियोंका कहना है कि ब्रह्मदर्शन मनसे होता है।

"ध्यानावस्थितद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगनः"

ध्यानसे अवस्थित (निश्चित) ब्रह्मगत मनसे योगी परमात्माको देखते हैं।

"लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम्"

इस वचनमें भी योगियोंको ध्यानका विषय बताया है। परंतु इस बातको श्रुति स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है।

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

यहां श्रुतिमें मन भी वहां तक नहीं पहुंच सकता यह बताया है। अपने अन्तःस्थित सुखादिका भले ही मनसे साक्षात्कार माना जाये किन्तु ब्रह्मका साक्षात्कार मनसे तो नहीं होता। क्योंकि मनका काम है संकल्पविकल्प करना। अविद्यामन वस्तुकी कल्पना करना। हम यहां बैठकर सोचते हैं कि घरमें जायेंगे फिर बाजार जाकर साग खरीदेंगे, कपड़ा खरीदेंगे। दिल्लीमें जाकर मकान लेंगे, बनवायेंगे। यह सब कल्पनामात्र नहीं तो क्या? क्या सोचते ही मकान तैयार हो गया? हां, आगे उस विचारको कार्यान्वित करें सो अलग बात है। किन्तु वर्तमान में सोचते समय जो फोटो मनमें आया

वह कोई सत्य वस्तु नहीं है। अतः मनसे जो कुछ देखते हैं वह काल्पनिक ही होगा। वैसे ही ब्रह्मके बारेमें जो भी सोचेंगे वह काल्पनिक ही होगा। शेखचिल्लीने सोचा घी ले जाकर पहुंचायेंगे तो एक रूपया मिलेगा। उससे मुर्गी बकरा खरीदेंगे, रूपये हो जायेंगे तो शादी हो जायगी। बीबी घरमें आयेगी। बच्चे होंगे वे कहेंगे पप्पा, चलो भोजन करने, मैं सिर हिलाकर कहूँगा, अभी नहीं। सिर हिलाया तो घीका मटका गिरा। मालिकने हंटर मारा, सारा घी नष्ट किया शेखचिल्लीका कहना था कि मेरा बना बनाया मकान ढह गया। यह सब क्या है? काल्पनिक वस्तु ही। सारांश यही कि मनोराज्य काल्पनिक होता है। मनोराज्यकी भी ऐसी ही कहानी है। अतः मनका विषय तो ब्रह्म नहीं हो सकता। जो होता है वह कल्पित विषय है।

न चक्षुषा। भक्त वर्गका कहना है कि परमात्माका दर्शन आंखों से होता है। द्वापरयुग में श्रीकृष्णको सबने आंखोंसे देखा। त्रेतायुगमें रामको सबने आंखोंसे देखा। नरसिंह भगवानको प्रह्लादजीने आंखोंसे देखा। साधन चाहिये, पुण्यसंचय चाहिये। तब अवतारकालमें जन्म मिलता है तो परमात्मका दर्शन होता है। परंतु श्रुति इसका भी निषेध करती है—

"यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥"

उसे चक्षुसे हम देख नहीं सकते। वह चक्षुको दर्शनशक्ति देता है। चक्षुपदसे श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण भी ग्राह्य है। शब्दादिगुणविशिष्ट होनेपर ही श्रोत्रादि इन्द्रियों का वह विषय हो सकता है। ब्रह्म शब्द नहीं, ब्रह्ममें शब्द नहीं, ब्रह्मस्पर्श नहीं, ब्रह्ममें स्पर्श नहीं। ब्रह्मरूप नहीं, ब्रह्ममें रूप नहीं ब्रह्म रस नहीं। ब्रह्ममें रस नहीं। ब्रह्म गन्ध नहीं, ब्रह्ममें गन्ध नहीं। तब श्रोत्रादिका वह विषय क्यों होगा? श्रुति स्पष्ट बतलाती है तो कथाओंका तात्पर्य यही होगा कि मायासे शरीर धारणकर मायाविशिष्ट परमात्माका चक्षुरादिसे दर्शन करते हैं।

[न] प्राप्तुं शक्यः। वाणीसे कर्मेन्द्रिय लिया जाये, मनसे सभी अन्तःकरण लिये जाये और चक्षु से समस्त ज्ञानेन्द्रिय। किसी से भी उस परमात्माको प्राप्त करना शक्य नहीं है। यहां तो ज्ञान ही प्राप्ति है। क्योंकि

परमात्मा व्यापक होनेसे कहीं जाकर पाना नहीं है। अप्राप्त को पाना नहीं है। किन्तु प्राप्तत्वेन जानना ही प्राप्त करना है।

तब उसे जानने या पानेका उपाय क्या है? उपाय वही जो पूर्वोक्त है। अर्थात् इन्द्रियोंको स्थिर करना, मनको स्थिर करना और बुद्धिको अविचेष्ट बनाना। ऐसी स्थितिमें वह स्वात्मसंवेद्य होता है। चक्षुरादि की गतिके कारण रूपादिसे ब्रह्म आच्छादित हुआ। मनकी गतिके कारण मिथ्या संकल्पविकल्पविषयसे आच्छादित हुआ। बुद्धिकी चञ्चलताके कारण स्वविषय संसारसे ही ब्रह्म आच्छादित हुआ। इन्द्रियोंके स्थिर होनेका अर्थ है शब्दस्पर्शादि आवरणकारी विषयोंकी व्यावृत्ति। मन स्थिर होनेका अर्थ संकल्प विकल्प विषयोंके आवरणकी मुक्ति। बुद्धिके अविचेष्टनका अर्थ है अस्थिरताप्रयुक्तउपाधिसंमिश्रणात्मक ; आवरण या विक्षेप की निवृत्ति। इन आवरणोंके हटनेपर वह ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशमान होता है। यही आत्मदर्शन है। यही ब्रह्मदर्शन है। तदर्थ पूर्वोक्त "स्थिरामिन्द्रियधारणां" की परम आवश्कता है।

हां, पूर्वोक्त तीन साधन भी परम्परया उपयोगी हो सकते हैं। वेदशास्त्राध्ययन तो आवश्यक है उनपर ब्रह्ममीमांसा भी परम आवश्यक है। इससे ब्रह्मपर आया हुआ असंभावनारूपी आवरण निवृत्त होता है तथा ध्यान करनेकी भी आवश्यकता है। जिससे विपरीत भावनारूपी आवरणकी निवृत्ति होती है। तथा चक्षुसे दर्शन भी आवश्यक है। क्योंकि आधार-आलम्बनके विना ध्यान बनेगा। नहीं। आलम्बनार्थ राम, कृष्ण आदिकी मूर्ति है। फोटो है। उस आलम्बनमें शक्तिविशेष लानेके लिये प्राण प्रतिष्ठा पूजा आदि है। ये सब शास्त्रीय हैं। परंतु मार्गको ही गन्तव्य स्थान समझनेकी भूल न करनी चाहिये। रेलगाड़ीमें बैठे दिल्ली जाना है तो गाड़ी ही घर नहीं, दिल्लीमें घर है। वहां जाना है। वैसे पूर्वोक्त तीनों मार्ग हैं। बहुतसे लोग इन्हींको गन्तव्य स्थान समझ बैठे। काशीमें बड़े-बड़े पंडित पहले जमाने में थे। वेदशास्त्रके धुरंधर वे पण्डित थे। परंतु "नामैव तत्" के अनुसार वे नाममें ही रह गये। न्याय-वेदान्त आदिकी पङ्क्ति लगाकर वे कृतकृत्य समझने लगे अपने आपको। अब तो ऐसे लोग भी नहीं रहे सो अलग बात है। पहले समयमें बड़े-बड़े शास्त्रार्थ होते थे। वह सब अब नहीं

रह गया। क्योंकि अर्थवादमें इन सबसे ही मोक्ष बताया। उसे लोगोंने फलवाद समझा। इसके बाद ध्यायी योगी आते हैं। वे तो ध्यानयोगसे ही कृतार्थता मानते रहे। कई दिनों तक वे समाधि लगाकर बैठे रहते थे। अनेक सिद्धियां पा लेते थे। परंतु महर्षि पतञ्जलिका कहना था कि ये सिद्धियां असली निर्विकल्पक समाधिमें विघ्नरूप है।

"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।"

इन्होंने भी मार्ग को ही घर समझ लिया था। आज ऐसी समाधि लगाने वाले भी नहीं हैं यह अलग बात है। इसके साथ भक्तोंके नंबर आते हैं। वे अर्थवाद शब्दसे ही चिढ़ते हैं। और कहते हैं भगवन्नामादिमें प्राप्य फल अर्थवाद मात्र है कहना पाप है। कुछ भक्त चौबीस घंटा हाथमें माला लिये रहते हैं। एक भक्त को देखा, उसकी माला एक सौ आठ दानेकी नहीं, एक हजार आठ दानेकी थी। और यहां तक कहा जाता है कि-"सांकेत्यं पारिहास्यं वा"-अन्य मतलबसे हरि नाम बोलनेपर भी सर्वपापमुक्त हो जाता है। परंतु हरि हरि बोलते ही अंधेको आंख बन जाती हो, बहरे को कान हो जाते हो यह प्रत्यक्षविरुद्ध है। प्रारब्धेतर पापनिवृत्ति अर्थ करते हैं तो इस प्रकार संकोचमें प्रमाण बताना होगा। दूसरी बात अन्यसाधन-विधायक शास्त्र व्यर्थ होनेसे अप्रामाणिक होगा। अननुष्ठापकता भी अप्रामाणिकता ही है। अतः इतर समस्त शास्त्रोंको अप्रामाणिक सिद्ध करनेकी अपेक्षा फलश्रुतिमात्रको अर्थवाद मानना ही उचित होगा। फिर भी नाम माहात्म्य तो है ही। श्रद्धा-भक्ति द्वारा नामोच्चारण, भगवद्दर्शनादि उत्तम साधन है।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते। समस्त इन्द्रियक्रिया, मानसक्रिया एवं बुद्धिचेष्टा के बंद होनेपर निश्चित निर्विकल्प स्वरूप ही उपस्थित होता है। उसके बारेमें कुछ लोग नास्ति बोलते हैं, कुछ लोग अस्ति बोलते हैं। नास्ति इसलिये कहते हैं कि इन्द्रिय मन, बुद्धि प्रमाण- रूपमें जो प्रसिद्ध हैं उनका वहां प्रवेश नहीं तो अस्ति कैसे? यह शून्यवादियोंका कहना है। नास्ति कहते हैं इसलिये वे नास्तिक कहलाये। किन्तु साकारवादी भी पीछे नहीं। वे कहते हैं निराकार कोई तत्त्व नहीं है। वैकुण्ठ, तत्रस्थ नारायण, ये सब साकार ही हैं। निराकार कोई है नहीं। किन्तु ये भी

नास्तिक ही हैं। "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते" यह लक्षण साकारमें लागू हो नहीं सकता। अस्तिरूपसे उसको समझना चाहिये। रास्ता वही है। अन्तमें अस्ति-शब्दार्थता भी नहीं रहेगी यह बात अलग है। किन्तु नास्तिमें पहुँच गये तो वहांसे वापिस लौटना संभव नहीं। अस्ति कहनेपर किंचिद्धर्मरूपसे उपस्थित होगा। बादमें उस धर्मको छोड़कर शुद्ध बोध होगा। जो केवल अस्तिरूपसे उसे नहीं देखता वह या तो शून्यवादी होगा या देववादी। दोनों ही सफल नहीं हो सकते।

"अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥"

यहां "देव" शब्दका अर्थ है गुण, क्रिया आकारादि विशिष्ट चैतन्य। और "मां" का अर्थ निर्गुण, निष्क्रिय, सच्चित्स्वरूप। नामरूपयुक्त परमात्माकी उपासना देवोपासना। मद्भक्तासे सर्वेन्द्रियस्थैर्योत्तर अनुभवमें आनेवाला मत्पदार्थ लेना चाहिये। इसलिये अनन्तर श्लोकमें स्पष्ट कहा-

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥"

मैं इन्द्रियादिगोचर व्यक्त नहीं। इन्द्रियाविषय हूं। लोग शरीरधारी देखकर मुझे मानते हैं कि व्यक्त हो गया हूं। परंतु वे बुद्धिहीन हैं। मेरे परम भावको वे नहीं समझते।

अतः शून्यवादी नास्तिक हैं ही। अव्यक्त निराकार परमात्मा नहीं है बोलनेवाले भी नास्तिक हैं। उसको अस्तित्वरूपसे प्रथम उसे जानो उसके बाद स्वरूपसे ।

**अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥**

"अस्ति" इस प्रकार परमात्माको जानना चाहिये और तत्त्वभावसे भी जानना चाहिये। अस्ति इस प्रकार उपलब्धि होनेपर तत्त्वभावस्पष्ट होगा ॥ १३ ॥

प्रारम्भमें नचिकेताने तीन वरं मांगे थे। एक पिताकी प्रसन्नता थी, दूसरी अग्निविद्या थी। तीसरा था-"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्योऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके-एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं" परंतु प्रेत अर्थात् मृत होनेके

बाद अस्ति नास्ति ये दो विकल्प नचिकेताके सामने कैसे आये जब कि वे स्वयं यमलोकमें बैठे थे। वहां मरणोत्तर असंख्य प्राणी आते जाते ही रहे होंगे। और "असुर्या नाम ते लोकाः तान प्रेत्याभिगच्छन्ति" इस प्रकार स्वयमेव प्रयाणोत्तर लोकान्तरगमनका वर्णन नचिकेता कर चुके। ऐसी स्थितिमें मरणोत्तर अस्ति नास्ति यह प्रश्न किस प्रकार? उत्तर यह है कि वहांका प्रश्न गूढ़ रहस्यपूर्ण है। जिसका वास्तविक उत्तर देनेके लिये यहां तकका ग्रन्थ है। प्रश्न का असली उत्तर अब कहा जा रहा है। अतः प्रश्न तथा उत्तर समझनेके लिये यहां एक पूर्वभूमिका उपस्थित करना आवश्यक है।

वेदान्तशास्त्रमें यह अत्यन्त प्रसिद्ध है कि समस्त सांसारिक वस्तुओंमें पांच चीज मानी है–

"अस्ति भाति प्रियं चैव नामरूपं च पञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम् ॥"

अस्ति भाति प्रियं ये तीन ब्रह्मके स्वरूप हैं और नाम रूप मायाके दो रूप हैं। इन सबपर इस समय विचार नहीं करना है। केवल अस्तिपर विचार किया जाये। अस्ति यह अनुगत रूप है। घटः पटः इत्यादि व्यावर्तमान नामरूप है। इसमें अस्ति एकाकार है। अतएव अनुगत होनेसे व्यापक एवं नित्य है। घटोऽस्ति कहते हैं-'घट है।' यहां घटमें अस्तित्व है या अस्तित्वमें घट है। सीधे लोग कहेंगे घटमें अस्तित्व है। विचारवाले कहेंगे अस्तिमें घट है। क्या यह विवाद "घृताधारं वा पात्रं पात्राधारं वा धृतं" जैसा तो नहीं है? नहीं। आधार पहले होगा, आधेय बादमें होगा। आधेय यदि पहले हो गया तो वह रहा कहां यह प्रश्न होगा। जैसे इस कुण्डलमें दो तोला सोना है ऐसा व्यवहार करते हैं। किन्तु कुण्डलमें सोना नहीं सोनेमें कुण्डल है। क्योंकि सोना पूर्वमें हैं कुण्डल बादमें है। इसलिये दो तोला सोनेमें कुण्डल बना यही अर्थतः सही है। कुण्डल पहले हुआ तो वह कहां बना? सोना पूर्वमें नहीं तो पीतलमें बना और बादमें सोनेमें आकर बैठा? अस्तु। इसी प्रकार घटमें सत नहीं किन्तु सतमें घट है। सत अनुगत है, एक है। नित्य है। पहले वही है, उसीमें घटादि उत्पन्न हुए। इस पर शून्यवादी कहते हैं-मेरे घट नहीं है, पट नहीं है। मेरा भवन नहीं है,

धन नहीं है, इस प्रकार नहीं है भी अर्थात् असत् भी तो अनुगत है। इसपर यही वक्तव्य है कि कार्यकालमें जो रहे वही अनुगत माना जाता है। मणि हो तब अनुगत धागा होता है। मणि न हो तो किसमें धागा अनुगत माना जायेगा? वैसे घटकालमें घट नहीं बोलते, घड़ेको देखते हुए घट नहीं कहते तो असत् अनुगत होता। जैसे कुण्डल देखकर बोलते हैं-यह सोना है। असत् मूल कारण हो तो सर्वत्र हैं के बदले 'नहीं है। बोलना पड़ता। अतः पूर्वमन्त्रमें कहा-"अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते"। तब प्रश्न किया कि घट फूटने पर भी फिर अस्ति होनेसे घटोऽस्ति बोलना चाहिये। नहीं। घट ही फूट गया, कार्य न रहा तो कारण जिसमें अनुगत हो उसमें वह अनुगत होगा। घट फूटनेपर मृत्तिका रहती है, उसमें सत अनुगत होगा।

प्रथम घटोऽस्ति था। घट फूटा तो मृदस्ति हो गया। मिट्टी भी तो धूलमें पानी पड़नेसे हुआ। वह मिट्टी नष्ट होनेपर चूर्णोऽस्ति, धूलिरस्ति होगा। चूर्ण नष्ट हुआ तो त्रसरेणुरस्ति होगा।

"जालसूर्यमरीचिस्थं यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
त्रसरेणुरिति ख्यातः"

इस प्रकार त्रसरेणुका स्वरूपवर्णन किया है। त्रसरेणु मुहंमें आ जाय तो कुछ नहीं होता। धूल जाये तो खतरा है। त्रसरेणु नष्ट होनेपर द्व्यणुकमस्ति होगा। द्व्यणुक नष्ट होनेपर परमाणुरस्ति होगा। नैयायिक परमाणुको नित्य मानते हैं। उसको कोई तोड़ नहीं सकता। वह निरवयव है। किन्तु आजकल के वैज्ञानिकोंने उसे भी तोड़कर परमाणुबम बनाया। खैर नैयायिकोंकी जो भी बात हो और वैज्ञानिकोंकी भी जो बात हो, वेदान्त का क्या सिद्धान्त है? वेदान्तका सिद्धान्त है-परमाणु भी टूटता है। परमाणुके टूटनेपर तन्मात्रा रहती है। तन्मात्र शक्तिविशेषरूप है। फिर तन्मात्राओंका सिलसिला जारी होता है। पृथ्वी तन्मात्रा टूटती है तो जल तन्मात्रा रहती है। जल तन्मात्रा टूटती है तो तेजस्तन्मात्रा रहती है। तेजतन्मात्रा टूटती है तो वायुतन्मात्रा रहती है। वायुतन्मात्रा टूटती है तो आकाशतन्मात्रा रहती है। वह भी अन्तमें टूटती है तो फिर आधिभौतिक खतम होता है। आधिदैविक और आध्यात्मिक शुरु होता है।

आकाशतन्मात्राके बाद अहंतत्त्व होता है। व्यष्टि आध्यात्मिक है। समष्टि आधिदैविक है। अहंतत्त्व टूटता है तो महत्तत्त्व रहता है। व्यष्टि आधिभौतिक है। समष्टि आधिदैविक है। महत्तत्त्व टूटता है तो व्यष्टि अविद्या जीवोपाधि आध्यात्मिक है और ईश्वरोपाधि समष्टि माया आधिदैविक है। इन सबमें क्रमशः अस्ति आ जाता है।

"घटोऽस्ति भाति, क्षितिरस्ति भाति, भिन्ने घटादौ च मृदस्ति भाति।
एवं क्रमाद् यत् परिशिष्यतेऽन्ते स त्वं हि विश्वेश सदादिबीजम् ॥"

घट फूटनेपर अस्ति मृतमें आया। मृत्तिका नष्ट होनेपर अस्तिता चूर्णमें आयी। इसप्रकार अन्तमें अव्यक्तमें 'अस्ति' आया। यह अव्यक्त माया नष्ट होती है कि नहीं? वही प्रकृति है, वह नष्ट नहीं होती। ऐसा सांख्यवाले मानते हैं। परंतु वेदान्तमें बताया है कि माया भी नष्ट होती है।

"भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"

यह स्वयं श्रुति कह रही है। तब वह अस्ति कहां जायेगा? कहां रहेगा? वेदान्तवाले तुरन्त कहेंगे परमात्मामें जायेगा। किन्तु यह उत्तर सही नहीं। अति स्थूल है। प्रवाहानुसार केवल बोलना मात्र है। तब तो अस्तिमें परमात्मा भी व्यावर्तमान होनेसे नश्वर मिथ्या हो जायेगा।

इसपर विचार करनेसे पूर्व यह भी विचारणीय है कि घट फूटनेपर ही अस्तित्व मृत्तिकामें गया या फूटनेसे पहले भी वहां रहा? पहले भी था। वैसे चूर्णादिकी भी बात हो जायेगी। कुण्डल है बोल दिया तो कुण्डलकालमें ही सुवर्ण, सुवर्णरज, सुवर्णपरमाणु आदि सबमें अस्तित्व रहा। वैसे घट है बोल दिया तो वह "है" अस्तित्व घट, मृत्तिका, चूर्ण, त्रसरेणु, द्व्यणुक, परमाणु, पृथिवीमात्रा, जलमात्रा, तेजोमात्रा, वायुमात्रा, आकाशमात्रा, अहंतत्त्व, महत्तत्त्व, अव्यक्त इन चौदहमें अस्तित्व रहा। एक एक-एकके नष्ट होनेपर वहांसे हटकर उसके कारणमें समेट गया। तब अन्तिम अव्यक्त नष्ट हुआ तो वह कहां रहा? उत्तर है वह अस्तित्व अपने आपमें रहा। क्योंकि आगे कुछ नहीं है।

"स कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति यदि वा न महिम्नीति ।"

वह अपने आपमें रहा कहो या कहीं भी रहनेका सवाल ही नहीं ऐसा कहो। वह अस्ति व्यापक है। स्वप्रतिष्ठ है। वही ब्रह्म है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यः। उस पूर्ववर्णित अस्तिको लेकर श्रुति कह रही है कि पूर्ववर्णित जो पुरुष है, परमात्मा है उसको 'अस्ति' इसप्रकार उपलब्ध करना चाहिये। यद्यपि घटोऽस्ति, पटोऽस्ति इत्यादिमें भी 'अस्ति' ऐसी उपलब्धि है। किन्तु 'अस्ति इत्येव' यह एवकार जोड़नेसे उन सबकी व्यावृत्ति है। इनमें अस्तिमात्र की उपलब्धि नहीं है, घट पटादिकी भी साथमें उपलब्धि हो रही है।

तत्त्वभावेन च। किन्तु यहांपर भी समाप्ति नहीं है। यहीं नचिकेताका प्रश्न खड़ा है। क्या वह ब्रह्म अस्तिशब्दवाच्यार्थ है? नहीं। "यतो वाचो निवर्तन्ते" वहांतक वाणीकी पहुंच नहीं है। तब लक्षणासे कहना है तो "नास्ति" से क्यों न कहा जाये? अस्ति नहीं तो नास्ति, नास्ति नहीं तो अस्ति। अब यहां "येयं प्रेते" का भी अर्थ करो। प्रेतेका मृते इतना ही अर्थ नहीं। मृत होनेके बाद भी यमलोकमें वे आ ही रहे थे। प्रेते का अर्थ है– घटोऽस्ति में जो चौदह पंद्रह घट मृत्तिका आदि दिखाये उनका एक-एक करके प्रयाण करना नाश होना। अर्थात् सकलकार्यप्रपञ्चविनाश होनेपर परिशेष अस्ति है या नास्ति? गीतामें भगवान् कहते हैं–

"ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृततमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥"

परम ज्ञेय तो अनादि ब्रह्म है। उसे नं सत् कह सकते हैं और न असत् कह सकते हैं। वस्तुतः दोनों ही शब्द सत्-असत् फिट नहीं है तो व्यवहारार्थ कोई एक शब्द बोलना है तो सत् के बदले असत् क्यों न कहें? "न सन्नासन्न सदसत् नानिर्वाच्यं तथैव च" इसको लेकर शून्यवादियों ने व्यवहारार्थ असत्का ही प्रयोग किया। अस्तिसे भिन्न ही तो असत् है। इसका भी उत्तर है–अस्तीव्येवोपलब्धव्यः। अस्तिसे ही उपलब्धि करनी चाहिये। नास्ति से नहीं। क्योंकि उससे आगे तत्त्व भाव पर पहुंचना है। और उसका यही मार्ग है। प्रश्न है–अस्तिमें अब छोड़ना क्या रह गया है? घटपटादि, मृदादि अव्यक्तपर्यन्त छोड़ चुके। अब क्या बाकी रह गया छोड़ने का? उत्तर है–अस्तिमें भी थोड़ा त्यागने योग्य तत्त्व है। उसको समझनेके लिये यह विचार करो कि अस्ति और अस्मि इन दोनोंमें क्या फरक है? देवदत्त कहता है–अहमस्मि और विष्णुमित्रोऽस्ति। ये दोनों

अस्ति अस्मि भिन्नार्थक हैं या एकार्थक? देवदत्त बोलता है तो अस्मि कहेगा। उसी को विष्णुमित्र कहेगा तो देवदत्तोऽस्ति कहेगा। उस अहमस्मि और देवदत्तोऽस्ति इन दोनोंमें अस्मि और अस्ति भिन्न है क्या? एक ही अस्तित्वको दोनों बोल रहे हैं। किन्तु शब्दप्रयोगका प्रयोजक कुछ भिन्न है। अतः अर्थमें भी भेद है।

"अस्तीत्यस्मीत्येवमात्मन् पराञ्चं प्रत्यञ्चं च त्वामुपाधिप्रभिन्नम्।
एकं सन्तं चक्षतेऽनेकधातोऽखण्डं मध्ये कल्पितार्थव्यपाये ॥"

अस्ति और अस्मि एक ही अस्तित्वके बोधक हैं। परंतु अस्तिमें पराक्त्वका प्रवेश है। और अस्मिमें प्रत्यक्त्वका। पराक्त्व माने बाह्यता। प्रत्यक्त्व माने अन्तरात्मता। इसप्रकार उपाधिसे दोनों भिन्न हो गये। मैं है ऐसा प्रयोग नहीं होता। वह देवदत्त हूं यह भी नहीं होता। अपने अंदर निर्व्यवधान है। देवदत्त तक पहुंचते-पहुंचते न्यूनतम दो व्यवाधान पड़ जाते हैं। एक अपने शरीरेन्द्रियान्तःकरण को पार करना है फिर देवदत्त-शरीरेन्द्रियान्तःकरण पार करो तब आत्मातक पहुंच सकते हैं। तब तक वह परोक्ष हो जाता है। अतएव अस्मिमें अपरोक्षता है और अस्तिमें परोक्षता है। ब्रह्म अस्ति यह परोक्ष है। ब्रह्म अस्मि यह अपरोक्ष है। अब अस्तीत्येवोपलब्धव्यः—प्रथम अस्तिसे जानो। फिर तत्त्वभावेन। अस्तिमें जो पराक्त्व है उसे छोड़कर शुद्ध सद्रूपसे समझो।

उभयोः अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति। बोले कि "नायमस्तीति चैके" में भी यह बात हो सकती है। अयमस्तीति न। यह है ऐसी बात नहीं। वहां अस्तित्वविशिष्टका निषेध किया गया है। इसका उत्तर है—अस्तिभाव और तत्त्वभाव दोनों नजदीक हैं। जो अस्तिभावको पहले प्राप्त करता है वह तत्त्वभावपर पहुंचता है। अस्तिभावका अर्थ हुआ पराक्त्व-रूपसे सत् को समझना। तत्त्वभावका अर्थ है पराक्त्वादि सर्वविशेषण-निर्मुक्त याथार्थ्य समझना। 'अस्तीति न' कहनेपर प्रथम शून्यभाव आयेगा। शून्यभावसे यथार्थ्यमें आना संभव नहीं। और अस्तिभिन्न कहनेमात्रसे शुद्ध सत् नहीं आ सकता। क्योंकि वह वाणीका विषय न होनेसे किसी विशिष्टसे प्रस्तुत कर विशेषणत्याग करना पड़ेगा। 'अस्ति न' से विशिष्टोप-स्थिति-शून्यत्वविशिष्टकी होगी। उसमेंसे भागत्याग भी करो तो शून्य ही

आयेगा। अतः प्रथम अस्तित्वसे जानो फिर तत्त्वभावपर पहुंचो। उसका प्रसाद अर्थात् स्पष्ट अवभास होगा।

इस मन्त्रमें वेदान्तके परम रहस्यका वर्णन किया गया है। अन्य उपनिषदमें—"अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः"। यहीं तक पहुंचाया। यद्यपि परमतात्पर्य बताये अर्थमें ही है तथापि इतनी स्पष्टता और जगह नहीं है। तत्त्वमसिका भी तात्पर्य वही है। तथापि वहां हमें अपने विवेकसे भागत्याग करनेके लिये छोड़ दिया। यहां दोनोंका स्पष्ट निर्देश हो रहा है—अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन च। अस्तिसे भी जानो तत्त्वभावसे भी जानो। क्या ये दोनों गो-अश्वके समान पृथक् हैं? नहीं। अस्ति पूर्वमें होगा। तत्त्वभावं बादमें होगा। पौर्वापर्य एकताके ही कारण है। अस्तित्वसे जानकर अस्तित्व-परित्यागसे तत्त्वभावको समझना है। उसी पारमार्थिक तत्त्वभावपर लानेके लिये पूरी उपनिषत् है। क्योंकिं अज्ञान-कार्य अनन्त है जो व्यवधानरूपमें स्थित है। उनसे छुटकारा पानेके लिये बहुत कुछ कहना आवश्यक हुआ। और छः वल्लियोंका उसीमें विनियोग हुआ। तब यहां अन्तमें आकर तत्त्वभावका प्रसादन हुआ।

इंसका स्पष्टीकरण इसप्रकार होगा कि अस्तिसे सूचित जो पराक्त्व है वह पूरे संसारमें है। अस्मि कहनेपर भी पराक्प्रतियोगिकत्व रूपसे प्रत्यक्त्व आता है। अतः वह भी अतिशुद्ध नहीं है। सभी पराक्त्व उसी तत्त्वभावमें ही कल्पित हैं। काल पराक् है। वह छूट गया तो कालपरिच्छेद नहीं रहा तो नित्य हो गया। देश पराक् है। वह भी कल्पित है। उसका परिच्छेद छूट गया तो अभेद रूपी अद्वैत हो गया। उस सत्में प्रमाण प्रकाश बिना संभव नहीं अतः वह प्रकाशरूप हो गया। प्रकाश असत्का नहीं होता। अतः प्रकाश ही सत् हुआ। अर्थात् सत् ही प्रकाश और प्रकाश ही सत्। अनुभवविषय आनन्द शून्यसे नहीं आ सकता। दुःखसे आनन्द-व्यवधान होता है। दुःख कल्पित होनेसे छूट गया तो आनन्दरूपसे सत् प्रकाशमें आया। इसप्रकार सच्चिदानन्द, व्यापक, नित्य, अखण्ड (अद्वैत) परमार्थतत्त्व ही तत्त्वभाव सिद्ध हो गया। वही ज्ञातव्य है इसप्रकार नचिकेताका प्रश्न यहां पूर्ण हो जाता है।

यहां यद्यपि वक्तव्य समाप्त हो चुका है। नातः परमस्ति। तथापि साधना न भूलें, उसके बिना इस तत्त्वभावपर नहीं पहुंच सकते इस बातको बतलानेके लिये उत्तर ग्रन्थ है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

जब हृदयस्थित समस्त कामनाओंसे मनुष्य छूट जाता है तब अमृत हो जाता है यहीं ब्रह्म को प्राप्त होता है॥ १४ ॥

परमार्थतत्त्वका निरूपण किया। उसकी उपलब्धिका क्रम भी बताया। प्रथम अस्ति रूपसे समझो फिर तत्त्वभावसे । अस्तिरूपसे समझने के लिये भी पञ्चावतिष्ठन्ते बताया। अर्थात् घटोऽस्ति पटोऽस्ति इत्यादि में से स्थूल को छोड़ते गये, सूक्ष्मको बादमें छोड़ा, अन्तमें अव्यक्तको भी छोड़ा, केवल अस्ति रखा। फिर अस्तिमें से पराक्त्वको हटाया। परंतु यह सब ज्ञानक्रम प्राप्त कैसे हो? साधना कहां से प्रारंभ करें यह जिज्ञासा हुई। उसके लिये उत्तर ग्रन्थ है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः। श्रुति कहती है—सर्वप्रथम कामपरित्याग होना चाहिये। किस कामका परित्याग? उत्तर हैं "सर्वे कामाः"। सर्वकाममें" मुख्य तीन कामनायें बतायी गयी हैं।

"ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च
लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां"

प्रथम पुत्रकामना है। स्त्रीपुरुषकी परस्पर कामनाको पुत्र कामना कहते हैं। उससे फिर पुत्र हो, फिर पुत्रके द्वारा इहलोक बन जाये, ये सब पुत्रकामनाके ही अन्तर्गत हैं। इस कामनाको दुर्दान्त बताया है क्योंकि संसारको चलाने के लिये ब्रह्माजीने इसकी सृष्टि की थी। मानसी प्रजाकी उत्पत्ति करते-करते ब्रह्माजी थक गये थे। तब उन्होंने यह कामिकी सृष्टिको विकसित किया और इस संसारको प्रवर्तित किया। दूसरी कामना वित्तकी है। वित्तकी अभिलाषा भी अत्यन्त प्रबल है। "अर्थोऽस्तु नः केवलं—येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रत्ययाः समस्ता इमे।" अर्थ नहीं हो तो सभी गुण तृणोपम हो जाते हैं। तब "जातिर्यातु रसातलं" इत्यादि बातें सामने आती हैं। तीसरी लोक कामना है। इह लोककामना तथा

परलोककामना। सभी संमानके भूखे होते हैं। इहलोकमें कहीं भी जाये तो मान संमान होना चाहिये। बहू सासूको प्रणाम करे तो वह प्रसन्न होती है, नौकर मालिकको सलाम करे तो मालिक प्रसन्न होता है। भले अनदेखी कर आगे बढ़े। किन्तु यदि सलाम न करे तब देखना मालिकका पारा कहां तक चढ़ता है। इस कथनका यह अर्थ नहीं करना कि पुत्र नहीं चाहिये, धन नहीं चाहिये, मान-संमान नहीं चाहिये। लोकके, संसारके अस्तित्वके लिये पुत्र चाहिये। लोककी स्थितिके लिये अर्थ चाहिये। संसारमें शिष्टाचारपूर्वक मानवजीवन जीनेके लिये मान-संमान चाहिये। किन्तु ये सब सीमाका अतिक्रमण करते हैं तो दोषरूप हो जाते हैं और इन एषणाओंमें सीमाका अतिक्रमण प्रायः होता ही है। रावणने सीताका अपहरण किया तो क्या पुत्रोंके द्वारा लोकका अस्तित्व बनाये रखने के लिये? करोड़पति अरब-खरबपति बनना चाहता है तो क्या लोककी स्थितिके लिये? अपने सामने सबको झुकानेकी जो कोशिश होती है क्या यह शिष्टाचारपालनके लिये? ये सब अनर्थकारी काम हैं। ऐसे सभी कामों को छोड़कर अन्तमें सर्वकामपरित्याग करना है। अन्तमें सर्वथा पुत्रादिकामत्याग, वित्तकामत्याग तथा लोककामत्याग करना है।

इसपर प्रश्न हुआ कि सर्वकामत्याग कभी-भी संभव नहीं, किसीके लिये भी संभव नहीं। क्या महासंत भी हो तो भी भोजनकामना रहेगी कि नहीं? रहने के लिये महल नहीं तो झोपड़ी कुटिया की जरूरत होगी कि नहीं? शास्त्र सिखायेंगे तो शिष्टाचारापेक्षा रखेगा कि नहीं? उत्तर है कि भोजनेच्छा यह मनकी मांग नहीं, शरीरकी मांग है। "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः"। यहां हृदि विशेषण है। वस्त्र हृदयकी मांग नहीं, शरीरकी मांग है। गृह शरीरकी मांग है। हृदयकी मांग नहीं। उसमें यह देखना होगा कि शरीरकी मांग कहां तक के लिये है। अन्यथा इस शरीरकी मांग दुनियाको चाट जायेगी। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

"सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः
बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥"

बढ़िया फरश है तो बिस्तरा क्या ढूंढे? चटाईसे भी काम चला जायेगा। बाहुको ही तकिया बना लो। मसलन तकियेकी क्या जरूरत? जरूरत पड़ी हाथमें कटोरीमें ही खा लिये। क्या थालियां सजानेकी जरूरत? जैसा तैसा वस्त्र हो तो भी काम चल सकता है तो रेशमी वस्त्र ढूंढनेकी क्या जरूरत? हां, पहले से ही आदत पड़ी हो तो कोई बात नहीं। फिर भी कम करनेमें भी सुख है, आवश्यकता कम करनी चाहिये। गांधीजीने भी यही लोगों को बताया और स्वयं आचरणमें करके दिखाया। जो मानसिक मांग है वह काम है। जो शारीरिक मांग है वह आवश्यकता है। शारीरिक मांगमें "इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते" "शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोषि किल्बिषं" इत्यादि बातें लागू होती है। इसीका स्पष्टीकरण भगवानने किया—

"यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥"

प्रश्न यह हुआ था कि यदि शरीरकी मांग के लिये छुट्टी है तो समझ लो संतके सामने किसीने एक गिलास दूध रखा, मिष्टान्न रखा। उसके बिना भी शरीर जी सकता है तो क्या उसे ग्रहण न करें? उत्तर यह है—कि शारीरिक मांगको ही पूर्ण करना चाहिये यह बात नहीं कह रहे। मानसिक मांगको ठुकरानेकी बात कहते हैं। दूध, मिठाई के लिये आप तड़प नहीं रहे थे। आ गया तो उसका तिरस्कार करनेकी क्या जरूरत? तात्पर्य यही कि स्वाभाविक रूपसे जो प्राप्त है उसमें संतोष रहना चाहिये।

"तृष्णां करोति न स तत्सविधे हि यत्स्यात्
तद्धीनमेव किल तत्र दरिद्रमाहुः।
इत्थं धनेप्सव इमे सकला दरिद्रा
धन्यः स एव नहि तृष्यति यो न किंचित् ॥"

कई लोगों का कहना है—महाराज, धनसंपदा, पुत्र-पौत्रादिसे जो पूर्ण हैं वे तो कामनाको छोड़ सकते हैं। गरीबोंके लिये धन आया, नहीं आया दोनों बात बराबर नहीं है। धन आया आज तो भोजन है। नहीं तो रात को भूखा सोना पड़ेगा। वहां "यदृच्छालाभसंतुष्टः" यह कैसे लागू हो सकता है? इसका उत्तर है कि जो संपन्न हो गया वह पूर्ण हो गया यह धारणा गलत

है। एक गरीब है। रोज मेहनत करता है तो पचीस रूपयें मिलते हैं। वह प्रतिदिन उस पचीसकी प्राप्तिके लिये मेहनत करता है। किंतु कहता है कि उस आवकसे आजकल क्या होगा? न्यूनतम पचास चाहिये। असलमें वह पचीसकी कमी होनेके कारण पचीसका गरीब है। एक आफिसर काम करता है। उसको पचीससौ रूपये महीनेमें मिलते हैं। उसको भी अनुभव होता है कि पचीससौ आजकलके जमानेमें क्या है? कमसे कम पांच हजारकी आवक हो तो गृहस्थी चल सकती है। उसके अभावमें हर जगह उसे बेचैनीका अनुभव होता है। वह पचीससौका गरीब है। एक सेठ है। पचीस लाख रुपया पासमें है। बड़ा प्रोजक्ट है। पचीस लाखसे क्या होगा? एक करोड़ हो तो प्रारंभ कर सकते हैं। पचीस करोड़ हो तो काम आगे बढ़ाया जा सकता है। वह तो चौबीस करोड़ पचहत्तरलाखका अभाव अनुभव करता है। उतने का वह गरीब है। अब देख लो कौन असली दरिद्र है? पचीस रुपयेका दरिद्र दरिद्र है या पचीस करोड़का दरिद्र दरिद्र है। "इत्थं धनेप्सव इमे सकला दरिद्राः"। राजाने कहा जाड़ेके मौसममें ऊपरसे मेघसे छीटें भी पड़ रही हैं। ठंढीमें ठिठुर रहे हो तो यह शाल लो। घोड़ेपर से उतरकर पेड़के नीचे बैठे संतके आगे शालके लिये हाथ बढ़ाया। संतने कहा-किसी गरीबको दो। राजा आश्चर्यसे पूछता है—क्या आपसे भी बढ़कर संसारमें कोई गरीब है? जिसके बदनपर वस्त्र नहीं, रहनेका मकान नहीं, खानेके लिये अन्नसंग्रह नहीं? संतने कहा, क्यों नहीं? मुझसे बढ़कर कितने गरीब पड़े हैं। राजा कहता है—अच्छा इसे रख लो। आपसे बढ़कर सर्वाधिक जो गरीब हो उसको यह दे दो। संतने शाल हाथमें लिया। हिफाजतसे रखा। एकबार सुना कि राजा पड़ोसी राज्यपर चढ़ाई करनेकी तैयारी कर रहा है। संत वहां पहुंचे। देखते ही पहचान लिया। राजाने कहा—कहो ! कैसे हो संत? मैंने सुना कि आप पड़ोसी राज्यपर चढ़ाई करने जा रहे हैं। क्यों? बात यह है कि हमारा राज्य युधिष्ठिर, विक्रमादित्यके समान विस्तृत नहीं है। हमारा कोश बहुत छोटा है। इसके कारण पर्याप्त इज्जत नहीं है। कोशमें कितने की कमी है बताओ ? क्या कोई सिद्धि है आपके पास उसे भरने की ? राज्य में कितनी कमी है ? अरे ! अरबों-खरबों सुवर्णमुद्रा और चाहिये। राज्य तो कमसे कम इस

वर्तमानरूपसे पचास गुना तो चाहिये ही। सिद्धि हो या न हो किन्तु आपकी दी हुई यह शाल साथमें रख लो।—मैंने आपको कहा था इसे किसी गरीब अतिगरीब को दो।-जी। मैंने दुनियामें बहुत ढूँढा।—क्या तुमसे कोई बड़ा गरीब नहीं मिला? राजन् एक मजदूर मिला, वह पचीस रुपयेकी कमीसे दरिद्र बना था। एक बाबू मिला वह पचीससौ के अभावसे गरीब था। एक सेठ मिला वह पचीस लाख से गरीब था। अब आप मिले तो खरबों सुवर्णमुद्रा और पचास गुना राज्यके अभावके गरीब मालूम पड़े। तो आपसे कोई गरीब संसारमें दूसरा नहीं है। इस चादर के लायक आप ही हैं। "तृष्णां करोति न स यत् सविधे हि तस्मात्"। मैं वितृष्ण हूं धन्य हूं। सर्वोर्ध्व धनयुक्त हूं। फिर भी आपके कहनेसे हाथमें मैंने लिया, आपके वचनके आदरके लिये। अब आप वचनादरार्थ इसे अवश्य अपने पास रखिये। राजा अचम्भेमें रहा वचनादरार्थ लेना पड़ा। समस्त तृष्णाओंके परित्यागके विना मनुष्य धन्य (धन्य=धनवान्) नहीं हो सकता।

कामादिके चार-चार भेद शास्त्रोंमें बताये हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार।

"अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्"

ऐसा योगसूत्रमें बताया। शिशु अवस्थामें कामादि प्रसुप्त होते हैं। काम, क्रोध आदि कुछ भी उस समय नहीं रहता। शारीरिक मांग—भूख रहती है। दूध पिया, कुछ खाया, बस इतनी ही शिशुकी वृत्ति होती है। आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं कि शिशु अवस्थामें अद्वैतभाव ही रहता है। उस समय कामादि प्रसुप्त होते हैं। यदि अद्वैत भाव है तो कामादि समाप्त-दग्धबीज क्यों न माना जाये? इसलिये कि बड़े होनेपर कामक्रोधादि सभी जागृत होते हैं। दग्ध हो तो जागृत न होते। बच्चा पैदा होते ही मातापिता उसकी शादीके बारेमें और संपत्तिके बारे में चिन्ता शुरू करते हैं। यदि काम, लोभादि दग्ध हो तो किसके लिये चिन्ता हो? अतः बाल्यावस्थामें कामलोभादि सभी प्रसुप्त रहते हैं। प्रकृतिलयादि अवस्थामें भी प्रसुप्त माने गये हैं। किन्तु उसका अनुभव हम कर नहीं सकते। अतः उसपर विचार अनुपयोगी है।

तनु कहते हैं पतलेको। योगाभ्यास, ज्ञानाभ्यास आदिसे कामादि पतले हो जाते हैं। पतलेका अर्थ है निर्वीय। कामादि आभासरूपसे कभी उत्पन्न होंगे किन्तु वह महाशन तथा महापाप्मा नहीं होता।

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा"

इस प्रकार गीतामें बताया है। कामके लिये आहार जितना दो उतना ही वह बढ़ता जायेगा। भस्मक रोगके समान है। भोगों से कभी तृप्ति नहीं होती और वह महापाप्मा भी है। भयंकर पाप भी वह करवाता है। आस्तिक कामुक कहता है—

"वेदशास्त्राणि सर्वाणि यदि सत्यानि भामिनि।
आवयोः खलु संयोगः कुम्भीपाके भविष्यति॥"

पहले समयमें अधर्मका भयानक दण्ड होता था। कोई अगम्यागमन करे तो राजा लोग प्राणदण्ड देते थे। वैसे ही एक आस्तिक कामुकको फांसी का दण्ड मिला। उससे मिलने के लिये उसकी प्राणप्रिया पहुंची। वह फांसीपर चढ़ रहा था। उसी समय कह रहा है—हे भामिनि! तुम दुःखी न हो, हम लोगों का पुनः मिलन होगा। वह कहती है—आप फांसी पर चढ़ रहे हैं अब कहां मिलनकी आशा। वह कहता है—शास्त्र यदि सत्य है तो हमारा मिलन होगा। वह पूछने लगी—शास्त्रमें तो पुण्य कर्म करनेवालोंको पतिलोकादिकी प्राप्ति बतायी। हम जैसे पापियों के लिये नहीं। वह कहता है—नहीं, नहीं। पापकर्म करनेवालोंको नरकमें जाना पड़ता है। मैं नरकमें जाऊंगा, तुम भी नरकमें जाओगी तो उसी कुम्भीपाक नरकमें हम दोनोंका अवश्य मिलना होगा। इसको कहते हैं—महापाप्मा। जानते हुए भी कामत्याग नहीं कर पाते। अभ्याससे काममें महाशनता तथा महापाप्मता दोनों नहीं रहती हैं तब वह तनु माना जाता है।

"तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥"

तप करनेसे, जप करनेसे एवं ईश्वराराधन करनेसे समाधि भावन तथा क्लेशतनूकरण दोनों होते हैं। पञ्चक्लेशके अन्तर्गत रागरूपी काम है। नाश इसलिए नहीं मान सकते कि योगियोंको भी किसी प्रारब्धवश पुनरुद्भव

संभावित है। उदाहरण सौभरि है। सौभरि तपस्वी तो थे ही जो यमुना जलमें डुबकी लगाकर तप करते थे। सौभरि स्वाध्यायी थे।

"अहो! इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य"

यहां तप एवं स्वाध्याय दोनों बताया। तप कण्ठोक्त है। सच्चरितव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत वही स्वाध्यायव्रत है। ईश्वरभक्त भी सौभरि थे ही।

तीसरा विच्छिन्न है। जो बीच बीचमें टूट जाता है उसे विच्छिन्न कहते हैं। कामसे क्रोध, क्रोधसे काम टूटता है। हरिद्वारकी बात है। एक बार पांचसात दिन बहुत जलेबी मैंने खायी। एकबार उलटी हो गयी। उसके बाद जलेबीकी गंध भी आ जाये तो उलटी होने लगी। कई वर्षतक ऐसा चला। हमने समझा बड़ा अच्छा हो गया। एक कामना तो हमेशाके लिये गयी। बहुत सालतक नहीं खायी। फिर दक्षिणयात्रामें गये। वहां उपमा दोसा खाते-खाते ऊबने लगे। तब फिर जलेबी सामने आयी तो नफरत नहीं रही। फिर खाने लगे। यह क्या? बीचमें सिर्फ विच्छिन्न हुआ। नारदजी गौरी शिखरपर तप कर रहे थे। उनको लगा कि मैंने कामको जीत लिया। ब्रह्मलोक और कैलास लोकादि जाकर अपनी बड़ाई करने लगे। किन्तु वैकुण्ठ लोक जाकर फंसे। वहां काम केवल विच्छिन्न हुआ था।

"वयसि गते कः कामविकारः"

यह विच्छिन्न का ही उदाहरण है। इन्द्रियशैथिल्यमात्र वहां होता है। उच्छेद नहीं। विच्छेद अलग है, उच्छेद अलग है। उच्छेद सर्वथा नाश है। विच्छेद बीच बीचमें टूटना है। टूटा हुआ फिर उगता है।

चौथा उदार है। उदारका अर्थ है जो चारों ओर फैला हुआ है। हराभरा है। चारों ओर नृत्य कर रहा है।

"जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति माऽवितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥"

एक ओर जिह्वा खींच ले जा रही है। वह चखो, वह चखो। दूसरी ओर शिश्न आकर्षित कर रहा है। वह सुन्दरी है, यह सुन्दर है। तीसरी ओर त्वगिन्द्रिय तड़पा रही है। उसे गले लगाऊं, इसे गोदमें लूं। कहीं उदर

छटपटा रहा है। मिठाई पेट भर खाओ, चाठ खाओ। कहीं श्रोत्रेन्द्रिय गीतवादित्रादिश्रवणके लिये बेचैन है। इत्यादि रीति नानाविध कामना मनुष्यको चारों ओर से अपनी-अपनी ओर खींच रही है जैसे एक पुरुष की अनेक स्त्रियां हो तो सब अपनी ओर खींचने लग जाती हैं। नोचने लगती हैं। यही उदार स्वरूप है। सर्वे इस शब्दसे चारों प्रकारके कामों से मुक्ति पानेकी बात बतायी गयी है।

प्रथम उदाररूप कामोंपर विजय प्राप्त करना चाहिये। एतदर्थ ही पहले यदा "पञ्चावतिष्ठन्ते" इत्यादि बताया। वह प्रत्यक्ष होनेसे उनका हेतु-स्वरूप-फलोंका ज्ञान सुगम है। उसके बाद विच्छिन्नोंपर विजय पाना चाहिये। विच्छेदसमयसे विश्वस्त होकर बैठना नहीं चाहिये।

"बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति"

अतः इनपर विश्वास न करो। हमेशा सावधान रहनेकी आवश्यकता है। इसके बाद तनुको भी पूरी तरहसे नियन्त्रणमें रखना चाहिये। विषय-वृष्टिसे मेढ़क जैसे वे फूल जायेंगे। अतः विषयवृष्टिसे दूर रहना उत्तम है। सर्वाधिक कठोर प्रसुप्त है। बहुत सारी कामनाएं युवावस्थामें भी प्रसुप्त रहती हैं। इनपर विजयके लिये तो अन्तिम ब्रह्मास्त्र ही कामयाब होगा।

प्रमुच्यन्ते। श्रुति केवल मुच्यन्ते नहीं कह रही। प्रउपसर्ग जोड़कर बोल रही है। मुच्यन्तेसे मुक्ति-मोक आता है। प्रमुच्यन्तेसे प्रमोक आता है। प्रमोकका अर्थ है प्रकर्षेण मोचन, सर्वथा कामोच्छेद किन्तु कामनिवृत्ति संभव है क्या वह प्रथम विचार करना पड़ेगा।

"अकामस्य क्रिया काचिन्न कस्यचन दृश्यते ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥"

महाभारतादिमें बताया है कि अत्यन्त कामना रहित कोई क्रिया नहीं कर सकता। जो भी क्रिया होती है वह कामकी ही चेष्टा है। यहांसे उठकर बाहर गये। क्यों गये? जानेकी इच्छा हुई। भोजन किया क्यों? भोजनकी इच्छा हुई। इस प्रकार सभी क्रियाओं के पीछे कामना ही काम करती है। सामान्य चेष्टामें जब यह बात है तो यज्ञ दानादि काम्य कर्मोंकी बात ही क्या? अन्तःकरणशुद्ध्यर्थ कर्म कहें तो भी अन्तःकरणशुद्धिकी इच्छा तो हुई ही। दूसरी बात यह है कि कामनिवृत्ति होनेपर ज्ञान होगा। ज्ञान

होनेपर कामनिवृत्ति होगी ऐसा अन्योन्याश्रय है। 'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय' इस श्रुतिमें आत्मज्ञानसे कामनिवृत्ति बतायी।

'एतद्ध स्म वै तत् पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते ।
किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः ॥'

विद्वांसो न कामयन्ते। ब्रह्मवेत्ता प्रजा आदिकी कामना नहीं करते। यह आत्मा ही हमारे लिये एतल्लोक, प्रजाजय्य लोक है, यह ज्ञान है। परंतु ज्ञान कामपरित्यागसे ही होगा। क्योंकि कामने ही ज्ञानको आवृत्त कर रखा है।

'आवृत्तं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥'

ज्ञानीका नित्यवैरी काम है। उसने ज्ञानको आवृत्त कर रखा है। अतः दोनोंका परस्पराश्रय है। अतः वहां नूतन तरीकेसे विचार करना होगा। मुच्यते और प्रमुच्यते ये दोनों पृथक् हैं। प्रथम मुच्यते और बादमें प्रमुच्यते।

प्रथम कामपर विजय प्राप्त करना है। उसके बाद प्रमोक करना है।

'असंकल्पाज्जयेत् कामम्'

कामको जीतनेका तरीका भागवतमें यही बताया कि असंकल्पसे कामको जीतो। क्योंकि संकल्पसे ही काम उत्पन्न होता है। भगवान् कहते हैं—

'संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

ये काम संकल्पसे उत्पन्न हैं। महाभारतमें बताया—

'काम जानासि ते मूलं संकल्पात् खलु जायसे ।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन त्वं न भविष्यसि ॥'

हे काम! मैं तुम्हारा मूल जानता हूं। तुम संकल्पसे पैदा होते हो। मैं तुम्हारा संकल्प ही नहीं करूँगा तो तुम ही नहीं रहोगे।

सम्यक्त्व कल्पना ही संकल्प हैं। सम्यक्त्व क्या है? न्यायभाषामें इसको इष्टसाधनता कहते हैं। विषयोंमें जो इष्टसाधनताकी कल्पना करते हैं यही संकल्प है। इष्टसाधनरूपसे भूतको वर्तमान बनाना। पूर्वानुभूत सुख, पूर्वभुक्त आदिका स्मरण करते ही वह वर्तमानमें आ जाता है। कभी

भी जिसका अनुभव नहीं किया उसके लिये संकल्प नहीं होता। पहलेके धन, जन, स्त्री, सुतादि प्रथम याद आया। उसी समय उनका सुख प्रतीत हुआ तो सुख साधनरूपसे वर्तमानमें मानसप्रत्यक्ष: होने लगा। यह संकल्प है। संकल्प होते ही 'इममहम् भुञ्जि इदं मम' इसप्रकार उसके साथ अहंकार और ममकार जुड़ गया इसको संग कहते हैं। अहंकार ममकारके द्वारा उन विषयोंसे तादात्म्य होना, चिपक जाना संग है। उसी समय भविष्यको वर्तमानमें उतारते हैं। भविष्य भोगको वर्तमानमें लाते हैं। यह काम है। यही क्रम गीतामें बताया है–

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः"

विषय शब्दसे इष्ट साधनत्व सूचित होता है। इष्ट साधनरूपसे दारपुत्र-धनादीन् ध्यायतः ऐसा उसका अर्थ है। सङ्गास्तेषूपजायते उनके साथ अहं ममसे तादात्म्य करना चिपकना यही सङ्ग है। उस सङ्गका परिणाम है काम।

इस प्रकार संकल्पपरित्यागसे कामपर विजय प्राप्त किया जा सकता है। परंतु इतना ही पर्याप्त नहीं है। विजित शत्रु तत्काल भले ही कुछ न कर सके किन्तु समय पाकर वह फिर सर उठा सकता है। पृथ्वीराजने महम्मद गोरीको सत्रह बार हराया। किन्तु उपेक्षाका परिणाम अठारहवीं बार महम्मद गोरी पृथ्वीराजको जीतनेमें सफल हो गया। उसने पृथ्वीराजको बंदी बनाया। पृथ्वीराजने कहा तुमको मैंने सत्रह बार छोड़ा, अब तुम मुझे छोड़ दो। महम्मदने कहा मैं तेरे जैसा मूर्ख नहीं हूं। उसने छोड़ा नहीं। पृथ्वीराजकी दोनों आंखें उसने निकलवाईं। भयंकर यातनायें उसे दीं और अन्तमें मार डाला। तबसे ही भारतवर्ष विदेशियोंके अधीन हुआ और आजतक पराधीन है। बोलो कि हमने स्वतन्त्रता प्राप्त की। क्या स्वतन्त्रता प्राप्त की? आधा भारत कटकर पाकिस्तान बन गया। जहां हिन्दुओंका नामोनिशाना भी शायद कुछ दिनोंमें रहेगा? तात्पर्य यह कि शत्रुओंके समाप्त किये बिना लापरवाही करनेका परिणाम बड़ा ही भयानक होता है। इसलिये श्रीकृष्णने यही कहा–अरे अर्जुन! युद्धमें फिर धर्माधर्म देखने लगो तो न कर्ण मारा जायेगा और न दुर्योधनादि। क्या

इन कर्ण दुर्योधनादिने अभिमन्युको मारते समय धर्माधर्मकी ओर ख्याल किया था? यही नीति गीतामें अध्यात्ममें भी कहा–

"तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥"

प्रजहिका अर्थ है–प्रकर्षसे मारो। इन्द्रियसंयम कर इस पापी कामको मारो। हि एनं–निश्चित रूपसे। किन्तु यहां प्रजहि हि ऐसा पदच्छेद करते हैं तो प्रहाण–त्याग इतना ही अर्थ निकलता है। और प्रथम सोपानमें उतना ही आवश्यक है। अतः भगवानने पुनः कहा–

"एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥"

यहां प्रथम श्लोकमें संकल्प परित्यागादिसे कामके ऊपर विजय और उसका प्रहाण अर्थ विवक्षित प्रतीत होता है। और द्वितीय श्लोकमें उतनेसे काम बनेगा नहीं, अतः प्रमोकार्थ उपदेश प्रतीत होता है।

प्रमोक (प्रकृष्ट काममोचन) कैसे होगा? वह प्रमोक क्या है? इसका उत्तर यह प्रमोक बाध है। जो कामोच्छेदकारी है। बाध होता है–अधिष्ठानतत्त्व साक्षात्कारसे। यही बाध शास्त्रोंमें ज्ञानके द्वारा होनेवाला बताया गया है। श्रुतियोंमें कहा–

"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥"

इच्छा हमेशा अप्राप्त की होती है। घरमें अलमारी (कवाड़) नहीं है। फ्रीज नहीं है। टी. वी. नहीं है तो उसे प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। अलमारी घरमें आ गयी। फ्रीज आ गया। टी. वी. आ गया तो क्या फिर भी इच्छा करते रहेंगे? कवाड़ मिले, टी. वी. मिले? नहीं। क्यों? सिद्धे नेच्छा। प्राप्तमें इच्छा नहीं रहती। संसारमें कोई अप्राप्त वस्तु नहीं है। आत्मा व्यापक है। उसमें सभी प्राप्त है। उससे बाहर कोई वस्तु नहीं रह सकती। कह सकते हैं कि–लेकिन हमें अप्राप्त दीख रहा है और यत्न करनेपर प्राप्त भी होता है। इस प्रत्यक्षका अपलाप कैसे होगा? इसको जाननेके लिये हमें स्वप्नोदाहरणपर जाना पड़ेगा। स्वप्नमें सूर्य, चन्द्र, तारा, पृथिवी, जल, तेज, वन, पर्वत, सागर आदि सब देखते हैं। कैसे देखते हैं? यह सूर्य मैं हूं

या मुझमें सूर्य है इत्यादि रीति देखते हैं क्या? नहीं। सूर्य मुझसे भिन्न है। सूर्य मुझमें नहीं। करोड़ों माईल दूरीपर है ऐसा देखते हैं। तो क्या सचमुचमें वह सूर्यादि करोड़ों माईल दूरी पर हैं क्या? वे तो आपके अंदर ही दीख रहे हैं। कमरेमें भी नहीं। आंख बंद है तो बाहर भी नहीं, भीतर हैं। परंतु अलग दीख रहे हैं। क्यों दीख रहे हैं अलग? इसलिये कि सपनेमें हमने अपना एक नया शरीर भी बना लिया है। क्योंकि खटियेपर लेटा शरीर तो दीख नहीं रहा। आंख बंद है। अतः अंदर कल्पित शरीर भी पृथक् है। उस शरीरके साथ फिर तादात्म्याध्यास किया-यही शरीर मैं हूं। यद्यपि स्वप्नमें कल्पित सभी वस्तु आप ही हैं या आपमें ही हैं। तथापि संस्कारवशात् शरीरको ही स्वस्वरूप समझते हैं दूसरोंको नहीं। तब अन्य वस्तु बाहर हो गयी। तब उनमें इच्छा होने लगी। सपनेमें पैसा दीखा तो उसमें इच्छा हो गयी यह मुझे मिल जाये। प्रिय वस्तु स्त्री, अन्न, पानादि दीखे तो उन्हें पानेकी इच्छा हो गयी। यदि यह समझते कि ये सब मुझमें ही हैं तो उन्हें पानेकी इच्छा। क्यों होती? यह स्वप्नकी स्थिति हो गयी। अब इसे जाग्रतमें भी समझ लगो। जाग्रतमें इस वर्तमान शरीरके साथ इतना तादात्म्य हो गया कि इसीको हम अपना स्वरूप समझने लगे। जब कि वास्तवमें हम व्यापक हैं। अतएव वस्तुएं अप्राप्त हो गयीं। अपनेसे पृथक् हो गयीं। तब उन इष्ट वस्तुओंको पाने और अनिष्ट वस्तुओंको हटानेकी इच्छा होने लगी। आत्मानं चेद्विजानीयाद् अयमस्मि। यदि आत्माको यह पहचाने कि वही मैं हूं—व्यापक अखण्ड स्वरूप मैं हूं तब किमिच्छन्—किस वस्तुकी इच्छा होगी?

परंतु यह व्यापकत्वज्ञान कैसे होगा? कैसे अपनेमें सब को देख सकते हैं? यही एक जटिल कार्य है। इसके लिये ही समाधिका वर्णन किया गया है। एक सविध समाधि है। दूसरी सहज समाधि है। योगी लोग यम, नियम, आसन, प्राणायामादि विधासे जो समाधि लगाते हैं उसे सविध समाधि कहते हैं।

"मनः प्रत्यक् चित्ते सविधमवधायात्तमरुत:"

इस प्रकार सविध समाधिवर्णन किया है। उससे निर्विकल्पकता आ जाती है तो स्वयं अपने आपको अपरिच्छिन्नरूपसे दर्शन करने लगते हैं।

"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥"

शब्दादि विषयसंसर्ग ही मल है। क्योंकि वह आध्यासिक है। निर्विकल्पक समाधिसे चित्तमें विषयसंसर्ग नहीं रहता। आत्मा व्यापकरूप है उसमें निवेशित हो गया। उस समय सर्वसुखात्मक आत्मसाक्षात्कारसे समस्त कामनायें नष्ट हो जाती हैं। अखण्डाकार वृत्तिरूपी अन्तःकरणसे उस सुखका ग्रहण होता है। उसका वर्णन वाणी नहीं कर सकती वह स्वसंवेद्य है।

इस सविध समाधिमें जो पहुंच नहीं पाता उसके लिये सहज समाधि है। निरन्तर ब्रह्मेतरमिथ्याचिन्तन करो। समस्त जगत् आशुविनाशी है। अति तुच्छ है। समुद्रमें तरंगके समान यह देह भी मुझमें कल्पित हैं। जगत् भी मुझमें कल्पित हैं। इसका निरन्तर चिन्तन होनेपर वैसा ही भासने लगता है। फरक इतना ही है कि समाधिवालोंको स्पष्ट अवभास होता है।

"प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः"

जब असंकल्पादिके द्वारा कामविजय होनेसे प्रसंख्यानाभिलाषा भी नहीं रहती है तब उसे धर्ममेध समाधि लगती है। पञ्चदशीमें निदिध्यासनको धर्ममेधसमाधि ही बताया है। "वर्षत्येव यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ।" उस धर्ममेधसे धर्मधारा-धर्मामृतधारा हुई जो बहने लगती है।

"तदा ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्"

उस समय अखण्डाकारवृत्तिसे अज्ञानापनयन होनेसे चैतन्यरूप ज्ञान स्वप्रकाशतया अनन्त हो जाता है जिस ज्ञानाग्निमें समस्त जगत् पड़ जाता है। समस्त काम्यविषय उसमें दग्ध हो जाते हैं। ज्ञानरूपी आत्माके अंदर समस्त विषयोंके आ जानेसे कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता। कुछ शेष भी नहीं रहता।

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावैदहं ब्रह्मास्मीति
तस्मात्तत्सर्वमभवत् । तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत
स एव तदभवत् । तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ।
तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च
तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति ।"

ब्रह्म ही प्रथम बीजरूपसे, वट धानरूपसे, रजताधिष्ठान शुक्तिरूपसे पहले था। मायाके कारण यह जगत् उसमें आ गया। स्वयं मानो स्वको वह भूल गया। उस ब्रह्मने अपने आपको समझा अहं ब्रह्मास्मि। तब उसको मालूम पड़ा यह सृष्ट समस्त जगत् मुझमें है। मैं ही हूं। उसके लिये कुछ प्राप्तव्य नहीं रहा। मायाके कारण ही अनादिकालसे भिन्नसा हुआ, बिछुड़ा हुआसा यह जीव है। इन जीवोंमें भी जो देव, जो ऋषि, जो मनुष्य यह समझ ले कि मैं ब्रह्म हूं तो वह सर्वस्वरूप होगा। ब्रह्म तो अनादिकालसे प्रतिबुद्ध हो गया। देवादि गुरूपसदनपूर्वक यही यहां रहस्य है। ऋषि वामदेवने "अहं ब्रह्मास्मि" जाना तो वह कहने लगा मैं ही मनु था, मैं ही सूर्य हुआ। केवल कथा कहानी नहीं। आज भी जो "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसा जान ले वह भी सर्वस्वरूप हो जाएगा। इस मन्त्रमें स्पष्ट यह बताया कि "अहं ब्रह्मास्मि" यह तत्त्वज्ञान हुआ तो वह सर्वस्वरूप होगा। घटपटादिरूप बन जाएगा ऐसा अर्थ नहीं किन्तु सुवर्णरूप ही कटक कुण्डलादि सुवर्णमें ही स्थित हैं वैसे ब्रह्मवेत्तामें सभी जगत् स्थित होगा। फलतः उसके लिये कामयितव्य कोई वस्तु नहीं रहेगी। सर्वकामप्रमोक होगा।

इसमें यह विशेषता है कि प्रथम समस्त जगतको स्वरूप समझेगा। जैसे सुवर्ण ही कुण्डलादि है। किन्तु ब्रह्मदर्शनका उत्कर्ष होनेपर सोनारकी दृष्टिमें केवल सोना-चांदी है, राम हनूमान आदि चांदीमें नहीं वह वैरागीकी ही दृष्टिमें है वैसे तत्त्ववेत्ता जगतको बाधितरूपसे देखेगा।

परंतु यह बाधात्मक कामत्याग प्रथमतः नहीं हो सकता यह हम बता चुके। बाधात्मक कामप्रमोक ज्ञानोत्तर ही होगा। अतः वह ज्ञानरूप ही हुआ। अतएव परवैराग्यको ज्ञानप्रसादरूप ही योगशास्त्रमें माना है। "तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यं" इस सूत्रकी व्याख्यामें व्यासजीने वैसा ही बताया है। किन्तु यहां "अस्तीत्येवोपलब्धव्य" इत्यादिसे बताये हुए तत्त्वज्ञानके साधनोंका वर्णन है। यद्यपि "तत्त्वभावः प्रसीदति" इस शब्दसे ज्ञान प्रसादात्मक कामप्रमोककी विवक्षा कह सकते हैं किन्तु शब्द बदलकर बोलनेमें अवश्य कारणान्तर होगा। अतः यहां तत्त्वभावप्रसादका भी मूल कारण अपर वैराग्यमें भी ज्ञान कारण है। जैसा कार्य वैसा कारण होना चाहिये। अपर वैराग्यमें विवेक कारण प्रसिद्ध है। विवेक भी तो एक

प्रकारका ज्ञान ही है और पातञ्जलानुसार व्याख्या करनी हो तो 'तत्त्वभावः प्रसीदति' यह ज्ञानप्रसाद कथन है। उसीको 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते' से अनुवाद किया। सर्वकामप्रमोक रूपी पर वैराग्य ज्ञानप्रसादरूप ही है। उसका फल अमृतत्व बताया गया।

येऽस्य हृदि श्रिताः। एक प्रश्न यह हुआ कि सर्वकामप्रमोक कैसे होगा? क्योंकि कामको पुरुषसे पृथक् नहीं किया जा सकता। श्रुति कहती है–

"अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति
स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति।"

इत्यादि। यह पुरुष काममय है। कोई न कोई कामना पुरुषमें रहती ही है। सुखकामना, पुत्रकामना, वित्तकामना आदि। विषय बदलते हैं। किन्तु अनुगत कामना तो रहती ही है। काममयः से कामकी स्वाभाविकता बतायी गयी है। जैसे दुःखमयः संसारः कहनेका मतलब है दुःख संसारका स्वरूप है। स्वाभाविक धर्म है। जो स्वाभाविक धर्म है उसका प्रमोक नहीं हो सकता। मोक हो सकता है, प्रमोक नहीं। पानीका स्वभाव है ठंढक। आगके ऊपर रखनेपर ठंढकका मोक होगा, प्रमोक नहीं। क्योंकि चूल्हेसे उतारके रखो तो थोड़े समयके बाद फिर वह ठंढा हो जाता है। अग्निका स्वभाव दाहकता है। उसका मोक हो सकता है, प्रमोक नहीं। मणि मन्त्र औषधियोंसे अग्निकी दाहकताका मोक होगा। प्रमोक नहीं। एक गांवमें हमने देखा एक उत्सवमें ढेर लकड़ी जलाकर अंगारका ढेर हो गया। एक मुखिया लाल वस्त्र पहनकर आया। प्रथम कुछ पढ़कर अग्निमें कूदकर आगे निकला उसके पीछे पचास और कूदे। किसीका कुछ नहीं जला। एक लड़का देख रहा था। लड़कोंकी कुतूहलता होती है। मेरेसे कहा मैं अग्निमें कूदकर दिखाऊंगा। उसने लकड़ी जलाकर अंगारा बनाया और कूदा तो पांव जल गया। तीन महीने तक खटियेपर पड़ा रहा। प्रथम घटनामें क्या बात थी? मणि मन्त्र या ओषधिसे अग्निकी दाहकता (उष्णता) का मोक किया। मोक हुआ, प्रमोक नहीं। मणिमन्त्रादिका असर कम हो जाये तो वही अग्नि जलाने लगती है। मतलब स्वभावका अतिक्रमण संभव नहीं है। इसका उत्तर श्रुति दे रही हैं। 'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' यदि काम

आत्माका स्वभाव हो तो यह बात सही है। किन्तु काम आत्माका धर्म है ही नहीं। वह हृदि_श्रिता:—हृदयका धर्म है। मनका धर्म है।

"स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति
यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते
यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते"

कामानुसार क्रतु अर्थात् संकल्प होता है। संकल्प माने यहां चिकीर्षा। चिकीर्षाके अनुसार कर्म करता है और तदनुरूप स्वरूप पाता है। कामयितृत्व, संकल्पयितृत्व, कर्तृत्व एवं तदनुसार भोक्तृत्व ये सभी मनके धर्म हैं। आत्माके धर्म नहीं। यदि ये सब धर्म आत्माके हों तो जो पूर्वपक्ष उठाया वह सही हो जायेगा। अर्थात् इनकी निवृत्ति (प्रमोक) नहीं हो सकती।

"आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्नाकङ्क्ष्या तस्य मुक्तता ।
न हि स्वभावो भावानां व्याववर्तेतौष्ण्यवद्रवेः ॥"

कर्त्रादिसे पूर्वागत कामयितृत्वसंकल्पयितृत्वादि सभी रूप ग्राह्य हैं। ये सब आत्मधर्म हों तो मोक्षाकाङ्क्षा रखना सर्वथा फिजूल है। क्योंकि सूर्यसे उष्णताको दूर नहीं किया जा सकता। स्वभाव दुरतिक्रम है।

दूसरी बात यह भी है कि कामना संकल्प आदि आत्मामें होते हैं तो क्या बाहरसे आकर चिपकते हैं या आत्मामें असत् ही पैदा होते हैं या जो अन्दर सूक्ष्मरूपसे स्थित हैं वे बाहर आ जाते हैं? जैसे बाहरसे धूल आकर कपड़ेपर चिपकती है वैसे कामना बाहरसे आकर आत्मामें नहीं चिपक सकती। यह कोई चिड़िया नहीं कि उड़कर आये। असत्की उत्पत्ति तो सिद्धान्तविरुद्ध है। तिलसे तेल निकलता है। बालूसे नहीं। दोनोंमें असत् तेल बराबर है तो जैसे तिलसे तेल निकलता है वैसे बालूसे भी निकलता। अतः यही कहना होगा कि तिलमें सूक्ष्मरूपसे तेल रहता है। बालूमें नहीं। अतः तिलसे ही तेल निकलता है। इसी प्रकार आत्मामें सूक्ष्मरूपसे कामना रहती हैं वही समयानुसार बाहर प्रगट होती है। तब यह प्रश्न होगा कि अंदर सूक्ष्मरूपसे स्थित कामना बाहर कैसे प्रगट होकर आयी? जैसे बीजके अंदर अंकुर सूक्ष्मरूपसे रहता है पानीके सहकारसे वह फूटकर बाहर आया। तब जैसे बीज फूट जाता है वैसे आत्मा भी फूटेगा। तिलसे

तेल निकलनेके बराबर तो आत्मा भी पेला जायेगा। अंदरसे फूटकर बाहर आना होगा। जैसे शरीरमें दूषित रक्त फोड़ेके रूपमें बाहर फूटकर आता है। ऐसी स्थितिमें आत्मा अनित्य हो जायेगा। अतएव आत्माको विकारी मानना आस्तिकसिद्धान्तपर कुठाराघात ही होगा। अतः यही सिद्धान्त है कि कामादि मनमें होते हैं। आत्मामें नहीं। श्रुति भी कहती है–

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा
धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव ॥"

काम संकल्पादि सभी मन ही है। मन्के ही धर्म हैं। मनके स्वभाव हैं। अतएव आत्मस्वभाव न होनेसे इनका प्रमोक संभव है।

अच्छा, मनका स्वभाव मान लो कामादि। किन्तु मनसे भी उसको पृथक् करना संभव नहीं है। मनका ही स्वभाव मनसे कैसे नष्ट होगा? न्याय तो वहांपर भी बराबर है। जल शैत्यवत् मनःकामना हटाना संभव नहीं। इस प्रश्नका उत्तर यह है कि मनसे कामनाको हटाना असंभव है यह बात सही है। मन हो तो कामना आदि रहेगी ही। किन्तु हमारा कहना यह नहीं कि मनमेंसे कामनाका प्रमोक करो। हम तो वह कहते हैं–मनको ही हटाओ, खतम करो।

"मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते"

अग्नि हो तब हाथ जलेगा। अग्नि ही शान्त हो जाये तो? मनको अमन करना है। योगी उन्मनी भाव कहते हैं। वेदान्तमें अमनीभाव कहते हैं। बृहस्पतिने कचको उपदेश किया कि–

"देहत्यागो न हि त्यागः पुनर्देहोपपत्तितः।
मनस्त्यागो भवेत्त्यागो यस्माद्भूयो न जायते ॥"

लोग क्लेशको दूर करनेके लिये देहत्याग करते हैं। जिसकी संज्ञा आजकल आत्महत्या है। परंतु वह बेकार है। क्लेश क्यों होता है? दुःख क्यों होता है? किसीने किसीको क्लेश दिया तो कारण क्या है? यह तो निश्चित है कि मनुष्यको कर्मानुसार फल मिलता है। उसके लिये हल आत्महत्या नहीं है। उस कर्मका फल भोगनेके लिये उसको दूसरा जन्म लेना पड़ेगा। दूसरे जन्ममें वही क्लेश फिर मिलेगा। इस जन्ममें किसीने डांटा, पीटा, उसको लेकर आत्महत्या की। किन्तु दूसरे जन्ममें कहीं बैल बना, कुत्ता बना तो?

जिंदगीभर मालिक पीटता रहेगा। मानवशरीरमें हम किसीको शिकायत कर सकते हैं, केस कर सकते हैं। अब उससे भी रह गये। बैल थक जाता है। उसके मुंहसे फेन गिरता है। लेकिन बराबर न चलनेके कारण मालिक उसे पीटता है। डंडा मारता है। इस जन्ममें जो परिहरणीय कर्म था वह अगले जन्ममें अपरिहरणीय हो गया। पापकर्मसे दुःख मिल रहा था। अब आत्महत्यारूपी एक नया पाप जुड़ गया जिसका फल है उस पापकी शतगुणी वृद्धि। अतः क्लेशनिवारणका उपाय शरीरत्याग नहीं, बल्कि इस शरीरके रहनेपर उन कर्मोंका निवारण करनेका उपाय भी किया जा सकता है। जो अन्य शरीरमें संभव नहीं है। अन्य शरीरमें आत्महत्यासे शतगुणित कर्म जीवन भरके लिये क्लेशदायी होंगे। मानवदेहमें पूजापाठ, पुरुषप्रयत्न आदि अनेकों उपायोंसें कर्मका अल्पीकरण हो सकता है। शूलीके बदलेमें सूई हो जा सकती है। हाँ, थोड़ा कुछ तो कर्मफल अवश्य ही भोगना होगा। तब क्लेशनिवारणका असली उपाय क्या है? बृहस्पति कहते हैं मनका त्याग करो। यही सर्वोत्तम त्याग है। मनको अमनीभाव प्राप्त कराओ।

मनका त्याग किस प्रकार हो? मनका अमनीभाव कैसे हो? इसके लिये प्रथम यह देखना होगा कि मनको पोषण कहांसे मिलता है? वह बंद हो गया तो शोषण शुरु होगा। तब अमनीभाव होगा। पोषण तो सबको मिलता है आत्मासे ही। तादात्म्यके द्वारा आत्मासे सबको बल मिलता है। जैसे अग्निसंयोगसे जल गरम होता है बरतनके द्वारा। प्रथम आत्म-तादात्म्य अहंकारसे होता है। उसके द्वारा आत्मतादात्म्य बुद्धि और मनमें आता है। मनको अमन बनानेके लिये प्रथम अहंके साथ आत्मतादात्म्यको मिटाना होगा। फिर उससे सम्बन्धित ममसे। तब मनका पोषण शिथिल पड़ेगा। धीरे-धीरे संकल्पविकल्प कम होने लगेंगे। जहां संकल्पविकल्प कम हो गया वहां मन् क्षीण होने लगेगा। तब कामादि भी क्षीण होंगे। इस प्रकार मन अन्तमें केवल निशानीमात्र, रेखामात्र होकर रह जायेगा। जैसे सांप सूखता, सूखता अन्तमें धागे जैसा हो जाता है। जैसे मेंढक सूखता सूखता कीड़े जैसा हो जाता है। फिर जब आत्मदर्शनसे अद्वैतदर्शन होने

लगता है तो प्रतिबन्ध न होनेके कारण काम समाप्त हो जाता है। मन भी प्रारब्धमात्रक्षयकी प्रतीक्षा करता रहेगा।

अथ मर्त्योऽमृतो भवति। यह विरोधाभास लगता है। मर्त्यका अर्थ है मृत्युग्रस्त। वह अमृत कैसे बनेगा?

"न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं भवेत् ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥"

अमृत कभी मर्त्य नहीं होता और मर्त्य कहीं अमृत नहीं होता। प्रकृतिका अन्यथाभाव किसी प्रकार संभव नहीं। तब मर्त्य अमृत होगा यह श्रुतिवचन किस प्रकार? उत्तर है मर्त्यको अमृत नहीं बनाना है। शरीरेन्द्रियादिको अमृत नहीं बनाना है किन्तु जो अमृत है उसीको अमृत बनाना है। असलमें मर्त्त शब्द हैं। हसि मृग्रिण इत्यादि औणादिक सूत्रसे मृ धातुसे त प्रत्यय होनेपर मर्त्त शब्द होता है। म्रियत इति मर्त्तः। जो मरनेवाला है वही मर्त्त है। मर्त्ते भवः साधुर्वा मर्त्यः। जो मर्त्तमें रहे वही मर्त्य है। शरीरादि मर्त्त है। उसमें रहनेवाला आत्मा मर्त्य कहलाया। वह स्वयं मर्त्त नहीं है। मर्त्तमें रहनेके कारण मर्त्तसा लगता है। मर्त्ततादात्म्यापन्न होकर मर्त्त्य बना। उस मर्त्ततादात्म्यका परित्याग अमृतभवन है। अतएव निवर्तन ही शास्त्रकार्य बताया।

"द्रविडोऽपि च तत्त्वमसीति वचो विनिवर्तकमेव निरूपितवान्
शबरेण विवर्धितराजशिशोर्निजजन्मविदुक्तिनिदर्शनतः ॥"

शिकार खेलनेके लिये अपने शिशुको लेकर राजा जंगल गया। दोपहरको कहीं वृक्षके नीचे विश्राम किया। वह बच्चा खेलता-खेलता इधर-उधर हो गया तो उसी समय एक विलक्षण मृग आया। राजाकी आंख खुली तो सहसा घोड़ेपर चढ़कर उसका पीछा किया। अतितीव्रगति वह मृग राजाको कहांका कहा ले गया। पकड़में भी नहीं आया। इधर रात हो गयी। बालकको खोजनेपर भी देखा नहीं। एक शबरकी नजरमें शिशु आ गया। उसने ले जाकर उसे पाला पोसा। वह बड़ा हो गया बीस वर्ष ऊपरका। कदाचित् जंगलमें घूमते समय मन्त्रीकी दृष्टि उसपर पड़ गयी। उसने पहचान लिया। उस मन्त्रीने बालकको जब कहा कि 'त्वं न शबरो राजकुमारोऽसि'। तब उस बालकने अपनेको राजकुमार समझा। शबर

राजकुमार नहीं होता। राजकुमार शबर नहीं होता। किन्तु यहां शबर-बालको राजकुमार बना दिया। यहां राजकुमार बननेकी जरूरत नहीं। शबरकुलतादात्म्याभिमाननिवृत्तिमात्र हुआ। यही राजकुमार बनना है। वैसे ही तत्त्वमसि आदि वाक्योंमें भी जीवभावनिवृत्तिमात्र कर्तव्य है। ब्रह्म बनाना नहीं है। वैसे यहांपर भी मर्त्यको अमृत बनाना नहीं है। मर्त्यतादात्म्यभावनिवृत्तिमात्र कर्तव्य है।

अत्र ब्रह्म समश्नुते। मर्त्यतादात्म्य भावनाका परित्याग होनेसे अमृत हुआ तो उसका यह अन्तिम चरण है 'अत्र ब्रह्म समश्नुते'। अत्र अस्मिञ्जन्मनि, अत्र अस्मिन्काले, अत्रास्मिन्देशे, अत्रास्मिन्क्षणे। "इह चेदशकद् बोद्धुं" का यहां समर्थन किया जा रहा है। इसी जन्ममें ब्रह्मकी प्राप्ति होगी। इसी देश और कालमें।

"न नाकपृष्ठे न सुरेन्द्रलोके मुक्तिर्न पातालरसातलादौ ।
आत्मस्वरूपाविरतस्थितिस्तु मुक्तिः सतां हस्ततलस्थितैव ॥"

कर्मकाण्डी समझते हैं कि मरणोत्तर स्वर्गलोकमें जाना मुक्ति है। "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।" यज्ञादि कर्ता अक्षय पुण्य पाता है। क्षय न होनेसे वह नित्य है ऐसा अभिप्राय मानते हैं। परंतु जो उत्पन्न होता है वह अनन्त नहीं होगा। अनन्त अन्त रहित है। और उत्पत्ति सीमायुक्त है। अतः अक्षयताकी बात युक्तिविरुद्ध है। बोले कि श्रुतिके सामने युक्ति क्या करेगी? उत्तर है–युक्ति तो विचारार्थ प्रस्तुत किया। श्रुति स्वयं कहती है–

"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते ।
एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते ॥"

युक्ति का आश्रयण करती हुई श्रुति कहती है कि इहलोक–संचित सुखदिवत् परलोकसंचित सुख भी क्षयी है। इसीका समर्थन गीता भी करती है–

"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम् ।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥"

स्वर्गोपभोगसे पुण्य समाप्त होता है तो वह मर्त्यलोकमें वापिस आता है। तब "अक्षय्यं" यह श्रुति दीर्घकाल स्थायित्वमात्र बतायेगी।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥

जब हृदयकी सभी ग्रन्थियां टूट जाती हैं तब यहां मर्त्य अमृत होता है। बस इतना ही अनुशासन है॥ १५ ॥

पूर्व मन्त्रमें कामका प्रमोचन होनेपर मनुष्य अमृत होता है ऐसा बताया। काम प्रमोचन ही होता है या कुछ और भी? या यह भी एक जिज्ञासा है कि कामका प्रमोचन हुआ या केवल मोचन हुआ यह कैसे मालूम पड़ेगा? प्रसुप्त कामादि हैं कि नहीं यह कैसे पता लगेगा? इन सबके उत्तरके रूपमें यह प्रस्तुत मन्त्र कहा जा रहा है।

'यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदस्येह ग्रन्थयः।' इस मन्त्रके जैसा एक मन्त्र मुण्डकोपनिषत्में भी आया है।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥'

तस्मिन् परावरे परमात्मनि दृष्टे भिद्यते हृदयग्रन्थिः । उस परावर परमात्माका दर्शन होनेपर हृदयग्रन्थि टूट जाती है। परावर क्या है? परोऽप्यवरो यस्मात्। पर भी जिसके सामने अवर हो जाये। मामूली हो जाये वह परावर है। कहीं इसके लिये परात् पर प्रयोग करते हैं। संसारमें जो सबसे पर है उससे पर, या वह अवर है जिससे वह परात्पर या परावर है। अब यह देखना है कि संसारमें सबसे पर कौन है? संसारमें सबसे पर है अव्यक्त-अव्याकृत शक्ति, परा अम्बा प्रकृति। क्यों वह पर है? इसलिये कि उससे समस्त जगत्की उत्पत्ति है। उसमें सर्वसुखसमावेश होता है। शब्दस्पर्शादि समस्त विषय उसीसे प्रगट होते हैं। बोले कि उससे दुःख भी तो प्रगट होता है तो वह पर क्यों है? उत्तर है—सात्त्विक प्रकृति विवक्षित है। शास्त्रोंमें असंभूतिकी उपासनासे प्रकृतिलय महाफल बताया। बल्कि संभूति असंभूति समुच्चय माना है। संभूति हिरण्यगर्भ सत्त्वप्रधान होनेसे तत्समुच्चित प्रकृति भी स्वयं सत्त्वप्रधान हो जाती है।

'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्'

इस पातञ्जलसूत्रभाष्यमें व्यासजीने प्रकृतिलीनोंको मोक्षसदृश सुखप्राप्तिका वर्णन किया है—मोक्षसुखमिवानुभवन्ः। अतः वे पुनः जन्म पाते हैं तो भवप्रत्यय

होते हैं। जन्मसिद्ध होते हैं। इन्द्रियोंसे पर मन, उससे पर बुद्धि, उससे पर महत्तत्त्व, उससे पर अव्यक्त। उपासना पद्धतिसे यह अम्बाजीकी उपासना है। शिवविष्णु आदिको जो आकार प्राप्त हुआ वह मायाशक्तिसे ही है।

"वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः"

श्रीकृष्णने भी योगमायाका आश्रयण कर रासलीला रची। वह माया स्वयंके लिये शरीररचना करती है तो पराम्बा होती है। शिवादिके लिये शरीरधारण कराती है। स्वयं स्वके लिये भी। शिवादिके लिये निर्मित्त शरीरमें भी ब्रह्मचैतन्य आता है। अतएव वह स्वतन्त्र कहलाती है। न कि अत्यन्त स्वतन्त्र। कारण वह शक्ति भी ब्रह्माश्रित है। उस शक्तिसे पर वह ब्रह्म ही है। जो सच्चिदानन्दैकरस है। उस ब्रह्मका दर्शन होनेपर हृदयग्रन्थि टूट जाती है। सर्वसंशयनिवृत्ति होती है। सर्वकर्मक्षय होता है।

ग्रन्थयः ऐसा यहां बहुवचन प्रयोग है। अतः अनेक ग्रन्थियां प्रतीत होती है। प्रथम यह समझना है कि यह ग्रन्थि क्या है? ग्रन्थि गांठको कहते हैं। गांठ है तादात्म्याध्यास और संसर्गाध्यास। कहीं तादात्म्याध्यास है और कहीं संसर्गाध्यास है। इसीको भाष्यमें "अन्योन्यस्मिन्नयोन्यात्मकता-मन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्य" बताया। अन्योन्यात्मकाध्यास तादात्म्याध्यास है। अन्योन्यधर्माध्यास तो वस्तुतः संसर्गाध्यास ही है। परधर्मका परत्र संसर्गाध्यास होता है। जैसे अयः पिण्डमें दाहकत्वाध्यास दाहकत्वसंसर्गाध्यास है। हृदयस्य यह षष्ठी प्रयोग है। पूर्वमें "कामा येऽस्य हृदि स्थिताः" ऐसा सप्तमी प्रयोग किया। काम तो हृदयमें ही रहेगा। हृदयस्य इस षष्ठीसे हृदयसंसर्गमात्र प्रतीत होता है। वह आगे पीछे सम्बन्ध होनेपर भी हो सकता है। जैसे मेरा बाल्य बड़ा मधुर था। यहां बाल्य वर्तमानमें नहीं। तव पुत्रो भविष्यतिमें पुत्र वर्तमानमें न होनेपर भी तब षष्ठी प्रयोग हुआ। अतः हृदयसम्बन्धि पूर्वापर सभी ग्राह्य हैं।

सर्वप्रथम अविद्याग्रन्थि है। मुण्डकोपनिषद्में कहा—

"पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकरतीह सोम्य॥"

यह समस्त विश्व पुरुष ही है। कर्म, उपासना तथा परामृतब्रह्मरूपी ये भी पुरुष ही हैं। इस गुह्य रहस्यको जो जान लेता है वह अविद्याग्रन्थिको

नष्ट करता है। क्या अविद्याग्रन्थि का अनुभव होता है या शास्त्रमात्रगम्य है? उत्तर है-आनुभाविक है। अहमज्ञः नाहं किंचिदवेदिषं यह सब अविद्या-तादात्म्याध्यास है। अविद्यातादात्म्याध्याससे ब्रह्मकी स्वप्रकाशता मन्द हो गयी। आनन्दादि अस्पष्ट हो गये। ब्रह्मतादात्म्याध्याससे' अविद्यामें प्रजननशक्ति आ गयी, विश्वकल्पना उससे हुई। उसे वासनाग्रन्थि भी कहते हैं।

इसके बाद दूसरी ग्रन्थि है-अहंकार ग्रन्थि। अविद्यास्थ वासनासे प्रथम अहंका जन्म होता है। इसे अहंकार कहते हैं। अहंकी ग्रंथि अतिदुर्भेद है। क्योंकि शरीरादिमें अहं मम दोनों होते हैं। अहं देवदत्तः, मम शरीरं। परंतु 'अहं' में एक ही है। मम अहं नहीं होता। अहंकार अहंकरणमिति अहंकारः । वह तत्त्व नहीं। अहं इतना ही तत्त्व है। उस अहंके साथ तादात्म्याध्यास हो गया। जिससे अपरिच्छिन्न चेतन परिच्छिन्न हो गया। और जड़ अहं पुरुषतादात्म्यसे चेतन हो गया। अहं जड़ः नहीं होता। अहं मां जानामि ऐसा चेतनवत् वह भासित होता है। इसके बाद मनबुद्धि तथा इन्द्रिय तथा शरीर इनके साथ तादात्म्याध्यास तथा संसर्गाध्यास दोनों हो गये। ये सभी ग्रन्थियां हैं। और उसीसे अन्धत्व, काणत्व, बुभुक्षा, पिपासा, जन्ममरणाद्याध्यास होते हैं। इन्हें षडूर्मि कहते हैं। भूख, प्यास, जरामरण, शोकमोह ये षडूर्मियां हैं। भूखप्यास प्राणोंमें, जरामरण स्थूल शरीरमें, शोकमोह, अन्तःकरणमें होते हैं।

यह तो तत्त्वग्रन्थि हो गयी। इसके बाद संसारके कारणरूप भाव-ग्रन्थियां शुरू हो जाती हैं। अहंकारके ऊपर अभिमान होता है। किसी न किसी प्रकार अपनी महत्ता जतानेका प्रयत्न अभिमान ग्रन्थि है। सभी महत्त्वाकाङ्क्षी होते हैं। और कुछ महत्त्व अपने अंदर समझते हैं। एक सेठ अपने आपको श्रेष्ठ समझता है। क्योंकि उसके पास धन है। और अधिक धन वह चाहता है। अधिक महत्त्व चाहता है। एक ब्राह्मण अपनेको श्रेष्ठ मानता है। मैं उच्च कुलका हूं। एक राजा अपनेको श्रेष्ठ समझता है-मैं शासक हूं। एक पढ़ा-लिखा आदमी अपनेको श्रेष्ठ समझता है-मैं विद्वान् हूं।

"जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम् ॥"

ब्राह्मणादि जन्मसे, शासकत्वादिरूप ईश्वरत्वसे, विद्यासे एवं धनसे यह अभिमान बढ़ता है। वह परमात्माको नहीं पा सकता। परमात्मा तो अकिंचनगोचर है। अपनेको कुछ भी न समझे वही उसे पा सकता है। तो क्या भीखमंगे परमात्माको पायेंगे? नहीं। उनमें भी अभिमान रहता है। भिखमंगोंके संपर्कमें रहो तो मालूम पड़ेगा। एक भिखमंगा कहता है देखो मैं ऐसी भींगी बिल्ली बनकर गिड़गिड़ाया कि सेठने २५ रूपया निकालकर दिया। तुम जरा निकालो सेठोंसे पैसा। उनमें भी उत्कर्ष अपकर्ष होता है। यह कहें कि चमार, डोम, भंगी आदि नीचली जातिका होनेपर जन्माभिमान नहीं रहेगा। किन्तु विपरीत है। स्वतन्त्रता मिलनेके कुछ दिन बाद की बात है (अजमेरमें) एक चमार ब्राह्मणके होटलमें आ गया और खाना मांगा। ब्राह्मणने कहा—भाई खाना पुड़िया बांधकर देता हूं। यहां अंदर तुमको नहीं बैठायेंगे। ब्राह्मण कुछ पुराने ख्यालातका था। चमारने कहा—तुमको पता नहीं है? जात नहीं देखी जाती है-कानून बना है। ब्राह्मणने फिर मना किया। उसने पुलिसथानेमें जाकर कम्प्लेईन किया। पुलिस इन्सपेक्टर आया। होटेल मालिकसे पूछा तुम इसको यहां बैठाकर खाना क्यों नहीं खिलाते? वह बोला अभीतक हमने चमारोंको बैठाकर खिलाया नहीं। उसके लिये नयी व्यवस्था करनी पड़ेगी। नौकर लोग इसकी झूठन उठायेंगे नहीं। पुलिस इन्सपेक्टरने कहा चार सालसे कानून बन चुका है। तुमने व्यवस्था क्यों नहीं की? साब सोचा काम चल जायेगा। इन्स्पेक्टरने कहा-नहीं चलेगा। बिठाओ इसको। ब्राह्मणने उसे कुर्सीपर बैठाया। ब्राह्मणका चेहरा उतर गया था। चमारकी छाती फूल रही थी। इन्स्पेक्टर ठाकुर था। बस, उसके ठाकुरपनेमात्र पर ब्राह्मणका भरोसा था। वह भी अब ढह गया था। एक भंगी सड़कपर झाड़ू लगा रहा था। इन्सपेक्टरने उसको बुलाया-रे! इधर आओ। बाहर नल लगा था। बोला—हाथ पांव धो। ब्राह्मणने समझा चलो इसको भी आज खिलाना पड़ेगा। फिर इन्स्पेक्टरने कड़े शब्दोंमें कह—रे महेतर। अंदर जाकर इसका खाना परोसकर ला, इसके सामने रख। चमारने कहा साब! इसके हाथका हम नहीं खायेंगे। क्यों नहीं?-यह भंगी है, नीच है। इन्स्पेक्टरने दो तमाचे जड़े। बोला—ये ब्राह्मण हैं और तू चमार है इस बातको क्यों नहीं सोचा? तात्पर्य यह है

कि निचली जातियोंमें भी श्रेष्ठनिष्ठभाव रहता है। अपनेको श्रेष्ठ माननेकी कोशिश होती है। इसे अभिमान ग्रन्थि कहते हैं। अपनेको महान् बनाते हुए दूसरोंसे वह कट जाता है और उलटा छोटा बनता है। महापुरुष इसी ग्रन्थिको प्रथम काटनेकी कोशिश करते हैं।

"निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
स्वावस्थितौप्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥"

नीति ग्रन्थमें 'न्यायात्पथः' ऐसा अन्तिम चरण में है। अपनेलिये उपयोगी होनेसे उसकी जगह स्वावस्थितेः कर लेना चाहिये। लोग जब निन्दा करते हैं तो बुरा लगता है। स्तुति करते हैं तो सुनकर प्रसन्नता होती है। क्यों? निन्दासे अपने अभिमानपर चोट लगती है। स्तुति करनेपर उस अभिमानको पोषण मिलता है। इसलिये निन्दा पसंद नहीं, स्तुति पसंद है। यदि अभिमान न हो तो प्राथमिक साधक निन्दासे प्रसन्न होगा। स्तुतिसे नाराज होगा। निन्दाका अर्थ है-परदोषाविष्करणम्। दूसरेके दोषको बाहर लाना। यदि कोई घरमें आकर झाड़ू लगा जाये तो क्या आप नाराज होते हैं? भंगीपर-जो कि झाड़ू लगाता है-कोई नाराज नहीं होता। वैसे-

"मलहा सूकरो ग्रामे कुक्कुटो मलहाऽङ्गने ।
खलपूर्मलहा गेहे मलहा निन्दको हृदः ॥"

गाँवका भंगी सूअर है। गांववाले इधर-उधर शौच जाते हैं तो सुअर साफ करता है। आंगनमें मुर्गी भंगी है। थूंके, कचड़ा डाले तो मुर्गा-मुर्गी साफ करते हैं। घरमें संडास साफ करनेवाला महेतर भंगी है। और हृदयका मैला हटानेवाल भंगी निन्दक होता है। उससे किसीको नाराज नहीं होना चाहिये। हाँ, स्तुति करनेवाले खतरनाक होते हैं। वे तो फूलवाड़ीके फूलको तोड़कर बिखेरते हैं। यह तो प्राथमिक साधककी बात हुई। सिद्ध पुरुष तो-

"तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी"

निन्दास्तुति उसके लिये सब समान है।

साधारणरूपसे सभी लक्ष्मीके आगमनसे प्रसन्न होते हैं और गमनसे नाराज होते हैं। क्यों? वह एक दूसरी ग्रन्थि है। वह है लोभग्रन्थि। लक्ष्मीके

आगमनसे उसका पोषण होता है और गमनसे शोषण होता है। यह भी एक व्यसन है। जो बढ़ता जाता है। एक सेठको मैंने पूछा—आजकल सत्संगमें नहीं दीखते। उसने कहा—महाराज! हार्ट अटेक आ गया तो डाक्टरोंने विश्राम करनेको बताया। फिर एक दिन देखा आफिसमें बैठकर काम कर रहे हैं। मैंने पूछा आप अब ठीक हो गये होंगे। सेठने कहा—ठीक नहीं हुआ। डाक्टर मना करते हैं लेकिन करना पड़ता है। सेठको आफिसमें बांधकर ले जानेवाल कौन? लोभग्रन्थि। महापुरुषोंकी बात बड़ी विलक्षण हैं।

"अहो किमपि चित्राणि चरित्राणि महात्मनाम् ।
लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्ते तद्भारेण नमन्ति च ॥"

महात्माओंकी विचित्र लीला होती है। लक्ष्मीको तो वे तिनकेके बराबर हल्की समझते हैं किन्तु उसके वजन से गर्दन झुक जाती है। क्या तिनके का इतना वजन है कि माथे पर आने पर गर्दन झुक जाये? अन्यार्थ है। साधारणोंके पास लक्ष्मी ज्यों-ज्यों आती है त्यों-त्यों गर्वसे माथा ऊंचा होता जाता है। किन्तु महापुरुषोंके पास जितनी लक्ष्मी आ जाये उतने ही वे नम्र होते जाते हैं। किन्तु तत्त्ववेत्ताके लिये तो और ही बात है। न लक्ष्मीके आनेपर कोई फरक पड़ता है, न जानेपर ।

अद्यैव वा मरणमस्तु। एक जीवनग्रन्थि है। इसको पातञ्जलमें अभिनिवेश ग्रन्थि बतायी है। "मा न भुवं हि भूयासं"। मरणसे सबको भय होता है। एक माता बोलने लगी कि मरनेकी बात सोचते ही मुझे भय लगता है। मैंने कहा तुम डरो या न डरो मरण तो निश्चित है। वह कहने लगी मैं यह सब जानती हूं। फिर भी न जाने क्यों भय लगता है। किन्तु महापुरुष ऐसे हैं कि यदि साक्षात् मृत्यु सामने आकर खड़ी हो और बोले कि तुम्हें ले जाने आयी हूं, तुम्हें समाप्त करने आयी हूं तो संत कहेगा बड़ी खुशीकी बात है, यह मैं चलता हूं। तैयार ही हूं। समाप्त करनेकी बात है तो अफसोस है कि तुम मुझे समाप्त नहीं कर सकती हो। मैं अजर अमर हूं। चलता हूं मैं। सैर करनेको मिलेगा। मृत्यु कहती है अभी नहीं ले जाऊंगी। युग युगतक यहाँ रहना पड़ेगा। सहना पड़ेगा। संत कहता है-बड़ी खुशीकी बात। जिज्ञासु लोग आते हैं, पूछते हैं तो उनका कुछ उपकार हो

तो अच्छा ही है न? बहुरत्ना वसुंधरा। लोग सड़ेसे भी सार निकाल लेते हैं। इसप्रकार संत अपनी स्वरूपावस्थितिसे कभी प्रच्युत नहीं हैं।

पूर्वमन्त्रोक्त काम भी ग्रन्थि है। बिल्वमङ्गलाचार्यने एक स्तुति लिखी है—

चिन्तामणिर्जयति सोमगिरिर्गुरुर्मे
शिक्षागुरुश्च भगवान् शिखिपिच्छमौलिः।
यत्पादकल्पतरुपादपपल्लवेषु
'लीलास्वयंवररसं लभते जय श्रीः॥'

मेरे गुरु सोमगिरिजि महाराज हैं। वे चिन्तामणिके समान चिन्तितार्थदायी हैं। दूसरा चिन्तामणि किसी वाराङ्गनाका नाम था। वह मेरे लिये सोमपर्वत सिद्ध हुई। उसने बिल्वमङ्गलकी आंखें खोलीं। किसी सुन्दर स्त्रीको देखकर वे उसके पीछे-पीछे गये। घरपर पहुंचे तो पीछे बिल्वमंगल। पूछा—कैसे पीछे आये हो भगत ! तुम्हें देखनेके लिये। देखना भगवानको था। देख लो मुझे भी। खूब देखा और दोनों हाथोंमें कांटा लेकर अपनी आंखोंमें दबा दिया। वह हाहाकार करती रही। इधर बिल्वमंगल सूरदास होकर भगवत्कीर्तन करते हुए चले गये। कौन ग्रन्थि उस स्त्रीके पीछे बिल्वमंगलको खींच लायी? इसे कामग्रन्थि कहते हैं।

"संपूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वे च कल्पद्रुमाः
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परब्रह्मणि॥"

सर्वग्रन्थि भेद हो जाता है तो उसकी सभी स्थिति वस्तुविषयक परमार्थस्थिति होती है। संपूर्ण जगत् नन्दनवन है। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। सभी कल्पवृक्ष हैं। सर्वत्र ब्रह्मफल ही जो हैं। सभी जल गङ्गाजल हैं। "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"। जो स्वयं पवित्र है। वह सबको पवित्र बनाता है। उसकी सभी क्रियायें यज्ञरूप हैं। चलना-फिरना सभी लोककल्याणकारी। उसके मुखसे निकलनेवाली वाणी श्रुति वाणी ही होती है। क्योंकि परमार्थतत्त्वके सिवाय उसे और कुछ कहना नहीं है। और सारी पृथिवी वाराणसी है। कहीं भी उसका शरीर छूटे, मोक्ष ही

है। वरणा और अस्सीके मध्य भ्रूमध्य वाराणसी है। "भ्रूवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं पुरुषमुपैति दिव्यम्"। जैसी भी स्थिति हो, वह ब्रह्मस्थित है, ब्रह्मनिष्ठ है। वह अब अमृत हो गया है।

एतावद्धि अनुशासनम्। बस इतना ही उपदेश है, आदेश है।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोऽर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

हृदयकी एकसौ एक विशिष्ट नाड़ियाँ होती हैं। उनमें एक मूर्धाकी ओर गयी। उससे ऊर्ध्व आनेवाला अमृतत्त्वको प्राप्त होता है। अन्य नाड़ियां चारों ओर फैली हैं। वे विष्वक् उत्क्रमणार्थ हैं। उससे पुनरावृत्ति होती है॥ १६ ॥

तत्त्वज्ञानके लिये अनुशासन पूर्वमन्त्रमें अवधारित किया— "एतावद्ध्यनुशासनम्"। पूर्वमन्त्रपर्यन्त ही तदर्थ अनुशासन है। किन्तु उससे पूर्वं 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह...... तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' इत्यादि योगविषयक चर्चा चलायी। यह स्वतन्त्र साधन है और ज्ञानसाधनामें अप्रमत्ततामें उपयोगी भी है। —"अप्रमत्तस्तदा भवति"। अतः योगका वर्णन करना भी आवश्यक है। इसलिये यह मन्त्र प्रवृत्त हुआ है। यद्यपि यमराजने योगका पूर्वमें वर्णन किया था यह बात अग्रिम मन्त्रमें "योगविधिं च कृत्स्नं" इस कृत्स्नपदसे अवगत होती है। किंतु जैसे विस्तृत अग्निविद्योपदिशको प्रथम वल्लीमें श्रुतिने संक्षेपसे संग्रह किया वैसे यहां भी योगविधिका संक्षेपसंग्रहमात्र श्रुतिने किया ऐसा प्रतीत होता है। वह भी इसलिये कि जैसे अग्निविद्या किंचित्सहायकमात्र है वैसे योगविद्या भी किंचित्सहायकमात्र है। परमार्थज्ञान ही मुख्य विवक्षित हैं।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः। एकसौ एक हृदयकी नाड़ियां यहां बतायी हैं। बृहदारण्यकमें अधिक बतायी हैं।

"अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद
हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि
हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते
ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते ॥"

पुरीतत्का पूरा शरीर अर्थ है। तो क्या जाग्रतमें ये नाड़ियां शरीरमें नहीं जाती? "अथ यदा सुषुप्तो भवति तदा ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" ऐसा अन्वय है। ताभिः-काभिः। 'हिता नाम" हिता नामकी बहत्तर हजार नाड़ियां जो सर्वदा हृदयसे कृत्स्न शरीरकी ओर जाती हैं उनसे शरीरमें जाकर लेटता है। जाग्रतमें तो शरीरमें ही नहीं विषयोंमें भी पहुंच जाता है। इस प्रकार बहुत नाड़ियां बतायी हैं। संतोंने उपनिषदोंके आधारपर बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, बहत्तर हजार एकसौ एक नाड़ियां मानी हैं। यह विरोधाभास क्यों हैं? विरोधाभास नहीं। ये एकसौ एक नाड़ियां रक्तवाहिनी नहीं। शक्ति वाहिनी हैं। ये केवल शरीरमें नहीं रहती किन्तु शरीरसे बाहर दूर-दूर तक रहती हैं। अतएव शक्तिवाहिनी ही नहीं, शक्तिरूपिणी भी हैं। 'शतं' यह असंख्य वाचक है। शरीरमें आकर्षणशक्ति एवं विकर्षणशक्ति रहती है। एक मेगेजिनमें हमने पढ़ा कि फ्रान्समें एक लड़की थी। उसके पास जायें तो बिजलीके करंटके समान आकर्षण-विकर्षण होता था। रजस्वला होनेके बाद वह शान्त हो गया। मतलब सबके शरीरमें यह आकर्षण-विकर्षण शक्ति बाहर तक रहती है। वह इन नाड़ियोंके कारण। या इन नाड़ीशक्तिरूप ही वह थी। यह अन्तिम चरणमें स्पष्ट होगा। हृदयसे ही शुद्धीकृत रक्तका चारो ओर वितरण होता है। हृदयसे ही शक्ति वितरण भी होता है।

तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। इनमें एक नाड़ी मूर्धाकी ओर चली है। वह कौनसी है? सुषुम्ना। मेरुदण्डके अंदर सुषुम्ना नाड़ी है। वहां असलमें तीन नाड़ियां हैं। इडा, पिंगला और सुषुम्ना। इडा बांयी ओर और पिंगला दाहिनी ओर और मध्यमें सुषुम्ना। इडा और पिंगला चालु हैं। बायीं और दायीं नाकसे श्वासोच्छ्वास उन दो नाड़ियोंकी सक्रियतासे माना है। अतएव ये दोनों भी शक्तिवाहिनी, शक्तिरूपिणी हैं। रक्तवाहिनीसे श्वास कैसे चलेगा। योगी लोग इडा एवं पिंगलाको कुम्भकसे रोककर प्राणको सुषुम्नामें प्रवेश कराते हैं। तब सुषुम्ना फूल जाती है तो उससे कुण्डलिनी शक्तिका ऊर्ध्वगमन होता है।

"मनोमार्गं जित्वा मरुत इह नाडीगणजुषो
निरुध्यार्कं सेन्दुं दहनमपि संज्वाल्य शिखया ।
सुषुम्नां संयोज्य श्लथयति च षड्ग्रन्थिशशिनं
तवाज्ञाचक्रस्थं विलयति महायोगिसमयी ॥"

मनका मार्ग है नाडीगणस्थित वायु। 'यतो मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिः' ऐसा आत्मारामयोगीका कथन है। उन नाड़ीगत वायुको प्राणायमके द्वारा प्रथम जीतना है। इसीको नाड़ीशोधन कहते हैं। नाड़ीशोधनप्राणायाममें कुम्भक नहीं रहता। इसके बाद कुम्भक प्राणायाम से सूर्य, चन्द्र दोनोंका निरोध करते हैं। इडा और पिङ्गलाको ही सूर्यनाडी और चन्द्रनाडी भी कहते हैं। इसके बाद शिखासे-अग्निशिखासे अग्निको प्रज्वलित करता है। जैसे माचीसकी शिखासे लकड़ीस्थित अग्नि प्रज्वलित करते हैं। वैसे मूलबन्ध एवं ऊर्ध्वाकुञ्चनसे अग्निशिखा स्वाधिष्ठानमें प्रकट होती है उससे नाभिस्थित अग्नि प्रज्वलित की जाती है। इससे तप्त सुषुम्नानाडीका मुख खुल जाता है तो उसमें वायुसंचार होता है। उसी संतापमें सुप्त कुण्डलिनी जागृत होती है और उसी सुषुम्नाद्वारसे ऊर्ध्वक्रमण करती है। और छहों चक्रोंका भेदन करती हुई ऊपरकी ओर बढ़ती है। जैसे एक बार राजकोटमें एक रेल मालगाड़ीका डब्बा अलग होकर तेजीसे चला तो रास्तेके चार-पांच फाटकोंको तोड़ता हुआ आगे निकल गया। इसीप्रकार षट्चक्रभेदन कर कुण्डलिनी सहस्रारमें पहुँचकर वहांके चन्द्रमण्डलको द्रवित करती है और अमृतवर्षा कराती है।

उपासकोंके लिये क्रममें थोड़ा फरक है। यही कुण्डलिनी शक्ति 'परावाक्' भी कहलाती है। जब सुषुम्नापथ खुलता है, कुण्डलिनी परावाक् जगती है तब—

'कुमारीयं मन्द्रं ध्वनति च ततो योषिदपरा
कुलं त्यक्त्वा रौति स्फुटति च महानीलभुजगी ।
ततः पातिव्रत्यं भजति दहराकाशकमले
सुखासीना योषा भवसि भवसीत्काररसिका ॥'

मूलाधारमें पराशक्ति जागृत होनेपर मन्द ध्वनन करती है। कार्य वैखरी आदिमें ध्वनन होनेसे कारणमें भी उसकी कल्पना होती है। योगी उसका साक्षात्कार भी करते हैं। उसके बाद मूलाधारके त्यागनेपर योषित् होती है। युष सेवायाम्। और रौति विशेष ध्वनि करती है। यह स्वाधिष्ठानमें आनेपरकी बात है। मणिपुरमें आनेपर परासे पश्यन्ती होकर स्फुट होती है। उसके बाद दहराकाशकमलअनाहतमें मध्यमारूप धारण करती है।

वहींपर जीवशिवका निवास है। दो शिव माने गये हैं। एक जीवशिव है।। दूसरा परमशिव है। हृदयाकाशमें जीव शिव है और सहस्रारमें परमशिव है। मूलाधारसे आकर वह कुण्डलिनी शक्ति प्रथम जीवशिवसे मिल जाती है। यहींसे असली यौगिक प्रक्रिया है। अतएव उपनिषदादिमें यहींसे ऊर्ध्वक्रमण नाड़ीका वर्णन आता है।

हृदयमें एक अष्टदलकमल है। "अष्टदलपरिवेष्टितलिङ्गं" इत्यादि वर्णन आया है। उसीपर तीन मण्डल बताये गये हैं। सूर्यमण्डल, चन्द्र-मण्डल और अग्निमण्डल। सूर्यमण्डल अकाररूप है। चन्द्रमण्डल उकाररूप है और अग्निमण्डल मकाररूप है। तीनों मिलकर ॐकार होता है। योगाभ्यासमें ॐकार जपकी ही विशेष महिमा है। "तस्य वाचकः प्रणवः । तज्जपस्तदर्थभावनम्"। इसप्रकार योगसूत्रोंमें कहा गया है। उसपर फिर चित्त है। उसपर जीवशिव स्थित है।

"तमणुमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं संप्रजानीते"

इस प्रकार जीवात्माको बताया है। ये सब सुषुम्ना नाड़ीमें हैं। सुषुम्ना नाड़ी मूलाधारसे शुरु होकर हृदयकमलतक आती है। उस कमलके मध्य होकर तीनों मण्डलों को मध्यमेंसे पोरती हुई आगे चलती है। उसके अंदरसे कुण्डलिनी शक्ति भी चक्रभेदन करती हुई जीव शिवपर्यन्त पहुंच जाती है। और फिर दोनों मिलकर सहस्रारमें पहुंचते हैं।

"तडिल्लेखातन्वीं तपनशशिवैश्वानरमयीं
निषण्णां षण्णामप्युपरि कमलानां तव कलाम् ।
महापद्माटव्यां मृदितमलमायेन मनसा
महान्तः पश्यन्तो दधति परमाह्लादलहरीम् ॥"

बिजलीकी रेखाके समान पतली वह कुण्डलिनी ऊपर चलती है तो सूर्यचन्द्रपावक तीनोंसे तन्मय हो जाती है। छहों कमलोंको पार कर वह सहस्रारमें जीवशिवके साथ पहुंचती है। वहां महापद्माटवी है। सहस्रदल-कमल है। सहस्रशब्द अनन्तवाचक है। अनन्तशक्ति दलाकारमें मूर्धामें विद्यमान है। वहां परमेश्वरमें जाकर सब लीन होते हैं। अन्तकालमें यही विलय होना चाहिये। संसारकालमें विलय तथा उत्थान दोनों होते हैं। किसलिये? भूतशुद्धिके लिये। उसका क्रम इसप्रकार है कि मूलबन्धके द्वारा

हूँ मन्त्रसे कुण्डलिनीको ऊपर उठाते हैं। हृदयसे जीवशिवको लेकर सहस्रारमें पहुंचते हैं।

"ॐ ह्रीं मूलश्रृङ्गाटकात्सुषुम्नापथेन
जीवशिवं परमशिवपदे योजयामि स्वाहा"।

इसके बाद शरीरस्थित चतुर्विंशति तत्त्वोंको भी वहां पहुंचाकर सबको परमशिवमें गङ्गास्नान कराते हैं-विलीन करते हैं। 'यं' इति शोषयित्वा 'इम' इति दग्ध्वा 'वं' इत्यमृतप्लावितं विभाव्य। इसप्रकार भावनासे स्वयं परमपवित्र होकर हम जपयोग्य ध्यानयोग्य बनते हैं। फिर संसारकालमें वहांसे वापिस लाते हैं। हृदयमें 'ॐ आं सोऽहं' कहकर जीवकी प्रतिष्ठा की जाती है। मूलाधारमें कुण्डलिनीकी प्रतिष्ठा और सब तत्त्वोंकी अपने-अपने स्थानोंमें। इस प्रकार परमपवित्र होकर जपादि करनेसे शीघ्र ही फलसिद्धि होती है। "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति"। अन्तिम समयमें तो परमशिवपदसे वापिस नहीं लाना है। वहांसे ऊर्ध्वगमन होगा। वह सुषुम्ना सूर्यद्वारपर्यन्त पहुंचती है। वहांसे भी आगे कई लोकोंको पार करनेपर—"तत्पुरुषोऽमानवः स एनं ब्रह्म गमयति" अमानव तत्पुरुष उस ब्रह्मलोकको पहुंचायेगा। वहांसे वह मोक्षको प्राप्त होगा। इसको ऊर्ध्व उत्क्रमण कहते हैं। इस ऊर्ध्व उत्क्रमणसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है।

विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति। सुषुम्ना पथसे जानेवाला ऊर्ध्व उत्क्रमण कर अमृतत्व पाता है। किन्तु अन्य नाडियोंसे जानेवाले विष्वक् उत्क्रमण कर संसारमें ही आ जाते हैं। क्योंकि ऊर्ध्व उत्क्रमणमें तत्पुरुष अमानव ब्रह्मलोक पहुंचायेगा। विष्वक उत्क्रमणमें वहां पहुंचानेवाला कोई नहीं रहता। संसारमें पशु, पक्षी, देव, मनुष्य आदि सबकी ओर आकर्षण-शक्तिरूपमें सौ नाडियां गयी हुई हैं। उन्हींकी ओर उत्क्रमण कर जीव जायेगा। इस बातको व्यासजीने बताया है—

"तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासमर्थ्यात्।
तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया॥"

"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।" इस श्रुतिके अनुसार मरणकालमें हृदयाग्रप्रद्योतन होता है। वासनाद्बोध ही हृदयाग्रप्रद्योतन है। फिर उपासना

रहित अन्य विष्वङ्मार्गसे जाता है। उपासक मूर्धासे जाता है। सौ नाड़ियोंसे दूसरे जाते हैं, शताधिक्या—एकसे उपासक।

जीवनमें जो भी कुछ कर्म किया, ध्यान किया, चिन्तन किया उनके अनुसार अन्त समयमें वासनाउद्बोध होता है। अभ्यास मुख्य कारण है, कर्म सहकारी है। योगाभ्यास या उपासना न करनेवालोंका जीवनभरमें पशु आदि जीवोंका चिन्तन चलता है। कर्मानुसार उन्हींकी वासना सामने आयेगी तो विष्वक्गति होती है। योगाभ्यास करनेवाला एवं उपासक प्रतिदिन जीव-शिवको परमशिवमें योजित करते हैं। इस पुण्यसे सहकृत वही भावनाभ्यास अन्तमें हिरण्यगर्भादि वासनाको जागृत करता है। उस समय वह सहस्रारमें पहुंच जाता है। वहांसे 'मूर्धानं भित्वा ब्रह्मकपालभेदन कर वह ऊर्ध्वगमन करता है। यहां पूर्वमन्त्रतक ब्रह्मविद्योपदेश किया। उस श्रवणके साथ वह ब्रह्मलोकमें पहुंचेगा तो वहां रहते रहते यही श्रवण प्रमाणरूप बनकर ब्रह्मलोकमें ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति कारण होगा। अतः इसे सिद्धवत् मानकर 'अमृतत्वमेति' कहा किन्तु सभी एतदुपनिषत्-श्रवणोत्तर ही योगविद्या ग्रहण करे ऐसा नियम नहीं है। श्रवण किये विना ही योग एवं उपासना हो सकती है। उससे ब्रह्मलोकमें पहुंचनेपर भी उसका मोक्ष नहीं होगा। क्योंकि ऐसा ब्रह्मलोक भी आवृत्तियुक्त है।

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन"

इस प्रकार ब्रह्मलोकसे भी पुनरावृत्ति बतायी है। हां, इतनी बात अवश्य है कि वह तुरंत वापिस नहीं आता "इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते" इस कल्पमें इसी मानवसंसारमें नहीं आयेगा। उसको लेकर आपेक्षिक अमृतत्वको पाता है यह अर्थ भी—"ऊर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" से बताया कहा जा सकता है।

ब्रह्मलोक जाना ही मोक्ष नहीं, अमृतत्व नहीं। क्योंकि "तयोर्ध्वमायन्" इस प्रकार ऊर्ध्वोत्क्रमण वासनासे ही संभव है। अतएव व्यासजीने "तदोकोऽग्रज्वलनं" इत्यादि शताधिक्यामें भी बताया। नहीं तो हृदयाग्र जले या न जले क्या फरक पड़ता है ? उसे बीचमें लानेकी आवश्यकता क्या है ? निर्णयका फल क्या है ? यहाँ कोई नयी उपासनाविधि भी नहीं है कि उपासनार्थ यह कहा जा रहा हो। अतः हृदयाग्रज्वलन वासना-

जागरण ही है। वासनाके रहते हुए मोक्ष नहीं हो सकता। वासना क्या है ? वासना भोगवासना ही है। न कि घटपटवासना। अतएव ब्रह्मलोकमें जानेवाला ब्रह्मलोकसुखोपभोग करेगा।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥

अंगुष्ठ परिमाणवाला अन्तरात्मा पुरुष हमेशा देहधारियों के हृदयमें प्रविष्ट रहता है। उसे अपने शरीरसे उसी प्रकार धैर्यपूर्वक खींच निकालना चाहिये जैसे मूंज से सींक खींच निकालते हैं॥ १७ ॥

नचिकेताका जो मूल प्रश्न था—"अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" उसका उत्तर "अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन च" इत्यादिसे दिया। कुछ लोग अस्ति बोलते हैं। कुछ लोग नास्ति कहते हैं। वह शब्दका वाच्य है ऐसा किसीका मत है। "अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद, सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतिमें यही बताया है। दूसरे कहते हैं जाति गुण क्रिया सम्बन्धवान् न होनेसे अस्ति शब्दका वह वाच्यार्थ किस प्रकार ? अर्थात् विध्यात्मक सत् शब्दके वाच्यार्थ में गौः घटः इत्यादिमें गोत्व, घटत्वादि जाति भासती है। शुक्लः रक्तः इत्यादिमें गुण भासता है। पाचकः वाचकः इत्यादिमें क्रिया भासती है। इभ्यः, विद्वान् आदिमें धन, विद्यादि सम्बन्ध भासता है। इनसे अतिरिक्त कोई सच्छब्द-विधिरूप शब्द नहीं है। अतः निषेधशब्दवाच्यार्थ ही मानना होगा। "असदेवेदमग्र आसीत् निर्गुणं निष्क्रियम् अस्थूलमनण्वह्रस्वं" इत्यादि शब्दसे ही ब्रह्मबोध होता है। परंतु सद्वादी कहते हैं—असत् शून्य होता है। शून्य उपादान हो तो शून्यानुवृत्ति होने लगेगी। निर्गुणं निष्क्रियं तो विशेषणमात्र हैं। किं तन्निर्गुणं ऐसी विधिजिज्ञासा होगी। उसका जवाब नहीं तो शून्यबोध ही होगा। यह नचिकेताके प्रश्नका रहस्य था। गीतामें दोनोंका निषेध किया—"न सत्तन्नासदुच्यते"। वह सत्शब्द विधिशब्दबोध्य भी नहीं और असत् शब्द निषेधशब्द बोध्य भी नहीं। तब कैसा? "यतो वाचो निवर्तन्ते" वहां वाणीका प्रवेश ही नहीं है। इस पर प्रश्न हुआ कि तब क्या बोलना सुनना सब बंद

है ? यदि बंद है तो श्रुतिका क्या काम है ? इस पर यमराजने कहा कि शब्द प्रसार मार्ग है ब्रह्मबोधका। अतः श्रुतिसार्थक्य है। अस्तु। मार्ग हो। पर यह प्रश्न फिर रह गया कि विधिशब्द सच्छब्दमार्ग है या निषेधशब्द-असत्शब्द ? इसका उत्तर यमराजने कहा–सच्छब्दसे ही चलो–"अस्तीत्येवोपलब्धव्यः।" यही "अस्ति ब्रह्मेति चेत् वेद" का भी मतलब है। बोले निषेधशब्दसे शुरू करनेमें क्या हर्जा है ? उत्तर है–असत् बोलने से प्रथम शून्य, तुच्छ सामने आयेगा। उसमें फिर क्या विशेषण जोड़ेंगे जिससे हम परमार्थमें आ सकें ? असत् शून्यमें कोई विशेषण लगता नहीं। और सद्वादीमें जात्यादिविशिष्ट वस्तु भले उपस्थित हो किन्तु उसमें से जात्यादिपरित्यागसे हम तत्त्व पा सकते हैं। यही "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः" के बाद "तत्त्वभावेन च" का अर्थ है। नास्तिमें तत्त्वभावमें आना संभव नहीं है। उस तत्त्वभावतक पहुंचनेके लिये कामप्रमोक और ग्रन्थिभेदनकी आवश्यकता "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" "यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते" इन दो मन्त्रोंमें बताया। काम प्रमोकपूर्वक तत्त्वभावप्रसादका फल "अथ मर्त्योऽमृतो भवति" से अमृतत्व बताया। फिर उपसंहार किया–"एतावद्ध्यनुशासनम्"। बस इतना ही उपदेश है। इससे बढ़कर आगे कोई अनुशासन नहीं है।

इसपर एक छोटासा प्रश्न हुआ कि यदि इतना ही अनुशासन है तो प्रथमवल्लीमें जो अग्निविद्या बतायी उसका क्या मतलब रहा ? वहां-"ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति" से जो परम-शान्ति बतायी वह भी अमृतत्व ही तो है और "स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके" इत्यादिमें स्पष्ट ही मोक्ष प्रतीत होता है। मृत्युपाशप्रणोदन ही अमृतत्व है। "शोकातिगः" से "तरति शोकमात्मवित्" वाला शोकतरण सामने आता है। अतएव "स्वर्गलोके" में भी "अनन्ते स्वर्ग्ज्ये" वाला स्वर्ग उपस्थित होता है। इसका समाधान यह है कि अग्निविद्यासे अमृतत्व कदाचित् हो भी सकता है, कदाचित् नहीं भी हो सकता है। उपासना यदि योगसहित हो तो अमृतत्वकी संभावना है। संभावना क्यों ? निश्चय ही तो श्रुति कह रही है। शास्त्रलोचना वयम्। और "शतं चैका हृदयस्य नाड्यं" इस मन्त्रमें "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" यह स्पष्ट अभिहित है। अस्तु, दोनों से अमृतत्व प्राप्त हो क्या हर्जा है ?

"एतावद्ध्यनुशासनम्" यह अवधारण तब सुसंगत नहीं लगता। दूसरी बात उपासनादि सरल है। ज्ञान तो 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्" के अनुसार अति कठिन है। श्रावणज्ञान हो सो अलग बात है। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इस श्रुतिमें कथित दर्शनात्मक ज्ञान तो सामान्य नहीं है, साधारण जनसाध्य नहीं। तदर्थ विवेकादिसाधनचातुष्टय भी दुर्गम मार्ग है। अतः उपासनायोगमार्ग ही क्यों न अपनाया जाये–इस प्रश्नका उत्तर प्रकृतमन्त्रमें दिया जा रहा है। इस मन्त्रमें ज्ञानका ही वर्णन है। फलमें फरक बताया जा रहा है। योगविद्या आदिसे अमृत प्राप्त होगा। 'शुक्र अमृत' नहीं। ज्ञानसे ही 'शुक्रअमृत' प्राप्ति है। यह विशेषता इस मन्त्रमें है ही, अन्य भी विशेषता क्रमशः देखेंगे।

अङ्गुष्ठमात्रः। यह अन्तरात्मा पुरुष अङ्गुष्ठ जितना बड़ा है। यहां मात्र पद परिमाणार्थक है। प्रमाणे द्वय सज् दध्नञ् मात्रचः। यह जीवात्मा अङ्गुष्ठपरिमाणक है। लेकिन आत्मा कीड़े में है, कीड़ी (चींटी) में है, फतींगेमें है। इन सबमें अङ्गुष्ठ जितना बड़ा आत्मा कहां है ? कैसे रह सकता है? अतः सामान्य उत्तर यह हो सकता है कि अपने-अपने अंगूठेके परिमाणका आत्मा है। चींटीकी आत्मा चींटीके अंगूठेके बराबर। जिसके सर्पादिके अंगूठे ही नहीं उनके लिये अंदाजन समझ लेना चाहिये। यह उत्तर तो अगर ऐसा ही सर्वत्र वर्णन होता तो ठीक था किन्तु अन्यत्र भिन्न-भिन्नरूपसे वर्णन आया है।

बालाग्रशतभागमात्रं हि
विश्वं देवं जातरूपं वरेण्यम् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिर्भवति नेतरेषाम् ॥"

इस प्रकार बालके अग्रभागको सौ चीरा लगानेपर जितना होगा उतना परिमाणवाला अन्यत्र बताया है। बालके टुकड़े नहीं, चीरे। उसकी लंबाई भी उतनी ही हो तो त्रसरेणुसमानं हो जायेगा। एक अन्यवचन है–

"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च
भागो जीव इति ज्ञेयः"

इस वचनमें बालके अग्रभागके सौ चीरे लगाओ। फिर एकको पुनः सौ चीरे लगाओ। अर्थात् बालग्रका दस हजारवां भा जीवक परिमाण है बताया। इन सब वचनोंकी उपपत्ति कैसे होगी? अतः इन सब वचनोंका तात्पर्य है कि वही अतिसूक्ष्म है और हृदयमांसपिण्डमें सीमित है। हृदयमांसपिण्ड अजास्तनवत् लंबमान है। उसको लेकर अंगुष्ठमात्र बताया। फिर भी दृश्य नहीं है अतः बालाग्रशतभाग इत्यादि बताया। "अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्" इस प्रकार सावित्रीके पति सत्यवान्को लेकर भी वर्णन आया है।

पुरुषः। इसीकी व्याख्या पहले आ चुकी है। फिर भी स्मरणार्थ संक्षेपमें थोड़ा वर्णन आवश्यक है। पुरि वसतीति पुरुषः। नवद्वार इस पुरमें तादात्म्याध्याससे रहता है। इसलिये पुरुष हुआ। वसका संप्रसारणसे उषरूप होता है। यह जीवात्माको बतानेवाली व्युत्पत्ति है।

"पुरुश्चक्रे द्विपदः पुरुश्चक्रे चतुष्पदः।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्॥"

प्रथम उस परमात्माने मनुष्यादि द्विपदोंको और पशु आदि चतुष्पदोंको बनाया। फिर उसने पक्षी बनकर-जीवात्मा बनकर तथा पुरुष-परमात्मा बनकर पुरोंमें प्रवेश किया—"द्वा सुपर्णा सयुजा"। यहां पुरवासीका अर्थ किया—पुरि शयनात् पुरुषः। यह दूसरी व्युत्पत्ति है।

"स वा अयं पुरुषः सर्वासु पुर्षु पुरिशयः"

यह समस्त पुरोंमें शयन करनेवाला पुरुष है। यह समष्टि पुरिशय पुरुष है। इसके बाद तीसरे पुरुषका वर्णन—

"स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते"

त्रिमात्र ओंकारकी उपासना करनेवाला समष्टि जीवन हिरण्यगर्भरूपी परपुरुषसे भी परे जो मायोपाधिक चैतन्य है, पुरिशय है उसका दर्शन करता है। ये दोनों पुरिशय पुरमें सिर्फ शयन करते हैं। जो मीठे फल नहीं खाते। प्रथम पुरवासी तो मीठे फल भी खाते हैं। और चौथी व्युत्पत्ति है—पूर्णत्वात् पुरुषः। जो सर्वत्र पूर्ण है वह पुरुष है।

"येनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।"

यह सर्वसाक्षी परमात्मा है। ये चारों वस्तुतः एक ही हैं। किन्तु उपाधिभेदके कारण भिन्न होगये हैं। उपाधिविशेषविशिष्ट होनेसे अङ्गुष्ठमात्र बताया।

अन्तरात्मा। यही पुरुष अन्तरात्मा है। अर्थात् घरमें आकर लेटे मनुष्यके समान कोई भिन्न तत्त्व नहीं है। किन्तु घटके अंदर मिट्टी आत्मा होकर स्थित है वैसे जगतमें आत्मरूपसे वह स्थित है।

सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। सबके हृदयमें वह संनिविष्ट है। विष्टः कहते हैं प्रवेश किये हुएको। उसमें नि उपसर्ग नितान्त, नितरां आदिका बोधक है। घरमें आदमी घुसा। यह विष्टः है। किन्तु घरमें मृत्तिका जो घुसी वह निविष्ट है। क्योंकि घरमें घुसा तो पूरे घरमें वह नहीं घुस सकता। घरके एक किनारे किसी कमरेमें प्रविष्ट होता है। किन्तु घट में ऐसा कोई स्थान नहीं जहां मृत्तिका प्रविष्ट न हुई है। अतः वह निविष्ट है। अब एक प्रश्न है। एक मकान है। उसमें क्या निविष्ट है ? ईंट, चूना आदि। आदि पदसे ? लोहा, दरवाजेकी लकड़ी आदि। तो जहां लकड़ी है वहां ईंट चूना है क्या ? और जहां ईंट चूना है वहां लकड़ी है ? जहां ईंट है उसमें चूना घुसा और चूनेमें ईंट घुसा है क्या ? नहीं। फिर भी निविष्ट तो है। इसी प्रकार कहीं कहीं पुरुष निविष्ट, कहीं कहीं नहीं ऐसा है क्या ? नहीं। पुरुष का निवेश केवल निवेश नहीं, संनिवेश है—संनिविष्टः समन्तान्निविष्टः। समग्रतया निविष्ट है। ऐसी स्थितिमें वह समस्त जगतमें संनिविष्ट है। तब "हृदये" विशेषण क्यों ? हृदयमें ही क्या, सारे जगतमें संनिविष्ट है। यह बात सही है। किन्तु केवल संनिवेश यहां नहीं बताना है। यहां उसके दर्शन की बात बतानी है। हृदय उपलब्धिस्थान है। अतः "हृदय" यह विशेषण जोड़ा। तब संनिविष्टः तक पहुंचनेकी क्या जरूरत ? विष्टः या निविष्टः से ही काम चल जाता नहीं। हृदयमात्रस्थितरूपसे नहीं देखना है। किन्तु व्यापकरूपसे देखना है। इसीके लिये "जनानां" बहुवचन है। जनानां-जायमानानां-जन्मवतां सर्वेषाम्। प्रत्येक घट में अलग-अलग मिट्टी प्रविष्ट है या निविष्ट है। प्रत्येक मिट्टी सर्वघट में निविष्ट नहीं है। यह आत्मा एक ही सर्वजनहृदयमें संनिविष्ट है। अतः व्यापक है। व्यापकरूपमें स्वहृदयस्थ आत्माका दर्शन करता है।

तं स्वाच्छरनीरात्प्रवृहेत्। उस अन्तरात्मा पुरुषको अपने शरीरसे पृथक् करना है। किस शरीरसे ? सभी शरीरोंसे। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंसे। स्थूल शरीरसे अलग किया जा सकता है। फांसीपर चढ़कर। किन्तु सूक्ष्मकारणशरीरसे कैसे पृथक् करें ? फांसीपर चढ़नेमात्रसे स्थूल-शरीरसे पृथक् नहीं हो सकते। एक शरीरके बाद दूसरा शरीर मिलता है। अतः फिरसे वह शरीरमें जुड़ जायेगा। अतः जुदा करनेका मतलब तथा तरीका दोनों अलग है। यद्यपि लोग प्रतिदिन ही इन शरीरोंसे आत्माको पृथक् करते रहते हैं। जब हम सो जाते हैं तब देखते हैं कि हम दिल्ली पहुंच गये हैं, वहां घूम रहे हैं। क्या दिल्लीमें घूमनेवाला यही शरीर है ? यह शरीर तो कमरेके अंदर है। दिल्लीमें घूमनेवाला शरीर सूक्ष्म स्वकल्पित है। यह आत्मा उसमें घुस गया है। उसको "मैं" बोल रहा है। कमरेमें पड़े शरीरसे तादात्म्य छोड़ दिया है। तादात्म्य करना प्रवेश है। तादात्म्य छोड़ना प्रवर्हण है। क्योंकि वैसे यह आत्मा सर्वत्र व्यापक है अतः इससे अतिरिक्त प्रवेश या निर्गमन नहीं हो सकता। फिर जग गये तो स्वप्नशरीरसे निकला और इस स्थूल शरीरमें प्रविष्ट हुआ। सुषुप्तिमें पहुंचे तो स्थूल, सूक्ष्म दोनों शरीरोंसे प्रवर्हण हुआ। दोनोंको छोड़ा किन्तु कारण शरीरमें प्रविष्ट हुआ। इन तीनों शरीरोंमें से किसी न किसीमें तो यह संनिविष्ट रहेगा ही। तीनोंसे अलग जब होगा तब प्रवर्हण माना जाएगा। परंतु वह जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनोंमें नहीं है। मूर्च्छा, मरण आदिमें भी अज्ञानशरीर रहेगा। हाँ, एक स्थान है। वह है तुरीय। वहां कोई भी शरीर नहीं रहता।

"कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥"

कार्य जगत् तथा स्वप्नमें दृश्यमान शरीर हैं उससे बद्ध-तादात्म्यापन्न जीव विश्व तथा तैजस है। प्राज्ञ केवल कारण-अज्ञानसे बद्ध-तादात्म्यापन्न है। ये दोनों ही कार्य तथा कारण तुरीयमें नहीं है। बोले कि तुरीयावस्थामें भी जगतका ज्ञान नहीं रहता तो अज्ञान क्यों नहीं रहा ? उत्तर देते हैं—

"नात्मानं न परं चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।
प्राज्ञः किंचन संवेत्ति तुर्यं तत् सर्वदृक् सदा ॥"

प्राज्ञमें सर्व अज्ञान है। तुर्य सर्वदृक् है। अतएव जड़ समाधिकी भी व्यावृत्ति है। इन तीनों शरीरोंसे पृथक् कर अपने शरीरको देखना ही स्वशरीर-प्रवर्हण है। प्रश्न यह होगा कि यह तुरीयस्थिति तो सुलभ नहीं है। वहां प्रवृहेत् यह विधि क्या काम करेगी जब कि सुषुप्ति में भी विधिनिषेध काम नहीं करते ? इसका समाधान यह है कि जाग्रत्कालमें प्रवर्हणाभ्यास होता है। शरीरादिको मिथ्या समझते हुए साक्षिस्वरूपदर्शन करना प्रवर्हण है—

"जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी ।
सैवाहं निजबोधवस्त्विति दृढप्रज्ञापि यस्याऽस्ति चेत् ॥"

इस प्रकार मनीषापञ्चकमें आचार्य कहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनोंमें अहंपदलक्ष्यार्थरूपमें जो संवित् प्रकाशमान होती है, जो ब्रह्मासे लेकर चींटी पर्यन्त समस्त वस्तुमें ओतप्रोत है। जो जगतकी साक्षिरूपा है, वही मेरा यथार्थरूप है। उसमें पिरोया जगत् अवास्तविक है। उनका तादात्म्य भी अवास्तविक है इस प्रकारकी विचारपरम्परासे जो दृढ़ प्रज्ञा हो जाये वह भी काफी है। वह प्रवर्हण माना जा सकता है। साक्षात्कार भले बादमें हो।

मुञ्जादिवेषिकां धैर्येण। वैसे दृढ़ निश्चयतक पहुंचनेके लिये भी काफी धैर्य चाहिये। और सर्वथा पृथक् करनेके लिये पूर्ण धैर्य होना ही चाहिये। जैसे मूंज घासमें से सींक अलग करते हैं। सींकसे झोपड़ीं आदि बनाते हैं। ऊपर मूंज घासका टट्टा रहेगा। नीचेकी ओर सफाईके लिये सींककी चटाई लगाते हैं। घाससे सींक तादात्म्यसे रहती है। उस तादात्म्यको तोड़कर उसे अलग करते हैं। वैसे शरीर तादात्म्य तोड़कर आत्माको शरीरादिसे पृथक् करके देखो। छिपकलीकी पूंछ कटती है तो पूंछ छटपटाती है। छिपकली भाग जाती है। वैसे इस शरीरसे शरीर पृथक् छटपटाये भले, मैं इससे पृथक् तमाशा देखनेवाला हूं। तमाशा देखनेवाले तमाशा न बन जाना है। छटपटाना नहीं है।

"देहं च नश्वरमिदं स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यात्मस्वरूपम् ।
दैवादुपेतमुत दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥"

देवहूतिके प्रति कपिलभगवानने यह उपदेश किया और सचमुच देवहुति वैसी ही हो गयी थी। यह नश्वर शरीर उठा है कि बैठा है यह सिद्धलोग नहीं देखते। जिन्होंने परमार्थदर्शन किया है। दैववशात् रह गया या दैववशात् गिर गया किन्तु उधर ख्याल उनका जाता नहीं। जैसे भांगका नशा चढ़नेपर कपड़ेका ठिकाना नहीं रहता। ऋषभदेवकी भी वैसी ही स्थिति हो गयी थी।

तं विद्याच्छुक्रममृतम्। चतुर्थपादपर्यत तत्त्व बताया। अब पूर्वोत्थित प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं। उपासना, योगादिसे भी अमृत प्राप्त होता है। अस्तीत्यादि उपलब्धिसे भी अमृत प्राप्त होता है। तो अति सरल उपासनादि मार्ग ही क्यों न अपनाया जाये ? उत्तर है अमृत अमृतमें फरक है। योग उपासना आदिसे आपेक्षिक अमृत होगा। तत्त्वबोधसे शुक्र अमृत होगा। शुक्र माने शुद्ध। दीप्यमान। शरीराध्यासमलान्धकाररहित। प्रश्न हुआ—

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥"

ऐसे ब्रह्मलोकगामीका भी मोक्ष बताया है। परंतु ब्रह्मलोकमें तत्त्व-साक्षात्कार पानेपर वे मुक्त होंगे। अन्यथा ब्रह्मलोकगामीकी भी पुनरावृत्ति होगी।

"आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन"

ब्रह्मलोकमें अकृतात्मा-असाक्षात्कृतात्मा हो तो वापिस आयेगा। अच्छा, वहीं दर्शन किया जायेगा, तदर्थ यत्न किया जायेगा। अवश्य ! किन्तु तब वहां तक जानेकी क्या जरूरत ? यहीं सत्संगसे ज्ञान प्राप्त क्यों न करो ? दूसरी बात वहां ब्रह्मकी मुक्तितक वाट देखनी पड़ेगी। यहां तो "अत्र ब्रह्म समश्नुते" बताया। यहां उपदेश समाप्त हो जाता है। अतः "तं विद्याच्छुक्रममृतमिति" इस प्रकार द्विरुक्तिके साथ "इति" शब्द पढ़ा गया।

मृत्युप्रोक्तां नाचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नं
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥

यमराजकी बतायी हुई इस ब्रह्मविद्याको तथा समस्त योगविद्याको पाकर नचिकेता ब्रह्मप्राप्त होकर रजरहित तथा मृत्युरहित हो गया। इस प्रकार अन्य भी अध्यात्मवित् होकर रजरहित तथा मृत्युरहित होता है ॥ १८ ॥

यमराज और नचिकेताके संवादके रूपमें अभीतक श्रुतिने तत्त्वज्ञान वर्णन किया। यमराजने "तं विद्याच्छुक्रममृतमिति" उपसंहार किया। स्वयं श्रुति अब उपसंहार करने जा रही है। क्यों पुनरुपसंहारकी आवश्यकता हुई ? इसलिये कि स्पष्टतया फलनिर्देश करना है और अन्य कुछ विशेषतायें भी उपसंहारके व्याजसे सूचित करना है।

मृत्युप्रोक्ताम्। प्रारम्भमें भाष्यकारने मंगलाचरणरूपसे लिखा है "ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च"। "भगवते" में भगवान् शब्दका अर्थ है-

"उत्पत्तिं च विनाशं भूतानामागतिं गतिम् ।
बन्धं मोक्षं च यो वेत्ति स वाच्यो भगवानिति ॥"

"वेत्ति विद्यामविद्यां च" ऐसा तृतीयपाद पाठ भी है। ऐश्वर्यवान् ऐसा सीधा अर्थ है। इसके बाद "वैवस्वताय" विशेषण दिया है। विवस्वान् सूर्यको कहते हैं। विवस्वान्का पुत्र वैवस्वत कहलाता है। इस विशेषणका क्या मतलब है ? क्या आवश्यकता है ? छन्दोबद्ध न होनेसे छन्दकी पूर्तिके लिये नहीं कहा जा सकता। इस विशेषणका तात्पर्य परम्परा दिखाना है। विवस्वान सूर्यदेव पूर्णज्ञानस्वरूप हैं। स्तुतियोंमें आया है–

"नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ॥"

सवितृका अर्थ है सृष्टि करनेवाला। सूर्य सृष्टिकर्ता है। कर्मसाक्षी जगच्चक्षु ऐसा सूर्यको बताया गया है। "तच्चक्षुर्देवहितं" ऐसा मन्त्रवर्ण भी है। आगे बताया–"त्रयीमयाय"। त्रयी तीन वेदको कहते हैं। वेदमयाय ऐसा उसका

अर्थ है। वेदत्रयका तात्पर्य-वेदार्थज्ञानसे वह परिपूर्ण है। सूर्यने महर्षि याज्ञवल्क्यको वाजिरूप धारणकर माध्यंदिन संहिताका उपदेश किया था। सूर्यको ज्ञान कहांसे प्राप्त हुआ था ? इस विषयमें गीतामें बताया–

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्"

"इमं योग" का अर्थ है–द्वितीयाध्यायोक्त सांख्ययोग तथा तृतीयाध्यायोक्त कर्मयोग। दोनों को मिलाकर कहनेसे एकवचनप्रयोग किया सूर्य ज्ञानयोगी होनेसे कर्मनिष्ठा नहीं हो सकती थी। तथापि स्वाभाविक कर्मका विरोधी ज्ञान नहीं है। कर्तृत्वादिके अध्याससे रहित कर्म ज्ञानी भी करता ही है। फिर प्रथम कर्मयोगोपदेश कर उससे सिद्धि हो गयी तो ज्ञानयोगोपदेश किया यह भी एक तथ्य है। उस विवस्वानने फिर अपने पुत्र मनुको उपदेश किया। वहां राजर्षियोंका प्रसङ्ग होनेसे मनुका निर्देश किया। पुत्रत्वाविशेषात् यमको सूर्यने उपदेश किया ही।

"श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तं ह पितोवाच
श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्या-
ऽस्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवति"

आरुणि श्वेतकेतुको कहते हैं–हमारे कुलमें ऐसा कोई नहीं जो अनपढ़ हो। श्रीमद्भागवतमें अङ्गिरागोत्रीय जड़भरत प्रसंगमें बताया है–

"अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेण"

नीतिकार भी कहते हैं-

"माता शत्रुः पिता वैरी याभ्यां बालो न शिक्षितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥"

इन सब प्रमाणोंसे यह निश्चित है कि पिता स्वयं या अन्य आचार्य के द्वारा पुत्रको विद्यावान् बनाते थे। सूर्य स्वयं समर्थ होनेसे और मनुको उपदेश देनेसे यह निश्चित है कि यमको भी ब्रह्मविद्योपदेश किया। फलतः यमराजके पास यह विद्या संप्रदायप्राप्त है। संप्रदायका अर्थ है-आचार्य-परम्परया सम्यक् प्राप्त किया जानेवाला। इस संप्रदायपरंपरका आदि क्या है? क्या अनादिपरम्परा है? भले मीमांसक अनादि परंपरा माने किन्तु अन्य सभी परमात्मासे ही परम्पराकी निष्पत्ति मानते हैं। नारायण,

परमात्मा आदि गुरु हैं। वह ज्ञाननिधि है। वहांसे ज्ञान परम्परा चलती है। जैसे हिमालयसे गङ्गास्रोत चलता है वैसे वहांसे अनेक परम्परायें चली हैं।

"नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ।
श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्
तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् संततमानतोऽस्मि ॥"

यह हम लोगोंकी संप्रदायपरंपरा है। श्रीकृष्णका मूलस्वरूप नारायण है। उसी नारायणने प्रथम विवस्वानको भी उपदेश दिया। विवस्वान, मनु, इक्ष्वाकु आदिको दिया तथा विवस्वानने यमको उपदेश किया। यमने नचिकेताको। इस प्रकार यमके पास यह विद्या संप्रदायप्राप्त है। एक शंका होगी कि यह भाष्यकारके मंगलाचरणमें है, श्रुतिमें तो नहीं है। समाधान है–"हर वैवस्वतोदकं" इस प्रकार श्रुति में भी वैवस्वत शब्दका प्रयोग आया है। "मृत्यवे त्वा ददामीति" के बाद वह विशेषण आया है। उसका अनुसन्धान यहां भी सुलभ है।

पर, मृत्यु तत्त्ववेत्ता थे इसमें यह अंदाजा मात्र प्रमाण है या कोई अन्य दृढ़ प्रमाण भी है ? कोई चींटी को मारता है तो उसको पाप लगता है या नहीं ? लगता है। बकरा घोड़ेको मारे तो ? अवश्य। गाय बैलको मारे तो ? कहना ही क्या ? ब्राह्मण संतको मारे तो ? पूछनेकी ही बात क्या ? तो यमराज इस सबको, एक दो ही नहीं, अनन्त प्राणियोंको मारे तो उनको भी पाप लगना चाहिये। वृत्रहननसे इन्द्रको ब्रह्महत्या लगी थी। इन्द्रके समान यम भी एक लोकपाल हैं। तब अनन्तप्राणीवधसे अनन्तकालतक यमराजको मोक्ष न मिलता। ऐसी याम्य पदवीमें यमराज आते ही क्यों ? अतः मानना होगा यमराज तत्त्ववेत्ता थे। भागवतमें ब्रह्माजी भगवान् नारायणसे प्रार्थना करते हैं–

"भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः ।
नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥"

वहां के प्रसङ्गका अर्थ है–आप मुझे ज्ञानोपदेश करें जिससे प्रजासृष्टि करता हुआ भी मैं बन्धनमें न पड़ूँ। इसके अनन्तर चतुःश्लोकी

भागवतोपदेश है। ब्रह्मको भी बन्धाभावार्थ ज्ञानकी आवश्यकता है। तो यमराजको क्यों नहीं होगी ? ज्ञान होनेपर विशेषता यही है कि–

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा"

सभी कर्म ज्ञानाग्निमें भस्म होते हैं। अतएव यमराजाके नचिकेताके प्रति परमरहस्य तत्त्वज्ञानप्रदानकीभीसंगति है। मृत्युशब्दसे सूचित मरणहेतुतासे अर्थागत अनन्तपापप्रज्वलन ज्ञानसे हो गया यह ध्वन्यार्थ है।

नचिकेतः। आचार्य ऐसा हो जो ज्ञानसे दग्ध कर्मा हो। शिष्य कैसा हो ? इसके लिये नचिकेता शब्दोपादान है। नचिकेता शब्दकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं। फिर भी प्रसङ्गशुद्ध्यर्थ यहां पुनः कथन अनुचित न होगा। चिनोति संचिनोतीति चिः। केतयति निकेतयति संचितरक्षां करोतीति केतः । चिश्चासौ केतश्च चिकेतः। न संचिनोति न न कितयतीति नचिकेतः। अप्राप्त संचयन चि है। प्राप्त परिरक्षण केत है। जिसे योगक्षेम कहते हैं। जो योगक्षेमचिन्तारहित विरक्त है वही नचिकेता है। इसका उदाहरण प्रथमसे ही शुरू है। "पीतोदका जग्धतृणा" इस मन्त्रमें असंग्रही वृत्ति स्पष्ट है। और "श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्" इत्यादि पूरे प्रघटकमें वैराग्यकी स्थिति स्पष्ट की गयी है।

अथ लब्ध्वा विद्यामेताम्। । "विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त" ऐसा पूर्वमें बताया था। कौनसी विद्या अभीप्सित थी ? "ब्रह्मविद्यां नक्षत्रविद्यां" इत्यादि ? नहीं। "एतां विद्याम्"। पूर्वोक्त तत्त्व-भावात्मक ब्रह्मविद्या। उसकी उत्कट अभिलाषा हो और विषयोंकी कामना न हो। ये दोनों मोक्षाधिकारके लिये अत्यावश्यक हैं।

"वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्यैव ह्यर्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥"

वैराग्यका अर्थ है—कामलोलुपताका अभाव। मुमुक्षुत्वका अर्थ है ब्रह्म-विद्याभीप्सितता, जो मोक्षपर्यन्त फलको दिलाती है।

कामलोलुपताका मूल है-सङ्ग। सङ्गात् संजायते कामः। सङ्गसे ही काम होता है।

"प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥"

संगका सीधा अर्थ है चिपकना, सम्बन्धित होना। साधारण संग हो तो छुटकारा हो सकता है किन्तु प्रसंग हो तो छुटकारा नहीं होगा। वह अजर पाश है। रस्सी पुरानी पड़ती है तो जर्जरित होकर टूट जाती है। किन्तु संग अजर पाश है। इसका कभी जर्जरण नहीं होता। किन्तु उत्तरोत्तर ताजा होता जाता है। "सेवनात् तु विवर्धते"। परंतु वही प्रसंग यदि साधु पुरुषोंसे किया जाये, सत्संग किया जाये तो वह खुला हुआ मोक्षकपाट है। सत्संग भी संग ही है। इसमें भी लगाव होता है। व्यसन होता है। समय हो गया तो सत्संगमें जानेकी बेचैनी होती है। नहीं गये तो एक शून्यताका अनुभव होने लगता है। यह भी चिपकना ही है। किन्तु यह विषयसंग-हारक है।

"त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्व ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥"

क्योंकि सामनेवाला भी संगी हो तो दोनों संग मिलकर जबर्दस्त गांठ हो जाती है। इधर बिजली, उधर लोहा तो क्या कहना ? इधर बिजली और उधर लकड़ी हो तो ? संत्संग लोहा नहीं। लकड़ी है। वह बिजलीके करंटको निर्वीय बनायेगा। सङ्गके अभावसे कामाभाव होता है। विद्या-भीप्सामें प्रथम सत्संग काम करता है। वहां विषयसंग छूट जाता है तो विद्यासंग तथा विद्वत्संग प्रबल होता है। उससे कामोच्छेद तथा बन्धननिवृत्ति होती है।

योगविधिं च कृत्स्नम्। विद्याके लिये योगविधिकी भी बड़ी आवश्यकता है। अयोगी हो तो प्रथम दृढ़ ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। यदि कदाचित् उत्पन्न हुआ तो भी वह थोड़े ही समयमें विशीर्ण होगा। श्रवणके लिये प्रत्याहार आवश्यक है। भागवतकहानी श्रवणके लिये आरामसे दूसरोंसे बातचीत, नानावस्तु दर्शन, स्पर्शन आदि सभी संभव है। बच्चोंको गोदमें रखकर पुचकारो। सब संभव है। परंतु वेदान्तश्रवणमें शमादिषट्संपत्ति प्रथम चाहिये। अन्तःकरणनिग्रह, ज्ञानेन्द्रियनिग्रह, कर्मेन्द्रियनिग्रह शरीरनिग्रह और समाहिता ये सभी प्रत्याहारके ही विभिन्न पहलू हैं। "श्रद्धावित्तः" पाठमें सत्यकी एकमात्र पकड़ होनेसे वह भी प्रत्याहार ही है। धारणा हो तो श्रवणं संपन्न होगा। ध्यान हो तो मनन संपन्न होगा। धारणाशक्ति

श्रवणके लिये आवश्यक है। "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" यह धारणा करते रहेंगे तो श्रवण का फल सम्यक् होगा। धारणाशक्ति धारणासे ही बढ़ती है। मननके लिये ध्यान आवश्यक है। ध्यान लगाकर विचार करें तो ही मनन सम्पन्न होगा। निदिध्यासन स्वयं समाधिरूप है। इसे पञ्चदशीमें धर्ममेधसमाधि बताया है। अतः वेदान्तबोधार्थ योगविधिकी आवश्यकता है। अजातवादके आचार्य गौडपाद भगवान् भी माण्डूक्यकारिकामें—

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ॥"

इस प्रकार योगविधि कहते हैं। जब कुछ पैदा ही नहीं हुआ तो योगविधि किंसलिये ? रहस्य तभी समझमे आयेगा। पारमार्थिक उत्पत्ति नहीं है। व्यावहारिक उत्पत्ति आदि स्वीकार्य है। गोविन्दपादाचार्यके लिये भी-गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यं" इत्यादि स्तुतिमें योगीन्द्रके रूपमें वर्णन आया है। शंकराचार्यके बारेमें हम पहले ही बता चुके हैं कि वे बड़े योगी थे। महर्षि वसिष्ठ शक्ति, पराशर आदि तो योगी थे ही। आधिकारिक पुरुष योगी होते हैं। तात्पर्य यही कि शिष्ट परम्परा एवं वचनोंसे योगविधि परम आवश्यक है। कृत्स्नंसे लंबा उपदेश प्रतीत होता हैं। किन्तु श्रुतिने "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते" "शतं चैका च" इत्यादि अल्पसंग्रह मात्र किया।

ब्रह्मप्राप्तः। विद्या एवं योगसे नचिकेता ब्रह्मप्राप्त हो गये। इससे ऐसा लगता है कि बादमें यमपुरीसे पिताके पास नचिकेता नहीं गये। वरदान मात्रसे शान्तसंकल्प, सुमनस्त्वादिमात्र वाजश्रवसका हुआ। पिता के पास गये वहां ब्रह्म प्राप्त होनेपर भी विरज विमृत्यु होकर रहे इत्यादि कल्पना नहीं होती और व्यर्थ भी है। ब्रह्म अपरिच्छिन्नस्वरूप होनेसे उसकी प्राप्तिके साथ यह पिता, यह मेरे बन्धु इत्यादि भावनाके लिये स्थान नहीं रहता। उसकी कल्पना कर कुछ तथ्य निकालना भी संभव नहीं, व्यर्थ भी है। क्योंकि "एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च" ऐसा बताया है। कृत-कृत्यके लिये कर्तव्यशेष नहीं होता।

विरजः। ब्रह्मप्राप्त कैसे हुए? या ब्रह्म प्राप्तिका क्या लक्षण या परिणाम इत्यादिके लिये उत्तर दो विशेषण हैं। रजो गुण रहित—

"लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥"

इस भगवद्द्वचनके अनुसार लोभ, प्रवृत्ति, कर्भारम्भ, अशान्ति एवं स्पृहा यहां रज पदका अर्थ है। उससे रहित ही विरजा है। अतएव भाष्यमें धर्माधर्मरहित अर्थ किया। धर्म एवं अधर्म दोनों प्रकारक़े कर्मोंमें प्रवृत्ति, आरंभ आदि रहिंत। अशमके कारण अधर्म प्रवृत्ति होती है। लोभ एवं स्पृहासे धर्म प्रवृत्ति होती है। अतः उसीसे सभी संगृहीत समझना चाहिये।

विमृत्युः। विमृत्युका मृत्युरहित अर्थ तो प्रसिद्ध है। मृत्युके लिये दूसरा शब्द प्रयाण है।

'प्रयाणकाले मनसा चलेन' इत्यादि प्रयोग है। प्रकर्षेण यान प्रयाण है। संसारका अर्थ है—समन्तात् सरण। दोनोंक़ा एक ही तात्पर्य है। अतः मृत्युसे संसारमात्र विवक्षित है। 'मृत्युसंसार-सागरात्' ऐसा गीतामें प्रयोग भी आया है। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' के अनुसार ब्रह्मवेत्ताका कहीं भी आना जाना नहीं होता।

अन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव। मृत्युदेव यमराजके पास आनेसे केवल नचिकेता ही ब्रह्मप्राप्त विरज, विमृत्यु होगा। क्योंकि मृत्यु नचिकेतापर प्रसन्न है। इसपर कहते हैं—नहीं। अध्यात्म-आत्मविषय वित्-ज्ञानवाला कोई भी अन्य हो सबके लिये यहीं बात है। सभी ब्रह्मप्राप्त विरज एवं विमृत्यु होकर मुक्त होंगे।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॐ शान्तिः ३ ॥ १९ ॥

वह परमात्मा हम शिष्य तथा आचार्यकी साथमें रक्षण करे, साथमें पालन करे। हम दोनों ही एक साथ वीर्यसंपादन करें। हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। हम परस्पर विद्वेष न करें। तापत्रयशान्ति हो ॥ १९ ॥

सभी उपनिषदोंके आदिमें तथा अन्तमें शान्तिपाठ करनेका संप्रदाय है। शान्तिमन्त्र उपनिषदके अन्तर्गत होते हैं ऐसा नियम नहीं है। जैसे ईशावास्यमें ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं इत्यादि शान्तिमन्त्र पढ़ा गया तो वह ईशवास्यका मन्त्र नहीं है, बृहदारण्यकका है। कहीं-कहीं तो उसी उपनिषदका वह मन्त्र होता है। जैसे वही मन्त्र बृहदारण्यकका शान्तिपाठ भी है, उपनिषदन्तर्गत भी है। 'सह नाववतु' यह मन्त्र तैत्तिरीयका शान्तिमन्त्र है। तदन्तर्गत भी है तथा कठोपनिषत्के अन्तर्गत भी है। यह

मन्त्र इस उपनिषत् के अन्तमें ही पढ़ा गया है। अतएव भाष्यकार भगवान् शंकराचार्यने यहां पर व्याख्या इसकी की है।

सह नाववतु। सहका एकसाथमें ऐसा अर्थ तो है ही। स, ह ये दो पद होनेपर दूसरा अर्थ भी है। 'सः' का अर्थ है—वह । 'ह' का अर्थ है, प्रसिद्ध। "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः" इस प्रकार पूर्व कथित परमात्मा 'स'.का अर्थ है। 'ह' यह प्रसिद्धार्थवाचक है। जैसे 'उशन् ह वै' 'तस्य ह नचिकेता' इत्यादिमें। कहां प्रसिद्ध है ? सर्व वेदशास्त्रोंमें—

"वेदे रामयणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र पठ्यते ॥"

वेदोंमें, रामायणमें, पुराणोंमें तथा महाभारतमें आदि मध्य तथा अन्तमें सर्वत्र हरिका ही वर्णन है। "अग्निमीळे पुरोहितं" इस प्रकार ऋग्वेदमें आदिमें अग्निका नाम लिया। अग्निकी व्याख्या यास्कमहर्षिने अग्रणी-त्वादग्निः किया है। अग्रणीका आगे चलनेवाला, आगे ले जानेवाला आदि अर्थ है। अग्-नि। परमात्मा सबके आगे है। जगत् उसके पीछे है। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"। सबसे अग्रे वह सत् परमात्मा ही था। उसने बादमें जगत् को बनाया। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं" वह परमात्मा ही प्रथम स्वप्रकाशरूपसे भासता है। उसके पीछे जगत् भासित होता है। "अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"। प्रथम आनन्द परमात्माका ही है। उसीका उपजीवन बादमें जगत्का आनन्द है। इस प्रकार परमात्मार्थक अग्निकी स्तुतिसे ऋग्वेद प्रारम्भ हुआ। "प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्यादिसे मध्यमें एवं अन्तमें भी परमात्माका वर्णन है। यजुर्वेदमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रथम कर्मविधान किया। "सहस्रशीर्षाः पुरुषः" "नमस्ते रुद्रमन्यवे" इत्यादि रीति मध्यमें तथा अन्तमें परमात्माका वर्णन किया। सामवेद ऋग्वेदके समान ही है। अथर्ववेदमें "शं नो देवी" इत्यादि रीति मंगलरूप परमात्मासे प्रारम्भ किया। प्रश्न, मुण्डक आदि उपनिषद् अथर्ववेदकी है। वेदोंके बाद रामायण आता है। वाल्मीकिको आदि कवि कहते हैं। रामायण आद्य काव्य है। महर्षि वाल्मीकि जब तपःसिद्ध होकर गंगाकी ओर जा रहे थे उस समय एक दृश्य देखा। एक वृक्षपर दो क्रौंचपक्षी बैठे थे। बगुले, सारस तथा हंस आदिके समान ही क्रौंच पक्षी

भी है। नरमादा दोनों बड़े आरामसे वृक्षपर बैठे थे। उसी समय एक व्याधने उनमें से एक पर बाण चलाया। लगते ही वह नीचे जा गिरा और छटपटाने लगा। दूसरा क्रौंच व्याकुल होकर रोने लगा। महर्षि वाल्मीकि दौड़कर गये। लगे बाणको निकाला और पानी उसपर छिड़का। उसकी छटपटाहट और ऊपरके क्रौंचके रुदनसे करुणादयार्द्रहृदय मुनिके मुंहसे निकला–

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः कामोहितम् ॥"

अरे निषाद ! हजारों वर्षों तक भी तुम्हें सद्गति नहीं मिलेगी। क्योंकि तुमने क्रौञ्चयुगलमें ां से एक पर घात किया। इसके बाद कविके मुखसे काव्यकी धारा चल पड़ी। जो कि ग्करुणरसपूर्ण है।। इस श्लोकका दूसरा अर्थ भी है। निषाद यह नीचोंके लिये संबोधन भी है। जैसे लोग गाली बोलते समय चाण्डाल बोलते हैं। यह रावणके लिये संबोधन है। अरे ! नीच रावण ! तू पण्डित है, वेदवित् है, नीतिवित् है, ऋषिपुत्र है। फिर भी निषादोंका तूने काम किया। अनन्तकालतक तुम्हारी प्रतिष्ठा नहीं होगी। क्योंकि तूने क्रौञ्चमिथुनमें एक पर घात किया।

"क्रुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः"

ऐसा धातुपाठ है। महान् राज्यसिंहासन से अल्पभावको प्राप्त हुए राम और सीता यहां क्रौञ्चमिथुन हैं। उनमें से एक पर–सीतापर घात किया। जो प्रेमविह्वला है। इसके बाद संपूर्ण रामायणमें भगवान् रामकी कथाका करुणापूर्णरूपसे वर्णन किया। इसके बाद वाल्मीकिने उत्तर रामायण लिखा। वह है वासिष्ठ रामायण, योगवासिष्ठ। वहां शान्तरसका मुख्यवर्णन है। वह ब्रह्मका ही निरूपण है। इसी प्रकार पुराणोंमें भी हरिका ही वर्णन है। 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' इत्यादि भागवतपुराण श्रुतप्राय है। वैसे ही अन्यप्रमाण भी हैं। महाभारतमें संपूर्ण तत्त्वज्ञान भर दिया है। उसे तो भारतं पञ्चमो वेदः' बताया है। इस प्रकार वह परमात्मा सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह 'स' और 'ह' का अर्थ है। 'अवतु' में अवधातु है। उसीसे ॐ शब्द बनता है। ज्वर, त्वर इत्यादिसे ऊठ, मन् अवतेष्टिलोपश्च से मन्में अन्का लोप करनेपर अउम् ॐ हुआ। ॐकारार्थप्रकाशनेन रक्षतु यह

अर्थ तात्पर्यसे निकलता है। "प्रणवः सर्ववेदेषु"। सर्वोर्ध्व मन्त्र ॐ है। वह शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म उभयरूप है। उसकी मात्राओंमें समस्त जड़-चेतन जगत् आत्मा है और ऊर्ध्व मात्रासे त्रिपात् परब्रह्म प्रकाशित होता है।

सह नौ भुनक्तु। भुनक्तुका भी रक्षण ही अर्थ है। भुजा शब्द हाथका वाचक है। क्योंकि हाथ हमारे रक्षक हैं। हाथ क्षत्रिय है। मुख ब्राह्मण है। ऊरू वैश्य है। पाद शूद्र है। एक ही शरीरमें चारों वर्ण हैं। मस्तक ज्ञानोत्पादक होनेसे ब्राह्मण है। कोई मारता है तो रक्षा के लिये हाथ आगे आता है अतः वह क्षत्रिय है। बैठे-बैठे सेठ लोग व्यापार करते हैं अतः ऊरु वैश्य है और पांव शूद्र है। दिनभर आदमीको उठाकर चलाता है। मार्गमें गंदगी हो तो भी पांव उसे पार करता है। गंदगीमें हाथ नहीं जाता। तात्पर्य-भुनका भोजन अर्थ है, रक्षण भी अर्थ है। हमारा रक्षण करें। हम आत्महत्या कर रहे हैं। उससे हमारी रक्षा करें।

"नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितम्
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥"

यह देह सुदुर्लभ नरदेह है। पर हमें सुलभ हो गया। यहां सुसमर्थ नाव है। गुरु इसके कर्णधार हैं। अनुकूल हवा है। फिर भी भवसागर जो न तरता हो, पार करता हो, वह आत्मघाती है। जहर खानेवाला आत्मघाती नहीं। क्लेशसे आत्महत्या करते हैं। पर क्लेश कर्मसे होता है। इस समय अधूरा भोगोगे तो पूरा करने अगला जन्म लेना होगा और यही क्लेश फिर भोगना होगा। ऊपरसे आपघातके पापका फल अतिरिक्त होगा। गुरुशरणमें न जाकर आत्मज्ञान न पानेवाला ही आत्मघाती है। उससे रक्षण आत्मबोधसे होगा। तदर्थ यह प्रार्थना है। सह नौ भुनक्तु। विद्या फल प्रकाशेन।

सह वीर्यं करवावहै। हम दोनों साथमें वीर्य संपादन करें। वीर्य माने वीरता। शत्रुहननमें वीरता काम आती है। शत्रु कौन ? क्या अहितकारी पड़ोसी शत्रु है ? नहीं। वह कालान्तरमें हितकारी होकर मित्र भी हो सकता है। वर्तमानमें भी वह किसी न किसीका मित्र है ही। शत्रुत्व-मित्रत्व

आदि आन्तरिक भावना मात्र है। असली शत्रु तो आपके अंदर बैठे हैं। जो स्वाभाविक शत्रु है। वह है अज्ञान एवं तत्कार्य कामक्रोधादि। उनके वधके उपाय वीर्यके बारेमें भगवानका कहना है—

'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥'

आत्माको बुद्धिसे भी पर सर्वप्रकाशकरूपमें जानो और आत्माको ज्ञानसे आत्मामें ही स्थिर करो। तब इस कामरूप अज्ञानका वध होगा। आत्मज्ञानपूर्वक आत्मसंस्तम्भन ही वीर्य है। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं" "आवृतं ज्ञानमेतेन" "काम एष क्रोध एष" इत्यादिकी एकवाक्यता होनेपर अज्ञान तथा तत्कार्य सभी शभु हैं। उनके वधके लिये यही वीरता चाहिये।

तेजस्विनावधीतमस्तु। नौ हमारा अधीत तेजस्वि भवतु तेजस्वि हो। अधीत तो शिष्यका होगा। गुरुका तो अध्यापित होगा। दोनों का अधीत किस प्रकार ? बात यह है कि गुरुने अध्यापन किया तो पहले स्वयं अध्ययन तो किया ही होगा। उस अधीतमें तेजस्विता आये तो ही अध्यापितमें तेजस्विता आ सकती है। अन्यपरम्परासे अधीतसे अध्यापित तेजस्वि नहीं हो सकता। न्यायके धुरंधर विद्वान् गदाधर भट्टाचार्य कोई पढ़नेवाला विद्यार्थी नहीं मिला तो पेड़ोंको पढ़ाते थे जिससे उनकी बुद्धि तेजस्वि हो गयी। कुछ लोग छिपछिपकर सुनने लगे तो उनको लगा कि ये धुरंधर पंडित हैं। तब उनके पास अध्ययनार्थ आ गये। इसीलिये "स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं" बताया। कांशीमें एक विद्यार्थी जबतक पढ़ता रहा तबतक घरमें चिट्ठी लिखता रहा कि मैं पढ़ाता हूं। फिर जब विद्वान् बनकर पढ़ाने लगा तब लिखा मैं पढ़ता हूं। वस्तुतः अध्यापन एवं प्रवचनके समय ही ग्रन्थिभेदन होता है।

मा विद्विषावहै। संसार रागद्वेषात्मक है। सर्वत्र दोनोंकी गहन संभावना रहती है। उनमें द्वेष तो अन्यत्र हो परंतु गुरुशिष्यभावमें यह सर्वथा वर्जित है। इस बातको सूचित करनेके लिये यह प्रार्थना है। विद्याके बराबर कोई पवित्र वस्तु अन्य नहीं है। न हि "ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"। उसमें यदि विद्वेष आया तो सर्वं गोमयं पायसायते वाली बात होगी। गोबरकी

खीर बनायी तो कैसी है? दूध भी गोविकार है। गोबर भी गोविकार है। गुरु विद्वेष करे तो रहस्य छिपायेगा। जो कपट है और ब्रह्मविद्यामें कलङ्क है। शिष्यमें विद्वेष आ गया तो रहस्य समझमें ही नहीं आयेगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। पूर्वोक्त रक्षणादि कार्यमें तथा विद्याके प्रसारमें एवं फलोन्मुख होनेमें उपस्थित होनेवाले त्रिविध विघ्नोंकी शान्ति हो और तापत्रयकी निवृत्तिरूप तथा परमपुरुषार्थरूप त्रिविध शान्ति करे।

कठोपनिषत्प्रवचन समाप्त ।





ग्रन्थकार के मुख्य प्रकाशन

जागदीशी सामान्यलक्षणातत्त्वप्रदीपः (न्याय)	४५-०
वैराग्यमन्दाकिनी	अप्रा
गोपीगीतम् अर्थद्वय (हिन्दी व्याख्या)	"
दश शान्तयः सानुवादाः	"
दक्षिणामूर्तिस्तोत्रं सवार्त्तिकं सानुवादं	"
ईशावास्यरहस्यविवरणम्	४५-०
शंकरदिग्विजयः (संक्षिप्तः) सानुवादः	४०-०
नारदीयभक्तिसूत्राणि सवार्त्तिकानि सानुवादानि (तीन भा.)	[illegible]
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः सौरभसहितः	[illegible]
भागवतसारस्तोत्रं सोपक्रमं सव्याख्यम्	[illegible]
श्रीभीष्मस्तुति प्रवचन	
महिम्नःस्तोत्रं हरिहरपक्षानुवाद टिप्पणी सहित	
शिवमहिम्नःस्तोत्रं स्पन्दवार्त्तिकं सानुवादं	५०-०
गीता प्रवचन सांख्यसन्दर्भ पूर्वार्ध	५०-०
गीता प्रवचन सांख्यसन्दर्भ उत्तरार्ध (स्थितप्रज्ञदर्शन)	४०-०
सुभगोदयम् अमृतझरिका, अन्वयार्थबोधिनी (तन्त्र)	४०-०
ईशापास्योपनिषत्, शांकरभाष्यं वर्त्तिकसहितम्	४०-०
दिव्यरसतरङ्गिणी सानुवाद सटीक	३०-०
वेदान्तसिद्धान्तपीयूषबिन्दुः	२०-०
वेदान्तसारः, वेदान्तमन्दारमाला च	२०-०
न्यायसिद्धान्त रत्नमाला	३०-०
द्वादशदर्शनसंग्रहः अजिल्द १००-सजिल्द	१२५-०
श्रीगायत्री महामन्त्र सभाष्यवार्त्तिकम् अ. ६०, स.	८०-०
अद्वैतविजयवैजयन्ती (शास्त्रार्थ)	३०-०
कठोपनिषत् प्रवचन सन्दर्भ (तीन भाग)	अ. ३००-०
	स. ४००-०

मुद्रक— रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी